



63

न्यायाचार्य
डॉ. दरबारीलाल कोटिया
अभिनन्दन-ग्रन्थ



न्यायाचार्य
डॉ. द्वबारीलाल कोटिया
अमिनंदन-ग्रंथ

न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक-मण्डल

- डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, पी-एच० डी०
डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०
पं० बलभद्र जैन न्यायतीर्थ, शास्त्री
डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु एम० ए०, पी-एच० डी०
डॉ० शीतलचन्द्र जैन, जैनदर्शनाचार्य, पी-एच० डी०

प्रकाशक

न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थ
प्रकाशन समिति, वाराणसी

प्राप्ति-स्थान

- मंत्री, न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति
महावीर प्रेस,
भेलूपुर, वाराणसी-१०
- वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, चमेली कुटीर
१/१२८, डुमराँव बाग काँलोनी,
अस्सी, वाराणसी-५

वीर नि० संवत् २५०९
सन् १९८२
मूल्य ५१) रुपये

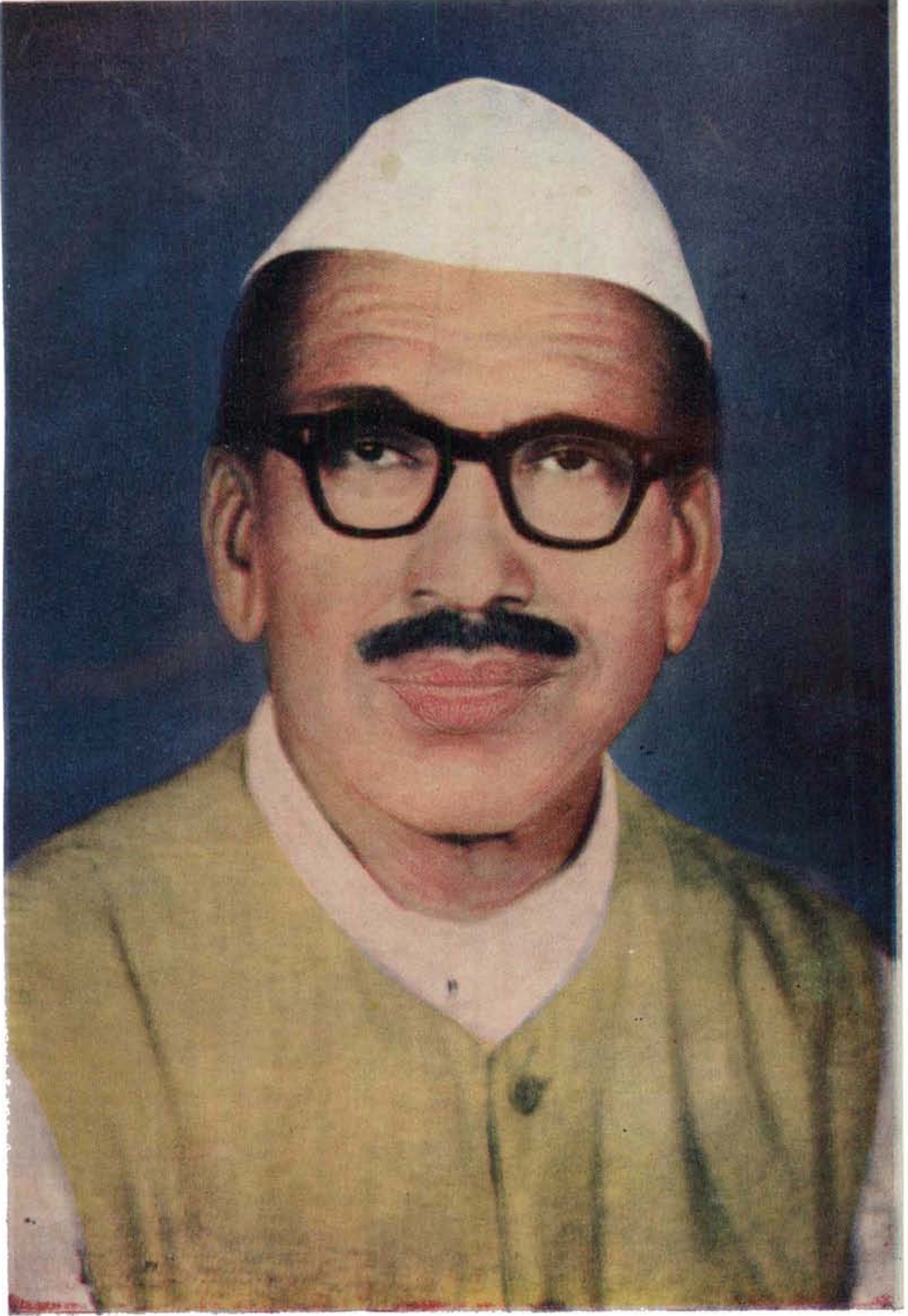
मुद्रक

बाबूलाल जैन फामुल्ल

महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी

आवरण परिच्छय

न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलालजी कोठियाकी जन्मभूमि सिद्धक्षेत्र
नैनागिरके जलमंदिरका मनोरम दृश्य



न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया

प्रकाशकीय

देश, समाज और संस्कृतिके क्षेत्रमें कार्य करने वालोंका सर्वत्र आदर और सम्मान किया जाता है । भारतवर्षकी तो यह बहुत प्राचीन परम्परा है । देशकी स्वाधीनताके लिए जिन्होंने कार्य किया वे जीवित हों या स्वर्गवासी हो गये हों, उन सबका देशकी जनताने श्रद्धापूर्वक सम्मान किया है । उनके नामसे संस्थाएँ, संघ और नगर-उपनगर बनाकर उनके प्रति समादर व्यक्त किया है । और यह 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' की उक्तिके अनुसार कृतज्ञता-ज्ञापनका एक प्रकार है । स्वाधीनतामें योग देने वाले सेनानियोंका शासनने भी सम्मान किया और कर रहा है । भावी पीढ़ीके लोगोंके लिए यह उत्साहवर्द्धक एवं प्रशस्य है । 'भारतरत्न', 'पद्मविभूषण', 'पद्मश्री' जैसी सम्मानसूचक उपाधियोंसे भी उन्हें सम्मानित किया गया और किया जाता है ।

समाजकी अनन्य सेवा करने वालोंका भी समाज समादर करती है । गाँधीजीने समाजके पिछड़े, अनुसूचित आदि वर्गोंकी जो सेवा की उसे भुलाया नहीं जा सकता । अतएव जनताने उन्हें 'महात्मा' की सर्वोच्च उपाधि देकर अपनी अनन्य श्रद्धा व्यक्त की है । मदममोहन मालवीयको उनकी समाज-सेवाके उपलक्ष्यमें 'महामना' कहकर उसने उनके प्रति अपने हृदयोंकी श्रद्धा उड़ेल दी है ।

जैन समाजने भी अपने सेवकोंकी ऐसी ही उपाधियोंसे विभूषित किया है । सर सेठ हुकमचन्दजी, साहू शान्तिप्रसादजी आदि समाजसेवियोंको समाजने अनेक उपाधियाँ देकर उनका बहुमान किया है ।

संस्कृतिके क्षेत्रमें जिन्होंने जिनविम्ब-प्रतिष्ठा, पूजोत्सव, विद्या-संस्थाओंकी संस्थापना, श्रुत-सेवा, गुरु-सेवा, साहित्य-सृजन-प्रचार-प्रसार आदिके भव्य कार्य किये या कर रहे हैं उनका भी समाजने सदा समादर किया है । गुरु गोपालदास वर्याको ज्ञान-प्रचार और शास्त्रार्थों द्वारा जिन-धर्मकी प्रभावनास्वरूप 'वादीभ-गजकेसरी' जैसे पदोंसे समाजने भूषित किया था । पूज्य मुनि विद्यानन्द महाराजको उनके प्रभावक तत्त्वावधान में सम्पन्न दो महान् अद्वितीय उत्सवों—भ० महावीरका २५००वाँ निर्वाणोत्सव और भ० गोम्मटेश बाहुबली का सहस्राब्दि-महोत्सवके उपलक्ष्यमें सारे राष्ट्रकी जैन समाजने 'एलाचार्य' और 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' की उपाधियोंसे उसी प्रकार विभूषित किया, जिस प्रकार गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्रको गंगनरेश राजमल्लके प्रधानमंत्री एवं प्रधानसेनापति चामुण्डराय सहित तत्कालीन समाजने 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' की उपाधिसे अलंकृत किया था । यह सब भावी सांस्कृतिक कार्योंमें उत्साहपूर्वक कार्य करने वालोंको प्रोत्साहन देनेके लिए आवश्यक है । इससे स्वस्थ परम्परा बनती है । यों तो किसी भी अच्छी चीजका सदुपयोग और और दुरुपयोग दोनों हो सकते हैं ।

डॉक्टर कोठिया ऐसे साहित्य-सेवी और उद्भट विद्वान् हैं, जिन्होंने जैन साहित्यके उन अंशोंको उजागर किया है, जो उनके समय तक उजागर नहीं हुए थे या विवादग्रस्त थे । उनमें 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इस मंगल श्लोकपर विद्वानोंमें विवाद था । उन्होंने अपने पुष्ट-प्रमाण युक्त एवं शोधपूर्ण निबन्धों द्वारा स्पष्टतः सिद्ध कर दिया कि उक्त मंगल श्लोक स्वयं तत्त्वार्थसूत्रकार का है और उनके तत्त्वार्थसूत्रसे ही पूज्यपादाचार्यने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें लिया है । इसी प्रकार आचार्य विद्यानन्द, आचार्य माणिक्यनन्द, अभिनव धर्मभूषण आदि कितने ही अच्छे ग्रन्थकारों-आचार्योंका उन्होंने विद्वत्समाज एवं अन्य पाठकोंको ऐतिहासिक परिचय प्रस्तुत किया है, जो न केवल अपूर्व एवं नया है अपितु सप्रमाण एवं शोधपूर्ण है और जिसे विद्वानोंने भी प्रमाणरूपमें मान लिया है ।

डॉ० पं० कोठिया सन् १९८१ में श्रमणबेलगोलामें हुए महामस्तकाभिषेक-महोत्सवपर वहाँ दो माह रहे और एलाचार्य पूज्य मुनि विद्यानन्द महाराजके निर्देशसे वहाँ आगत समस्त मुनि संघोंके लगभग १५० मुनिमहाराजों, आर्यिकाओं, क्षुल्लकों और अन्य श्रावकोस्तमोंको स्वाध्याय करानेका उन्हें सुअवसर मिला। उसी समय जोर-शोरसे चर्चा उठी थी कि ऐसे उद्भट और धर्मपरायण विद्वान्को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित किया जाय। चर्चा धीरे-धीरे बढ़ती गयी।

उसीका यह फलरूप है कि आज 'न्यायाचार्य डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति' गठित होकर वह उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण करनेकी स्थितिमें हुई। हमने जिन्हें-जिन्हें पत्र लिखे उन्होंने अपनी सहर्ष स्वीकृति भेजी। समितिके सदस्यों, परामर्शदात्रीमण्डल और सम्पादकमण्डलके हम हृदयसे आभारी हैं। उनकी सहज कृपा और सद्भावसे ही यह कार्य सम्पन्न हो सका। हम समस्त समाज तथा मुनिगण, त्यागीगण और विद्वद्गणके अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

अभिनन्दन-ग्रन्थके प्रकाशनमें जिन महानुभावोंने आर्थिक सहयोग दिया है उनके प्रति भी हम कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

राय देवेन्द्रप्रसाद जैन

अध्यक्ष

न्यायाचार्य डॉ० पं० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, वाराणसी

बाबूलाल जैन फागुल्ल

मंत्री



उद्घाटन
स्वस्तिश्री पण्डिताचार्य
चारुकीर्ति भट्टारक मूडविद्रो

सम्पादकीय

बीसवीं शताब्दीमें जैन विद्याका जितना प्रचार एवं प्रसार हुआ तथा उसे साहित्यिक जगत्में जो मान्यता प्राप्त हुई वह सर्वथा प्रशंसनीय है। गत १०० वर्षोंमें उच्चकोटिके जितने विद्वान् हुये, उतने इसके पूर्व एक ही शताब्दीमें कभी नहीं हुये थे। इस शताब्दीमें होनेवाले कितने ही विद्वानोंने अपने २ कीर्त्तिमान स्थापित किये। आगम-ग्रन्थोंका सम्पादन एवं प्रकाशन इसी शताब्दीकी एक महान् उपलब्धि है। भारतीय ज्ञानपीठ देहली, माणिकचन्द्र जैन ग्रंथमाला बम्बई, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, साहित्य-शोध विभाग जयपुर, वर्णी-ग्रन्थमाला वाराणसी, जैन स्वाध्याय-ट्रस्ट, सोनगढ़, वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी जैसी साहित्य-प्रकाशन संस्थाओं द्वारा सैकड़ों ग्रंथोंके प्रकाशनसे समाजमें साहित्यिक रुचि निरन्तर वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त राजस्थानके जैन ग्रन्थागारोंकी सूचियोंके जो पाँच भाग प्रकाशित हुये हैं उनसे तथा देहली एवं ताडपत्रीय ग्रन्थोंकी सूचियोंसे जैन साहित्यकी विशालता एवं उनमें पायी जानेवाली साहित्यिक सम्पदाकी देखनेका अवसर मिला है। और जैनेतर विद्वानोंके जैन साहित्यके प्रति विचारोंमें कुछ बदलाव आया है। श्री महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा समस्त हिन्दी जैन साहित्यको प्रकाशित करनेकी महत्त्वपूर्ण योजना और अब तक पाँच भागोंके प्रकाशनसे आशाकी एक नयी लहर फैलने लगी है। अपभ्रंश साहित्यका प्रकाशन भी इस युगकी एक विशेषता रही है। इससे स्वयम्भू, पुष्पदंत, वीर, नयनन्दि, धवल, धनपाल एवं रङ्गू जैसे महाकवियोंका समृद्ध साहित्य सामने आ सका है। अब तो दि० जैन महासभा द्वारा समस्त अपभ्रंश-साहित्यके प्रकाशनकी योजना भी बन रही है।

इस शताब्दीमें होनेवाले विद्वानोंकी यदि हम गणना करने लगे, तो वह सूची बहुत लम्बी होगी। लेकिन उल्लेखनीय विद्वानोंमें आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज, पं० गोपालदास वरैया, वैरिस्टर चम्पतरायजी, जे० एल० जैनी, पं० वंशीधर न्यायालंकार, पं० मवलनलालजी शास्त्री, पं० खूबचन्दजी शास्त्री, डॉ० कामता-प्रसाद जैन, ब्र० शीतलप्रसादजी, डॉ० हीरालाल जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, पं० माणिकचन्द्र कौन्देश, पं० लालाराम शास्त्री, पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, मुनि जिनविजयजी, पं० परमानन्दजी शास्त्री प्रभृतिके नाम लिये जा सकते हैं। वर्तमानमें जैनाचार्य एवं विद्वत् वर्ग दोनों ही इस दिशाकी ओर प्रयत्नशील हैं। आचार्य विद्यासागरजी महाराज, सिद्धान्ताचार्य विद्यानन्दजी महाराज, आर्थिका ज्ञानमतीजी, विशुद्धमतीजी, पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री वाराणसी, पं० फूलचन्द्र शास्त्री, पं० बालचन्द्र शास्त्री, डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, डॉ० देवेन्द्रकुमार नीमच, पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, पं० सुमेरुचन्द्रजी शास्त्री, डॉ० कमलचन्द्र सोमानी, डॉ० भागचन्द्र भास्कर, डॉ० राजाराम जैन आरा आदिके नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। ये सभी सन्त व विद्वान् अहर्निश जैन साहित्यके लेखन एवं शोधनमें लगे हुये हैं। यही नहीं, अब तो कुछ वैज्ञानिक भी विज्ञानके आधारपर पुनर्जन्म, आत्मा, स्वर्ग एवं नरकके अस्तित्वके बारेमें गहरी खोज करनेमें लगे हैं।

जैनदर्शनके अध्ययन, खोज एवं लेखनकी दिशामें भी पर्याप्त कार्य हुआ है। जैन दर्शन एवं न्यायके अधिकांश ग्रन्थ, जिनमें समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, हरिभद्र, सिद्धसेन, वादीभसिंह, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र,

हेमचन्द्र, मल्लिषेणके ग्रन्थोंके नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थोंके प्रकाशनमें जैन दार्शनिक ग्रन्थोंके मद्दतसे विद्वानोंको जानकारी मिल गयी है। तथा उनके पठन-पाठनमें गतिशीलता आयी है। इस शताब्दीके दार्शनिकोंने भी अपने-अपने ग्रन्थोंसे दार्शनिक साहित्यके भण्डारमें अभिवृद्धि की है। और इस दृष्टिमें पं० महेंद्रकुमार न्यायाचार्यका जैनदर्शन, पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थका जैनदर्शनसार (संस्कृत), कैलाशचन्द्र शास्त्रीका जैन न्याय, मुनि नथमलजीका जैन न्यायका विकास, के रूपमें जो कार्य हुआ है वह अत्यधिक प्रशंसनीय है। किन्तु डॉ० कोठियाने दार्शनिक जगत्में सबसे अधिक उल्लेखनीय कार्य किया है और स्याद्धाद-सिद्धि (वादोभसिंह), प्रमाणप्रमेयकलिका (नरेंद्रसेन) न्यायदीपिका (अभिनव धर्म भूषण) आप्तपरीक्षा (विद्यानन्द), प्रमाणपरीक्षा (विद्यानन्द) जैसे मूलग्रन्थोंका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन करके दार्शनिक जगत्के समक्ष उत्तम साहित्य प्रस्तुत किया है। यही नहीं, 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार'के रूपमें शोध-प्रबन्ध लिखकर दर्शन-साहित्यके भण्डारकी अभिवृद्धि की है। डॉ० कोठियाके 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परीक्षण'के नामसे जिस पुस्तकका प्रकाशन हुआ है उससे आपके दार्शनिक व्यक्तित्वको परखनेमें और भी सहायता मिली है और शुद्ध दार्शनिकके रूपमें आपका विद्वत् जगत्को परिचय प्राप्त हुआ है।

डॉ० कोठिया वर्तमानमें जैन विद्वत् जगत्के एक जगमगाते नक्षत्र हैं, जिनके ज्ञानके प्रकाशसे सारा समाज एवं देश प्रकाशित हैं। क्या साहित्यिक क्षेत्र एवं क्या सामाजिक क्षेत्र दोनोंको ही आपकी अमूल्य सेवायें प्राप्त हैं। यही कारण है कि डा० कोठिया न्यायालंकार, न्यायरत्नाकर, न्यायवाचस्पति जैसी मानद उपाधियोंसे विभिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मानित हो चुके हैं। यही नहीं, विभिन्न नगरों एवं गाँवोंकी जैन समाज द्वारा भी आप सार्वजनिकरूपसे सम्मानित हो चुके हैं। 'विद्वान् सर्वत्र पूज्यते' की उक्ति आपके लिये शत-प्रतिशत सही सिद्ध होती है।

डॉ० कोठिया एवं उनकी पत्नी श्रीमती चमेली देवी दोनों ही हृदयमें विद्यार्थियोंके लिए, मेहमानों एवं विद्वानोंके लिए सदा ही पलक पाँवड़े बिछाये रहते हैं। यही कारण है कि वाराणसी जैसे नगरमें सबसे ज्यादा अतिथि आपके यहाँ ही पहुँचते हैं। वे दोनों ही अपनी सीमित आयमेंसे अधिक-से-अधिक राशि दूसरोंके लिये विकीर्ण करते रहते हैं।

जब उनको अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करनेका प्रश्न आया तो यमीने एक स्वरसे ऐसे शुभ कार्यका समर्थन ही नहीं किया, किन्तु सक्रिय रूपमें किसी-न-किसी रूपमें सहयोग भी देनेकी अपनी इच्छा व्यक्त की। लेकिन उनका अभिनन्दन-ग्रन्थ ऐसे ग्रन्थोंकी परम्परामेंसे हट कर निकालनेका निश्चय किया गया और उसी निर्णयके फलस्वरूप प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत है।

प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थ पाँच खण्डोंमें विभक्त है। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड डॉ० कोठियाके जीवन एवं कृतित्वसे सम्बन्धित हैं। एक विद्वान्के लिये समाज एवं देशके सैकड़ों-हजारों व्यक्तियोंके कैसे विचार हैं तथा उन्हें वे किन-किन दृष्टियोंसे देखते रहे हैं, उन सबका इन दो खण्डोंमें प्रकाशित शुभकामनाओं एवं लेखोंमें अच्छी तरह पता चलता है। डॉ० कोठियाका जीवन जिस प्रकार दर्शन-साहित्य एवं समाज-विकासके लिये समर्पित है उसी तरह उनका जीवन समाजके लिये एक धरोहरके रूपमें है, जिसपर उनसे भी अधिक समाजका अधिकार है। यही कारण है कि समाजके सभी वर्गोंने उनके दीर्घ एवं यशस्वी जीवनकी कामना की है। एक ओर जैन्याचार्योंने उनके यशस्वी जीवनके किये अपना शुभाशीर्वाद दिया है और अपनी शुभकामनाओंसे उनके व्यक्तित्वकी प्रशंसा की है वहीं दूसरी ओर समाजनेताओं, विद्वानों, साहित्यसेवियोंने सतायुः होकर इसी तरह सेवा करते रहनेकी शुभकामनाएँ प्रगट की हैं। वास्तवमें समाजके श्रेष्ठीवर्ग, नेतागण एवं विभिन्न संस्थाओंके अधिकारीगण सभीने एक स्वरसे उनके दीर्घ जीवनकी कामना की है।

सम्पादक-मण्डल



डॉ० ज्योति प्रसाद जैन



पं० बलभद्र न्यायतीर्थ



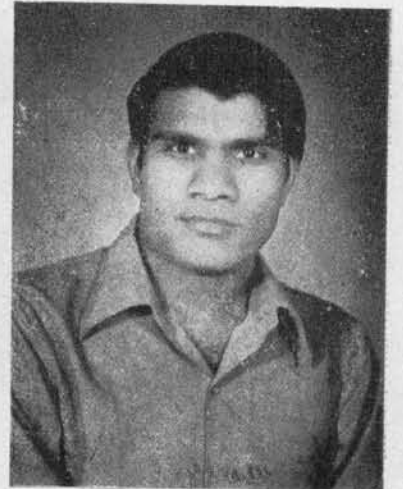
डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल



डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य



डॉ० भागचन्द्र भागेन्दु



डॉ० शीतलचन्द्र जैन

शुभकामनाओंके साथ ही उनके साधियों, सहयोगियों एवं पारिवारिक मित्रों, शिष्यों एवं उपकृत जनोंने उनके व्यक्तित्वके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है वह उनके विशाल व्यक्तित्वका ही चित्रण किया है। वह वास्तवमें एक विद्वान्के लिए कम गौरवकी बात नहीं है। छोटी-छोटी कविताओंके माध्यमसे शिष्यों, विद्यार्थियों एवं सुहृद्जनोंने जिस तरहसे अपने उद्गार प्रकट किये हैं उनसे ऐसा लगता है कि उनका जीवन कितना प्रशस्त, उपयोगी एवं सर्वजनहिताय एवं सर्वजनमुखाय बन चुका है। बनारसमें रहते हुए भी वे सारे देशके हैं और उनके स्वागतके किये सारा समाज मानों पलक-पावडे बिछाये रहता है।

डॉ० कोठिया 'कर्मण्येवाधिकारस्तु' सिद्धान्तमें विश्वास रखने वाले हैं और इसी मंत्रके आधारपर वे सतत कार्यशील रहे हैं। उन्होंने अपने जीवनमें उत्थान ही उत्थान देखा है। वे एक सामान्य अध्यापकसे लेकर हिन्दू विश्वविद्यालयमें उपाचार्य पद तक पहुँचे हैं। वे जहाँ भी रहे हैं अपने स्वाभिमानका अंश छोड़ा है तथा अपनी पूरी ज्युटीका अन्जाम दिया है। इनका जीवन 'वज्रादपि कठोराणि' न होकर 'मृदूनि कुसुमादपि' है। यही कारण है कि आज ही नहीं, अपने आदिसे अन्तके जीवनमें लोकप्रिय बने रहे हैं।

इन दो खण्डोंमें उनके जीवन एवं व्यक्तित्वके अतिरिक्त उनको प्रमुख कृतियोंपर समालोचनात्मक समीक्षाएँ दी गयी हैं, जो विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखी गयी हैं। विद्वानोंकी दृष्टिमें उनकी कृतियाँ दार्शनिक जगत्में कितनी खरी उतरी हैं तथा जैनदर्शनकी भूमिकामें उनका क्या स्थान है आदि कुछ प्रश्नोंको उभारा गया है और उन कृतियोंके आधारपर उनका समाधान खोजा गया है। डॉ० कोठियाकी जिन कृतियोंके समीक्षात्मक लेख दिये गये हैं उनके तथा उनके समीक्षक लेखकोंके नाम निम्न प्रकार हैं—

ग्रन्थ	समीक्षक
१. न्यायदीपिका	: पं० नरेन्द्रकुमार भिंसीकर
२. आप्त परीक्षा	: प्रो० उदयचन्द्र जैन
३. द्रव्यसंग्रह	: डॉ० भागचन्द्र भास्कर
४. समाधिस्मरण दीपक	: डॉ० कुसुमलता जैन
५. प्रमाणप्रमेयकलिका	: प्रो० रंजनसूरिदेव
६. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार	: डॉ० दामोदर शास्त्री
७. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन	: डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
८. प्रमाणपरीक्षा	: पं० रामनारायण त्रिपाठी

इस प्रकार समीक्षात्मक लेखोंमें डॉ० कोठियाकी दार्शनिक सूक्ष्म-बुद्ध एवं उनके सम्पादन स्तरपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। साथ ही उनकी अधिकांश कृतियोंका परिचय भी पाठकोंको एक ही स्थानपर सरलतासे उपलब्ध करा दिया गया है। किसी विद्वान्के समस्त कृतित्वका एक ही स्थानपर परिचय और वह भी समीक्षात्मक, भविष्यके लिये उसको जानने-देखने एवं परखनेका सभीको सुन्दर अवसर मिल जाता है।

शेष खण्ड

अभिनन्दन-ग्रन्थके शेष तीन खण्ड पूर्णतः उनके कृतित्वसे सम्बन्धित हैं। डॉ० कोठिया साहित्यिक जगत्में गत ४० वर्षोंसे लगातार कार्य कर रहे हैं। उनके विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें पचासों खोजपूर्ण निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। सेमिनारों, सम्मेलनों एवं अन्य समारोहोंमें उन्होंने कितने ही शोधपत्रों (शोध-निबन्धों) का वाचन किया है। लेकिन वे सब इधर-उधर पत्र-पत्रिकाओंके पृष्ठोंमें अथवा सेमिनारोंकी रिपोर्टोंमें बिखरे पड़े हैं। ऐसे निबन्धोंका संग्रह जहाँ एक ओर आवश्यक है वहाँ उनका संकलन करना भी एक खोजका विषय है। वैसे तो डॉ० कोठियाके अबतक करीब करीब २०० लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें

प्रकाशित हो चुके हैं। लेकिन अभिनन्दन-ग्रन्थमें ऐसे ही निबन्धोंका संकलन किया गया है, जिनकी उपादेयता आगे आनेवाले समयमें भी उतनी ही है जितनी वर्तमानमें है। अथवा जब वे लिखे गये थे। इस तरह ऐसे ५० लेखोंका महत्वपूर्ण संग्रह अभिनन्दन-ग्रन्थके तीन खण्डोंकी शोभा बढ़ा रहे हैं।

डा० कोठियाके महत्वपूर्ण निबन्धोंको तीन खण्डोंमें विषय-प्रतिपादनकी दृष्टिसे विभाजित किया गया है। तृतीय खण्डमें ऐसे २३ निबन्धोंका संग्रह है जिनका प्रमुख विषय धर्म, दर्शन एवं न्यायके अन्तर्गत आता है। इस खण्डमें वैसे तो सभी निबन्ध उपयोगी एवं महत्वपूर्ण हैं तथा जिनमें कितने ही प्रश्नोंका समाधान खोजा जा सकता है लेकिन 'पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण', 'करुणा-जीवकी एक शुभपरिणति,' 'जैनधर्म और दीक्षा', 'क्षमा और अहिंसाका विश्लेषण', संजय वेलट्टिपुत्र और स्याद्वाद', वैदिक 'संस्कृतिको श्रमण संस्कृतिकी देन, डा० अम्बेडकरसे भेंटवार्ता, जैनदर्शनमें सल्लेखना जैसे कुछ निबन्धोंमें डा० कोठियाकी विद्वत्ताको देखा एवं परखा जा सकता है तथा उनके चिन्तनशीलता एक झलकके दर्शन किये जा सकते हैं। ये सभी निबन्ध जैनदर्शन एवं धर्मके अध्येताके लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होंगे तथा उनके आधार-पर धर्म, दर्शन एवं न्यायके उलझन भरे प्रश्नोंको सुलझाया जा सकता है।

अभिनन्दन-ग्रन्थके चतुर्थ खण्डमें इतिहास एवं साहित्यसे सम्बन्धित निबन्धोंका संकलन किया गया है, जिनकी संख्या १३ है। लेकिन इन इतिहास एवं साहित्यके निबन्धोंका सम्बन्ध भी दर्शनसे ही है। डा० कोठिया तो दार्शनिक विद्वान् हैं। इसलिये उनका इतिहास एवं साहित्यिक निबन्धोंका विषय भी दार्शनिक ही होता है। इस खण्डके १३ निबन्धोंमें आचार्य कुन्दकुन्द, गृद्धपिच्छ एवं समन्तभद्रके जीवन, व्यक्तित्व, समय एवं कृतित्वपर प्रकाश डालनेके अतिरिक्त कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्रपर भी खोजपूर्वक प्रकाश डाला गया है। उसके अतिरिक्त अनुसन्धानमें पूर्वग्रहमुक्ति आवश्यक है इसमें कुछ प्रश्नोंको उठाकर उनका समाधान ढूँढा गया है। अनुसन्धान तो अनुसन्धान ही है, तब तथ्योंकी उपलब्धि है अथवा प्राचीन मान्यताओंके विरोध। समर्थनमें सामग्रीकी खोज है। अनुसन्धानमें यदि हमारा पूर्वाग्रह होगा तो फिर अनुसन्धान ही व्यर्थ सिद्ध होगा। इसी खण्डमें 'संजद' पदपर भी विचार-विमर्श किया गया है। डा० कोठियाका वह चिन्तन भी इतिहासकी सामग्री बन गया है।

ग्रन्थके पञ्चम खण्डमें डा० कोठियाके विविध विषयपरक लेखोंका संग्रह किया गया है, जिसमें एक ओर आचार्य नमिसागर, पूज्य वर्णाजी एवं महापण्डित टोडरमलका जीवन-चरित्र दिया गया है वहीं उनके साथ डा० सा०के अपने संस्मरणोंको भी लिपिबद्ध किया गया है। इसके साथ ही श्रुतपञ्चमीके स्वरूप एवं उसकी ऐतिहासिकतापर भी प्रकाश डाला गया है।

इसी खण्डमें दशलक्षणपर्व, क्षमापर्व, वीर-निर्वाणपर्व-दीपावली एवं महावीर-जयन्ती जैसे प्रमुख सामाजिक पर्वोंकी महत्ता एवं उनकी ऐतिहासिकतापर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। ये सभी पर्व जनमानसको छूनेवाले पर्व हैं, इसलिये उनकी महत्ताके सम्बन्धमें जानना आवश्यक है। इनके अतिरिक्त अहार, पपीरा, पावापुर एवं श्रवणबेलगोला जैसे लोकप्रिय तीर्थोंपर भी डा० कोठियाने अपनी लेखनी चलायी है। श्रवणबेलगोलामें जब महामस्तकाभिषेक होता है तो समूचे विश्वका उसकी ओर ध्यान आकर्षित हो जाता है और इसी दृष्टिसे प्रस्तुत अभिनन्दन-ग्रन्थमें ऐसे निबन्धोंका संकलन किया गया है, जिनको पढ़कर पाठक भविष्यमें नवीन सामग्रीसे लाभान्वित हो सके।

इसी खण्डका एक आकर्षण डा० कोठियाके तीन प्रवासोंका वर्णन है। वैसे तो वे वर्ष भरमें चार महीने प्रवासमें ही रहते हैं तथा जन-जनको अपने प्रवचनोंसे लाभान्वित करते रहते हैं। लेकिन हमने राजगृह, काश्मीर एवं बम्बईके प्रवासपर लिखे गये उनके अनुभवोंको इस खण्डमें संकलित किया है।

इस प्रकार प्रस्तुत 'डॉ० कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थ' उनके जीवन, परिवार, व्यक्तित्व एवं कृतित्वपर आधारित ग्रन्थ है, जो अभिनन्दन-ग्रन्थोंके लिए एक नयी दिशा-बोधक है। इस ग्रन्थमें एक ओर जहाँ समाजके विभिन्न महानुभावोंके उनके प्रति अपने-अपने विचार हैं वहीं दूसरी ओर उनके कृतित्वपरक सामग्री भी संकलित की गयी है। इसलिये इस अभिनन्दन-ग्रन्थको हम डॉ० कोठियाके सर्वाङ्गीण जीवनको देखनेका एक प्रकाश-गृह कह सकते हैं।

अभिनन्दन-ग्रन्थ-सम्पादनके कार्यमें जिन पूज्य सन्तों, विद्वानों, लेखकोंका सहयोग मिला है उसके लिये सम्पादक-मण्डल सभीका आभारी है, क्योंकि उनके बिना यह गुरुतर कार्यको मूर्तरूप नहीं दिया जा सकता था। इस अवसरपर हम उन लेखकोंसे भी धन्या-प्रार्थी हैं, जिनके लेखोंको स्थानाभावके कारण हम ग्रन्थमें स्थान नहीं दे पाये अथवा उनको संक्षिप्त रूपसे ही हम इसमें प्रकाशित कर सके। हम अभिनन्दन-ग्रन्थके संरक्षकमहानुभावों, उपाध्यक्षों एवं परामर्शदात्री-मण्डलके सदस्योंके भी आभारी हैं जिनका, हमें निरन्तर सक्रिय सहयोग मिल सका। अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन समितिके अध्यक्ष राय देवेन्द्र प्रसादजी गोरखपुरको हम किन शब्दोंमें धन्यवाद दें, क्योंकि यह सब कार्य उन्हींकी प्रेरणाका सुफल है। इसी तरह समितिके मंत्री श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल वाराणसीके भी हम विशेष रूपसे आभारी हैं। वास्तवमें इस अभिनन्दन-ग्रन्थके वे ही नियोजक हैं और प्रकाशनका सारा कार्य इन्हींकी देखरेखमें सम्पन्न हुआ है।

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
कृते सम्पादक मण्डल

अभिनन्दन-समिति के पदाधिकारी



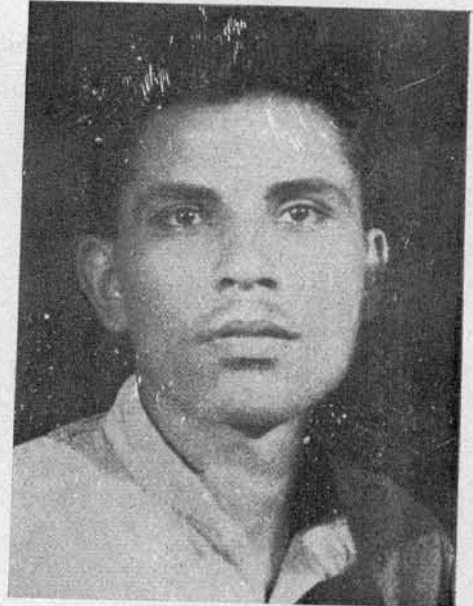
अध्यक्षता
साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन, बम्बई



मुख्य अतिथि
सेठ डालचन्द्रजी जैन, सागर



श्री राय देवेन्द्रप्रसादजी जैन
अध्यक्ष, प्रकाशन समिति



बाबूलाल जैन फागुल्ल
मंत्री, प्रकाशन समिति

न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन-ग्रंथ प्रकाशन समितिके पदाधिकारी

संरक्षक

१. स्वस्तिश्री पण्डिताचार्य 'कर्मयोगी' चारुकीर्ति भट्टारक, श्रवणबेलगोला
२. स्वस्तिश्री पण्डिताचार्य चारुकीर्ति भट्टारक, मूडबिद्री
३. श्री वीरेन्द्र हेंगडे, धर्मस्थल
४. सर सेठ भागचन्द सोनी, अजमेर
५. साहू श्रेयांस प्रसाद, बम्बई
६. श्रीमती सरयू दफतरी, बम्बई
७. श्री निर्मल कुमार सेठी, लखनऊ

अध्यक्ष

८. श्री राय देवेन्द्र प्रसाद जैन, एडवोकेट, गोरखपुर

उपाध्यक्ष

९. सेठ डालचन्द जैन, सागर
१०. लाला प्रेमचन्द जैन, दिल्ली
११. पं० खुन्नीलाल भदौरा वाले, टीकमगढ़
१२. श्री इन्द्रजीत जैन एडवोकेट, कानपुर
१३. सिधई जीवन कुमार, सागर

मंत्री

१४. श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल, वाराणसी

सम्पादक-मण्डल

१५. डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ
१६. पं० डॉ० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य, सागर
१७. पं० बलभद्र न्यायतीर्थ, आगरा
१८. डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर
१९. डॉ० भागचन्द भागेन्द, दमोह
२०. डॉ० शीतलचन्द जैन, वाराणसी

परामर्शदात्री-मण्डल

२१. पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी
२२. पं० फूलचन्द्र शास्त्री, वाराणसी
२३. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

२४. पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य, बोना
२५. पं० नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर
२६. श्री यशपाल जैन, दिल्ली
२७. पं० भैवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर
२८. श्रीमती विदुषी गजावेन, बाहुबली (कोल्हापुर)
२९. पं० बालचन्द्र शास्त्री, हैदराबाद
३०. श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, दिल्ली
३१. श्री अग्रचन्द नाहटा, बीकानेर
३२. प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी
३३. डॉ० लालबहादुर शास्त्री, दिल्ली
३४. पं० बाबूलाल जैन जमादार, बडौत
३५. पं० अमृतलाल शास्त्री, लाडनू
३६. पं० हीरालाल कौशल, दिल्ली
३७. ब्र० पं० माणिकचन्द चवरे, कारंजा
३८. डॉ० हरीन्द्रभूषण, उज्जैन
३९. प्रो० उदयचन्द जैन, वाराणसी

सदस्य

४०. रा० ब० सेठ राजकुमार सिंह, इन्दौर
४१. श्री साहू अशोक कुमार जैन, नई दिल्ली
४२. श्री बाबूलाल पाटौदी, इन्दौर
४३. श्री जयचन्द लोहाडे, हैदराबाद
४४. श्री सेठ हरकचन्द पाण्ड्या, रांची
४५. श्री त्रिलोकचन्द कोठारी, कोटा
४६. ला० अजित प्रसाद जैन, दिल्ली
४७. श्री रमेशचन्द्र जैन, दिल्ली
४८. ला० रघूमल महेन्द्रकुमार जैन, झाँसी
४९. श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमार जैन, खुरई
५०. स० सि० धन्यकुमार जैन, कटनी
५१. श्री सुमेरचन्द पाटनी, डालीगंज, लखनऊ
५२. श्री लालचन्द जैन, टिकैतनगर (बाराबंकी)
५३. श्री ऋषभदास जैन, वाराणसी
५४. श्री श्रवणकुमार जैन, कलकत्ता

५५. श्री हिम्मतीसिंह, कलकत्ता
 ५६. श्री सागरचन्द दिवाकर, सागर
 ५७. सेठ बद्रीप्रसाद सरावगी, पटना
 ५८. राजवैद्य शान्तिप्रसाद जैन, दिल्ली
 ५९. सि० श्रीनन्दनलाल जैन, बीना
 ६०. बा० विशालचन्द जैन, सहारनपुर
 ६१. श्री महेन्द्रकुमार फुसकेले, वकील, सागर
 ६२. डॉ० भागचन्द भास्कर, नागपुर
 ६३. श्रीमती राजकुमारी रांधेलीय, कटनी
 ६४. डॉ० कपूरचन्द जैन, टीकमगढ़
 ६५. सि० हनुमन्चन्द सांधेलीय, पाटन
 ६६. श्री पं० बालचन्द जैन, नवापारा-राजिम
 ६७. पं० देवकुमार जैन, मूडबिंद्री
 ६८. श्री मिश्रीलाल एडवोकेट, गुना
 ६९. श्री ताराचन्द्र प्रेमी, फिरोजपुरझिरका
 ७०. डॉ० श्रीचन्द्र जैन संगल, एटा
 ७१. श्री सतोशकुमार जैन, न्यू दिल्ली
 ७२. बा० सुबोधकुमार जैन, आरा
 ७३. श्री मोतीलाल बड़कुल, जबलपुर
 ७४. श्री नीरज जैन, सतना
 ७५. श्री राजेन्द्र कुमार जैन, मेरठ
 ७६. पं० गरीबदास जैन, कटनी
 ७७. श्री वीरेन्द्रकुमार इंदोरया, दमोह
 ७८. श्री कमलकुमार जैन, छतरपुर
 ७९. प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय, वाराणसी
 ८०. श्री जयकृष्णदास जैन, वाराणसी
 ८१. सि० नेमीचन्द्र जैन, जबलपुर
 ८२. श्री शैलेश डाह्यभाई, सूरत
 ८३. प्रो० अनन्त प्रसाद जैन, गोरखपुर
 ८४. पं० कुंजीलाल जैन, गिरीडीह
 ८५. श्री रतनचन्द पटोरिया, दुर्ग
 ८६. डॉ० कुसुमलता पटोरिया, नागपुर
 ८७. श्री महेन्द्र कुमार मानव, छतरपुर
 ८८. श्री सुरेशचन्द्र जैन, भोपाल
 ८९. श्री नरेन्द्र 'भानावत' जयपुर
 ९०. श्री महेन्द्र कुमार मलैया, सागर
 ९१. श्री नलिन शास्त्री, बौद्ध गया
 ९२. सि० रतनचन्द जैन, जबलपुर
 ९३. पं० शिखरचन्द्र जैन, भिण्ड
 ९४. सि० हरिश्चन्द्र जैन, जबलपुर
 ९५. श्री डॉ० एस० के० जैन, दिल्ली
 ९६. श्री मौजीलाल जैन, वाराणसी
 ९७. डॉ० प्रेम सुमन, उदयपुर
 ९८. श्री गणेशीलाल रानीवाला, कोटा
 ९९. श्री सुभाष जैन, कटनी
 १००. डॉ० राजाराम जैन, आरा
 १०१. डॉ० धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र

**न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशनमें
सहयोगियोंकी नामावली**

- ५००१) स्वस्ति श्री पण्डिताचार्य चारुकीर्ति स्वामी मूडबिंद्री (कर्नाटक)
 २१०१) राय देवेन्द्र प्रसादजी, गोरखपुर (उ० प्र०)
 २००१) वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, द्वारा-डॉ० श्री चन्द्रजी जैन संगल, एटा
 ५०१) गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, वाराणसी (उ० प्र०)
 १०००) श्री अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्
 १००१) श्री पोखराजजी जैन, गोरखपुर (उ० प्र०)
 १००१) श्री निर्मलकुमार सेठी, लखनऊ (उ० प्र०)
 १००१) सि० जीवनकुमार अरुणकुमार जैन, सागर (म० प्र०)
 १००१) डॉ० भागचन्दजी जैन, दमोहकी (मार्फत)
 ५००) राजवैद्य शान्तिप्रसाद जैन, दिल्ली
 ५०१) श्री सुभाषजी जैन, कटनी (म० प्र०)
 ५०१) सिधैन चम्पाबाई जैन ट्रस्ट, कटनी (म० प्र०)
 ५१०) श्री रतनचन्द्र पटोरिया, दुर्ग (म० प्र०)
 ५१०) श्री शीलचन्द जैन, इन्दौर (म० प्र०)
 ५०१) पं बालचन्द सुरेशचन्द जैन, नवापारा-राजिम
 २५१) श्री दि० जैन सिद्धक्षेत्र, कुण्डलगिरि (कोनीजी) म० प्र०
 २५१) श्री अजितप्रसाद जैन ठेकेदार, दिल्ली
 २००) श्री अनन्तप्रसाद जैन, गोरखपुर (उ० प्र०)
 १०१) डॉ० एस० के० जैन, दिल्ली
 १०१) पं० मोहनलालजी शास्त्री, जबलपुर (म० प्र०)
 १०१) श्री लखमीचन्द जैन, जबलपुर (म० प्र०)
 १०१) चौधरी दरबारीलाल जैन, जबलपुर (म० प्र०)
 १०१) सेठ हरकचन्द जैन, रांची (बिहार)
 १०१) पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर (म० प्र०)
 १०१) डॉ० राजाराम जैन, आरा (बिहार)
 १०१) श्रीमती विद्यावती जैन, आरा (बिहार)
 १०१) श्रीमती ताराबाई जैन (मातु श्री राजेन्द्रकुमार जैन पटोरिया), नागपुर (महा०)
 १०१) श्रीमती डॉ० कुसुमलता जैन, नागपुर (महाराष्ट्र)
 १०२) लाला रघूमल जैन, झाँसी (उ० प्र०)
 १०१) दि० जैन समाज, कृष्क्षेत्र (हरियाणा)
 १०१) श्रीमती चमेलीबाई जैन, वाराणसी
 १०१) श्रीमती जैन, वाराणसी
 १०१) श्रीमती शारदा जैन, वाराणसी
 १०१) डॉ० कपूरचन्दजी जैन, टीकमगढ़
 १०१) लाला महताब सिंहजी, दिल्ली
 १०१) सिधई नेमीचन्द जैन, गोंदवाले, शिवपुरी
 १०१) श्रीमती पृष्पा देवी जैन, महावीर प्रेस, वाराणसी

विषयानुक्रम

प्रथम खंड

शुभाशीर्वाद

एकलब्धप्रतिष्ठ विद्वान्
जैन दर्शनके प्रमुख विद्वान्
सेवाएँ अनुपम
साहित्य-साधनाके लिए समर्पित-जीवन
जैन विद्याके अप्रतिम-मनीषी
जैनधर्मके मूर्धन्य विद्वान्
धर्मानुरागी साहित्यसेवी
मंगल-कामना
सेवाएँ बहुमूल्य
सच्चा मार्ग-दर्शन
जैन न्यायके अधिकारी विद्वान्
दिग्गज विद्वान्
एक सामाजिक कार्यकर्ता
विलक्षण प्रतिभाशाली
जैन समाजके गौरव
हारिक शुभकामना
मंगल-कामना
देशके मूर्धन्य विद्वान्
जैनदर्शनके प्रकांड विद्वान्
उच्चकोटिके विद्वान्
जैन न्यायके अधिकारी विद्वान्
तत्त्वज्ञानके मण्डारी
ज्ञानका अखण्ड दीप जलाया
महामनीषी

आशीर्वाद, शुभकामना एवं संस्मरण

आचार्य श्री देशभूषण महाराज	१
एलाचार्य श्री विद्यानन्द मुनि	१
आचार्य श्री विद्यासागर महाराज	१
आचार्य श्री समन्तभद्र महाराज	१
आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज	२
भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी, मूडबिंद्री	२
श्री हरिश्चन्द्र भगत, हस्तिनापुर	२
ब्र० दयासिन्धु, द्रोणगिरि	२
पण्डिता ब्र० सुमती बाई शहा, सोलापुर	२
सरसेठ भागचन्द सोनी	३
साहू श्रेयांस प्रसाद जैन	३
सेठ हरकचन्द	३
श्री निर्मल कुमार सेठी	३
सेठ भगवानदास शोभालाल जैन	४
श्री जयचन्द लोहाडे	४
सिधई धन्यकुमार जैन	४
श्री सुमेरचन्द्र जैन पाटनी	५
श्री नमेशचन्द्र जैन	५
श्री नरेश कुमार जैन मादीपुरिया	५
श्री सुनहरीलाल जैन	५
श्री बद्रो प्रसाद सरावगी	६
श्री भगतराम जैन	६
सेठ डालचन्द जैन	६
श्री हरिश्चन्द्र जैन, जबलपुर	६
पं० गणेशीलाल जैन, हस्तिनापुर	६
श्री कैलाशचन्द्र जैन, दिल्ली	७
लाला रघूमल जैन, झांसी	७
कृषिपंडित श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमार जैन	७
श्री गणेशीलाल रानी वाला, कोटा	७
श्री सुबोध कुमार जैन, आरा	८
श्री मिश्रीलाल पाटनी, लखर (ग्वालियर)	८
श्री राजकुमार सेठी, डीमापुर	८
सिधई हनुकुमचन्द्र सांघेलीय	८

श्री कोठियाजीका नैतिक कोण	पं० दयाचन्द्र साहित्याचार्य	९
स्मृतिके झरोखेमें कोठियाजी	श्री विनयकुमार पथिक	९
सरस्वतीपुत्र	पं० श्रेयांसकुमार जैन शास्त्री	१०
कर्मठ व्यक्तित्व	श्री ताराचन्द्र प्रेमी	११
हार्दिक सन्देश	श्री शिशुपाल पार्श्वनाथ शास्त्री	११
समाजके मार्गदर्शक	पं० शिखरचन्द्र जैन प्रतिष्ठाचार्य, भिण्ड	११
प्रथम झलक	श्री सुमेरचन्द्र कौशल	१२
न्यायदिवाकर डॉ० कोठियाजी	पं० मोहनलालजी शास्त्री	१२
महान् व्यक्तित्वके धनी	पं० राजकुमार शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य	१३
सादगी और सरलताकी मूर्ति	डॉ० बालचन्द्र जैन	१३
प्रेरणास्रोत	डॉ० लालचन्द्र जैन	१३
ज्ञाननिधि एवं वात्सल्यकोश डॉ० कोठियाजी	डॉ० प्रेमसुमन जैन	१४
प्रेरक व्यक्तित्व	प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन	१५
देर आयद दुहस्त आमद	पं० पद्मचन्द्र जैन शास्त्री	१५
गुरुणां गुरु	डॉ० गुलाब चन्द्र जैन	१६
विनम्रता और सरलताके अग्रणी	श्री चंदनमल 'चांद'	१६
यशस्करी विद्याके अमर उपासक	डॉ० कमलेश कुमार जैन	१६
कितने गहरे कितने उदार	पं० लक्ष्मणप्रसाद 'प्रशान्त'	१७
साहित्य-देवताके गरिमायुक्त आराधक	श्रीमती प्रेमलता पं० रविचन्द्र जैन	१८
मेरे श्रद्धेय	श्री शैलेश डी० कापडिया	१८
एक सहृदय विद्वान्	प्राचार्य कुन्दनलाल जैन	१९
नई पीढ़ीके निर्माता	पं० नागेन्द्र शास्त्री	२०
सरलताकी प्रतिमूर्ति	ब्र० पं० खुन्नीलाल (ज्ञानानंद) जैन	२०
जीवन-पथ प्रदर्शक	डॉ० धर्मचन्द्र जैन	२०
भूली विसरी यादें	डॉ० श्रीमती रमा जैन	२१
योगदान उच्चस्तंका	श्री अक्षय कुमार जैन	२२
शुभ-कामना	पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य	२२
चतुर्मुखी प्रतिभाके धनी	पं० प्रकाश 'हितैषी' शास्त्री	२२
न्यायशास्त्र-मर्मज्ञ	पं० नरहैलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री	२२
श्री दरबारीलालकोठिया अभिनंदन है		
बारंबार	पं० अनूपचन्द्र न्यायतीर्थ	२३
शत-शत अभिनन्दन है	हास्यकवि हजारीलाल जैन 'काका'	२४
नैनागिरिके श्रमणदूत !	वैद्य कपूरचन्द्र विद्यार्थी	२४
ओ ! साहित्यिक सन्त !	श्री शर्मनलाल सरस	२७
अभिनंदन कर हर्ष महान्	पं० बाबूलाल फणीश	२६
नाव लगाना पार	पं० धरणेन्द्र कुमार शास्त्री	२७

समता-ममताके अनुरंजन कोठिया''''	श्री शशिप्रभा जैन	२७
कोठी वाले कोठिया	श्रीलक्ष्मी चन्द्र जैन 'सरोज'	२८
एक निस्पृह विद्वान्	पं० अमृतलाल जैन शास्त्री	२९
आदर्श व्यक्तित्वके धनी	पं० सत्यन्धर कुमार सेठी	२९
शत्-शत् वन्दन''''''''''''''''	प्राचार्य नेमिचन्द्र जैन	२९
समय-शिल्पी आदर्श साधक	डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन	२९
चतुर्मुखी प्रतिभाके धनी	श्री प्रतापचन्द्र जैन	३०
सराहनीय व्यक्तित्व	श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन	३१
संकल्पकी साकार मूर्ति	श्री राजेन्द्र कुमार जैन	३१
व्यक्तित्वके धनी	श्री विजयकुमार जैन 'भारतीय'	३१
समर्पित विद्वान्	श्री महावीर प्रसाद जैन, एडवोकेट	३१
क्षमा और मार्दवके धनी	ला० महतान सिंह जैन	३२
मेरे पूज्य चाचा डॉ० कोठियाजी	डॉ० महेन्द्र कुमार जैन	३२
कष्टहरण पण्डितजी	श्री शीलदचन्द्र मोदी	३२
भावुक गुरुजी	श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल	३२
गुण-पारखी विद्वान्	श्री सुलतान सिंह जैन, एम० ए०	३३
द्रोणगिरिके उत्सवोंमें डॉ० कोठिया	श्री कमल कुमार जैन	३४
जैसा मैंने उन्हें जाना और पाया	आचार्य अनन्त प्रसाद 'लोकपाल'	३५
न्यायाचार्योंमें अन्तिम कड़ी श्रीकोठियाजी	डॉ० कन्छेदोलाल जैन	३६
वे न्यायाचार्य तो हैं ही, न्यायाधीश भी हैं :		
एक रोचक संस्मरण	चौ० कोमलचन्द्र मुद्गुल	३६
एक जागरुक व्यक्तित्व	ब्र० पं० भुवनेन्द्र कुमार वर्णी शास्त्री	३७
निलोभी : डॉ० कोठियाजी	पं० अजितकुमार जैन शास्त्री	३८
युगपुरुषके प्रति	श्री सुरेश जैन, श्रीमती विमला जैन	३९
प्रेरणा और स्फूर्तिके स्रोत	श्री सतीश जैन	३९
उनका आदर्श मेरा प्रेरणास्त्रोत	डॉ० रमेशचन्द्र जैन	४०
विद्वद् विभूति	पं० बालचन्द्र शास्त्री	४०
जैनदर्शनके अप्रतिम विद्वान्	पं० मरीबदास जैन	४१
पण्डितजीके अनुरूपही पांडितानीजी	श्रीमती सुभद्रा जैन	४१
डॉ० कोठिया पूर्ण पुरुषायुष प्राप्त करें	डा० गणेशीलाल सुथार	४२
छात्रोंके प्रति उदारभाव	डॉ० सनतकुमार जैन	४२
विद्वत्ताका सही उपयोग	श्री कपूरचन्द्र वरैया	४२

द्वितीय खण्ड

कुलदीपक कोठियाजी	श्री दुलीचन्द्र जैन	४३
नीर-क्षीरके समीकरणमें निर्भय श्वेत मराल	आशुकवि श्री कल्याण कुमार शशि	४८

गोलापूर्व अन्वयके आलोकमें
 विद्वत्जगतके चमकते हुए सितारे
 मेरी आन्तरिक सद्भावना
 जैन न्यायके एकमात्र सर्वोपरि विद्वान्
 जैनदर्शनके वरिष्ठ विद्वान्
 अप्रतिम प्रतिभाके धनी
 जैनदर्शन, न्यायके प्रकाण्ड विद्वान्
 चतुर्थ सक्रम एवं पूर्ण जैन न्यायाचार्य
 अलौकिक प्रतिभाके धनी
 जीवन मूल्योंके प्रति आस्थावान्
 समन्वयशील दार्शनिक विद्वान्
 जैनदर्शनके मूर्धन्य विद्वान्
 एक बहुरंगी व्यक्तित्व
 मंगलाशा
 मंगल-कामना
 आस्थाका अभिनन्दन
 मंगल कामना
 वे जैन जगतके गौरव हैं
 अद्वितीय प्रतिभाके धनी
 बड़े भाई कोठियाजी
 अनुपम विद्वान्
 मेरे आद्य विद्यागुरु
 बहु आयामी व्यक्तित्वके धनी
 साहित्यिक शोधक्षेत्रमें महनीय योगदान
 सरल एवं स्नेही विद्वान्
 मूर्धन्य विद्वान् कोठियाजी
 जैन न्यायके अद्वितीय प्रकाण्ड पण्डित
 मेरी पहली मुलाकात
 उनकी जीवन : एक खुली पुस्तक
 डॉ० साहबके सम्पर्कमें कैसे आयी
 मेरे श्रद्धा-भजन
 उनकी मुझपर गहरी छाप
 निस्पृह साहित्य-समाजसेवक
 विनम्रताकी साकार प्रतिमूर्ति
 युगप्रणेता डॉ० कोठिया
 मेरी दृष्टिमें हमारे श्रीमान्जी

पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
 विद्यावारिधि डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन
 पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री
 सिद्धास्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
 पं० नाथूलाल जैन शास्त्री
 डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य
 डॉ० नथमल टाटिया
 प्रो० खुशालचन्द्र गौरावाला
 पं० भैरवलाल न्यायतीर्थ
 श्री यशपाल जैन
 श्री अमरचन्द्र नाहटा
 डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
 पं० बलभद्र जैन
 डॉ० राजकुमार जैन साहित्याचार्य
 पं० मूलचन्द्र शास्त्री
 श्री नीरज जैन एम ए०
 पं० मूलचन्द्र जैन शास्त्री
 पं० कुंजीलाल जैन
 डॉ० पं० गोरेलाल शास्त्री
 पं० बाबूलाल जैन जमादार
 प्रो० उदयचन्द्र जैन
 प्रो० डॉ० राजाराम जैन
 डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर
 डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन
 डॉ० रतनचन्द्र जैन
 पं० हीरालाल जैन 'कौशल'
 पं० रतनलाल कटारिया
 श्री महेन्द्रकुमार 'मानव'
 श्री नेमीचन्द्र पाटोरिया, श्रीमती रतनप्रभा जैन
 श्री राय देवेन्द्रप्रसाद जैन, एडवोकेट
 श्री प्रेमचन्द्र जैन
 श्री इन्द्रजीत जैन, एडवोकेट
 श्री जीवनकुमार सिधई
 डॉ० सागरमल जैन
 डॉ० बाहुबलिकुमार जैन
 श्रीमती चमेली बाई, कोठिया

४९
 ५३
 ५५
 ५६
 ५६
 ५७
 ५८
 ५९
 ६०
 ६१
 ६२
 ६३
 ६४
 ६८
 ६८
 ६९
 ६८
 ७१
 ७२
 ७२
 ७३
 ७४
 ७६
 ७७
 ७७
 ७८
 ७९
 ७९
 ८०
 ८१
 ८३
 ८६
 ८६
 ८७
 ८७
 ८९

जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन :

समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल	९१
प्रमाण-परीक्षा	पं० रामनारायण त्रिपाठी	९४
जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार (एक समीक्षण)	डॉ० दामोदर शास्त्री	९५
प्रमाणप्रमेयकलिकाके संदर्भमें	प्रो० श्री रंजन सूरिदेव	१०५
न्यायदीपिका : एक समीक्षा	पं० नरेन्द्रकुमार शास्त्री	१०८
द्रव्यसंग्रह : एक अनुचिन्तन	डॉ० भागचन्द्र 'भास्कर', डी० लिट्०	११५
शास्त्र-परीक्षा : एक अध्ययन	प्रो० उदयचन्द्र जैन	११७
समाधिमरणोत्साहदीपक : एक समीक्षा	डॉ० (सी०) कुसुम पाटोरिया	१२०

तृतीय खण्ड

धर्म, दर्शन, न्याय

धर्म

१. पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण	१२३
२. वर्तनाका अर्थ	१२८
३. जीवनमें संयमका महत्त्व	१३३
४. चरित्रका महत्त्व	१३८
५. करुणा: जीवकी एक शुभ परिणति	१४०
६. जैन धर्म और दीक्षा	१४३
७. धर्म : एक चिन्तन	१४६
८. सम्यक्त्वका अमूढदृष्टि अंग : एक महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धान्त	१४८
९. महावीरकी धर्म-देशना	१५०
१०. वीर-शासन और उसका महत्त्व	१५५
११. महावीरका आध्यात्मिक मार्ग	१६१
१२. महावीरका आचार-धर्म	१६४
१३. भ० महावीरकी क्षमा और अहिंसाका एक विश्लेषण	१७०
१४. भ० महावीर और हमारा कर्त्तव्य	१७३

दर्शन

१. अनेकान्तवाद-विमर्श	१७७
२. स्याद्वाद-विमर्श	१८२
३. संज्ञय वेलङ्घिपुत्त और स्याद्वाद	१८५
४. जैन दर्शनके समन्वयवादी दृष्टिकोणकी ग्राह्यता	१९३
५. श्रमण-संस्कृतिकी वैदिक संस्कृतिको देन	१९६
६. डॉ० अम्बेडकरसे भेंटवार्तामें अनेकान्त-चर्चा	२००
७. जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुचिन्तन	२०३
८. जैन दर्शनमें सर्वज्ञता	२१७

९. अर्थाभिगम-चिन्तन	२२५
१०. ज्ञापकतत्त्व-विमर्श	२३०
११. ध्यान-विमर्श	२३४

न्याय

१. भारतीय वाङ्मयमें अनुमान-विचार	२३९
२. न्याय-विद्यामृत	२८१

चतुर्थ खण्ड

इतिहास और साहित्य

१. स्याद्वाद और वादीभसिंह	२८७
२. द्रव्यसंग्रह और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव	३१६
३. शासन-चतुस्त्रिंशिका और मदनकीर्ति	३४०
४. 'संजद' पदके सम्बन्धमें अकलंकदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत	३६०
५. ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका सद्भाव	३६३
६. नियमसारका ५३ वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन	३७५
७. अनुसंधानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक : कुछ प्रश्न और समाधान	३७९
८. गुणचन्द्र मुनि कौन हैं ?	३९६
९. कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?	३९८
१०. गजपंथ तीर्थक्षेत्रका एक अतिप्राचीन उल्लेख	४०२
११. अनुसन्धानविषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर	४०४
१२. आचार्य कुन्दकुन्द	४११
१३. आचार्य गृच्छपिच्छ	४१६
१४. आचार्य समन्तभद्र	४१८

पंचम खण्ड

विविध

१. विहारकी महान् देन : तीर्थंकर महावीर और इन्द्रभूति	४२३
२. विद्वान् और समाज	४२८
३. हमारे सांस्कृतिक गौरवका प्रतीक : अहार	४३५
४. आचार्य शान्तिसागरजीका समाधिमरण	४४१
५. आदर्श तपस्वी आचार्य नमिसागर	४५१
६. पूज्य वर्णीजी : महत्त्वपूर्ण संस्मरण	४५५
७. प्रतिभामूर्ति पं० टोडरमल	४६०
८. श्रुतपञ्चमी	४६२
९. जम्बू-जिनाष्टकम्	४६५
१०. दशलक्षण पर्व	४६६
११. क्षमावाणी : क्षमापर्व	४६८

१२. वीर-निर्वाणपर्व : दीपावली	४७०	
१३. महावीर-जयन्ती	४७४	
१४. श्रीपौराजी : जिनमन्दिरोंका अद्भुत समुच्चय	४७६	
१५. पावापुर	४७८	
१६. श्रमणवेलगोला और गोम्मटेश्वरका महामस्तकाभिषिक्त	४८०	
१७. राजगृहकी मेरी यात्रा और अनुभव	४८३	
१८. काश्मीरकी मेरी यात्रा और अनुभव	४८७	
१९. बम्बई-प्रवास	४९०	
२०. परिशिष्ट	४९१	
गुरुजीकी प्रवृत्तियाँ	डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर	४९५
डॉ० कोठिया : एक कुशल कार्यकर्ता	डॉ० मोतीलाल जैन, खुरई	४९५
कर्तृत्व एवं व्यक्तित्व के धनी	पं० कमलकुमार शास्त्री	४९६
जीवेत शरद : शतम्	श्री स्वरूप चन्द्र जैन	४९६
सजग प्रहरी	डॉ० महेन्द्र कुमार जैन	४९७
डॉ० कोठियाकी अप्रतिम सेवाएँ	सिधई देवकुमार जैन	४९७
साधुमना श्री कोठियाजी	श्रीमती विमला जैन	४९७
प्रगाढ़ विद्वत्ता और सौम्य व्यक्तित्वके धनी	श्री अजित प्रसाद जैन	४९७
गुरुदेवका आशीर्वाद	पं० गोविन्ददास कोठिया	४९८
विनयकी जीवन्त मूर्ति	श्री जयकुमार इटोरया, श्री वीरेन्द्र कुमार इटोरया	४९८
अनेकानेक मंगल-कामनाएँ	श्री प्रेमचन्द शाह	४९८
निश्चल एवं अध्ययनशील पण्डितजी	श्री रतनचन्द पटोरिया	४९९
न्यायके असाधारण ज्ञाता	श्री सुभाष जैन	५००
मधुर व्यवहारके धनी	श्री मोतीलाल, बड़कुल	५००
मेरे फूफाजी	श्रीमती राजकुमारी रांबेलीय	५००
कर्मयोगी कोठियाजी	श्री मनोहरलाल वकील	५०१
कर्मठ विद्वान्	पं० रतनचन्द कासिल शास्त्री	५०२
समाजके भूषण	पं० पूर्णचन्द्र सुमन	५०२
जैन जगतकी अमूल्य निधि	प्रो० विनय कुमार जैन	५०२
उनका अविस्मरणीय योगदान	श्री देव कुमार जैन	५०२

प्रथम खण्ड

आशीर्वाद
शुभकामना एवं संस्मरण

शु भा शी र्वा द

आचार्यश्री देशभूषण महाराज

आपने मनुष्यजन्म प्राप्त करके अपनी विद्वत्ताके द्वारा जीवोंको विद्या-दान देकर उनको सन्मार्गमें लगाया । ऐसे विद्वान् लोग आजकल पंचमकालमें अत्यन्त दुर्लभ हैं । आपका सारा समय जिनवाणीकी सेवामें निरन्तर आजतक व्यतीत हुआ है । हमारा आशीर्वाद है कि आप अगले भवमें श्रुतकेवली बनें और उसी भवमें संसारका अन्त कर मोक्ष-प्राप्ति करें । जिनेन्द्रदेवसे प्रार्थना है कि आप दीर्घायु हों ।

एलाचार्यश्री विद्यानन्द मुनि

जैन न्याय और दर्शनके क्षेत्रमें एक मौलिक व प्रामाणिक लेखक व व्याख्याताके रूपमें डॉ० दरबारी-लालजी कोठियाका विशिष्ट स्थान रहा है । उनके महनीय वैदुष्यसे अनेक जैन व जैनेतर संस्थाएँ लाभान्वित रही हैं । वे अपने भावी जीवनमें जैन दर्शन व साहित्यकी सेवा और भी अधिक तत्परता एवं उत्साहसे करते रहें—जैन न्याय, जैन दर्शन और साहित्यके क्षेत्रमें अनेक कीर्तिमान स्थापित करें । उनका स्वास्थ्य निरोग रहें, यही मेरा शुभाशीर्वाद है ।

आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज

समता-अरुणिमा बढ़ी, उन्नत शिखरपर चढ़ी ।
निज-दृष्टि निजमें गढ़ी, धन्यतम है यह घड़ी ॥

आचार्यश्री समन्तभद्र महाराज

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ ॐ

आपको म० जीने अनेक शुभाशीर्वाद तथा सद्धर्मवृद्धि कही है ।

आपका अभिनन्दन-ग्रन्थ तयार हो रहा है, यह सुनकर म० जीकी प्रसन्नता हुई । तयार होनेके बाद एक प्रति जरूर भेजें । यहाँ सब आनन्द-मंगल है । आपका भी महाराज चाहते हैं ।

आपने श्रुत और धर्मकी सेवा की है । महाराज उसकी प्रशंसा करते हैं । आपका उभय स्वास्थ्य उत्तम रहे, यह महाराज कामना करते हैं और मंगल आशीर्वाद देते हैं । ॐ ॥

आचार्यश्री शान्तिसागर महाराज

यह जानकर हर एक धर्मप्रेमीको प्रसन्नता होगी कि जैन समाजके उच्चकोटिके विद्वान् न्यायाचार्य दरबारीलाल कोठियाका समाज अभिनन्दन कर रही है।

उन्होंने सरस्वती और समाजकी अपूर्व सेवा की है। मेरा उन्हें आशीर्वाद है कि वे दीर्घायु हों और जिनवाणीकी तथा समाजकी निरंतर सेवा करनेमें तत्पर रहें।

स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्य स्वामी, जैनमठ, मूडविट्टी

पं० दरबारीलाल कोठिया साहित्यिक महारथी हैं तथा बौद्धिक जैन समाजके लिए शक्तिके स्रोत हैं। उनका जीवन आदर्श जैनीका जीवन है। तथा अपने दुर्लभ गुणोंके कारण वे सर्वसाधारणके स्नेहभाजन बन सके हैं।

कोठियाजीकी जैन बाङ्गमयसम्बन्धी सेवाएँ वास्तवमें अभिनन्दनीय हैं क्योंकि इन्होंने अपने इस धाराके गुरु स्व० आचार्य जुगलकिशोर मुस्तारकी परम्पराका तन-मन-धनसे निर्वाह किया है।

श्री हरिश्चन्द्र भगत, सह अधिष्ठाता, जैन गुरुकुल हस्तिनापुर, मेरठ

जैन न्यायशास्त्रके निष्णात विद्वान् डॉ० कोठियाजीसे मेरा परिचय सन् १९५० से है। मुझे उनके साथ बालाश्रम दरियागंज दिल्ली तथा बनारसमें भी एक साथ रहनेका सुअवसर प्राप्त हुआ। उन्होंने जैन दर्शन, धर्म तथा संस्कृतिके उत्थानमें अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इसी कारण वीर-निर्वाण-भारती द्वारा उनको २५०० रुपये तथा प्रशस्तिपत्रसे सम्मानित किया गया था। परन्तु उस धनराशिको आपने स्वयं न रखकर अपनी जन्मभूमिके देवालयके जीर्णोद्धार हेतु देनेकी घोषणा की। आप मृदुभाषी, सरल तथा मिलनसार व्यक्तित्वके धनी हैं। 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' इस सुप्रसिद्ध उक्तिके अनुसार डॉ० कोठियाजीके अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशनका कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है।

मैं श्री कोठियाजीके दीर्घजीवी होनेकी जिनेन्द्रदेवसे मंगलकामना करता हूँ कि वे जिनवाणीके प्रसार और प्रचारमें और भी अपना योगदान देकर समाजका उपकार करें।

ब्र० दयासिन्धु, अधिष्ठाता, श्रीगुरुदत्त दि० जैन उदासीन आश्रम-ट्रस्ट, द्रोणगिरि

समाजके प्रसिद्ध विद्वान् डा० दरबारीलाल कोठियाके अभिनन्दनके समय उन्हें मैं अपनी शुभकामनाएँ भेज रहा हूँ। वे एक सरस्वतीपुत्र और समाजसेवी विद्वान् हैं। आप सरल, धार्मिक, कर्मठ, धर्मस्नेही, हितैषी, मिष्टवक्ता, यशस्वी लेखक एवं प्रभावक व्यक्तित्वसे सम्पन्न हैं। आपने आधुनिक विद्वत्-श्रेणीमें आशातीत उन्नति कर भारतका मस्तक उन्नत किया है। आपके दीर्घ जीवनके लिए मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ हैं।

(पद्मश्री पण्डिता ब्र०) सुमती बाई शहा, शोलापुर

न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया एक सखोल अभ्यासक तथा महान् विद्वान् हैं। उन्होंने और उनकी पत्नीने जीवनका प्रधान प्रयोजन समाजसेवा ही माना है। वे त्यागी एवं कार्यकुशल हैं। जैन तीर्थ-क्षेत्र श्रवणबेलगोलामें एक महीने तक उनका सहवास रहा। जैन न्याय समझानेकी उनकी रीति सरल है। त्यागीगणोंकी सेवामें वे अग्रेसर हैं। जैन समाजके इने-गिने पंडितोंमें वे एक हैं। उनका कार्य महान् है। उनसे इसी प्रकारके कार्यवृद्धिगत होवें तथा वे दीर्घायु हों इसकी हम कामना करते हैं।

एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान्

● सरसेठ भागचन्द सोनी, अजमेर

जैन विद्वान् वास्तवमें जैन समाजकी निधि हैं और वर्तमान सन्दर्भमें समाजके लब्ध प्रतिष्ठित विद्वानोंकी शृंखलामें श्री कोठियाजी अभिनन्दनीय हैं ।

जैनदर्शनके प्रमुख विद्वान्

● साहू श्रेयांसप्रसाद जैन, बम्बई

डा० दरबारीलाल कोठिया दिगम्बर जैन समाजके विद्वानोंकी पंक्तिमें अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं । भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्के अध्यक्षके रूपमें और श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाके मन्त्रीके रूपमें उन्होंने समाजकी जो सेवा की है, वह पूरी समाजपर उनका उपकार है ।

डा० कोठिया अभिनन्दन-ग्रन्थका प्रकाशन करके समाज उनकी सेवाओंके प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करना चाहती है, यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई । विद्वानोंका सम्मान वास्तवमें ज्ञान और निष्ठाका सम्मान है । डा० कोठियाजीके लिए स्वास्थ्य और दीर्घायुकी कामना करते हुए मैं अभिनन्दन-समारोहकी सफलताकी कामना करता हूँ ।

सेवाएँ अनुपम

● सेठ हरकचन्द, राँची

न्यायाचार्य डा० दरबारीलालजी कोठिया जैन समाजके जाने-माने प्रकांड विद्वान् हैं । आपके द्वारा जैन समाज एवं साहित्यकी की गई सेवाएँ अनुपम हैं । इसके साथ ही आपने अध्यापन, ग्रंथलेखन एवं अपने विद्वत्पूर्ण भाषणों द्वारा जैन समाजमें जो ज्ञान-ज्योति जलाई एवं धर्मका प्रचार किया, वह जैन समाजके इतिहासमें चिरकाल तक स्वर्णक्षरोंमें अंकित रहेगा ।

जैन न्यायके अनेक ग्रंथोंका निर्माण आपने किया, जैन समाजकी पपीरा, दिल्ली, मेरठ, बनारस आदि नगरोंमें स्थित संस्थाओंमें सेवाकार्य किया, अनेक संस्थाओंके मंत्री, अध्यक्ष आदि पदोंको आपने सुशोभित किया । समय-समयपर विभिन्न नगरोंमें न्यायरत्नाकर, न्यायवाचस्पति, न्यायालंकार आदिकी उपाधियाँ आपको प्रदान की गईं । ये भी कार्य आपकी स्पष्ट ही अगाध विद्वत्ताके परिचायक हैं ।

मैं उनके इस अभिनन्दनके अवसरपर उनके दीर्घायुष्य, गौरव एवं समृद्धिपूर्ण जीवन हेतु श्री वीर प्रभुसे मंगल-कामना करता हूँ ।

साहित्य-साधना के लिए समर्पित जीवन

● श्री निर्मलकुमार सेठी, लखनऊ

न्याय व दर्शनके प्रकाण्ड पंडित डा० दरबारीलाल कोठिया उन इने-गिने साहित्य-मनीषियोंमेंसे हैं, जिनपर जैन साजको गर्व है । उनका पूरा जीवन ही साहित्य-साधनाको अर्पित रहा । इनका सरल, स्नेहिल स्वभाव तथा सौम्य आकृतिमें ऐसा आकर्षण है कि जो एक बार सम्पर्कमें आ जाता है उससे सदाका नाता जुड़ जाता है ।

मुझे हर्ष है कि आप डा० कोठियाका अभिनन्दनग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं । इनके अभिनन्दनसे जैन जगतके सभी मनीषियोंका अभिनन्दन है । मैं डा० कोठियाके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूँ ।

जैन विद्याके अप्रतिम मनीषी

● सेठ भगवानदास शोभलाल जैन, सागर

“कहाँ क्या अभिनन्दन उनका; जिनके कार्य महान् हैं ।

धन्य हैं जीवन उनका; जो स्वयं गुणोंकी खान है ॥”

आदरणीय कोठियाजी जैन विद्याके अप्रतिम मनीषी हैं। समाजको उनपर गर्व है। उनको साहित्यिक एवं सामाजिक सेवार्थे सदैव अक्षुण्ण रहेंगी।

प्राच्य विद्या, जिनवाणीके प्रचार-प्रसार, जैन धर्म एवं जैन समाजके उन्नयन हेतु आपने अपना संपूर्ण जीवन समर्पित कर दिया और अभी भी उसी साधनाके साधक बने हैं।

इस परिवर्तनशील संसारमें जीना उन्हींका सार्थक जो अपने धर्म एवं समाज तथा देश हितके कार्योंमें जीवनका सदुपयोग करते हैं।

श्री भगवान महावीरसे प्रार्थना है कि वह इन ज्ञान-चेतनाके पुंज, जैन धर्म एवं संस्कृति और समाजके सफल सचेतकको चिरायु प्रदान करें; ताकि युग-युग तक वह समाजका नेतृत्व करते रहें।

मंगल-कामनाओं सहित ।

जैनधर्मके मूर्धन्य विद्वान्

● श्री जयचन्द लोहाडे, महामन्त्री भा० दि० जैन तीर्थ-क्षेत्र कमेटी, बम्बई

आदरणीय डाक्टर दरबारीलाल कोठियाजी जैन धर्मके एक उच्च कोटिके विद्वान् हैं और उसका प्रचार, प्रसार तथा धर्मानुसार आचरणमें इनकी विशेष आस्था है। जैन धर्मके मूर्धन्य विद्वान् होनेके नाते-से धार्मिक तत्वोंका ध्यान करानेमें इनकी शक्ति अद्भुत है। पंडितजीने समाजके लिए आज तक आजीवन सेवा अर्पित की है। ऐसे व्यक्तिका समाज द्वारा अभिनन्दन होना अत्यन्त आवश्यक है।

मैं पंडितजीको दीर्घायु एवं उत्तम आरोग्य प्राप्त हो और उनके द्वारा समाज और धर्मकी सेवा सदा होती रहे, यही कामना करता हूँ।

धर्मानुरागी साहित्यसेवी

● सिवई धन्यकुमार जैन, कटनी

माननीय विद्वान् न्यायाचार्य डा० दरबारीलालजी कोठियाजीकी उनकी सेवाओंके उपलक्षमें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किये जानेकी योजनासे प्रसन्नता हुई। जैन जगतमें विद्वानोंका समादर बराबर होना चाहिये। यह परम्परा श्लाघनीय है। वे धर्मानुरागी साहित्य-सेवी व्यक्ति हैं। उन्होंने जैन दर्शन एवं जैन इतिहासके वेत्ता श्री पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारके साथ वीर-सेवा-मन्दिरमें अनेक वर्षों तक रहकर साहित्यकी प्रचुर सेवा की है। आजसे लगभग चार दशक पूर्व सरमावा (वीर सेवा मन्दिर) में सर्व प्रथम उनसे भेंट हुई थी। मैं देखता हूँ तबसे बराबर आजतक वे निष्ठा एवं लगनके साथ जैन वाङ्मयकी महती सेवा करते आ रहे हैं। अनेक संस्थाओंका उन्होंने दायित्व ग्रहण कर उनका सफलतापूर्वक संचालन किया है। समाज सेवाके क्षेत्रमें भी वे पीछे नहीं रहे। अपने पाण्डित्य एवं सामाजिक सेवासे उन्होंने जैन-संसारमें अच्छी प्रतिष्ठा अर्जित कर अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया है। वे सरल, सौम्य-व्यक्तित्व; गंभीर एवं प्रगल्भ प्रतिभाके धनी हैं। जैन समाजको उनसे अनेक अपेक्षायें हैं। वे स्वस्थ नीरोग रहें। दीर्घायु हों—ऐसी मेरी मंगल-कामना है।

मंगल-कामना

● श्री सुमेरचंद जैन पाटनी, लखनऊ

डा० कोठियाजीके बारेमें मैं क्या लिखूँ, उनकी सेवायें समाजमें व धार्मिक क्षेत्रमें इतनी अधिक हैं जो कभी भुलायी नहीं जा सकती हैं। उनसे मेरा व्यक्तिगत भी काफी संबंध है और मैं उनके प्रति बड़ी आस्था रखता हूँ। वस, इतना ही मैं लिखना चाहता हूँ कि हृदयसे उनके आगे श्रद्धावनत हूँ।

सेवाएँ बहुमूल्य

● श्री रमेशचन्द्र जैन, दिल्ली

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि न्यायाचार्य डा० दरबारीलाल कोठियाजी साहित्यिक, सामाजिक सेवाओंके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने हेतु अ० भा० स्तरपर अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। डा० कोठियाजीने जिस योग्यताके साथ दिगम्बर जैन साहित्य तथा समाजकी गौरवशाली करनेमें अपना योगदान दिया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है। आप इस अभिनन्दन-ग्रन्थमें डा० कोठियाजीके कर्तव्य-शैली तथा उससे प्राप्त परिणामोंपर एक अच्छा निबन्ध लिखा सकें तो वह समाजके शिक्षित युवकोंके लिए प्रेरणादायी सिद्ध हो सकता है। डा० कोठिया जैसे पांडित्य और क्षमता वाले व्यक्ति यदा कदा ही उपलब्ध होते हैं। इनके अनुभव तथा मार्गदर्शनसे समाजको लाभ पहुँचे तथा कोठियाजी दीर्घ काल तक साहित्य एवं समाजकी सेवा करते रहें, इन शुभकामनाओंके साथ।

सच्चा मार्ग-दर्शन

● श्री नरेशकुमार जैन मादीपुरिया, दिल्ली

मेरा न्यायाचार्य डा० दरबारीलालजी कोठियासे लगभग ४० सालसे बहुत निकटका सम्बन्ध है। जैन धर्मका जितना ज्ञान उन्हें है, उतना बहुत कम लोगोंने अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त उनकी समाजकी सेवाकी सीमाका पूर्णतया वर्णन असम्भव है। उनका साधारण जीवन, उच्च विचार, जैन समाजके धर्मकार्यमें आस्था रखने वाले व्यक्तियोंके लिए एक मार्गदर्शन है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनका आशीर्वाद हमारे ऊपर लम्बे समय तक बना रहेगा और उनके मार्गदर्शनसे समाजकी संस्था एवं व्यक्ति पूरा लाभ उठाते रहेंगे। उनकी लम्बी आयु व स्वस्थ जीवनकी प्रार्थना करता हूँ।

जैन न्यायके अधिकारी विद्वान्

● श्री सुनहरीलाल जैन, आगरा

डा० दरबारीलाल कोठिया जैन समाजके स्यातिप्राप्त विद्वान् हैं। जैन न्याय और प्रमाण पर उनकी रचनाओंकी संख्या विशाल है। उन्हें देख कर यह कहा जा सकता है कि ये जैन समाजमें जैन न्याय, प्रमाण और तर्कशास्त्रके अधिकारी और अद्वितीय विद्वान् हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है, जो उनके लेखों, निबन्धों और ग्रन्थोंमें प्रस्फुटित हुई है। जैन न्याय उनका मुख्य विषय होते हुए भी उन्होंने जैनाचार्योंके काल-निर्धारण, जैन इतिहास और पुरातत्वके कई अछूते विषयों पर नवीन अनुसन्धानपूर्ण दृष्टि प्रदान की है। उनकी भाषा सरल, सुबोध और तर्कयुक्त होती है। वे केवल लेखक ही नहीं, कुशल वक्ता भी हैं। उन्होंने विभिन्न संस्थाओंके माध्यमसे विविध क्षेत्रोंमें जैन समाज-संस्कृति और साहित्यकी जो सेवा की है, उससे जैन समाजका मस्तक ऊँचा सटा है। वे सरल और चारित्रवान विद्वान् हैं। उनका अभिनन्दन करना माता सरस्वतीका अभिनन्दन करना है। मैं माननीय कोठियाजीके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूँ।

दिग्गज विद्वान्

● श्री बद्रीप्रसाद सरावगी, पटना

न्यायाचार्य डा० दरबारीलालजी कोठिया भारत वर्षमें जैन समाजके एवं जाने-माने दिग्गज विद्वानों मेंसे हैं। मेरा उनसे परिचय बहुत वर्षोंसे है। वे बहुत सरल प्रकृतिके स्नेही सज्जन पुरुष हैं। अपने जीवनमें समाज एवं साहित्यकी बहुत बड़ी सेवा उन्होंने की है, जो भुलाने लायक नहीं है। अखिल भारतीय स्तरपर उनका सामाजिक अभिनन्दन करके एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है, सो उचित ही है। ऐसे महान विद्वानका उनकी इतनी बड़ी सेवाओंके प्रतिफलस्वरूप जो भी सम्मान किया जावे, थोड़ा है। मैं इस शुभ अवसरपर उनके प्रति अपना हार्दिक सम्मान एवं शुभ कामनायें प्रकट करता हूँ और भावना भाता हूँ कि वे दीर्घायुष्कके भोक्ता होकर समाज, धर्म एवं साहित्य सेवा निरन्तर करते रहें।

एक सामाजिक कार्यकर्ता

● श्री भगत राम जैन, दिल्ली

कोठियाजीसे मेरा लगभग २५ वर्षसे संबंध है। वीर-सेवा-मन्दिर एवं अन्य सामाजिक कार्योंके कारण उनसे समीपका संबंध रहा। मैंने देखा कि वह न्यायाचार्य, साहित्यकार आदिकी योग्यता रखते हुए भी एक सामाजिक कार्यकर्ता भी हैं। उन्हें समाजके किसी भी कार्यके करनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। उनमें मान-कषाय एवं प्रतिष्ठा-प्राप्ति आदिमें चाह नहीं है।

मैं अपने श्रद्धाके सुमन उनके प्रति अर्पित करता हूँ।

विलक्षण प्रतिभाशाली

● सेठ झालचन्द्र जैन, सागर

आचार्य डॉ० कोठियाजी एक विलक्षण प्रतिभाशाली व्यक्तित्वके धनी, सफल संपादक, ओजस्वी वक्ता तथा मूर्धन्य लेखक भी हैं। समाजको उनके ऊपर गर्व है।

हम श्री जिनेन्द्रदेवसे जिनवाणीके इन वरद पुत्रके यशस्वी, आरोग्यमय, दीर्घ जीवनकी मंगल-कामना करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह जैन जगतमें अपनी सेवाओंके माध्यमसे ज्ञानकी अविरल धारा प्रवाहित करते हुये समाजका नेतृत्व करते रहेंगे।

जैन समाजके गौरव

● श्री हरिश्चन्द्र जैन, जबलपुर

आदरणीय पण्डितजीको भले ही कोई वास्तविक नामसे नहीं जानता हो, किन्तु “कोठिया” उपनामसे तो विद्वान् वा श्रीमान् प्रायः सभी जानते हैं।

आपकी निरभिमानता, सरलता और मृदुभाषिता आपमें ‘स्वर्णमें सुगन्ध’का कार्य करती है। आप जैसे महान विद्वान् भविष्यमें मिलेंगे, ऐसी सम्भावना ही नहीं की जा सकती। आपसे जैन समाजको भारी गौरव है। हम आपके शत-जीवित्वकी बार-बार शुभकामना करते हैं।

हार्दिक शुभकामना

● पं० गणेशीलाल जैन एम० ए०, साहित्याचार्य, हस्तिनापुर

आदरणीय कोठियाजीके, मृदुता, सौम्यता, सरलता, सात्विकता आदि सद्गुणोंने उनकी प्रतिभा जन्य बुद्धिप्रखरता एवं अगाधविद्वत्ता चतुर्गुणित कर दिया है।

ऐसे महामनीषी विद्वानका अभिनन्दन करते हुए समाजने अपनी गुणग्राहकताका ही उचित परिचय दिया है।

पण्डितजी शतायु होकर अपनी गुणगरिमासे समाजको लाभान्वित करते रहें, यही मेरी हार्दिक शुभकामना है।

मंगल-कामना

● श्री केशवचन्द्र जैन, दिल्ली

आदरणीय डॉ० दरबारीलालजी कोठिया समाजके गिने-चुने ऊँचे विद्वानोंमेंसे हैं। आपकी दृष्टि हमेशा ममन्वयात्मक तथा सम्यक्त्व-युक्त रही है।

मैं आदरणीय कोठियाजीकी शतायुकी कामना करता हूँ।

देशके मूर्धन्य विद्वान्

● लाला रघूमल जैन, झाँसी

डॉ० कोठिया सा० हमारे देशके मूर्धन्य विद्वान् हैं। आपने अपने जीवन-कालमें कई संस्थाओंमें अध्यक्ष, उपाध्यक्ष, मंत्री और सदस्यके रूपमें अपनी सेवाएँ दी हैं। उनकी कर्त्तव्यनिष्ठासे ये संस्थाएँ उन्नत हुईं। तन, मन और धनसे उन्हें सहयोग प्रदान करते हैं। हमने देखा कि आप निर्लोभ वृत्तिके विद्वान् हैं। अपनी आरम्भिक विद्यादात्री संस्था महावीर दि० जैन संस्कृत विद्यालय साहूमलमें वे मुझे अपने साथ ले गये, और वहाँ सर्वप्रथम आपने ११००/०० रुपयेका दान दिया। उसके बाद उसकी स्वर्णजयन्ती और हीरक जयन्ती पर भी २५१/०० एवं १००१) रुपया दिया। यह आपकी उदार वृत्ति है। हम आपके शतवर्षजीवी एवं सरस्वतीकी सेवामें लगे रहनेको हार्दिक शुभकामना करते हैं।

जैन दर्शनके प्रकाण्ड विद्वान्

● कृषिपंडित श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमार जैन, खुरई

न्यायाचार्यकी शासन-मान्य उपाधिसे अलंकृत विद्वत्त्वर्गमें डॉ० दरबारीलालजी कोठियाका शुभ नाम बड़े ही आदरसे लिया जाता है। वस्तुतः वे जैन दर्शनके एक प्रामाणिक लेखक, प्रवक्ता एवं गवेषी विद्वान् हैं। पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णीकी परम्पराको अपने अक्षुण्ण रखी है। स्वर्गीय पं० श्री महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्यकी जन्मभूमि होनेका परम सीभाग्य जहाँ हमारे नगर खुरई (जिला सागर) म० प्र० को प्राप्त हुआ वहाँ श्री कोठियाजी सिद्धक्षेत्र श्री रेखनिदगिरि (नैनागिरि) जीमें जन्म लेकर धन्य हुये।

अपने सौम्य, सरल व्यक्तित्व और अगाध कृतित्व-प्रतिभाके द्वारा उन्होंने ज्ञानका अखंड दीप जलाया है। समाज द्वारा प्रदत्त मानद उपाधियोंसे भी अलंकृत उनके जीवनका अनुभव अद्वितीय है, समाजगत सेवा भावी संस्थाओं और शिक्षा-संस्थाओंके अतिरिक्त उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसीमें जैन-बौद्ध दर्शनके रीडरपदपर जो अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की वह हमारे लिये अत्यन्त गौरवका विषय है।

हम एवं खुरई नगरकी जैन समाज उनके इस मंगलमय अभिनन्दनके सुअवसरपर उनके दीर्घायुष्यकी कामना करते हैं।

उच्चकोटिके विद्वान्

● श्री गणेशीलाल रानीवाला, कोटा

न्यायाचार्य डा० दरबारीलालजी कोठिया उच्चकोटिके विद्वान् हैं। आप समाजके भूषण हैं। उनका सभी प्रकारसे अभिनन्दन होना उचित है। दिगम्बर जैन समाजको उनके ऊपर गौरव है। डॉक्टर सा० शतायु हों, उनकी विद्वत्ताका लाभ एवं सही मार्गदर्शन समाजको सदैव मिलता रहे, यह ही हार्दिक भावना है।

जैन न्यायके अधिकारी विद्वान्

● श्री सुबोध कुमार जैन, आरा

डा० दरबारीलाल कोठियाके सम्मानमें आप लोग अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित कर रहे हैं, यह जानकर प्रसन्नता हुई ।

डा० कोठियासे हमारा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है और इसमें कोई दो मत नहीं है कि उन्होंने जैन समाजकी विभिन्न संस्थाओंके हितमें स्मरणीय सेवा की है । वे जैन न्यायके अधिकारी विद्वान् हैं और जैन दर्शनपर उनकी कृतियाँ हमेशा विद्वानोंमें प्रशंसनीय बनी रहेंगी ।

अभी कुछ ही दिन पूर्व डा० कोठिया हमारे निमंत्रणपर आरा पधारे थे और उन्होंने श्री महावीर-जयंती समारोहका सभापतित्व किया था । हमारी शुभ-कामना है कि वे सदैव स्वस्थ एवं सान्न्द रहें और उनकी सेवायें समाजको बराबर मिलती रहें ।

तत्त्वज्ञानके भण्डारी

● श्री मिश्रीलाल पाटनी, लश्कर (खालिघर)

न्यायाचार्य डा० दरबारीलाल कोठियासे साक्षात्कारके अनेक सुअवसर प्राप्त हुये । वे प्रत्येक विषयकी शंकाओंका सरल व मधुर ढंगसे समाधान करते हैं । वे तत्त्वज्ञानके भण्डारी गम्भीर प्रकृतिके विद्वान् हैं । उनका अत्रिकांश जीवन संस्थाओं और समाजकी सेवामें व्यतीत हुआ है ।

आप प्रसन्नमना, निर्भीक, निःशंक, निर्लोभ वरता हैं । अभिनन्दनके इस सुअवसर में भी अपनी शुभकामनायें व्यक्त करता हूँ ।

ज्ञानका अखण्ड दीप जलाया

● श्री राजकुमार सेठी, डिमापुर

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि न्यायाचार्य डा० दरबारीलालजी कोठियाकी साहित्यक, सामाजिक सेवाओंके उपलक्ष्यमें कृतज्ञता ज्ञापन करने हुनु अ० भा० स्तरपर अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है ।

श्री कोठियाजी पिछले ४० वर्षोंसे जैन समाजकी अनेक संस्थाओंमें निस्वार्थभावसे सेवा-कार्यमें रत हैं । उन्होंने अपने भाषण, लेखन और अध्यापन द्वारा जैन समाजमें ज्ञानका अखण्ड दीप जलाया है । वे शतायु हों, यही मेरी शुभ-कामना है ।

महामनीषी

● सिधई हुकुमचंद साधेलीय, पाटन

डा० (पं०) कोठियाजीका जीवन अर्द्धशताब्दीसे अधिक दीर्घकाल व्यापी, जैन वाङ्मयके अनुसंधान-कार्योंका मूर्तिमान् दस्तावेज है । उन्होंने अपनी कृतियोंमें दर्शन और प्रमाणशास्त्रका तलस्पर्शी सूक्ष्म चिंतन और गवेषणापूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर माँ भारती और जैन धर्मकी जो सेवा की है, उसके लिए उनका जितना भी अभिनन्दन किया जाय, कम ही है । उनकी गवेषणायें ऐतहासिक तो हैं ही, नितान्त मौलिक, तर्कयुक्त एवं शास्त्रसमस्त हैं । वे विद्वत्-जगतके महामनीषी हैं ।

हमें पूज्य आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराजके सान्निध्यमें, अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि (कोनीजी) में दिनांक २१ फरवरीसे २५ फरवरी १९८२ तक आयोजित श्री मज्जिनेन्द्र-पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा महोत्सवमें आदरणीय डा० (पं०) कोठियाजीका सार्वजनिक सम्मान करनेका जो सौभाग्यशाली अवसर मिला है, उससे हम स्वयं गौरवान्वित हैं ।

डा० कोठियाजी शतायु हों, स्वस्थ-नोरोग रहकर जिनवाणीकी सेवा करनेमें सतत सन्नद्ध रहें, ऐसी श्री जिनेन्द्रप्रभुसे प्रार्थना करते हुये, उनके प्रति अपनी विनम्र आदरांजलि निवेदित करता हूँ ।
आंतरिक श्रद्धा एवं विश्वास सहित ।

श्री कोठियाजीका नैतिक कोण

● पं० दयाचन्द्र साहिब्याचार्य, सागर

श्री पं० दरबारीलालजी कोठियाका अस्तित्व एक नैतिक साधनाओंका अस्तित्व है, जिसमें व्यक्तित्व तथा कृतित्व झलकता है । कोठियाजी धार्मिक एवं नैतिक संस्कारोंके भण्डार हैं । यहाँ कोठियाजीके कोणमें प्रदीप्त उक्त भण्डारगत रत्नोंका मूल्याङ्कन कर रहे हैं ।

श्री कोठियाजीने स्वकीय जीवनसे कुल एवं समाजको समुन्नत करनेके लिए ही नैनागिरि (ऋषीन्द्र-गिरि) सिद्धक्षेत्रमें जन्म लिया ।

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यति दुष्करम् ।

तस्य पुत्रो भवेद्दृश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधो ॥

जिस माता-पिताने पूर्वजन्ममें या इस जन्ममें किसी पुण्यतीर्थपर या धार्मिक आयतनपर कोई महान् उपकार किया था । जिससे प्रभावसे उन माता-पिताको आज्ञाकारी, उन्ततिशील, धार्मिक और बुद्धिमान पुत्रका सुयोग प्राप्त होता है । इसके अनुसार कोठियाजीके माता-पिताको भी श्री कोठिया जैसा आज्ञाकारी नैतिक और बुद्धिमान पुत्र प्राप्त हुआ ।

वदनं प्रसादसदनं सदनं हृदयं सुधामुयो वाचः ।

करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः ॥

श्री कोठियाजीकी आत्मा इन गुणोंका आयतन है । आपका मुखकमल प्रसन्नतासे रम्य रहता है, हृदय दयासे ओतप्रोत है, वचन अमृतके समान प्रिय है, परोपकार करना कर्त्तव्य है । वस्तुतः आप समाज द्वारा अभिनन्दनके पात्र हैं ।

इस नीतिका विशेष आधार आपका आत्मकोण है । ज्ञान-धनसे वनिक होनेके कारण ही आपने अमूल्य कृतियोंको जन्म दिया है ।

श्री कोठियाजी अनेक रत्नगुणोंके भण्डार हैं । हम आपके चिरायुष्यके लिए हार्दिक मंगल-कामना करते हैं ।

स्मृतिके झरोखेमें कोठियाजी

● श्री वितय कुमार पथिक, मथुरा

सन् १९३५ और ३६ के सन्धिकालकी बात है । उस समय भारतवर्षीय दि० जैन संघका नाम 'शास्त्रार्थ संघ' था । साहु श्रेयांसप्रसादजी इसके अध्यक्ष थे । अम्बाला छावनीमें ला० शिव्वामलजी इसके संस्थापक थे । ७० वयस्का तरुण था । शास्त्रार्थका निमंत्रण मिलते ही उमंगसे भर जाते थे । संघका यह यौवन काल था । उस समय संघमें पं० राजेन्द्रकुमारजी, श्री इन्द्रचंदजी शास्त्री, नवदीक्षित जैन स्वामी कर्मानंदजी, पं० लालबहादुरजी शास्त्री, पं० सुरेशचंदजी न्यायतीर्थ, डा० नारायणप्रसादजी, जिनकी ज्ञान-गंगा और हास्य-विनोद पुस्तकोंका ज्ञानपीठसे प्रकाशन हुआ है । पं० बलभद्रजी, पं० पद्मचन्दजी वेद-तीर्थ, मा० रामानन्दजी, भैयालालजी, मा० दयाचंदजी आदि विद्वान् थे ।

कोठियाजी सबके बाद आए । मैं संघ-सेवामें उनसे दो मास पूर्व आया था । प्रातःकालका समय था । मैं मंदिरजीके दर्शन करके आया था । सर्दियोंके दिन थे । घोती-कुर्ता, पट्टूका काला कोट, सिरपर सफेद टोपी पहिने जिन सज्जनको देखा, देखते ही उनके हृदयमें प्रेम और श्रद्धाका एकसाथ उदय हुआ । बादमें ज्ञात हुआ । विद्वानोंको पढ़ानेके लिए आपकी नियुक्ति हुई है । मैं उस समय संघमें नया ही आया था । संगीत सीखनेकी तीव्र लालसा थी । उसी लालसामें एक उपेक्षित-सा प्राणी बन कर भी सबकी सेवा करता था । बाकी समय बाजा लेकर बे-सुरा चीखता रहता था ।

सचमुच मेरे उपेक्षित जीवनमें कोठियाजीका स्नेह एक वरदान बनकर आया । अब तो शरीर पहिले की अपेक्षा काफी सुदृढ़ और कुछ स्थूल है । मैं 'हिन्दी भूषण'की तैयारी करता रहता था । आप मुझे उसके कौर्सकी 'तक्षशिला काव्य' पढ़ाया करते थे । बदलेमें मैं उनकी तेलकी मालिश किया करता था । आप कहा करते थे—यदि मेरा वजन तेल-मालिशसे एक पौण्ड बढ़ गया तो तुम्हें एक रुपया दूंगा । मैं उसके लालचमें तो नहीं, पर फिर भी पूरे मनोयोगसे मालिश करता था । फिर बादमें आपसे वजन बढ़े बिना भी यदा कदा पैसे वशूल करता रहता था ।

आपका जीवन सात्त्विक जीवन था । बहुत कम बोलते थे । संघमें अक्सर अनेक विषयोंपर आपसमें वाद-विवाद होता था । आपके साथ सभी विद्वान् उसमें भाग लेते थे । सदा सुन्दर ढंगसे अपने विषयका प्रतिपादन करते थे । लगभग आठ माह रहकर बनारस लौट गये ।

सन् ४०के बाद जब संघ मथुरा आया तब पपीरा-विद्यालयसे आकर आपने अपनी सेवाएँ गुरुकुलको प्रदान कर दीं । दो वर्ष आप मथुरा गुरुकुलके आचार्य पदपर रहे ।

आपके वीर-सेवा-मंदिर, सरसावामें जानेके बाद आपका सम्बन्ध जो सन्निकटसे पड़ोसीका बना था, एक दूरका सम्बन्ध बन गया । किन्तु आपका प्रेम आज तक मुझपर सदा बना रहा । आपके व्यक्तित्वमें निस्पृहता, स्वाभिमान और कर्मठता आज तक है ।

अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पणके अवसरपर मैं आपका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ । साथ ही आपके शतायु होनेकी भगवान्से प्रार्थना करता हूँ ।

सरस्वतीपुत्र

● पं० श्रेयांसकुमार जैन, सिद्धान्त-न्याय-साहित्य शास्त्री, किरतपुर

सरस्वतीपुत्र न्यायाचार्य श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया जैन समाजके जाने-माने सुविख्यात मूर्धन्य विद्वानोंमें अग्रगण्य हैं । आप दर्शनशास्त्रके उद्भट विद्वान् तो हैं ही, साथ ही असाधारण व्यक्तित्व एवं सर्वतोमुखी प्रतिभाके धनी हैं । आपका जैनदर्शन, बौद्ध एवं वैदिक दर्शनोंका तुलनात्मक गहन अध्ययन आपकी प्रखर प्रतिभाका द्योतक है । आप सिद्धहस्त लेखक, सुकुशल वक्ता होनेके साथ-साथ अपने सहयोगी विद्वानोंके प्रति अगाध वात्सल्य और असीम स्नेह रखते हैं । इसका जीता-जागता प्रत्यक्ष प्रमाण हमें श्रवणबेलगोलामें महामस्तकाभिषेकके सुअवसरपर मिला ।

ऐसे महान् सरस्वतीपुत्रके अभिनन्दनसे समाज स्वयं ही गौरवान्वित हो रही है । मेरी श्रीवीरप्रभुसे मंगलकामना है कि परम आदरणीय पंडितजी अपने विद्या-व्यसनी जीवनकी शताब्दि मनाते हुए देश, समाज एवं जिनवाणीकी जीवनपर्यन्त सतत सेवा करते रहें तथा अपने जीवनकालमें अपने ही तुल्य सुयोग्य उत्तराधिकारी तैयार करके समाजकी भावनाको क्रियात्मक रूप प्रदान करनेकी कृपा करेंगे ।

कर्मठ व्यक्तित्व

● श्री ताराचन्द्र प्रेमी, फिरोजपुरझरका

श्रद्धेय, कोठियाजीको मैं बचपनसे ही जानता हूँ। उनके व्यक्तित्वकी परिभाषा शब्दोंमें नहीं कर पाऊँगा। एक अजीब-सी मिठास, अपनत्व भरा सम्बोधन एवं तत्त्वज्ञानके निर्झरसा उन्हें निरन्तर बहते देखा है। सादगी, सरलता और सौम्यता उन्हें जन्मसे ही प्राप्त हुई है। श्री कोठियाजीको देखकर कभी-कभी यह शेर याद आता है—

किसी राह रोको खबर ये न होगी

कि इन्सान तनहा भी एक कारवाँ है।

मैं उनकी दीर्घायुके लिए प्रार्थना करता हूँ। उनके द्वारा स्थान-स्थानपर समाज-सेवाका रचनात्मक इतिहास संजोया गया है। उनकी अभिव्यक्ति, ग्रन्थोंके रूपमें समाजकी महान उपलब्धि है।

हार्दिक-सन्देश

● श्री शिशुपाल पार्श्वनाथ शास्त्री, मैसूर

दरबारमें ये ज्ञानियोंके लाडले हो लाल बने।

नाम अपना अर्थपूर्ण बना लिया जग सामने।।

न्यायके अरु धर्मके ये ग्रन्थकार बड़े बने।

प्यारसे मैं दे रहा हूँ धन्यवाद सदा इन्हें।।

डॉ० कोठियाजी मूढबिद्दी भाये हुए थे, इनसे मिलनेका अवसर मुझे मिला था। कोठियाजी धर्म और न्यायशास्त्रके पहुँचे हुए विद्वान् ही नहीं, अपितु विनम्र स्वभावके मिलनसार भी हैं।

मेरी हार्दिक कामना है कि डॉ० कोठियाजी स्वस्थ एवं दीर्घायु बनें। और इनसे समाजको इतोप्यति-शाय सेवायें प्राप्त हों।

समाजके मार्गदर्शक

● पं० शिखरचन्द्र जैन प्रतिष्ठाचार्य, भिण्ड

संसारमें अनेक प्राणी जन्म लेकर मरणको प्राप्त होते हैं, यह सत्य सिद्धांत है किन्तु कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो समाजकी, राष्ट्रकी, धर्मकी सेवा करके अपना जीवन तो सफल करते ही हैं किन्तु समाज एवं धर्म तथा राष्ट्रका कल्याण भी कर जाते हैं। वर्तमानमें पं० श्री दरबारोत्तलजी कोठिया न्यायाचार्य वास्तवमें कोठिया ही हैं, जिनके हृदयमें महान् ज्ञानके कोठे भरे हुए हैं—और जिन्होंने जैन समाजकी बहुत सेवायें की हैं। कोठियाजीसे मेरा मिलन अयोध्या, देहली, वाराणसी कौनी, फतेहपुर, बाराबंकी आदि अनेक पंचकल्याणक-प्रतिष्ठाओंमें हुआ है और मैंने कोठियाजीको बहुत-बहुत निकटसे देखा है। कोठियाजी विद्वान् तो हैं ही। मगर विद्वत्ताके साथ आप श्रद्धा यानी देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनागमके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धावान् हैं। आज वर्तमानमें बहुतसे विद्वान् बेतरीके लोटेकी तरह लुढ़क चुके हैं किन्तु कोठियाजीकी श्रद्धा सुमेरुकी तरह अचल है। ज्ञानकी और श्रद्धानकी प्रतिष्ठा चारित्र्यमें ही निहित है सो कोठियाजीके जीवनमें सादाजीवन उच्च विचार है। चारित्र्यका पालन भी कोठियाजीके जीवनका अंग है, जो विद्वानोंके लिए स्वयंके कल्याणका मार्ग है। स्व-परकल्याण वही विद्वान् कर सकता है जो विद्वत्ताके साथ-साथ चारित्र्यका पालन करनेमें तत्पर होगा, कोठियाजीमें ये सभी बातें मैंने निकटसे देखीं। ऐसे ज्ञानवान्, चारित्र्यवान्, सम्यक् श्रद्धावान् विद्वान्के लिए अभिनन्दन करनेका कार्य महामंगलमय पावन कार्य है। मेरी श्रद्धासहित शुभ-कामनायें कोठियाजीको समर्पित हैं। भगवान् वीतराग प्रभुसे ये मंगलकामना है कि कोठियाजी दीर्घायु हों और इसी प्रकार समाजका मार्गदर्शन करते रहें।

प्रथम झलक

● श्री सुमेरचन्द्र कौशल, बी० ए०, एल० एल० बी०, सिवनी

मैं एक लम्बा समय व्यतीत हो चुका है। लगभग दो दशक। गर्मीके दिन थे ग्यारह-साढ़े ग्यारहकी बेला थी। ज्योंही मैं भव्य बड़े मन्दिरकी दूसरे मंजिलपर स्थित सरस्वती-भवनमें शास्त्र-स्वाध्याय कर बाहर आया, वैसे ही अपने सामने, एक हमकद और हमउम्र, गौर वर्ण, धवल गांधी-टोपी, कुरता तथा धोतीमें एक आकर्षक सरल व्यक्तित्वको देखकर; सहसा मुँहसे निकल जाता है—‘पण्डितजी जय जिनेन्द्र !’ वे प्रत्युत्तरमें ‘जय जिनेन्द्र’ कहकर मुझे बोले—‘कौशलजी !’ मैं नतमस्तक हो स्वीकारकी मुद्रामें उनकी ओर जरा देखता हूँ कि वे स्वयम् कह उठते हैं—‘दरबारीलाल कोठिया !’ फिर तो हम दोनोंकी मुखमुद्रा खिल उठी। “इस सादगीपर कौन न मर जाय ऐ खुदा !” विचार आता है कि पण्डितजीसे भोजनके लिए कहूँ कि वे दूसरे मन्दिरोंके दर्शनार्थ बड़ जाते हैं। मैं यह सोचकर रह जाता हूँ; मध्याह्नकी गर्मीका समय है; सन्ध्याको उनके पास पहुँचकर कुछ तात्विक, धार्मिक, साहित्यिक चर्चाका लाभ उठाऊँगा और दूसरे दिनके लिए भोजनका निमन्त्रण भी कर दूँगा। परन्तु शामको उनके निवासपर जानेसे मालूम हुआ कि पण्डितजी दोपहर बाद ही चले गये। इस तरह हृदयकी हृदयमें ही रह गईं।

कोठियाजीकी विद्वत्ता, उनकी अर्धशताब्दिकी सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक सेवाके विषयमें दो मत नहीं हो सकते हैं। उनके द्वारा लिखित साहित्यसे स्पष्ट है कि वे एक गम्भीर सुलझे हुए विद्वान् हैं। अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन समिति व सम्पादक-मंडलका धन्यवादार्ह हैं क्योंकि डॉ० कोठियाजीकी जन्मसे प्रखर बुद्धि, उनका अनवरत साध्रम वृद्धिगत जीवनके साथ-साथ उनके समस्त साहित्यका निर्देशन अभिनन्दन ग्रन्थमें एक अभूतपूर्व बात है, जो साधारण तथा असाधारण सभी प्रकारके पाठकोंके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी। अभिनन्दनीय श्री कोठियाजी स्वस्थ रहते हुए, दीर्घतम आयु प्राप्त कर इसी प्रकार समाज, साहित्य और धर्मकी सेवा करते रहें, यही श्रीजीसे विनय है।

जिसकी पहली झलकने, बरबस खींचा ध्यान।

जन्मजात विद्वान्का, ‘कौशल’ करता मान ॥

न्यायदिवाकर डॉ० कोठियाजी

● पं० मोहनलालजी शास्त्री, जबलपुर

श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र रेशन्दीगिरि (छतरपुर) म० प्र० की पावन वसुन्धराने अपनेमें आपके शुभजन्मसे अपनी पावनता द्विगुणित की और इस पावन वसुन्धराका संसर्ग आपको महती पावनता एवं महत्ता उपलब्ध कराने हेतु बना।

विद्वत्प्रसू स्याद्वाद् महाविद्यालय वाराणसीके आप प्रमुख छात्र उद्भूट विद्वान् प्रमाणित हुए। इस संस्थासे सैकड़ों उत्तमोत्तम विद्वान् बने। परन्तु यहाँसे सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त कर जैसा अनुपमेय कार्य आपने किया, वैसा कार्य अन्य विद्वान् नहीं कर सके। यही कारण है कि आपने जैन न्याय जैसे गहन और जटिल विषयके ‘स्याद्वादसिद्धि’। ‘प्रमाणपरीक्षा’ आदि उत्तमोत्तम तरह ग्रन्थोंका सम्पादन किया।

आप भारी सरल एवं वात्सल्यके निधान हैं। अपने समकक्ष विद्वानोंको देखकर आप विशेष हर्षानुभूति करते हैं। मुझे तो आपने अनेक बार छातीसे लगाया है और कहा है कि भैया जैन साहित्य-प्रकाशन द्वारा तुमने भारी प्रशस्त कार्य किया है।

आप देश व समाजके गौरव हैं। मैं आपकी शतायुष्कताकी हार्दिक शुभ-कामना करता हूँ।

महान् व्यक्तित्वके धनी

● पं० राजकुमार शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, निवाइँ

कवियोंने ठीक ही कहा है—“होनहार विरवानके, होत चीकने पात ।” कुल व्यक्ति जन्मसे ही प्रतिभावान होते हैं । समयके साथ उनकी प्रतिभा विकसित होती जाती है और इसीसे वे ऐसे कार्य अपने जीवनमें कर जाते हैं, जो दूसरोंको अनुकरणीय बन जाते हैं । हमारे ग्रन्थ-नायक श्री कोठियाजी इसी तरहके महान व्यक्तित्वके धनी हैं । आपके चेहरेपर प्रकांड पण्डित्य एवं सहज सौम्यत्व झलकता है । आप जैन न्याय विषयके पूर्ण अधिकारी विद्वान् हैं । आपके द्वारा लिखे गये ग्रन्थोंका जिन्होंने अध्ययन किया है वे उनके अकाट्य तर्कपूर्ण गवेषणाओंके प्रशंसक हुए बिना नहीं रह सकते हैं । ये सब उनके गम्भीर अध्ययन व गंभीर चिंतनके प्रतिफल हैं । आज वे अपनी विद्वत्ताके बल पर ही भारतीय स्तरके विद्वानोंमें अपना नाम रोशन किये हुए हैं । नैनागिरि जैसे छोटे क्षेत्रमें जन्मा व्यक्ति आज सारे भारतमें सम्मानित है । यह सब निरंतर सरस्वती माताकी साधनाका फल श्री कोठियाजीको मिला है । समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमें आपने जिस निःस्वार्थ भावना एवं सच्ची लगनसे कार्य किया है वह उपकार समाज कभी भूल नहीं सकती है । आज आपका भारतीय स्तर पर जो अभिनंदन हो रहा है । और अभिनंदन-ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है । यह सब उसी सेवाका प्रतिफल है । हम भी अपनी ओरसे तथा अखिल विश्व जैन मिशन परिवारकी ओरसे आपका अभिनंदन करते हुए आपकी चिरायु होनेकी कामना करते हैं ।

सादगी और सरलताकी मूर्ति

● डॉ० बालचन्द्र जैन, जबलपुर

मैं पण्डितजीको लगभग ३० वर्षोंसे जानता हूँ । वे मुझसे बहुत ज्येष्ठ हैं किन्तु मैंने पाया कि वे अपने कनिष्ठोंके प्रति अत्यन्त स्नेहशील हैं । वे बहुमानके साथ शिक्षा देते हैं । मुझे आदरणीय पण्डितजीके साथ लगातार कई महीनों तक दिल्लीमें रहनेका अवसर मिला । उनका वात्सल्य मुझे मिला । वे डाक्टर हो गये, प्रोफेसर हो गये, किन्तु जितना अधिक आदर उन्हें पण्डितजी कहकर प्रदर्शित किया जाता है, उतना उन्हें न्यायाचार्य, डाक्टर अथवा प्रोफेसर कहनेमें नहीं । उनका पाण्डित्य गंभीर है । वे वास्तवमें पण्डितजी हैं । उनके दीर्घजीवी होनेकी कामनाएँ हैं ।

प्रेरणास्रोत

● डॉ० लालचन्द्र जैन, वैशाली

जैन न्याय-दर्शनके लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डा० दरबारीलालजी कोठिया समाजके मूर्धन्य, निश्छल और निःस्वार्थसेवी विद्वान्के रूपमें प्रसिद्ध हैं । उनका जीवन प्रेरणाका स्रोत और वात्सल्यसे आप्लावित है । किसीको दुःखसे आक्रान्त देखकर उनका सरल चित्त दयासे द्रवीभूत हो जाता है । चाहे वह उनका शिष्य हो या कोई अन्य । उसे सदैव प्रोत्साहित करते हैं । यदि कोई निराश होता तो उसे अपने जीवनको घटनायें सुनाकर कठिन-से-कठिन बाधाओंसे जूझने और अपना रास्ता स्वयं निष्कण्टक बनानेका प्रोत्साहन देना पूज्य पं० कोठियाजीका स्वाभाविक गुण है । यदि कोई छात्र साधनहीन होता तो पण्डितजी अपने पाससे तत्काल उसकी समस्या हल कर देते हैं, और भविष्यके लिए उसे किसी-न-किसी स्रोतसे आर्थिक सहयोग दिलाकर निश्चित कर देना पण्डित कोठियाजी अपना कर्तव्य समझते हैं ।

इस सन्दर्भमें मैं आजसे लगभग २१ वर्ष पहले की घटना प्रस्तुत कर रहा हूँ । मैंने पण्डितजीके सर्व प्रथम दर्शन उस समय किये थे, जब सन् १९६१ मे मैं स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीका पूर्व मध्यमा

प्रथम खण्डका छात्र था। मैंने श्री महावीर दि० जैन संस्कृत पाठशाला सादूमलके सहपाठी सौरई निवासी आनन्दकुमार हजारीलाल जैन छात्रसहोदरोंके साथ पण्डित कोठियाजीके दुर्गाकुण्ड स्थित निवासपर सर्वप्रथम दर्शन किये थे। सन् १९६३ में मैंने पूर्व मध्यमा पास किया। विद्यालयके तत्कालीन संविधानके अनुसार पूर्व मध्यमाके बाद छात्रोंको इण्टर कालेजोंमें प्रवेश लेनेकी छूट थी। मेरे वर्गसहपाठी धर्मराज सेठ्ठी (वर्तमानमें मूडविट्रीके चारुकीर्तिजी महाराज) सनातन धर्म इण्टर कालेज, वाराणसीमें प्रवेश ले चुके थे। मैं आर्थिक साधनोंके अभावके कारण इच्छुक होते हुए भी प्रवेश नहीं ले सका था। पण्डित कोठियाजीको श्री धर्मराज सेठ्ठीसे मेरे प्रवेश न लेनेकी बात ज्ञात होनेपर उन्होंने मुझे बुलाकर प्रवेश न लेनेका कारण पूछा। मैंने संकोचबस बतलाया कि अर्थाभाव है। पण्डितजीने सौ रूपया देकर प्रवेश लेनेके लिए प्रेरित किया। इस प्रकार पण्डितजीने मुझे आधुनिक विद्यार्जनके लिए सन्मार्ग दिखाया। इसके पश्चात् पण्डितजीने मेरी आर्थिक स्थितिसे भली-भाँति पूर्वक अवगत होकर दिल्लीके दो ट्रस्टोंसे छात्रवृत्ति दिलाकर उच्च अध्ययन करनेके लिए प्रोत्साहित किया। इस प्रकार मेरी उच्च शिक्षा-प्राप्तिमें पूज्य पण्डितजीका बहुत बड़ा चिर-स्मरणीय योगदान रहा है।

पूज्य पण्डित कोठियाजी मेरे शुभचिन्तक, संरक्षक, पथप्रदर्शकके साथ-साथ विद्यागुरु भी हैं। उन्हींकी सत्प्रेरणासे मैं जैन-दर्शन शास्त्राचार्यकी कक्षामें उनका शिष्य रहा। पूज्य गुरुवर कोठियाजीकी अध्यापन-शैली सरल और सुबोध है। इस लिए उनके शिष्य होनेका मुझे गौरव है। वर्णी-ग्रन्थमालाके मंत्रीकी हैसियतसे संस्तुति कर पी-एच० डी० के लिए बम्बईके एक ट्रस्टसे भी छात्रवृत्ति दिलाई।

परम पूज्य पं० कोठियाजीका मुझे वात्सल्यस्नेह प्राप्त हुआ है। हर संकटके समय मेरे लिए वे प्रकाशपुंज सिद्ध हुए हैं। पूज्य गुरुवरके अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पणके अवसरपर आज मैं उनका शत-शत अभिनन्दन करते हुए हर्ष-विभोर हो रहा हूँ।

ज्ञाननिधि एवं वात्सल्यकोश डॉ० कोठिया

● डॉ० प्रेमसुमन जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, उदयपुर (राज०)

श्रद्धेय डा० दरबारीलालजी कोठियासे मुझे पितृतुल्य वात्सल्य मिला है। बनारसमें जब मैं अध्ययन कर रहा था तब डा० कोठियाजी मेरे स्थानीय संरक्षक थे। उनके नामका उल्लेख जब मैं अपने आवेदनपत्रोंमें स्थानीय संरक्षकके स्थानपर करता, तब कार्यालयके बाबू लोग प्रायः उसे सुधारनेके लिए कहते कि एक ही नाम पिता और स्थानीय संरक्षकके स्थानपर नहीं भरा जा सकता। तब मुझे उन्हें समझाना पड़ता कि मेरे पिताजीका नाम भी दरबारीलाल है और स्थानीय संरक्षक भी मुझे दरबारीलाल मिले हैं। अन्तर मात्र इतना है कि एक साधारण गृहस्थ और छोटे-से गाँवमें व्यापारी हैं, जबकि दूसरे विद्वान् जगत्के प्रसिद्ध मनीषी हैं।

पण्डित कोठियाजी छात्रोंके लिए सहज उपलब्ध सहायक रहे हैं। उनके पास जब भी मैं अथवा मेरे सहपाठी किसी भी समस्याको लेकर गये, उन्होंने तत्काल उसका समाधान किया। हम जैसे साधनहीन विद्यार्थियोंको पण्डितजीने सहारा देकर-दिलाकर विद्यार्जनके मार्गसे कभी डिगमने नहीं दिया। उन्होंने सही अर्थमें सम्यग्दर्शनके वात्सल्य आदि अंगोंका पालन किया है। हम जैसे सैकड़ों विद्यार्थी पण्डितजीकी विद्या-सन्तानके रूपमें उन्हें स्मरण करते हैं, करते रहेंगे।

ज्ञान्तिकेतेन विद्यालय कटनी, स्यादाद महाविद्यालय और काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके श्रद्धेय गुरुजनोंके विद्यादानसे जो कुछ सीखा-समझा उसका परिष्कार पं० कोठियाजीके कुशल हाथों ही हुआ है। यद्यपि वे मेरे साक्षात् शिक्षागुरु नहीं थे, किन्तु अतिरिक्त समयमें उन्होंने मुझे बहुत कुछ सीख दी है। वह

जीवन-संचालनकी सीख है। कलम चलानेकी सीख है। मुझे याद है कि हम लोग अपने छोटे-छोटे अधकचरे लेख लिखकर उन्हें दिखाने ले जाते थे। वे अपना अध्ययन छोड़कर तुरन्त हमारे लेख संशोधित करते। उन्हें अपनी ज्ञान-गरिमासे सजाते-सँभारते और आगे वैसी भूलें न करनेकी सीख देते। बनारसकी गंगाकी महिमा हमने देखी-सुनी थी, किन्तु हमारे लिए तो पं० कोठियाजी तब जैनदर्शनकी ज्ञानगंगा थे और आज जैनविद्याकी ज्ञाननिधि हैं। जैन न्यायेके विश्वकोश।

डॉ० पं० कोठियाजीमें प्राचीन परम्पराका पाण्डित्य और आधुनिक अनुसंधानशैली इन दोनोंका समन्वय हुआ है। १-२ वर्ष पूर्व बनारसमें उनके निवास-स्थानपर जब उनके दर्शन किये तथा उन्हें अपने विभागकी प्रगतिसे अवगत कराया तो वे गद्गद हो उठे। तुरन्त ही उन्होंने अधुनातन प्रकाशित अपनी कृति हमारे विभागको भेंट की और कहा—‘सुमन, तुम विश्वविद्यालयमें जैनविद्याके शिक्षण और अनुसंधानकी ज्योतिको बुझने न देना। जैनविद्याके संरक्षण और सम्बर्द्धनकी बात पहले सोचना, व्यक्तिगत पदोन्नति और लाभकी बात बाद’। कोई भी छात्र धनाभावके कारण विद्यार्जनसे विमुख न हो, इसका निरन्तर ध्यान रखना। कोई कठिनाई हो तो मुझे लिखना।’ पंडितजीके ये उद्गार ज्ञानके प्रति समर्पित उनके व्यक्तित्वको जितना उजागर करते हैं, उतना ही आजकी पीढ़ीके जैन विद्वानोंके लिए मार्ग-दर्शन भी करते हैं। पूज्य डॉ० कोठियाजीके व्यक्तित्वमें ज्ञानसरिता और वात्सल्यसरिता दोनोंका सुन्दर संगम हुआ है। ऐसे ज्ञाननिधि गुरुदेव और वात्सल्य-कोश संरक्षक शतायु हों। उनके अतिशय गुणोंको अनन्त प्रणाम। पंडितजीके व्यक्तित्वको साज-सम्हार करने वाली मौन-साधिका गुरुपत्नी माताजीको भी सादर अभिवादन।

प्रेरक व्यक्तित्व

● प्रो० प्रवीणचन्द्र जैन, जयपुर

डॉ० दरबारीलाल कोठिया देशके उन गिने-चुने विद्वानोंमेंसे एक हैं, जिनका जैन दर्शन और जैन न्यायपर पूर्ण अधिकार है। मेरा परिचय आपसे वाराणसीमें एक विषयके अनुसंधानके प्रसंगमें हुआ। तबसे अब तक आपका मुझपर स्नेह एवं अनुराग है। मैं आपके मानवीय गुणोंसे अन्यन्त प्रभावित हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसीमें जैन-बौद्ध दर्शनके प्रवाचक रहते हुए आपने जैन दर्शन और साहित्यके अध्ययन और अनुसंधानको नई दिशा दी, एक ऐसा मोड़ दिया, जो आजके तर्क एवं युक्ति प्रधान मानसको सरलता और सहजतासे स्वीकृत हुआ।

अभिनन्दन-ग्रन्थकी योजनाकी एक विशेषता यह है कि इसका मेरी दृष्टि ‘मेरी सृष्टि’ वाला अंश डॉ० कोठियाको पाठकोंके और निकट ले जायगा। वे उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनोंसे अत्रिकाधिक परिचित हो सकेंगे। इस अंशसे अभिनन्दन-ग्रन्थ एक सम्दर्भ-ग्रन्थका रूप भी ले लेगा।

इस शुभ अवसरपर डॉ० दरबारीलाल कोठियाके प्रति विनयपूर्वक अपने भाव-कुसुम अर्पित करता हूँ। उनके लिए मंगल-कामना करता हूँ तथा उनके दीर्घ जीवनके लिए प्रार्थना करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि हमलोगोंके बीच रहते हुए वे जैन साहित्यके उन आयामोंपर प्रकाश डालते जायँ, जो अभी अविदित या अर्धविदित हैं। यह प्रकाश आनेवाली विकासोन्मुख पीढ़ीके लिए प्रेरक एवं उद्बोधक हो।

देर आयद दुरुस्त आयद

● पं० पद्मचन्द्र जैन शास्त्री, देहली

मान्य कोठियाजीका अभिनन्दन विद्वत्समाजका अभिनन्दन है, जो समाजको देरसे सूझा। खैर, ‘देर आयद दुरुस्त आयद’। मैं तो कोठियाजीको परिचयमें आनेके बादसे निरन्तर अभिनन्दन देता रहा हूँ। शुभ कामनाओं सहित।

गुरुणां गुरु

● डॉ० गुलाबचन्द्र जैन, दिल्ली

न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठिया मेरे लिए अनेक अर्थोंमें 'गुरुणां गुरु' हैं। शैक्षणिक जीवनमें उनके पास अध्ययन करनेका सौभाग्य तो नहीं मिला, लेकिन जैन दर्शन एवं न्यायके उनके द्वारा लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थोंसे ही तब अध्ययनको गति मिली थी और आज भी उनका पारायण करता हूँ।

डॉ० कोठिया और उनकी पीढ़ीके विद्वानोंने जितना कुछ दिया है और आज भी दे रहे हैं—वह सब हमारी पीढ़ीके आधुनिक शैलीके विद्वानोंके लिए सबल है। जैन दर्शन एवं न्यायकी जिन गहराइयों तक वे पहुँचे हैं, वहाँका हमें आभास तो होता है, पर तल-स्पर्श नहीं कर सके, ऊपर-ही-ऊपर उतरा रहे हैं।

मेरी हार्दिक कामना है, श्रद्धेय कोठियाजी दीर्घायु हों। वे इस नयी पीढ़ीको इतना सक्षम बना दें कि वह समाज, राष्ट्र और विश्वके नये दर्पणमें जैन-दर्शनके अब तकके अवदानको नये रूपमें प्रतिबिम्बित कर सकें।

विनम्रता और सरलताके अग्रणी

● श्री चंदनमल 'चाँद', बम्बई

आदरणीय कोठियाजीसे बम्बई, श्रवणवेलगोल एवं देशके अन्य बड़े शहरों एवं कार्यक्रमोंमें कई बार मिलना हुआ, उनके लेख एवं भाषण भी सुने और मुझे लगा कि डॉ० कोठिया उच्चकोटिके विद्वान् हैं, किन्तु विनम्रता और सरलतामें भी वे अग्रणी हैं। निश्चल, सादगीपूर्ण व्यक्तित्ववाले कोठियाजी भारत जैन महामंडलकी गतिविधियोंसे एवं 'जैन जगत' मासिकसे वर्षोंसे जुड़े हुए हैं।

डॉ० कोठियाजी इसी प्रकार सेवामय स्वास्थ्ययुक्त अपने जीवनका शतक पूर्ण करें और धर्म तथा साहित्यकी सेवामें सतत संलग्न रहें, यही हमारी शुभकामना है। आयोजकोंको इस शुभ कार्यके लिए बधाई देते हुए डॉ० कोठियाजीके प्रति अपनी आदरांजलि अर्पित करता हूँ।

यशस्करी विद्याके अमर उपासक

● डॉ० कमलेश कुमार जैन, जैन विश्वभारती, लाहौर

वर्तमान युगमें जैन न्यायके अध्ययनका श्रीगणेश न्यायाचार्य पूज्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीने किया था। पूज्य वर्णीजी महाराजने काशीमें रहकर न्यायशास्त्रीय ग्रन्थोंका अध्ययन जिन विकट परिस्थितियोंमें किया था, वह अपने आपमें एक इतिहास है, जिससे अनेक विद्वान् परिचित हैं। इस परम्पराको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये स्याद्वाद महाविद्यालय (काशी) के पूर्व न्यायाध्यापक डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य यावज्जीवन समर्पित भावसे लगे रहे।

इस क्रममें जैन न्यायशास्त्रीय ग्रन्थोंका यद्यपि सम्पादन / प्रकाशन हो रहा था, किन्तु पण्डितमानी विद्वानोंके लिये दुर्जय न्यायशास्त्रीय संस्कृतमें निबद्ध ग्रन्थोंको हिन्दीमें अनूदित एवं संपादित करनेका प्रथम प्रयास डॉ० कोठियाजीने किया है। उन्होंने न्यायशास्त्रीय ग्रन्थोंके सम्पादन एवं हिन्दी अनुवादका कार्य जिस सरल एवं सुबोध शैलीमें किया है, वह उनके न्यायशास्त्रीय वैदुष्यका अनुपम निदर्शन है। डॉ० कोठियाजी द्वारा सम्पादित/अनूदित ग्रन्थोंके प्रारम्भमें लिखी गई उनकी प्रस्तावनायें और स्वतंत्र रूपसे लिखे गये शताधिक शोध-निबन्ध भी उनके साहित्यिक योगदानके अभिनन्दनीय दस्तावेज हैं। यशस्करी विद्याके अमर उपासक माननीय डॉ० कोठियाजीके दीर्घायुष्यकी मंगल-कामना करते हुए हम उनके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हैं।

कितने गहरे-कितने उदार

● पं० लक्ष्मणप्रसाद 'प्रशान्त' काव्यतीर्थ, सागर

इस छोटे-से दीपकने बुन्देलखण्डकी धरती पर किसी छोटी-सी कुटियामें जन्म लिया, किन्तु अपने पुरुषार्थ और आत्मशक्तिके बलसे, ज्ञानकी अद्भुत तेजपूर्ण क्षमतासे उसने जैन जगतके हर क्षेत्रको आलोकित किया। वह भले ही नामसे दरबारी हो किन्तु अब उनका द्वार विद्वान्-दरबारियोंसे अलंकृत रहता है। हृदय ऐसा, जैसे-नवनीत। वाणीमें-फूलोंकी नरमीको मात देनेकी अद्भुत क्षमता। सहजता और सरलता जिसके उभय पाश्वर्कोंमें अंग-रक्षककी तरह चलती हैं।

इतना लघु शरीर किन्तु लगनकी अटूट एवं असीम निष्ठाने उन्हें उच्चरोत्तर ऊपर-ऊपर उठाया है। कौन जानता था कि साधारणसे विद्यालयमें काम करनेवाला यह व्यक्ति एकदिन भारतके प्रसिद्धतम हिन्दू विश्वविद्यालयके रीडर पदकी अलंकृत करेगा। अपनी कलमका धनी ज्ञानकी अनवरत साधनाके प्रमाण-स्वरूप जैन साहित्यके भण्डारको जो अमूल्य कृतियाँ दीं हैं वह उनको अमरत्व प्रदान करनेवाली औषधियाँ हैं। समाजसेवा, साहित्यसेवा और ज्ञानदानमें अनवरत लीन कोठियाजी अब पं० दरबारीलालजीके नामसे नहीं, किन्तु डॉ० कोठियाके नामसे जाने जाते हैं। स्नेह, वात्सल्य और उदारताकी मूर्ति डॉ० कोठिया जैन समाजकी ही नहीं, अखिल विद्वत्समाजकी निधि हैं।

उनका हृदय कोमल एवं विचार अतिशय उदार है। मुझे स्मरण है सागरमें विद्वत्परिषद्की कार्य-कारिणीकी बैठक आयोजित की गई थी। तिथि ठीक याद नहीं, किन्तु यह बैठक सेठ भगवानदासजी बिड़ी-वालोंकी धर्मशालामें उन्हींकी अध्यक्षतामें चल रही थी। विद्वत्परिषद्के वे अध्यक्ष थे। विचारणीय विषयोंमें एक विषय दिवंगत आदरणीय डॉ० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यकी कृति "तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा" पर पुरस्कार-राशि निश्चित कर—घोषित करना था। हमारे दुर्भाग्यसे उक्त कृतिको समाप्त करनेके बाद ही डॉ० नेमिचन्द्रजी इस लोकको छोड़कर परलोक सिधार गये थे। उनके नामकी चर्चा आते ही, मैंने देखा—कोठियाजीकी आँखें डबडबा आईं। गला भर आया। हृदयमें जैसे दुःखका सागर उमड़ पड़ा हो। किन्तु अपने आवेगको रोककर स्वस्थ चित्त हो वह विषयकी गहराई और देय पुरस्कार-राशिपर विचार-विमर्श करने लगे। विद्वत्परिषद्के मन्त्रीजीने कहा कितनी राशि दी जाना चाहिए। डॉ० कोठियाजीके मुँहसे सहसा निकला २१०००) रु०। मन्त्रीजी कुछ विचलितसे हो गए। उन्होंने बुदबुदाते हुए कहा—इतनी राशि कैसे दी जा सकती है? डॉ० कोठियाके शब्द थे,—'जिसने अपना जीवन ही उक्त कृतिके सृजनमें लगा दिया, क्या उसकी जिन्दगीसे यह राशि अधिक मूल्यवान है। मेरे पास होता तो मेरी दृष्टिमें यह राशि भी अपर्याप्त होती। हैसकर बोले, आप चिन्ता न करें—हम व्यवस्था कर लेंगे। हमें अपनी जेबसे नहीं देना है, फिर भी हमारे मनमें तो उदारता होना ही चाहिए। विद्वान्की कद्र विद्वान् न करेगा तो कौन करेगा।' डॉ० कोठियाजीके उक्त शब्द आज भी मेरे स्मृति-पटलसे यथावत् झाँक रहे हैं। लगता है डॉ० कोठियाजी जैसी निश्छल उदारता सभीमें नहीं होती। वे जैसे विद्वान् हैं, वैसे ही उदार भी हैं। ज्ञानका मान उन्हें छू भी नहीं गया है। छोटा हो या बड़ा, सभीसे-बड़े ही स्नेहसे मिलते हैं। कुशलअम पूछते हैं और किसी व्यक्तिके संकटकी स्थितिका आभास मिलते ही उसके प्रतीकारका उपाय भी करते हैं।

श्रवणबेलगोलामें गत वर्ष डॉ० कोठियाके सम्पर्कमें मुझे जितने क्षण रहनेका अवसर मिला, मुझे लगा कि कोई चिरपरिचित जनम-जनमका साथी हमें मिल गया है।

उनकी आत्मीयता एवं वात्सल्य भावने मुझे उनके बहुत करीब पहुँचाया। अन्य विद्वानोंमें ऐसी

आत्मियताके दर्शन मुझे बहुत कम मिले हैं। मैं सोचता हूँ डॉ० कोठियाजीकी यह आत्मियता न केवल मेरे लिए ही प्राप्त हुई, अपितु उनसे मिलने वाले हर व्यक्ति एवं विद्वान्के लिये भी प्राप्त होती है।

डॉ० कोठियाजीका अभिनन्दन उनकी विद्वत्ताका अभिनन्दन है। विद्वानों एवं समाजकी इस सूक्ष्म-का मैं हृदयसे स्वागत करता हूँ और डॉ० कोठियाजीके दीर्घायुकी कामनाके साथ उन्हें अपनी विनीत प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

साहित्य-वेवताके गरिमायुक्त आराधक

● श्रीमती प्रेमलता पं० रविचन्द्र जैन, दमोह

श्री दरबारीलालजी कोठिया बहुमुखी प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् हैं। विद्वानों, साहित्यकारों एवं बुद्धि-जीवियोंके लिए आप प्रकाश-स्तम्भ हैं। आपका समग्र जीवन उत्साह, लगन एवं धीरजका प्रेरणास्रोत है। धर्मके विषयमें आपके विचार उदात्त एवं सुलझे हुए हैं। तथाकथित क्रियाकाण्डोंमें आप विश्वास नहीं करते। विवेक-संगत, विशुद्ध, चरित्र-निष्ठ, धार्मिक जीवन ही आपको अभीष्ट है।

माननीय कोठियाजीकी लेखनीसे प्रसूत ग्रन्थ तथा निबन्ध आदि भारतीय दर्शन, जैन तत्त्वविद्या और जैन साहित्यके गहन अध्ययनसे ओत-प्रोत हैं। वे निष्पक्ष विचारक हैं। उन्होंने अनेक उच्चस्तरीय ग्रन्थोंका प्रणयन किया है, जिनमें दर्शन एवं साहित्यके विविध पक्षों/अंगोंका विशद मूल्यांकन-पूर्ण विवेचन है। उनकी गवेषणाका आधार सदा स्वस्थ रहा है। आप विद्वानोंकी विपरीत विचार-धाराओंकी संयत शैली में गम्भीर समीक्षा करते हैं। और उदारतापूर्वक सदैव ही सत्यका स्वागत/अर्चन करते हैं।

आपके विचार अकाट्य एवं शास्त्रसम्मत हैं। वे सुलझे हैं, तर्क-वितर्क-पूर्ण होनेपर भी सहज हैं। अर्थोपार्जनके बन्धनोंमें उनकी उच्च आकांक्षाएँ बन्दी नहीं बन सकीं। आपकी पत्नी श्रीमती चमेली बाईजी विदुषी एवं धर्मपरायाणा महिला हैं। उन्होंने सदा आपको उत्साहपूर्ण सहयोग दिया है। पारिवारिक दृष्टिसे आपके चमनमें कई पुष्प खिले पर वे असमयमें ही मुरझा गए। जिस असीम धैर्यके साथ आप सन्तानका वियोग सहते रहे, वह जैन दर्शन-प्रणीत कर्म-सिद्धान्तमें अटूट निष्ठाका ज्ञापक ही है। विपत्तियाँ आपको विचलित नहीं कर पाईं। वे पहलेसे भी सहस्रगुनी अधिक तन्मयतासे साहित्यकी आराधना करते रहे।

आपने अनेकानेक संस्थाओंके माध्यमसे जैन संस्कृतिके प्रकाश एवं प्रसारमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। श्री वर्णी जैन ग्रन्थमालाके जीवनमें आपके जीवनके कई अध्याय समाविष्ट हैं। मेरी हार्दिक कामना है आप युग-युगों तक जीवित रहें। आपकी सभी भावनाएँ जैन संस्कृतिकी सेवा-मुरक्षा एवं उन्नतिके लिए सदा समर्पित रहें। मेरे ये पलाशके तुच्छ पत्तों जैसे शब्द-बन्धन आपका गुण-गौरव वर्णन करके सम्मानित होते हैं।

मेरे श्रद्धेय

● श्री शैलेश डी० कापडिया, सूरत (गुजरात)

डॉ० दरबारीलाल कोठिया बहुप्रसिद्ध विद्वान्, सुवक्ता, उदारमना, परोपकारवृत्तिपरक, धर्मोपदेष्टा, न्यायाचार्य, सुप्रसिद्ध लेखक और सफल अध्यापक हैं।

कोठियाजी अभिनन्दनके योग्य तो बहुत समयसे थे और स्थान-स्थान पर समाज द्वारा उनका अभिनन्दन किया भी गया है। पर अब जो उनका सार्वजनिक अभिनन्दन, अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण द्वारा किया जा रहा है, यह आनन्दकी बात है। ऐसे पावन अवसर पर आदरणीय विद्वान्के प्रति मेरी और जैन-मित्र-परिवारकी हार्दिक शुभकामनाएँ।

एक सहृदय विद्वान्

● प्राचार्य कुन्दनलाल जैन, शाहदरा, दिल्ली

विद्वान् होना सामान्य बात है। पर विद्वत्ताके साथ-साथ मानवीय गुणोंसे ओत-प्रोत सहृदयता एवं मानवता बिरले ही विद्वानोंमें पाई जाती है ! कोठियाजी जैसे सहृदय विद्वान् बिरले ही मिला करते हैं।

सन् १९४६ में जब मैं स्याद्वाद विद्यालय छोड़कर गृहस्थीके फंदेमें फाँस दिया गया तो सबसे बड़ी जटिल समस्या जो सामने आई वह थी आजीविकाकी, स्वभावसे संकोची होनेके कारण किसीसे कुछ कहता सुनता भी न था। घरकी आर्थिक स्थिति विषमतम थी। श्री कोठियाजीके चाचा पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीनामें विद्यमान हैं। यही नगर मेरी जन्मभूमि एवं घर है। फिर भी व्याकरणाचार्यजीसे मैं तब तक भी कभी मिला होऊँ, ऐसा याद नहीं आता है। पर अब शादीके बाद एवं पूज्य मामा पं० मनोहरलालजी कुरवाई-के आदेशसे मैं व्याकरणाचार्यजीके पास गया और उनसे अपनी समस्या कह सुनाई !

इसी समय श्री कोठियाजी बीना पञ्चारे हुए थे श्रीष्मावकाश बितानेके लिए। इन दिनों श्री कोठियाजी वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावामें स्व० श्री बा० जुगलकिशोरजी मुस्तार सा० के साथ साहित्य-सृजन कर रहे थे। और वे उनके परम सहयोगी रहे। आगे चलकर उनके वे धर्म पुत्र भी बने।

वीर-सेवा-मन्दिरके लिए एक व्यक्तिकी आवश्यकता थी, व्याकरणाचार्यजीने श्री कोठियाजीसे मेरे सम्बन्धमें चर्चा की और श्री कोठियाजीने मुस्तार सा० को पत्र लिखा और मेरी नियुक्तिकी स्वीकृति माँग ली और लगभग १५ मई १९४६ को वे मुझे अपने साथ सरसावा लीवा ले गये और मेरी नियुक्ति वीर-सेवा-मन्दिरमें पंचपन रुपये मासिकपर करा दी। इस तरह वे मेरी प्रथम आजीविकाके स्रोत बने।

यद्यपि इस समय तक मेरी शिक्षा साहित्य शास्त्री और मेट्रिक तक ही थी अतः वी०से०मं० जैसी साहित्यिक शोध-संस्थाका पात्र कैसे बन सकता था। अतः श्री कोठियाजीने मुझे कुछ खोजपरक लेख लिखनेके लिए प्रेरित किया और कुछ सामग्री तथा शोधके तरीके समझाए और मैं लेख लिखने लगा, जो तत्कालीन जैन मित्र, जैन संदेश, वीर आदि पत्रोंमें प्रकाशित होने लगे। श्री कोठियाजीकी प्रेरणाका ही फल है कि अपने अध्ययनमें लगा रहा और शोधकार्यकी ओर प्रवृत्त हुआ।

यद्यपि मैं उस समय बिल्कुल ही नौसिखिया था। पर कोठियाजी मुझे आगे बढ़ानेके लिए समाजके लोगोंके घर ले जाते, मंदिरमें शास्त्र-स्वाध्यायके लिए बैठते और शास्त्रचर्चामें सम्मिलित करते। श्री कोठियाजीका व्यवहार बड़ा ही मधुर और स्नेहप्रिय है और अतिथिसत्कारके लिए तो वे बहुत ही प्रसिद्ध हैं।

श्री कोठियाजी अपनी विद्वत्ता एवं विनम्र स्वभावके कारण जैन समाजमें सम्माननीय तो हैं ही, विद्वद्वर्गमें भी अपना ऊँचा स्थान बनाये हुए हैं।

श्री कोठियाजी विद्वद्वर्गकी उस पीढीका प्रतिनिधित्व करते हैं जो शास्त्रीय शिक्षणके साथ-साथ कालेजीय व विश्वविद्यालयीय शिक्षणमें पारंगत होते हैं। वे अपने इसी उभयपक्षीय गंभीर अध्ययनके कारण पुराने विद्वानों एवं नई पीढीके विद्वानोंके समन्वयमें बीचकी कड़ीका काम करते हैं। उनके सम्पर्कमें जो भी आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, यही उनकी विशेषता है। उनके अभिनन्दनके समय में अपनी ओरसे हादिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ और वीर प्रभुसे उनके चिरायु रहनेकी कामना करता हूँ।

नई पीढ़ीके निर्माता

● पं० नागेन्द्र शास्त्री, श्रवणवेलगोला

श्री दरबारीलाल कोठियाजीने अपने आपको जीवनभर कठोर परिश्रमसे जो धार्मिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक सेवामें निज तन, मन, धनसे खपा दिया है वह अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। आपने अगणित छात्रवृन्दको धार्मिक, आध्यात्मिक और लौकिक शिक्षण द्वारा ज्ञानज्योतिसे उज्ज्वल बनाकर जैन धर्मको अक्षुण्ण बना दिया है। आपने अपने सरल सहज स्वभावसे सारे भारतवर्षीय विद्वान् समाजको अपने जीवन और कृतिरत्नोंसे प्रभावित-प्रचोदित किया है। इस पंचम कालमें आप जैसे महान् व्यक्ति विरल ही हैं।

आपने अपनी सुदीर्घ दृष्टि और निःस्वार्थभावसे जनकल्याणके लिए विविध क्षेत्रोंमें जो जो कार्य सम्पन्न किया है वह अजर अमर है।

इससे प्रभावित अनेक संघ-संस्थाओंने आपको अनेक उपाधियाँ, स्वर्णपदक, प्रशंसापत्र तथा अमूल्य धनराशि समर्पणकर कृतज्ञता प्रकट की है, सम्मान दिया है।

ऐसे नव-पीढ़ीके निर्माता; नव-समाजसेवकोंके प्रेरणास्रोत श्रीमान् डॉ० दरबारीलाल कोठियाजी! आप चिरंजीवी हों, आप सेवाधर्मका लाभ समाजको निरन्तर मिलता रहे, श्री मज्जिनेन्द्रदेवसे एवं श्री गोम्मटेश्वर बाहुबलि स्वामीसे इस शुभ संदर्भपर हम आपको दीर्घायु एवं यशोभिदर्शनाकी शुभ-कामना करते हैं।

सरलताकी प्रतिमूर्ति

● ब्र० पं० खुन्नीलाल (जानानंद) जैन, भदौरा वाले, टीकमगढ़

वास्तवमें डा० कोठियाजी, अपने गरिमापूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्वके कारण समाजमें एक असाधारण कोटिके विद्वद्वरतन हैं। वे नैसर्गिक मृदुता और सरलताकी तो प्रतिमूर्ति ही हैं।

समाज उनकी विगत ४५ वर्षीय सेवाओंसे उपकृत है। अतएव उसने स्थायी रूपसे रहने वाले इस अभिनन्दन-ग्रन्थीय कार्यसे, अपनेको उपकार-भारसे लघु करनेके लिए इस प्रशस्त कार्यकी योजना बनाई है, जो समयोचित और आवश्यक है। मैं पुनः इस योजनाका स्वागत करता हूँ।

अतः इस परमावश्यकीय कार्यके होनेमें मेरी अन्तस्तलीय शुभकामनाएँ प्रेषित हैं।

जीवन-पथ-प्रदर्शक

● डॉ० धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र

श्रद्धेय डा० दरबारीलालजी कोठिया मेरे शुभचिन्तक गुरुजनोंमेंसे एक हैं। आपके सान्निध्यमें रहने के अनेक सुअवसर मुझे प्राप्त हुए हैं। मधुर भाषण, मृदुता, दानशीलता, सारल्यता एवं दूसरेके दुःखको अपना समझना आपके स्वाभाविक गुण हैं। आप विद्याधियोंके परमहितचिन्तक एवं जीवन-पथ-प्रदर्शक हैं।

आपका जीवन संघर्षमय रहा है। हमारा समाज एवं अनेक सामाजिक संस्थाएँ आपकी निःस्वार्थ सेवासे सदैव लाभान्वित रही हैं। आप कठिन परिश्रमी, एक सुयोग्य लेखक तथा प्रभावशाली वक्ता हैं। जैन दर्शनके प्रमुख विद्वानोंमेंसे आप एक हैं। जैन न्याय-दर्शनके क्षेत्रमें आपका अक्षुण्ण योगदान है।

मैं उनके दीर्घ एवं स्वस्थ जीवनके लिए प्रार्थना करता हूँ, ताकि आपके द्वारा समाज एवं धर्मको सतत अभिवृद्धि हो।

भूली बिसरी यादें

● डॉ० श्रीमती रमा जैन, छतरपुर

२१ मार्च सन् १९५६की बात है। बुन्देलखण्डके गौरव श्री दरबारीलाल कोठियाजीसे मेरी सर्वप्रथम भेंट हजारीबाग रेलवे स्टेशनपर ट्रेनमें हुई थी। श्री कोठियाजी वर्णीजीके पास दर्शनार्थ जा रहे थे। मैं भी अपने छोटे भाई एवं अपने पतिदेवके साथ नव-गार्हस्थ्य-जीवनमें प्रवेश करनेके पहिले उनका आशीर्वाद लेने जा रही थी। कोठियाजीने जैसे ही मुझे देखा, हर्ष-विभोर हो ट्रेनमें ही “नवदम्पति” के लिये इतनी शुभ कामनायें व शुभाशीर्वाद दिये कि हमें ईसरी व शिखरजी पहुँचनेके पूर्व ही अपनी पूरी तीर्थयात्राकी सफलता हासिल हो गयी। हमें लगा कितना सुखद है इस यात्राका प्रारम्भ।

कोठियाजीकी आत्मीयता व वात्सल्यसे सना हुआ एक-एक शब्द कभी-कभी आज भी कानोंमें गूँज उठता है। पूरी यात्रामें उन्होंने कितनी बार हम लोगोंके खाने-पीने व लम्बी यात्रामें परेशानी उठानेके बारेमें पूछा। चिन्ता भी व्यक्त की। मेरे छोटे भाई महेन्द्रकी थकावट तो उनकी शिक्षाप्रद मनोरंजक बातोंसे ही दूर हो गयी।

ईसरी आश्रममें पहुँचनेपर जब हम लोग पूज्य वर्णीजीके चरण-वन्दन करने जा रहे थे, तब हमने देखा कि श्री कोठियाजी हमारे शुभ संकल्पकी चर्चा आह्लाद भरे गद्गद कंठसे श्री वर्णीजीसे कर रहे थे। वे कह रहे थे कि “वे पहले विद्वान् दम्पति हैं, जिन्होंने ऐसा शुभ संकल्प कर नये जीवनमें प्रवेश करनेका उद्देश्य बनाया है।” उनके द्वारा अभिव्यक्त प्रशंसासे हम लोगोंके मस्तक झुके जा रहे थे। कोठियाजीकी प्रशंसा सुन बाबाजी भी कहने लगे—“भैया, देवपूजा और गुरुकी उपासना ये दो गार्हस्थ्य जीवनके षट्कर्मों-मेंसे प्रथम आवश्यक कर्म है। जिनके पालनसे स्वाध्याय, संयम तप और दान ये चार आवश्यक कर्तव्य पूर्ण होते हैं। ये ही मानव-जीवनको सफल बनाते हैं। इसके बाद मेरी यात्राकी कुशल-क्षेम पूछनेके बाद बाबाजीने २ खादीकी मालायें एवं २ खादीके चादर आशीर्वाद स्वरूप प्रदान किये। जो आज भी सुरक्षित हैं। यह बाबाजीका असूय्य उपहार पाकर मेरी अंतरात्मा तृप्त हो गयी। मैं मन्-ही-मन् अपने सौभाग्यकी सराहना करती रही।

सायंकाल श्री कोठियाजीके साथ हम लोग शिखरजीकी यात्रापर चल पड़े। उनके साथ यात्रामें ऐसा आभास होता रहा जैसे हमारे उभयपक्षके परिवारोंके शुभचिंतक संरक्षक हमारे साथ चल रहे हों। मधुवनमें ठहरने व आराम करनेके पश्चात् रात्रि १ बजे दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त होकर हम सभी सम्मैदाचल पर्वतपर आरोहण करने निकल पड़े। मार्गमें गाये जाने वाले भक्ति गीत, भजन, बिनती आदिसे निस्तब्ध वातावरण मुखरित होता जा रहा था। श्री कोठियाजीकी आह्लादमयी आवाज भक्तिके आवेशमें निर्जन पर्वत प्रान्तोंमें गूँज रही थी। बीचमें उन्होंने क्षेत्रमें तीन-सौ बार आकर यात्रा करनेवाली वृद्धा माताकी चर्चा की। ताकि हम सभी दर्शनार्थियोंको १८ मीलकी लम्बी पहाड़ी यात्रामें थकावटका अनुभव न हो।

वहाँसे लौट ही रहे थे, कि एक चित्र मेरे पतिदेवने मेरे छोटे भाई महेन्द्र कुमारका कोठियाजीके साथ लिया। तब श्री कोठियाजीने कहा कि क्षेत्रपर केवल मनोहर मूर्तियों व प्राकृतिक दृश्यावलियोंका चित्रण किया जाना चाहिये। व्यक्तिका चित्रण तो अपने मनमें छिपी हुयी रागभावनाको परिपोषण मान करनेवाला होता है।

उनका साथ छोड़ते हुए हम लोगोंको विछुड़नेका दुःख हो रहा था। अर्धरात्रि आसुओंसे भीम रही थीं। पंडितजीने मुझे हर परिस्थितिमें, धैर्यसे काम लेते हुए अपने अध्ययनको जारी रखते हुये, परीक्षायें देते हुए प्रगतिपर बढ़नेको प्रोत्साहित किया एवं शुभाशीर्वाद दिया।

योगदान उच्चस्तरका

● श्री अक्षयकुमार जैन, दिल्ली

डॉ० दरबारीलाल जी कोठियासे मैं ३५ वर्षसे परिचित हूँ। जैन दर्शनके विद्वानोंमें वे उच्चासीन हैं। उनका दर्शन, साहित्य, पत्रकारिता, तथा समाजसेवाका योगदान उच्च स्तरका है। उनका अभिनन्दन किया जाय, इससे अधिक अच्छी बात और क्या होगी। मैं भी उनके दीर्घ एवं स्वस्थ जीवनकी कामना करता हुआ अभिनन्दन करता हूँ।

शुभ कामना

● पं० बंशीधर व्याकरणाचार्य, बीना

डॉ० कोठिया अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशनका कार्य स्तुत्य है। गुणीजनोंका अभिनन्दन होना ही चाहिये। मुझे इसकी प्रसन्नता है। मेरी हार्दिक भावना है कि डॉ० कोठिया जीवनके अन्तिम क्षण तक सामाजिक और साहित्यिक प्रगति पथपर चलते रहें। उनके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूँ।

चतुर्मुखी प्रतिभाके धनी

● पं० प्रकाश 'हितैषी' शास्त्री, दिल्ली

डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्याय विषयके अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। आपने माँ सरस्वतीका वेजोड़ बहुमूल्य रत्नोसे विशाल भण्डार भरा है। आप लेखन, पाठन, प्रकाशन संस्था-संचालन आदिकी चतुर्मुखी प्रतिभाके धनी हैं। आपमें अनुसंधानकी प्रवृत्ति प्रारम्भसे ही रही है, इसीलिए साहित्य-तपस्वी मुस्तार सा० का स्नेहांचल आपको प्राप्त था। संभवतः भारतमें आप प्रथम सुयोग्य साहित्य साधक थे, जिन्हें आपकी प्रौढावस्थामें मुस्तार सा० ने पुत्ररत्न (धर्मपुत्र)के रूपमें स्वीकार कर अपना वरदहस्त आपके ऊपर रखा था। अतः उनकी इच्छाके अनुरूप ही आपने जैन साहित्यको समृद्ध किया है।

आपके ऐतिहासिक, दार्शनिक, साहित्यिक एवं सामाजिक निबन्ध पथके प्रदीप बनकर सतत ज्योति प्रदान करते रहेंगे, जिससे अगणित शोधार्थी लाभ उठाते रहेंगे।

आपका पांडित्य प्रभावपूर्ण एवं तलस्पर्शी ज्ञानसे क्षोभित है। जीवन भी आपका सरल सपाट एवं सतत साहित्य-साधनके श्रममें संलग्न रहा है। आपकी वाणीमें भी मिश्रीकी मिठास एवं जादूका आकर्षण है। उच्चकोटिके विद्वान् होते हुए भी अभिमान आपको छू भी नहीं सका। यही कारण है कि मनीषोगणोंने आपकी सेवाओंका समुचित ही महत्वांकन किया है। विद्वद्ग्वर कोठियाजी इसी प्रकार दीर्घकाल तक साहित्यकी सेवा करते रहें, यही मंगल-कामना है।

न्यायशास्त्र मर्मज्ञ

● पं० नन्हेंलाल जैन सिद्धान्तशास्त्री, राजाखेड़ा

न्यायाचार्य श्री पं० दरबारीलाल कोठिया दार्शनिक विद्वानोंमें प्रमुख गण्यमान विद्वान् हैं और न्यायशास्त्रके ज्ञानी भी।

जैन समाज आपकी विद्वत्तासे परिचित ही नहीं अपितु पूर्ण लाभान्वित है। जैन समाजका सौभाग्य है कि कोठिया जैसे कर्मठ विद्वान् उसे मिले हैं। उनकी विद्वत्ता, कार्यपटुता और विवेकशीलतापर जैन समाजको गर्व है। पूज्य जैनाचार्य और साधु संघमें भी आपके मजे हुए ज्ञानकी ख्याति है।

मैं न्यायाचार्य कोठियाजीकी ज्ञान गरिमा और कार्यपटुताकी भूरि-भूरि प्रशंसा करता हुआ उनके दीर्घजीवनकी कामना करता हूँ।

श्री दरबारीलाल कोठिया अभिनंदन है बारंबार

पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, जयपुर

१

तीर्थ क्षेत्र नैना गिरि जन्मे,
नगर बनारस शिक्षा यान।
स्थाद्वाद विद्यालय काशी,
साहूमल में पाया ज्ञान ॥

२

सहयोगिनि मिल गई 'चमेली',
दत्तक पुत्र बनें मुस्तार।
साहित्यिक सेवा का व्रत ले
किया स्वयं पर का उद्धार ॥

३

सरस्वती के वरद पुत्र तुम !
परम दार्शनिक सरल उदार।
विद्वज्जन-प्रेमी प्रिय पंडित !
सहज सात्विक स्नेहागार ॥

४

आगम और सिद्धांत ग्रन्थ के
अधिकारी विद्वान् 'अनूप'
नये तथ्य उद्घाटित करके
दिया न्याय को नया स्वरूप ॥

५

दर्शन और प्रमाण शास्त्र के
विशद विवेचक टीकाकार।
शुष्क विषय को सरस बनाकर
स्वल्प किया अपना साकार ॥

६

न्यायाचार्य ! न्यायरत्नाकर,
और न्यायवाचस्पति ! विज्ञ।
तुम न्यायालंकार मनीषी !
पदवी से भूषित मर्मज्ञ ॥

७

पत्रकार ! निर्भीक प्रवक्ता !
सफल समालोचक विख्यात।
तुम अनेक संस्था, संस्थापक !
अध्येता शिक्षक प्रख्यात ॥

८

निःस्वारथ सेवी ! गुण ग्राही !
भावुक ! सदा अध्ययन शील !
परम शांत ! गंभीर उदधिसम
दृढ़ श्रद्धानी ! चिंतन शील ॥

९

मध्यापन, लेखन, भाषण में
अति निष्णात निपुण भी धीर !
सत् साहित्य प्रणेता युग के
जैन-वाङ्मय-सेवक वीर ॥

१०

ख्याति प्राप्त विद्वान् शिरोमणि !
न्योछावर सब तुम पर आज।
साहित्यिक मौलिक कृतियों से
गौरवान्वित पूर्ण समाज ॥

११

सहृदयी ! हित मित प्रिय माषी
गुण गौरव गरिमा के घम।
आत्म प्रशंसा पर निंदा से
नहीं तुम्हें कोई भो काम ॥

१२

राष्ट्रीयनिधि ! मूल्यवान तुम
तुम विद्वद्-परिषद् आधार !
श्री दरबारी लाल कोठिया
अभिनंदन है बारंबार ॥

शत-शत अभिनन्दन है

हास्यकवि—हजारीलाल जैन 'काका', सकरार (झाँसी)
जिनने अपने बल पीरुषसे महकाया जीवन-उपवन है,
श्री दरबारीलाल कोठियाजीका शत-शत अभिनन्दन है ।

X X X

सरस्वती पानेमें जिनको लक्ष्मी बाघक बनकर आई,
लेकिन न्यायमार्गसे जिनको किसी तरह भी डिगा न पाई,
हँसते-हँसते संघर्षोंसे रहे जूझते हार न मानी,
इसीलिये तो आज लक्ष्मी खुद ही भरती इनका पानी,
पंडित होकर तृण समान इनकी नजरोमें रहता धन है,
श्री दरबारी लाल कोठियाजीका शत-शत अभिनन्दन है ।

X X X

सच्ची लगन साधना श्रमने जल्दी ही रंगत दिखलाई,
विद्वत्ताकी लगी गूँजने देश-विदेशोंमें शहनाई,
जन्मभूमि बुन्देलखण्डका जगमें गौरव मान बढ़ाया,
जीवन अर्पित किया देश हित शिशुओंको दिन रात पढ़ाया,
इसीलिये तो आज आपका ऋणी हो गया हर जन-जन है,
श्री दरबारीलाल कोठियाजीका शत-शत अभिनन्दन है ।

X X X

पूर्वपुण्यसे मिली गृहणी देवीरूप परम उपकारी,
माँ-समान ममता, भगिनी-सा शुचि स्नेह लुटावन हारी,
आगतके स्वागतमें तत्पर अन्नपूर्णा रूप मनोहर,
सरस्वती बन झंकृत करती रहती हैं जो वीणाके स्वर,
ज्ञान ध्यान व्रत तप आराधनमें बीता जिनका जीवन है,
माता श्री चमेली बाईका बन्दन है अभिनन्दन है ।

X X X

नैनागिरिके श्रमण-दूत ?

वैद्य कपूरचंद्र विद्यार्थी, दमोह

श्रम-साधन विद्या-आराधन
कर बने मानवों में मनीष ।
सम्यक्दर्शन सेवा-व्रत ले,
पा लिया श्रमण संस्कृति आशीष ॥१॥

तुम न्याय-दिवाकर रत्नाकर,
पा हुई गौरवान्वित समाज ।
हम चिर-आभारी तम्र-हृदय,
शत अभिनन्दन का लिए साज ॥२॥

युग जिओ "कोठिया" वाचस्पति,
बुंदेलखंड के पुण्य—पूत ! ।
श्रद्धा-सौरभ गौरव गरिमा,
नैनागिरिजीके श्रमण-दूत ! ॥३॥

ओ ! साहित्यिक संत !

● आशुकवि शर्मनलाल जैन 'सरस', सकरार
घन्य हो गयी धरा तुम्हें पा, करता मन वंदन है,
ओ ! साहित्यिक संत, तुम्हारा शत-शत अभिनंदन है ।

(१)

नकली प्रेम आज दुनियामें, डग-डम डेरा डाले,
भौतिकताने लगा दिये हैं, आत्म-द्वार पर ताले,
ऐसेमें उरके कोठेको, खोल कोठिया तुमने—
जगकी ग्रन्थि खोलने वाले, अमर ग्रन्थ दे डाले,
जिनका पारायण कर माटी, हो सकती चंदन है,
ओ ! साहित्यिक संत तुम्हारा, शत-शत अभिनंदन है ।

(२)

कैसे वर्णन करें आपने, जो उपकार किया है ?
पता नहीं कितनोंको तुमने ऐसा प्यार दिया है,
जिसकी मौत नहीं हो सकती, कभी किसी भी युगमें—
जो भी किया काम निष्कामी, कब उपहार लिया है,
उसका वर्णन इन वर्णोंसे, कब सम्भव ? वंदन है,
ओ ! साहित्यिक संत तुम्हारा, शत-शत अभिनंदन है !

(३)

आज तुम्हारे अभिनन्दनपर, चहुँदिस दिशा सुनाती,
अमर रहो तुम युग-युगांत तक, हे बुंदेली थाती,
घन्य तुम्हारी जीवन-साथी, श्री चमेली बाई—
वह भी साथ प्रकाश दे रही, ज्यों दीपक सँग बाती,
उनको भी कविकी श्रद्धाका बार-बार वंदन है,
ओ ! साहित्यिक संत तुम्हारा शत-शत अभिनंदन है ।

(४)

वैसे तुम इससे ऊँचे हो, यह यश नहीं मरेगा,
इससे बड़ अभिनंदन, कलका कल आ स्वयं करेगा,
फिर भी एक बात मैंने, सुन ली दर्पणके मुखसे
घन्य हो रहा अभिनन्दन खुद अभिनंदन कर मुखसे,
'सरस जैन'की यह सनेह-निधि, रोली है चंदन है,
ओ ! साहित्यिक संत तुम्हारा, शत-शत अभिनंदन है !

अभिनन्दन कर हर्ष महान है ।

पं० बाबूलाल 'फणीश', शास्त्री, एम० ए०, ऊन
विद्वद् श्रेणीमें जिनका, चमक रहा शुभ काम है ।
जैन दर्शनके प्रकाण्ड मनीषि, दरबारीलालका नाम है ॥
सम्बत् उन्नीससौ अड़सठको, पावन बनकर आया ।
आषाढ कृष्ण द्वितीयाका दिन नैनागिरिमें हर्षाया ॥
ज्ञान-दीपकी ज्योति जलाने, 'कोठिया वंश'को चमकाया ।
दिन-दूनी और रात-चौगुनी, जीवन-ज्योतिको दमकाया ॥
खिला 'हजारी' 'चिरोजा' माँ का मुन्दरतम वरदान है ।
विद्वद् श्रेणीमें जिनका, चमक रहा शुभ नाम है ॥

(२)

सादूमल, और स्याद्वादमें, स्याद्वाद-रस पान किया ।
न्यायाचार्य श्री शास्त्राचार्यका, अनुपम तुमने ज्ञान पिया ॥
एम० ए० और पी-एच० डी० करके पद शोभकाम किया ।
निस्वार्थ भावसे जैन धर्मकी, सेवा व्रतका पान किया ॥
काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें चमकाया निज नाम है ।
विद्वद् श्रेणीमें जिनका चमक रहा शुभ नाम है ॥

(३)

वीर विद्यालय, पपीरा, मथुरा शिक्षा दे कमाल किया ।
समन्तभद्र दिल्ली बडौतमें वन प्राचार्य ज्ञान दिया ॥
विश्वविद्यालय काशीमें जब रीडरपदसे चमकाया ।
वीर-सेवा-मंदिरको तुमने कर्मठतासे अपनाया ॥
स्याद्वाद विद्यालयके आप उपधिष्ठाता महान है ।
विद्वद् श्रेणीमें जिनका चमक रहा शुभ नाम है ॥

(४)

प्रमाण-परीक्षा आदि ग्रन्थमें जिनका नाम अमर रहेगा ।
अनेकान्त और स्याद्वादसे दिव्य अलौकिक ज्ञान मिलेगा ॥
जैन संदेश और अनेकान्तका सम्पादन कर कमाल किया ।
महावीरके पथपर चलकर, रत्नत्रय धर्म का शरण लिया ॥
ऐसे परमोपकारी मानवका, आज ऋण समाज महान है ।
विद्वद् रत्न "श्रीदरबारीलाल"का अभिनन्दन कर हर्ष महान है ॥

(५)

न्यायदीपका, आप्तपरीक्षा, सम्पादनका कार्य किया ।
आध्यात्मकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थका अनुवाद किया ॥
वीतराम वाणीसे, जनको धर्माभूत रसपान दिया ।
भारतीय संस्कृतिमें तुमने नये नये नित काम किया ॥
सत शत वर्ष चिरजीवि बन, नत 'फणीश' का ललाम है ।
सरल स्वभावी कोठियाजीको विद्वद् पीढ़ीका प्रणाम है ॥

नाव लगाना पार

पं० धरणेन्द्र कुमार शास्त्री, हटा

कलम मात्र के घनी नहीं वे
बक्ता प्रखर प्रधान
श्रोताजन के हृदय-पटल का
हर लेते अज्ञान ॥१॥
कितने छात्र और संस्थाएँ
करती हैं गुण-गान
जैन जगतका बच्चा, बच्चा
करता है सम्मान ॥२॥

यही भावना जैन जगतकी
छूटे न पतवार
तूफानों से सदा बचाकर
नाव लगाना पार ॥३॥
वीर प्रभू से यही कामना
बढ़े आपका ज्ञान
वर्तमान से अधिक आपको
मिले सदा सम्मान

समता ममता के अनुरंजन कोठिया तुम्हारा है, अभिनन्दन

श्री शशिप्रभा जैन 'शशाङ्क', आरा

जिनवाणी के वरद पुत्र
शत नमन तुम्हें शत शत वन्दन
कोठिया तुम्हारा है अभिनन्दन
जिन मंदिर के दरबारी तुम
लाल तुम्हें करती हूँ वन्दन
कोठिया तुम्हारा है, अभिनन्दन
चरित्र चाँदनी सा चमकाया
चमक दमक से मन धबराया
सदा सादगी को अपनाया
लक्ष्य मनुजता का है पाया
युग युग जियो हमारे भाई
करूँ तुम्हारा अभिनन्दन
शत नमन तुम्हें शत शत वन्दन
कोठिया तुम्हारा है, अभिनन्दन
सात्त्विक जीवन के हो प्यारे
ऋषि मुनि के लाल दुलारे
सहनशीलता गुण को धारे
आत्मोन्नति के पालन हारे
जैन ध्वजा के अग्रदूत
तेरा करती हूँ मैं अर्चन
शत नमन तुम्हें शत शत वन्दन
कोठिया तुम्हारा है अभिनन्दन
जलधि से गंभीर रहे तुम

मृदुल पुष्प पराग हो तुम
स्वच्छ गगन साहित्य के
सत्य सरोज पराग हो तुम
धन्य हुई भारत वसुंधरा
करते हैं तेरा पद वन्दन
शत शत नमन करूँ हे भाई
कोठिया तुम्हारा है अभिनन्दन
कुसुम सी मुस्कान है तेरी
कीर्ति कण कण है महकती
शुद्ध आत्मा की सरलता
सद्गुणों के हार जैसी
धर्ममूर्ति हों चिरायु
करती हूँ तेरा मैं अर्चन
दरबारी जन जन के नन्दन
कोठिया तुम्हारा है अभिनन्दन,
स्वार्थ वृत्ति हृदय से तज
परोपकार कर प्रत्युपकार भज
बन महान पर स्वयं मान तज
ललित कंठ में मधुर वाणी रस
तज विभाव समभाव बनकर
ज्ञान विद्या दान देकर
समता ममता के अनुरंजन
कोठिया तुम्हारा है अभिनन्दन

कोठी वाले कोठिया

● श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन 'सरोज', जावरा

मैं कोठियाजीको कोठीवाला लिखूँ, तो मेरा विनम्र विश्वास है कि उसे न कोठियाजी दुराशय समझेंगे और न उनके मित्र-शिष्य तथा अन्य विज्ञ बन्धु भी मुझे अन्यथा समझेंगे। कोठियाजीने गुणों और कार्योंकी जो कोठी बनाई है वह विश्वमें एक ही है; उसमें अनेक कमरे हैं और उनका यथास्थान उपयोग भी है। उनमेंसे कतिपय उल्लेखनीय कमरोंकी जानकारी पाठक आगे पढ़ेंगे।

(१) शिक्षण-कक्ष—अवस्थाकी दृष्टिसे यह छोटा और पुराना है। पर भावी जीवन-भवनकी नींव ही बना है। सरस्वतीकी अराधना करनेके लिए उन्होंने साहूमल और बनारसमें शिक्षा या सारक्षरता ही प्राप्त नहीं की, बल्कि सरस्वतीके सफल पुत्र कहलानेका भी सौभाग्य प्राप्त किया। इस कक्षकी दीवारोंपर न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, अधिस्तातक अधिकारी स्नातक जैसे शब्द लिखे हैं। इनकी चमक आजके युगमें भले क्षीण हो गई हो पर लगन और निष्ठा, प्रेरणा और चेतनाकी प्रतिमूर्ति तो ये शब्द हैं ही हैं।

(२) अध्यापनका कमरा—लगभग ४५ वर्ष पुराना है। इसकी दीवारोंपर अध्ययन, अनुभव, अभ्यास अनवरत जैसे शब्द लिखे हैं। यह कक्ष अपनेमें पपीरा, मथुरा, सरसावा, देहली, वाराणसीके अनुभवोंको आत्मसात् किए हैं। अनेक सुखद-दुखद मधुर-अमधुर स्मृतियाँ सँजोए हैं। इस कमरेके अधिपति विद्यार्थियोंको विद्या-दानके अतिरिक्त वास्तव्यरस भी उँडेलते रहे हैं। फलतः उनके कतिपय विद्यार्थी उन सदृश ही विद्वान् बनकर धर्म और समाज तथा राष्ट्रकी सेवाका कार्य कर रहे हैं।

(३) समाज-सेवाका कक्ष—अपनी आदान-प्रदानकी कहानी कहता है—इस कक्षका स्वामी एकसे अधिक संस्थाओंसे सम्बद्ध होकर स्वयं एक सजीव संस्था बना है। कहीं अध्यक्ष, कहीं मन्त्री, कहीं उप-अधिष्ठाता, कहीं उपाध्यक्ष; कहीं प्रधानसम्पादक, कहीं सहायक सम्पादक। अपनी सामाजिक सेवाओंके उपलक्ष्यमें कोठियाजीने न्यायालंकार, न्यायवाचस्पति, न्यायरत्नाकर जैसी मानद उपाधि प्राप्त की है। स्वर्णपदक और प्रशस्तिपत्र उनकी कीर्तिकथा कह रहे हैं।

(४) साहित्य-सेवाका जो कमरा है—वह 'एकमेवमद्वितीय ब्रह्म' जैसा है। मेरी दृष्टिमें यह सर्वोपरि शीर्षस्थ है। यहाँ उन्होंने बारह राशियोंसे बारह ग्रन्थ लिखे हैं, उनके इन मानसपुत्रोंने वंश-वृक्ष बढ़ाकर उनको चिरजीवी ही नहीं बनाया, बल्कि सम्मानसूचक प्रशस्तिपत्र व सम्मानित धनराशि भी दिलवाई है। चूँकि कोठियाकी न्याय [दर्शन] में अबाधगति है, इसलिए मुझे लगता है कि चश्मेमें झाँकते उनके नयन-युग्मल संसार-न्याय-निष्ठाकी हा आशा-अपेक्षा रखते हैं।

कोठियाजीकी कोठी चिरस्थायी हो। उनके गुण-कार्य प्रेरणास्पद रहें।

एक निस्पृह विद्वान्

● पं० अमृतलाल जैन शास्त्री, दमोह

कोठियाजीने जैनदर्शन और जैनधर्मकी जो महती प्रभावना अपने लुखों, ग्रन्थों और विश्वविद्यालयोंमें पढ़े गये शोधपत्रों तथा भाषणों द्वारा की है वह उल्लेखनीय है।

जब-जब उनसे मेरी भेंट हुई, तब-तब उनसे मुझे उत्साह मिला। वे जहाँ भी जाते हैं अपनी सौम्य प्रकृति, विद्वत्ता और निस्पृहताकी वहाँ छाप छोड़ आते हैं। चूँकि जिनबिम्बोंकी प्रतिष्ठा आदिके कार्योंमें मैं समाजमें आता जाता हूँ और कोठियाजी भी वहाँ आमन्त्रित रहते हैं। मैंने निकटसे उनकी असाधारण निस्पृहताकी देखा है। और यही कारण है कि समाजपर उनका जादू जैसा प्रभाव पड़ता है।

न्यायाचार्य डॉ० कोठियाका साहित्यिक क्षेत्रमें जैसा उच्चतम स्थान है वैसा ही सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रमें भी है। इन दोनों क्षेत्रोंमें भी उनकी सेवाएँ एवं उपलब्धियाँ कम नहीं हैं।

मैं डॉ० कोठियाजीके दीर्घजीवनकी मंगल-कामना करता हुआ उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धा प्रकट करता हूँ।

आदर्श व्यक्तित्व के धनी

● पं० सत्यधर कुमार सेठी, उज्जैन

दिगम्बर जैन समाज भारतीय समाजोंमें एक आदर्श समाज है, जिसने हमेशा गुणोंकी पूजा की है, किसी व्यक्तिकी नहीं। आज भी इस समाजमें माँ सरस्वतीकी आराधना व सेवा करने वाले अगणित विद्वान् हैं, जिनकी महान् साधनापर हमें गर्व है। विद्वान् ही समाजके दर्पण हैं। जिनके प्रकाशसे सारा समाज प्रकाशित है। ऐसे विद्वानोंके प्रति समाजने हमेशा श्रद्धा और कृतज्ञता प्रदर्शित की है। पिछले वर्षोंमें परमपूज्य एलाचार्य मुनिराज विद्यानंदजी महाराज जैसे महान् संतने विद्वानोंके प्रति जो सम्मानकी भावनायें प्रदर्शित की हैं वे वास्तवमें स्तुत्य और अनुकरणीय हैं। उन्हीं भावनाओसे प्रेरित होकर जैन समाज एक आदर्श व्यक्तित्वके धनी डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके कर-कमलोंमें एक अभिनंदन-ग्रन्थ समर्पित करने जा रहा है। यह एक बहुत बड़ा सोभाग्य है।

माननीय डा० दरबारीलालजी कोठियासे प्रत्यक्ष संपर्क मुझे सिर्फ २-३ बार हुआ है। वे एक आदर्श व्यक्तित्वके धनी हैं। उनका कद बहुत छोटा है। लेकिन उनका लक्ष्य बहुत ऊँचा है। हृदय उनका विशाल है और विचारोंके उदार हैं। उनका रहन-सहन सादा है। वास्तवमें वे कपड़े पहने हुए भी एक त्यागमूर्ति हैं। वे दर्शनशास्त्रके महान् विद्वान् हैं। माँ सरस्वतीके एक मात्र उपासक हैं और यही उनके जीवनकी एकमात्र साधना है। मैं तो यह मानता हूँ कि उन जैसे व्यक्तित्वके धनी विद्वान् जैन समाजमें बहुत कम हैं। मैं स्वयं उनके व्यक्तित्व और विचारोंसे काफी प्रभावित हूँ। इसी लिये इस अभिनंदन जैसे पुनीत अवसरपर उनके चरणोंमें श्रद्धा-सुमन अर्पित करता एवं अपने आपको धन्य मानता हुआ यही कामना करता हूँ कि यह महान् विद्वान् चिरंजीवि रहकर माँ सरस्वतीकी सेनाके लिए अपने षग बढ़ाते हुए यशस्वी बने।

शत-शत वंदन

● प्राचार्य नेमिचन्द्र जैन, खुरई

आचार्य डॉ० दरबारीलालजी कोठिया जैनदर्शन एवं न्यायके एक उद्भट विद्वान् हैं। उनमें सादगी एवं सज्जनता कूट-कूट कर भरी है। वे यशलिप्सासे हमेशा दूर रहते हैं। मनसा, बाचा कर्मणा एक रहने वालोंमें अग्रगण्य है। जैन दर्शन एवं न्यायके ग्रन्थोंपर जो शोधपूर्ण कार्य किया है वह अनुपम एवं अतुलनीय है। जैन समाज उनके कार्योंका ऋण नहीं चुका सकेगा। अभिनन्दनके अवसरपर आ० डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके चरणोंमें मेरा शत-शत वन्दन है।

समयशिल्पी आदर्श साधक

● डॉ० श्रीमती पुष्पलता जैन, नागपुर

खादीकी धवल धोती, कुर्ता और जाकिटके साथ गाँधी टोपी एवं चश्मा लगाए ठिगना पर कसरती गेहूँआ वदन, अहिंसक जूते पहने, सभीसे सुख-दुःखकी बात पूछता, जानकी गरिमा और सरलताकी प्रति-कृतिमें डेँका हंसमुख व्यक्तित्व आपको कहीं दिखे तो समझ लीजिए, यही कोठियाजी हैं। एक साधारण परिवारमें जन्मे इस प्रतिभासम्पन्न कर्मठ व्यक्तित्वने अपने स्वयंके पुरुषार्थसे वह सब अर्जित किया, जो सहज नहीं कहा जा सकता। जीवनके अनेक उतार-चढ़ाव उनके निकष बने, संघर्षोंने उन्हें ठोक बजाकर पक्का किया, गार्हस्थ्यक जीवनकी रिक्तताने उनमें सार्वभौमिक स्नेहसिक्तताको जन्म दिया। यह उनका वैशिष्ट्य है।

उनके प्रथम दर्शन कदाचित् घरपर ही सागरमें हुए, जब वे मेरे पूज्य स्वर्गीय पिताजी श्री कच्छेदी-लालजी फुसकेलेसे मिलने आये थे। उस समय मेरी उम्र मुदिकलसे १२-१३ वर्ष रही होगी। पिताजीने

आपका परिचय कराया। जितना जो कुछ भी उस समय समझ पाई वह इतना ही था कि आप एक उच्च-कोटिके विद्वान् हैं। तबसे परिचय बढ़ता गया। यह परिचय मेरे जीवनसाथी डॉ० भागचन्द्र भास्करके गुरुवर्य होनेके कारण पंडितजीसे अनेक बार मिलनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। गार्हस्थिक क्षेत्रमें प्रवेश करनेपर उनका जो आशीर्वाद मिला था उसे आज भी मैं संजोये रखी हूँ।

पंडितजी एक समय-शिल्पी साधक रहे हैं। समाजके सुदृढीकरणमें उन्होंने जो योगदान दिया है वह अविस्मरणीय रहेगा। मत्भेद और वैमनस्यको सामंजस्य और सोमनस्यके साथ समाप्त करनेकी वर्षाजीकी परम्पराको आपने अच्छी तरह सहेजा है।

पंडितजीका यह निश्चल सौहार्द किसी सीमासे बंधा नहीं है। उनके निकट जो भी आया वह उनका होकर रहा। कहीं भटका भी, तो अंतमें पुनः वापिस आया।

अनेक प्रतिष्ठानोंके जन्मदाता, जीवनदाता, ग्रन्थोंके लेखक, प्रकाशक, अनुशासनबद्ध, निर्लिप्त, साधक कोटियाजी निरामय रहकर शतायु हों, यही शुभ कामना है।

चहुमुखी प्रतिभाके धनी

● श्री प्रताप चन्द्र जैन, आगरा

जनवरी सन् १९७० में अ० भा० जैन साहित्य संसद सेमिनारका जयपुरमें आयोजन किया गया। था। उसमें देशके चोटीके जैन विद्वानोंमें डॉ० कोटियाजी भी थे। आयोजन स्थान था पं० टोडरमल स्मारक भवन।

सेमिनारमें दो दिन तक डाक्टर साहबको देखने-सुननेका सौभाग्य मुझे भी मिला। हमलोग महावीर दिगम्बर जैन हाईस्कूलके गणतन्त्र-समारोहमें, राजस्थान विश्वविद्यालयके दर्शन-विभागकी संगोष्ठीमें और श्री पद्मपुराजीकी यात्रामें भी साथ रहे। उनकी चर्चामें व्यवहारमें कतई मान नहीं था। बड़े ही मिलनसार। आपके पांडित्यपूर्ण तर्कों और विचारोंसे सभी ऐसे प्रभावित थे कि महावीर दिगम्बर जैन नशियाकी सायंकालीन विद्वद् गोष्ठीके अध्यक्ष आप ही मनोनीत किये गये। विद्वानोंकी उस गोष्ठीका संचालन ऐसी कुशलता, योग्यता और विद्वत्तासे किया कि उसमें निग्वार आ गया। जैन दर्शनकी सार्वभौमिकता जैसे गूढ़ और नीरस विषयको ऐसा सरस बना दिया गया कि साधारण श्रोता भी बगैर ऊबे/बोर हुए उसमें तल्लीन हो आनन्द लेते रहे। अपने अध्यक्षीय भाषणमें आपने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया वह बड़ा ही दिशाबोधक व विद्वत्तापूर्ण था। मेरे ऊपर भी गहरी छाप पड़ी आपकी।

आखरी बार आपसे मेरी भेट मुलाकात वाराणसीमें आपके ही निवास-स्थानपर १० मई सन् १९८० को हुई थी। जैसे ही मैं आपके यहाँ पहुँचा, दस सालके अन्तरालके बाद भी, आगरेका नाम लेते ही मुझे पहचाननेमें आपको देर नहीं लगी। बड़ी आत्मीयतासे मिले, बैठिया तथा जलपान कराकर मुझे निहाल किया। बड़ी देरतक हम दोनों इतने अन्तरालकी बीती-बिसरी बातोंपर चर्चा करते रहे। समाजकी वर्तमान गिरती दशा, संस्थाओंकी प्राणहीनता और जैन विद्वानोंकी आपसी खींचतानसे आप बहुत ही क्षुब्ध थे। अवस्था व अवस्थताके कारण आप झटक अवश्य गये थे, फिर भी चेहरेपर तेज था और आलस्यका नाम नहीं था। अपनी आत्मीयताने ऐसा बाँध लिया था मुझे कि हटनेको मेरा मन ही नहीं कर रहा था, फिर भी लौटना तो था ही। लौटा तो मधुर स्मृति लेकर।

इस पुनीत अवसर पर मैं श्रद्धावन्त होकर आपके स्वस्थ, सुखी और निराकुल दीर्घ जीवनकी हृदयसे कामना करता हूँ।

सराहनीय व्यक्तित्व

● श्रीलक्ष्मी चन्द्र जैन, बड़ौत

डॉ० कोठिया सन् १९४७ से १९६० तक दि० जैन कालिज बड़ौतमें प्राध्यापक रहे। मैं उस समय कालिज-प्रबन्ध-कारिणीका मन्त्री था। उनकी सेवाएँ प्राप्त करके प्रबन्धकोंको बहुत हर्ष हुआ और उन्होंने गौरवका अनुभव किया। अध्यापनका कार्य तो कोठियाजीका अति सराहनीय था ही, कालिजके सभी सांस्कृतिक, साहित्यिक और धार्मिक उत्सवोंमें भी वे अग्रणी रहते थे। जैन समाजके स्वाध्यायप्रेमियोंमें भी कोठियाजीका सम्पर्क बराबर बना रहता था और उनके अध्ययनमें भी वे सदा सहायक रहते थे। मैंने तो पटखण्डागमका स्वाध्याय उनकी सहायतासे ही शुरू किया। कालिजका हर व्यक्ति उनके गुणोंसे प्रभावित था और सर्वत्र ही उनकी सराहना होती थी।

मेरी हृदयसे शुभ-कामनाएँ हैं कि उनकी सामाजिक, धार्मिक तथा जैन दर्शनको प्रकाशमें लानेकी सेवाएँ सदैव प्राप्त रहें और उस सेवाके लिए वे सदैव स्वस्थ रहें और दीर्घजीवी हों।

संकल्पकी साकार मूर्ति

● श्री राजेन्द्र पटोरिया पत्रकार, नागपुर

डॉ० कोठिया संकल्पशक्ति, धैर्य व कर्मठताकी साकार मूर्ति हैं। कार्योंके पुलन्देमें व्यस्त मैंने एक ही व्यक्तित्व देखा है, जो कार्योंको निपटाता है, समस्याओंको सुलझाता है व खुशियोंको दोनों हाथ लुटाता है। जो चिन्तनकी घड़ियोंमें, गहन चिन्तन करते हैं, मनन करते हैं, फिर खुद करते हैं, फिर कहते हैं। निपट सीधा-साधा, सरल और सशक्त विचारधारावाला अनूठा व्यक्तित्व डॉ० दरबारीलाल कोठियाजीमें देखनेको मिलता है।

अपने व्यक्तित्व व कलमके धनी डॉ० कोठियाजी जिस निष्ठा व ईमानदारीसे समाजसेवाके कार्यमें लगे हैं वह अविस्मरणीय है। आपका सम्पूर्ण जीवन शुद्ध आचार, विचार और उच्चारसे समन्वित है।

व्यक्तित्वके घनी

● श्री विजयकुमार जैन "भारतीय", कटनी (म० प्र०)

श्री कोठियाजी अपनी कार्य-क्षमता, श्रमशीलता और पाण्डित्यसे जैन-जगतको उन्होंने जो कुछ भी भेंट किया है, उसके प्रति जितनी भी श्रद्धापूर्ण कृतज्ञता प्रकट की जाय थोड़ी है।

भारतकी प्राचीन संस्कृतियोंमेंसे अन्यतम जैन संस्कृतिके साहित्यके ऐतिहासिक, दार्शनिक अनुशीलन-के लिए अपनी कृतियोंके माध्यमसे जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है उनमें श्री कोठियाजीका ऊँचा स्थान है। उनका चिन्तन मौलिक, तल-स्पर्शी और उदार है। हमारी कामना है वे बहुत दिनों तक ज्ञानके द्वारा हमारा मार्गप्रदर्शन करते रहें।

समर्पित विद्वान्

● श्री महावीर प्रसाद जैन, एडवोकेट, हिसार

डॉ० कोठियाजी उच्च कोटिके विद्वान् हैं और उन्होंने जो सेवा समाजकी की है और कर रहे हैं वह जैन इतिहासमें समाजको याद रहेगी। उनके महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं दार्शनिक ग्रन्थ और लेख समाजका मार्ग-दर्शन करते रहें हैं और करते रहेंगे। मैं वीर प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ कि डॉ० कोठियाजी दीर्घायु होकर समाजकी सेवा करते रहें, मेरी उन्हें हृदयसे शुभ-कामना है।

क्षमा और मार्दवके धनी

● श्री महताब सिंह, देहली

डॉक्टर कोठिया आजके युगमें सौम्यता, संभाषणमें मृदुता व सरलता और रहन-सहनमें बिल्कुल सादगी (इतनी सादगी कि कोई कह भी नहीं सकता कि यह इतने बड़े विद्वान् होंगे) तथा पाण्डित्य, सब गुणों-का एक जगह एकात्रित होना बहुत कठिन है और फिर जरा भी मान नहीं, मानों दश धर्मोंमें क्षमा और मार्दवके धनी हैं। मेरेपर डॉक्टर साहबका उपकार भी है। उन्होंने मुझे कुछ दिन धर्म-ज्ञान भी दिया था।

भावना है और भगवान्से प्रार्थना है कि ऐसे विद्वान् समाजमें धर्मकी सेवा चिरजीव होकर करते रहे ताकि धर्मप्रसारण व धर्मवृद्धि होती रहे।

मेरे पूज्य चाचा डॉ० कोठियाजी

● डॉ० महेन्द्र कुमार जैन, सौरई

कोठियाजीने अपने पूर्वजोंकी जन्मभूमि तथा ननिहालके ग्राम सौरईमें जीवनका आरम्भ बिताया और यहीं रहकर आरम्भिक शिक्षा प्राप्त की। कोठियाजीने समाज, धर्म और साहित्यकी सेवामें जो योगदान किया उसने उन्हें यशस्वी बना दिया। आज भी वे ७२ वर्षकी उम्रमें भगवान् सुपाश्वनाथ और भगवान् पार्श्वनाथकी जन्मभूमि काशीमें रहते हुए उक्त तीनोंकी सेवा करनेमें तत्पर हैं। मैंने उन्हें निकटसे देखा कि वे इन कार्योंमें शिथिल या प्रमादी नहीं पाये गये। पूरी कर्तव्यनिष्ठा और निःस्वार्थभावसे उनकी सेवामें लगे रहते हैं। दूसरी बात कोठियाजीमें जो मैंने देखी वह यह कि उन्हें विद्यार्थियोंसे काफी स्नेह है। वे उनकी कठिनाइयोंको जानते हैं क्योंकि उन्होंने स्वयं भी इन कठिनाइयोंको झेला है। वे उन्हें स्वयं अथवा दूसरोंसे छात्रवृत्ति आदि द्वारा सहायता करते रहते हैं। वे छात्रोंको अध्ययनशील, कर्तव्यनिष्ठ, ईमानदार, परिश्रमी और कृतज्ञ बननेकी सदैव प्रेरणा करते हैं।

कोठियाजीमें मैंने एक चीज और देखी वह यह कि उनकी कथनी और करनीमें अन्तर नहीं पाया। वे चाहे विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष रहे हों या वर्णा ग्रन्थमालाके मंत्री रहे हों, या बीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टके मंत्री, सभी पदोंपर रहकर निष्ठासे कार्य किया है और करते हैं। मैं अपनी और अपने परिवारकी ओरसे शुभ-कामनाओं सहित श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ।

कण्ठहरण पण्डितजी

● श्री शीलचन्द मोदी, नरिया, वाराणसी

डॉ० कोठियाजीको दार्शनिक पंडित कहा जाता है। परन्तु उनमें जो विशेषता है वह है दूसरेके कण्ठको अपना कण्ठ समझना और उसके निराकरणमें सहयोग करना। उनकी सबसे बड़ी यही दार्शनिकता है। मैं श्रद्धेय कोठियाजीके प्रति उनके अभिनन्दनके क्षणोंमें अपने श्रद्धा-पुष्प अर्पित करता हुआ उनके दीर्घायुष्ककी कामना करता हूँ।

भावुक गुरुजी

● श्री बाबूलाल जैन फागुल, वाराणसी

आदरणीय कोठियाजी उन इने-गिने लब्धप्रतिष्ठित विद्वानोंमेंसे एक हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिभाके बलपर जैन न्याय, दर्शनका विशाल अध्ययन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं। वे लेखनीके धनी हैं, साथ ही परदुःखकातर भी, तनिक भी आत्मीयता होनेपर वे उसके लिए सब कुछ करनेको उद्यत रहते हैं। भावुक इतने हैं कि हरेककी बात मान लेते हैं। चाहे बादमें पश्चात्ताप क्यों न करना पड़े। यह उनकी महानता है। वे मेरे गुरु हैं। बचपनसे ही मुझे अपार स्नेह मिला है।

ऐसे महान् विद्वान्के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हुआ उनके दीर्घ-जीवनकी कामना करता हूँ ताकि वे निरन्तर साहित्य-साधनामें लीन रहें और हम सबको मार्ग-दर्शन मिलता रहे।

गुण-पारखी विद्वान्

● श्री सुलतान सिंह जैन एम० ए०, शामली

एक स्थलपर अंग्रेजी लेखक स्वेट मार्टनने लिखा है कि 'मनुष्य उतना ही महान् होगा जितना वह अपनी आत्मामें सत्य, त्याग, दया, प्रेम और शक्तिका विकास करेगा।'

विद्वान् स्वेट मार्टनका उक्त कथन न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलाल कोठियाके जीवनपर शत-प्रतिशत घटित होता है। निःसन्देह उनकी आत्मा, सत्य, त्याग, दया, प्रेम एवं शक्तिका एक जीवंत पुंज है। इस बातका अनुभव मैंने सर्वप्रथम लगभग सन् १९५३-५४ के मध्य किया था, जबकि वे समस्तभद्र-महाविद्यालय, दिल्लीमें सेवारत थे और शामलीमें जैन अनाथाश्रम दिल्लीकी एक नाटक-मण्डलीके साथ पधारे थे। उनके निर्देशनमें श्री जैन कन्या पाठशाला (अब इण्टर कॉलेज) शामलीमें एक जैन नाटकका मंचन रात्रिके लगभग ७।। से १० बजे तक सफलतापूर्वक किया गया था। नाटकके मंचनके उपरान्त उन्होंने जिस रोचक, आकर्षक एवं प्रवाहपूर्ण भाषा-शैलीमें अपना प्रसादमयी तथा माधुर्यपूर्ण भाषण दिया था, उसको सुनकर समस्त श्रोतागण आत्म-विभोर हो उठे थे। तभी मेरा और श्री कोठियाजीका प्रथम साक्षात्कार हुआ था।

मैंने अपने प्रथम साक्षात्कारमें मान्यवर कोठियाजीको धोती, कुर्ता और टोपी पहने देखा था, जिससे स्पष्ट विदित हो रहा था कि कोठियाजी 'सादा जीवन और उच्च विचार' की साक्षात् मूर्ति हैं। यही नहीं, सौम्यता उनके मन-वचन और कायसे फूटी पड़ रही थी।

डॉ० दरबारीलालजीसे मेरा द्वितीय साक्षात्कार जुलाई, १९५७ में हुआ था, जबकि मुझको श्री जैन बालाश्रम हॉयर सैकेण्ड्री स्कूल, दरियागंज, दिल्लीमें हिन्दी-प्रवक्ताके पदपर नियुक्तिके लिए साक्षात्कार हेतु आमंत्रित किया गया था। उस दिन जोरदार वर्षा हो रही थी और मैं भीगे वस्त्रोंमें ही वहाँपर पहुँचा था। उस स्कूलके प्रधानाचार्य श्री जे० डी० जैन एवं प्रबंधक श्री महेंद्र कुमार जैनसे मेरा सम्पर्क एवं साक्षात्कार प्रधानाचार्य कार्यालयमें लगभग हो ही रहा था, तभी अनायास पं० दरबारीलालजी भी वहाँ पर आ पहुँचे और मुझे देखकर गद्गद हो उठे और मैं भी हृदयमें फूला न समाया। श्री कोठियाजीने श्रीमान् प्रबंधक महोदय एवं प्रधानाचार्य महोदयसे मेरे द्वारा गद्य-काव्य रचना करने (क्योंकि वहीके मासिक 'जैन प्रचारक' में मेरे कई गद्य-काव्य कई वर्ष पूर्वसे प्रकाशित हो रहे थे), जैनागमके अनुसार विभिन्न विषयोंपर लेख लिखने और न जाने कितनी बातोंमें मेरी प्रशंसाके पुल बाँध दिये। वे दोनों ही अधिकारीगण मुझसे अत्यन्त ही प्रभावित हुए और उनके हृदयोंमें मुझे नियुक्त करनेकी पूर्ण-रूपेण भावना जागृत हो उठी; किन्तु दुर्भाग्यवश मैं स्वीकार न कर सका।

डॉ० कोठियाजीकी वे सब बातें आज भी मुझे रह-रहकर स्मरण हो आती हैं और पश्चात्ताप करता हूँ कि यदि मैं तब श्री कोठियाजीकी बातें स्वीकार कर बालाश्रम स्कूल दिल्लीमें रहना स्वीकार कर लेता तो निश्चय ही मेरा जीवन किसी दूसरी धारामें ही प्रवाहित हुआ होता। श्री कोठियाजी जैसे महान् विद्वान्की छत्रछायामें रहकर अबसे, कहीं अधिक जैन समाज, जैन साहित्य-संस्कृति एवं जैन संस्थाओंकी सेवा कर पाता।

उपर्युक्त दो साक्षात्कारोंके अतिरिक्त मैं श्री कोठियाजीके ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित लेखोंका आद्योपान्त अध्ययन करता रहता हूँ और उनका रसास्वादन कर कोठियाजीकी मन-ही-मन स्मरण करता रहता हूँ। मेरे उन्हें शतशः अभिवादन हैं।

द्रोणगिरिके उत्सवोंमें डॉ० कोठिया

● श्री कमल कुमार जैन, द्रोणगिरि

सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरिका भारतके तीर्थक्षेत्रोंमें विशिष्ट स्थान है। निःस्सन्देह यह पावन तीर्थ बुन्देलखण्डका छोटा सम्मेल-शिखर है। इस पावन भूमिपर दो ऐसे विशाल एवं महत्त्वपूर्ण उत्सव हुये हैं, जिनकी स्मृतियाँ हमेशा बनी रहेंगी। यह सौभाग्यकी बात है कि इन दोनों उत्सवोंमें माननीय डा० दरबारीलालजी कोठिया वाराणसीका सान्निध्य रहा है, जिन्होंने अपने मधुर एवं प्रभावी प्रवचनोंसे उत्सवोंको गौरवान्वित किया है।

भगवान महावीर २५००वाँ निर्वाणोत्सव वर्ष ७४-७५

भगवान महावीरका २५००वाँ निर्वाण-महोत्सव मनानेका सौभाग्य समस्त राष्ट्रको प्राप्त हुआ है। यह उत्सव एक महान् उत्सव था, जो राष्ट्रीय स्तरपर तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर १९७४-७५में एक वर्ष तक विभिन्न कार्यक्रमोंके साथ मनाया गया।

बुन्देलखण्डको मध्यप्रदेश एवं गुजरातके दो धर्मचक्रोंके स्वागतका लाभ मिला। भारतमें वह सौभाग्य द्रोणगिरिको ही प्राप्त हुआ, जहाँ उन धर्मचक्रोंका आगमन एक साथ एक ही समय हुआ। तीन मार्च ७५का वह अविस्मरणीय दिन सिद्धक्षेत्र द्रोणगिरिके इतिहासमें स्वर्णक्षरोमें अंकित रहेगा। इस दिन मध्यप्रदेश एवं गुजरातके धर्मचक्र ८०० तीर्थ यात्रियोंके साथ क्षेत्रपर एक साथ पहुँचे। लगभग २०००० की जनताने अपूर्व उल्लास एवं श्रद्धाके साथ इन धर्मचक्रोंकी अगवानी की। ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसरपर न्यायाचार्य श्रीमान् डा० दरबारीलालजी कोठिया वाराणसीकी उपस्थिति कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। यह आश्चर्यकी बात है कि जिस प्रान्त बुन्देलखण्डको विशेषकर पावनभूमि सिद्धक्षेत्र रेखन्दीगिरि जिला छतरपुरको उनके जन्म देनेका गौरव प्राप्त हो उस प्रान्तकी समाज उनसे अपरिचित हो। परन्तु यह स्वाभाविक है कि बुन्देलखण्डको तो उनके जन्मका ही गौरव मिला। उनका कार्यक्षेत्र तो समस्त भारत रहा। अतः इस प्रांतकी समाजका सम्पर्क उनसे कैसे बनता। उनके द्वारा साहित्यके क्षेत्रमें जो सेवा की गयी है विशेषकर जैन दर्शन एवं जैन न्यायके क्षेत्रमें, वह महत्त्वपूर्ण कार्य है। प्रान्तीय समाज डा० कोठियाजीकी विद्वत्तासे इस उत्सवके माध्यमसे परिचित हुयो, जिसके कारण इनके गम्भीर चिन्तन एवं विद्वत्ताकी अमिट छाप प्रान्तीय समाजपर पड़ी तथा अपने प्रान्तके इस अपरिचित व्यक्तित्वसे परिचित होकर अन्य हो गयी।

४ मार्चको पूज्य क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णोका शताब्दी-समारोह डा० दरबारीलालजी कोठियाकी अध्यक्षतामें सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ।

१९७७ का गजरथ-महोत्सव

इस विशाल गजरथ-महोत्सवके अवसरपर भी माननीय डा० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यने पधारकर जनताको अपने प्रभावक प्रवचनोंसे लाभान्वित किया।

अहिंसा-सम्मेलनमें डा० कोठियाजी

२७ फरवरीको अहिंसा-सम्मेलन था, जिसमें सिख, बौद्ध, वैष्णव, मुस्लिम, सम्प्रदायोंके विद्वानोंके साथ आदरणीय कोठियाजीने अहिंसा विषयपर जो गवेषणापूर्व व्याख्यान दिया उससे सभी श्रोता प्रभावित हुए और इनके गम्भीर चिन्तनकी प्रशंसा की गयी।

२८ फरवरीको तपकल्याणक था। रात्रिमें द्रौण प्रान्तीय नवयुवक-सेवासंघ द्रोणगिरिका अधिवेशन सम्पन्न हुआ। अधिवेशनमें मुख्य अतिथि स्वयं डा० कोठियाजी थे। अधिवेशनमें ही डा० कोठियाजीकी

सामाजिक, साहित्यिक और ज्ञानके क्षेत्रमें की गयी सेवाओंके उपलक्ष्यमें समाजने अपार उल्लासके साथ अभिनन्दन किया, जो अपने आपमें कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण था ।

अभिनन्दनपत्रका समर्पण स्वागताध्यक्ष समाजरत्न श्री महेन्द्रकुमारजी मलैया, सागरने किया । अनेक सामाजिक, शैक्षणिक, सार्वजनिक संस्थाओं एवं समाजके प्रमुख व्यक्तियों द्वारा माल्यार्पण किये जानेके समय डा० कोठियाजी मालाओंसे भरे हुए दिखते थे । तथा अत्यन्त विनम्रतासे उनका मस्तक नम्र था । अपने अभिनन्दनके प्रत्युत्तरमें डा० कोठियाजीके शब्द देखिये—‘आपके द्वारा किये गये इस स्नेहपूर्ण अभिनन्दनके बोझसे मैं अपने आपको अत्यन्त बोझिल अनुभव कर रहा हूँ ।’

‘मैं किन शब्दोंमें आपका आभार स्वीकार करूँ । मैं श्री जिनेन्द्रसे प्रार्थना करता हूँ कि मैं आपकी शुभ-कामनाओंके अनुरूप जिनवाणी और समाजकी सेवामें संलग्न रहूँ ।’

उस समयका वातावरण हर्षोल्लासपूर्ण था ।

१ मार्च ७७ को आयोजित विद्यालयका स्वर्ण-जयन्ती-समारोह

विशाल जैन समुदायके बीच अध्यक्षता करते हुए डा० कोठियाजीने शिक्षाके महत्त्व एवं पूज्य वर्णोंकी महाराजके स्तुत्य योगदानका उल्लेख किया तथा श्री गुरुदत्त दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालयके सफल ५० वर्ष पूर्ण होनेपर प्रसन्नता व्यक्त की और इसके अभ्युत्थान एवं उत्तरोत्तर वृद्धिके लिए कामना करते हुये महाविद्यालयका रूप दिये जानेका विचार समाजके समक्ष रखा । आर्थिक सहयोगकी अपील करते हुए जहाँ अपनी ओरसे (११००) राशिकी घोषणा की, वहाँ कुछ ही क्षणोंमें ५० हजारका चन्दा इकट्ठा हो गया । सरस्वती और लक्ष्मीको, जिनका आपसमें विरोध माना जाता है, एक साथ यदि देखना हो तो डा० कोठियाजीमें देख सकते हैं । महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह सब होते हुये भी अभिमान नहीं है, प्रत्युत उदारताका विशाल हृदय है और दान देनेके लिये विशेषकर छात्रोंके लिये एवं विद्या-मन्दिरोंके लिये तो हमेशा ही आपका हाथ खुला रहता है ।

निश्चित ही डा० कोठियाजी जैसे विद्वान्पर समाजको गर्व है ।

जैसा मैंने उन्हें जाना और पाया

● आचार्य अनन्तप्रसाद, ‘लोकपाल’, गोरखपुर

डा० कोठिया जैन जगतके जाने-माने श्रेष्ठ विद्वान् हैं । मेरे मित्र तो हैं ही । पावानगर निर्वाणक्षेत्र-समितिके अध्यक्ष श्री राय देवेन्द्र प्रसादजीके आमंत्रण एवं अनुरोधपर डा० कोठियाजी यहाँ आए । बड़ी ही घनिष्ठता, सौहार्द एवं स्नेहके साथ हमलोग आपसमें एक दूसरेका अंक भरकर मिले । तबसे हर वर्ष कोठियाजी गोरखपुर आते हैं और हमलोगोंके साथ “पावा” जाते हैं । वहाँ अपने विद्वत्तापूर्ण भाषण एवं संभाषणसे सबका ज्ञान-वर्धन करते हैं ।

कोठियाजी जैन समाजके विश्रुत एवं श्रेष्ठ विद्वान् हैं । आप स्नेही, मृदुल स्वभाव वाले मिलनसार, सात्विक व्यक्ति हैं । इनके जैसा कर्तव्यनिष्ठ, सरल, निर्लोभ और बातके धनी विद्वान् समाजमें बहुत ही कम हैं । इन्होंने पावानगरमें निर्माणके लिए एक हजार रुपयोंका दान भी दिया है तथा वाराणसीमें गरीब विद्यार्थियोंको आर्थिक सहायता देते रहते हैं । जैन विद्वानों और पंडितोंमें यह दानकी प्रवृत्ति महान् गुण है । समाजके सभी पंडित और विद्वान् यदि इस आदर्शका अनुकरण करें तो समाज और देशका महान् भला हो ।

मेरी हार्दिक कामना है कि कोठियाजी पूर्ण आयु पर्यन्त पूर्ण स्वस्थ, निश्चिन्त, संतुष्ट एवं सुखी रहें तथा उनका ज्ञान शुद्ध सम्यक्ज्ञान और शुद्ध आत्मज्ञान होकर उन्हें मोक्षमार्गमें आगे-आगे बढ़ता हुआ अंततः निर्वाण-प्राप्ति करावे । ॐ शान्तिः ।

न्यायाचार्योंमें अन्तिम कड़ी श्री कोठियाजी

● डॉ० कच्छेदीलाल जैन, शहडोल

न्यायाचार्यके उपाधि प्राप्त करनेवाले मेरी जानकारीमें मात्र चार विद्वान् हुए हैं। श्री गणेशप्रसाद वर्णा, श्री पं० माणिकचन्दजी कौन्देय, श्री पं० महेन्द्रकुमारजी एवं श्री पं० दरबारीलालजी कोठिया। इन विद्वानोंकी विशेषता यह है कि इन्होंने इस महत्त्वपूर्ण और दुरूह न्याय-विषयकी उपाधि और विद्वत्ताका उपयोग जैनधर्म, दर्शन और न्यायके क्षेत्रमें इस प्रकार किया, जिससे दर्शन, न्याय और धर्म विषयक ग्रन्थोंके लेखन, सम्पादन, अनुवादका कार्य हुआ।

डा० दरबारीलालजी कोठियाने भी कठिन विषय जैन न्याय एवं दर्शनके लेखन, सम्पादन, प्रकाशनका कार्य किया और अब भी कर रहे हैं।

जिस समय मैंने न्यायप्रथमाकी परीक्षा दी थी तथा विशारदमें न्यायदीपिका, प्रमेयरत्नमाला, आप्त-परीक्षा ग्रन्थ पढ़ता था, उस समय श्री पं० दरबारीलालजी कोठियाकी न्यायदीपिका और आप्तपरीक्षाकी हिन्दी टीकाओंसे न्यायकी परीक्षाकी सरलतासे तैयारी की थी। उक्त ग्रन्थोंकी पक्तियाँ लगानेके लिए श्री कोठियाजीकी टीकाएँ बड़ा सहारा देती थीं।

डा० कोठियाजी उच्च उपाधि प्राप्त विद्वान् होकर भी, छोटी-सी पाठशालामें काम प्रारम्भ करके क्रमशः उन्नति करते हुए विश्वविद्यालयके रीडरपद तक पहुँचे। यह उनके निरन्तर पुरुषार्थ एवं लगनका सुफल है। श्री कोठियाने न्यायके ग्रन्थोंका सरल एवं सुबोध अनुवाद किया तथा उनकी विद्वत्तापूर्ण एवं विस्तृत प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। साथमें मौलिक एवं समीक्षणपद्धतिके ग्रन्थोंका भी प्रणयन किया। 'जैन तर्क-शास्त्रमें अनुमान विचार' और 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' ऐसे ही महनीय ग्रन्थ हैं।

कोठियाजीके बाद किसी जैन विद्वान्ने न्यायाचार्यकी परीक्षा नहीं दी, न संस्थाओंने ही विशेष प्रोत्साहन उसके लिये दिया।

डा० कोठिया न्यायाचार्य-विद्वानोंकी अन्तिम कड़ी हैं। वे चिरायु हों और स्वस्थ रहते हुए सरस्वती-की साधनामें सतत संलग्न रहें, यही हार्दिक भावना है।

वे न्यायाचार्य तो हैं ही, न्यायाधीश भी हैं : एक रोचक संस्मरण

● प्रस्तोता—जी० कोमलचंद मृदुल, अध्यक्ष—प्रतिभा-संगम, खुरई

खुरई नगरमें एक विशुद्ध साहित्यिक प्रतिष्ठान "प्रतिभा-संगम" के श्रुति मधुर नामसे सुसंचालित है। इसके अन्तर्गत बहुधा परिचर्चा-संगोष्ठियाँ आयोजित होती रहती हैं। एक संगोष्ठीमें परिचर्चाका विषय था—“प्रमाण-पत्र और उपाधियाँ”

चूँकि प्रासंगिक विषय अत्यन्त रोचक था, अतएव समस्या स्थापनके समानान्तर ही उनके सटीक एवं सतर्क समाधान भी प्रस्तुत किये जा रहे थे। अन्ततः चर्चा उपाधियों तथा प्रमाण-पत्रोंसे बिछुड़कर व्यक्ति-विशेषोंसे चिपट गई और उसकी परोक्ष सत्ताके केन्द्र-बिन्दु अनायास ही बन गए—

सम्मान्य डा० न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया

बात वैयक्तिक तथा अप्रासंगिक हो रही थी, इसलिए तत्रस्थ विद्यमान विद्वान् पक्षधरोंने उस समय जो भावपूर्ण श्रद्धोद्गार श्रीमान् सम्मान्य डा० कोठियाजीके विषयमें सूत्ररूपेण व्यक्त किये, वे अक्षरशः यहाँ उद्धृत हैं—

“जो व्यक्ति नामों-उपनामों अथवा समाज-शासन प्रदत्त प्रमाणपत्रों एवं विद्योपाधियोंके आडम्बरसे लदे फिरते हैं वे प्रायः आध्यात्मिक नहीं हो पाते। फलतः विद्वत्ता उन्हें ले डूबती है। इस प्रकरणमें प्रातः

स्मरणीय पूज्य वर्णाजी अपवाद स्वरूप हैं ? उनका परोक्ष कटाक्ष स्पष्टतः डा० कोठियाजीपर ही था । हम तो—

“खतका मजमूँ भाँप लेते हैं लिफाफा देखकर” !!

बस फिर क्या था ? तीनों ही उनपर टूट पड़े । बीचमें ही टोकते हुए पं० कमलकुमार शास्त्री ‘कुमुद’ बोल पड़े :—

“न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि बाह्य ज्ञानसे अबद्ध-स्पृष्ट आत्मा कमल-पत्र सदृश जलको किञ्चिन्मात्र भी नहीं छूता ।”

पं० फूलचन्द शास्त्री ‘पुष्पेन्दु’ ने कहा—

‘प्रमाण-ज्ञान अर्थात् प्रामाणिक ज्ञान, सम्यग्ज्ञान ही होता है । द्रव्यदृष्टि प्राप्त करनेके बाद सम्पूर्ण मति-श्रुत ज्ञान समीचीन हो जाता है । प्रमाण-ज्ञान वस्तुका निर्णय करनेमें सद्भूतात्मक व्यावहारिक मर्यादा निभाता है । द्रव्यदृष्टि प्राप्त करनेके पूर्व और पश्चात् भी उसकी उपादेयता बनी ही रहती है ।’

वैद्य बाबूलाल आयुर्वेदशास्त्री बोले—

“डा० कोठियाजी न्यायाचार्य हैं । वे स्याद्वादमुद्राङ्कित सर्वज्ञ-शासनके अधिवक्ता हैं । जब एक सामान्य वकील भी अपनी योग्यतासे न्यायाधीशके पदपर प्रतिष्ठित हो जाता है तो वे आध्यात्मिक क्यों नहीं हो सकते ?”

पं० कमलकुमार शास्त्री ‘कुमुद’ ने कहा—

वीतराग-सर्वज्ञ-हितोपदेशी ही सच्चा न्यायाधीश होता है ।

पं० फूलचन्द शास्त्री ‘पुष्पेन्दु’ बोले—

‘न्यायप्रिय, भेदविज्ञानी, विवेकी, अनुभवी व्यक्तिको ही सम्यग्दृष्टिकी संज्ञा है । हम सब अन्त-रात्मा न्यायाधीश हैं । प्रमाण ज्ञानके न्यायालयमें पर्यायदृष्टिको गौणकर द्रव्यदृष्टिसे देखोगे तो डा० कोठियाजी आपको न्यायाचार्यकी क्षणिकतामें आसीन नहीं; बल्कि न्यायाधीशके आसनपर अधिष्ठित दिखाई देंगे । (प्रतिभा-संगम-परिचर्चा संगोष्ठी डायरीसे उद्धृत) ।’

एक जागरूक व्यक्तित्व

● ब्र० पं० भुवनेन्द्रकुमार वर्णा, शास्त्री, व्रती आश्रम मढ़ियाजी, जबलपुर

शान्त, गम्भीर, प्रसन्नमुद्रा, मुस्कराता चेहरा, मित-मिष्ठभाषी सदा चिन्तनरत, बस, यही एक कोठियाजीका परिचय है । जब भी समाज या विद्वानोंके समूहमें कोठियाजीको पहचानना हो तो उक्त लक्षण देखकर बिना किसी ऊहापोहके आप श्री कोठियाजीको पहचान लेंगे ।

श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार कठोर जैन साहित्य-साधक और महान श्रमशील पुरुष थे और उनकी प्रकृतिका व्यक्ति ही उनके पास निभ सकता था । इस कार्यमें कोठियाजी शत-प्रतिशत खरे उतरे और जबतक वे वीर-सेवा-मन्दिरमें रहे तब तक उन्होंने ईमानदारोंके साथ इस कार्यका निर्वाह किया । चाहे इसके लिये उन्हें सब कुछ त्याग करना पड़ा । उसी आधारपर अन्वेषण कार्यमें आपने अधिकारित्व भी प्राप्त किया । अपनी विद्वत्ता और योग्यताके बलपर काशी विश्वविद्यालयमें जैन-बौद्ध दर्शनके प्रवक्ता व रीडरके पदका कार्य भी निभा सके ।

मुझे स्मरण है कि जब मैं बीना-इटावामें विद्यालयमें अध्यापन-कार्यमें रत था, तो आदरणीय पं० नाथूरामजी प्रेमो बम्बई, वीर-सेवा-मन्दिर सरसावासे लौटते हुए बीना रुके थे । उनसे चर्चके दौरान उस समय प्रेमीजीने भी श्री कोठियाजीकी गंभीरता एवं अनुशासनप्रियताकी प्रशंसा की थी । इसीके फलस्वरूप श्री कोठियाजी मुख्तार सा० के उत्तराधिकारी स्वयं मुख्तार सा० द्वारा घोषित किये गये थे ।

कोठियाजीमें और विद्वानोंकी अपेक्षा यह विशेषता रही है कि उन्होंने जिस कामको भी अपने हाथमें लिया उस कार्यको कितनी ही परेशानी और उलझनोंके आनेपर भी उसे पूरा ही करके छोड़ा। इसी कारण वे न्याय और दर्शन जैसे सूक्ष्म और गहन विषयके कई ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद कर सके। जैन दर्शन इतना गहन और जटिल है कि एक तो उसमें प्रवेश ही कठिनतासे होता है और प्रवेश होनेके अनन्तर भी दत्तचित्त होकर एकाग्रचित्तसे उसका शोधपूर्वक अनुवाद करना एक त्रिकट विलष्ट कार्य है।

कोठियाजीमें एक गुण यह रहा है कि वे समाजके किसी पक्षके वाद-विवादमें नहीं पड़े। निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादानकी विभिन्न स्थानोंपर और जैनपत्रोंमें काफी चर्चायें हुईं किन्तु आप किसी भी पक्ष-विपक्षमें न पड़कर मध्यस्थ रहे।

आपकी अध्यक्षतामें ६-७ वर्षोंमें जैन विद्वत् परिषदने कितनी उन्नति की, यह समाजके सामने है। समाजके सभी वर्गोंके सभी विचारोंके विद्वानोंका एकत्रीकरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। आपने अपनी विचारधाराके अनुसार विद्वत्परिषदको भी समाजके पक्ष-विपक्षके वातावरणमें दूर रखकर ठोस और एक सक्रिय रूप दिया। आपका सदा प्रयत्न रहा है कि हम ऐसे कार्य करें, जिससे समाजमें और विद्वानोंमें विघटन और विखराव न हो।

श्रीगणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाके आप जागरूक और सक्रिय मंत्री रहे हैं। आपने अपने मन्त्रित्वकालमें इस ग्रन्थमालासे कई ग्रन्थोंका प्रकाशन कर ज्ञानका प्रचार-प्रसार किया है। इस कार्यमें कोठियाजीका श्रम-श्लाघनीय है।

शिवपुरीमें हुए विद्वत्परिषद्के अधिवेशनके अध्यक्षके रूपमें आपकी विनम्रता, शान्तता, तटस्थता और धीरताका प्रत्यक्ष परिचय अवलोकन करनेको मिला। पहिले ही दिन चारों ओर घेरे हुए विद्वानोंने निमित्त-उपादान, निश्चय-व्यवहारकी चर्चायें आपके समक्ष प्रस्तुत कर दीं। आपके बगलमें ही सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी बंठे थे। चर्चामें भाग लेने वाले पं० प्रकाश हितैषी दिल्ली, पं० राजमलजी भोपाल, पं० भैयालालजी बीना आदि अनेक विद्वान् थे। उस समय आप पक्ष-विपक्षकी सभी चर्चाओंको शान्तिसे सुनते रहे। अन्तमें नय-विभागको दृष्टिमें रखते हुए बड़ी धीरतासे संक्षेपमें आपने समाधान कर दिया।

अधिवेशनके समय आपके काका पण्डित वंशीधरजी बीनाने अपने भाषणमें कुछ आक्षेपात्मक भाषा द्वारा एक पक्षका समर्थन करनेका प्रयत्न किया, तो उसी समय कोठियाजीने विनम्रतापूर्वक उन्हें इस प्रकारसे बोलनेको रोक दिया। यह आपकी निष्पक्षताका एक अच्छा उदाहरण है। व्यक्ति और घरेलू सम्बन्धकी अपेक्षा आपने समाज-हितका ध्यान सदा पहले रखा।

आपकी प्रतिभा, कर्मठता, जागरूकता, कार्यसंलग्नता आदिके एक नहीं सैकड़ों उदाहरण देखनेको मिले हैं, जिनसे आपके उच्च व्यक्तित्वका परिचय मिलता है। ४५ वर्षसे आप निरन्तर एकचित्त होकर बड़ी लगन और सेवाभावसे जैन संस्कृति, धर्म और समाजकी सेवा कर रहे हैं।

निर्लोभी : डॉ० कोठियाजी

● पं० अजितकुमार जैन शास्त्री, झाँसी

डॉ० कोठियाजीके जीवनसे शिक्षा मिलती है कि विद्वानोंको निर्लोभ वृत्ति जीवनमें अपनाना चाहिये। आप कई वर्षों तक विद्वत् परिषद्के अध्यक्ष पदवर रहे तथा विद्वानोंके प्रति सीहार्दता प्रकट की है। कई संस्थाओंको वर्तमानमें तन, मन, धनसे योगदान कर रहे हैं। आपने वर्णी-ग्रन्थमालाके प्रकाशन एवं प्रचारमें अपना जीवन समर्पण कर दिया। ऐसे विद्वान्का अभिनन्दन करते हुये मैं अपनेको धन्य समझ रहा हूँ। भगवानसे प्रार्थना है कि वह शतम्बु हों।

युग-पुरुषके प्रति

- श्री सुरेश जैन, अवर सचिव, मध्यप्रदेश शासन, भोपाल
श्रीमती विमला जैन न्यायाधीश

भगवान् पार्श्वनाथ एवं वरदत्तादि पंच-ऋषिकी चरण-रजसे पवित्र नैनागिरिजीमें श्रद्धेय कोठियाजी-ने जन्म लेकर सरस्वतीके दरवारमें सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। भारतके इस अद्वितीय विद्वान्-सन्तका अभिनंदन कर हम स्वयंका ही अभिनंदन कर रहे हैं। भारतीय संस्कृति, विशेषतः श्रमण-संस्कृतिके क्षेत्रमें सरलताको इस सौम्य-मूर्तिका अवदान अनुपम एवं अनुकरणीय है। ऐसे ऐतिहासिक क्षणोंमें, जबकि नैनागिरि-में कई युगांतकारी सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिवर्तन घटित हो रहे हैं, हम चाहते हैं कि महामहिम कोठियाजी जैसे युग-पुरुष यहाँ पधारें और इस पृथ्वीला भूमिके नव भाग्य-विधानमें अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका संपन्न करें।

पार्श्व प्रभुसे प्रार्थना है कि माननीय कोठियाजी सहस्र वसंत देखें और अपने लोककल्याणकारी कृतित्व द्वारा हमारे राष्ट्र तथा समाजको उपकृत करें।

प्रेरणा और स्फूर्तिके स्रोत

- श्री सतीश जैन, दिल्ली

डा० दरबारीलाल कोठिया बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् हैं। उन्होंने सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें सेवा की है और क्रान्तिकारी भूमिकाका निर्वाह कर अनेक कीर्तिमान स्थापित किए हैं। आप सामाजिक रूढ़ियोंका विरोध करते हुए धार्मिक अन्ध-विश्वासोंकी सदैव ही आलोचना करते रहे हैं। धर्म, न्याय और आगमके सही और शुद्ध रूपको समाजके सामने रखनेमें आप सदैव अग्रणी रहे हैं। अपनी साधना, त्याग और समर्पित निष्ठासे समाजको उज्ज्वल ज्ञान प्रदान करना आपका जीवन-लक्ष्य रहा है। डॉ० कोठिया प्राचीन परम्पराके ऐसे मूर्धन्य विद्वान् हैं, जिनमें विद्वत्ताके साथ-साथ चारित्र्य-गरिमाका भी सामंजस्य है। समन्वयवादी उदात्त विचारधाराके कुशल बक्ता, न्याय-शास्त्रके विशेषज्ञ एवं दर्शनके यथार्थ अभिव्यञ्जकके रूपमें आपके व्यक्तित्वसे समाज सुपरिचित है ही। वास्तवमें आपका जीवन ही अनेक प्राणियोंके लिए प्रेरणा और स्फूर्तिका आज स्रोत बना हुआ है।

जैन इतिहासमें बीसवीं शताब्दीका इतिहास स्वर्ण-अक्षरोंमें अंकित होगा। इस शताब्दीमें अनेकविध सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक कार्य हुए हैं तथा सामाजिक चेतनाका विकास हुआ है। इन सब कार्योंमें डॉ० दरबारीलाल कोठियाका अपना विशिष्ट स्थान है।

यूं तो आपसे मेरा परिचय काफी समयसे था, परन्तु मुझे आपके साथ निकटतासे कार्य करनेका अवसर उस समय मिला, जब आप बीसवीं शताब्दीके प्रथम सिद्धान्तचक्रवर्ती एलाचार्य श्री विद्यानन्द मुनि जीके पास डॉ० नेमीचन्द्र ज्योतिषाचार्य कृत 'भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा'के विमोचनके सम्बन्धमें विचार-विमर्श करने आए थे। उस समयसे अब तक मुझे निरन्तर डॉ० कोठियाजीसे स्नेह, आशीर्वाद और मार्गदर्शन मिलता रहा है, जिसके लिए मैं उनका हृदयसे आभार मानता हूँ।

धर्मपरायण, कर्मनिष्ठ, सज्जन-शिरोमणि, और परोपकारी डॉ० दरबारीलाल कोठिया वास्तवमें अभिनन्दनके सुपात्र हैं।

उनका आदर्श मेरा प्रेरणास्रोत

● डॉ० रमेशचन्द्र जैन, विजयनौर

वर्ष १९६२ ई० के मई मासकी बात है। मेरे परमपूज्य बाबाजीको मेरी मैट्रिक तथा पूर्वमध्यमाकी पढ़ाई सम्पन्न हो जानेपर इसकी चिन्ता थी कि वे मुझे आगे पढ़नेके लिए कहीं भेजें। इसी बीच आदरणीय कोठियाजीका मड़ावरा आगमन हुआ। पंडितजी सौंरई जा रहे थे। बातचीतके मध्य उन्होंने भेरी बनारस जानेकी इच्छाका पूर्ण समर्थन किया और मेरे पितामहको पूरी तरहसे आश्वस्त कर दिया कि वे हर प्रकारका मार्गदर्शन मुझे देते रहेंगे। पूज्य पितामहजी उनके सौहार्दपूर्ण वचनोंके कारण मुझे बनारस भेजनेके लिए तैयार हो गए। पूज्य पंडितजीने स्याद्धाद महाविद्यालयके गृहपति श्रीमान् पं० पद्मचन्द्र शास्त्रीको एक पत्र भी लिख दिया। बनारससे प्रवेश फार्म आ गया। मुझे बनारस बुला लिया गया।

बनारसमें स्याद्धाद महाविद्यालयमें रहते हुए प्रायः मेरा पंडितजीके यहाँ जाना होता और पंडितजीका स्नेहपूर्ण संलाप होता एवं पंडितजीकी धर्मपत्नीजीसे मातृवत् स्नेह मिलता।

आदरणीय पंडित कोठियाजी मानवोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं। उदारता उनका विशेष गुण है।

उनका आदर्श निरन्तर मेरा प्रेरणास्रोत रहा है। उनके अभिनन्दनके अवसरपर मैं उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हुआ उनके चिरायुष्यकी मंगल-कामना करता हूँ।

विद्वद् विभूति

● पं० बालचन्द्र शास्त्री काव्यतीर्थ, नवापारा-राजिम

जैन-समाजमें जो प्रकांड विद्वान् हैं, उनमें डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यका प्रमुख स्थान है। आप जैन जगतके प्रकाशस्तम्भ हैं, और बुन्देलखण्डकी विभूति हैं तथा समग्र जैन समाजके देदीप्यमान नक्षत्र हैं।

आपने जो समाजकी सेवाएँ की हैं वे किसीसे छिपी नहीं हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें प्रवक्ता एवं रीडरके पदपर रहकर जैन, अजैन छात्रों तथा अन्य लोगोंको जैनधर्म और जैनदर्शनके प्रति आकर्षित कर वहाँ उनका आश्चर्यजनक प्रभाव अंकित किया है।

शिवपुरीमें हुए विद्वत्परिषद्के अधिवेशनके अध्यक्ष पदसे आपने जो महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था, वह आज भी मेरे मनपर प्रभाव किये हुए है। उसमें आपने विद्वानोंकी आर्थिक चिन्ता व्यक्त करके समाजसे अनुरोध किया था कि उन्हें समाजमें बराबर सम्मान मिले, और समाजसेवाके उपलक्ष्यमें आर्थिक कठिनाई न होने पावे। कम-से-कम प्रत्येक विद्वान्को ५०० रुपया वेतन मिलना ही चाहिये। विद्वानोंकी आर्थिक स्थितिके सुधारके लिए मैंने यह सर्वप्रथम आवाज सुनी थी। इस आवाजसे उन्होंने समाजको प्रेरित किया। समाजके विकास और जागरणके लिए डॉ० कोठियाजीकी चिन्ताको अनेक बार देखा। वे यत्र तत्र सर्वत्र समाजके प्रत्येक क्षेत्रमें पहुँचकर अपने प्रभावी भाषणों द्वारा समाजको प्रोत्साहित करते हैं। निर्धन वर्गको ऊँचा उठानेके लिए वास्तव्यकी आवश्यकतापर भी बल देते हैं।

समाज तथा विद्वानोंकी चिन्ता करनेवाले ऐसे सारस्वतके प्रति हम जितना भी सम्मान प्रकट करें, थोड़ा है। उनके इस अभिनन्दनके अवसरपर मैं उनके दीर्घ जीवनकी कामना करता हुआ श्री वीरप्रभुसे प्रार्थना करता हूँ कि डॉ० कोठियाजी समाज और साहित्यकी चिरकाल तक सेवा करते हुए यशस्वी जीवन बितायें।

जैन-दर्शनके अप्रतिम विद्वान्

● पं० गरीबदास जैन, कटनी

श्री कोठियाजी उच्च श्रेणीके विचारशील विद्वान् है। आपने कितने ही संस्कृत तथा प्राकृत ग्रन्थोंका गम्भीर अध्ययन करके उनके महत्त्वको प्रकट कर जैन साहित्यकी महान सेवा की है। पंडितजीकी शैली स्पष्ट है, निश्चय दृढ़ है और चरित्र उच्च है। अपने शिष्योंके लिए उज्ज्वल आदर्श हैं।

अपनी कुशलता और अविश्रान्त परिश्रमशीलतासे उन्होंने जैन साहित्य-जगतको अपनी अनुपम कृतियाँ भेंट की हैं। ऐसे आदर्श समाज-सेवी और समाज-हितैषी व्यक्तिके सम्मानमें प्रकाश्य अभिनन्दन ग्रन्थके समर्पण-क्षणोंमें उन्हें मेरी हार्दिक मंगल-कामनाएँ हैं।

पंडितजीके अनुरूप ही पंडितानीजी

● श्रीमती सुभद्रा जैन, टीकमगढ़

बहुत दिनोंसे श्रद्धेय पं० दरबारीलालजी कोठिया वाराणसीका नाम सुन रहा था। एक बार मेरे पतिदेव (पं० कमलकुमारजी शास्त्री) पपीराजीके किसी कार्यसे बनारस गये थे। जब वे लौटकर आये तो मैंने बनारसके समाचार पूछते हुए कहा कि वहाँ आप किन-किनसे मिले। इसी प्रसङ्गमें उन्होंने एक घटना सुनाई कि शामको जब हम भदौनीके मन्दिरमें दर्शन कर रहा था तो वहीं श्रद्धेय दरबारीलालजी मुझे मिल गये। कुशलक्षेम पूछनेके बाद बोले—बाई कमलकुमार घरपर आना और सुनो, कल भोजन घरपर ही करना। मैंने स्वीकारता दे दी। वे बोले कितने बजे आओगे। मैंने १० बजेका समय दे दिया। दूसरे दिन मैं नहा-धोकर १० अजे पंडितजीके घर पहुँच गया। दीपावलीका समय था। बाईजी (अ०प० पं० दरबारीलालजी) सफाईके कार्योंमें व्यस्त थीं। मैं पंडितजीके पास बँठ गया और चर्चा करने लगा। बैठे-बैठे २ घण्टे हो गया। १२ बज गये। भोजनकी कोई तैयारी नहीं। अन्तमें मैंने ही कहा कि मैं भोजन करूँगा। कल आपने निमन्त्रण कर दिया था। मैं आ गया। तब याद आया पंडितजीको, वह उठे और बाईजीसे बोले कि अरे सुनो तो, कल मैंने इन्हें भोजनके लिए कह दिया था। मैं तुमसे कहना ही भूल गया। बेचारी घबड़ाई जल्दी स्नान किया और भोजन बनानेमें जुट गयीं। पश्चात् हम और पण्डितजी भोजनको बँठे, बाईजी मुस्कराती जातीं और भोजन परोस रही थी। हँसकर बोली—आजका निमन्त्रण कैसा रहा। मैंने कहा आजके भोजनमें जो आनन्द आ रहा है वह शायद भी कभी आये। पण्डितजी भी हँस पड़े। जब मैंने अपने पतिदेवसे यह कहानी सुनी तो मैं बोली कि—‘पण्डितानी पण्डितजीसे नाराज क्यों नहीं हुई कि पहले क्यों नहीं बताया कि मैं निमन्त्रण कर आया हूँ।’ मेरे पति बोले कि—‘बाई जी तुम जैसी या अन्य महिलाओं जैसी थोड़ी है कि जरा सी बातको लेकर नाराज हो जावें। वे बड़ी गम्भीर, प्रसन्नचित्त एवं मृदु स्वभावी हैं। वे कभी नाराज होना जानती ही नहीं। दोनों प्राणी बड़े प्रेमी एवं स्नेही हैं।’

इसके बाद श्री सिद्धक्षेत्र अहारजीके वार्षिक मेलेके अवसरपर महिला-सम्मेलन हुआ और उसकी संयोजिका मुझे बनाया गया। अध्यक्षा नियुक्त हुई श्रीमती पं० चमेली बाईजी अ० प० पं० दरबारीलालजी कोठिया वाराणसी। तब साक्षात् उनके दर्शन हुए। श्रद्धेय पं० दरबारीलालजी एवं उनकी सहधर्मिणी वास्तवमें उनके अनुरूप ही हैं। बड़ा सरल स्वभाव, वात्सल्यपूर्ण हृदय, हास्ययुक्त मुख-मूद्रा एवं प्रसन्नचित्त दोनों प्राणियोंका एक-सा व्यवहार देखनेकी मिला।

आज पण्डितजीके अभिनन्दन-समारोहपर मुझे अपार प्रसन्नता है मैं आपके और आपकी सहधर्मिणीके दीर्घ जीवनकी मंगल-कामना करती हूँ।

डॉ. कोठिया पूर्ण पुरुषायुष प्राप्त करें

● डॉ. गणेशीलाल सुधार, जोधपुर वि० वि०, जोधपुर

भारतीय न्यायशास्त्रका विद्यार्थी होनेके कारण मैं अपने स्नातकोत्तर अध्ययनकालसे ही जैनतर्कशास्त्रके सुप्रतिष्ठित विद्वान् न्यायाचार्य डॉ. दरबारीलालजी कोठियाके नामसे परिचित रहा हूँ। इस वर्ष सितम्बर-अक्टूबरमें विश्वविद्यालय अनुदान आयोगकी सहायतासे सागर-विश्वविद्यालय (म. प्र.) के संस्कृतविभाग द्वारा आयोजित 'अखिलभारतीय उच्चस्तर न्यायदर्शनप्रशिक्षणसत्र' में डॉ. कोठियाजीके प्रथम दर्शन और उनके साथ विचार-विमर्श करनेका अवसर प्राप्त हुआ। उनके उसमें 'अनुमान' पर दो महत्वपूर्ण व्याख्यान सुननेका सौभाग्य भी मिला।

न्यायाचार्य डॉ. कोठियाजी पूर्ण पुरुषायुष प्राप्त करें, उनके अभिनन्दन ग्रन्थ-समर्पणके अवसरपर मेरी हृदयसे शुभ कामना है कि इनके कृतित्व और सुदीर्घ साधनासे तर्करसिक विद्वानोंको सामान्यतया भारतीय न्यायशास्त्र में और विशेषतः जैनतर्कशास्त्रमें अवगाहन करनेके लिये अवश्य ही प्रेरणा प्राप्त होगी।

छात्रोंके प्रति उदारभाव

● डॉ० सनतकुमार जैन, जयपुर

परमश्रद्धेय न्यायाचार्य डाक्टर पं० कोठियाजीकी लेखनशैली, साहित्य-सेवा एवं धार्मिक आस्थासे तो सर्व समाज परिचित ही है। इसके साथ-साथ उनकी सहज उदारतासे जैन व जैनेतर समाज भली-भाँति प्रभावित है। इसी उदारतासे ओत-प्रोत पंडितजीकी शिष्य परम्परा देश-विदेशमें पथभ्रष्टोंको मार्ग-दर्शनका कार्य कर रही है।

ज्ञान और दयाके धनी पंडितजीके पास नित्य नये ज्ञान-पिपासु और अर्थ-पिपासु छात्र आते हैं और पंडितजी अपनी सहज उदारता और स्नेहसे उन्हें यथोचित लाभ प्रदान करते हैं। पंडितजीकी सहज उदारताके वे दृश्य मुझे कभी नहीं भूलते, जिन्हें प्रत्यक्ष मैंने देखा है। इनका गार्हस्थ्य जीवन सादा और सौम्य है। सचमुच ग्रन्थोक्त चतुर्थकालके प्रत्यक्ष सद्गृहस्थ हैं। इस सुअवसरपर मैं अपनी हार्दिक मंगल कामनोंको व्यक्त करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विद्वत्ताका सही उपयोग

● श्री कपूरचन्द्र वरैया, लखनऊ

न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने साहित्य एवं समाजकी जो सेवाएँ की हैं वह अविस्मरणीय हैं। उन्हें समाज कथमपि भुला नहीं सकता।

डॉ० कोठियाजी एक हँसमुख, सरल व सौम्य स्वभावके व्यक्ति हैं। जो एक बार आपके सम्पर्कमें आ जाता है वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

जब पूज्य क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीका चातुर्मास ग्वालियर क्षेत्रमें हुआ, उस समय विद्वत्-सम्मेलनमें कोठियाजीका भी नगरागमन हुआ, तब अपरोक्ष दर्शनका सौभाग्य हमें मिला। सम्मेलनकी कार्यवाही चलाने एवं उसके दिशा-निर्देशनमें आपका योगदान सराहनीय था।

विद्वान् होना कदाचित् सरल है, पर उस विद्वत्ताका उपयोग विरल है। विद्वान् होनेके साथ २ विद्वानोंकी कद्र करना भी आप जानते हैं। स्व० डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्यकी कृति 'तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा' के सम्पादन, प्रकाशन तथा अर्थ-संग्रहमें आपको पर्याप्त परिश्रम करना पड़ा, यह आपकी निस्पृह भावनाका प्रतीक है।

आप दीर्घायु हों तथा स्वास्थ्य-लाभ करते हुये इसी प्रकार जैन समाज व संस्कृतिकी सेवामें अग्रणी रहें, यह कामना है।

द्वितीय खण्ड

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

कुलदीपक कोठियाजी

श्री दुलीचन्द्र जैन, बीना

डॉ० दरबारीलाल कोठियाका जन्म विक्रम संवत् १९६८ में आषाढ कृष्ण द्वितीयाके दिन नैनागिर (म० प्र०) में हुआ था। उनके पितामहका नाम भुकुन्दलाल था। वे सार्विक प्रकृतिके सीधे-साधे सद्गृहस्थ थे। उनकी सुन्दर हस्तलिपि आकर्षक थी। उनके द्वारा लिखी गई पूजा स्तुति आदिकी पोथियाँ सोरईके जिन-मन्दिरमें देखी गई हैं। उनके क्रमसे ये चार पुत्र हुए।

१. पहले पुत्रका नाम कारेलाल था। उनके हरप्रसाद नामका एक पुत्र हुआ। हरप्रसादकी उम्र लगभग ३-४ वर्ष की रही होगी कि थोड़े समयके अन्तरसे प्रथमतः माताका और तत्पश्चात् पिताका भी स्वर्गवास हो गया। वर्तमानमें वह पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यके पास बीनामें हैं। अवस्था लगभग ६५ वर्ष की है।

२. दूसरे पुत्रका नाम हजारीलाल था। हजारीलालजी शरीरसे सुन्दर, स्वस्थ, धर्मानुरागी व शिक्षा प्रेमी थे। व्यवित्तव उनका आकर्षक था। उनके दरबारीलाल नामका एक ही पुत्र हुआ। हजारीलालजीकी गणना तात्कालिक पण्डितोंमें की जाती थी। उनके धार्मिक संस्कार बालकके उपर पड़े। उन्होंने बेटेको बहुत लाड-प्यारसे रखा। वे जिनमन्दिरमें जब दर्शन-पूजादिके लिये जाते तो बालकको साथ ले जाते। उनकी आन्तरिक भावना बालकको सुशिक्षित, धार्मिक व लोकप्रतिष्ठित आदर्श पुत्रके रूपमें देखनेकी रही। पर दैवको यह इष्ट नहीं था। बालककी उम्र लगभग ६ वर्ष की ही थी कि वे वि० संवत् १९७४ के कार्तिक मासमें कालके ग्रास बन गये। हृदयमें अंकुरित उनके वे सब मनोरथ हृदयमें ही रह गये। स्वर्गवासके समय उनकी अवस्था केवल ३२ वर्षकी थी। कुछ समयके पश्चात् बालक माताके प्यारसे भी वंचित हो गया।

ऐसी अनिर्वचनीय असहाय अवस्थामें बालकको स्नेहके वश उसके मामा सिधई मोहनलालजी अपने घर सोरई (ललितपुर) ग्राममें ले गये। वहाँ उन्होंने उसे बड़े लाड-प्यारसे रखा और उसकी प्राथमिक शिक्षा वहींके प्राइमरी स्कूलमें सम्पन्न कराई।

३. तीसरे पुत्रका नाम छतारेलाल था। वि० संवत् १९७५ के कार्तिक मासमें समस्त भारत को व्याप्त करने वाली एक भयंकर बीमारी फैली थी। इस संक्रामक बीमारीसे भारतका कोई भी नगर व ग्राम प्रायः अछूता नहीं रहा था। इस बीमारीमें होनहार पुत्र छतारेलालका लगभग १६ वर्षकी अवस्थामें निधन हो गया था।

४. चौथे पुत्रका नाम वंशीधर है, जो उच्च कोटिका विद्वान्, व्याकरणाचार्य, वर्तमानमें बीनामें प्रतिष्ठित है। इनकी उम्र १३ वर्षकी थी, जब उनकी माता राधादेवीका भी स्वर्गवास उसी बीमारीमें हो गया था, जिसमें कुछ ही दिन पूर्व उनके पुत्र छतारेलालका स्वर्गवास हुआ था।

शिक्षा

यह पहले कहा जा चुका है कि धर्मपर आस्था रखने वाले स्वर्गीय पिताके द्वारा आरोपित धार्मिक संस्कार बालकके हृदय पर अंकुरित होने लगे थे। तदनुसार बालकने प्राथमिक शिक्षाको सोरईमें समाप्त कर

उच्च शिक्षा प्राप्त करनेकी भावनासे अपनी आन्तरिक अभिलाषा अपने स्नेही मामासे प्रगट की। मामा स्नेहके वश बालकको कहीं बाहर नहीं भेजना चाहते थे। पर अन्त में बालककी प्रबल इच्छाको देखकर उसके कोमल हृदयको ठेस न पहुँचे, इस सद्भावनासे उन्होंने उसे अन्यत्र कहीं दूर न भेजकर पास ही सादूमल, ललितपुरके महावीर जैन विद्यालयमें भरती करा दिया। सादूमल सोरईसे लगभग ६ मील दूर है। इस विद्यालयमें प्रविष्ट होकर दरबारीलालने ई० सन् १९२७-३० तक वहाँ अध्ययन करते हुए विशारद प्रथम खण्ड तक शिक्षा प्राप्त की। साथ ही क्वींस कालेज (वर्तमानमें सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) बनारस की प्रथमा और कलकत्ताकी व्याकरण प्रथमा भी उत्तीर्ण कर ली।

अब तो दरबारीलालकी वह उच्च कोटिके विद्वान् बननेकी भावना प्रबल हो उठी थी। इससे वे मामासे अनुनय-विनयपूर्वक अनुज्ञा लेकर जुलाई १९३० में बनारस जाकर वहाँ स्याद्वाद महाविद्यालयमें प्रविष्ट हो गये। वहाँ अध्ययन करते हुए वे सन् १९३७ तक बनारस रहे। वहाँसे उन्होंने शेष विशारद, सिद्धान्तशास्त्री, नव्यन्याय मध्यमा, प्राचीनन्यायशास्त्री, दि० जैन न्यायतीर्थ, न्यायाचार्यका प्रथम खण्ड और जैन दर्शनमें शास्त्राचार्यके प्रथम व द्वितीय खण्ड भी उत्तीर्ण कर लिये। कार्यक्षेत्रमें प्रवेशहेतु योग्य आदर्श विद्वान् बननेकी उक्त भावनाको हृदयंगम करते हुए कुछ कार्य करना भी ठीक समझा। तदनुसार वे बनारस छोड़कर वीर विद्यालय पपीरा (टीकमगढ़) में अध्यापन कार्य करने लगे। इस विद्यालयमें उन्होंने १९३७-४० तक अध्यापनकार्य किया। इस बीच उनका स्वयंका शेष अध्ययन भी अविश्रान्त चलता रहा। फलस्वरूप उन्होंने सन् १९४० में सम्पूर्ण न्यायाचार्यकी परीक्षा उत्तीर्ण कर ली।

पश्चात् वे पपीरासे मथुरा चले गये और वहाँ अगस्त १९४० से अप्रैल १९४२ तक ऋषभ ब्रह्म-चर्याश्रममें प्रधानाचार्यके पदपर प्रतिष्ठित रहे।

इसके बाद वे सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तारके मार्गदर्शनमें अनुसंधान व साहित्यिक संशोधनकार्य करनेकी इच्छासे वीर-सेवा-मन्दिर सरसावा (सहारनपुर) चले गये। वहाँ वे अप्रैल १९४२-५० तक इस कार्यमें संलग्न रहे। इस बीच उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण शोधनिबन्ध लिखे, जो यथासमय अनेकान्त और जैनसिद्धान्त भास्कर आदि जैसे शोधपत्रिकाओंमें प्रकाशित होते रहे। तथा न्यायीपिका, आप्त-परीक्षा आदि कई ग्रन्थोंका आधुनिक पद्धतिसे सम्पादन एवं हिन्दी रूपान्तर किया, जो वीर-सेवा-मन्दिरसे प्रकाशित हुए।

तदन्तर वे दिल्लीके समन्तभद्र संस्कृत-विद्यालयमें प्राचार्यके पदपर चले गये। वहाँ कार्य करते हुए उन्होंने कितने ही छात्रोंको प्रोत्साहित कर उन्हें सुशिक्षित किया व न्यायतीर्थ जैसी ऊँची परीक्षायेँ दिलायीं। इसपद पर वे वहाँ जून १९५० से नवम्बर १९५७ तक कार्य करते रहे। इस बीच उन्होंने सन् १९५५ में शास्त्राचार्य और १९५७में एम० ए० की परीक्षा भी पास कर ली।

इसके बाद वे दि० जैन कालेज बड़ौत (मेरठ) में संस्कृतके प्राध्यापक होकर वहाँ चले गये और वहाँ १६ नवम्बर सन् १९५७से ३० अगस्त १९६० तक रहे।

तत्पश्चात् वे काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसीमें जैन दर्शनके प्राध्यापक नियुक्त हुए। इस पदपर वे ३१ अगस्त १९६०से २७ अगस्त १९६९ तक प्रतिष्ठित रहे। बादमें वहाँपर पदोन्नति होकर वे जैन-बौद्ध दर्शनके आचार्य (रीडर) हो गये। इस पद पर वे २८ अगस्त १९६९से ८ जुलाई १९७४ तक कार्यरत रहे। अन्तमें सेवानिवृत्त होकर उन्होंने फिर कहीं अन्यत्र कुछ कार्य करना उचित नहीं समझा।

ई० सन् १९६९में उन्होंने 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार' शीर्षक शोध-प्रबन्ध लिखकर काशी विश्वविद्यालयसे सम्मानजनक पी-एच० डी० की उपाधि भी प्राप्त की है। यह महत्वपूर्ण शोध-प्रबन्ध वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्टसे प्रकाशित हो चुका है।

कोठियाके रूपमें प्रसिद्धि

गोलापूर्व जातिमें ५७ गोत्रोंके अन्तर्गत एक कोठिया नामका गोत्र है। जिस प्रकार अनेक लोगोंके नामोंके साथ उनके गोत्रका—जैसे गोयलीय, गर्ग, संगल, मित्तल, गंगवाल, कासलीवाल आदिका उल्लेख रहता है, उसी प्रकार डॉ० दरबारीलालजीको भी अपने नामके साथ गोत्रका उल्लेख करना अभीष्ट दिखा। तदनुसार वे अपने नामके आगे कोठिया लिखते हैं। उनकी प्रसिद्धि नामकी अपेक्षा भी कहीं कोठियाके रूपमें अधिक हुई है। यद्यपि इस गोत्रके कई परिवार हैं, जो भिन्न-भिन्न स्थानोंमें रहते हैं फिर भी उससे डॉ० दरबारीलालजीको ही अधिक जाना जाता है, यह उनका उपनाम बन गया है।

गृहस्थ-जीवन

डॉ० दरबारीलालजी कोठियाका विवाह छिदवाड़ा (म० प्र०) निवासी स्व० बाबू खुशालचन्द्रजीकी द्वितीय पुत्री चमेलीदेवीके साथ १ मई १९३६को सम्पन्न हुआ था। बाबू खुशालचन्द्र पटोरिया प्रतिष्ठित सरकारी ऑक्काररी ऑफिसर रहे हैं, समाजमें भी उन्होंने अच्छी प्रतिष्ठा पायी। उनके ज्येष्ठ पुत्र बाबू रतनचन्द्रजी पटोरिया असिस्टेंट कमिश्नर रहे हैं। वर्तमानमें वे सेवानिवृत्त होकर दुर्ग (म० प्र०) में रह रहे हैं। उनके पुत्र भी डॉक्टर, इंजीनियर आदि होकर विभिन्न स्थानों पर कार्यरत हैं।

डॉ० कोठियाकी धर्मपत्नी सौ० चमेली देवीने तीन संतानोंको जन्म दिया, पर वे अधिक समय जीवित नहीं रहीं, कुछ महीनोंमें ही स्वर्गस्थ हो गयीं। संतानके न होने पर भी वे अन्य बच्चोंसे अपनी संतानकी अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं। उन्हें उसके लिए कभी क्लेशका अनुभव नहीं हुआ। पति-पत्नीकी वृत्ति भी अधिक उदारतापूर्ण है।

वाराणसीमें उनका निजी मकान है। उसमें ऊपर वे स्वयं रहते हैं व नीचेका भाग किराये पर दिये हुए है। इस किरायेकी आयके साथ पेंशनके रूपमें जो प्राप्त होता है उसीपर प्रसन्नतापूर्वक अपना कार्य चलाते हैं। इतना ही नहीं, जब वे सेवानिरत थे तब भी वे अनेक होमहार विद्यार्थियोंको छात्रवृत्तिके रूपमें तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं—जैसे तीर्थक्षेत्र कमेटी आदि—को सहायता करते रहे हैं, पर अब जब सीमित आय रह गयी है तब भी वे उसमेंसे कुछ न कुछ देते ही रहते हैं। प्रसन्नताकी बात यह है कि सौ० चमेली देवीकी भी वृत्ति उसी प्रकारकी है। वे सुशिक्षिता धार्मिक महिला हैं। धर्मपर दोनोंकी आस्था है, सीधा-सादा निश्चल जीवन है, लोकदिखावा कुछ नहीं है। यही कारण है जो वे अब तक दानके रूपमें लगभग ३०, ३५ हजार दे चुके हैं।

समाज-सेवा

सामाजिक कार्योंमें उनका महत्वपूर्ण योगदान रहता है। इसके लिए वे समय और अपने स्वास्थ्यकी ओर भी ध्यान नहीं देते। विविध प्रकारके सामाजिक कार्योंमें भाग लेनेके लिए वे बाहर जाते ही रहते हैं। ऐसे कार्योंमें समय और शक्तिका व्यय करते हुए उन्होंने उनके उपलक्षमें कभी किसी भी प्रकारकी भेंट नहीं ली। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वहाँ जाकर अपनी ओरसे कुछ दानके रूपमें देकर ही आते हैं।

संस्था-संचालनकी अद्भुत क्षमता

उन्होंने अनेक सार्वजनिक संस्थाओंके उत्तरदायित्वको स्वीकार कर उसका निर्वाह बड़ी लगन और कुशलताके साथ किया है। जैसे—

१. **वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी**—यह लोकोपकारी साहित्यिक संस्था सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता स्व० आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारके द्वारा स्थापित की गई थी। मेरे पीछे भी इस संस्थाके द्वारा इतिहास व साहित्य संशोधनका महत्वपूर्ण कार्य बराबर चलता रहे, इस विचारसे उन्होंने सन् १९६०में अपना उत्तराधिकारी धर्मपुत्रके रूपमें डा० कोठियाने बनाया था। प्रसन्नताकी बात है कि उन्होंने उसका निर्वाह बड़ी कुशलतापूर्वक किया है, कर रहे हैं। इस ट्रस्टसे अब तक महत्वपूर्ण २२ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

२. **वर्णा जैन ग्रन्थ-माला**—इस संस्थाके मंत्री रहते हुए डा० दरबारीलालजीने उसे काफ़ी समुन्नत किया है। अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थोंका प्रकाशन इस ग्रन्थमालासे किया तथा कुछके द्वितीय, तृतीय संस्करण भी निकाले।

३. **दि० जैन विद्वत्परिषद्**—डा० कोठियाने अपने अध्यक्षताकालमें इस संस्थाकी महान सेवा की है। भगवान महावीरके २५०० वें निर्वाण-महोत्सवके समय परिषद्की कार्यकारिणीने 'तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' नामक ग्रन्थके प्रकाशनका निर्णय किया था। निर्णय तो सहजमें कर लिया गया, पर इतने विशाल ग्रन्थके लेखन व उसके प्रकाशनके लिए उपयुक्त अर्थका संग्रह कहाँसे किस प्रकार होगा, यह यह कठिन समस्या बन गयी थी। प्रसन्नताकी बात है कि उसके लेखनकार्यका दायित्व स्व० डा० नेमीचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य, आरा (तत्कालीन अध्यक्ष) ने अपने ऊपर ले लिया। उसके निर्वाहके लिए जो उन्होंने लगभग ४—५ वर्ष अथक परिश्रम किया है वह आश्चर्यजनक व स्तुत्य है। उनकी संलग्नता व अविश्रान्त परिश्रमके कारण वह महान ग्रन्थ तैयार हो गया। किन्तु खेद है कि उसके प्रकाशित होनेके पूर्व ही वे काल-कवलित हो गये व अपनी उस कृतिको प्रकाशित रूपमें नहीं देख सके।

उधर दूसरी समस्या उसके लिये पर्याप्त धनके संग्रहकी थी। कारण यह कि विद्वत्परिषद्के पास तो इतना पैसा नहीं था कि जिसके आश्रयसे इतने विशाल ग्रन्थका मुद्रणदि कार्य सम्पन्न किया जा सके। तब डा० कोठियाने सबको आदवस्त करते हुए उसके लिये अपनी कमर कसी। इसके लिये उन्होंने कितने ही नगरों और ग्रामोंमें जाकर १००, ५० व २५ आदि प्रतियोंके अग्रिम ग्राहक बनाये। इस तरह मुद्रण आदिकी कष्टसाध्य आर्थिक-समस्याओंको हलकर उसके प्रफ़ूरीडिंग, सम्पादन आदि कितने ही अन्य कार्योंको भी निःस्पृह भावसे उन्होंने स्वयं किया।

इस प्रकार लगनशील इन दो महानुभावोंकी तत्परता और अविश्रान्त परिश्रमसे वह विशाल ग्रन्थ आकर्षक रूपमें और चार भागोंमें प्रकाशित हो गया।

इसके अतिरिक्त परिषद्के अध्यक्ष रहते हुए उसके अन्तर्गत एक फण्ड स्थापित कर उसके लिए उन्होंने महावीर-विद्यानिधिके नामसे कुछ अर्थका संग्रह किया, जिसके माध्यमसे प्रति वर्ष २-४ छात्रोंको छात्रवृत्ति या विद्वानोंको सहायता दी जा रही है। इस प्रकार अनेक महत्वपूर्ण कार्योंको करके उन्होंने विद्वत्परिषद्की चिरस्मरणीय सेवा की है।

इन तीन संस्थाओंकी सेवाके साथ उन्होंने अन्य भी कितनी ही संस्थाओंकी किसी न किसी रूपमें उल्लेखनीय सेवा की है व आज भी कर रहे हैं। यथा—४. स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, उपअधिष्ठाता, ५. वर्णा संस्थान, वाराणसी (मन्त्री), ६. दि० जैन अयोध्या तीर्थक्षेत्र कमेटी (उपाध्यक्ष), ७. विहार प्रान्तीय तीर्थक्षेत्र कमेटी (सदस्य), ८. प्राकृत जैन शोध संस्थान, वैशाली (सदस्य), ९. जैन समाज, काशी (उपाध्यक्ष), १०. सन्मति जैन निकेतन, वाराणसी (उपाध्यक्ष), ११. महावीर निर्वाण भूमि पावानगर उपाध्यक्ष, जैन सन्देश मथुरा (सह सम्पादक) अनेकान्त, दिल्ली (सहसम्पादक) और जैन प्रचारक दिल्ली (सम्पादक) आदि।

सम्मान

डॉ० कोठियाने जो उल्लेखनीय समाज, साहित्य व धर्मकी सेवा की है उसके उपलक्ष्यमें उनका कई संस्थाओंके द्वारा सम्मान किया गया है। यथा—

१. वीर निर्वाण भारती, नई दिल्लीके द्वारा उन्हें 'न्यायालंकार' इस मानद उपाधिके साथ २५०० के पुरस्कारपूर्वक स्वर्णपदक व प्रशस्तिपत्र (१९७४)।

२. अखिल भारतीय भगवान् महावीर २५०० निर्वाण-महोत्सव-महासमिति द्वारा उन्हें स्वर्णपदक व प्रशस्तिपत्र (१९७४)।

३. मूडविट्टी दक्षिण (कर्नाटक) द्वारा न्यायरत्नाकर उपाधिपूर्वक अभिनन्दनपत्र (१९७५)।

४. द्रोणगिरि (म० प्र०) द्वारा न्यायवाचस्पति उपाधिके साथ मानपत्र (१९७७)।

५. उत्तर प्रदेश शासन द्वारा प्रमाणपरीक्षा ग्रन्थपर उन्हें १००० रु० के पुरस्कार पूर्वक प्रशस्तिपत्र १९७९ दिया गया। इनके अतिरिक्त समय-समयपर जैन समाज हटा, टीकमगढ़, घोरा, दि० जैन नया मन्दिर शास्त्र-सभा, धर्मपुरा, दिल्ली, जैन सभा दरियागंज, दिल्ली, दि० जैन समाज, मदनगंज, किशनगढ़ और दि० जैन समाज कानपुर आदिके द्वारा भी उन्हें मानपत्र देकर सम्मानित किया गया है।

१५. ग्रन्थ-सम्पादन व अनुवाद

१. अध्यात्मकमलमार्तण्ड, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा (१९४४)।

२. न्यायदीपिका (वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा (१९४५)।

३. आप्तपरीक्षा " " (१९४९)।

४. श्रीपुरपाश्वर्ननाथस्तोत्र " " (१९४९)।

५. शासनचतुस्त्रिशिका " " (१९४९)।

६. स्याद्वादसिद्धि, माणिकचन्द जैन ग्रंथमाला (१९५०)।

७. प्राकृतपद्यानुक्रम (वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा (१९५०)।

८. प्रमाणप्रेमयकलिका, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (१९६१)।

९. समाधिमरणोत्साह दीपक (वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी (१९६४)।

१०. द्रव्यसंग्रह (ग्र० वर्षी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी (१९६६)।

११. जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार (वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी (१९६९)।

१२. प्रमाणपरीक्षा, (वीर-सेवा-मंदिर ट्रस्ट, वाराणसी (१९७७)।

१३. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, वीर-सेवा-मंदिर-ट्रस्ट -वाराणसी (१९८०)।

इनके अतिरिक्त देवागमस्तोत्र—आप्तमीमांसा व युक्त्यनुशासन जैसे ग्रंथोंपर विस्तृत एवं शोधपूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखीं। समय-समयपर शान्तिनिकेतन, पूना, जयपुर, जबलपुर, सागर आदिके विश्वविद्यालयोंमें आयोजित संगोष्ठियोंमें शोध निबंध पढ़े व व्याख्यान दिये हैं।

इस प्रकार डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके द्वारा जो सेवा की गई है व की जा रही है उसका क्षेत्र शिक्षा, समाज, धर्म व साहित्य आदिके रूपमें व्यापक है।



नीर-छीरके समीकरणमें निर्भय श्वेत मराल !

आशुकवि श्री कल्याणकुमार जैन 'शशि', रामपुर

१

न्याय-नीति मानस्तम्भों के दृढतम मूलाधार ।
विविध माध्यमों द्वारा संस्कृति नैया के पतवार ॥
सेवा, शिक्षा, धर्मवृद्धि के, हरे वृक्ष फलदार ।
नयी चेतना, नई प्रगति के, कर्मठ पहरेदार ॥

शत अभिनन्दनीय जीवन, बहु चर्चित उन्नत-भाल ।
डाक्टर न्यायाचार्य कोठिया, श्री दरबारी लाल ॥

२

धर्मोन्नति, समाज उन्नति के, किये निरन्तर काम ।
ऐसे सारभूत जीवन, कब पाते हैं विश्राम ॥
यह तब ही सम्भव है जब हो, अपना सुख नीलाम ।
जो यह हृदयङ्गम न कर सके, रहे सदा नाकाम ॥

धरती को ऊर्जा देती है चलती हुई कुदाल ।
डाक्टर न्यायाचार्य कोठिया श्री दरबारीलाल ॥

३

सर्वाङ्गीण सफलता के, जीवन भर किये उपाय ।
रहे विवादों से सदैव ही, निर्विवाद निरुपाय ॥
पास न आने दिया पतित, उत्पीड़क मान कषाय ।
मनोयोग से सदा समर्पित, रहे समाज-हिताय ॥

जिज्ञासा को पथ देती, यह जलती हुई मशाल ।
डाक्टर न्यायाचार्य कोठिया श्री दरबारी लाल ॥

४

सर्वमान्य सर्वत्र आपकी, विद्वत्ता मय छाप ।
मुमुक्षुओं के लिये आपकी, पथ-प्रदर्शक पगचाप ॥
मधुर स्मृति को लीक बनाते, बौद्धिक कार्य-कलाप ।
तर्काश्रित प्रशस्त वाणी में, कहीं न रञ्च प्रलाप ॥

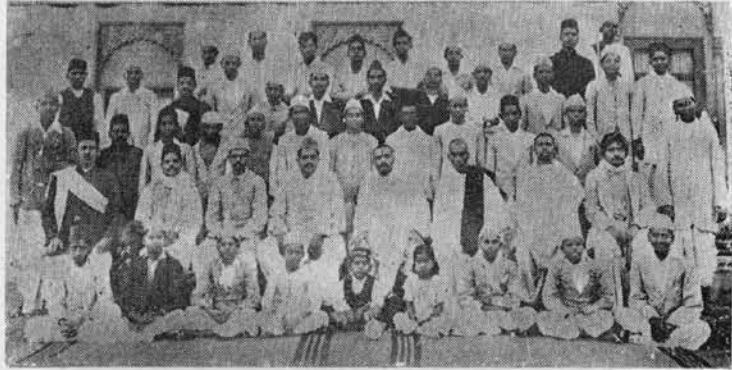
नीर छीर के समीकरण में निर्भय श्वेत मराल ।
डाक्टर न्यायाचार्य कोठिया श्री दरबारी लाल ॥

■

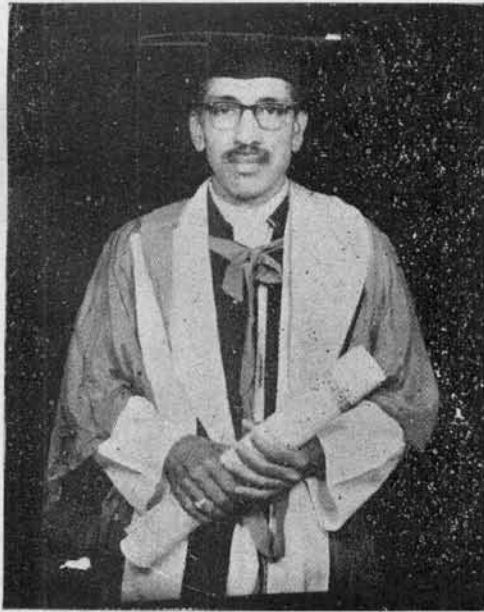
न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके जीवनकी
चित्रमय-झांकी



छात्रावस्था, १९३०



सन् १९३४ में लिया गया स्याद्वाद महाविद्यालयके अध्यापकों, छात्रों और अधिकारियोंका चित्र । बायीं ओर तृतीय पंक्तिमें पुस्तक लिये हुए तथा काला कोट और काली टोपी एवं तिलक लगाये हुए तृतीय स्थानपर कोठियाजी खड़े हुए हैं ।



काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके दीक्षान्त-समारोह १९५७ में एम.ए. की उपाधि ग्रहण करनेके बाद श्री कोठियाजी



डॉ० कोठिया 'जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र'-परिशीलन ग्रन्थकी पाण्डुलिपि तैयार करनेमें व्यस्त



डॉ० दरबारीलाल कोठिया एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चमेली बाई कोठिया



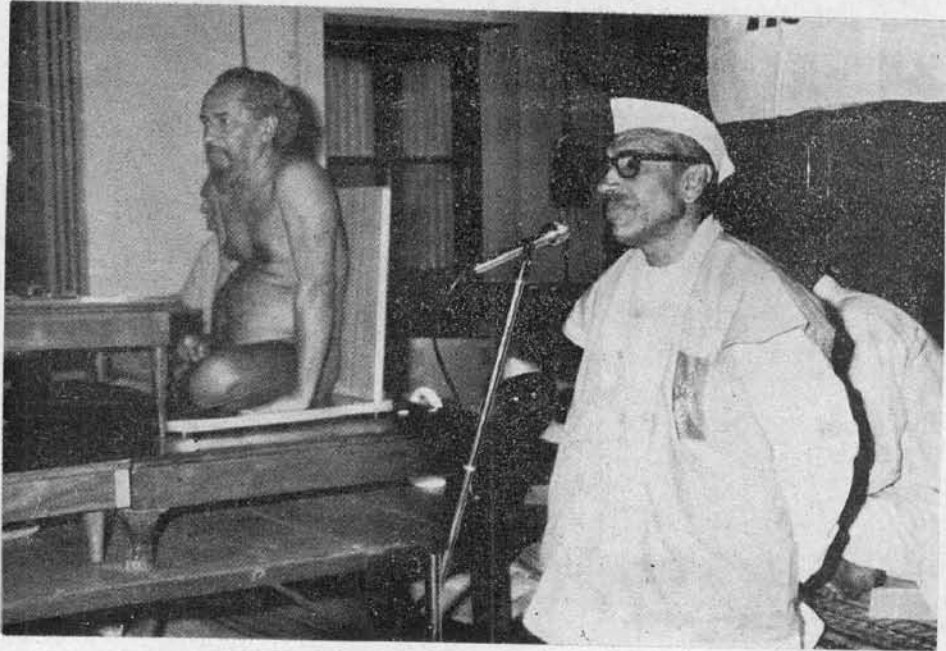
सन् १९३७ में लिया गया श्रीकोठियाजी का चित्र, श्रीकोठियाजीके पीछे उनकी ध.प. श्रीमती चमेली बाई खड़ी हुई है। तथा उनके साले श्री कोमल चन्दजी जैन वकील इन्दौर अपने परिवारके साथ हैं और कोठियाजीकी जिठसस (पत्नीकी बड़ी बहन) श्रीमती सिधेन चम्पाबाई अपने पुत्र चि० सि० जीवनकुमार सागर भी हैं। कोठियाजी स्काउटकी ड्रैसमें हैं।



१९६५ में अपने गृह-प्रवेशके समय डॉ० कोठिया सपत्नीक अपने अनन्य सखा डॉ० नेमीचन्द्रजी और उनकी धर्मपत्नी तथा उनके सुपुत्रके साथ



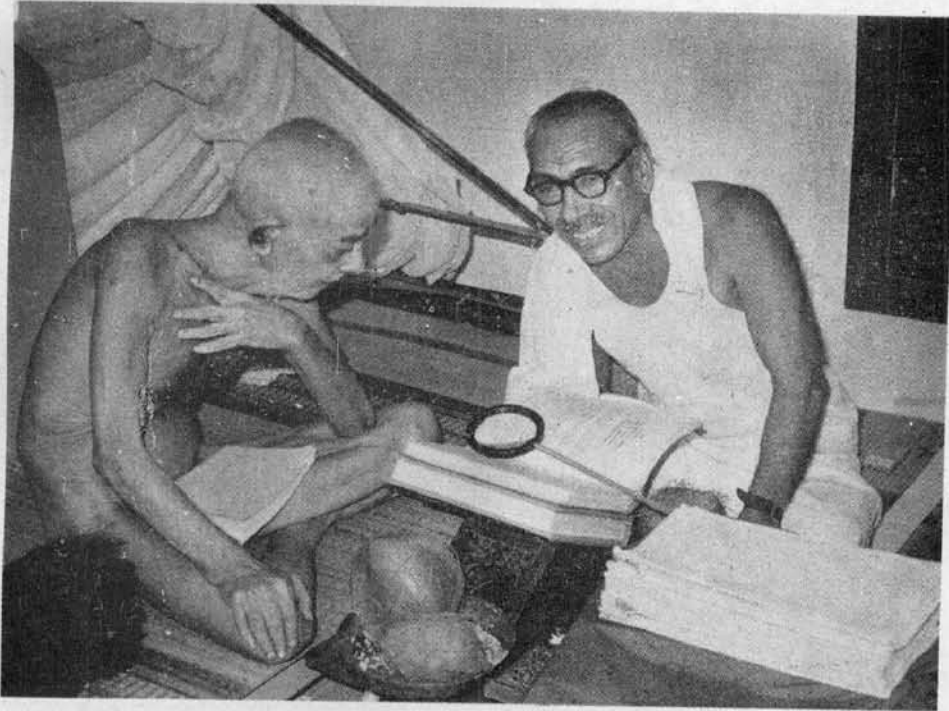
तारणतरण-जयन्ती समारोहपर सागरमें लिया गया चित्र । ऊपर आर्यनन्दी महाराज तथा तक्रियासे टिके हुए श्री कोठियाजी । उनकी दायीं ओर प्रो० के० डी० बाजपेयी तथा बायीं ओर पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री तथा सेठ भगवानदास जी ।



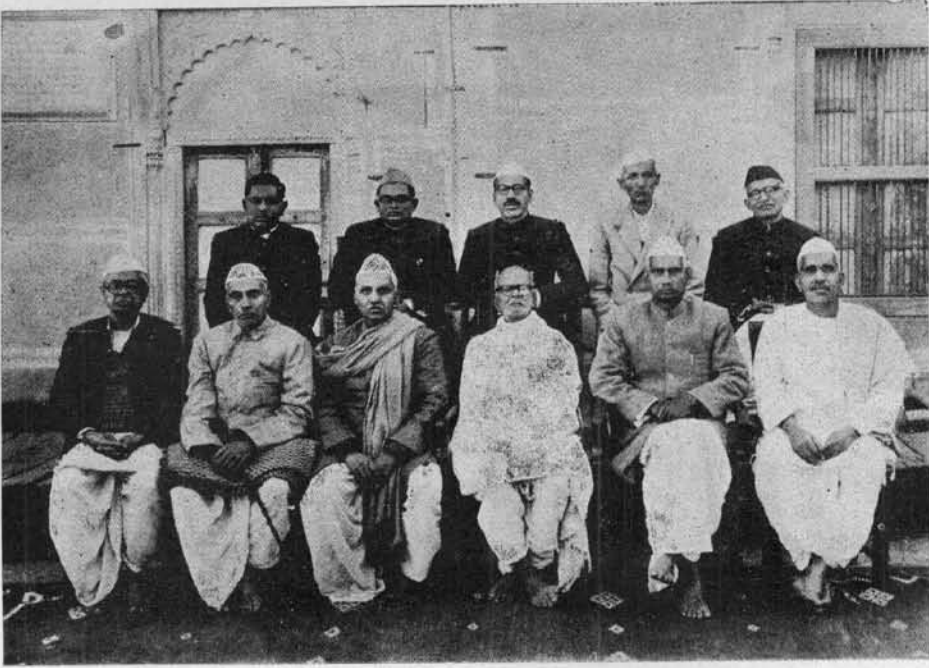
पूज्य उपाध्याय मुनि विद्यानन्दजी के तत्त्वावधान में २०-१०-७४ को वीर-निर्वाण भारती द्वारा आयोजित पुरस्कार-समारोह में डॉ० कोठिया अपने सम्मानके उपलक्ष्यमें आभार प्रकट करते एवं धन्यवाद देते हुए



श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र कुण्डलगिरि (कोनीजी) में दि० २१ से २५ फर० १९८२ में आयोजित पंचकल्याणकोत्सवके अवसरपर आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज से तत्त्वचर्चा के उपरान्त डॉ० दरबारीलाल कोठियाको आशीर्वाद दे रहे हैं ।



परम पूज्य आ० समन्तभद्र महाराज बाहुबलीको डॉ० कोठियाजी ग्रन्थ संपादनमें उपयुक्त दुर्लभ प्रतियोंके सम्पादनमें होने वाली कठिनाइयोंको बता रहे हैं ।



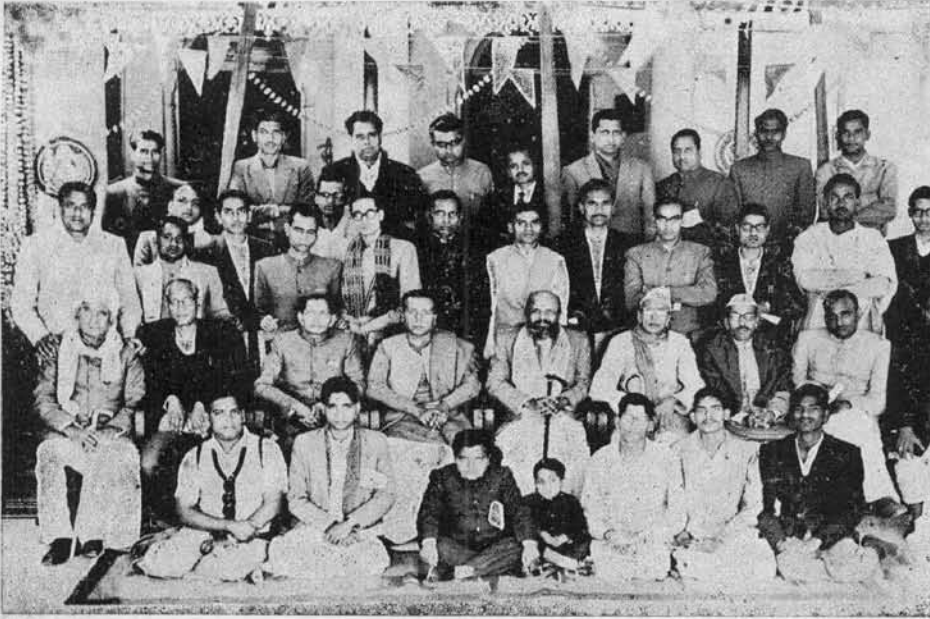
श्री भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्की कार्यकारिणी तथा श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमाला-समिति की वाराणसी-बैठकोंमें सम्मिलित सदस्यगणके साथ डॉ० कोठिया १९६५-६६ ।



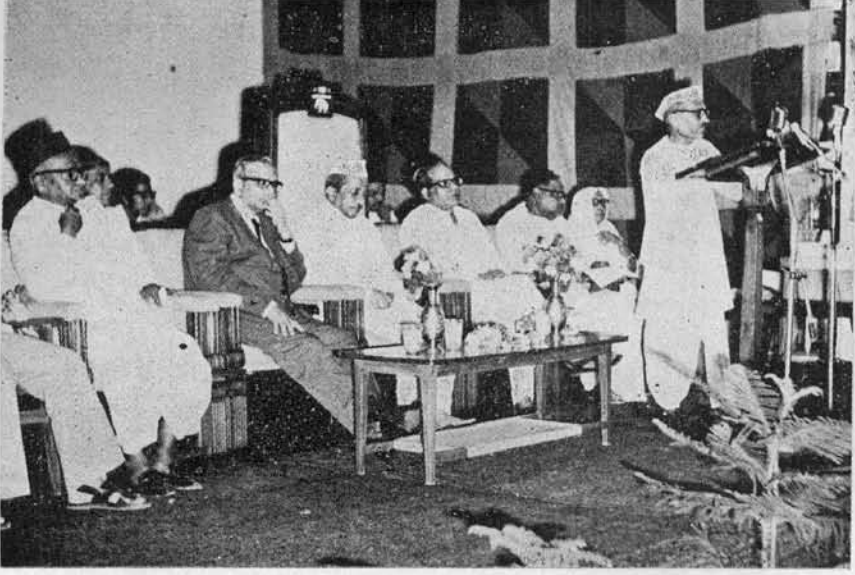
२ फरवरी '७५ को दिल्लीमें संपन्न विमोचन-समारोह पर विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष डा० दरबारीलाल कोठिया उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्तीको 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा' ग्रन्थके चार खण्डोंका सेट भेंट करते हुए



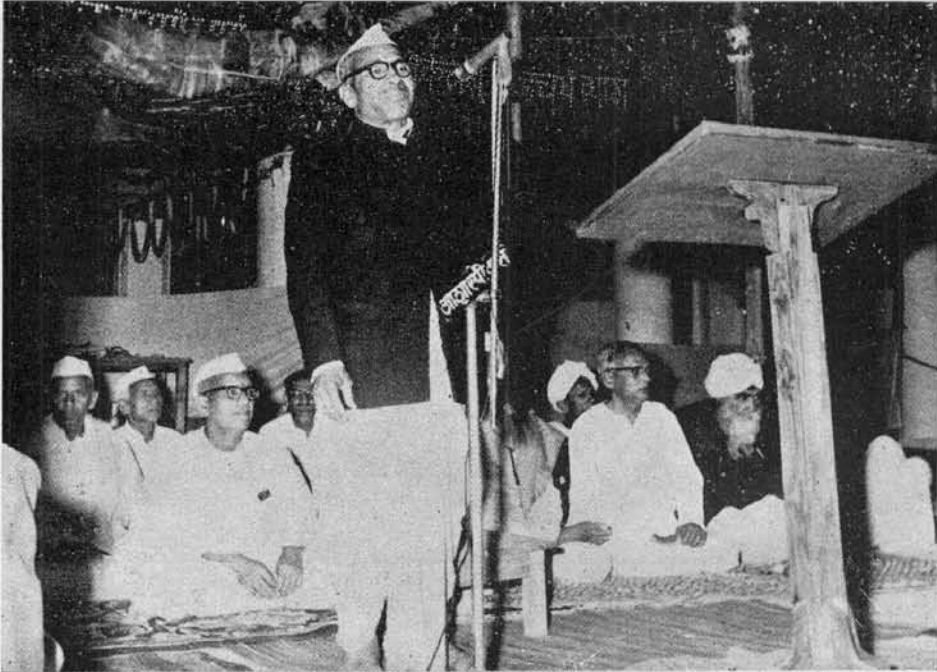
सन् १९५१ में समन्तभद्र विद्यालय दिल्लीके अध्यापकों तथा अधिकारियोंके साथ श्री कोठियाजी । चित्र में श्री कोठियाजी प्राचार्यके रूपमें प्रथम पंक्तिमें कुर्सी पर बैठे दायी ओरसे द्वितीय स्थानपर दिखाई दे रहे हैं । संस्थापक-स्व० लाला मुंशीलालजी मध्यमें हैं ।



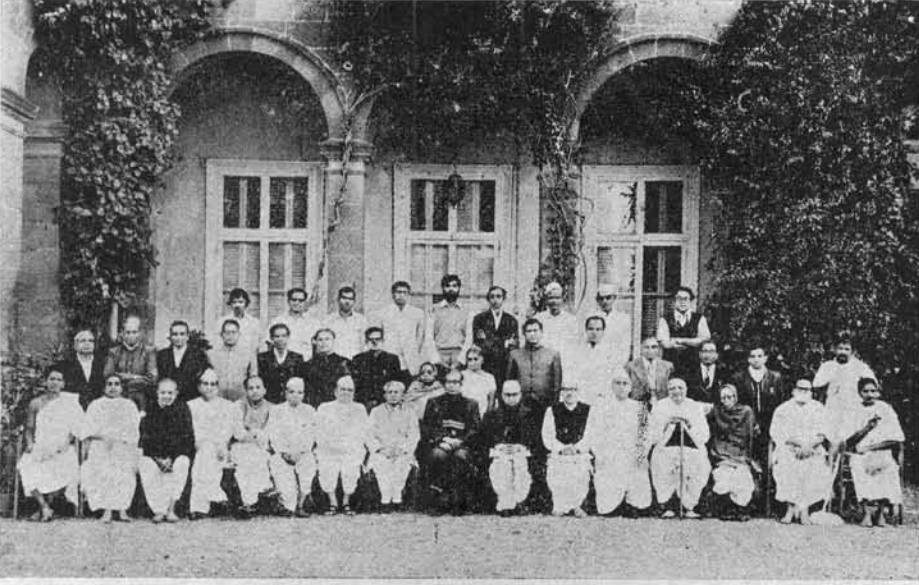
आरा (बिहार) में सन् १९६५ में स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री द्वारा आयोजित भारतीय जैन साहित्य-संसद के वार्षिक अधिवेशनपर लिया गया चित्र । चित्रमें दायी ओरसे तृतीय स्थान पर साल भोढ़े श्री कोठिया जी



दिल्ली विश्वविद्यालयमें आयोजित राजकृष्ण जैन व्याख्यानमालामें उपराष्ट्रपति
 वी० डी० जत्ती एवं कुलपति दिल्ली विश्वविद्यालय
 डॉ० कोठिया आरम्भिक भाषण कर रहे हैं ।



द्रोणगिरि-गजरथमें-२७ फरवरी, १९७७ को अहिंसा-सम्मेलन में बोलते हुए डॉ० कोठिया जी



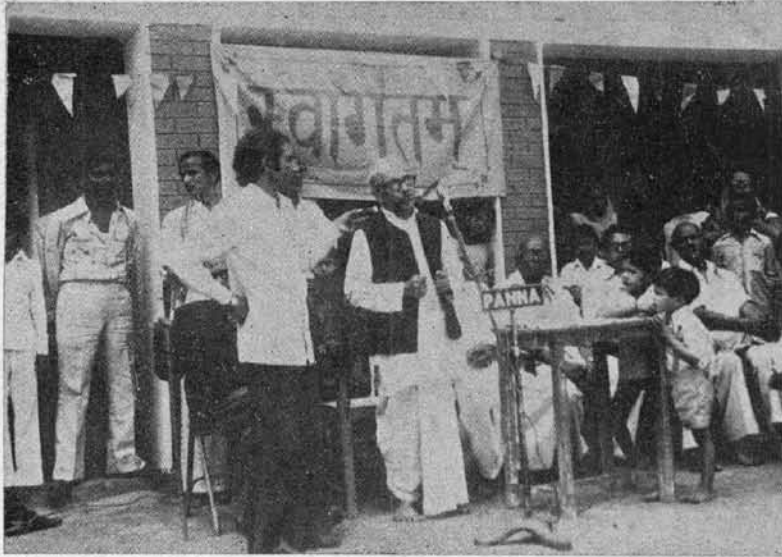
पूना यूनिवर्सिटीमें, सन् १९७५ में महावीरकी २५वीं निर्वाण-शतीके उपलक्ष्यमें आयोजित सेमिनार में सम्मिलित विद्वानोंका चित्र। मध्यमें पूना यूनिवर्सिटीके कुलपति तथा पं० कैलाशचन्द्रजीके साथ बैठे हुए डॉक्टर कोठिया। श्री कोठियाजीकी धर्मपत्नी श्रीमती चमेलीबाई भी कुलपतिजीके पीछे खड़ी हुई हैं।



भारतीय जैन विद्या-संगोष्ठी बम्बईमें डॉ० कोठियाका साहू श्रेयांसप्रसादजी जैन एवं श्री चांदमलजी मेहता सम्मान करते हुए



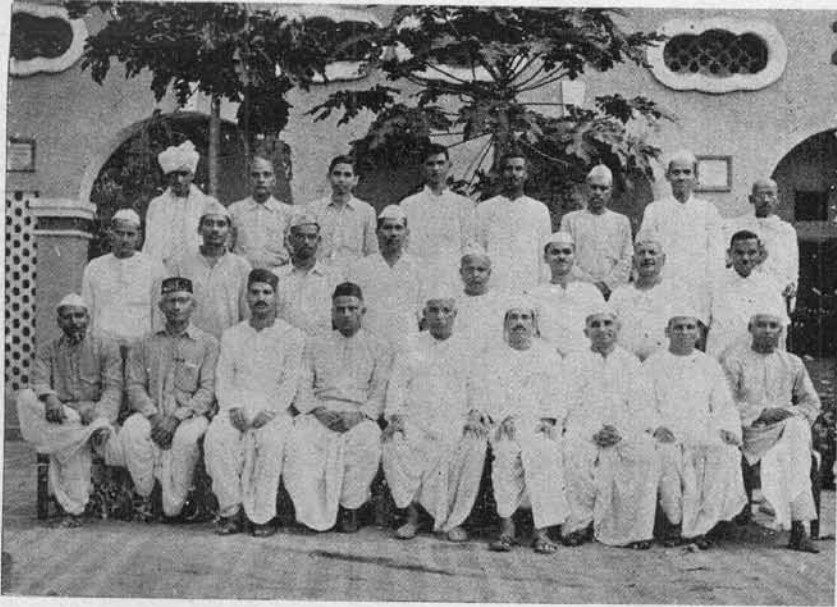
वर्णी-भवन, सागर (म० प्र०) में आयोजित आगम-वाचनामें डॉ० कोठिया
भाषण करते हुए



पावानगर (गोरखपुर) में भ० महावीरके निर्वाणोत्सवपर ३ नवम्बर १९८१
को झण्डोत्तोलन करते हुए डॉ० कोठिया



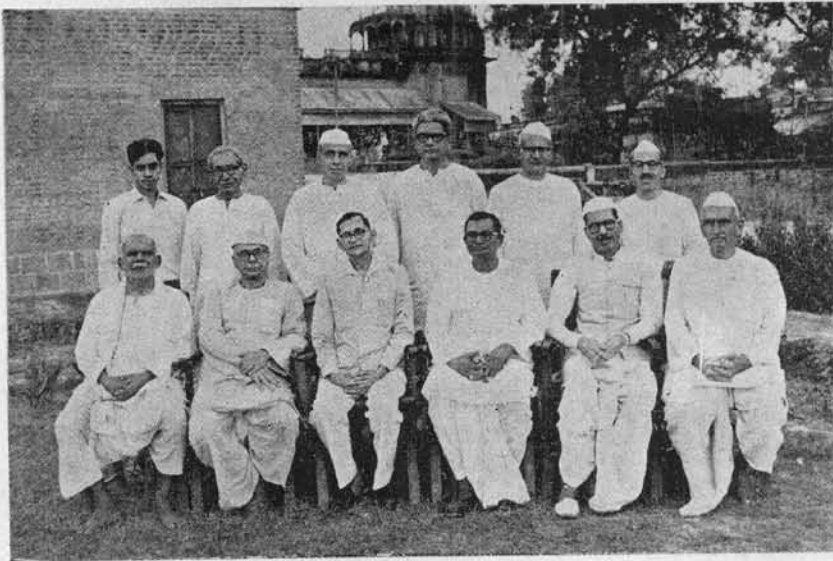
डॉ० कोठियाको
२०-१०-७४ को वीर-निर्वाण भारती द्वारा आयोजित पुरस्कार
समारोहमें, समारोहाध्यक्ष श्री यशपालजी जैन पुरस्कृत
कर रहे हैं



१९५३ में दिल्लीके समस्त विद्वानोंकी विद्वत्समितिके गठनकर्ता एवं प्रधानमंत्रीके
रूपमें डॉक्टर कोठिया



पूज्य श्रीगणेशप्रसाद वर्णीके १९५३ में सागर-चातुर्मासपर लिया गया चित्र । वर्णीसंघ तथा लाला राज कृष्णजी, लाला मुंशीलालजी, बाबू छोटेलालजी, लाला जैनेन्द्रकिशोर जी जैनके साथ डॉ० कोठिया ।



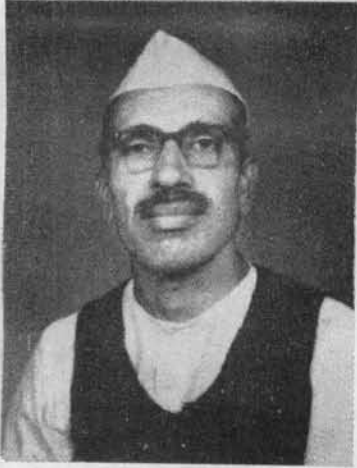
डॉ० नेमिचन्द्रजीके सम्मानमें वर्णी-ग्रन्थमाला और वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट की ओरसे आयोजित गोष्ठीमें पूज्य पं० कैलाशचन्द्रजी, एन. के. देवराज तथा खुशालचन्द्रजी गोरावाला के साथ डॉ० कोठिया



डॉ० कोठियाजीके चाचा पं० वंशीघरजी
व्याकरणाचार्य, बीना



डॉ० कोठियाके चचेरे बड़े भाई
पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री



डॉ० दरबारीलाल कोठिया
न्यायाचार्य



१९६७ में आयोजित दि० जैन तीर्थ क्षेत्र देवगढ़ (उ.प्र.) के
समारोहमें सम्मिलित डॉ० कोठिया स्व. पं. परमेष्ठीदासजी
न्यायतीर्थ बातचीत कर रहे हैं। बायें श्री मिश्रीलाल जैन
एडवोकेट गुना तथा ला. रघूमलजी झाँसी उनकी बात-
चीतको बड़े गौरसे सुन रहे हैं।

गोलापूर्व अन्वयके आलोकमें पण्डित फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी

(१)

बुंदेलखण्ड संस्कृतिकी दृष्टिसे सर्वाधिक सुसंस्कृत प्रदेश है। इसके जनजीवनपर अहिंसाकी गहरी छाप है। यहाँ मांस-मदिराका नहींके बराबर प्रचार है। प्रायः भगिनी-समाज तो इनसे परहेज करती ही है। पुरुषोंमें भी क्वचित् कदाचित् इनका सेवन देखा जाता है। इसके मूलमें जैनोंकी आचारपद्धति ही मुख्य कारण है।

यद्यपि जैन समाज संख्याकी दृष्टिसे भले ही अल्प हो, पर उसने सुदूर अतीत कालसे आचार-व्यवहारकी जो अहिंसक परम्परा अपने दैनंदिनके व्यवहारमें अपना रखी है वह आज इस विषम परिस्थितिमें भी क्वचित् कदाचित् अपवादको छोड़कर उसी रूपमें देखी जा सकती है। इस दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस समाजकी इस आचार-परम्परासे पूरा भारतदेश अनुप्राणित हुआ है। यह उसीका बल है कि वर्तमान समयमें राजनैतिक दृष्टिसे भी हम अक्षुण्ण स्वतन्त्रताका उपभोग कर रहे हैं।

यों तो पूरे देशमें इस समाजने अपने अस्तित्वको बनाये रखा है। पर बुंदेलखण्ड इस दृष्टिसे सर्वाधिक भाग्यशाली है। यहाँ पाये जानेवाले मूर्तिलेख, शिलालेख, यन्त्रलेख और ग्रन्थप्रशस्तियोंपर पाये जानेवाले लेखोंसे पता चलता है कि हजार-आठसौ वर्ष पूर्वतक इस प्रदेशमें जैसवाल, लम्बकञ्चुक और खण्डेलवाल अन्वयके परिवार बहुतायतसे बसते रहे हैं। फिर भी पूर्व कालसे लेकर इस समय तक जिन अन्वयोंके परिवार यहाँ निवास करते हैं उनमें परवार (पौरवाट), गोलार्पूर्व, गोलाराड् अयोध्यावासी और चरनागरे मुख्य हैं। यद्यपि गहोई (गृहपति) अन्वयके परिवारोंका मुख्य निवास-स्थान भी यही प्रदेश है, पर पहलेके समान इस अन्वयमें अब कोई भी परिवार जैन दृष्टिगोचर नहीं होता। इस अन्वयके परिवारोंने कब और कैसे धर्मपरिवर्तन कर लिया, यह कहना कठिन है।

इन अन्वयोंके परिवार कब आकर यहाँ बसे या इनमेंसे कौन अन्वयके परिवार यहाँके मूल निवासी हैं, यह अध्ययनका विषय है। फिर भी अन्य जिन अन्वयोंके विषयमें थोड़ी-बहुत प्रामाणिक जानकारी मिलती भी है, वह इस लेखका विषय नहीं है। यहाँ तो मुख्यरूपसे गोलार्पूर्व अन्वयके विषयमें विचार करना है।

वर्तमानमें जिस अन्वयको गोलालारे नामसे सम्बोधित किया जाता है, मूर्तिलेखों, यन्त्रलेखों और ग्रन्थप्रशस्तियोंमें उस अन्वयका मूल नाम गोलाराड् है। 'राड्' शब्द राष्ट्रवाची है, 'राज' उसीका अपभ्रंश रूप है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि प्राचीन कालमें भारतवर्षके भीतर कोई ऐसा देश या प्रदेश अवश्य रहा है, जो अतीतमें गोलदेश या गोलप्रदेश कहा जाता रहा है।

वर्तमानमें इस अन्वयका मुख्य निवास ग्वालियरसे लगा हुआ भिण्ड-भदावरका मुख्य भाग है। साधारणतः इसके कतिपय परिवार वहीसे आकर बुन्देलखण्डके अन्य अञ्चलोंमें बसते गये हैं। इसलिये यह हो सकता है कि जितने अञ्चलमें गोलार्पूर्व, गोलाराड् और गोलमृंगारके परिवार बसते आये हैं वह पूरा प्रदेश पहले कभी गोलाराड् कहा जाता रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। जैसे इस समय भी ग्वालियरसे लगे हुए

भिण्ड-भदावर संभागमें गोलाराड् और गोलभृंगार अन्वयके परिवार निवास करते हैं वैसे ही खालियरसे नातिदूर महोवा, छतरपुर, बड़ा मलहरा आदि प्रदेशमें गोलापूर्व अन्वयके परिवार बहुलतासे निवास करते हैं। इसलिये अतीत कालमें इस पूरे सम्भागको गोलाराड् कहा जाता रहा हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

गोलापूर्व अन्वयके अभी तक हमने जो पुराने प्रतिमालेख आदि देखे हैं उनसे इस तथ्यकी पुष्टिमें विशेष सहायता मिलती है। इस दृष्टिसे इन प्रतिमालेखोंपर दृष्टिपात कीजिये—

(२)

(१) महोवा सम्भागके छतरपुरके बड़े मन्दिरमें ३९ × ३३ अंगुल अवगाहनावाली श्यामपाषाणनिर्मित तीर्थंकर नेमिनाथकी एक मूर्ति प्रतिष्ठित है। उसमें इस अन्वयके उल्लेखके साथ यह लेख अंकित है—

गोलापूर्वान्वय साधु रास (म) ल (त) द्वाया लटकन तत्सुती सांतन-आल्हणौ अरिष्टनेमिजिन प्रणमतः श्रेयसे सदा। संवत् १२०५ माघसुदी ५ रवौ।

(२) श्रीमद् गोलापूर्वान्वये श्रेष्ठि कूकात्मज श्रेष्ठिश्री वीसल साद (ह) अनुज साधु श्री सोढस्तत्रिया जाहलित्तस्तुतः श्रेष्ठि श्री विक्रमादित्यस्तद्धार्या श्रीमती तत्सुती साधु श्री लक्ष्मादित्यकुलादित्यौ नित्यं नेमिनाथं प्रणमतः श्रेयसे भक्त्या सम्वत् १२०२ चैतसुदी १३ बुद्धे श्री मन्मदनवम्मराज्ये।

(३) लगभग इसी वि० सम्वत्के दो जिनबिम्ब महोवासे ले जाकर ललितपुरके क्षेत्रपाल जिनालयमें प्रतिष्ठित किये गये हैं। उनमेंसे एक मूर्ति भ० अभिनन्दनाथ जिनकी है। दोनों श्याम वर्णके पाषाणसे निर्मित हैं। दोनोंकी बड़ी अवगाहना है। दोनोंके लेखोंमें महोवा नगरका नाम अंकित है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग हजार वर्ष पूर्व भी इस सम्भागमें इस अन्वयके परिवार बहुलतासे निवास करते रहे हैं। और यह हमारी कोरी कल्पना नहीं है, क्योंकि अहारक्षेत्रके जो मूर्तिलेख हमारे सामने उपस्थित हैं उनमें इसी कालके अधिक लेख इसी अन्वयसे सम्बन्ध रखते हैं। इससे भी इसी तथ्यकी पुष्टि होती है, क्योंकि इस दृष्टिसे मलहरा और टीकमगढ़ सम्भाग महोवा सम्भागके अन्तर्गत ही आते हैं। महोवा, छतरपुर, बड़ा मलहरा, टीकमगढ़, और मड़ावरासे लगा हुआ जो पूरा प्रदेश अवस्थित है वही इस अन्वयका चिरकालसे निवास-स्थान बना चला आ रहा है। लगता है कि किसी समय जैसे परवार अन्वयका खंदेरी पाटनगरके रूपमें प्रसिद्ध था और जैसे गोलाराड् अन्वयका भिण्ड आज भी पाटनगर बना हुआ है उसी प्रकार हजार-आठसौ वर्ष पूर्व इस अन्वयका महोवा पाटनगर रहा है। इस दृष्टिसे महोवा और उसके आस-पासके प्रदेशकी खोजबीन करना आवश्यक प्रतीत होता है। जिस सम्भागमें इस अन्वयके परिवार बहुलतासे बसते आ रहे हैं उसी सम्भागमें द्रोणगिरि, रेशंदीगिरि, अहारजी और पपीराक्षेत्र भी अवस्थित है। अतः इन क्षेत्रोंमें हुए मन्दिर-निर्माण, जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा आदि कार्योंपर दृष्टिपात करनेसे लगता है कि इन क्षेत्रोंको उजागर करनेमें भी अन्य अन्वयोंके समान इस अन्वयका पूर्व कालमें प्रमुख हाथ रहा है।

कुछ समय पहले श्री डा० दरबारीलालजीसे भेंट होनेपर इस दिशामें काम करनेका मैंने संकेत किया था। इस ओर तत्काल उनका ध्यान भले ही न गया हो, यह विषय ऐसा है कि दृष्टिसम्पन्न कतिपय सेवाभावी बन्धु यदि इस दिशामें प्रयत्नशील हों तो ऐतिहासिक दृष्टिसे अति उपयोगी एक कमीकी पूति हो सकती है।

यह इस अन्वयका वर्तमानमें उपलब्ध हजार-आठसौ वर्ष पूर्वका संक्षिप्त इतिहास है। इससे इस अन्वयमें हुए प्राचीन पुण्य पुरुषोंके जीवनपर प्रकाश तो पड़ता ही है। साथ ही उनके द्वारा किये गये श्री जिनमन्दिर-निर्माण आदि मंगलमय कार्योंपर भी प्रकाश पड़ता है।

इस समय हमारे सामने दो प्रशस्ति-लेख उपस्थित हैं। उनमेंसे एक जैन शिलालेखसंग्रह भाग १ ले० संख्या ४० पृ० २५ में मुद्रित हुआ है। इसकी चर्चा स्व० श्री पं० परमानन्दजीने 'जैन धर्मका प्राचीन इतिहास' द्वि० भा०, पृ० २३९ में की है। दूसरा लेख बहोरीबन्द क्षेत्रपर अवस्थित तीर्थकर शान्तिनाथ मूर्तिके पादपीठपर अंकित है। दोनों लेखोंका क्रमसे मूल पाठ इस प्रकार है—

(१) जैन शिलालेख संग्रहमें अंकित पाठ—

इत्याद्यमुनीन्द्रसन्ततिविधौ श्रीमूलसंघ्ये ततो ।
जाते नन्दिगणप्रभेदविलसद्देशीगणे विश्रुते ॥
गोल्लाचार्य इति प्रसिद्ध मुनिपोऽभूद् गोल्लदेशाधिपः ।
पूर्व केन च हेतुना भवभिया दीक्षां गृहीतस्सुधीः ॥

(२) बहोरीबन्दमें भ० शान्तिनाथके पादपीठ पर अंकित पाठ—

'स्वस्ति श्री १००० फाल्गुन वदी २ श्रीमद् गयकर्णदेवविजयराज्ये राष्ट्रकूटकुलोद्भवमहासामन्ताधिपतिश्रीगद्गोल्लहणदेवस्य प्रवर्धमानस्य श्रीमद्गोल्लापूर्वाम्नाये वेल्लप्रभाटिकायामुरुक्कताम्नाये तर्कतार्किकचूडामणिः श्रीमद्माधवनन्दिनाऽनुगृहीतः साधुः श्री सर्वधरः तस्य पुत्रः धर्मदानाध्ययने रतः महाभोजः । तेनेदं कारितं रम्यं शान्तिनाथस्य मन्दिरम् ।' आदि ।

ये दो लेख हैं। इनको दृष्टिपथमें लेनेपर कई बातोंमें समानता दिखाई देती है। यथा—

(१) यह तो प्रथम लेखमें ही स्वीकार कर लिया गया है कि भारतवर्षमें कोई प्रदेश ऐसा अवश्य रहा है जिसे पहले कभी गोल्लदेश कहा जाता रहा है।

दूसरे लेखमें यद्यपि गोल्लदेशका नाम तो अंकित नहीं है, पर लगता है जिस प्रदेशमें गोल्लापूर्व, गोल्ला-राड् और गोल्लश्रृंगार जाति पूर्वकालमें बसती रही है वह प्रदेश ही गोल्लदेश होना चाहिये, 'गोल्लाराड्' में 'राड्' शब्दसे इस तथ्यकी पुष्टि होती है।

(२) प्रथम लेखमें गोल्लाचार्यको गृहस्थ अवस्थामें गोल्लदेशका अधिपति कहा गया है। क्या ये गोल्लाचार्य राष्ट्रकूट कुलोद्भव गोल्लहणदेव ही तो नहीं हैं? सम्भवतः या तो इनका जन्म गोल्लदेशमें हुआ है, इसलिये ये 'गोल्लहणदेव' नामसे प्रख्यात हुए। या फिर गोल्लदेशके राजा होनेके कारण ये 'गोल्लहणदेव' कहलाये। यह नामसाम्य कई दृष्टियोंसे विचारणीय है।

(३) उक्त दोनों लेखोंमें अंकित पुण्य पुरुष लगभग एक ही कालके प्रतीत होते हैं। स्व० श्री पं० परमानन्दजीने अपने 'जैनधर्मका प्राचीन इतिहास' द्वि० भा०, पृ० २३९ में 'गोल्लाचार्यका समय लगभग १० वीं, ११वीं शताब्दि अनुमानित किया है, गयकर्णदेवका शासन काल भी ११वीं, १२वीं शताब्दि होना चाहिये, यह श्री बालचन्द्रजी भू० पृ० क्यूरेटर जबलपुर पुरातत्त्व विभागने 'भारतके दिगम्बर जैन तीर्थ' पृ० ४०में अनुमानित किया है। इसके अनुसार लगता है कि स्व० श्री पं० परमानन्दजी शास्त्रीने गोल्लाचार्यका जो समय अनुमानित किया है वह ११वीं, १२वीं शताब्दि ही होना चाहिये।

श्री पं० परमानन्दजीने कोई ऐसा ठोस प्रमाण तो दिया नहीं, जिससे उनके द्वारा अनुमानित कालकी पुष्टि हो सके। दोनों लेखोंमें अंकित गोल्लहणदेव और गोल्लाचार्य कदाचित् एक ही व्यक्ति हों तो भी कोई आश्चर्य नहीं। न भी हों तो भी कोई बाधा नहीं पड़ती। कम-से-कम गोल्लहणदेव नाम होनेसे यह तो सूचित होता ही है कि गोल्लहणदेव यह नाम होनेका कारण या तो गोल्लदेशमें जन्म होना हो सकता है या गोल्लदेशका राजा होना इसका कारण हो सकता है। तथ्य क्या है यह अवश्य ही विचारणीय है। साथ ही जिसे

एक अन्वयके रूपमें गोलाराड् कहा गया है वही गोल्लदेश है या अन्य कोई, यह भी विचारणीय है। मेरे ख्यालसे ये दोनों नाम एक ही प्रदेशके वाची होने चाहिए।

(३)

सीकरसे 'चारित्रधर्मप्रकाश' नामक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उसके अन्तमें मूल संध नन्दि-आम्नायकी एक पट्टावलि मुद्रित की गई है। उसमें इस पट्टके आचार्योंमें सर्वप्रथम १२ वें क्रमांकपर गोलापूर्व अन्वयमें उत्पन्न हुए गुणनन्दिका नाम अंकित है जो वि० सं० ३५३में इस पट्टके पट्टधर आचार्य हो गये हैं। इसके संकलनका आधार नागौरके शास्त्रभण्डारमें पाई जानेवाली प्राचीन पट्टावलि ही है।

इण्डियन एन्टीक्वेरीके आधारपर स्व० प्रिय बन्धु डा० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यने भी 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' भाग ४ पृ० ४४१में नन्दिसंघकी पट्टावलिके आचार्योंकी नामावलि प्रकाशित की है। उसमें भी उक्त संधके पट्टधर आचार्योंकी परम्परामें क्रमांक १२ पर गुणनन्दिका नाम आया है। उसके अनुसार ये वि० सं० ३५८ में पट्टपर आरूढ़ हुए थे। यद्यपि 'चरित्रसार'में दी हुई पट्टावलिके अनुसार इनके पट्टपर बैठनेका समय वि० सं० ३५५ है। अतः इस हिसाबसे इन दोनों पट्टावलियोंमें ३ वर्षका अन्तर आता है जो नगण्य है। इस पट्टावलिके अनुसार ये दक्षिण देशस्थ भद्रलपुरके पट्टाधीश थे। जैसाकि हम पूर्वमें सकेत कर आये हैं, उक्त पट्टावलिके इनको गोलापूर्व अन्वयमें उत्पन्न कहा गया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पहले कभी दक्षिण देश ही इस अन्वयका मूल निवास रहा है। और वहींसे आकर इस अन्वयके वंशधर बुंदेलखण्डके महोवा सम्भागमें आकर बसते गये हैं। मेरे ख्यालसे दक्षिणके जिस प्रदेशमें इस अन्वयका पूर्वकालमें निवास रहा है वही गोल्लदेश होना चाहिये। और इस प्रकार गोलाराड्, गोलापूर्व और गोलशृंगार इन तीनों अन्वयोंके वंशधर वहींसे आये हों, तो यह भी सम्भव दिखाई देता है। अतः गोल्लदेश और गोलाराड् इन दोनोंको एक ही देशका मान लेनेमें भी कोई बाधा नहीं दिखाई देती। ऐतिहासिक पुरुष इसपर विचार करें।

(४)

इस अन्वयके जो नामांकित प्रमुख विद्वान् इस समय धर्म और समाजकी सेवामें रत हैं उनमें श्री डा० दरबारीलालजी न्यायाचार्यका न्यायशास्त्रकी दृष्टिसे प्रमुख स्थान है। ये श्री स्यादाद-महाविद्यालयके अपने कालके प्रमुख छात्रोंमेंसे एक हैं। इनके अध्ययन और परिशीलन करनेका प्रमुख विषय दर्शन और न्याय रहा है।

जिस समय ये इस विद्यालयमें अध्ययन करते थे उस समय स्व० श्री डा० महेन्द्रकुमारजी न्याया-चार्य जैन न्यायगद्दीको सुशोभित कर रहे थे। इन्होंने जैन दर्शनका अध्ययन तो इन्हींसे किया है। किन्तु न्याय-शास्त्रका अध्ययन इन्हें स्व० श्री पं० उद्गानन्द झा एवं आनन्द झाके सन्निकट करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि सर्वप्रथम इन्होंने नव्यन्यायको अपने अध्ययनका विषय बनाया था। किन्तु मध्यमा परीक्षामें उत्तीर्ण होनेके बाद न्यायाचार्य होनेके लिये इन्होंने प्राचीन न्यायके रूपमें विषयको बदल दिया था। प्राचीन न्यायका अध्ययन करते समय इन्हें जिन प्रमुख ग्रन्थोंके परिशीलन करनेका सुअवसर मिला है उनमें कतिपय प्रमुख ग्रन्थ हैं—

प्रशस्तपादभाष्य, न्यायभाष्य, न्यायवार्तिक, न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका, कुसुमाञ्जलि, न्यायमञ्जरी आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन दर्शनके तो ये निष्णात विद्वान् हैं ही। अजैन न्यायमें भी इन्होंने पर्याप्त निपुणता प्राप्त की है। मुझे स्वयं १-२ माह इनके साथ अष्टसहस्रीके प्रारम्भिक कुछ भागके स्वाध्याय

करनेका अवसर मिला है, उससे मुझे यह स्वीकार करनेमें जरा भी संकोच नहीं दिखाई देता। अष्टसहस्री और श्लोकवार्तिक जैसे महान् ग्रन्थोंके अध्ययन-अध्यापनका दीर्घकाल बीत जानेपर भी इन ग्रंथोंमें इनकी अस्खलित गति इस समय भी यथावत् बनी हुई है।

इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालयसे शास्त्राचार्यकी परीक्षा उत्तीर्ण की, प्रमाणविषयको लेकर पी-एच० डी० का पद भी अर्जित किया। हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत महाविद्यालयमें इन्होंने लेक्चरर और रीडर-के पदको भी सुशोभित किया। किन्तु यह सब करना और होना महत्त्वकी बात नहीं है, महत्त्वकी बात है इनका धर्म और समाजके कार्योंमें जागरूक रहकर निरन्तर क्रियाशील बने रहना। यह इनका जीवन है और हमें आशा है कि अपने जीवनके अन्तिम क्षण तक इस गुरुत्तर उत्तरदायित्वको बहन करते रहेंगे।

इस कार्यमें इनकी धर्मपत्नी बहिन चमेली बाईका इन्हें भरपूर सहयोग मिला हुआ है। जब-जब हमें इनके घर जानेका अवसर मिला, मैंने उन्हें निरन्तर सहजभावसे आतिथ्य करते हुए ही देखा है। उनके चेहरेपर कभी भी मुझे अन्यथाभाव दिखाई नहीं दिया। वे हैं तो इनका जीवन चल रहा है। जो भी इनके कार्य हैं उनपर इस बहिनकी गहरी छाप है। मालूम पड़ता है कि मूकभावसे सेवा करते रहना यह इनका जीवन है। यदि दोनोंके स्वभावको बारीकीसे देखा जाय तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि डा० सा० में तो उतावलापन भी दिखाई देता है, कभी-कभी ऐसे उद्गार भी उनके मुखसे निकल जाते हैं जो उनके मुखसे प्रसूत नहीं होने चाहिये। परन्तु बहिन चमेली बाईका जीवन ही दूसरी धातुसे बना हुआ प्रतीत होता है। इनका यह सहयोग जीवनके अन्तिम क्षण तक बना रहे, यह हमारी मंगलकामना है।

विद्वत्जगतके चमकते हुए सितारे विद्यावारिधि डॉ० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

‘न्यायालंकार’, ‘न्यायवाचस्पति’ आदि मानद उपाधि विभूषित डॉ० पण्डित दरबारीलाल कोठिया न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, जैन दर्शन एवं प्रमाणशास्त्र-न्यायशास्त्रके वर्तमान मनीषियोंमें शीर्षस्थानीय हैं। शताब्दीके प्रारम्भमें स्याद्वादविद्यावारिधि गुरुणांगुर पं० गोपालदास बरैयाने जैनेतर विद्वानोंका ध्यान स्याद्वाद-दर्शनकी ओर आकर्षित किया था। उनके सुशिष्योंमें पं० माणिक्यचन्द्र न्यायाचार्य, पं० वंशीधर न्यायालंकार, पं० मकलनलाल न्यायालंकार, पं० गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य प्रभृति कई मनीषी जैन न्यायमगनमें प्रखर तेजके साथ चमके। तदनन्तर, दो तीन दशकों तक डॉ० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यकी उपलब्धियाँ अद्वितीय रहीं। इसी विद्याविदग्ध परम्पराके सुयोग्य उत्तराधिकारीके रूपमें आज पण्डित कोठियाजी प्रतिष्ठित हैं। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ‘युगवीर’, सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, पं० फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री, डॉ० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य जैसे विषयमर्मज्ञों एवं खोज-शोध कार्यमें परम निष्णात साहित्य-साधकोंसे उन्होंने प्रशिक्षण, मार्गदर्शन, प्रेरणा एवं प्रोत्साहन प्राप्त किया और इसी क्षेत्रको अपना जीवन एकनिष्ठताके साथ समर्पित कर दिया।

कोठियाजीकी न्यायविषयक प्रथम कृति भट्टारक धर्मभूषण (१५ वीं शती) कृत ‘न्यायदीपिका’ का सुसम्पादित एवं अनूदित संस्करण १९४५ ई० में वीरसेवामंदिर सरसावा से, जहाँ वह उस समय कार्यशील थे, प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् १९५० में श्रीमद्वादीभसिंहकृत ‘स्याद्वादसिद्धि’, १९६१ में आचार्य नरेन्द्र-सेनकृत ‘प्रमाण-प्रमेयकलिका’ तथा १९७७ में विद्यानन्द स्वामीकृत ‘प्रमाणपरीक्षा’ के सुसम्पादित संस्करण

प्रकाशित हुए। इन ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंके अतिरिक्त कोठियाजीने आप्तपरीक्षा (१९४९), देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा (१९६७) और युक्त्यनुशासन (१९६९) की प्रस्तावनाएँ भी लिखी हैं। कोठियाजीकी उपरोक्त प्रस्तावनाओंमें युक्तियुक्त विवेचन, तुलनात्मक अध्ययन, ऐतिहासिक ऊहापोह एवं समीक्षक दृष्टि परिलक्षित हैं। 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार' उनकी मौलिक कृति है, जो १९६९ में प्रकाशित हुई। विगत ४० वर्षोंमें प्रकाशित उनके अधिक महत्वपूर्ण निबन्धोंका संशोधित एवं सुसम्पादित संकलन 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' १९८० में प्रकाशित हुआ है, जिसमें इस क्षेत्रमें उनके गंभीर अध्ययन, शोध-खोज, अनुसन्धान एवं अन्वेषणका नवनीत समाविष्ट है। इस संकलनमें स्वामि समन्तभद्रविषयक जो लगभग एक दर्जन लेख हैं उनसे उक्त आचार्यके व्यक्तित्व, कृतित्व, पूर्वापर एवं समयादिके निर्धारणमें तथा कई विद्वानों द्वारा जो तत्संबंधी भ्रांतियाँ प्रचारित की जा रही थीं उनके निरसनमें बड़ी सहायता मिली है। अन्य लेख भी अतीव उपयोगी हैं। वर्तमान एवं भावी शोधार्थियोंके लिए तत्तद् विषयोंमें कोठियाजीका साहित्य प्रेरक एवं दिशादर्शक ही नहीं, अनिवार्यतः अध्ययनीय है, प्रमाणकोटिका है। वस्तुतः जैन न्यायशास्त्रके आधुनिक युगीन विकासकी दिशामें विद्वद्गण कोठियाजीका योगदान पर्याप्त महत्वपूर्ण एवं श्लाघनीय है। उसका सम्यक् मूल्यांकन तो कोई न्यायशास्त्र-मर्मज्ञ प्रौढ़ विद्वान् ही कर सकता है।

कोठियाजीकी साहित्य-साधना न्यायशास्त्र तक ही सीमित नहीं रही—अव्यात्म-कमलभार्तण्ड, श्रीपुर पार्श्वनाथस्तोत्र, शासनचतुश्चिन्तिका, द्रव्यसंग्रह, समाधि-मरणोत्साहदीपक जैसी उनकी कई अन्य कृतियाँ तथा विविध विषयक फुटकर लेख भी हैं। साथ ही साथ वह सुवक्ता एवं प्रवचनकार भी हैं। अध्यापन, अनुसन्धान-निर्देशन, पत्रकारिता, संस्था-संचालन, संगठन, समाजसेवा आदि उनके व्यक्तित्वके कई अन्य पक्ष भी हैं। अपने वैदुष्यके कारण वह जैनतर विद्वानोंकी प्रशंसा एवं आदरके पात्र हुए हैं। वर्तमान जैन विद्वत्-जगतके वह एक चकमते हुए सितारे हैं।

शुभ्र खादी परिधानमें वेष्टित, मझौला कद, छरहरी देह, गौरवर्ण, सस्मित वदन, सौम्य मुद्रा, स्वाभिमानपूर्ण तेजस्विता, कर्मठता, परिश्रमशीलता, मधुरशिष्ट व्यवहार, सरल सात्विक जीवन एवं सम्यक् धार्मिकता कोठियाजीकी चारित्रिक विशेषताएँ हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चमेलीदेवी भी विदुषी हैं, और साथ ही बड़ी सौम्य, शान्त, शिष्ट सेवाभावी कर्मठ सद्गृहिणी हैं।

बन्धुवर कोठियाजीके साथ हमारे सम्बन्ध लगभग चालीस वर्षसे हैं, और प्रारम्भसे अद्यावधि अतीव सौहार्द्रपूर्ण एवं स्नेहिल रहते आए हैं। वह हमारे प्रायः समवयस्क हैं और साहित्यसेवाके क्षेत्रमें भी उनकी और हमारी समसामयिकता प्रारम्भसे ही रही आई है। कई क्षेत्रोंमें, विशेषकर वीरसेवामन्दिर तथा स्व० मुख्तार सा० द्वारा संस्थापित वीरसेवामन्दिरट्रस्टकी प्रवृत्तियोंमें, हम उनके सहयोगी रहते आए हैं, अन्य कई संस्थाओं एवं सांस्कृतिक संगठनों या प्रवृत्तियोंमें भी हम साथी रहें हैं। वह अपने विषयके विशेषज्ञ हैं, अतएव हम अपने अन्वेषणोंमें उनकी प्रमाणकोटिके संदर्भोंमें प्रस्तुत करते रहें हैं, और हमारा जो विशिष्ट क्षेत्र है उससे सम्बन्धित हमारे मन्तव्योंका वह भी उपयोग करते रहें हैं। कतिपय नवपीढ़ीके विद्वान्, न जाने क्यों, इस स्वस्थ आदान-प्रदानसे कतराते हैं—वे अपने विद्वानोंके किए गए कार्यका लाभ तो उठा लेंगे, किन्तु उनका आभार मानने या नामोल्लेख करनेमें भी शायद उनकी अहमन्यता आड़े आ जाती है। यों भाई कोठियाजीके साथ यदा-कदा मतभेद भी हुए हैं, किन्तु उनको लेकर पारस्परिक सद्भाव एवं स्नेहमें कभी कोई अन्तर नहीं आया। उनकी मैत्रीसे हम सदैव गौरवान्वित रहे।

डॉ० कोठियाजीका व्यक्तित्व एवं कृतित्व वस्तुतः अभिनन्दनीय है। [हमें जब यह सूचना प्राप्त हुई तो अत्यन्त प्रसन्नता हुई। किन्तु भाई प० बाबूलाल फाल्गुल्लका यह आग्रहपूर्ण आदेश भी साथ ही मिला

कि कोठियाजीके प्रस्तावित अभिनन्दन-ग्रन्थके सम्पादकमंडलमें हमारा नाम अग्रस्थानमें रखनेकी स्वीकृति दें, तो बड़ी चिंता हुई और संकोच भी कि अब यात्रा एवं प्रवास अनुकूल नहीं पड़ता, श्रम भी विशेष नहीं हो पाता, तो फिर इस उत्तरदायित्वका निर्वाह करनेके लिए क्या और कितना योगदान दिया जा सकेगा ? मैं अपने सहयोगी बन्धुओंका हृदयसे आभारी हूँ कि उनकी लगन एवं कृपासे कार्यका सम्पादन सुचारु हो गया ।]

मैं इस शुभावसरका लाभ उठाते हुए अपने सुहृदवर डॉ० पं० दरबारीलालजी कोठियाके चिरायुष्य तथा जैन दर्शनसंस्कृति-साहित्य-धर्म-समाजकी सेवामें वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक सक्रिय बने रहें, एतदर्थ हादिक शुभकामनाओंके साथ उनका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ ।

मेरी आन्तरिक सद्भावना

पं० जगन्मोहनलाल शास्त्री, कटनी

वर्तमान शताब्दीके दिग्म्बर जैन विद्वानोंकी नामावलीमें श्रीमान् न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठियाका नाम अग्रगण्य है । शैक्षणिक योग्यताकी तो उनकी न्यायाचार्य पदवी स्वयं प्रमाणस्वरूप है, तथा आधुनिक शोधकर्त्ता विद्वानोंकी श्रेणीमें उनकी डाक्टरकी उपाधि उनका एक स्थान बता रही है । ये दोनों बातें अनेकत्र पाई जा सकती हैं । पर भाई कोठियाजीकी अपनी नैसर्गिक योग्यता भी अपूर्व है । सरलस्वभाव तथा भावुकता उनमें अधिक मात्रामें पाई जाती है । छद्मस्थमें गुण और दोष भी होते हैं, पर कोठियाजीमें गुण अधिक हैं । सामाजिक संस्थाओंमें वैतनिक कार्यकाल उनका थोड़ा है पर अवैतनिक सेवाभावी कार्य-काल अधिक है । प्रकृत्या कोठियाजी उदार हैं, अतः अनेक संस्थाओंको आर्थिक दान भी आपने अपनी परिस्थितिके अनुसार अधिक-से-अधिक किया है और दिलाया है ।

भा० दि० जैन विद्वत्परिषद् जैसी गण्यमान्य संस्थाके अनेक वर्ष अध्यक्षपदपर समासीन रहे हैं, भा० दि० जैनसंघ मथुराके सदस्य भी रहे तथा अनेक वर्ष उसके मुखपत्र जैन सन्देशके सहसम्पादक भी रहे । श्री गणेश वर्णी जैन ग्रंथमालाके मानद प्रधानमंत्री पदपर रहकर उसकी अनेक वर्ष सेवा कर उसे समुन्नत बनाया ।

बीरसेवामन्दिर-दृष्ट सरसावाके सञ्चालक व मंत्री हैं । यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि इस संस्थाके संस्थापक स्व० स्वनामधन्य पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार थे । उन्होंने अपनी सम्पत्तिका बहु-भाग इस संस्थामें लगाया था । इसे बाबू छोटेलालजी कलकत्ताने जिनवाणीभक्तिकी प्रेरणासे साहू शान्ति-प्रसादजीके सहयोगसे बढ़ाया, जो अब साहित्यिक क्षेत्रमें श्रेष्ठ कार्य कर रही है । डॉ० कोठिया पं० जुगल-किशोरजी मुख्तारके साहित्यिक दत्तक पुत्र हैं । दत्तक पुत्र जैसे अपने कुलको परम्पराका उत्तम निर्वाह करते हैं । ये साहित्यिक दत्तक पुत्र डॉ० कोठिया भी अपने उस पदका पूर्ण निर्वाह करते हैं ।

मुझे डॉ० कोठियाके साथ सामाजिक क्षेत्रमें अनेक संस्थाओंमें काम करना पड़ा है । अतः गहरा परिचय मुझे उनका है । बीना-वारहा क्षेत्र प्रतिष्ठामें आचार्य विद्यासागरजीका प्रवचन हो रहा था । जनता ठसाठस भरी थी । बैठनेका स्थान न था । कोठियाजी कुछ पीछे आए । खड़े थे, मैंने आगे बुलाया, सो किसी प्रकार वहाँ तक आ गए, पर बोले—यहाँ स्थान तो बैठनेका नहीं है । मैंने कहा—मेरी गोदमें तो स्थान है और मैंने गोदमें बैठा लिया । वे बैठ गये । प्रवचन सुनने लगे ।

यह नमूना था उनकी सरलता तथा मेरे प्रति आदर व स्नेहभावका ।

मैं वर्तमान पीढ़ीके युवक विद्वानोंसे कोठियाजीके जीवनसे शिक्षा लेनेका अनुरोध करता हूँ तथा कोठियाजीके सुखी व दीर्घ जीवनकी भावना करता हूँ ।

जैन न्यायके एकमात्र सर्वोपरि विद्वान्

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, वाराणसी

श्री पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य श्री स्यादादमहाविद्यालयके स्नातक हैं। यहींसे उन्होंने गवर्मेण्ट संस्कृत कालिजसे, जो आज श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय है, षट्खण्ड न्यायाचार्य स्व० पं० महेन्द्रकुमारजीके साथ उत्तीर्ण किया था। उनकी रचि नव्यन्यायमें थी। मेरे कहनेसे उन्होंने प्राचीन न्याय विषय लिया था। यहाँसे जानेके बाद वह बोर-सेवा-मन्दिर सरसावामें स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारके साथ कार्य करते रहे और 'अनेकान्त' पत्रमें उनके शोधपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे। वहीं पर उन्होंने न्यायदीपिका और आसपरीक्षाका हिन्दी अनुवादके साथ सम्पादन किया।

फिर देहलीमें समन्तभद्र विद्यालयकी स्थापना करके उसके प्रधानाचार्य रहे। उससे पहले पपीरा विद्यालयमें तथा श्रीऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम मथुरामें प्रधानाचार्य रहे। मेरे ही सुझावपर वह हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनकी चेयरपर अध्यापक बनकर वाराणसीमें आये और यहाँ उन्होंने स्थायी निवास स्थान बना लिया।

वह एक कर्मठ व्यक्ति हैं। उनके मंत्रित्वकालमें श्री गणेश वर्णी ग्रन्थमालाने बहुत उन्नति की। इस समय वह स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके द्वारा स्थापित बोरसेवा-मन्दिर-ट्रस्टके मन्त्री हैं और उससे भी अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

इस समय जैन समाजमें वह जैन न्यायके एकमात्र सर्वोपरि विद्वान् हैं। उनसे समाज और विद्वत्ताकी शोभा है। वह भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषदके सभापति भी रह चुके हैं तथा विद्वानों और विद्यार्थियोंके प्रति उनमें सौमनस्य है। अतः उनका अभिनन्दन उचित ही है।

जैनदर्शनके वरिष्ठ विद्वान्

पं० नाथूलाल जैन शास्त्री, इन्दौर

श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य, जैनदर्शनके वरिष्ठ एवं अधिकारी विद्वान् हैं। उनकी दर्शन-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण रचनाओंसे हमारा समाज गौरवान्वित है।

पण्डितजी क्रियाशील एवं कर्त्तव्यनिष्ठ रहकर समाजको अपनी विद्वत्ताका लाभ पहुँचाते रहते हैं। आपका सबके प्रति सरल व्यवहार और सादगीपूर्ण जीवन अनुकरणीय एवं प्रेरणास्पद है।

पं० जीके अभिनन्दनके अवसरपर उनके प्रति अपनी हार्दिक मंगलकामना करते हुए उनके स्वस्थ जीवन एवं दीर्घायुके लिए जिनेन्द्रप्रभुसे प्रार्थना करता हूँ और आशा करता हूँ कि पं० जी वीतरागमार्गका उद्योत करते हुए उत्तरोत्तर समाज-सेवाकी ओर अग्रसर रहेंगे।

अप्रतिम प्रतिभाके धनी डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

श्री डा० दरबारीलालजी कोठियाको मैं सन् १९३० से जानता हूँ। उस समय मैं काव्यतीर्थकी परीक्षा देनेके लिए दीपावलीसे वैशाख तक स्याद्वादमहाविद्यालय वाराणसीमें रहा था। श्री कोठियाजी भी उसी विद्यालयमें अध्ययन करते थे। बहुत शान्त और अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी छात्र थे। क्वीन्स कालेज वाराणसीकी न्यायमध्यमा तब पढ़ते थे। जहाँ अन्य छात्रोंकी चहल-पहल निरन्तर चलती रहती थी, वहाँ ये प्रकृत्या शान्त एवं स्वकार्यमें निमग्न रहते थे।

वैशाखके बाद मैं सागर आ गया तथा दि० जैन संस्कृत विद्यालयमें अध्यापक हो गया, परन्तु कोठियाजीका अध्ययन चालू रहा और जब मैं सन् १९३६ में साहित्याचार्यके अन्तिम खंडकी परीक्षा देनेके लिए पुनः स्याद्वाद महाविद्यालयमें दो माह रहा, तब आप न्यायाचार्य परीक्षा देनेकी तैयारीमें संलग्न थे।

पूज्य वर्णीजीके सत्प्रयाससे यद्यपि बनारस और सागरमें विशिष्ट विद्यालय खुल चुके थे, तथापि उनमें न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि विषयोंके पढ़नेके लिए विद्यालय-संचालकोंको ब्राह्मण विद्वानोंका सुखापेक्षी होना पड़ता था। वर्णीजीकी भावना थी कि हमारे छात्र भी इन विषयोंके विद्वान् बनकर इस परमुखापेक्षिताको बन्द करें। फलतः पं० बंशीधर जी बीनाने व्याकरणाचार्य, मैंने साहित्याचार्य, पं० महेन्द्रकुमारजी और कोठियाजीने न्यायाचार्य परीक्षा पास की। पीछे चलकर अन्य अनेक विद्वान् आचार्य-परीक्षा पास हुए। साथ ही एम० ए० आदि परीक्षाओंमें भी उत्तीर्ण हुए। इन सबको देखकर वर्णीजी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न होते थे। और सचमुच ही इन विद्वानोंने बनारस और सागरके विद्यालयोंमें कार्यरत हो अपने-अपने विषयोंमें परमुखापेक्षिताको दूर कर दिया।

कोठियाजी प्रारम्भसे ही अप्रतिम प्रतिभाके धनी थे। वे जहाँ भी रहे, वहीं अपने कार्यकी गरिमा स्थापित करते रहे। जिस प्रकार पानी स्वयं अपना मार्ग बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार कोठियाजी भी अपना मार्ग स्वयं बनाते हुए आगे बढ़ते रहे। प्रारम्भमें वे बीर विद्यालय पपोरा, फिर ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम मथुरा, पश्चात् बीर-सेवा-मन्दिर सरसावा, तदनन्तर समन्तभद्र संस्कृत विद्यालय दिल्ली, फिर जैन कालेज बड़ौत और पश्चात् काशी हिन्दू विश्व विद्यालय वाराणसीमें जैन दर्शनके रीडर होकर कार्यविरत हुए। एक लघुकाय विद्यालयका अध्यापक, बढ़ते-बढ़ते विश्वविद्यालयका रीडर बना, यह कम पुरुषार्थकी बात नहीं है। न्यायाचार्य होनेके बाद आपने एम० ए० परीक्षा पास की और उसके बाद “जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार” नामक विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखकर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

आपकी साहित्य-सृजनकी अभिरुचि प्रारम्भसे ही थी। फिर स्व० जुगलकिशोरजी मुख्त्यारके सानिध्यमें रहनेसे वह और भी अधिक वृद्धिगत हो गई। सरसावामें रहते हुए आपने आध्यात्मकमलमार्तण्ड, न्याय-दीपिका, आप्तपरीक्षा, श्रीपुरपाश्वर्चनाथस्तोत्र, शासनचतुस्त्रिंशिकाका संपादन और अनुवाद किया। पश्चात् वाराणसीमें रहकर स्याद्वादसिद्धि, प्रमाणप्रमेयकलिका, द्रव्यसंग्रह, समाधिमरणोत्साहदीपक, प्रमाण-परीक्षा, जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार तथा जैन दर्शनका प्रमाण शास्त्र परिशीलन ग्रन्थोंकी रचना और प्रकाशन किया। आपका प्रमाण-परीक्षा ग्रन्थ उत्तर प्रदेश शासनकी ओरसे पुरस्कृत हो चुका है। आपके गवेषणात्मक लेख सामाजिक पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित होते रहे हैं।

आपकी प्रवचनशैली अनुपम है। सूक्ष्म तत्त्वोंका विश्लेषण आप बड़ी गंभीरतासे करते हैं। पयुर्षण पर्व तथा अन्यान्य उत्सवोंके समय आप जगह जगह निमन्त्रित होकर जाते रहते हैं। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष रहते हुए आपने स्व० डा० नेमिचन्द जी ज्योतिषाचार्य आराके द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' के चार भाग प्रकाशित कराये। विद्वत्परिषद्की आर्थिक स्थिति क्षीण होने पर भी समाजसे सहयोग प्राप्त कर उन भागोंका प्रकाशन ही नहीं किया, अपितु उनका विक्रय भी तत्परतासे करा दिया। अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्का शिवपुरीमें होने वाला रजत-जयन्ती अधिवेशन आपकी ही अध्यक्षतामें हुआ था। उस समय कतिपय विद्वानोंकी आर्थिक क्षीणतासे द्रवीभूत हो आपने महावीर-विद्यानिधिकी स्थापनाका सुझाव दिया था तथा स्वयं भी उसमें एक हजारकी राशि प्रदान कर उसका प्रारम्भ कराया था। प्रकट करते हुए हर्ष होता है कि विद्वत्परिषद्, उस महावीर-विद्यानिधिकी ओरसे साधन हीन विद्वानोंको यथासंभव सहायता पहुँचाती रहती है। उस महावीर-विद्यानिधिकी पच्चीस हजारका फंड है।

आपकी प्रकाशनसंबंधी पटुता प्रशंसनीय है। समाप्तप्राय जैसी अवस्थाको प्राप्त वर्षों ग्रन्थमालाके मंत्री बन कर आपने उसके अनेक स्थायी ग्राहक बनाये। जिससे जहाँ रुके हुए ग्रन्थोंका विक्रय हुआ, वहीं अनेक नवीन ग्रन्थोंका प्रकाशन भी हुआ। फलतः वर्षों ग्रन्थमाला पुनरुज्जीवित हो एक गणनीय प्रकाशन-संस्था बन गयी। जिस ग्रन्थका प्रकाशन आप अपने हाथोंमें लेते हैं, उसके प्रूफ संशोधनसे लेकर प्रस्तावना लेख तकका दायित्व ले लेते हैं। अभी हाल पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यके द्वारा लिखित "जयपुर खानिया तत्त्वचर्चा और उसकी समीक्षा" के प्रथम भागको संपादन कर उसे प्रकाशित कराया है। नयनाभिराम प्रकाशन हुआ है। आपके अनेक महत्त्वपूर्ण लेखोंका एक बृहत् संकलन "जैन दर्शन और प्रमाण शास्त्र परिशीलन" पिछले वर्षोंमें प्रकाशित हुआ है, जिसे विद्वत् वर्गमें अच्छा आदर प्राप्त हुआ है। आपका शोधप्रबन्ध "जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार" वीर सेवा मन्दिर ट्रस्टसे प्रकाशित हो चुका है।

आदणीय कोठियाजी, प्रकृत्या सरल, शान्त और मृदु हैं। अपने सद्व्यवहारसे आप सबको आकर्षित कर लेते हैं। पारस्परिक सहकार आपके जीवनका लक्ष्य है। अनेकों छात्र आपसे उचित सहकार प्राप्त कर आगे बढ़े हैं। कितने ही नये लेखकोंकी रचनाओंको सुसंपादित एवं प्रकाशित करा कर उन्हें प्रोत्साहित किया है।

माननीय डा० दरबारीलालजी कोठियाका अभिनन्दन चिर-प्रतीक्षित था। उसका आयोजन करने वाली समितिकी मैं साधुवाद देता हुआ उनके दीर्घायुष्क होनेकी मंगलकामना करता हूँ।

जैनदर्शन, न्यायके प्रकाण्ड विद्वान्

डा० नथमल टाटिया, लाडनू'

विद्वद्ग्यं डा० दरबारीलाल कोठिया जैन दर्शन एवं न्यायके प्रकाण्ड विद्वान् हैं। उन्होंने अपना समय जीवन जिनवाणीकी सेवामें व्यतीत किया है। उनके द्वारा सम्पादित एवं अनूदित जैन न्यायविषयक अनेक ग्रन्थ उनके कर्मठ जीवनके निदर्शन हैं। अभिनन्दनके क्षणोंमें हम डा० कोठियाजीके दीर्घायुष्ककी मंगलकामना करते हैं।

चतुर्थ सक्रम एवं पूर्ण जैन-न्यायाचार्य

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी

श्री महावीर दिगम्बर जैन पाठशाला साङ्गमलकी दिगम्बर जैन वाङ्मयकी सेवाएँ असाधारण हैं, क्योंकि जैन न्यायके मुख्य सूत्रग्रन्थ (परीशामुख) का प्रथम-अनुवाद स्व० पं० घनश्यामदासजी बजाजने यहीं किया था। इस पाठशालाके प्रथम शिष्यवर्गमें स्व० पं० हीरालाल शान्नी ही डॉ० हीरालाल जैनके ध्वला-प्रकाशनके प्रथममें मार्गदर्शक-महायुक्त हुए थे। तथा ध्वल-त्रयी वाङ्मयके आदि-मध्य तथा अन्त सार्थवाह श्री पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री भी साङ्गमल पाठशालाके ही महत्तम प्रसून हैं। कभी फूलती-कलती जैन-विद्यालयोंरूपी शाखाओंके इस धूलगत मूल महावीर पाठशालामें ही सन् १९२७ में मैंने अग्रज विद्यार्थी दरबारीलालजीको देखा था। तत्कालीन पाठशाला-छात्रोंमें इनसे अधिक परिश्रमी स्व० अमरचन्द्र (दोणगिरि) ही थे। किन्तु अपनी घोर परिश्रम-साधनासे भी वे शारदाका उतनी भी कृपाकटाक्ष न पा सके थे, जितनीकी वे दरबारीलालजीपर प्रसन्न हुई। और भविष्यमें होती ही गयी; क्योंकि ये खेलकूद सभीसे मुख मोड़कर अपनी पाठ्य-पुस्तकोंसे ही जुझे रहते थे।

एक दिन दरबारीलालजीका अंगोछा (बचकानी धोती) खो गयी। इस हानिका आघात तो इनपर बहुत था, किन्तु समाधान उससे भी महत्त्वपूर्ण था। बोले—“कल-परमों सड़कपर पड़ी इकन्नी मैंने उठा ली थी, सो आज मेरा ‘अंगोछा’ चला गया ‘निहितं वा पतितं वा’ यथार्थ है।” रत्नकरण्डश्रावकाचारके इस अन्तर्मुख प्रभावने इनकी प्रामाणिकताकी मुझपर जो छाप छोड़ी वह मेरे मनमें विगत ५६ वर्षोंसे अमिट है। हमारे आद्य गुरुकुलके बाद, जैन विद्वानोंके महागुरुकुल स्याद्वाद महाविद्यालयमें फिर हम सहाध्यायी हुए। यहाँ भी इनकी दिनचर्या वही रही। एक परिवर्तन जरूर हुआ कि यदि कभी हम खिलाड़ियोंके कहनेसे खेलने चले जाते थे, तो रात ११-१२ बजे तक पढ़कर कमी पूरी करते थे। इसका एक कारण यह भी था कि जैन न्यायाध्यापकसे पढ़नेकी रशम अदा करके अनुज सहाध्यायी उसी पाठको दरबारीलालजीसे लगवाते थे। अतः इस विद्यादानके समयको ये अपनी नींदसे वसूल करते थे।

दरबारीलालजीका अध्ययन प्रगतिपर था, किन्तु लड़की वाले पीछे पड़ गये। विवाह होते ही स्वावलम्बी बननेके लिए भी अध्ययन स्थगित करके भा० दि० जैनसंघके स्वल्पवृत्ति उपदेशक-विद्यालयको अपनाया; क्योंकि समाज-सेवाका भाव उग्र था। वहींपर आचार्य जुगलकिशोर मुस्तारके परिचयमें आये। वे इनकी अथक परिश्रमशीलता एवं पठित ग्रन्थोंकी उपस्थितिपर ऐसे अनुरक्त हुए कि उन्होंने इन्हें बौद्धिक पुत्र बना लिया। इस प्रकार गुरुकुलगत अध्ययन-परम्पराके रुकनेपर भी दरबारीलालजीका न्यायाचार्य (वा० सं० वि० वि०) बननेका लक्ष्य; गुरुत्व प्राप्त होनेपर दृष्टिसे ओझल न था। अपितु स्याद्वाद महाविद्यालयमें १९३९ से चली आचार्य-एम० एम० परम्पराके कारण अपने लक्ष्यका विस्तार किया। और परिपक्व हो जानेपर भी न्यायाचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी० करके ही सके। यदि इन्हें स्व० पं० नेमिचन्द्र आचार्य, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्के दुःखद देहावसानका आघात न लगता, तो कोठियाजी भी परिणतवयमें डी० लिट्० जरूर होते। ‘विघ्नैः शर्तैरपि प्रतिहन्यमाना ईप्सितार्थं न त्यजन्ति धीराः’ आज भी कोठियाजीका लक्ष्य है।

वीर-सेवा-मन्दिरकी सेवासे ग्रहीत जैन न्यायके ग्रन्थोंके आधुनिक सम्पादनकी परम्परामें दशक हो जानेपर भी आज अष्टसहस्रीके कष्टसहस्रीपनको मेट कर उसे स्पष्ट-सहस्री बनानेमें लीन हैं। शारीरिक

व्यक्त परिवर्तन मानसिक-श्रमसे बचनेकी दिशामें है, किन्तु संकल्प उनकी उपेक्षा कराता है। मृच्छकटिक नाटकमें संवाहक जुएमें हार कर भागता है। वसन्तसेनाके घरमें शरण लेता है। और कहता है—दश सुवर्ण देकर मुझे बचा लीजिये, मैं आपकी सेवा करके चुकाऊंगा। वसन्तसेना पूछती है—“आपकी आजीविकाकी क्या वृत्ति है? उत्तर मिलता है “मेरी आजीविकाकी वृत्ति मर्दनकला है।” फिर अपने विभवपूर्ण अतीतको याद करके कहता है—“कला कलारूपसे सीखी थी किन्तु इस समय वह आजीविका हो गयी है।” लगता है कि भाई कोठियाजीने इसका बल्लोम कर दिया है क्योंकि आजीविकारूपसे आरम्भ जैन न्यायशास्त्रकी सेवा आज उनके जीवनकी कला बन गयी। इसलिए अष्टसहस्री निबन्धसे स्पष्टसहस्रीरूपमें भावी पीढ़ीके लिए छोड़नेमें वे त्रियोगसे लगे हैं और अवश्य सफल होंगे।

अभिनन्दन ग्रन्थोंकी बाढ़के युगमें इस अभिनन्दन-ग्रन्थकी जिस विशेषताने आकृष्ट किया है वह है ‘कड़ोरे घसीटे’की विरहावलिको छाप कर ग्रन्थका कलेवर बढ़ानेसे विरत होकर कोठियाजीके समस्त लेखोंको इस ग्रन्थमें देना है। यह प्रशस्त और उपयोगी परम्परा होगी। सक्रम एवं पूर्ण चतुर्थ जैन न्यायाचार्यकी चिरायुकी हार्दिक कामना करता हूँ।

अलौकिक प्रतिभाके धनी

पं० भँवरलाल न्यायतीर्थ, जयपुर

न्यायचार्य डा० दरबारीलालजी कोठिया समाजके उन चोटीके विद्वानोंमें हैं जिन्हें जैनदर्शनका तल-स्पर्शी अध्ययन है, तत्त्वचर्चाकी दुर्लभ बारीकियोंकी पकड़ है और उन्हें सरल रूपमें श्रोताके गले उतारनेकी विलक्षण क्षमता है। नवीन शिक्षा-पद्धतिके अनुसंधानकर्ता पी०एच० डी० डा० विद्वान् एवं जिज्ञासुओंकी शास्त्रसभामें बैठ कर गूढ तत्त्वचर्चा करने वाले एवं शास्त्रार्थ करने वाले प्राचीन परम्पराके विद्वान् दोनोंका रूप डा० कोठियाजीमें विद्यमान है। डा० कोठियाजी समाजके एक गौरवशाली विद्वान् हैं।

न्यायशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थोंके पठन-पाठन और सम्पादनमें आपकी विशेष रुचि रक्षी है जो कुशाग्र-बुद्धिकी परिचायक है। नियमसारकी ५३ वीं गाथाकी व्याख्या और अर्थ विषयक चिन्तन सम्बन्धी एक लेख हाल ही में बीर-वाणीमें प्रकाशनार्थ आया। मैंने पढ़ा, तो देखा कि कितनी पकड़ आपमें है और कितनी बारीकीसे आप कितनी ग्रन्थको पढ़ते हैं। ऐसे कम विद्वान् समाजमें मिलेंगे।

आपने करीब एक दर्जन दर्शन और न्यायके ग्रन्थोंका सुन्दर गवेषणा पूर्ण सम्पादन किया है। ग्रन्थोंकी ऐतिहासिक तथ्योंके आधार पर जो खोज पूर्ण विस्तृत, पर मौलिक भूमिकायें लिखी हैं वे स्वतः सन्दर्भ ग्रन्थ बन गई हैं और अनुसंधानकर्ताओंके साथ-साथ जिज्ञासुओं और विद्वानोंके लिए मार्गदर्शनका काम करेंगी। दो वर्ष पूर्व प्रकाशित आपका ‘जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन’ एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसे हम जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्रका निचोड़ ग्रन्थ कहें तो अत्युक्ति न होगी। तद्विषयक सभी चर्चाओंका इसमें समावेश है और वह एक सन्दर्भ-ग्रन्थ बन गया है। अकेला ही वह ग्रन्थ विषयकी सही जानकारी देते हुए खोजी विद्वानोंकी दिशा प्रदान करने वाला है। उक्त कृतियोंको देखकर कोई भी विद्वान् जैन न्यायके अधिकारी विद्वान् डा० कोठियाजीकी अलौकिक प्रतिभाकी सराहना किसे बिना न रहेगा।

आपको समाज सेवा भी बहुत है। दो युग तक शिक्षा-संस्थाओं, विद्यालयों और कालेजोंमें अध्यापन कार्य किया। अनेक संस्थाओं, अधिकतर शिक्षण-संस्थाओंके पदाधिकारी रहें और आज भी हैं। उनके विकासमें आपका प्रशंसनीय योगदान रहा है, कई गोष्ठियोंमें आपके शोधपत्र प्रशंसनीय रहे हैं। आप बड़े सरल स्वभावी हैं, कईवार आपसे मिलना हुआ तो कुछ-कुछ नवीन जानकारी मिली, पत्रव्यवहार तो चलता ही रहता है।

ऐसे कर्मठ विद्वानके अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशनका आयोजन आवश्यक और प्रशंसनीय है। डॉ० कोठिया साहबका हार्दिक अभिनन्दन करते हुए कामना करते हैं कि आप स्वस्थ दीर्घ जीवन यापन करते हुए भारतीयोंकी सेवामें इसी प्रकार लगे रहें।

जीवन मूल्योंके प्रति आस्थावान श्री यशपाल जैन, देहली

पंडित दरबारीलालजी कोठियासे जब-जब मिलना हुआ है, अथवा होता है, बड़े आनंदकी अनुभूति होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि उनकी आस्था उन मूल्योंमें है, जो मुझे प्रिय हैं। उन्होंने अपने परिश्रमसे उच्च-से-उच्च ज्ञानका अर्जन किया है। उसका महत्व है; लेकिन उससे भी अधिक महत्व इस बातका है कि वह ज्ञानके बोझसे दबे नहीं हैं। उनके जीवनमें आज भी सरलता और हृदयमें सरलता बनी हुई है।

यह इसलिए सम्भव हो सका है क्योंकि उन्हें संस्कारिता विरासतमें मिली है और उनके जीवनका विकास धर्मके अधिष्ठान पर हुआ है।

उनका जन्म मध्य प्रदेशके एक छोटे-से स्थानपर हुआ था। उनके पिता घमतिरागी थे। शिक्षा-प्रेमी थे। व्यक्तित्वके धनी थे। अपने कालके पंडितोंमें उनकी गणना होती थी। उन्होंने अपने इकलौते बेटेको भरपूर धार्मिक संस्कार दिया। उनकी आकांक्षा थी कि बालक जीवनमें खूब उन्नति करे और अपने कुलकी मर्यादामें चार चाँद लगावे; किन्तु अपनी आकांक्षाकी पूर्ति वह अपने जीवन-कालमें नहीं देख सके। बालक छः वर्षका हुआ कि उसपरसे पिताका साया हट गया। कुछ समय बाद माँ भी चली गईं। संकटकी उस घड़ीमें उन्हें सहारा मिला अपने मामासे। अपने पास रखकर उन्होंने बालकको लाड़-प्यार दिया और उनकी पढ़ाई-लिखाई कराई।

व्यक्तिमें लगन ही तो उसके लिए आगे बढ़नेके रास्ते खुलते रहते हैं, विकासके अवसर मिलते रहते हैं। दरबारीलालजीमें उच्च शिक्षा प्राप्त करनेकी अदम्य लालसा थी। उसीके फलस्वरूप उन्होंने विशारद, सिद्धान्तशास्त्री, न्यायाचार्य आदिकी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। इतना ही नहीं, उन्होंने एम० ए० की परीक्षा भी पास की और आगे चलकर उन्हें 'जैन-तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार' विषयपर काशी विश्वविद्यालयसे पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

इस बीच उन्होंने अनेक स्थानोंपर अध्यापनका कार्य किया। काशी विश्वविद्यालयमें जैनदर्शनके प्राध्यापक रहे और अन्तमें सात वर्ष तक 'जैन-बौद्धदर्शन' के रीडरके रूपमें काम करके अवकाश ग्रहण किया।

दरबारीलालजीके जीवनमें अनेक उतार-चढ़ाव आये हैं। हम बता चुके हैं कि अल्पायुमें ही उन्हें अपने पिता और मातासे विसोहकी वेदना सहन करनी पड़ी थी, उनके अपने तीन सन्तानों हूयीं, लेकिन एक का भी सुख उनके भाग्यमें नहीं बढ़ा था, बचपनमें ही तीनोंका निधन हो गया।

लेकिन दरबारीलालजीने इस दारुण दुःखसे अपने जीवनको हताश अथवा कुण्ठित नहीं होने दिया और उसमें उसे शक्ति उत्पन्न की। उनकी जगह और कोई होता तो उसके अन्तरका रस सूख जाता; लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं होने दिया। धर्म, समाज और साहित्यकी सेवामें अपनेको लीन कर दिया। आज उनके रचे या सम्पादित अनेक ग्रन्थ हैं, जो उनकी प्रतिभाकी उजागर करते हैं। दर्शनमें उनकी विशेष गति है और उस क्षेत्रमें उन्होंने विशेष योगदान दिया है।

जिन दिनों वह दिल्लीमें समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालयमें प्राचार्यके पदपर कार्य करते थे, उनसे प्रायः भेंट हो ही जाती थी, उससे पहले और बादमें भी सामाजिक तथा धार्मिक आयोजनोंमें वह मिलते रहते थे। मुझे ऐसा एक भी अवसर याद नहीं आता, जब मैंने उन्हें चिन्तित अथवा हैरान देखा हो। जीवनके प्रति उनका दृष्टिकोण सदा आशावादी रहा है और अपनी वाणी तथा लेखनीसे वह समाजको समुन्नत करनेके लिए सतत प्रयत्नशील रहे हैं। मुझे स्मरण है कि कुछ वर्ष पहले दिल्लीके लाल मन्दिरमें जब मैंने 'वीर-निर्वाण भारती'के पुरस्कारसे उन्हें अलंकृत किया था, तो उन्होंने जैन विद्वानोंको समाजकी बहुविध सेवा करनेके लिए प्रेरित किया था।

जैन धर्म, जैन दर्शन और जैन संस्कृतिके प्रति उनकी गहन आस्था है। वह मानते हैं कि विश्व-शान्तिकी स्थापनामें जैन-धर्मकी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है, लेकिन यह तभी संभव है, जबकि जैन समाज स्वयं उस दिशामें सक्रिय हो।

मुझे हर्ष है कि दरबारीलालजीको एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। वह इसके सर्वथा योग्य हैं। उनकी सेवाओंके उपलक्ष्यमें उनको यह सम्मान मिलना ही चाहिए था। मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और कामना करता हूँ कि वह स्वस्थ रहें, दीर्घायु हों और समाज, साहित्य तथा धर्मकी अनेक वर्षों तक सेवा करते रहें।

समन्वयशील दार्शनिक विद्वान्

श्री अग्रचन्द नाहटा, बीकानेर

डॉ० दरबारीलालजी कोठिया जैन दर्शनके जाने-माने विद्वान् हैं। उन्होंने दार्शनिक ग्रन्थोंका गहरा अध्ययन करके कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। और अपने उन ग्रन्थों, लेखों एवं अन्य सेवाकार्योंसे अच्छी ख्याति अर्जित की है। काफी वर्षोंसे वे बनारसमें रहकर अनेकों लेखकों और शोधार्थियोंको मार्ग-दर्शन करते रहते हैं। निवृत्त जीवनमें भी उनका ग्रन्थ, लेख-लेखन और अन्य जिज्ञासुओंके ज्ञानवद्धिमें सहायक बननेका सत्कार्य करते रहते हैं। उनकी नामाविध सेवाओंको ध्यानमें रखते हुए उनके अभिनन्दन करनेका जो निर्णय किया गया है वह बहुत ही समीचीन और प्रशंस्य है।

कोठियाजीसे मेरा परिचय काफी पुराना है। वीर-सेवा-मन्दिर दिल्लीमें स्व० जुगलकिशोरजी मुख्तार अनेकान्तका सम्पादन करते थे। उसी प्रसंगमें मुख्तार साहबसे मैं जब-जब वहाँ रहा उनसे मिलने जाता रहा।

उन दिनों वहाँ श्री कोठियाजी मुख्तार साहबके सहयोगी रूपमें उनकी सेवामें थे। फिर उनके लेख अनेकान्त में पढ़नेको मिलते और उन्हें पढ़कर उनकी विद्वत्ताकी छाप मेरे हृदयपर पड़ती रही। उसके बाद कुछ मत-भेदके कारण सम्भवतः मुख्तार साहबसे अलग रहने व कार्य करने लगे। पर मुख्तार साहब और उनका सोहार्द बराबर बना रहा। उनका अध्ययन और लेखन भी नियमित चलता रहा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके पूर्वपंडित पं० सुखलालजी व पं० दलमुख भाई मालवणिया के अवकाश ग्रहण करनेपर उक्त पदपर आपकी नियुक्ति हो गयी और कई वर्षों तक वहाँ जैन दर्शन और इतर दर्शनोंके अध्यापनका काम सफलतापूर्वक करने रहे। वहाँ अनेक बड़े-बड़े विद्वानोंके सम्पर्कमें आने और स्वयं अध्ययनरत रहने और अध्यापनके प्रसंगमें अनेक ग्रन्थोंका चिन्तन करनेसे आपकी प्रतिभामें काफी निखार आया। और एक ठोस विद्वान्के रूपमें उनकी गणना की जाने लगी। बनारसमें रहते हुए उन्होंने कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ व लेख लिखे। पर साथ ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया—वर्षों ग्रन्थमालाके प्रकाशनोंका। इस ग्रन्थमालाको आपने नव जीवन प्रदान किया। और थोड़े ही वर्षोंमें बहुत उच्चकोटिका सुन्दर साहित्य प्रकाशन कर सके। इस कार्यके लिए अर्थ जुटानेमें आपने पूरा भाग लिया। आज उनके सहयोगके अभावमें संस्थाकी प्रगति अवरुद्ध-सी है।

कोठियाजी स्वभावतः समन्वयशील विद्वान् और मिलनसार व्यवित्त्व वाले हैं। इससे सबके साथ अच्छा मधुर सम्बन्ध है। आपकी उदारता भी सराहनीय है। समय-समय पर मैंने देखा है कि विद्वानोंको अपने यहाँ बुलाकर भोजनादि करवाते हैं। मैं भी ऐसी एक गोष्ठीमें उनके यहाँ भोजन कर चुका हूँ। खूले हृदयसे अपनी विद्वत्ताका लाभ भी दूसरोंको पहुँचाते हैं। विद्या उनकी व्यसन-सी बन गयी है। और ज्ञानके प्रसारमें उनमें संकुचितता नहीं है। वास्तवमें विद्याका दान आस्त्रोक्त ज्ञानदान जैसा बहुत बड़ा दान है। जिससे एक से अनेक विद्वान् तैयार होते हैं और ज्ञान-समुद्रिकी यह परम्परा आगे बढ़ती रहती है। उनकी नई खोजें व स्थापनायें काफी महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें मतभेद हो सकता है। पर कोठियाजी जो कुछ भी लिखते हैं वह तर्क और प्रमाण पुष्ट होता है। जिन विद्वानों-ग्रन्थकारोंमें अनेकका काल-निर्णय आज भी समस्या बना हुआ है फिर भी पं० सुखलालजी, पं० महेन्द्रकुमारजी, पं० नाथूरामजी 'प्रेमी', पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं० दलमुख मालवणिया आदि अनेकों विद्वानोंके साथ-साथ आपका नाम भी जोड़ा जा सकता है, जिन्होंने अनेकों समस्याओंका अच्छा समाधान किया है।

मैं डॉ० कोठियाजीकी दीर्घकालीन आयु और स्वस्थ रहनेकी कामना करता हुआ वे जैन शासनकी और भी अधिक सेवा करते रहें, यही शुभकामना करता हूँ। अभिनन्दनीयका अभिनन्दन—जय वीतराग।

जैन दर्शनके मूर्द्धन्य विद्वान्

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, जयपुर

डॉ० दरबारीलालजी कोठिया वर्तमान शताब्दीमें जैन दर्शनके मूर्द्धन्य विद्वान् हैं। विगत ४० वर्षों, में उन्होंने जैन दर्शनका गम्भीर अध्ययन करके दार्शनिक जगत्के समक्ष जो नये आयाम प्रस्तुत किये हैं वे निस्सन्देह प्रशंसनीय ही नहीं, किन्तु नयी-नयी उपलब्धियोंसे ओतप्रोत हैं। दार्शनिक होते हुए भी वे सरल एवं उदार व्यवित्त्वके धनी हैं। अपने विद्यार्थियोंके प्रति तन, मन एवं धन तीनोंसे समर्पित रहते हैं। यही नहीं साहित्यिक जगत्में कार्य करने वाले प्रत्येक विद्वान् एवं विद्यार्थीको प्रोत्साहित करने वाले हैं।

डॉ० कोठिया साहबसे मेरा कोई बीस वर्षोंसे निकटका सम्बन्ध है। मैंने उन्हें निरन्तर अध्ययन, अध्यापन, लेखन और सम्पादन कार्यमें व्यस्त पाया है। उनका घर विद्वानोंके लिए सदैव खुला मिलता है वहाँ पहुँचनेपर डॉ० कोठिया एवं उनकी सरल हृदया पत्नी अतिथियोंका स्वागत करनेमें तत्पर रहते हैं। जब वाराणसी जाना होता है उनके घर गये बिना बनारस छोड़नेकी इच्छा नहीं होती। यही कारण है कि उनके घरपर जब भी मैं गया हूँ किसी न किसी विद्वान् छात्रको उनसे परामर्श करते हुए पाया हूँ।

जब मैंने श्री महावीर ग्रन्थ अकादमीकी स्थापना करनेका अपना निश्चय सूचक पत्र लिखा तो एक सप्ताहमें ही उनकी शुभकामनाएँ मिल गयीं और पुनः जब मैंने संचालन समितिका सदस्य होनेका प्रस्ताव किया तो वे स्वयं तो सदस्य बन ही गये, एक सदस्य उनकी पत्नी श्रीमती चमेली देवी जी भी बन गयीं। इस प्रकारका सहयोग-भावना मुझे बहुत कम विद्वानोंमें देखनेको मिली है। वास्तवमें डॉ० कोठिया एवं उनकी श्रीमती दोनों ही उदारता पूर्वक साहित्यिक कार्योंमें अपना सहयोग देते रहते हैं।

डॉ० कोठिया साहब वर्तमान युगमें जैन दर्शन एवं सिद्धान्तके उन गिने-बुने विद्वानोंमेंसे हैं जिनपर समाजको गर्व है। उनकी विद्वत्ता, प्रवचनशैली एवं लेखनशैली तीनोंसे ही समाज पूर्णरूपसे प्रभावित है और यही कारण है कि वे जहाँ भी जाते हैं समाज उनको सुननेको आतुर रहता है। डॉ० कोठिया साहबमें पायी जाने वाली विद्वत्ताके अतिरिक्त उनकी सौजन्यता, विनम्रता एवं सादगी और भी प्रभावित करने वाली है। यही कारण है कि वे पूरे समाजके विद्वान् हैं और पूरा समाज उनको अपना मानता है। वे न कभी पन्थभेद के झगड़ोंमें पड़ते हैं और न एक दूसरेकी उठापटकमें विश्वास रखते हैं। उनका समय तो अहनिश जिन-वाणीकी सेवा करनेमें व्यतीत होता है, इसलिए उनका समस्त जीवन ही अभिनन्दनीय है।

साहित्य, समाज एवं दर्शनशास्त्रके लिये समर्पित विद्वान्का अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन निस्सन्देह प्रशंसनीय कार्य है। उनका तो जितना भी अभिनन्दन किया जावे, वही कम है। वे शतायु होकर इसी तरह जैनदर्शनकी सेवा करते रहें, यही मेरी हार्दिक कामना है।

एक बहुरंगी व्यक्तित्व

पं० बलभद्र जैन, आगरा

बहुरंगी व्यक्तित्व—एक सिद्ध कलाकरने बड़े परिश्रम और मनोयोगसे दीर्घकालमें एक भव्य चित्र निमित्त किया। चित्र सर्वाङ्गसम्पूर्ण बना। उसकी भव्यता उसमें रंगोंके उपयुक्त समायोजनमें थी। उसके हर अङ्गमें नया रंग था, किन्तु उस चित्रका महत्त्व उसके विविध रंगोंके कारण नहीं, रंगोंके उपयुक्त समायोजन और अपेक्षित चटकके कारण था।

प्रकृतिने बहूतर वर्षोंमें एक व्यक्तित्वका सृजन किया। उस व्यक्तित्वमें अनेक रंग भरे। चित्रके रंग बने थे काला, पीला, नीला, लाल, सफेद वर्णों और उनके मिश्रणसे। व्यक्तित्वमें रंग भरे गये—विद्वत्ता, प्रतिभा, सन्तोष, त्याग और सदाचारसे। व्यक्तित्व तो इकरंगे भी होते हैं, किन्तु उनमें भव्यता और आकर्षण कम ही होता है।

खादीकी धोती, कुर्ता, टोपी और जाकिट। आँखोंपर चश्मा। माथेपर गहरे चिन्तनकी गहरी रेखायें। नाटा कद, दुबला पतला शरीर। चेहरेपर सौम्यता, बातोंमें शालीनता, व्यवहारमें सहजता, स्वभावमें

निश्चल सरलता । जो ऊपर है, वही भीतर है । इस सबको मिलाकर जो व्यक्ति बना है, उसका नाम है दरबारीलाल कोठिया । मेरा और उनका परिचय लगभग पैतालीस वर्षोंसे है । इस परिचयको आप चाहें कोई नाम दें—मित्रता, बन्धुत्व, पारस्परिक सम्मान । इस दीर्घकालीन परिचयके बलपर एवं अपने व्यक्तित्वगत अनुभवके आधारपर मैं कह सकता हूँ कि कोठिया एक विश्वसनीय (reliable) साथी है, निर्भरयोग्य (dependable) मित्र है ।

जो भीतर वही बाहर—पैतालीस वर्षका काल कुछ कम नहीं होता—एक शताब्दीका लगभग आधा काल ! इस लम्बे कालमें दुनिया बदल गई, समाज बदल गया, व्यक्ति बदल गये । देशकी राजनीतिकी धुरी बदल गई । सामाजिक राजनीतिके मानदण्ड बदल गये व्यक्तिकी राजनीतिके मूल्य बदल गये । किन्तु कोठिया ! वे नहीं बदले, वही वेप-भूषा, वही आचार, वही व्यवहार, आचारमें वही शुद्धि, व्यवहारमें वही निश्चलता, विचारोंमें वही दृढ़ता । जिन नैतिक मूल्योंसे उन्होंने अपने व्यक्तित्वका निर्माण किया है, उसे संजोया और सँवारा है, उसे किसी परिस्थितिमें भी मलिन नहीं होने दिया । परिवर्तनों और सामयिक लाभोंके झंझावातोंमें भी वह अडिग रहा है, बल्कि वह कालक्रमसे निखरता भी गया है । जैन समाजमें ऐसे विद्वान् आसानीसे मिल जायेंगे, जो 'गंगा गये तो गंगादास और जमुना गये तो जमुनादास' बन जाते हैं और 'फिसल पड़े तो हरहर गंगा' कहने लगते हैं । कैसी विडम्बना है यह कि ये विद्वान् वर्तमान जैन मुनियों और भट्टारकोंको पानी पीकर दिनरात कोसनेसे नहीं अघाते और उन्हीं मुनियों और भट्टारकोंकी सभा, सम्मेलनोंमें ख्याति-लाभकी आशामें बिना बुलाये पहुँच जाते हैं । वहाँ उनकी प्रशंसा करते हैं, उनके गीत गाते हैं । और सम्मान समेट कर जब घर लौटते हैं तो समूची वर्तमान जैन मुनि-संस्था और भट्टारक-संस्थापर गन्दगी उछालकर घृषित राजनीतिका खेल खेलते हैं । मैंने एक समाज-शास्त्रीसे इस सम्बन्धमें पूछा, तो उन्होंने उत्तर दिया—इनकी आस्था चंचल है । इनका साध्य सिद्धान्त-संरक्षण नहीं, ख्याति-लाभ अर्जन करना है । जब साध्य ही पवित्र नहीं, तो साधन कहाँ पवित्र होगा । किन्तु मैंने कोठियाके जीवन-व्यवहारको निकटसे देखा है, गहराईसे आँका है । उनकी आस्था साध्य-साधन दोनोंकी शुचितामें है । जो उनके भीतर है, वही बाहर है, जो बाहर है, वही भीतर है । भीतर और बाहरकी एकलपता ही कोठियाका जीवन-दर्शन है, यही उनका जीवन-व्यवहार है ।

संस्था-शिल्पी—कोठियामें अद्भुत प्रशासनिक क्षमता और रचनात्मक कर्तृत्वशक्ति देखनेको मिलती है । जैन समाजकी कई संस्थाओंको मैं जानता हूँ, जिन्होंने अपने उद्देश्योंकी पूर्तिकी दिशामें उल्लेखनीय काम किये थे, किन्तु समय पाकर उनको वृद्धावस्थाकी जड़ताने जकड़ लिया । मैं अपने सामाजिक अनुभवके आधार-पर कह सकता हूँ कि मनुष्योंके समान संस्थाओंका भी बाल्यकाल, यौवन और वार्धक्य होता है । संस्थाओंका यह वय-परिवर्तन उसके पदाधिकारियोंके उत्साह अथवा जड़ता, सेवा-भाव या सत्तालोलुपताके कारण होता है । जब समाजक प्रति समर्पित और सेवाम्रती पदाधिकारी संस्थाका दायित्व-भार उठाते हैं, तब वह संस्था समाजको एक रचनात्मक दिशा और प्रगतिकी प्रेरणा देकर अपनी उपयोगिता सिद्ध करती है । संस्थाओंके जीवनमें उनका यह यौवन-काल अथवा उत्कर्षकाल कहलाता है । किन्तु जब संस्थाओंका दायित्व ऐसे लोगोंके हाथोंमें आ जाता है, जो संस्थाकी उपयोगिता और ख्यातिके मूलधनको अपनी ख्याति और सत्ताकी भूख बुझानेके लिये भुनाते रहते हैं, तो एक दिन वह मूलधन चूक जाता है और संस्था रीती हो जाती है । तब वह संस्था सेवा और रचनात्मक कामोंमें नहीं, साइनबोर्डों और लेटर पैडोंपर जीवित रहनेका प्रदर्शन भर करती है ।

किन्तु कुछ ऐसे भी समाज-शिल्पी हैं, जो अर्धमृतक संस्थाओंमें भी प्राण-संजीवनी डाल सकते हैं, उन संस्थाओंका कायाकल्प करके उनमें पुनः जीवनकी चेतना फूँक देते हैं। कोठियामें ऐसे ही समाज-शिल्पीके दर्शन होते हैं। गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला वाराणसीकी कार्यसमितिके कोठियाको मंत्री चुना। उस समय ग्रन्थमाला अपने लैटर पैडोंपर जीवन जी रही थी। मंत्रीपद कोठियाके लिए एक चुनौती था। उसे उन्होंने स्वीकार किया। सबने आश्चर्यसे देखा कि ग्रन्थमालामें थोड़े ही कालमें जीवनके परिस्पन्द दिखाई देने लगे। ग्रन्थमालाके रीते कोषमें बैलेन्स बढ़ने लगा। रुके हुए और नये प्रकाशन होने लगे। इन्हीं दिनों गणेशवर्णी शोध संस्थानकी स्थापना हुई। कोठिया संस्थाके लिये धन-संचय तभी करते हैं, जब वे स्वयं अपनी ओरसे एक बड़ी राशि उस संस्थाको प्रदान कर देते हैं। कोठियाका सम्पर्क अनेक क्षेत्रों और संस्थाओंके साथ है और प्रायः सभीको उन्होंने दिया है। संस्थाके नवजीवन-संचारमें उनकी कर्मठता, लगन और सूझ-बूझके दर्शन होते हैं, तो संस्थाके लिए दिये गये दानमें उनके त्याग और निरीहवृत्तिके दर्शन होते हैं।

इसी प्रकार जब कोठियाको भा० द्वि० जैन विद्वत्परिषदका अध्यक्ष चुना गया, तो कोठियाने मानों उस संस्थाको संजीवनी देकर जिला दिया। इनके कार्यकालमें विद्वत्परिषद एक सक्रिय संस्था बन गई और रचनात्मक दृष्टि लेकर चल पड़ी। इसी कालमें असहाय विद्वानोंकी सहायताके लिये विद्यानिधि योजना प्रारम्भ हुई और साधनहीन विद्वानोंके उपचार और निर्वाहके लिये कुछ मान-राशि दी जाने लगी। संस्थाकी ओरसे कई महत्वपूर्ण प्रकाशन भी किये गये, जिनमें स्व० डाक्टर नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य द्वारा लिखित 'भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' सर्व प्रमुख है। इस ग्रन्थने सभी क्षेत्रों और वर्गोंकी प्रशंसा प्राप्त की।

बेटा सपूत निकला—कोठिया एक शान्त, निरीह और आडम्बरहीन व्यक्ति हैं। इसलिये उनका जीवन घटनाप्रधान नहीं रहा। वे मधुर भाषी होते हुए भी गम्भीर प्रकृतिके हैं। उन्होंने कभी किसीके साथ मायाचार किया हो, ऐसा देखने-सुननेमें नहीं आया। उनका दृष्टिकोण रचनात्मक रहा है। एक घटना याद आती है, जिसे मैं उनके जीवनकी एक रोचक घटना मानता हूँ। किन्तु वाह रे कोठिया! तुमने उसका रचनात्मक उत्तर देकर समाजको महत्वपूर्ण साहित्य दिया। 'मेरी भावना' के रचयिताके रूपमें सुपरिचित पण्डित जुगलकिशोर मुस्तार प्राच्य-विद्याके जाने माने विद्वान् थे। जैन आचार्योंके काल-निर्णयमें उनका अभिमत अन्तिम माना जाता था। आचार्य उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर आदिके सम्बन्धमें उनकी शोध-खोजको आज तक कोई चैलेंज नहीं दे सका। उनकी विद्वत्ता जितनी सुविख्यात थी, उनकी कृपणवृत्ति भी उतनी ही चर्चित थी। उन्होंने वीर-सेवा-मन्दिरकी स्थापना करके उसे एक शोध-संस्थानके रूपमें विकसित किया था। किन्तु उन्होंने अपने रुपये वीर-सेवा-मन्दिरमें प्रदान नहीं किये थे, शीघ्र आदि साधनों द्वारा उसे बढ़ाते रहे। और उसका 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' नामसे एक ट्रस्ट बना दिया तथा उसीके अन्तर्गत साहित्यका निर्माण एवं प्रकाशन करते रहे। इसी मध्य उन्होंने पण्डित दरबारीलाल कोठियाको धर्मपुत्र बनानेका निर्णय कर लिया और नियत तिथिपर उसको रस्म भी अदा की गई। वाक्यादा उसकी घोषणा भी हो गई। हम लोगोंने सोचा—चलो, दोनोंको ही लाभ होगा इससे। कोठियाको माल और जायदाद मिलेगी और दुहापेमें बेटा-बहू उनकी सेवा करेंगे। किन्तु यह सब कुछ नहीं हो पाया। केवल मुस्तार साहबने कोठियाको अपना 'धर्मपुत्र' घोषित किया और एक माला उनके गलेमें पहना दी। उपस्थित पंचोंने भी मालाएँ पहना दीं। न तो कोठियाको मोत्र बदलना पड़ा, न माल-जायदादके झंझटमें पड़ना पड़ा और न मुस्तार साहबको बेटे-बहूका अहसान लेना पड़ा। मामला बिलकुल साफ और बेदाग। किन्तु बेटेने बापकी आन्तरिक मंशा समझ ली। बापकी शायद मंशा यह थी कि उन्होंने माँ सरस्वतीकी जो ज्योति जलाई है,

बेटा उसे बुझने न दे, सतत प्रज्वलित रखे । बेटेने उस ज्योतिको बराबर तेल दे दे कर प्रज्वलित रखा । बाकई बेटा सपुत निकला । हमलोग बड़ी देरमें समझ पाये कि विद्वान् बापसे विद्वान् बेटेको उत्तराधिकारमें क्या मिला और बेटेने बापकी पूँजीको कैसे बढ़ाया ।

पारिवारिक जीवन—कोठियाके पारिवारिक जीवनके बारेमें भी दो शब्द । कोठियाका परिवार पति-पत्नी तक ही सीमित है । सन्तान कोई नहीं है । सांसारिक दृष्टिसे यह दुर्भाग्यकी बात है । पति विद्वान्, पत्नी सुसंस्कृत, सुशिक्षित, सुशील । विद्वान् दम्पतिने दुर्भाग्यको हँसी-खुशी स्वीकार कर लिया और इस दुर्भाग्यको सीभाग्यके रूपमें बदलनेमें जुट गये । किराये, पेंशन और फण्डसे इतनी आय हो जाती है कि निर्वाह होनेके बाद भी बहुत बच जाती है । उसे वे अत्रों और संस्थाओंको दान देते रहते हैं । पत्नी अपने पतिके सत्संकल्पोंमें—साहित्य-सृजन, दान, तीर्थयात्रा आदिमें सहायक ही सिद्ध हुई, कभी बाधक नहीं बनी । सन्तोषी और विवेकी दम्पति घरको स्वर्ग बना देते हैं, इसका दृष्टान्त मैं कोठियादम्पतिको मानता हूँ । परिवारमें शान्ति, सन्तोष और सहयोगका वातावरण मुखरित दिखाई पड़ता है कोठियाके गृहस्थ-जीवनमें ।

अप्रतिम दार्शनिक विद्वान्—भारतके दार्शनिक जगतमें एवं जैन विद्वानोंमें कोठियाका विशिष्ट स्थान है । जैन विद्याकी विविध विधाओंमें जैन न्याय और इतिहासके वे अप्रतिम विद्वान् हैं । उनकी अनूदित, सम्पादित और मौलिक रचनाओंकी सूची काफी लम्बी है । इन रचनाओंका अधिकांश जैन न्याय, दर्शन और उसके एक भाग प्रमाणशास्त्रसे सम्बन्धित है । 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान विचार' तथा 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' उनकी मौलिक कृतियाँ हैं । इनका परिशीलन करनेसे हमें कोठियाके जैनदर्शनके अधिकारपूर्ण ज्ञान और इतर भारतीय दर्शनोंके गहन अध्ययन एवं सूक्ष्म, गहरी पकड़का पता चलता है । जैन जगतने इस शताब्दीमें तीन दार्शनिक जैन विद्वानोंको जन्म दिया—पं० सुखलाल संघवी, न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार और डॉ० दरबारीलाल कोठिया । इन तीनोंका ही दार्शनिक योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है । इनमें प्रारम्भके दो विद्वान् दिवंगत हो चुके हैं, सीभाग्यसे कोठिया हमारे मध्य विद्यमान है और अपनी अनवरत कठोर साधना द्वारा जैनदर्शनका मन्थन करके अमृत हमें दे रहे हैं । मैं ऐसे साधनारत साहित्यकारोंको 'साहित्य-तपस्वी' कहता हूँ ।

समाज द्वारा आभार प्रदर्शन—अन्तमें मुझे हादिक प्रसन्नता है कि जैन समाज इस साहित्य-तपस्वीकी जीवन व्यापी साहित्यिक और सामाजिक सेवाओंके प्रति अभिनन्दन ग्रन्थके रूपमें अपना आभार प्रगट करने जा रहा है । उनका अभिनन्दन निश्चय ही सरस्वती माताका अभिनन्दन है । वास्तवमें जैन समाज एक गुणग्राही समाज है । कोठिया जीवन भर समाज, शिक्षा और साहित्यके क्षेत्रमें सक्रिय रहे हैं । वे प्रवचनों, लेखों, अध्यापन और साहित्य सृजनके रूपमें समाज-सेवा करते रहे हैं । प्रस्तुत अभिनन्दन समाज द्वारा उनकी सेवाओंको सार्वजनिक मान्यता प्रदान करना है । अभिनन्दन उनके जीवनका एक अल्पकालिक पड़ाव है । उनके जीवनमें ऐसे पड़ाव कई बार, कई रूपोंमें आये । किन्तु इनसे कोठियाकी साहित्य-यात्रा रुकी नहीं; चलती रही है और अभी वर्षों तक चालू रहेगी ।



मङ्गलाशा

डॉ० राजकुमार जैन साहित्याचार्य, आगरा

जयतात्, श्री दरबारीलालः कोठियापरो धोमान् ।
न्यायागमसाहित्ये न वस्तुतो यस्य कापि संकशः ॥
× × ×
दिङ्मण्डले यशोराशिर्यस्य शुभ्रीकरोति वै ।
जीयात् श्रीकोठियाप्राज्ञः शश्वत् साहित्यमर्चयन् ॥

मंगलकामना

पं० मूलचन्द्र जैन शास्त्री, श्रीमहावीरजी

गोलापूर्वसमाजनन्दनवने यश्चन्दनाभायते ।
वैदुष्यापित्तमुलब्धशिक्षकपदः सद्गन्धमालायते ॥
आज्ञापालकशिष्टशिष्यनिचयो गन्धान्धवृन्दायते ।
सोऽयं श्रीदरवारिलाल इह भोः ! स्थेयाच्चिरं भूतले ॥
विद्वन्मानसराजहंससदृश ! स्वाद्वादविद्यापित्तः ।
हेयाहेयविचारचारुचतुरां तां शेमुषी बिभ्रतः ॥
ते नित्याभ्युदयो भवेदहरहः कांक्षे मत्स्विन्नहम् ।
सद्धर्मप्रतिसेवयैव दिवसा ते यान्तु निश्चिन्तया ॥
सर्वप्रियं त्वां प्रसमीक्ष्य लक्ष्मीः सरस्वती चापि मिथो विरोधम् ।
विस्मृत्य विद्वन् ! युगपत्समेत्य साध्वी त्वदीयां प्रकृतिं व्यनक्ति ॥
सरस्वतीसाधक ! भद्रमूर्ते ! कुटुम्बिनी ते भवतात् त्वदीये ।
सद्धर्मकार्ये सहगामिनी, स्याद् यतोऽङ्गनायत्तगृहस्थवृत्तम् ॥
सद्धर्मसेवा च समाजसेवा राष्ट्रस्य सेवा गुणिषु प्रमोदः ।
त्वज्जीवनं दोर्घतरं च कुर्याद्विद्वज्जनानामियमस्ति, काम्या ॥
यावच्चन्द्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे ।
यावन्मेरुशिला स्वमस्तकमणि धत्ते शिला पाण्डुकाम् ॥
यावद्राजति शासनं जितपतेर्यावच्च गंगाजलम् ।
तावद्धर्मपरायणस्य विदुषस्ते स्यात्कृतिः सुस्थिरा ॥
त्वज्जीवनादर्श इहस्थिता सा स्ववृत्तिमालोक्य तवानुरूपा ।
भवेद्गुणीनां जनता भमैषा सद्भावना केवलमस्ति चैषा ॥



आस्थाका अभिनन्दन

श्री नीरज जैन एम० ए०, सतना

श्रवणबेलगोलमें सहस्राब्दि-प्रतिष्ठापना एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सवके अवसर पर आचार्यों, मुनिराजों और आर्थिका माताओंका विशाल संच एकत्र हुआ था। कई सप्ताह तक इन साधुओंके लिए सामूहिक आगमवाचनाका आयोजन किया गया था। प्रतिदिन प्रातःकाल आठसे नौ बजे तक भट्टारक भवनमें नियमित रूपसे यह वाचना होती थी। श्रवणबेलगोल आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीकी तपोभूमि रही है। इसलिए उनका ही सरल एवं सारगर्भित ग्रन्थ 'द्रव्यसंग्रह' वाचनाके लिए विस्तारा गया। ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीकाके आधारपर यह वाचना चलती थी।

भट्टारक-भवनके सुन्दर प्रवचन-कक्षमें प्रायः सभी मुनिराज, कुछ आर्थिका माताएँ और थोड़ेसे श्रावक ही बैठ पाते थे। न्यायाचार्य पंडित दरबारीलालजी कोठिया समयके पूर्व प्रवचताकी आसन्दीपर विराजते और अत्यन्त सरल पद्धतिसे आगमकी व्याख्या करते थे। ऐलाचार्य मुनि विद्यानन्दजी और भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी बीच-बीचमें प्रश्नोत्तरके माध्यमसे प्रकरणको और भी सुग्राह्य और सरल बनाते चलते थे।

ऐलाचार्य विद्यानन्द मुनिजीके आग्रहसे कोठियाजी महोत्सवके बहुत पहिले, जनवरी ८१ में ही सपत्नीक श्रवणबेलगोल आ गये थे। लगभग दो मास उनका वहाँ रहना हुआ। उनकी विवेचनाशैलीने और अथाह आगम ज्ञानने साधुओं और विद्वानोंको एक-जैसा प्रभावित किया। सदैव स्वच्छ और सुशुचिपूर्ण वस्त्रोंमें कोठियाजीका कोमल व्यक्तित्व, आकृतिपर अनवरत उपस्थित मन्द स्मिति और व्यवहारकी शालीनता, हर मिलने वालेपर अपना पर्याप्त प्रभाव छोड़ती थी। जैन न्यायके मौलिक चिन्तकके रूपमें उन्होंने पूरे विद्वत् वर्गमें अपनी जो पहचान बनाई है वह इस मेलेमें, नये-नये लोगोंसे परिचय होनेपर सवाई हो गई थी।

वहाँ जो लोग कोठियाजीसे प्रत्यक्ष परिचित नहीं थे, वे जरूर कुछ परेशानीका अनुभव करते थे। प्रायः होता यह था कि इस सामूहिक स्वाध्यायके बारेमें ज्ञात होनेपर, मुनियों-आर्थिकाओंके मुखसे कोठियाजीकी विद्वताकी प्रशंसा सुननेपर उनका मन व्याख्याकारको देखनेकी सहज जिज्ञासामें भर उठता था। इस बीच यदि किसीने कहीं रस्ता चलते कोठियाजीको दिखाते हुए उनका परिचय दे दिया तो देखने वालेको सहसा विश्वास नहीं होता। इतनी संक्षिप्त सी कायामें ऐसा विशाल चिन्तन और ज्ञान, ऐसे सरल व्यक्तित्वमें खण्डन-मण्डनको अकाट्य तर्कणाओंका समावेश, लोगोंको सहसा संभव नहीं लगता था। जब उन्हें विश्वास करने पर मजबूर किया जाता कि पचाससे अधिक मुनिराजोंको स्वाध्याय करानेवाले यही पंडित दरबारीलाल कोठिया हैं, तब सहमतिमें सिर हिलाते हुए भी, कुछ लोगोंके मुखपर यह भाव आ ही जाता था कि "नाम बड़े और दर्शन थोड़े।" महोत्सवके बीच चामुण्डराय मण्डपमें कोठियाजीके अनेक प्रवचन-भाषण हुए, तथा उनकी विद्वताके लिए उन्हें सम्मानित किया गया।

डा० कोठियाके नामके साथ उनकी विद्वताको बताने वाली अनेक उपाधियाँ हैं और इसी प्रकार भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंमें संघर्ष पूर्वक सफलताकी अंकित करनेवाला है उनका पूर्व इतिहास। बुन्देलखण्डके एक छोटेसे गाँवमें जनमे दरबारीलाल बुन्देलखण्डी भाषाकी उस कहावतकी जीवन्त प्रतिमूर्ति हैं जिसके शब्द हैं "धुन रे धुनिया अपनी धुन, और काऊकी कछू न सुन।" गहरी लगनके साथ अपने अभीष्ट सिद्धिके प्रयत्नों में लग जाना और प्रशंसाके पुष्प तथा आलोचनाके शीशे, उपेक्षा भावसे सहते हुए अपने अभीष्टको पूरा

करना, दरबारीलालके व्यक्तित्वका ऐसा गुण है जिसने उन्हें जीवनमें वह सब कुछ दिलाया, जिसकी उन्होंने कामना की ।

पढ़नेकी धुन समाई तो अभावोंकी पीड़ा और अर्जनके प्रलोभन उन्हें प्रभावित नहीं कर पाये । 'न्यायाचार्य' होकर भी उनकी यह पिपासा शान्त नहीं हुई । बुढ़ापेकी कगारपर बैठकर उन्होंने अपने नाम को पी-एच०डी० से अलंकृत किया । संस्थाओंकी सेवा करनेके क्षेत्रमें उनका यही गुण उन्हें सफलता दिलाता रहा । मुझे अच्छी तरह याद है कि उन्होंने श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमालाको किस दयनीय स्थितिसे उठाया और कहाँ पहुँचा दिया । ग्रंथमालाकी "स्थायी सदस्य योजना"के पीछे कोठियाजी ने न केवल अपने प्रभावका बल्कि अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों और अपनी विद्वत्ताका भी पूरा-पूरा उपयोग करके उसका प्रचार प्रसार किया । वास्तवमें वह स्थायी-सदस्य योजना ही थी, जिसने वर्णी ग्रंथमालाको स्थायित्व और उपयोगिताकी दिशामें बहुत आगे बढ़ाया । यह एक विडम्बना ही है कि बहुत छोटे, बहुत संकोर्ण भावनाओंके पोषणके लिए कुछ लोगोंने कोठियाजीको ग्रंथमाला छोड़नेकी परिस्थितियोंका निर्माण किया । उनके हटते ही उस महान् संस्थाकी गरिमा, सक्रियता और प्रामाणिकता एक साथ विलीन हो गई । अब वर्षों तक संस्थाकी बैठक भी नहीं होती, प्रकाशन होने और स्थायी ग्राहकोंको उनकी प्रतियाँ भेंट करनेका काम तो बहुत दूर, सपनेकी सी बात दिखाई देने लगा है । हमारे देखते-देखते, योग्यताविहीन हाथोंमें जाते ही एक जीती-जागती संस्था दीर्घ निद्रामें डूब गई ।

वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट उनके हाथमें आनेपर कितने लोगोंने कितने प्रकारकी बातें कहीं । परन्तु ट्रस्टके अत्यन्त सीमित साधनोंके द्वारा भी कई सराहनीय प्रकाशन प्रस्तुत करके कोठियाजीने सिद्ध कर दिया कि संस्थाओंको सम्पत्तिकी प्रचुरता नहीं, व्यक्तिकी लगन चलाती है ।

डा० कोठियाको बहुत निकटसे जाननेका मुझे अवसर मिला है । मैंने प्रायः अनुभव किया है कि अग्रिम पंक्तिका अधिकारी यह मनीषी अपनी सादगीके कारण हमेशा पीछेकी पंक्तिमें बैठाया गया । अवसर-पटु लोग उसीके कन्धेपर पाँव रखकर आगेकी पंक्ति तक पहुँचते रहे, परन्तु उसके चेहरेपर कभी खिन्नता नहीं आई । अपनी ही जेबमें विजयलेख रखकर बैठा हुआ यह व्यक्ति "दुरभिसन्धि-विशारदों"की जोड़-तोड़-से पराजित घोषित किया जाता रहा । पर उसने कभी अपने-आपको हताश या निराश अनुभव नहीं किया । अपनत्वका मुखौटा लगाकर जिन्होंने उसके साथ "पग-बाधा"के दाँव खेले, सबकुछ जानते हुए भी उस निरीह व्यक्तिके उनका मुखौटा उतारनेके प्रयत्न नहीं किये ।

कालके दुष्प्रभावसे आज जब अनेक बड़े-बड़े विद्वानोंकी लेखनी बन्धक हो गई है, या सरेआम नीलाम पर चढ़ रही है, तब "लूट सके सो लूट" के इस माहौलमें भी कोठियाजीने अपनी प्रामाणिकताको कोई लांछन नहीं लगने दिया । यश, श्वाति और लाभका कैसा भी प्रलोभन उन्हें "जिनवाणी माता"के प्रति अनास्थाके पंक्रमे नहीं ढकेल पाया । पूज्य वर्णीजीकी तम्र निस्पृह किन्तु निर्भीक और निष्कम्प विचार-पद्धतिको उन्होंने पूरी ईमानदारीके साथ बार-बार दोहराया और अपने जीवन पर उतारा । इसे मैं डा० कोठियाकी इतनी बड़ी सफलता मानता हूँ कि बार-बार मेरा मन इसके लिये उन्हें बधाई देना चाहता है ।

जैन न्यायके सूक्ष्म चिन्तन-विश्लेषणकी, सिद्धान्तके तल-स्पर्शी ज्ञान और तुलनात्मक अध्ययनकी, कर्तव्यके प्रति निष्ठा और लगनकी तथा सादा जीवन उच्च विचारकी जो पावन त्रिवेणी डा० कोठियाके अन्तरंगमें प्रवाहित है, वह किसी एक घाटपर, किसी एक व्यक्तित्वमें, अन्यत्र कहीं मिलना असंभव भले न हो, पर असंभव-सा ही है ।

डा० दरबारीलाल कोठियाकी इन सारी सफलताओंके श्रेयमें, यदि अधिक नहीं तो बराबरीका एक भागीदार भी है। वह हैं उनकी गुण-धर्म-परायणा धर्मपत्नी श्रीमती चमेली देवी। अत्यन्त सौम्य और मृदु-स्वभावी चमेली देवीने कोठियाजीको न केवल "गृह जीवन नाना जंजाल"के चिन्ताओंसे हमेशा मुक्त रखा, बरन विषम और अप्रिय प्रसंगोंपर उन्हें सत्परामर्श और प्रेरणा देकर परिस्थितियोंसे जूझनेमें उत्साहित भी किया। डा० कोठियाको सम्मानित करके आज हम सहज ही उनकी उस अजस्र शक्तिकी भी सम्मानित कर रहे हैं।

आज अपने जीवनके बहत्तर वर्ष सेवा और संघर्षमें खपाकर कोठियाजी एक तरहसे अपने आपको कृतकृत्य अनुभव कर सकते हैं। आजकी सुविधाभोगी और उपाार्जनमूलक पद्धतिके सहारे एक सम्पूर्ण जीवनमें जितना कुछ करके लोग अपनी महानताओंका ढिंढोरा पीटने लगते हैं, उससे कई गुना सेवाकार्य कोठियाजी घोर असुविधाओंके बीच अपनी निस्पृहताके बलपर कर चुके हैं। इस परिप्रेक्ष्यमें डा० दरबारीलाल कोठियाका अभिनन्दन निष्ठा और आस्थाका अभिनन्दन है। उस अभिनन्दनमालामें एक पाँखुरो अपनी ओर से मिलानेका अवसर मेरे लिए सीमाग्यसे कम नहीं है।

वे जैन जगत् के गौरव हैं

पं० कुंजीलाल जैन, गिरीडीह

श्री न्यायाचार्य डॉ० दरबारी लालजी कोठियाके सम्मानमें अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है, इस समाचारने मुझे अत्यधिक प्रसन्नता प्रदान की है। डाक्टर कोठिया जैन जगत्के गौरव हैं। जैन भारतीके विकास एवं प्रकाशमें उन्होंने जो योगदान दिया है वह ऐतिहासिक है। जैन न्यायके निश्चय ही वे अप्रतिम विद्वान् हैं। उनके द्वारा लिखित एवं सम्पादित ग्रन्थ उनकी प्रामाणिक एवं प्रौढ़ शास्त्रीय विद्वत्ताको युग-युग तक प्रसारित करते रहेंगे। बीसवीं सदीके जैन विद्वानोंकी मणिमालामें वे तेजस्वी रत्न हैं। विद्वत्ताके साथ-साथ उनकी मनस्विता, सहृदयता, वात्सल्य एवं विद्वानोंके साथ आत्मीय भाव सभी कुछ श्लाघ्य है। जैन विद्वानोंके लिए विद्वत् परिषदके माध्यमसे उन्होंने बहुत कुछ ऐसा किया है जो केवल उनसे ही साध्य था। अपने मित्रोंके प्रकाशमें आनेसे उन्हें जो आन्तरिक आनन्द आता है वह आजके ईश्यालु युगमें विस्मयकारी है। मैं जब भी उनसे मिला हूँ मुझे उनसे सहोदर ज्येष्ठ बन्धुका निश्चल प्यार मिला है। अपने क्षीण स्वास्थ्यमें भी जिनवाणीके प्रसार-प्रचारमें उनका जो अदम्य उत्साह है वह निश्चय ही उनके भावी श्रुत-केवलित्वका परिचायक है।

मैं अत्यन्त भक्तिभावसे श्री वीरप्रभुके चरणोंमें प्रार्थना करता हूँ कि डॉ० कोठिया शताधिक वर्षों तक स्वस्थ एवं प्रसन्न रहते हुए जैन वाङ्मयके भण्डारको भरते रहें एवं अपनी मृदु वाणीसे समाजकी आगम-श्रद्धाको दृढ़ बनाये रखें, जिससे रत्नत्रयकी पवित्र धारा अविच्छिन्न बहती रहे।

अद्वितीय प्रतिभाके धनी

ब्र० पं० गोरेलाल शास्त्री, द्रोणगिरि

विद्याके विभागोंमें न्याय सबसे क्लिष्ट समझा जाता है। विशेषतः तर्कपर आधारित जैन न्याय तो और भी गम्भीर है। न्यायकी परम्परामें आव्यात्मिक सन्तप्रवर पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी, माणिकचन्द्रजी कौन्देय, डॉ० महेन्द्रकुमारजी एवं डॉ० दरबारीलालजी कोठिया इन चार विद्वानोंकी, जिन्हें न्यायाचार्य-चतुष्टयीके नामसे कहा जाता है, अमूल्य सेवाओंका लाभ समाजको प्राप्त हुआ है। प्रारम्भके तीन विद्वान् तो इस संसारसे चले गये हैं। डॉ० कोठियाजीकी अमूल्य सेवाओंका लाभ अभी भी जैन समाजको मिल रहा है। इस समय डॉ० कोठियाजी निःसन्देह न्यायके क्षेत्रमें एकमात्र जैन विद्वान् हैं। इनके द्वारा न्यायके क्षेत्रमें जो अभूतपूर्व कार्य किया गया है वह अपने आपमें कीर्तिमान है। अद्वितीय प्रतिभाके धनी डॉ० कोठियाकी सेवाओंके उपलक्ष्यमें उन्हें समाजने अनेक सम्मानसूचक उपाधियोंसे सम्मानित किया है। अनेक उपाधियाँ अपने पुरुषार्थसे उन्होंने अर्जित की है।

डॉ० कोठियाजीका जो सम्मान किया जा रहा है वह निश्चित ही डॉ० कोठियाजीका नहीं सरस्वती और सारस्वतका सम्मान है। हम उनके इस अभिनन्दनके अवसरपर उनका हार्दिक अभिनन्दन करते और दीर्घ तथा यशस्वी जीवनके लिए मंगल-कान्माएँ करते हैं।

बड़े भाई कोठियाजी

पं० बाबूलाल जैन जमादार, बड़ौता

मान्य भाई डॉ० दरबारीलालजी कोठियाको हम सन् १९४१ से वीरसेवामन्दिर, सरसावामें वीर-शासन-जयन्तीके प्रारम्भ करनेके समयसे जानते हैं। उनके अनेकांत आदिमें उस समयके चल रहे आचार्य समन्तभद्र आदिकी मान्यताओंपर लेख लिखने तथा स्व० आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारके परम प्रिय डॉ० कोठियाजी साहित्यिक क्षेत्रमें नये-नये आनेसे उच्चपदस्थ विद्वानोंकी श्रेणीमें उभर कर आये थे। वह दृश्य आज भी हमारे सामने है जब वीर-सेवा-मन्दिरके नये भवनमें वीर-शासन-जयन्तीके अवसरपर ९ जुलाई १९६० को दिल्लीमें आचार्य जुगलकिशोरजीने उपस्थित श्रीमंतों, विद्वानों और समाजमान्य नेताओंके सम्मुख यह घोषणा की थी कि पं० दरबारीलालजी कोठिया हमारे धर्मपुत्र हैं। सभीने यह बात भावुकतामें समझी थी। लेकिन भाई कोठियाजीने अपने कार्योंसे उसे पूर्ण सत्य सिद्ध कर दिखाया। देहलीमें सन् १९५३ ई० में जब कोठियाजी श्री समन्तभद्र संस्कृत महाविद्यालयके आचार्यपदपर कार्य कर रहे थे, तभी हमारा उनका पारिवारिक सम्बन्ध जुड़ा। हम उन दिनों जैन बाल आश्रमके गृहपति थे। एक नवीन चेतनाको जन्म दिया गया कि जैन अनाथाश्रमको 'जैन बाल आश्रम' कहा जाना चाहिये। यह बालक जैन समाजकी विभूति हैं, अनाथ नहीं हैं। अतः इस शब्दका विरोध किया। सभीको यह सुझाव जैचा और खुशी है कि इसका नामकरण जैन बाल आश्रम हुआ। उन दिनों कोठियाजीके अलावा स्व० पं० सुरेशचन्द्रजी न्यायतीर्थ, पं० चन्द्रमालिजी शास्त्री भी हमारे साथ आश्रममें कार्य करते थे। नवीन चेतनाका वह युग था। उसका शुभ परिणाम, आश्रमसे उच्चपदोंपर लड़के नियुक्त हुए।

सन् १९५४ ई० में हम दि० जैन कालेज बड़ौतमें पहुँच गये। वहाँ पर डॉ० राजकुमारजी साहित्याचार्य संस्कृत विभागके अध्यक्ष थे। वह सन् १९५५ ई० के अन्तमें आगरा कालेज, आगरामें संस्कृत-विभागके अध्यक्ष पदपर चले गये तब हमने बड़ी प्रेरणा करके कोठियाजीको बड़ौत कालेजमें बुलवा लिया। अपने घर पर १५ दिन वह रहे। परिवार कितना प्रसन्न हुआ कि हमारी शिकायतें कोठियाजीसे करके अपने मनका कार्य बच्चे अपने ताऊके आदेशसे पूरा करा लेते थे। अच्छा समय व्यतीत हुआ। १५ दिन बाद दिल्लीसे भाभीको लिवा लाकर आप अलग मकानमें रहने लगे। अपने बड़ौतमें चारचांद लगा दिये। महान् तपस्वी वचनसिद्ध आचार्य नमिसागरजी महाराजकी प्रेरणासे आप प्रातःस्मरणीय चारित्र्यचक्रवर्ती श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराजकी समाधिमरणबेलामें कुंथलगिरि भी पहुँचे और सभीकी गुरुध्वजांजलि भेंट की। बादको आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके पदपर चले गये।

बड़ौतकी जैन समाजमें आप अत्यन्त प्रिय हो गये थे। हमलोगोंका तो परस्पर सौहार्द बढ़ता ही गया। आपके साथ अनेकों स्थानोंपर जाने-आनेका अवसर मिला।

आप विद्वानोंके हितैषी हैं। द्रोणगिरि पंचकल्याणकमें विद्वत् परिषद्के अधिवेशनमें नवयुवक विद्वान्को मंत्री पदपर लानेके लिए संघर्ष रहा। हम चाहते थे कि कोठियाजी प्रचारमन्त्री बनें। पर हमारी भावना टुकरा दी गई। उसका परिणाम ही अ० भा० दि० जैन शास्त्रपरिषदका पुनर्जागरणके रूपमें हुआ। और फिर समयकी गतिसे डॉ० नेमिचन्द्रजी जैन अध्यक्ष चुने गये। पश्चात् डॉ० कोठियाजी अध्यक्ष चुने गये और अब तो सभी क्रमसे चुने जाने लगे।

कोठियाजीको किसी विद्वान्का नाम उसकी कृतिपर न छपे और कोई दूसरा अपना नाम छपवा दे, इसपर भारी रोष होता है। ऐसे ही एक महान् ग्रंथपर एक विद्वानका नाम छपनेसे रह गया था, हमने जब उन्हें बताया तब उन्होंने उसका 'सन्देश'में विरोध किया। वे उस समय हृण्णशय्यापर थे। आखिरमें उस विद्वान्का नाम जब छपा तब ग्रन्थ वितरण हुआ, बिका। हमें समय-समयपर हमारे कार्योंपर सन्मार्ग-दर्शन आप कराते रहते हैं और हमारी भूलोंपर भी प्रश्नवाचक चिह्न लगाते रहते हैं।

आप हमारे अग्रज हैं। इनका आशीर्वाद हम लेते हैं और इनके चिरायुकी कामना करते हैं।

अनुपम विद्वान्

प्रो० उदयचन्द्र जैन, वाराणसी

न्यायाचार्य श्री दरबारीलालजी कोठिया जैनन्याय तथा जैनदर्शनके अनुपम विद्वान् हैं। आपसे मेरा सर्वप्रथम प्रत्यक्ष परिचय श्री वीर दि० जैन विद्यालय पपौरामें सन् १९३७ में हुआ था, जहाँ मैं विशारद कक्षामें अध्ययन कर रहा था और आपने एक सकल अध्यापकके रूपमें उक्त विद्यालयमें पदार्पण किया था। उस समय पपौराजी क्षेत्र तथा विद्यालयके उत्साही मंत्री बाबू ठाकुरदासजी क्षेत्र तथा विद्यालयकी उन्नतिके लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। यही कारण है कि उस समय पपौरा विद्यालयमें श्री पं० किशोरीलालजी शास्त्री, श्री पं० दरबारीलालजी कोठिया और श्री पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य जैसे उच्चकोटिके विद्वान् कार्यरत थे। उस समय पपौरा विद्यालयका वातावरण परम शान्त एवं आकर्षक था। छात्रसंख्या ५०, ६० के लगभग रहती थी। विद्यालयके संस्थापक श्री प्रतिष्ठाचार्य पं० मोतीलालजी वर्णी भी वहीं रहते थे।

पपौरा विद्यालयमें मैंने कोठियाजीसे न्यायदीपिका, प्रमेयरत्नमाला, आप्तपरीक्षा और युक्त्यनुशासन आदि न्याय तथा दर्शनके ग्रन्थोंका अध्ययन किया है। आपकी पाठनशैली अत्यन्त सरल, सुबोध तथा आकर्षक है जिससे छात्रोंको न्यायशास्त्रके कठिन स्थल भी सुगमतासे समझमें आ जाते हैं। आपकी गम्भीर विद्वत्ताका मुझपर जो प्रभाव पड़ा वह अभी भी हृदयपटलपर अंकित है। मैं सन् १९४० में पपौरा विद्यालयसे श्री स्वाहाद महाविद्यालय वाराणसीमें उच्च अध्ययनके लिए आ गया और कोठियाजी भी पपौरासे मथुरा चले गये। इसके अनन्तर बीस वर्ष बाद हम लोग सन् १९६० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें प्राध्यापक होकर आ गये तथा कुछ वर्षों तक एक ही भकानमें साथ-साथ स्नेहपूर्वक रहे। सन् १९७४ में कोठियाजीने विश्वविद्यालयकी सेवासे अवकाश ग्रहण कर लिया। हम लोग हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत महाविद्यालयमें अत्यन्त सीहार्दपूर्ण वातावरणमें एक साथ रहे।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कोठियाजीका मुझपर प्रारंभसे ही अब तक विशेष स्नेह रहा है और मैं सदा ही आपका अत्यन्त आदर और सम्मान करता हूँ। यह अत्यन्त प्रसन्नताकी बात है कि कोठियाजी जैसे अनुपम विद्वान्का सार्वजनिक अभिनन्दन हो रहा है और इस अवसरपर उनको अभिनन्दन-ग्रन्थका समर्पण स्वभाविक ही है। मेरी हार्दिक कामना है कि कोठियाजी पूर्ण स्वस्थ रहते हुए शतायु होकर हम लोगोंका मार्गदर्शन करते रहें।

मेरे आद्य विद्यागुरु

प्रो० डॉ० राजाराम जैन, आरा

सन् १९३९ में प्राइमरी चौथी कक्षा पास कर श्री वी० दि० जैन विद्यालय पपौराजी (टीकमगढ़, मध्यप्रदेश) में अध्ययनार्थ पहुँचा था। उस समय यह विद्यालय श्रेष्ण-कोटिमें गिना जाता था।

विद्यालयमें प्रवेश तो मुझे मिल गया, किन्तु घरकी याद अधिक आती। इसी बीच मेरा परिचय वहींके एक अध्यापकसे हुआ। वे नाटे कदके, गौर-वर्ण व्यक्ति, नुकीली नाक, सरल-स्वभाव एवं खट्टरघारी थे। रथाकृतिके ७५वें मन्दिरका एक कमरा उस समय उनका अध्ययन एवं संगीत-साधनाका कक्ष था। उनकी इन प्रवृत्तियोंसे मैं उनसे बहुत ही प्रभावित हुआ।

एक दिन मैं अपने विद्यालयकी सीढ़ीपर बैठकर घरकी स्मृतिमें खोया हुआ आँसू बहा रहा था। उन्होंने मुझे देख लिया और मेरे गृह-विछोह जन्य दुःखको समझ लिया। वे अत्यन्त स्नेहपूर्वक मुझे अपने घर ले आये और अपनी धर्मपत्नीसे बोले—“देखो! यह अपना लड़का है। यह घरकी याद करके रो रहा है, इसे समझाओ और जलपान कराओ।” उन पति-पत्नीके इस स्नेहिल व्यवहारसे मैं न केवल अपने घरके विछोह-जन्य दुःखको भूल गया, अपितु, मुझे पढ़ने-लिखनेकी पर्याप्त प्रेरणा भी मिली। उस सौम्य मूर्तिका नाम था पं० दरबारीलालजी कोठिया और उस श्रद्धेया महिलाका नाम था श्रीमती पं० चमेली बाईजी। उस समय ये केवल प्राचीनन्यायशास्त्री, दर्शनशास्त्री, सिद्धान्तशास्त्री एवं न्यायतीर्थ थे। किन्तु अपनी लगन एवं अदम्य उत्साहके कारण वे जैन समाजके सम्भवतः चौथे न्यायाचार्य एवं न्यायाचार्य-पदवीधारी दूसरे पी० एच० डी० डाक्टर हुए।

श्रद्धेय कोठियाजी मेरे आद्य जैन-विद्यागुरु हैं। वे मेरी स्मृति-शक्ति, विनम्रता एवं सेवावृत्तिसे मुझसे अत्यधिक स्नेह करते थे। जब आप सन् १९४० में पपीरा विद्यालय छोड़कर श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम मथुराके प्रधानाचार्य पदपर जा रहे थे उस समयका वह दृश्य अभी तक मेरे सम्मुख है। उनकी विदाई समस्त छात्रोंने ही नहीं, पपीरा, माहूमर एवं आसपासके निवासी जैनाजैनोंने ३ मील दूर टीकमगढ़ तक जाकर साश्रुनयन होकर की थी। वह उनकी लोकप्रियताका आदर्श उदाहरण था। ऐसा प्रतीत हो रहा था, जैसे अयोध्याके प्रजाजन विलख-विलख कर बनवासके समय राम और सीताको विदाई दे रहे हों।

भले ही पपीराजी छोड़ देनेसे वहाँके छात्रोंकी हानि हुई हो, किन्तु कोठियाजीने बाहर जाकर अपनी जो प्रगति की, वह जैन-विद्याके क्षेत्रका एक स्वर्णिम अध्याय बन गया है। आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र विद्यानन्द एवं अन्य अनेक आचार्योंके कृतित्व एवं व्यक्तित्वपर उन्होंने भवेषणापूर्ण अभिनव प्रकाश डाला।

जैन न्यायके प्रमुख ग्रन्थ—न्यायदीपिका, प्रमाणपरीक्षा, आप्तपरीक्षा जैसे दुर्लभ एवं दुर्लभ ग्रन्थोंका सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद कर उनका तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। “जैन तर्कशास्त्रमें अनुमानविचार” नामक शोध-ग्रन्थमें केवल जैन-परम्पराके अनुमानका ही विमर्श प्रदर्शित नहीं किया, अपितु भारतीय तर्कशास्त्रमें प्रतिपादित अनुमानका भी विमर्श किया है। उनका यह ग्रन्थ सर्वत्र प्रशंसित हुआ है।

डॉ० कोठिया प्रथम विद्वान् हैं जिन्होंने न्यायदीपिकाके सम्पादनमें घोर परिश्रम कर अत्याधुनिक शोध-दृष्टिपूर्वक उसका पाठालोचन एवं पाठसंशोधनके साथ प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद तथा आवश्यक शोध-टिप्पणियों एवं परिशिष्टोंसे उसे सर्वोपयोगी बना दिया। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसपर उन्होंने लगभग १०० पृष्ठोंकी एक विस्तृत समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक भूमिका लिखी, जो स्वयं एक D. Litt. की उपाधिसे भी श्रेष्ठ मानी जा सकती है।

विविध स्मृति-ग्रन्थों, अभिनन्दन-ग्रन्थों तथा स्तरीय शोध-पत्रिकाओंमें प्रकाशित शताधिक गम्भीर शोध-निबन्धोंके कारण उन्होंने दार्शनिकोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

चाहे साधनविहीन छात्रोंकी सहायताका प्रश्न हो, चाहे संस्थाओंके संचालन या सहायताका प्रश्न हो, चाहे सामाजिक उत्सवोंके आयोजनका प्रश्न हो या सामयिक प्रवचनोंका। एक आवाजपर वे स्वीकृति प्रदान कर कार्य करने हेतु अग्रसर रहते हैं। एक बार इन पत्रिकोंका लेखक घोर आर्थिक संकटमें था। एक हस्तलिखित दुर्लभ विशाल ग्रन्थकी अत्यन्त खर्चीली फोटो-कॉपी तथा एक अन्य अप्रकाशित लघु ग्रन्थका प्रकाशन स्वयं करा पानेमें असमर्थ था। अतः उन्हें एक कार्ड लिखा और उनकी ओरसे उसकी पूर्ण-व्यवस्थाका आश्वासन तुरन्त ही आ गया। संकोच अथवा प्रमादवशमें उसका लाभ नहीं उठा सका, किन्तु उनकी ओरसे व्यवस्थाकी स्वीकृतिमें विलम्ब नहीं हुआ।

वस्तुतः साधन-विहीनों एवं संकटापन्नोंकी सहायता करना उनका स्वभाव बन गया है। यद्यपि आज वे सेवामुक्त हैं, किन्तु फिर भी साहित्यिक-शोध एवं सामाजिक-कार्योंसे वे मुक्त नहीं। वे आजकी पीढ़ीके पक्ष-प्रदर्शक हैं। उनके सारस्वत-अभिनन्दनके क्रममें मैं उन्हें सादर प्रणाम करता हूँ तथा उनके स्वस्थ जीवन एवं दार्शनिक-संशोधन-कामना करता हूँ।

बहु आयामी व्यक्तित्वके धनी

डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर, नागपुर

एक दूर-दराजके गाँव नैनागिरि (छतरपुर) म० प्र० में जनमे हीरे-से बालकने अनेक कटीली बाड़ों-को पारकर साहूमल और वाराणसीके विद्यालयोंमें अपनी सृजनात्मक कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाको सुदृढ़ संकल्प और सामयिक निर्णयके आधारपर अच्छी तरह विकसित किया। परिपक्वता और वास्तविकता की अनेक सीढ़ियोंको पार करनेवाले उसी बालकको ही विद्वत् तथा जन समाजने कालान्तरमें न्यायाचार्य डॉ० कोठियाके नामसे पहचाना। यह उनके परम पुरुषार्थकी अभिट कहानी है।

शालीनताकी प्रतिमूर्ति, करुणाद्रताका उत्स और यथार्थवादी चिन्तक डॉ० कोठियाजीका सारा जीवन धार्मिक और आत्मिक पहलूका एक अनूठा सच्चा दस्तावेज रहा है, जिसने अनेक भूले-बिसरे निर्धन असहाय छात्रोंको सशक्त अर्थव्यवस्था देकर / दिलाकर उनके जीवनमें प्रगति और खुशहालीकी नई खिड़कियाँ खोलीं, जीवनकी यथार्थता तक पहुँचनेका पाथेय दिया। यह उनकी सामाजिकता, धार्मिकता और सामुदायिक चेतनाका आदर्श है।

संस्थाएँ खड़ी कर देना तो सरल है। पर उन्हें हरी-भरी बनाये रखना अत्यन्त कठिन है। इसके लिए निःस्वार्थ त्याग, कठोर संकल्प, साहसिक सहिष्णुता और सामञ्जस्यपूर्ण गुणवत्ता जैसे कतिपय तत्त्वोंका आकलन निहायत आवश्यक है। गुरुवर्य कोठियाजी ऐसे तत्त्वोंके निर्मम धनी है। उनके इन्द्रधनुषी व्यक्तित्वका सहारा पाकर विद्वत् परिषद, वर्णों जैन ग्रन्थाला और वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जैसी संस्थाओंने काया-कल्पका संवरण किया है, वे हरी-भरी हुई हैं। यह पंडितजीकी सांस्कृतिक चेतना, कृतज्ञता और वस्तुनिष्ठाका सुखद परिणाम है। अतः वे व्यक्ति नहीं, संस्थान हैं।

दर्शन और न्याय जैसे शुष्क और कठोर विषयका चर्चण करनेवाले इस मिष्टभासी मनीषीने अपनी सृजनारमक शक्तको अध्ययन-अध्यापन और शोधक्षेत्रमें भी भरपूर उड़ेली और वहाँ प्रभावोत्पादक गहन दार्शनिक विचारधाराको तुलनात्मकताकी पृष्ठभूमिमें प्रस्तुत कर अध्ययन-मननके क्षेत्रमें पुराने प्रतिमानोंको ध्वस्त किया और नये मानोंके संबलपर मौलिकताको प्रस्थापित किया। उन्होंने अनेक ग्रन्थोंका संपादन और प्रणयन कर सरस्वतीके भण्डारको समृद्ध किया, यह उनकी साहजिक प्रतिभा, बौद्धिक चिन्तन और गहन पाण्डित्यका फल है।

आपाधापीसे दूर रहनेवाले इस चुम्बकीय व्यक्तित्वकी सौहार्दभरी व्यावहारिकताने नई पीढ़ी और पुरानी पीढ़ीके बीच अंकित खाईको पाटनेका जो अथक प्रयत्न किया है और उसको जीवन-गंगाको एक नये उत्साह और निदर्शनके साथ जो प्रवाहित किया है, मतिशील बनाया है वह अपने आपमें विचक्षणता और तेजस्विताका प्रतीक है। तालमेल बैठानेकी अद्भुत प्रतिभामें डॉ० कोठियाजीका बन्धुत्वतः एक विराट कल्पतरुके रूपमें खड़ा हो जाता है। पुरजोश बहुसके दौरान आपके व्यावहारिक तर्क गहराईको छू जाने वाले होते हैं और वे विषयकी निश्चल और निरावरण अभिव्यक्ति करके ही विराम लेते हैं। अतः वे भारतीय दार्शनिक परम्परामें जीते जागते नक्षत्र हैं।

ऐसे बहु आयामी व्यक्तित्वके धनी गुरुवर्य डॉ० कोठियाजीके अभिनन्दनकी प्रक्रियामें श्रद्धा-सुमनके इन दो शब्दोंकी पावन-भेंट मणिमालाके गुम्फनका कार्य करेंगे। आपका व्यक्तित्व और कर्तृत्व और अधिक प्रशस्त हो, इसी विनम्र भावनाके साथ.....

साहित्यिक शोध-क्षेत्रमें महनीय योगदान

डॉ० हरीन्द्र भूषण जैन, उज्जैन

जैन दर्शनके अध्ययन-अध्यापन तथा शोध-लोकके क्षेत्रमें डॉ० कोठियाजीका महनीय योगदान है। उन्होंने 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' तथा 'श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला'के माध्यमसे जैन साहित्यके प्रकाशनमें भी अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। १९८० में 'वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' नामक ५४४ पृष्ठोंका विशालकाय ग्रन्थ डॉ० कोठियाके अनेक वर्षोंके शोधका निचोड़ है।

सितम्बर १९८२ में भारतीय ज्ञानपीठ एवं आचार्य शान्तिसागर-ट्रस्ट द्वारा बम्बईमें आयोजित जैन विद्वत्संमेलणमें पठित उनके 'नियमसारकी ५३वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन' शीर्षक निबन्धने विद्वानोंका ध्यान आकृष्ट किया, जब डॉ० कोठियाने आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेवकी व्याख्या सम्बन्धी भूलकी ओर संकेत किया। डॉ० कोठियाने अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्के अध्यक्षके रूपमें अनेक वर्षों तक परिषद्को गौरवान्वित किया है।

मैंने डॉ० कोठियाको बहुत निकटसे देखा है। वे बड़े दयालु हैं, प्रखर तार्किक हैं, कठोर परिश्रमी हैं और साहित्य-समाराधनके लिए पूर्णतः समर्पित हैं। मैं उनके दीर्घ एवं यशस्वी जीवनकी कामना करता हूँ।

सरल एवं स्नेही विद्वान्

डॉ० रतनचन्द्र जैन, भोपाल

'न्यायाचार्य डॉ० दरबारीलालजी कोठिया' यह नाम अक्सर बचपनमें सुना करता था अपने पूज्य पिता श्री स्व० पं० बालचन्द्रजी प्रतिष्ठाचार्य लुहारीवालोकें मुखसे। पिताजी बड़े स्नेहसे यह नाम लिया करते थे। इस नामको अलंकृत करनेवाले विद्वान्की विद्वत्तासे बड़े प्रभावित थे वे। नामको बार-बार आदर-पूर्वक सुननेसे मेरे मनमें भी इस अज्ञात छविके प्रति अनायास श्रद्धा घर कर गई। मन प्यासा हो गया दर्शनके लिए। विद्वानोंका कहीं समागम होता तो जरूरें डॉ० दरबारीलालजी कोठियाको ढूँढ़ने लगतीं।

किन्तु दर्शनका अवसर मिला सन् १९७३ में, जब वे षष्ठ्य वर्षमें भोपाल पधारे। उनके आगमनकी खबर सुनते ही मिलनेके लिए दौड़ पड़ा। मन्दिरमें आपका प्रवचन चल रहा था। खादीके हिमधवल परिधानसे विभूषित आपकी देहसे सत्त्वगुण-सा प्रवाहित हो रहा था। मुखपर ज्ञानकी आभा और नेत्रोंमें मैत्री, प्रमोद और कृष्णाकी छाया। तत्त्वार्थसूत्रका अत्यन्त मार्मिक विवेचन आपके श्रीमुखसे सुनकर सम्पूर्ण श्रावकसमाज मन्त्रमुग्ध था। उन्हें पहली बार एक न्यायके आचार्य, डॉक्टर एवं प्रोफेसरसे जिनेन्द्रदेवकी वाणीका मर्म समझनेको मिला था।

उन दिनों मैं हमीदिया महाविद्यालय भोपालके संस्कृत-विभागमें कार्यरत रहते हुए निश्चय और व्यवहारनयोंपर पी-एच० डी० के लिए शोधकार्य करनेकी योजना बना रहा था। सोचा ज्ञानगंगा अनायास

वाराणसीसे बहती हुई भोपाल आ गई है। अवगाहनके लाभसे वंचित नहीं रहना चाहिए। निश्चय और व्यवहारनयोंके विषयमें एक न्यायाचार्यसे बढ़कर मार्गदर्शक और कौन हो सकता है? मैं अपने शोधकार्यकी रूपलेखा लेकर अवकाशके समय उनके पास पहुँचा और अपने स्वर्गीय पिताश्रीके माध्यमसे परिचय दिया। वे हर्षसे प्रफुल्लित हो उठे। गले लगा लिया।

शोधकार्यकी रूपरेखा उन्होंने बड़े गौरसे देखी। वे प्रसन्न हुए किन्तु मेरे द्वारा निष्पन्न होनेसे उसमें अनुभवहीनताजन्य दोष थे ही। न्यायाचार्यजीने अपना अमूल्य समय देकर उसे परिमार्जित कर दिया।

दूसरी बार दर्शनका अवसर मिला सागरमें १९८० में, जब परमपूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराजके सान्निध्यमें षट्खण्डागमकी वाचना चल रही थी। मैं अपना शोध-प्रबन्ध पूरा कर चुका था।

डॉ० दरबारीलालजी कोठियाको मैंने वह शोधप्रबन्ध दिखलाया। उसे देखकर उनके नेत्र हर्ष और स्नेहसे चमक उठे। उन्होंने मेरी पीठ थपथपायी और सफलताका आशीर्वाद दिया।

इस प्रकार पूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराज और श्रद्धेय डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके दुर्लभ, अमूल्य एवं मंगलमय मार्गदर्शनसे मेरा शोधप्रबन्ध पी-एच० डी० की उपाधिके लिए स्वीकृत होने योग्य बना।

न्यायाचार्यजीने अपने शोधपूर्ण लेखनसे जैनन्यायके कोशको समृद्ध किया है। उनके द्वारा दीर्घकाल तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयका जैन-बौद्धदर्शन विभाग अलंकृत हुआ है। किन्तु आपके व्यक्तित्वको महान् बनाने वाले जो अन्तरंग तत्त्व हैं वे हैं आपके आत्माकी ऊँचाई, हृदयकी विशालता, सरल और स्नेही अन्तस्, जिसमें छोटे-बड़े, विद्वान्-अविद्वान सभीको स्थान मिलता है। आप दीर्घायु रहकर जैनसाहित्यको समृद्ध करते हुए जिनशासनकी प्रभावना करते रहें यह मंगलकामना है।

मूर्धन्य विद्वान् कोठियाजी

पं० हीरालाल जैन 'कौशल', देहली

श्री कोठियाजी समाजके मूर्धन्य विद्वानोंमें हैं और उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है। साहित्य और समाजकी इन्होंने महती सेवा की है।

आपने अनेक पदोंपर रहकर अपने उत्तरदायित्वको बड़ी निष्ठा और लगनसे निभाते हुए कई संस्थाओंमें तो नूतन जागृति ला दी है। श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला व शोधसंस्थानके लिए किया गया आपका कार्य अविस्मरणीय है।

इसके साथ ही कोठियाजी अत्यन्त सहृदय, उदार, सरल तथा मिलनसार व्यक्ति हैं। वे मित्रोंके सच्चे मित्र हैं। अपने साथियों और छात्रोंको आगे बढ़ानेकी उनकी अपनी विशेषता है। समय-समयपर संस्थाओं और जहुरतमन्दोंकी आप दिल खोलकर सहायता करते रहते हैं।

आप अच्छे विचारक, परिश्रमी तथा अध्ययनशील विद्वान् हैं। अध्ययन और लेखन आपके रुचिकर विषय हैं, किसी विषयमें निष्कर्षपर पहुँचनेसे पहले उसकी तह तक पहुँचना उनका स्वभाव है।

श्री कोठियाजीका अभिनन्दन उनकी विद्वत्ता और दीर्घकालीन सेवाओंका अभिनन्दन है। श्री कोठियाजी स्वस्थ रहें और दीर्घ आयु प्राप्त कर समाज व साहित्यकी इसी प्रकार सेवामें रत रहें, ऐसी मंगल-कामना है।

जैन न्यायके अद्वितीय प्रकाण्ड पण्डित

पं० रतनलाल कटारिया, केकड़ी

समग्र विषयोंमें न्यायका विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है, चाहे वह लौकिक हो, चाहे धार्मिक वह एक प्रकार-से सब विषयोंकी व्याकरण है। धार्मिक न्यायोंमें भी जैन न्यायका स्थान सर्वोपरि है। पंडितप्रवर श्री दरबारी-लालजी कोठिया खासतौरसे इसीके विशेषज्ञ (Specialist) हैं। उन्होंने अपना जीवन इसीके तुलनात्मक तलस्पर्शी अध्ययन-मनन-चिन्तनमें लगाया है। इस विषयको त्रिविध दृष्टियोंसे आत्मसात् कर उन्होंने अनेक प्राचीन ग्रन्थोंका सुन्दर, सुबोध, सम्पादन, अनुवादादि किया है एवं मौलिक ग्रन्थोंका भी निर्माण किया है, अनेक शिष्योंको इस विषयमें निष्णात किया है।

इस समय इस विषयके और कोई दूसरे जैन विद्वान् इतने विशेषज्ञ नहीं हैं जितने आप हैं। इस तरह आप इस विषयके अद्वितीय प्रकाण्ड पण्डित हैं।

वीर-सेवा-मंदिरमें वर्षों तक समीक्षा-सम्राट् पाण्डित्यविभूति आचार्य श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार-के साथ रहकर आपने एतद्-विषयक अनेक शोध-खोज पूर्ण लेख भी लिखे हैं। न्यायके सिवा जैन-सिद्धान्त, दर्शन, इतिहास, काव्यादिके भी आप विचक्षण विद्वान् हैं। दि० आचार्योंकी प्राचीनता, विशुद्धता, महनीयता-को भी अकाट्य रीतिसे आपने प्रमाणित किया है। इस तरह जैन साहित्यकी जो आपने महान् गौरवपूर्ण सेवा की है वह वास्तवमें अभिनन्दनीय है।

आप शतायुः होकर इसी प्रकार श्रुतकी श्रीवृद्धि करते रहें, यही शुभ कामना है।

मेरी पहली मुलाकात

श्री महेन्द्र कुमार 'मानव', छतरपुर

कहावत है कि "विद्या ददाति विनयम्"। पं० दरबारीलाल कोठियाको उनके घरमें पहली बार देखकर ऐसा लगा था कि यह व्यक्ति तो एक साधारण गृहस्थ है। उनको देखकर यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि वे जैन न्यायके एक प्रकांड विद्वान्, महापंडित, न्यायालंकार, न्यायरत्नाकर, न्यायवाचस्पति, न्यायाचार्य, शास्त्राचार्य, एम० ए०, पी०एच० डी० होंगे। उनमें ऊपरकी कहावत चरितार्थ होती है।

पुस्तक-मुद्रणके सिलसिलेमें डॉ० नरेन्द्र विद्यार्थी और उनकी पत्नी डॉ० रमा जैनके साथ अक्टूबर १९७९में मेरा वाराणसी जाना हुआ था। दम्पतिके साथ मैं भी पंडितजीके दर्शनार्थ उनके निवासपर पहुँचा। काशीमें बरसों रहनेके बाद और संस्कृतके पंडितोंकी संगति करके भी पंडितजी आज पूरे बुन्देलखण्डी हैं।

पंडितजी घरमें धोती और बंडी पहने थे। बाहर निकलते वक्त वे धोती, कुरता और गाँधीटोपी पहन लेते हैं। उनका विनम्र, सरल, शालीन व्यक्तित्व देखकर मैं चकित रह गया था।

पंडितजीने भोजन करनेका आग्रह किया। जब हम लोगोंने मना किया, तो तत्काल दूसरे दिनके लिये निमन्त्रण दे दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल हम लोग पंडितजीके यहाँ भोजन करने गये। पंडितजीकी पत्नी भी बड़ी सीधी-सादी और गृहस्थिन महिला हैं। हम लोगोंने उनके हाथका बना शुद्ध सात्विक भोजन किया।

चलते वक़्त पंडितजीने अपनी सम्पादित कृति आचार्य विद्यानन्दकी 'प्रमाण-परीक्षा' मुझे भेंटमें दी ।

निःसन्देह उनकी यह रचना जैन दर्शनके अभ्यासियोंके लिए बहुत उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है । उत्तरप्रदेश, शासनने उन्हें इस रचनापर पुरस्कृत एवं सम्मानित किया है ।

पंडितजी विद्वान् तो हैं ही, अनेक ग्रन्थोंकी रचना एवं सम्पादन करनेके कारण उच्चकोटिके साहित्यकार भी हैं ।

डॉ० कोठियाकी विशेषता यह है कि कई शिक्षण-संस्थाओं और सामाजिक समितियोंको उन्होंने अपनी सेवायें दी हैं । जैन सन्देश और अनेकान्त जैसे साप्ताहिक, मासिक पत्रोंके सम्पादनमें विशिष्ट सहयोग दिया है ।

समाज और शासनने उनकी सेवाओंका मूल्यांकन किया है और उन्हें मानद उपाधियों तथा सम्मानोंसे विभूषित किया है ।

मेरी हार्दिक शुभकामनायें हैं कि पंडितजी चिरायु हों और चिरकाल तक जैन विद्या और जैन समाजकी सेवा करते रहें ।

उनका जीवन : एक खुली पुस्तक

श्री नेमीचन्द पटोरिया, श्रीमती रतनप्रभा जैन, बम्बई

एक आये, दो आये, ऐसे पचास वर्ष चुपचाप आये, और हर वर्ष सहर्ष आपका सहज स्नेह-रस हमें उपहारमें देते गये । हम पास रहे या दूर रहे, पर यह स्नेह-रस हमें अजस्र मिलता रहा । सच तो यह है कि आपका स्नेह 'बिना-रस' न रहा, वह सदा 'बना-रस' ही रहा ।

हमें मालूम है कि आप अपनी प्रज्ञा और पौरुषके बलपर तलैटीसे शिखरपर पहुँच गये । हम टुकुर-टुकुर देखते ही रहे, और जहाँके तहाँ ही खड़े रहे । फिर भी आपका व्यवहार व स्नेह पूर्ववत् ही रहा । उसे अब हमारी जराबस्थामें जरा भी अव्यवस्था न आने देंगे, ऐसी आशा है ।

कहावत है कि 'किसीका मुँह चलता है, और किसीके हाथ चलते हैं' । किन्तु आपने इस लोक-कहावतको ही झूठला दिया है । आपका मुँह भाषण व संभाषणमें खूब चलता है, और साथ ही लेखनी थामकर आपके हाथ भी खूब चलते हैं । कितने ढेर कागज रंग डाले ! बीसों ग्रन्थ लिखित, सम्पादित व अनुवादित हो गये । तुम्हारी कलम और कलामका कमाल जबरदस्त है ।

और शोर है कि आपका 'पद' बहुत बड़ा हो गया है । मैंने पढ़ा था कि 'बुद्धिमानका तो सिर बड़ा होता है, पद नहीं ।' मैं इसमें असमंजसमें था । मेरे पड़ोसीने मेरी असमंजसता निकालकर कहा कि श्री कोठियाजीका चामका पद नहीं, शुभ नामका, सम्मानका, स्वाभिमानका पद बड़ा है । तब समझा कि क्यों लोग अपनी 'पद-उन्नति' के पीछे पागल हो दौड़ते फिरते हैं ।

वैसे देखा जाय तो आप 'ऊपर कुछ और भीतर कुछ' और हैं। आपका बहिः रूप कितना सीधा-सादा है, पर अन्तर तो गम्भीर ज्ञान और धर्मसिद्धान्तोंसे ठसाठस भरा है, फिर भी आर्जव रूप हैं। आपका जीवन एक खुली पुस्तक है जिसमें जैसा मन, वैसा वचन और वैसा ही आचरण है। इसीको तो बड़प्पन कहते हैं।

अन्तमें भावना भाता है कि आप तनसे स्वस्थ रहें, व मनसे 'स्व-स्थ' रहें, व लोकोत्तर कार्य करते जावें।

भावना तो है कि—आप जीवें वर्ष हजार। आपका नाम हो द्वार-द्वार ॥

डॉ० साहबके सम्पर्कमें कैसे आया

श्री राय देवेन्द्र प्रसाद जैन एडवोकेट, गोरखपुर

डॉ० दरबारीलाल कोठियासे मेरी सर्वप्रथम भेंट सन् १९७६ में मूडबिद्रीमें हुई थी। मैं अपनी धर्म-पत्नी और छोटे पुत्र राय दीपेन्द्र जैन एवं एक नौकरके साथ तीर्थोंकी वन्दनाके लिए भारत भ्रमणपर निकला था। जब मैं यात्रा करता हुआ मूडबिद्री पहुँचा, और वहाँ जैनमठमें पूज्य भट्टारक चास्कीति स्वामीसे मिलने गया तो वहाँ उनके पास ठहरे हुए डॉ० साहब सपत्नीक और पं० कैलाशचन्द्रजीसे भी भेंट हो गयी। आप लोग भी वहाँ एक दिन पूर्व ही पहुँचे थे। इस प्रथम साक्षात्कारके पूर्व एक बार डॉ० साहब किसी अन्य कार्यके हेतु गोरखपुर पधारे थे। पर मैं उन दिनों बाहर गया हुआ था। अतः उस समय उनका दर्शन न हो सका। पूज्य भट्टारकजी द्वारा उनके तथा पं० कैलाशचन्द्रजीके सम्मानमें मूडबिद्रीके प्रसिद्ध एवं विशाल चन्द्र-प्रभु-मन्दिरमें 'लक्ष्मीदीपमालिका-उत्सव' आयोजित किया गया था। धर्मस्थलके धर्मनिष्ठ श्री वीरेन्द्र हेंगड़े द्वारा इन विद्वानोंका सम्मान किया जाना था। अतएव वे भी पधारे हुए थे। मैं भी उसमें शामिल था।

सन् १९७६ में ही मूडबिद्रीके पूज्य भट्टारकजीका चातुर्मास हमारे यहाँ (नन्दन-भवन, गोरखपुरमें) हो रहा था। भट्टारकजीने मुझसे डॉ० साहबको बुलानेके लिए कहा। मैं संकोच कर रहा था कि केवल दो दिनोंमें हुई एक बारकी भेंटके आधारपर मैं डॉ० साहबको आनेके लिए कैसे लिलूँ। फिर भी भट्टारकजीकी प्रेरणापर उन्हें पत्र लिखा। हमें आश्चर्य हुआ कि डॉ० साहब पत्र मिलते ही गोरखपुर आ गये। मेरे निवास स्थानपर उनके प्रवचन और चर्चाएँ हुईं। उनसे उनकी विद्वत्ता, सरलता और निरभिमानता आदिकी न केवल मुझपर, अपितु मेरे समस्त परिवारपर छाप पड़ी। उनके अस्मिय व्यवहार एवं आडम्बरहीन व्यक्तित्वने जो हमारे परिवारपर अमिट प्रभाव डाला, उससे हम सब उनके भक्त हो गये।

चातुर्मासके पश्चात् पूज्य भट्टारकजीके साथ हम भी सपत्नीक सम्मेलन-शिखरकी यात्राके लिए तैयार हो गये। और हमारा प्रथम पड़ाव बनारसमें हुआ। वहाँ हम दो दिन रहे, और डॉ० साहबके यहाँ काफी रात तक बैठने, धर्मचर्चा करने एवं भट्टारकजीके सम्मानमें समाज द्वारा आयोजित सभामें सम्मिलित होनेका हमें सौभाग्य मिला। इस आयोजनने और उनके साथ हुई बातचीतने हम लोगोंको डॉ० साहबके और अधिक निकट ला दिया।

इसके उपरान्त हमारे छोटे लड़केकी शादी जगाधरीके लाला जयकिशन प्रसादकी पोतीसे निश्चित हुई। इस अवसरपर भी मेरे साधारणसे निम्नत्रणको पाकर डॉ० साहब गोरखपुर पधारे। हम सबको बड़ा

हर्ष हुआ। डॉ० साहबने हमारे अनुरोधपर सप्तनोक पधारकर आये हुए रिश्तेदारों और गृहके परिवार जनोंपर अपने सरल व्यवहारकी पुनः छाप छोड़ी। सभी रिश्तेदारोंसे हमने आपका परिचय कराया और सबसे उनकी आत्मीयता हो गई। इस तरह डॉ० साहबके साथ हमारा उत्तरोत्तर सम्बन्ध मधुरसे सधुरतम होता गया।

जब-जब उनसे भेंट हुई, तब-तब मुझे और मेरे परिवारको कुछ न कुछ धर्म एवं ज्ञानकी प्राप्ति होती ही गई। बहुत-सी शंकाएँ भी निर्मूल हुईं। जैनधर्म एवं देव, शास्त्र और गुरुके प्रति आस्था बढ़ती गई।

पूज्य भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी श्रवणवेलगोला, सन् १९७७ में हमारे यहाँ पधारे। इस अवसरपर भी डॉ० साहब गोरखपुर पधारे। बादमें हम सभी लोग चन्द्रपुरी और सिंहपुरीके दर्शन करते हुए मोटरसे बनारस पहुँचे। बनारसमें भट्टारकजीकी सभी मन्दिरोंके दर्शन करानेके लिए डॉ० साहब उनके साथ ४ दिन रहे। इस अवसरपर भी डॉ० साहबका सीधा-सादा व्यवहार हर्षदायक अनुभव किया।

मैं सपरिवार सिद्धान्तचक्रवर्ती, एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजीके चरणसान्निध्यमें अक्सर आता जाता रहता हूँ। एलाचार्यजी कहते हैं कि डॉ० कोठिया जैसा विद्वान् और सरल व्यक्ति मिलना कठिन है। जब एलाचार्यजीका चातुर्मास इन्दौरमें हो रहा था और जैन हाईस्कूलमें आचार्य शान्तिसागरजीकी जयन्ती आयोजित थी। इसमें ५० हजारसे ऊपर लोग एकत्रित थे। पूज्य एलाचार्यजीने अपने प्रवचनमें जैनविद्याके प्रचार-सन्दर्भमें चार न्यायाचार्योंकी चर्चा करते हुए कहा था—‘समाज और जैनधर्मका सौभाग्य है कि डॉ० दरबारीलाल कोठिया जीवित हैं और श्रुत और समाजकी सेवामें संलग्न हैं। उनके जैसा विद्वान् मिलना दुर्लभ है। उनकी श्रुत-सेवा एवं समाजसेवाको भुलाया नहीं जा सकता।’ पूज्य एलाचार्यजीने यही बात जयपुरके प्रवासमें अनेकों जगहों पर कही थी। जब मैंने डॉ० साहबके विषयमें उनसे पूछा तो उन्होंने पुनः डॉ० साहबकी उल्लेखनीय सेवाओंका जिक्र किया, तो मैंने अनुभव किया कि हमारा सौभाग्य है कि ऐसे विद्वानकी कृपा हम और हमारे परिवारपर है।

डॉ० साहबको पावानगरमें महावीर-निर्वाण-उत्सवपर हम लोगोंने आमन्त्रित किया। डॉ० साहब, डॉ० शीतलचन्दजीके साथ आ गये। हमलोग पावानगर गये। वहाँ उनका भाषण हुआ। जैन-अजैन उनसे बहुत प्रभावित हुए। और रात्रिको रुकनेके लिए अनुरोध किया, किन्तु हम लोगोंको लौटना जरूरी था। ऐसा है उनका व्यक्तित्व। दूसरे वर्ष भी डॉ० साहब पधारे और पावानगर गये। वहाँ कालेजमें आपका वर्तमान शिक्षाके सन्दर्भमें एक भाषण हुआ, जिसकी प्रशंसा प्रधानाचार्य और अन्य अध्यापकोंने की। बहुतोंने तो मांस एवं मदिराका त्याग स्वतः कर दिया।

१९८० में सम्पन्न श्रवणवेलगोलामें बाहुबली स्वामीके महामस्तकाभिवेकपर चलनेके लिए हमने आपसे अनुरोध किया। हमें प्रसन्नता है आप सप्तकीक हमारे साथ दो माह पूर्वसे ही श्रवणवेलगोला गये। पूज्य एलाचार्यजीके निर्देशपर आपने वहाँ इस अवसरपर पधारे समस्त साधुओं, क्षुल्लकों, ऐलकों, आर्थिकाओं और त्यागियोंके समक्ष दो माह तक प्रातः और सायं प्रवचन किये। प्रातः बृहद्ब्रह्मसंग्रह और उसकी संस्कृत-टीका तथा मध्याह्नमें न्यायदीपिकापर आपके सरल और सुबोध प्रवचन हुए। लगभग १५० पिच्छियाँ थीं। अनेक महाराजोंको तो यह कहते हुए सुना कि पंडितजीके प्रवचनकी शैली सरल और सुबोध है। उन्हें दर्शन, न्याय और सिद्धान्तका गम्भीर ज्ञान है। डॉ० साहबके मधुर स्वभाव, हँसमुख चेहरे, मृदुल व्यवहार और विद्वत्तापूर्ण विवेचनने सभीको प्रभावित किया था। प्रश्नोंकी बौछार व तर्कोंको डॉ० साहब बड़े सरल शब्दोंमें समझाकर उत्तर देते थे। आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज ससंघ, आचार्य देशभूषणजी महाराज ससंघ,

आचार्य कुन्धुसागरजी ससंघ, आर्थिका विजयमती माताजी आदि सभी त्यागीगण प्रवचन-स्थानमें समयपर आ उपस्थित होते थे। हालमें देरसे पहुँचनेपर बैठनेको स्थान नहीं मिलता था। पूज्य एलाचार्यजीका नियंत्रण व व्यवस्था भी देखते ही बनती थी। स्थान बदला गया और बड़ा हाल चुना गया। तब वह भी अपर्याप्त रहता था। ऐसा आकर्षण था डॉ० साहबका। सभी लिखते चले आते थे। अन्य समयमें भी लोग डॉ० साहबको घेरे रहते थे। बहुतसे मुनिगण व आर्थिका आकर डॉ० साहबको बुला ले जाते थे और उनसे पढ़ते व संका-समाधान करते थे। डॉ० साहब जल्दी लौटना चाहते थे, किन्तु पूरे दो माह (जनवरी-फरवरी ८१) तक वहाँ रहे। मेरा भी सौभाग्य है कि हम भी इन चर्चाओंसे लाभान्वित होते थे और डॉ० साहब सपरनोक हमारे साथ ही रहे थे।

उपर्युक्त संदर्भको देनेका प्रयोजन केवल इतना ही है कि डॉ० साहबकी विद्वत्ता और निरभिमानताकी छाप हर जगह पड़ती है, और सब उनके पाण्डित्यका लोहा मानते हैं।

महामस्तकाभिषेकके अवसरपर मुनिसंघोंको अनुशासनमें रहनेके लिए कुछ नियम सबकी सम्मतिसे बनाये गये थे। साधुओंकी चर्चा, प्रवास और दीक्षापर उन नियमों द्वारा नियंत्रण बनानेका प्रयत्न किया गया था। इन नियमोंके निर्माणमें समुचित वातावरण बनाने तथा सबके गले उतारनेमें डॉ० साहबका पर्याप्त प्रयास रहा था। डॉ० साहबने बड़े परिश्रमसे उचित शब्दोंका चयन करके उल्लिखित साधु-संहिताको तैयार करनेमें परिश्रम किया था। पूज्य एलाचार्यजीका तथा सभी संघोंके आचार्योंका उन्हें वरद आशीर्वाद प्राप्त था। इस कार्यमें पं० बलभद्रजी न्यायतीर्थका भी प्रयत्न रहा।

डॉ० साहब केवल विद्वान ही नहीं हैं, दानी भी हैं। उन्होंने अनेक संस्थाओंको दान दिया है। मैंने स्वयं देखा है कि श्रवणबेलगोलामें डॉ० साहबने कलश लिया। भण्डारमें दिया। और बच्चोंके फंडमें भी दिया। वे पानामें जब आते हैं तो वहाँ भी हमने उन्हें कलश लेते और व्रतभण्डार देते देखा है। उनके घरपर एक-दो विद्यार्थी बराबर आते रहते हैं, जिन्हें वे स्वयं तथा दूसरोंसे मदद करते-कराते हैं। एक छात्रको तपेदिक ही गया था, उसकी बराबर दवा, भोजन व फलकी व्यवस्था डॉ० साहबने स्वयं व दूसरोंसे कराई थी। मुझे उन्होंने जो पत्र लिखा था उसमें उनकी चिन्ता स्पष्ट प्रकट थी। विद्यादान, औषधिदान, आहारदानमें भी डॉ० साहब पीछे नहीं हैं, जो मैंने कम विद्वान् लोगोंमें देखा है। आतिथ्य-सत्कारमें तो डॉ० साहबका कोई मुकाबला नहीं कर सकता। उनके घरपर पहुँचे लोगोंको उचित जलपान व भोजनकी व्यवस्था वे बराबर करते रहते हैं।

मैं अपनेको सौभाग्यशाली समझता हूँ और अपने पूर्वजन्मके किसी पुण्य-कर्मका फल मानता हूँ कि ऐसे सरल, निरभिमानी विद्वान् पंडितका स्नेह मुझे और मेरे परिवारको प्राप्त हुआ।

मेरे श्रद्धा-भाजन

श्री प्रेमचन्द्र जैन, दिल्ली

पूज्य डॉक्टर पं० दरवारीलालजी कोठिया न्यायाचार्यका हमारे परिवारसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। मेरे पिताजी (स्वर्गीय ला० राजकृष्ण जैन)की विद्वानोंसे बड़ा प्रेम था और वे उनका बहुत आदर करते थे। वे कहा करते थे कि विद्वान् समाजके तृतीय नेत्र हैं। विद्वान् अपने विद्वानेत्र द्वारा समाजको पथप्रदर्शन करते हैं। विद्वान् हमें ज्ञान देते हैं और संस्कृतिको जीवित रखते हैं। उनके इस प्रेम और आदरके कारण विद्वान्

हमारे घर पधारते और घरको पवित्र करते थे। स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी, पं० तुलसीरामजी, स्वर्गीय श्री पं० जुगलकिशोरजी मुस्तार, स्व० सूरजभानजी वकील आदि पुराने विद्वानोंके सिवाय स्व० पं० राजेन्द्र कुमारजी मथुरा, पं० कैलाशचन्द्रजी वाराणसी, स्वामी कर्मानन्दजी (धुल्लक निजानन्दजी), बाबू रतनचन्दजी मुस्तार आदि विद्वानोंका समागम हमलोगोंके लिए बड़ा सुखद रहता था।

डॉ० कोठियाका हमारे परिवारसे सन् १९४५ से सम्बन्ध है। जब वे सन् १९४८ में वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर)के एक नये कार्यालयको ७ दरियागंजमें स्थित चैत्यालयमें खोलनेके लिए स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारके साथ दिल्ली पधारे तो हमारे घरपर ही सपरिवार कई वर्ष रहे। वीर-सेवा-मन्दिरका कार्यालय भी कई वर्षों तक पहले हमारे मकानपर व फिर हमारे द्वारा निर्मित अहिंसा-मन्दिरमें रहा। इससे उनके साथ पिताजी और हमारे पूरे परिवारकी घनिष्ठता हो गयी। पिताजीका उनके साथ अनेक विषयमें विचार-विमर्श होता था। कुछ ऐसा प्रसंग आया कि उन्हें वीर-सेवा-मन्दिर छोड़ना पड़ा। तब भी वे हमारे घरपर बने रहे। इस अवसरपर हमने निकटसे उनके स्वाभिमानको देखा और देखी कठिन परिस्थितिमें उनकी अडिगता। यद्यपि वर्तमान वीर-सेवा-मन्दिरके निर्माणमें उनका बहुत बड़ा योगदान है। उन्हींकी प्रेरणासे स्व० बा० छोटेलालजी कलकत्ताने दिल्लीमें वीर-सेवा-मन्दिरके भवन-निर्माणमें अपने भाई स्व० गुलजारीलालकी ओरसे ४०,०००) = का दान दिया और पिताजीने डॉ० कोठियाके विशेष जोर देने पर अपना दरियागंजमें स्थित वह मकान केवल ४०,००० में वीर-सेवा-मन्दिरको, जिसपर आज उसका भव्य भवन बना हुआ है, दे दिया।

वीर-सेवा-मन्दिर छोड़ देनेपर परमपूज्य प्रशममूर्ति न्यायाचार्य स्व० धुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीने चिन्ता व्यक्त करते हुए डॉक्टर कोठियाके विषयमें पिताजीको अनेक महत्वपूर्ण पत्र लिखे थे, जिनसे मालूम होता है कि पूज्य वर्णीजीको कोठियाजीके विषयमें कितना ध्यान था। उनके कुछ पत्र यहाँ दिये जाते हैं—
वैशाख सुदि २, २००७, दिनांक १९-४-५०।

पं० दरबारीलालजीसे मेरा सस्नेह आशीर्वाद। भैया जहाँ तक बने, आप बाबूजी (मुस्तार साहब) का कार्यभार बहन करना। वहाँ रहनेसे साहित्यका उद्धार बहुत कर सकेंगे। मुझे आप लोगोंके उत्कर्षमें आनन्द है। बाबूजी वृद्ध है। वृद्धावस्थामें यदि कोई क्रोधसे कुछ कह भी दे, तब भी उसे नहीं गिनना चाहिए। आशा है आप गम्भीर दृष्टिसे विचार करेंगे। मेरा अपनी मण्डलीसे दर्शन-विशुद्धि। राजेन्द्रकुमार-जोसे दर्शन-विशुद्धि। आप बाबूजीको समझा देना, जो सम्मानसे पं० दरबारीलालजीको बुला लेंगे। संसारके कारण मानकी चाहना कोई उत्तम पुरुषका कार्य नहीं। मैं बाबूजीकी वृद्ध पुरुषोंमें गणना करता हूँ। वृद्धके तात्पर्यसे नहीं, विवेक व प्रतिभासे है।

जेठ सुदी ११, सं० २००७, दिनांक २६-५-५०

पं० दरबारीलालजी, अपने पठन-पाठनके कार्यमें ही अपना उपयोग लगाना। सामाजिक तत्त्वमें न पड़ना।

आ० व० ४, सं० २००७, दिनांक २०-९-५०

पं० दरबारीलालजीसे मेरी दर्शन-विशुद्धि। जिसमें उनके ज्ञानका विकास प्रतिदिन वृद्धिरूप रहें, सो करें, चाहे दिल्ली रहें या अन्यत्र रहें।

असोजवदि १०, सं० २००७, दिनांक १-१०-५०

श्री पं० दरबारीलालजीसे दर्शन-विशुद्धि। जिन्हें न्यायदोषिका पढ़ा लो, तर्कसंग्रह अवश्य पढ़ा लेना। जिन्हें गोम्मतसार पढ़ाओ उन्हें सिद्धान्तप्रवेशिका अवश्य पढ़ाना।

आ० व० ५, सं० २००७, दिनांक १-१०-५०

दरबारीलालजीकी योग्यता बढ़े, ऐसे कार्य करनेकी अनुमति देना । यदि मुख्तार साहबके पास पहुँच जायें, तब उनको भी लाभ और पं० जीको भी लाभ ।

चेन्न वदी २, सं०

श्रीमान् पं० दरबारीलालजीका चित्त व्यग्र न हो, ऐसा मेरा सन्देश मुख्तयार साहबसे कहना । अभी पं० दरबारीलालजी आपके समक्ष बालक विद्वान् हैं ।

वंशाख वदी १२, सं० २०११, १९५५

पं० दरबारीलालजी योग्य व्यक्ति हैं । मुख्तयार साहबने बहुत शीघ्रता की । पछताना पड़ेगा । उत्तम पुरुष जल्दी नहीं मिलता । दिगम्बर समाजमें तो गिनतीके योग्य व्यक्ति हैं ।

संयोगकी बात है कि तीन-चार माहके बाद ही जैन बाल आश्रमके अधिकारियोंने डॉक्टर कोठियाको बड़े आदर और सम्मानके साथ आमंत्रित किया और आश्रमके बालकोंको धर्मशास्त्र एवं न्यायतीर्थके शिक्षणके लिए प्रधानाचार्यके पदपर नियुक्त कर दिया । वहाँ पहुँचनेपर कोठियाजीने संस्कृत-विद्यालयकी स्थापना-हेतु एक योजना बनायी, जिसे बाल आश्रमकी प्रबन्धकारिणीने तत्काल स्वीकार कर लिया । संस्कृत-विद्यालयकी आचार्य समन्तभद्रके नामपर स्थापित करनेके डॉक्टर कोठियाके सुझावको भी कमेटीने स्वीकृत कर लिया । यह भी संयोगकी बात है कि कोठियाजीकी व मेरे पिताश्रीकी प्रेरणा एवं पूज्य वर्णोजीके आदेशसे दिल्लीके प्रतिष्ठित ला० मुंशीलालजी कपड़े वालोंने विद्यालयका विशाल भवन अपने द्रव्यसे बनवा दिया, जिसमें उस समय एक लाखके करीब लगा था । कोठियाजी विद्यालयमें आठ वर्ष रहे और तीन विद्वानोंको और नियुक्त करानेमें सक्षम हुए । यह विद्यालय अभी भी अच्छी तरह चल रहा है । १९५७ के नवम्बरमें कोठियाजी दि० जैन कालेज, बड़ौत (मेरठ)में संस्कृतके प्राध्यापक हो गये । फिर वहाँसे अगस्त १९६० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके प्राध्यापकके पदपर चले गये । वहाँ १९७० में रीडर हुए और १९७४ में रीडरपदसे सेवानिवृत्त होकर चाराणसीमें स्थायी रूपसे रहने लगे हैं । यह भी उल्लेखनीय है कि जुलाई १९६०में वीर-शासन-जयन्तीके अवसरपर स्व० पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने वीर-सेवा-मन्दिरके वर्तमान भव्य भवनमें विशाल समारोहके बीच कोठियाजीको अपना धर्मपुत्र बनाया और अपना साहित्यिक उत्तराधिकार उन्हें दिया, जिसका वे निष्ठापूर्वक वहन कर रहे हैं ।

ऐसे गण्यमान्य विद्वान्का अभिनन्दन करनेमें समाज अपनेको गौरवान्वित अनुभव करता है । आपकी धर्मपत्नी श्रीमती चमेली बाई भी एक सहृदय, धार्मिक व वात्सल्यमयी विदुषी नारी हैं । पण्डितजीसे आशा है कि वे भी पूज्य मुख्तार साहबकी तरह अपना साहित्यिक उत्तराधिकारी बनायेंगे । हम उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनके शतायुष्यके लिए कोटिशः मंगल-कामनाएँ करते हैं ।

उनकी मुझपर गहरी छाप श्री इन्द्रजीत जैन एडवोकेट, कानपुर

मैं डॉ० दरबारीलालजी कोठियाके जितना निकट सम्पर्कमें आता गया, उतना ही मेरे ऊपर उनके पाण्डित्य, विद्वत्ता, सरलता और सौजन्यताकी छाप गहरी होती गई।

आदरणीय डॉ० साहबसे मेरा अत्यन्त निकटका सम्बन्ध सात-आठ वर्ष पूर्व, जब वे दशलक्षण पर्वपर कानपुर पधारे। मेरे सौभाग्यसे वे मेरे निवासपर ही उन ग्यारह-बारह दिनोंमें रहे।

मुझे आदरणीय डा० साहबकी बहुत-सी कृतियाँ देखनेका शुभ-अवसर प्राप्त हुआ है। अत्यन्त दुःख ग्रन्थोंको रोचक बनाकर लिखना यह उनकी विशेषता है। 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशिलन' ग्रन्थको भेंट करते हुए उन्होंने मुझे यही कहा था कि 'वकील साहब, यह न्यायका गूढ़ ग्रन्थ है; किन्तु आपकी अध्यात्ममें कुछ पहुँच है, इसलिए यह आपके कुछ तो समझमें आयेगा ही।'।

उनका अभिनन्दन करने हेतु अभिनन्दन-ग्रन्थ-प्रकाशन समितिने अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित करनेका जो संकल्प लिया है वह अत्यन्त सराहनीय है। मैं भगवान्से प्रार्थना करता हूँ कि डॉ० कोठिया समाज और धर्मकी इसी प्रकारसे सेवा करते हुए शतायुः हों।

निस्पृह साहित्य-समाज सेवक

श्री जीवन कुमार सिंघई, सागर

डॉ० कोठिया ऐसे निस्पृह साहित्य-समाज सेवक हैं जिनकी तुलनाके बिरल लोग मिलेंगे। वे सहृदय व भावुक व्यक्ति हैं। उन्होंने अहिंसा, अपरिग्रह व अनेकान्तकी त्रिवेणीमें अवगाहन किया है। पर-दुःख-कातरता तो उनका स्वभाव है। उन्होंने जीवनमें स्वयं दुःखों और कष्टोंको भोगा है। इसलिए दुःखमें पड़े व्यक्तिको सहायता करनेके लिए तत्पर रहते हैं। धनको उन्होंने जीवनका साधन माना है, साध्य नहीं। तभी तो वे धनका सदुपयोग करना खूब जानते हैं। उनकी निजी व पारिवारिक आवश्यकताएँ सीमित हैं। शुद्ध भोजन, स्वच्छ व साधा परिवेश उनकी आवश्यकताएँ हैं। जैन धर्मके धर्मको उन्होंने जीवनमें उतारा है। उनकी दृष्टि निर्मल व निस्पृह तथा हृदय उदार व विशाल है। वे विद्वानोंमें सहज उपलब्ध होनेवाले मात्सर्य दोषसे रहित सरल, स्नेही व उदारमना हैं।

डॉ० कोठियाके व्यक्तित्वका दूसरा पक्ष उनके पाण्डित्यका है। उनके लेख, ग्रन्थ और शोधपत्र ठोस होते हैं। वे गहन चिन्तन और पूर्व व निस्पृह जाँचके बिना किसी तथ्यको प्रकट नहीं करते। हर शब्दकी उपयोगिता व आवश्यकताको तौलते हैं। उनका सम्पादित, अनूदित और रचित ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण शोधग्रन्थ होता है, जो आने वाली पीढ़ीके लिए उपकारक है। हर ग्रन्थके साथ शोधपूर्ण भूमिका है, जो उसकी पूर्णताको प्रदान करती है। उनकी लेखनीका लोहा विद्वानोंने भी स्वीकार किया है। निःसन्देह वे मूधन्य विद्वान् हैं।

लेखनके अतिरिक्त भी उन्होंने प्रवचनोंके माध्यमसे समाजका महान् उपकार किया व कर रहे हैं। जैनधर्म और उसके उदात्त सिद्धान्तोंकी वे जनसाधारणके योग्य व्याख्या करते हैं। अनेक संस्थाओंसे सम्बद्ध

होकर उनके माध्यमसे उनकी स्पृहणीय सेवा की है व कर रहे हैं। इस वृद्धावस्थामें भी उन्हें काम प्रिय है। कर्मठता उनका स्वभाव है।

मेरा तथा मेरे परिवारका सौभाग्य है कि ऐसे विद्वान् और समाजसेवक सत्पुरुषकी समीपताका शंश-वास्थासे ही सान्निध्य प्राप्त है। उनकी सहधर्मिणी उनके प्रशस्त जीवन-पथकी सम्बल हैं। दोनोंके शतायुः होनेकी कामना करता हुआ मैं और मेरा परिवार उनके अखिल भारतीय सामाजिक अभिनन्दनके सुअवसर पर उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करता है।

विनम्रताकी साकार प्रतिमूर्ति

डा० सागरमल जैन निदेशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम-शोधसंस्थान, वाराणसी

डा० पं० दरबारीलालजी कोठियाका जैन न्यायके परम्परागत पण्डितोंमें मूर्धन्य स्थान है। विद्वान् तो वे हैं ही किन्तु मेरी दृष्टिमें उनके व्यवितत्वका सबसे उज्ज्वल पक्ष है, उनकी विनम्रता, उनका व्यवहार माधुर्य। सामान्यतया विद्वत्ताके साथ अहंकार आ जाता है किन्तु पण्डितजीका व्यवहार देखकर ऐसा लगता है, पाण्डित्यका अहंकार उन्हें छू भी नहीं सका है। पण्डितजी विनम्रताकी साकार प्रतिमूर्ति हैं। “विद्या-ददाति विनयं” की उक्ति उनके सन्बन्धमें शत-प्रतिशत सत्य है। मेरा पण्डितजीसे प्रथम परिचय तीन वर्ष पूर्व वाराणसी आगमनपर ही हुआ। उस दिनसे आज तक उनकी इस छबिमें मेरे मनमें कहीं कोई खरोंच नहीं आई। विचार-भेद भी हुआ, किन्तु मन-भेद नहीं हुआ। क्योंकि पण्डितजी जब भी मिले उतनी ही विनम्रता, सौजन्यता और आत्मीयतासे मिले, जैसे कोई अपने अतिप्रिय छोटे भाईसे मिलता हो।

वे अपनी सज्जनता और शालीनतामें तो शत-प्रतिशत समभावी हैं। शत्रु और मित्र दोनों व्यवहारमें उनसे वही शालीनता, सौजन्यता एवं विनम्रता पाते हैं। यद्यपि पण्डितजीकी विनम्रता और सज्जनताका यह अर्थ नहीं है कि कोई भी उन्हें कहीं भी झुका ले। अपनी परम्परा, सिद्धान्त और निर्णयोंके प्रति पण्डितजी उतने ही अधिक दृढ़ और अडिग हैं जितने वे व्यवहारमें मृदु हैं। उनके व्यक्तित्वका सम्यक् विश्लेषण निम्न उचितसे हो सकता है—‘फूलोंसे कोमल; किन्तु वज्रसे अधिक कठोर।’

उनका अभिनन्दन वस्तुतः विद्वत्ता, सज्जनता और विनम्रताके सद्गुणोंका अभिनन्दन है। वे शतायुः होकर हम सभीको मार्ग-दर्शन करते रहें, यही मंगल-कामना है।

युगप्रणेता डा० कोठिया

डा० बाहुबलि कुमार जैन, ललितपुर

सन् १९८१ को वीतरागी भगवान् बाहुबलि स्वामीका सहस्राब्दि-महामस्तकाभिषेक सम्पन्न हो रहा था। प्रक्षालित नीर-क्षीरसे समूचे स्थलपर प्रवाहिकार्यें वह निकली थीं। तपोमना धरती वीतरागीका चरणोदक पानकर कृतार्थ जैसी अनुभूति पर्यावरणमें छोड़ रही थी। समूचा वातावरण समर्पण और त्याग-मयी अध्यात्मज्ञान विखेर रहा था। अपार जनसमुदायका यज्ञस्थलीमें जमाव, किन्तु भटकी इकाइयोंमें मुखरित आत्मज्ञान आत्माओंको एकाकार कर रहा था। सचमुच ही भगवान् बाहुबलि जैसी आत्माओंने अव-तीर्ण होकर आत्मोत्सर्गका नया मार्ग दर्शाया। प्रदोष काल था। भास्कर भगवान् भी अपनी किरणोंका इन्द्रजाल समेटकर अस्ताचलको भाग रहे थे। पूज्य भट्टारक श्रीचारुकीर्ति स्वामीजीने मुझे विशिष्ट पत्र-कार होनेके नाते यज्ञस्थलपर वीक्षा-दृष्टिपात बनाये रखनेके लिए विशेष परिपत्र निर्गत किया था। इस-लिये एक भिन्न दृष्टिकोणसे भी उस मेलेमें अनुमन्य उपस्थिति थी। धर्मपत्नी डा० अरुणाजीने, जो मेलेमें

मेरी सहगामिनी थी, बसेरेपर चलनेका आग्रह किया। सम्भवतः उस सम्बन्धर्मके पर्यावरणमें आवश्यक-कीय आवश्यकतायें नीड़में लौटनेको विवश कर रही थीं। मैंने रात्रि-कार्यक्रमोंमें भाग लेने हेतु यथाशीघ्र लौटनेका आश्वासन देकर समाहर्ताओंसे विदा माँगी। खेमेमें लौट रहा था। पार्श्वके चौकसे कुछ मोड़ है, भीड़में पत्नी न भटक जाये, वाहन तक पहुँचनेके रास्ते तक मैं पत्नीका हाथ थामे हुए था। धीमी गतिसे चला जा रहा था, तभी पीछेसे किसीने मेरे कंधेपर हाथ रखा और मुझे रोकते हुए कहा—“ऐसे ही चले जाओगे बेटा, तुम्हें देखकर मैं कबसे तुमसे बात करनेको लालायित हो रहा हूँ।”

अनजान स्थलमें मेरे प्रति बेटा शब्दका सम्बोधन सुन मेरे पाँव बरबस ही रुक गये। मैंने मुड़कर देखा। एक अघेड़ मुलाक़ति, जिज्ञासु भावोंसे मेरे परिचयात्मक तन्तुओंको उत्तेजित कर रही थी। पुनः उन्होंने दोहराया—“मुझे पहिचाना बेटे तुमने, मैं तुम्हारे पिता स्व० पं० सिद्धिसागरजी प्राणाचार्यका पुराना सत्संगी और स्व० पं० परमेश्वरीदासजीका मित्र हूँ।”

वह अविस्मरणीय क्षण, जब मेरी जिज्ञासामयी आँखें विस्मारिकाकी दूरी तय कर उस आदर्श पुञ्जपर टिकी थी। दैदीप्यमान मुलाक़तिपर काली फ्रेमका चश्मा, ज्ञानमयी आँखोंमें ज्ञान दर्शनहेतु पारदर्शी बन रहा था। ज्ञान और पुरुषार्थके समन्वित दर्शनको किञ्चित् भी पहिचाननेमें विलम्ब नहीं लगा। अरे यह तो हमारे पूज्य डॉ० दरबारीलाल कोठियाजी हैं। जिनकी जैन दर्शनमें स्याद्वादकी विवेचनायें जैन समाजकी नई पीढ़ीमें नया परिवर्तन ला रही हैं, उस विद्यावाचस्पतिका सान्निध्य पानेको अनेकों बार लालसा जाग्रत हुई, किन्तु गृहस्थधर्मके दाबपेचोंमें ऐसा संयोग न बन पाया कि कभी पं० कोठियाजीके सान्निध्यमें समय बिता सकूँ। नगरमें अथवा अन्य स्थानोंपर जब कभी सभा-गोष्ठियोंमें समाजमें फैली कुरीतियोंको चर्चा उठती तब-तब श्री कोठियाजीके अनुभव व संस्मरणोंकी चर्चा वहाँ उठाकर उन्हें समाजको अगुवाई करनेके लिए बल दिया जाता। उस ज्ञानके धनीभूत व्यक्तित्वका प्रेममयी मर्मस्पर्शी सम्बोधन सुनकर मैं रोम-हृषित हो गया। श्रद्धाभावसे मैं उनके चरणोंमें झुका कि उन्होंने अंकमें समेट लिया। बोले—“पहिचान गये बाहुबलि कुमार, तुमको तो क्या कहूँ। सिद्धिसागरजीने कहीं प्राणोंमें आत्मदर्शन दिये हैं तो उसका साक्षात् स्वरूप तुममें देख रहा हूँ।”

मैंने आत्मविभोर हो कहा—“अपने पितातुल्य, पिताके सखाको क्यों न पहिचानूँ। अपितु लगता है कि पिताजीके सहज ज्ञानकी प्रेरणाका स्थूल स्वरूप सामने है, ऐसा कहूँ तो इस कथनमें कहीं भी अत्युक्ति नहीं है।”

अरुणाजीने भी उन्हें नमन् किया। दम्पति-परिचयके पश्चात् उनके आशीर्वचनोंमें उन्होंने हमारे हरियाले भविष्य दर्शनकी कामना की। उन्होंने ललितपुरके क्षेत्रीय परिचित लोगोंका हाल पूछा और बालपनमें जैन विद्यालय साहूमल (ललितपुर) के अध्यापनकालके साथी श्री विजयसिंह बड़कुल, ननौरा (ललितपुर) का क्षेमसमाचार विशेषतया पूछा और बताया कि हमारे वे बालसखा हैं और छहठालाके सूक्त हमलोग साथ बैठकर रटा करते थे। स्व० पं० परमेश्वरीदासजीके तो उन्होंने रोचक संस्मरण सुनाये और बताया कि—“उनके चिर पयानसे तो मानवीय दृष्टिकोणका पक्ष प्रस्तुत करनेवाला एक बड़ा साथी चला गया।” वे बोले कि समाजकी दशा कितनी विगलित हो रही है। हमारे ऋषभदेव तीर्थकर, जिन्होंने समाजको तत्कालीन विषमताओंसे निकाल कर जीवनको सरलीकरण बनाने हेतु नया दर्शन दिया और हमलोग उन्होंने भूल कर अज्ञानतामें भटक गये हैं।

कुछ ही क्षणोंकी मुलाकातमें सब कुछ ही कह डाला उन्होंने। भावोंके आदान-प्रदानके पश्चात् उन्होंने अपने तीर्थस्थलीय आवासमें आनेका निमंत्रण दिया। श्रवणवेलगोलाके रमणीक तीर्थस्थलपर हमारी

उनसे अनेक भेंटें हुई, जिनमें समाजके शिथिल अनुषंगोंपर चर्चा हुई। उन्होंने प्रेरणा देते हुए मुझसे कहा—
 “बेटा बाहुबलि, तुम पत्रकार हो, समाजके चित्तरे हो। समाजको बदलनेमें अपना आत्म-विश्वास व अपनी कलमको जगाओ। तुम्हारा रक्त मड़ाबराकी माटीकी उपज है। निश्चित ही समाजके परिवर्तनमें सहायक होगा।”

मैं सूक हो उनके दर्शनका अनुयोगी बन सुनता रहा। आज अन्तरालके पश्चात् हमें श्री कोठियाजीके वाक्य समाजमें परिवर्तन लानेके लिए चैतन्य करते हैं।

अभिनन्दनकी मणिकाओंमें उस महान कर्मयोगीको यदि श्रद्धा-मणि समर्पित कर सकूँ तो मेरा अहो भाग्य है। श्री कोठियाजी तुम्हें शत-शत अभिवन्दन।

मेरी दृष्टिमें हमारे श्रीमान्जी श्रीमती चमेलीबाई कोठिया

बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि परमपूज्य एलाचार्य मुनि विद्यानन्दजीके निर्देशसे उनका समाज अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पण करके सम्मान कर रहा है। यह सम्मान मेरी दृष्टिमें ऐसे विद्वानका है, जिसने निष्ठा-पूर्वक सभी क्षेत्रोंमें कार्य किया है। चाहे अध्यापन हो, साहित्यसाधना हो और समाजसेवा, सभीमें उनका ईमानदारी और निस्पृहभावसे योगदान रहा है। उनकी संगिनी होनेके नाते मैं उन्हें अधिक निकटसे जानती हूँ। कई ऐसे मौके आये, किन्तु वे उनसे विचलित नहीं हुए। अपने स्वाभिमान और निष्ठापर अडिग रहे। यहाँ मैं कुछ ऐसी घटनाओंको बताना चाहती हूँ जिनसे श्रीमान्जीका व्यक्तित्व धूमिल नहीं, उजागर हुआ है।

सन् १९३७ की बात है। इन्होंने उस समय तक न्यायशास्त्री और सिद्धान्तशास्त्री पास किया था। एक वर्ष पूर्व वे दाम्पत्य-जीवनमें बँध गये थे, और इसलिए आजीविकाकी चिन्तासे पपौराके वीर विद्यालयमें पढ़ाना आरम्भ किया था। विद्यालयके यशस्वी मंत्री बाबू ठाकुरदासजी थे। वे बड़े कुशाम्बुद्धि और कर्त्तव्यनिष्ठ थे, उनका सबके ऊपर बड़ा कड़ा अनुशासन था। एक बार वे कोठियाजीसे बोले कि ‘आप कोठारका काम कुछ दिनोंके लिए संभाल लीजिये’, तब कोठियाजी बोले कि ‘बाबू जी ! मैं इस पचडेमें नहीं पढ़ना चाहता।’ मंत्रीजी बोले—‘आप क्या इसे पचड़ा समझते हैं?’ कोठियाजीने उत्तर दिया कि ‘हाँ, इसे मैं पचड़ा समझता हूँ।’ कोठियाजीने स्पष्ट करते हुए बतलाया कि बाबूजी बात ऐसी है कि बाजारसे तो चीजें इकट्ठी काँटेपर तुलकर आती हैं, और यहाँ रोज सामान तीलनेपर एक-एक छटाँक भी कम हो जाये तो सोलह दिनमें १ सेर कम हो जायेगा, और इसे अधिकारी समझेंगे कि पंडितजीने अपने घर भिजवा दिया होगा। अतः यह बदनामी कौन मील लेवेगा। मंत्रीजी कोठियाजीकी बात समझ गये। कोठारका काम प्रधानाचार्य पं० कृशीरोलालजी शास्त्रीको सौंप दिया। मंत्रीजीपर इसका अच्छा असर पड़ा और कोठियाजी जब तक रहे, तब तक मंत्रीजीका उनके प्रति अधिक स्नेह और आदर भाव रहा।

श्रीमान्जी कितने परिश्रमी हैं, यह उनकी दिनचर्यामि ज्ञात हो सकता है। स्वयं ४ बजे उठना व कोरे पेट एक लोटा पानी पीकर एवं हाथ मुँह धोकर पढ़ने बैठ जाना और सुबह छः बजे तक पढ़ना, उसके बाद घूमने जाना। नियमितरूपसे पूजन और सभी मन्दिरोंके दर्शन करना, यह उनकी रोजानाकी प्रवृत्ति थी। १० बजे खाना खाकर विद्यालयमें चले जाना और ५ बजे तक वहाँ रहना। सायंकाम भोजन करनेके बाद पं० राजकुमारजी साहित्याचार्यके साथ घूमने जाना। मन्दिरजीमें जाकर दर्शन करना और शास्त्र-प्रवचन करना और उसके बाद फिर अपनी पढ़ाईमें लग जाना। रात्रिके १२ बजे तक पढ़ना और इस प्रकार न्यायाचार्यके शौथे व पार्चवे खण्डकी पढ़ाई करके उनकी परीक्षा देना। इसके साथ ही परीक्षाओंके समय

विद्यार्थियोंको एक-दो घण्टे अतिरिक्त समय देकर उनके कोर्षकी तैयारी करना। यह इनकी परिश्रम-शीलताका प्राथमिक उदाहरण है।

आज वीर विद्यालय पपीरासे निकले हुए जो विद्यार्थी ऊँचे पदोंपर दिखाई देते हैं उनमें पं० गोविन्द-दासजी अहार, प्रो० उदयचन्द्रजी वाराणसी, पं० बाबूलालजी फागुल्ल वाराणसी, डॉ० राजारामजी आरा, श्री मूलचन्द्रजी आयुर्वेदाचार्य शिवपुरी, पं० स्वरूपचन्द्रजी हस्तिनापुर आदि अनेक विद्वान् उस समयके इनके पढ़ाये हुए प्रथम शिष्य हैं। इस प्रकार अत्यन्त कठिनाईसे पढ़ाई करके श्रीमान्जीने न्यायाचार्य और शास्त्राचार्यकी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। दिल्ली पहुँचनेपर एम० ए० भी इन्होंने कर लिया। एम० ए० कर लेनेसे दि० जैन कालेज बड़ौतमें इनकी संस्कृतके प्रवक्तापदपर नियुक्ति हो गई। वहाँ ये तीन वर्ष रहे।

पश्चात् हिन्दू यूनिवर्सिटीमें जैनदर्शनके प्रवक्तापदपर नियुक्ति हो गई और यहाँ रहते हुए इन्होंने पी०एच० डी० की डिग्री भी प्राप्त कर ली। इस तरह इन्होंने जहाँ अपना अध्ययन उत्तरोत्तर पूरा किया, वहाँ साहित्य-साधना और समाज-सेवामें भी निष्ठापूर्वक लगे रहे।

इन्हें लेख लिखने और ग्रन्थोंका संपादन करनेकी तीव्र लालसा रही है। जैनमित्र, वीर, जैनसंदेश आदि पत्रोंमें ये लेख भेजते रहते थे। न्यायदीपिकापर कभी-कभी बच्चे समयमें टिप्पणी व पाठसंशोधन भी करते रहते थे। सन् ४२ में जैन गुरुकुल मथुराके प्राचार्य पदको छोड़कर श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके सान्निध्यमें पहुँच गये। उनके सान्निध्यसे इनकी प्रतिभामें चमक आई, और अनुसंधानकी ओर रुचि बढ़ गई। परिश्रमी तो ये थे ही, 'अनेकान्त' में भी गवेषणापूर्ण लेख लिखने लगे। इससे मुख्तार सा० के अत्यन्त प्रिय हो गये, और सम्राजमें भी इनकी ख्याति होने लगी। वहीं रहकर न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा आदि कई ग्रन्थोंका संपादन व हिन्दी अनुवाद किया। किन्तु १९५० में एक अप्रिय घटना घटी। ये आप्त-परीक्षाको अपने पूज्य पिताजीके लिए समर्पण करना चाहते थे, किन्तु मुख्तार सा० सहमत नहीं थे। फिर इनके जोर देनेपर वे सहमत हो गये। पर मुख्तार सा० ने इनकी इस सब बातको जयपुरमें बाबू छोटेलाल-जी कलकत्ता और पं० चैनसुखदासजी जयपुरको बताई। पं० जीने 'वीरवाणी' में आप्तपरीक्षाकी समा-लोचना करते हुए समर्पणकी भी समालोचना की। उसे पढ़कर इनके स्वाभिमानको चोट लगी। तत्काल त्यागपत्र भेजकर वीर-सेवा-मन्दिरसे अलग हो गये। फलतः कुछ दिनों तक ये खाली रहे, और जैन पुस्तक भंडार चलाने लगे। तीन महिने बाद ही 'बाल आश्रम' में 'समन्तभद्र-विद्यालय' की स्थापना करने हेतु उसके प्रधानाचार्यके पदपर वहाँ चले गये। वहाँ लगभग ८ वर्ष रहे। विद्यालयको उन्नत बनाया। किन्तु मुख्तार सा० के प्रति इनकी व्यक्तिगत श्रद्धा ज्यों-की-त्यों बनी रही। जब कभी बड़ौतसे दिल्ली जाते, तो मुख्तार सा० से अवश्य मिलकर आते थे। इसका भी फल यह हुआ कि पूज्य मुख्तार सा० ने सन् १९६० में इनके खरेपन, कर्त्तव्यनिष्ठा और ईमानदारीको देखकर इन्हें अपना धर्मपुत्र समारोहपूर्वक घोषित किया। फिर पूज्य मुख्तार सा०, पूज्य दादा डॉ० श्रीचन्द्रजी आदिके साथ इनके सम्बन्ध घनिष्ठसे घनिष्ठतम होते गये। सन् १९६८ में पूज्य मुख्तार सा० के स्वर्गवास हो जानेके बादसे भी ये वीरसेवामन्दिर-ट्रस्टके साहित्यिक कार्योंमें तन्मयताके साथ लगे चले आ रहे हैं।

इन्होंने अपने जीवनमें अनेक बाधाओंको पार करते हुए अपनी उन्नति की है। ये विनयशील, उदार, सहृदय, गुणग्राही व कर्त्तव्यपरायण आरम्भसे रहे। जिस किसी भी कार्यको हाथमें लिया उसे लगनके साथ निस्पृह और निश्छलभावसे पूरा किया। ये कर्मठ कार्यकर्त्ता, प्रतिभाशाली और वक्ता हैं। आगत विद्वानों तथा अतिथियोंका स्वागत व आतिथ्य करना भी ये अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझते हैं।

मेरी भावना है कि ये अधिक-से-अधिक समय तक स्वस्थ रहें और दीर्घायु होकर समाज व सर-स्वतीकी सेवा करें।

जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन : समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, जयपुर

जैन दर्शनका भारतीय दर्शनोंमें विशिष्ट स्थान है। इसे हम दूसरे शब्दोंमें भारतीय दर्शनोंकी आत्मा भी कह सकते हैं। जब तक जैन दर्शनका सूक्ष्म अध्ययन नहीं किया जाता तब तक दर्शनशास्त्रके गूढ़ तत्त्वोंको किसीके लिये भी समझ पाना कठिन है। भगवान ऋषभदेवसे लेकर महावीर तक जैन दर्शनने जीवन-दर्शनका कार्य किया तथा मानवमात्रको अपने कर्तव्यका बोध कराकर जीने-मरनेकी कला सिखलायी। महावीरके पश्चात् देशमें जब दार्शनिक क्षेत्रमें खण्डन-मण्डनका युग आया। शास्त्रार्थोंकी परम्पराका तीव्र वेग चला और शास्त्रार्थोंमें जय-पराजयके आधारपर धर्म-परिवर्तन होने लगे। पराजितोंपर दमन-चक्र चलाया जाने लगा। ऐसे युगमें भी जैन दर्शनके आचार्योंने अपने अकाट्य तर्कों एवं सबल प्रमाणोंके आधारपर सारे देशमें महावीरके सिद्धान्तों एवं उनके दर्शनकी विजय-पताका फहरायी। ऐसे आचार्योंमें समन्तभद्र, विद्यानन्द, अकलंकदेवके नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। आचार्य समन्तभद्रकी घोषणा "वाचार्थो विचाराग्रहं नरपते शाद्वलबिक्रीडितम्" जैनदर्शनके अकाट्य प्रमाणोंका अविजित प्रस्तुतीकरण है। इसी प्रकार घोषणा करनेवाले एकके पीछे दूसरे आचार्य होते गये और शास्त्रार्थोंके वातावरणमें भी जैनदर्शनकी नींवको कभी हिलने नहीं दिया।

वर्तमान युगमें जैन दार्शनिकोंमें डॉ० दरबारीलाल कोठियाका सर्वोपरि स्थान है। डॉ० कोठिया जैन-दर्शनके पारंगत विद्वान माने जाते हैं तथा जैनदर्शनके गूढ़ रहस्योंकी परतोंको सरल एवं दार्शनिक भाषाओंमें खोलनेमें बड़े दक्ष हैं। उन्होंने अपना समस्त जीवन दर्शन एवं न्यायके ग्रन्थोंके सम्पादन एवं प्रकाशनमें लगा रखा है। उनका चिन्तन मौलिक एवं युक्तियुक्त होता है। सन् १९४४ से १९८० तक ३६ वर्षके अपने दार्शनिक जीवनमें उन्होंने दर्शनशास्त्रपर प्रमुख रूपसे लेखनी चलायी तथा न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, प्रमाणप्रमेयकलिका एवं स्याद्वादसिद्धि जैसे न्यायशास्त्रके ग्रंथोंका विद्वत्पूर्ण सम्पादन करके इस दिशामें यशस्वी कार्य किया है। यही नहीं, 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार' जैसे मौलिक ग्रन्थका सृजन करके दार्शनिक क्षेत्रमें अच्छी ख्याति प्राप्त की है।

प्रस्तुत निबन्धमें हम आपकी "जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन" पुस्तकका समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं।

"जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन" डा० कोठियाके जैनदर्शनसे सम्बन्धित २४ शोधपूर्ण निबन्धोंका संग्रहात्मक ग्रन्थ है। जैन दर्शनशास्त्रका इतिहास एवं उसका मौलिक दार्शनिक विवेचन, दार्शनिक आचार्यपरम्परा, आचार्योंका समय-निर्धारण एवं उनके ग्रंथोंके नवनीतका आस्वादन आदि इस कृत्तिकी मौलिक विशेषताएँ हैं। परिशीलनके अधिकांश शोध-निबन्ध सन् १९४२से १९८० तकके लिखे हुये हैं। जब आप महापंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारके निर्देशनमें जैन दर्शनपर प्रामाणिक शोधकार्य-सम्पादनमें संलग्न थे, उस समय जैन दार्शनिक क्षेत्रमें पं० सुखलालजी प्रजाचक्षु, डा० हीरालाल जैन, डा० उपाध्ये, पं० महेंद्रकुमार न्यायाचार्य, पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ, पं० दलसुख मालवणिया जैसे विद्वान् कार्यरत थे तथा दार्शनिक जगतमें नये-नये आयाम प्रस्तुत करनेमें संलग्न थे।

परिशीलनका प्रथम निबन्ध 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र' विषयक है, जिसमें ऋषभदेवसे लेकर महावीर तक तथा महावीरके पश्चात् ईसा २०० से १७०० तक होनेवाले जैन न्याय विकासका ऐतिहासिक आकलन किया गया है। डॉ० कोठियाने जैन न्याय-विकासके समयका विभाजन निम्न प्रकार किया है—

आदिकाल/समन्तभद्रकाल (ई० २०० से ६५० तक)

मध्यकाल/अकलंककाल (ई० ६५० से १०५० तक)

उत्तरकाल/प्रभाचन्द्रकाल (ई० १०५० से १७०० तक)

आचार्य समन्तभद्रके पूर्व भी अनेक आचार्य हुये थे, जिन्होंने जगत्के समक्ष जैनदर्शनकी प्रतिष्ठापना की थी। इनमें आचार्य धरसेन, भूतबलि-पुष्पदन्त एवं कुन्दकुन्दके नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। लेकिन आचार्य समन्तभद्रने वैदिक एवं बौद्ध दार्शनिकोंकी चुनौतीको स्वीकार करके जैनदर्शनकी आधार-शिला स्था-
द्वादृष्टिका प्रतिपादन जिस ताकिक शैलीमें किया, उसका डा० कोठियाने अपने निबन्ध 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र : ऐतिहासिक एवं दार्शनिक पृष्ठभूमि' में अच्छा विवेचन किया है। उनकी निम्न पंक्तियाँ इस सम्बन्धमें पठनीय हैं—

“यद्यपि स्याद्वाद और सप्तभंगीका प्रयोग आगमोंमें भी तदीय विषयोंके निरूपणमें होता था, किन्तु जितना विशद और विस्तृत प्रयोग एवं योजना समन्तभद्रकी कृतियोंमें उपलब्ध है उतना उनसे पूर्व प्राप्त नहीं है। समन्तभद्रने 'नययोगान्न सर्वथा,' 'नयैर्नयविशारदः' जैसे पदप्रयोगों द्वारा सप्तभंगनयोंसे वस्तुकी व्यवस्थाका विधान बनाया और 'कथंचित्ते सदेवेष्टं,' 'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्' जैसे वचनों द्वारा उस विधानको व्यवहृत किया है।”

डा० कोठियाने दर्शन-साहित्यके मध्यकालको अकलंककाल माना है। वास्तवमें समन्तभद्रके पश्चात् अकलंकस्वामीने 'न्यायविनिश्चय' (स्वोपज्ञवृत्ति सहित), सिद्धिनिनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और लघीयस्त्रय (स्वोपज्ञवृत्तिसहित) जैसे मौलिक न्यायग्रन्थोंका निर्माण करके जैनदर्शनकी आधार-शिलाको और भी मजबूत बना दिया। यहीं नहीं, उन्होंने जैन न्यायकी जो रूपरेखा और दिशा निर्धारित की उसीका अनुसरण उत्तर-वर्ती सभी जैन दार्शनिकोंने किया है। इस युगके दार्शनिक आचार्य हैं हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनन्द, विद्या-नन्द, अनन्तदीर्थ (प्रथम), वादिराज एवं माणिक्यनन्द। इन सब आचार्योंने दार्शनिक जगतमें जैन न्यायको उच्चतम स्थान प्राप्त करानेमें पूर्ण सफलता प्राप्त की।

तीसरा काल प्रभाचन्द्रकाल माना गया है, जिसका समय ई० १०५० से १७०० तक निश्चित किया है। प्रभाचन्द्रद्वारा निबद्ध न्यायकुमुदचन्द्र एवं प्रमेयकमलमार्तण्ड अपने युगकी मौलिक एवं विशाल न्याय-कृतियाँ हैं। यद्यपि दोनों ही टीका-ग्रन्थ हैं लेकिन ग्रन्थकार द्वारा कितना ही नया एवं मौलिक विवेचन करनेके कारण दोनों ही टीका-ग्रन्थ मूलग्रन्थके समान बन गये हैं। इस कालमें अभयदेव, अभयचन्द्र एवं मल्लिखेण, अभिनव धर्मभूषण, यशोविजय जैसे दार्शनिकोंने अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

परिशीलनका दूसरा लेख “आचार्य कुन्दकुन्दका प्रकृत वाङ्मय और उनकी देन” है। आचार्य कुन्दकुन्द वर्तमानमें सर्वाधिक बहु चर्चित आचार्य हैं, जिन्होंने अपनी सभी २१ कृतियाँ प्राकृत भाषामें ही निबद्ध करनेका श्रेय प्राप्त किया। डा० कोठियाने आचार्य कुन्दकुन्दकी साहित्यिक, दार्शनिक, तात्त्विक एवं लोककल्याणी दृष्टिका अच्छा विवेचन किया है। दार्शनिक दृष्टिका डा० कोठियाका अध्ययन यद्यपि संक्षिप्त रूपमें ही है किन्तु वह उनका सर्वथा मौलिक चिन्तन है। आचार्य कुन्दकुन्दकी लोककल्याणी दृष्टिका डा० कोठियाने बहुत अच्छा वर्णन किया है।

“आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण” नामक लेख परिशीलनका तीसरा निबन्ध है। डा० कोठिया अत्यधिक तर्कशील विद्वानोंमेंसे हैं। विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थोंमें उनकी गहरी पैठ है। ये अपनी बातको तर्कके आधारपर प्रस्तुत करते हैं। कुछ विद्वानोंका मन है कि तत्त्वार्थसूत्रका मंगला-

१. 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन'—पृष्ठप ९।

चरण “भोक्षमार्गस्य नेतारं भेतारं कर्मभूभृतां” गृह्यपिच्छ (उमास्वामी) का न होकर सर्वार्थसिद्धिकार पूज्य-पाद आचार्यका है। लेकिन डा० कोठियाने अपने प्रबल प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दिया है कि उक्त मंगला-चरण सूत्रकार गृह्यपिच्छका ही मूल है, पूज्यपाद आचार्यने उसे अपना लिया है। इसके अतिरिक्त “तत्त्वार्थ-सूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज” एवं “तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा” दोनों ही खाजपूर्ण लेख हैं, जिनमें डा० कोठियाने विभिन्न विषयोंका पर्याप्त मन्थन किया है।

परिशीलनका चौथा प्रमुख विषय आचार्य समन्तभद्रका सर्वांगीण विवेचन है। ग्रन्थमें समन्तभद्रसे सम्बन्धित निम्न लेखोंका संग्रह किया गया है—

स्वामी समन्तभद्र और जैनदर्शनको उनकी देन।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु और समन्तभद्र

दिङ्नाग और समन्तभद्र

धर्मकीर्ति और समन्तभद्र

देवामम-आप्तमीमांसा

रत्नकरण्डकश्रावकाचारकी प्राचीनतापर अभिनव प्रकाश

रत्नकरण्डकटीका और उसके कर्त्ताका समय

नागार्जुन और समन्तभद्र

कुमारिल और समन्तभद्र

गन्धहस्तिमहाभाष्य

युक्त्यनुशासन

रत्नकरण्डकश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र-की कृति है

उक्त १२ निबन्धोंमें आचार्य समन्तभद्रकी विभिन्न रूपमें चर्चा की गयी है। फिर चाहे उनकी वह जैनदर्शनको देन हो अथवा वैदिक एवं बौद्ध दार्शनिकोंके साथ उनका तुलनात्मक अध्ययन। इस तरह प्रथम क्षार एक साथ एक ही आचार्यपर विभिन्न बिन्दुओंसे जो चर्चा की गयी है वह सर्वथा श्लाघनीय है। डा० कोठियाने स्वामी समन्तभद्रकी दार्शनिक क्षमताओंके अतिरिक्त उनके विशाल एवं प्रभावक व्यक्तित्वको प्रकाशमें लानेमें सफल हुये हैं। उनका यह अध्ययन दार्शनिक इतिहासके वेजोड़ पृष्ठ है।

परिशीलनका पंचम भाग है “आचार्य विद्यानन्द”। समन्तभद्रके समान ही विद्यानन्द भी जैनदर्शनके प्रमुख प्रस्तोता थे। उनके द्वारा रचित आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा जैनदर्शनकी नींवके पत्थरके समान हैं, जिनपर उनके परवर्ती आचार्योंने दार्शनिक जगत्में जैन दर्शनकी दुन्दुभि बजायी थी। उनका तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री एवं युक्त्यनुशासनालंकार जैसे विशाल दार्शनिक टीका-ग्रन्थ दर्शनशास्त्रके बड़े-बड़े दिग्गजोंको आश्चर्यचकित करने वाले हैं। यह आचार्य विद्यानन्दका ही चमत्कार था कि उन्होंने इन ग्रन्थोंकी रचना करनेमें सफलता प्राप्त की। सामान्य व्यक्तिके लिये तो ऐसे ग्रंथोंका एक बार पारायण करना भी कठिन प्रतीत होता है। डा० कोठियाने विद्यानन्द जैसे प्रतिभासम्पन्न दार्शनिक आचार्यपर जो सामग्री प्रस्तुत की है वह दार्शनिक जगत्के लिए एक महान् उपलब्धि है। डा० कोठियाने आचार्य विद्यानन्दके भावना-विधि-नियोग, जाति-समीक्षा, व्यवहार और निश्चय द्वारा वस्तु-विवेचन, उपादान-निमित्तका बिचार जैसे बिन्दुओंपर नवीन चिन्तन किया है। वास्तवमें डा० साहूबने आचार्य विद्यानन्दका जो विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है वह जैन दर्शनके लिये नयी उपलब्धि है तथा उसे गौरवास्पद एवं समादरणीय बनाता है।

इसी परिशीलनमें डा० कोठियाने आचार्य माणिक्यनन्दपर दो लेखोंमें अपना चिन्तन प्रस्तुत किया है। आचार्य माणिक्यनन्द जैनदर्शनके उद्भट तार्किक विद्वान् थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके ग्रंथोंका दोहन करके ‘परीक्षामुख’ के माध्यमसे जैन न्यायको सूत्ररूपमें प्रस्तुत किया था। उनकी यह अमर कृति भारतीय न्याय-सूत्र ग्रंथोंमें विशिष्ट स्थान रखती है और जैन न्यायका प्रतिनिधित्व करती है।

न्यायदीपिकाके कर्ता अभिनव धर्मभूषण १५वीं शताब्दीके उद्भट विद्वान् थे । वे भट्टारकीय-परम्पराके साधु थे, जो अपने आपको यति लिखते थे । उनके पूर्व इसी नामके दो भट्टारक और हो गये थे, इसलिये उन्होंने अपने नामके पूर्व अभिनवशब्द जोड़कर अपना पृथक् अस्तित्व सिद्ध किया । न्यायदीपिका न्यायशास्त्रका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है । न्यायशास्त्रके अध्ययन करने वालोंके लिये यह ग्रन्थ प्रवेशद्वारका कार्य करता है ।

इस प्रकार डा० कोठियाने अपने विभिन्न लेखोंके आधारपर जैन दर्शनपर जो मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है वह वर्तमान दर्शनशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए मार्गदर्शिका कार्य करता है । अपने जीवनको दार्शनिक चिन्तनमें समर्पण करके डा० कोठियाने दार्शनिक इतिहासकी कितनी ही नयी ग्रन्थियोंको सुलझानेमें जो योग दिया है उसके लिए भावी पीढ़ी उनकी सदैव उपकृत रहेगी ।

प्रमाण-परीक्षा

समीक्षक—पं० रामना रायण त्रिपाठी, लखनऊ विश्वविद्यालय

डा० दरबारीलालकोठियामहोदयेन सम्पादिता आचार्य-विद्यानन्दप्रणीता 'प्रमाण-परीक्षा' मयाऽव-लोकिता । न्यायशास्त्रमर्मज्ञेन सम्पादकेन पुस्तकास्यास्य महती प्रस्तावना प्रस्तुत्य समुपयोगित्वे महानुपकारो व्यधायि । प्रथमतस्तु ताकिकशिरोमणिनाऽचार्येण लघुकायेऽस्मिन् ग्रन्थे निजसिद्धान्तापेक्षितान् सर्वान् न्याय-नयान् निवेश्य स्वैतरसकलदार्शनिकमतानि साधु समीक्ष्य प्रमाणस्य लक्षणमङ्गानि च परीक्ष्य तत्संख्यां विषयं फलञ्च निर्णय अन्वर्थंमुखेन निरमायि । ग्रन्थोऽयं जैनप्रमाणशास्त्रे सारत्येन प्रवेष्टुमभिलषतां छात्राणाम् अल्पीयसा श्रमेण दिवसनप्रमाणतत्त्वबुभुत्सूनां दर्शनान्तरबुधानां सामान्यजिज्ञासूनां च कृतेऽतीवोपयुज्यते । 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' न्यायात् प्रमेयपदार्थानवगन्तुं प्रमाणशास्त्रस्यावश्यकता महत्ता च सर्वविदिते विनेदं तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम् ।

सम्पादनप्रक्रियाऽस्य महती समीचीना लिखित-मुद्रितविभिन्नपुस्तकैः पाठशुद्धि विधायिवबोधनाय पाद-टिप्पण्यां पाठभेदानप्युपन्यस्य विषयानुसारमनुच्छेदं क्षटिति विषयज्ञानाय कतिपयाक्षरद्वारा तत्तन्निर्दिष्टविषयान् संसूच्यादौ विषयसूचीं चोपस्थाप्य सर्वथोपकरोति ।

विशत्युत्तरशतपृष्ठात्मिकायां सारगर्भितायां प्रस्तावनायाम् आदौ ग्रन्थ-तद्भाषा-शैली-प्रयोजन-विषय-तद्विभागान् सम्यक् परिचाय्यानन्तरं महता श्रमेण प्राचीनानां जैनदार्शनिकानां कुन्दकुन्द-गुह्यपिच्छ-समन्तभद्र-सिद्धसेन-पूज्यपाद-अकलङ्क-विद्यानन्द-माणिक्यनन्द-देवसूरि-हेमचन्द्र-प्रभृतीनां प्रमाणविषयकं मतं दर्शनान्तर-मतोत्पत्त्यपूर्वकं साधु विमृश्य विचिन्त्योपन्यस्तम् । येन प्रमाणज्ञानपाटवमातनोति विनयहृदयेषु सहजतयैषा प्रस्तावना । अनन्तरं सम्पूर्णग्रन्थस्यानुवादः सरलया मुगम्यया प्रौढया मातृभाषया सन्निहितः । सोऽपि पादटिप्पण्या समलङ्कृतः सूचीस्यूतश्च यो जिज्ञासूनां हिताधायकोऽनायासेनैव विषयान् परिचाययति पाण्डि-त्यञ्च प्रोद्दीपयति प्रकुरुते सम्पादकज्ञानगौरवप्रकाशम् ।

आशासे प्रकरणस्यास्योपयुक्तसामग्रीसङ्कलितस्योपयोगिता समादरश्च बुधजनेषु द्राग् भवितारौ नूतन-रीत्या सम्पादितमिदं पुस्तकं सत्त्वरमेव प्रचारप्रसारत्वे लप्स्यते ।

जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार

(एक समीक्षण)

समीक्षक—डॉ० दामोदर शास्त्री, एम० ए० पी-एच० डी०, नई दिल्ली

तार्किक और वणिक्की समानता

हमारे दैनिक जीवनमें उपयोग-हेतु विविध भोग्य / उपभोग्य वस्तुओंकी आवश्यकता होती है। उन विविध वस्तुओंका आदान-प्रदानादि व्यवहार विविध मानकों—सही माप-तौलों—आदि पर आधारित होता है।

भौतिक स्तर (धरातल) पर होने वाली परिमाण (परिमिति) क्रियामें प्रयुक्त सामान्य मानकों (तौलनेके वाटों, विविध नाप तौलके साधनों) की तुलनामें चेतन स्तरपर होने वाली उक्त क्रियामें ज्ञान-रूपी मानककी श्रेष्ठता निविवाद है। इस दृष्टिसे, उसकी संज्ञा प्रमाण (प्र + मान) है। दार्शनिक चिन्तनके क्षेत्रमें प्रत्येक दर्शनकी अपनी एक तत्त्व-मीमांसा होती है जिसमें स्वोक्त तत्त्वों (प्रमेयों) का जहाँ निरूपण होता है, वहाँ ज्ञान-मीमांसके अन्तर्गत उक्त 'प्रमाण' का विश्लेषण/विवेचन आदि किया जाता है, अर्थात् उक्त चेतनाके (इन्द्रियादिके माध्यमसे सामान्यतः असाक्षात्, किन्तु विशिष्ट परिस्थितिमें साक्षात् भी) व्यापारका अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। उक्त दृष्टिसे, व्यापारी और तार्किक—दोनों समान हैं, क्योंकि जहाँ व्यापारी वस्तुकी प्रामाणिक नाप-तौल हेतु सही मानकों-नापतौलके साधनोंका प्रयोग करता है, वहाँ तार्किक वस्तु-तत्त्वका परीक्षण यथार्थ प्रमाणों—युक्तियों/तर्कोंके आधारपर करता है।

जैन परम्परामें भी स्वतन्त्र 'प्रमाण-मीमांसा' प्रतिष्ठित हुई है, और उसके अन्तर्गत अनुमान-प्रमाण सम्बन्धी विमर्श भी अत्यन्त विद्वत्पूर्ण रीतिसे जैन नैयायिकों द्वारा किया गया है; जिसका भारतीय न्याय-के क्षेत्रमें विशिष्ट स्थान है।

'न्याय' शब्दका प्रयोग विविध अर्थोंमें

भारतीय दार्शनिक क्षेत्रमें 'न्याय' शब्द एक विशिष्ट व स्वतन्त्र दर्शन-शास्त्रको तो व्यक्त करता ही है, साथ ही यह एक विशिष्ट अर्थ-परीक्षण-पद्धतिके रूपमें प्रत्येक दर्शनकी 'प्रमाण-मीमांसा' का भी परिचायक है,^१ और यही कारण है कि बौद्ध न्याय, जैन न्याय आदि शब्दोंका प्रयोग दार्शनिक क्षेत्रमें किया जाता रहा है।

१. प्रसिद्धेनाविहृद्धेन, मानेनाव्यभिचारिणा।

वणिजस्ताकिकाइचापि, यत्र वस्तु प्रमिन्वते ॥—चन्द्रप्रभचरित, २।१४२।

२. प्रमाणैरर्थपरीक्षणं 'न्याय':.....समस्तप्रमाण-व्यापाराद् अर्थाधिगतिः न्यायः'। (न्यायवातिक, वात्स्यायन-न्यायभाष्य, १।१।१)। नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः।

‘न्याय’ शब्द का अन्य कई अर्थोंमें प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । उदाहरणार्थ :—

- (१) लोक-शास्त्र-प्रसिद्ध दृष्टान्त-विशेष^१
- (२) अभिधान-प्रकार^२
- (३) परार्थानुमान^३
- (४) पंचावयव (अनुमान) वाक्य,^४ आदि-आदि ।

न्याय-शास्त्रका दूसरा नाम ‘अन्वीक्षा’, आन्वीक्षिकी विद्या भी है ।^५ ‘अन्वीक्षा’ से तात्पर्य है— प्रत्यक्ष व शब्द प्रमाणपर आश्रित अनुमान ।^६ दूसरे शब्दोंमें, प्रत्यक्ष व शब्द प्रमाणकी सहायतासे अवगत विषयका (अनु) पश्चाद्वर्ती (ईक्षा) पर्यालोचन, अर्थात् अनुमिति रूप ज्ञान । अन्वीक्षाके अनुसार प्रवृत्त होने वाली विद्या हुई—आन्वीक्षिकी । इस प्रकार आन्वीक्षिकी विद्या प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणोंसे ज्ञात विषयको पृष्ट एवं सिद्ध करती है ।

न्याय या आन्वीक्षिकी विद्याका दूसरा नाम ‘तर्कशास्त्र’ भी है, जिसका प्रथमतः प्रतिपादन गौतम या मेधातिथि^७ द्वारा किया गया माना जाता है, और जो भारतीय दर्शनके क्षेत्रमें एक स्वतन्त्र दर्शनके रूपमें प्रतिष्ठित हो चुकी है । इस दर्शनमें प्रमेय व प्रमाण दोनोंका निरूपण किया गया है । कालान्तरमें

१. न्यायः लोकशास्त्रप्रसिद्धदृष्टान्तविशेषः (सांख्यतत्वकौमुदी, श्लो० १ पर टीका) । जैसे—कदम्बमुकुलन्याय, सूची-कटाहन्याय आदि ।
२. न्याय = प्रकाशन व कथनका प्रकार ।
‘उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्’ (कुमारसम्भव, २।१२) । तीन प्रकारके अभिधान—(अ) उत्तम-मध्यम-अधम, (आ) ऋषयजुःसाम (इ) अध्ययन-अध्यापन-कर्म ।
३. आसाधारण्येन व्यपदेशा भवन्ति-इति न्यायेन, न्यायस्य परार्थानुमानापरपर्यायस्य—(सर्वदर्शन-संग्रह, अक्षपाद-प्रकरण) ।
४. समस्तरूपोपेतलिङ्गबोधकवाक्यजातं न्यायः—(न्यायकुसुमाञ्जलि—१ पर हरिदासीय टीका) । समस्त रूप = पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष-असत्त्व, अबाधितविषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व । वाक्यजात = प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन ।
पंचावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः (वात्स्यायन-भाष्य—१।१।१) ।
५. आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् (वात्स्यायन-भाष्य—१।१।१) ।
सेयमान्वीक्षिकी न्यायतर्कादिशब्दैरपि व्यह्नियते (न्यायकोष—पृ० ४४७) ।
६. प्रत्यक्षागमाश्रितम् अनुमानम्, सा अन्वीक्षा । अथवा प्रत्यक्षागमाभ्याम् ईक्षितस्य अन्वीक्षणम्-अन्वीक्षा । तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी (न्याय-भाष्य, १।१।१) ।
७. (क) न्यायो गौतमप्रणीत-सूत्रसन्दर्भरूपा तर्कविद्या (न्यायसिद्धान्तमंजरीप्रकाश, लोमाक्षिभास्करकृत, पृ० ३) । गौतमप्रणीतशास्त्रस्य न्यायशास्त्रम् इति व्यपदेशो युज्यते (सर्वदर्शनसंग्रह—अक्षपाद) । षोडशपर्ययानुसारिन्यायज्ञः (भाषापरिच्छेद, श्लो० १०७) । कणादेन तु संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् । गौतमेन तथा न्यायम् ॥ (पद्मपुराण-उत्तरखण्ड, अ० २६३) ।
(ख) मेधातिथिन्यायशास्त्रम् (प्रतिमा-नाटक, अंक ५) ।
(ग) मेधातिथि = गौतम । मेधातिथिर्महाप्राज्ञो गौतमस्तपसि स्थितः । विमृश्य तेन कालेन, पत्न्याः संस्था-व्यतिक्रमः ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व, २६६।४५, गीताप्रेस संस्करण) ।

प्रमाण-मीमांसा, उसमें भी अनुमान-मीमांसाकी प्रमुखता इस दर्शनमें होती गई।^१ आलोच्य कृतिके शीर्षकमें प्रयुक्त 'तर्कशास्त्र' से 'प्रमाण-मीमांसा' विशेषकर 'अनुमानमीमांसा' अभिप्रेत है।

भारतीय दर्शन-चिन्तनमें तर्क

भारतीय तर्कशास्त्रकी परम्परा अतिप्रचीन है। उपनिषद् काल तक, अध्यात्म-विवेचनके क्षेत्रमें उप-योगिताकी दृष्टिसे तर्कशास्त्र एवं अनुमान-प्रमाणको मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, प्राचीन बौद्ध पाली ग्रन्थों आदिमें तर्कशास्त्रका विविध नामोंसे उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। वाकोवाक्य, हेतु-विद्या, न्याय, अन्वीक्षा, आन्वीक्षिकी, अनुमानशास्त्र आदि संज्ञाओंके रूपमें भारतीय चिन्तन-भूमिमें तर्कशास्त्र फलता-फूलता रहा है।

भारतीय दर्शन-क्षेत्रमें 'तर्क' किसी न किसी रूपमें प्रतिष्ठित रहा है। सर्वमान्य नास्तिक दर्शन यद्यपि सामान्यतः प्रत्यक्षप्रमाणवादी माना जाता है, तथापि उसकी यह विशेषता रही है कि वह वैदिक मान्यताओंपर, सामान्य लौकिकजन-बोध्य युक्तियों^२ के रूपमें तर्क-अस्त्र फेंक कर तीखी चोट करता है। भौतिक देहको आत्मा सिद्ध करने हेतु उसके प्रयासमें तर्क व अनुमानका लौकिक रूप ही दृष्टिगोचर होता है। यही कारण है कि ऐसे लोगोंको कुतर्को^३ घोषित कर आस्तिक-परम्पराके साहित्यमें हेतुदुष्ट, वेद-निन्दक, बाल, दुर्बुध आदि विशेषणोंसे निन्दनीय^४ बताया गया है। जहाँ तक आस्तिक दर्शनोंका प्रश्न है, उन सबमें, शब्द या आगम (वेद या श्रुति आदि) को प्रमाणता स्वीकारते हुए भी, प्रत्यक्ष-अगम्य (इन्द्रिया-तीत) आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि मौलिक (आधारभूत) पदार्थोंकी स्थापना प्रमुखतः तर्क या अनुमान द्वारा की जाती रही है। जो आज आस्तिक दर्शन (पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्ययोग, न्याय-वैशेषिक) माने जाते हैं, वे यद्यपि वेद-प्रमाणताको स्वीकारते हुए भी^५, तर्क-प्रमाणताकी ओर अधिक झुकते हुए प्रतीत

१. अपरे त्वनुमानं तर्क इत्याहुः, हेतुस्तर्को न्यायोऽन्वीक्षा इत्यनुमानमाख्यायते इति (उद्योतकर, न्यायवार्तिक), १।१।४०) ॥
२. साधक-बाधकप्रमाणोपन्यासो युक्तिः (तर्कप्रकाश, १) ।
३. किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनम्, किमाधारं धाता सृजति किमुपादानमिति च । अतर्कैश्वर्यं त्वय्यनवसरदुःस्थो हतधियः, कुतर्कोऽयं काश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः (शिवमहिम्नस्तोत्र-५) ॥
४. बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते । (वा० रामायण, २।१०।२।३९) । अहमासं पण्डितको हेतुको वेदनिन्दकः । आन्वीक्षिकीं तर्कविद्यामनुरक्तो निरर्थिकाम् । हेतुवादान् प्रवदिता वक्ता संसत्सु हेतुमत् ॥ (महाभारत, शान्ति पर्व, १८०।४७-४८) ।

स्वहेतुभिर्न हन्येत कस्य वाक्यं कदाचन (शुक्रनीति, ३।६४) । तर्कोऽप्रतिष्ठः (म० भा०, वनपर्व, ३।३।१।१७) । तर्कस्याप्रतिष्ठानात् (ब्रह्मसूत्र-२।१।१) । न तर्कशास्त्रद्वयाय... रहस्यधर्म वक्तव्यम् (म० भा० शान्तिपर्व-२।४६।१८-१९) । योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राध्यायद् द्विजः । स साधुभिर्विद्विष्यैर्नास्तिको वेद-निन्दकः ॥ (मनु-२।१।१)

५. द्रष्टव्य-न्यायसूत्र ३।१।३, वैशेषिक सूत्र-२।१।१७-१९, -१।१।३, १०।२।१०, ३।२।८, ३।२।२।, ४।२।१२, ५।२।२०, प्रमाणं वेदः (प्रशस्तपादभाष्य, अनुमानशब्दान्तर्भाव प्रकरण), सांख्यसूत्र-१।५३, १।८३, १।५४, २।२१, ३।८०, ५।१२, योग-सूत्र-१।७, १।२६, पूर्वमीमांसा (जैमिनि सूत्र)—१।३।३, वेदान्त (ब्रह्मसूत्र) १।१।३।३, २।३।१।१, २।३।१।१७, २।३।१।६।४।१, २।४।१।३, ३।२।८।३९, १।१।५।१।१, २।१।१।२।७, श्रुतिप्रमाणो धर्मः (मनु-२।१ पर कुल्लूक) ।

होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने तर्कादि प्रमाणों द्वारा स्वीकृत / प्रतिपादित पदार्थोंको या अतर्क्य पदार्थोंको पुष्ट करने हेतु ही श्रुति-वाक्यको प्रमाणरूपमें उपस्थापित करते हैं। अगर ऐसा न होता तो इन षड् आस्तिक दर्शनमें वेद-प्रमाणताकी समानता होते हुए भी, परस्परपार्थक्य कैसे सम्भव होता? अस्तु, तर्कशास्त्रकी उपादेयताको दृष्टिमें रखकर, इसे 'सर्वविद्याप्रकाशक' दीपकी तरह बताया गया।³ इसी सन्दर्भमें तर्कको आर्ष-परम्परासे जोड़नेका प्रयास भी उल्लेखनीय है।⁴ मनुका निर्देश है कि 'तर्क'का ज्ञान 'त्रैविद्यों' (त्रिवेदी) से ग्रहण किया जाय।⁵ 'तर्कज्ञ'को मनुने त्रिवेदज्ञकी तरह दशावरा परिषद्का सदस्य माना है।⁶ राजनीतिके क्षेत्रमें भी तर्कशास्त्रकी महत्ता प्रतिष्ठापित हुई है,⁷ और तर्कशास्त्रीको राजकार्योंमें नियुक्ति-हेतु योग्य पात्र माना गया है।⁸

जैन तर्कशास्त्रकी परम्परा : उद्भव व विकास

प्राचीन जैन आगमों व स्वतन्त्र दर्शन-ग्रन्थोंमें न्याय-विद्याके बीज प्रचुर मात्रामें प्राप्त होते हैं। जैन परम्पराके अनुसार द्वादशांगी आगमके बारहवें अंग 'दृष्टिवाद' श्रुतसे 'न्याय' का उद्भव (उद्गम) माना

१. यद्यपि वेदविरोधी / कुतर्कको सर्वथा निन्दनीय समझा गया।

(क) आर्य धर्मोपदेशं च, वेदशास्त्राविरोधिना । यस्तर्कैणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः (मनुस्मृति— १.२।१०६) ।

(ख) प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते । एते विदन्ति वेदेषु, तस्माद् वेदस्य वेदता (सायणकृत ऋग्वेदभाष्योपक्रमणिकामें उद्धृत) ॥ तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम्—(सांख्यकारिका— ६) ।

(ग) अतिवादास्त्यजेत् तर्कान् पक्षं कंचन नाशयेत् (नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ५।२१) । नैषा मतिस्त-
र्कणापनेया (कठोप० १।२।९) ।

२. परस्पर-ध्वंसिषु कष्टकेषु, जयत्यधुष्यं जिनशासनं ते (अन्ययोगव्यवच्छेदिका, २६) । सर्वेषामाप्तता नास्ति परस्पर-विरोधतः (आप्तमीमांसा, १।३) ।

३. सेयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना प्रदीपवत् सर्वविद्यानां भवति प्रकाशकत्वात् । प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे परीक्षिता ॥ (वात्स्यायन-भाष्य—१।१।१) ।

४. मनुष्या वा ऋषिषूक्तामत्सु देवान् अब्रुवन्—को न ऋषिर्भविष्यतीति । तेभ्य एतं तर्कमृषि प्रायच्छत् (निरुक्त, परिशिष्ट) ।

५. त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् । आन्वीक्षिकीं चास्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः ॥ (मनु० ७।४३) ।

६. त्रैविद्यो हेतुकस्तर्का नैरुक्तो धर्मपाठकः । त्रयश्चाश्रमिणः पूर्वं परिषत् स्याद् दशावरा (मनु० १.२।१११) ।

७. तर्कशास्त्रकृता बुद्धिधर्मशास्त्रकृता च या । दण्डनीतिकृता चैव त्रैलोक्यमपि साधयेत् (म० भा० शान्ति पर्व—२४।१७ के बाद प्रक्षिप्त, गीता प्रेस संस्करण) ।

८. आन्वीक्षिकी-त्रयी-वार्ता-दण्डनीतिषु पारगाः । ते तु सर्वत्र योक्तव्याः ते च बुद्धेः परम्पराः ॥ (म० भा० शान्तिपर्व, २४।१७ के बाद प्रक्षिप्त, गीताप्रेस संस्करण) ।

जाता है।^१ दूसरी मान्यता यह भी है कि चक्रवर्तीको 'काल' नामक निधिमें 'न्याय-शास्त्र' का सद्भाव रहता है।^२ इस प्रकार, जैन न्यायकी अतिप्राचीनता सिद्ध होती है। ऐतिहासिक सर्वेक्षणसे भी यह प्रकट होता है कि जैन न्याय स्याद्वाद-न्याय है और वह प्रारम्भसे ही अनेकान्तके प्रतिपादक एवं प्रतिष्ठापकके रूपमें विद्यमान रहा है।^३ उत्तरपुराणकारके अनुसार आगमविद्, तर्कज्ञ/तार्किक और सैद्धान्तो वही है जो जिन-शासनका—जिनोपदेशका—समुद्भासन करनेमें सक्षम हो।^४ लौकिक सामान्य जनताके मध्य 'न्याय' का अर्थ दयालुता, परोपकारिता, अहिंसा आदि धार्मिक सद्गुणोंका विकास करना था; जो जिन-शासनके व्यावहारिक पक्षका प्रस्तुतीकरण था।^५

जब अन्य दर्शनों द्वारा खण्डन-मण्डन-पद्धति अपनायी गयी तो जैन दर्शनने भी 'तर्क-शास्त्र'का विशेष आश्रय लिया और 'हेतुवाद'को प्रमुखता दी। प्रारम्भमें हेतुवादको परवर्ती काटकी तुलनामें अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण स्थान था। जैनोकी मान्यता रही है कि प्रमाणभूत रूपमें जिन-वचन (या उनपर आधारित आचार्यवचन) ही मान्य है,^६ और वस्तु-स्वभाव तर्क-अगोचर है।^७ उसमें हेतुवादको अवसर नहीं है। किन्तु

१. दृष्टिगतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं नियहृश्च दृष्टिवादे क्रियते (षट्खण्डागम-ध्वला, पृ० १, पृ० १०९)। स्याद्वादार्थो दृष्टिवादार्णवोत्थः (उपा० यज्ञोविजयकृत अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण, पृ० १)। दृष्टीनां त्रिषष्ट्युत्तरत्रिशतसंख्यानां मिथ्यादर्शनानां वादोऽनुवादः, तन्निकारणं च यस्मिन् क्रियते, तद् दृष्टिवादं नाम (गोम्मतसार, जीवकाण्ड, गाथा-३६० की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका)।
२. ज्योतिनिमित्तशास्त्राणि हेतुवादकलागुणाः। शब्दशास्त्रपुराणाद्याः सर्वे कालनिव्री मताः ॥ (हरिवंशपुराण-जैन, ११।१४)।
३. स्याच्छब्दस्तावके न्याये, नान्येषामात्मविद्विषाम्। (स्वयम्भू स्तोत्र, १८।१७)। अलंघ्यं शासनं जैनम्, अनेकान्तो व्यवस्थितः।—समयसारकला, २६३)। अहो अधृष्यं तव शासनं ते।—(अयोगव्यवच्छेदिका-१६)। स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदक्षितार्थार्थं वचः स्वामिनोदः।—(अष्टसहस्री)।
४. स शाब्दः, स हि तर्कज्ञः, स सैद्धान्तः स सत्तपाः। यः शासनसमुद्भासी, न चेत् किं तैरनर्थकैः ॥—(उत्तरपुराण, ७६।४२३)। तुलना—षोडशपदार्थानुसारि न्यायज्ञः।—(भाषापरिच्छेद, श्लो० १०७)।
५. न्यायो दयार्द्रवृत्तित्त्वम्, अन्यायः प्राणिमारणम्।—(आदिपुराण, ३९।१४१)।
६. त्वदागमा एव सतां प्रमाणम् (हेमचन्द्रकृत अयोगव्यवच्छेदिका, ११)। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात् प्रक्षीण-दोषत्वाच्च प्रामाण्यम् (सर्वार्थसिद्धि, १।२०)। वक्तुप्रामाण्याद् वचन-प्रामाण्यम् (ध्वला, १।१।१, पृ० ७३)। सव्वण्हू ण संदेहो...तस्स वयणं पमाणं पदत्थगव्वं तु तेण उदिदट्ठं। (जम्बूद्वीवपण्णत्ति, १३।१३७)।
 ऐदंयुगीन-ज्ञानविज्ञानसम्पन्नतया प्राप्तप्रामाण्यरत्नार्थैः व्याख्यातार्थत्वात्। कथं छद्मस्थानां सत्यवादित्वम् इति चेन्न, यथाश्रुत-व्याख्यातृणां तद्-अविरोधात् (ध्वला, १।१।२२, पृ० १९८)। तथा हि मूलतन्त्रस्य कर्ता तीर्थंकरः स्वयम्। ततोऽप्युत्तरतन्त्रस्य गीतमाख्यो गणाय्याणीः ॥ उत्तरोत्तरतन्त्रस्य कर्तारो बहवः क्रमात्। प्रमाणं तेषां नः सर्वे सर्वज्ञोक्त्यनुवादिनः ॥ (जैन हरिवंशपुराण, १।५६-५७)। सम्यग्-आगमाख्यात् प्रमाणतः (शास्त्रवातिसमुच्चय, हरिभद्रसूरि, २।८)।
७. स्वभावोऽतर्कगोचरः (आप्तमीमांसा—१००)। तक्का तत्थ ण विज्जइ (आयारो, ५।१२४-२५)। णो इन्दियगंज्जं अमुत्तभावा (उत्तराध्ययनसूत्र, १।४।१९)। [तुलना—नैषा मतिस्तर्केणापनेया (कठोप० १।२।९)।]

जहाँ आप्त वक्ता नहीं है उनकी परीक्षा / सिद्धि हेतु 'हेतुवाद' आवश्यक है ^१ फलतः जिन-प्रतिपादित तत्त्वोंको भी, अनुमादि-युक्तिके सहारे सम्भवतः पर-दार्शनिकोंको लक्ष्यकर सिद्ध किया गया है।^२

दशवैकालिक-निर्युक्तिकारने मन्दबुद्धि श्रोताके लिए उदाहरणका, तथा तीव्रबुद्धि श्रोताके लिए 'हेतु' का प्रयोग करना उचित बताया,^३ आचार्य यतिवृषभ (तिलोयपण्णत्ति) ने कहा कि व्युत्पन्न शिष्योंकी बुद्धि-को सन्तुष्ट करने, तथा अव्युत्पन्न शिष्योंको तत्त्वकी ओर आकृष्ट (रुचि जागृत) करनेके लिए 'हेतुवाद'का आश्रयण आवश्यक है।^४ आचार्यकी योग्यता स्वसमयज्ञताके साथ-साथ पर-समयज्ञता भी मानी गई और उनसे अपेक्षा की गई कि वे आगम व हेतुओंसे जिनोक्त पदार्थोंकी सिद्धि (समर्थन) करनेकी क्षमता रखें।^५ इसी(परम्परा)में यशस्तिलककार सोमदेवसूरिने 'युक्ति'को तीर्थ-मार्ग घोषित किया।^६ आ० हरिभद्रसूरिने लोक-प्रचलित विविध दृष्टियों / मतोंकी परीक्षा करनेके अनन्तर ही उन्हें स्वीकार करना उचित बताया।^७ आ० सिद्धसेनने बताया कि आगम व हेतुवाद—ये दोनों स्वतन्त्र पक्ष हैं। आगमवादके पक्षमें हेतुका प्रयोग करना, तथा हेतुवादके पक्षमें आगमको प्रयुक्त करना उचित नहीं।^८

आ० समन्तभद्र एवं आ० सिद्धसेनने जैन तर्कशास्त्रको प्राणवती प्रतिष्ठा प्रदान की और आ० अक-

आगमस्य अतर्कगोचरत्वात् (धवला, १।१।२५, पृ० २०७)। प्रत्यक्षागम-बाधितस्य तर्कस्य अप्र-मणत्वात् (गोमटसार, जीवकाण्ड, गाथा १९६ की जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका)।

सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥
—(आलापपद्धति, ५) ॥ तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः.....अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिगस्याक्षैरदर्शनात्।
—(पंचाध्यायी, ३।४।२३) ॥

१. वक्तव्यनाप्ते यद् हेतोः साध्यं तद्धेतु-साधितम्।—(आप्तमीमांसा, ७८)।

२. परीक्ष्य हेमवद् ग्राह्यं पक्षपाताग्रहेण किम्।—(आ० हरिभद्रकृत 'लोकतत्त्वनिर्णय', १८)।

पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः, पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत्।—(आ० सिद्धसेनकृत द्वात्रिंशिका... ६।५)। न श्रद्धयैव त्वयि पक्षपातः (अयोगव्यवच्छेदिका, २१)। अपक्षपातेन परीक्षमाणः (अयोग० २२)। दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु तस्य कार्यः परिग्रहः (योगबिन्दु, आ० हरिभद्र, ५।५२५)। युक्त्या यन्न घटा-मुपेति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्धये। (अष्टशती-अष्टसहस्री, पृ० २३४ में उद्धृत)।

३. दशवैकालिक-निर्युक्ति, गाथा, ४९।

४. तम्हा पुन्वाइरियवक्खाणापरिच्छाएण एसा वि दिसा हेतुवादानुसारि-वियुपण्णसिस्ताणुग्मह-अणुपण्ण-जणउप्पायणट्ठं च दरिसेदव्वा।—(तिलोयपण्णत्ति, ७।६१३)।

५. सगपरसमयविदः आगमहेतूँहि चावि जाणित्ता। सुसमत्था जिणवयणे विणये सत्ताणुरुवेण ॥—(प्राकृत-आचार्यभक्ति)।

६. लोको युक्तिः कलाच्छन्दोऽलंकाराः समयगमाः। सर्वसाधारणाः सद्भिः तीर्थमार्ग इव स्मृताः ॥
—(यशस्तिलक, १।२०)।

७. असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यसंनिभाः। दृश्यन्ते विविधा भावाः, तस्माद् युक्तं परीक्षणम् ॥
—(आ० हरिभद्रकृत धर्माविन्दु, ८५)।

८. दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।..... जो हेउवायपवख्खिम्म हेउओ आममे य आममियो। सो समयवपण्णवओ सिद्धन्तविराहओ अन्नो ॥—(गन्मतिप्रकरण, ३।४३-४५) ॥

लंकने^१ जैन न्यायका दुर्भेद्य दुर्ग खड़ा किया, वह परवर्ती युगमें महान् कीर्तिस्तम्भके रूपमें प्रेरणा-स्रोत बना । इस दुर्गकी रक्षा-हेतु आ० प्रभाकर, वादिदाज आदि परवर्ती तार्किक जैन आचार्योंने महान् सेनानीके रूपमें महीय प्रयास किया और आ० श्रीयशोविजयने नव्य-न्यायकी अवच्छेदकावच्छिन्नमयी भाषाके माध्यमसे नव्ययुगोचित आग्नेयास्त्रोंका प्रयोग प्रारम्भ कर जिन-शासनकी विजय-पताका लहरानेका कार्य किया—यह सब भारतीय दार्शनिक इतिहासमें चिर-स्मरणीय रहेगा ।

जैन तर्कशास्त्रका विशिष्ट योगदान

इस सन्दर्भमें जैनतर दर्शनकी स्थितिका उल्लेख करना आवश्यक होगा । एक तरफ अहिंसावादी / समन्वयवादी / उदारतावादी जैन दर्शन था, दूसरी तरफ यज्ञीय हिंसाको समर्थन देने वाला मीमांसा-दर्शन, तथा परस्पर, एक दूसरेपर, कीचड़ उछालने वाली, एक दूसरेपर नास्तिकताका आरोप लगा कर स्वयंको प्रशंसनीय बताने वाली दार्शनिक दृष्टियाँ थीं ।^२ जैनोंने इन सबको जोड़नेका काम किया, तोड़नेका नहीं । इन्होंने शास्त्रचर्चा व वाद-विवादमें छलादिका प्रयोग वर्ज्य प्रतिपादित किया, और अहिंसाकी सुरक्षा एवं सत्यकी सम्पुष्टि करना लक्ष्य रख कर तर्कशास्त्रका सूत्रपात किया ।

एक-दो उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त होंगे । मीमांसकोंमें एकाध आचार्योंने इतनी असहिष्णुता प्रदर्शित की कि उन्होंने बौद्ध-प्रतिपादित 'अहिंसा'की भी कुत्तेके चमड़ेसे बनी थैलीमें रखे गौ-दुग्धकी तरह त्याज्य बताया ।^३ इसके विपरीत जैन नास्तिकोंके प्रति भी माध्यस्थ्य भाव रखनेके समर्थक थे ।^४ आ० हरिभद्रसूरिने कहा कि प्रत्येक शास्त्रकार (ऋषि) परमार्थदृष्टि वाला है, उसे हम, एकाएक, बिना परीक्षा किए, असत्य-भाषी कैसे कह सकते हैं ।^५ दूसरी तरफ, वेदान्त (शांकर) के मतमें सांख्य-योग दर्शन वेद-विरुद्ध घोषित किया गया,^६ मीमांसा व न्यायको श्रुति-आभास बताया गया ।^७ कुमारिल भट्ट (मीमांसक) ने सांख्ययोग, पाशुपत, पांचरात्र, बौद्ध—सभीको वेदविरुद्ध बताया,^८ आस्तिक दर्शनके क्षेत्रमें आ० शंकर (वेदान्त) को प्रच्छिन्नबौद्ध

१. न्यायोऽयं मलिनोक्तः कथमपि प्रक्षाल्य नेनीयते । (न्यायविनिश्चय, अकलंक) ।
२. सयं सयं पसंसता, गरहंता परं सयं । जे उ तत्थ विडस्संति, संसारे ते विडस्सिया ॥—(सूत्रकृतांग, १।१।५०) ।
३. शाक्योक्ताहिंसनं धर्मो, न वा धर्मः श्रुतत्वतः । न धर्मो, न हि पूतं स्याद् गोक्षीरं श्वदूती धृतम् (माध्वाचार्यकृत जैमिनीय न्यायमाला-विस्तर, १।४।१२) ॥ (ब्र० मीमांसामूत्र, १।३।५७ की व्याख्या) ।
४. नास्तिकेषु च माध्यस्थ्यम् (ज्ञानार्णव, १२८०, २५।१४) । माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ (परमात्मद्वान्त्रि-शिका—आ० अमितगतिकृत, १ श्लोक) । मेत्ति भूएसु कप्पए (उत्तराध्ययनसूत्र, ६।२) ।
५. शास्त्रकारा महात्मानः, प्रायो वीतस्पृहा भवे । सत्त्वार्थसम्प्रवृत्ताश्च, कथं तेषुवतभाषिणः ॥—(शास्त्र-वार्तासमुच्चय, ३।१५) ।
६. न तथा श्रुतिविरुद्धमपि कापिलं मतं श्रद्धातुं शक्यम् (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, २।१।१) । तत्रापि श्रुति-विरोधेन प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणं, महदादीनि च कार्याणि अलोकवेदप्रसिद्धानि कल्पन्ते (शांकरभाष्य, ब्र० सू० २।३) ॥
७. वैशेषिकराद्धान्तो दुर्युक्तियोगाद्, वेदविरोधात् शिष्टापरिग्रहात् च नापेक्षितव्यः (ब्र० सू० शांकरभाष्य—२।१८) । अयं तु परमाणुकारणवादो न कैश्चिदपि शिष्टैः केनचिदप्यंशेन परिगृहीत इव, इत्यत्यन्तमेव अनादरणीयो वेदवादिभिः (ब्र० सू० २।१७ शांकरभाष्य) । जैमिनि (मीमांसा) का खण्डन ब्र० सू० १।३३ के शांकर भाष्यमें द्रष्टव्य है ।
८. तन्त्रवातिक, १।३।४ ।

बताया गया ।^१ आ० कुमारिल भट्ट अपने पूर्ववर्ती मीमांसकोंको लोकायत (चार्वाक) मतानुयायीके रूपमें संकेतित करते हैं^२ । इन सबके बीच जैन तर्कशास्त्र समग्र भारतीय दर्शनके लिए उपकारक सिद्ध हुआ ।

लक्षण, प्रमाण व नय द्वारा अर्थसिद्धिकी पद्धति 'न्याय' है, ऐसा स्वीकार कर^३, उस न्यायकी प्रतिष्ठापनाहेतु, वस्तु-अधिगम साधनभूत प्रमाण व नय^४—इन दोनोंका निरूपण, विश्लेषण, विवेचन किया जाने लगा । एक तरफ, विभिन्न दार्शनिक दृष्टियोंको प्रमाणांश—नयोंके^५ रूपमें प्रतिपादित कर अनेकान्त (शासन) को विभिन्न दृष्टिरूप मणियोंकी गुंथी मालाके रूपमें प्रस्तुत कर, विभिन्न दर्शनोंमें समन्वित रूपकी आवश्यकताका निरूपण किया गया ।^६ दूसरी तरफ, अन्य शास्त्रोंका अध्ययन भी जैन आचार्यों द्वारा प्रारम्भ

१. मायावादिवेदान्त्यपि नास्तिक एव पर्यवसाने सम्पद्यते (भीमाचार्यकृत न्यायकोष, उद्धृत—'महाभारत और पुराणोंमें सांख्य-दर्शन'—ले० डॉ० रामसुरेश पाण्डेय, पृ० ३४) । मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च । (सांख्यप्रवचनभाष्य—१।१ की भूमिकामें पद्मपुराणका वचन, द्र० न्यायकोष, पृ० ३७२) ।
२. प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता । तस्मास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया ॥ (श्लोकवार्तिक, १।१०) ।

मीमांसकोंकी निरोधरताका संकेत श्रीहर्षने नैषधमें किया है—वेदैर्वचोभिरखिले कृतकीर्तिरत्ने, हेतुं विनैव धृतनित्यपरार्थयत्ने । मीमांसयेव भगवत्यमृतांशुमौली, तस्मिन्, महीभुजि तयाऽनुमतिर्न भेजे ॥ (नैषधचरित, १।६४) ॥

३. प्रमाणनयात्मको न्यायः (न्यायदीपिका) । लक्षणप्रमाणाभ्याम् अर्थसिद्धिः न्यायः (न्यायदीपिका) । दृष्टा-गमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं प्रकृत्यनुशासनं ते । (युक्त्यनुशासन, ४८) । प्रमाणनयसंसिद्धं सर्वज्ञं नोमि सिद्धये (पाण्डवपुराण—शुभचन्द्र, १।१) । प्रमाणादर्थसंसिद्धिः (परीक्षामुख—१) ।
४. प्रमाणनयैरधिगमः (त० सू० १।६) ।
५. स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः (भाप्तमीमांसा—१०६) । नयं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक—१।६) । प्रमाणप्रकाशितार्थविशेषप्ररूपको नयः (त० राजवार्तिक—१।३३) । वस्त्वंशशाही ज्ञातुरभिप्रायो नयः (प्रमेयकमलमार्तण्ड, पृ० ६७६) । नयो ज्ञानात्मको यतः । स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु (त० श्लोकवार्तिक, श्लो० १०, नयविवरण) । जावदिया वयणवहा तावदिया चैव ह्येति नयवादा (सन्मतिर्तर्क—३।४७) । (तथा गोम्मटसार, कर्मकाण्ड-माथा—८९४) । स्वार्थैकदेश-निर्णयितिलक्षणो हि नयः स्मृतः (त० श्लोक वार्तिक-नयविवरण-श्लो० ४) ।
६. गिनय-वयणिञ्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा । ते उण उ दिट्ठसमथो विभयइ सच्चे व अलिये वा ॥ (सन्मति प्र० १।२८) । सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहारः (सर्वार्थसिद्धि—१।३३) ।

किमेते तन्त्रान्तरीया वादिन आहोस्वित् स्वतन्त्रा एव चोदकपक्षग्राहिणो मतिभेदेन विप्रधाविता इति । अत्रोच्यते । नैते तन्त्रान्तरीया अपि नापि स्वतन्त्रा मतिभेदेन विप्रधाविताः । ज्ञेयस्य त्वर्थस्य अध्यवसायान्तरण्येतानि । (तत्त्वार्थ-भाष्य— १।३५) ॥ निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् (भाप्तमीमांसा—१०८) । सावेक्त्वा सुण्या गिरवेक्त्वा ते वि दुण्या ह्येति (कार्तिकेयानुपेक्षा—२७७) ।

उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः (सिद्धसनकृत द्वात्रिंशिका—४।१५) ॥ तुलना-रचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषाम्, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव (महिम्न स्तोत्र—७) ।

विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् (पुरुषार्थसिद्धयुपाय—१) । न विप्लवोऽयं तव शासनेऽभूद्, अहो अधृष्या तव शासन-श्रीः (अयोगव्यवच्छेदिका—१६) ।

हुआ ।^१ यह प्रतिपादित किया गया कि सम्यक्-श्रद्धानी व्यक्ति यदि अन्य दर्शनोंको, मिथ्या-मतावलम्बी विचार वाले शास्त्रोंको पढ़े, तो भी सम्यक् श्रुतका ही अध्ययन—जैसा होगा ।^२ अन्य शास्त्रोंका अध्ययन कर, उनपर तार्किक-प्रहार करना जैनोंके लिए सुगम हो गया ।^३

जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार—एक विशिष्ट कृति

इस प्रकार जैन दर्शनके क्षेत्रमें ज्ञान-मीमांसा व प्रमाण-मीमांसाका विकास होता गया । इसी विकास-क्रमको दृष्टिगत रख कर जैन क्षेत्रमें स्वनामधन्य पदवाक्यप्रमाणपारावारीण डॉ० दरवारीलालजी कीटियाने 'जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार: ऐतिहासिक व समीक्षात्मक अध्ययन' कृति प्रस्तुत कर, जैन तार्किकोंके भारतीय दर्शनके क्षेत्रमें योगदानसे परिचित कराया है ।

इस शोध-प्रबन्धपर काशी हिन्दू विश्वविद्यालयने इन्हें शोध-उपाधि (पी-एच० डी०) १९६९ ई० में प्रदान की थी । इसका प्रकाशन बीरसेवामन्दिरट्रस्ट, वाराणसी द्वारा १९६९ ई० में किया गया ।

विद्वान् लेखकने जैन व जैनेतर—सभी दर्शनोंका तुलनात्मक व समीक्षात्मक शोध प्रस्तुत किया है, जिससे यह पुस्तक प्रत्येक दर्शन-अध्येताके लिए अनिवार्य पाठ्यपुस्तक बन गई है ।

आलोच्य कृति ५ अध्यायोंमें विभक्त है, और कुल १३ परिच्छेद हैं । प्रथम अध्यायमें प्रस्तावना है । इसके चार परिच्छेद हैं, जिनमें क्रमशः (१) भारतीय साहित्यमें प्राप्त अनुमानस्वरूपका उद्भव-विकास, (२) जैन परम्परामें अनुमानका विकास, (३) संक्षिप्त अनुमान-विवेचन (अनुमान-स्वरूप, पक्षधर्मता, व्याप्ति, अनुमान भेद अनुमानावयव, अनुमान-दोष), (४) भारतीय अनुमान और पाश्चात्य तर्कशास्त्र (तुलनात्मक अध्ययन)—इन विषयोंका विवेचन है ।

द्वितीय अध्यायमें जैन प्रमाणका विवेचन है । इसमें दो परिच्छेद हैं, जिनमें क्रमशः (१) जैन प्रमाण-वाद, प्रमाणका स्वरूप, भेद, अनुमानका प्रमाणोंमें स्थान आदि, (२) जैनप्रमाणके आलोचकमें अनुमानका प्राचीनतम स्वरूप, महत्व, परिभाषा, अनुमानमें अर्थापत्ति व अभाव आदिका अन्तर्भाव—ये विषय चर्चित हुए हैं ।

तृतीय अध्यायमें अनुमानके विविध भेदों व व्याप्तिका निरूपण है । इसमें दो परिच्छेद हैं जिनमें क्रमशः विवेचित विषय इस प्रकार हैं—(१) भारतीय दर्शनोंमें अनुमानके भेद, अनुमानके स्वार्थ व परार्थ

१. ज्ञेयः परसिद्धान्तः सपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम् (सिद्धसेनद्वित्रिशिका, ८।९) । शब्दविचार्यशास्त्रादि चाध्येयं नास्य दुष्यति । सुसंस्कारप्रबोधाय वैयात्यख्यातयेऽपि च ॥ (आदिपुराण, ३८।११९) ।

२. सम्यग्दृष्टिपरिगृहीतं तु मिथ्याश्रुतमपि सम्यक्-श्रुततया परिणमति सम्यग्दृशाम् (स्याद्वादमंजरी, २३।२७४) ।

द्र० आवश्यक-निर्युक्ति—पृ० ४७, विशेषावश्यकभाष्य, ९५६-५७ ।

३. जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः । सत्यवाक्याधिपाः शशवद् विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥ (प्रमाण-परीक्षा—१) ॥ आप्तोपज्ञमनुलब्ध्यम् अदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचार, १।९) ।

सरस्वतिशर्वविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः । जयन्ति वाग्जनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तम-हीघ्रकोटयः ॥ (गद्यचिन्तामणि) । समन्तभद्रोऽजनि भद्रमूर्तिस्ततः प्रणेता जिनशासनस्य । यदीववाग्ज-कठोरपादश्चूर्णीचकार प्रतिवादिशैलान् ॥ (श्रवणवेल्गोलशिलालेख नं० १०८, २५८) ।

भेदोंके मूल, उद्भव, विकास आदि, (२) व्याप्ति-स्वरूप. तर्ककी व्याप्ति-ग्राहकता, व्याप्ति-भेद, उपाधि-विमर्श आदि ।

चतुर्थ अध्यायमें अनुमानके अवयवों व हेतुके स्वरूपकी विवेचना है । इसमें दो परिच्छेद हैं, जिनमें क्रमशः (१) अनुमान-अवयव (विकास-क्रम, संख्या, जैनेतर व जैनदर्शनमें अवयव-संख्या), (२) हेतु-विमर्श (हेतु-स्वरूप, एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षड्-सप्त लक्षणकी समीक्षा, अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु-लक्षणकी निर्दोषता, हेतु-भेद) की विवेचना है ।

पंचम अध्यायमें अनुमानाभास एवं अनुमान-दोषोंका निरूपण है । इसमें दो परिच्छेद हैं, जिनमें क्रमशः चर्चित विषय इस प्रकार है—(१) जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अनुमानाभास, (२) जैनेतर दर्शनमें चर्चित अनुमान-दोष : एक तुलनात्मक अध्ययन ।

अन्तमें उपसंहार है जिसमें जैन तार्किकोंके चिन्तनकी मौलिकता, विशदता व सूक्ष्मता आदिको उगित किया गया है ।

ग्रन्थके अन्तमें चार परिशिष्ट हैं—(१) सन्दर्भग्रन्थसूची, (२) नामानुक्रमणी (मुद्रित ग्रन्थके उन स्थलोंका पृष्ठ-निर्देश, जिसमें भारतीय ग्रन्थ व ग्रन्थकारोंका नामोल्लेख हुआ है), (३) प्रमुख दार्शनिक-तार्किक-पारिभाषिक शब्द-सूची (मुद्रित ग्रन्थमें कहाँ-कहाँ विशिष्ट पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं—इसका निर्देश) । (४) जैन-तर्कशास्त्रके प्रमुख आचार्यों और उनकी कृतियाँ (काल-क्रमसे जैन तार्किकों और उनकी कृतियोंका विवरण ।

सबके अन्तमें ग्रन्थ-संकेतसूची दी गई है ।

समस्त दर्शन-जगत्की ओरसे मैं विद्वान् लेखक तथा इसको प्रकाशक-संस्थाको साधुवाद प्रदान करता हूँ ।



आचार्य पं० दरबारीलाल कोठियाजीकी सम्पादन-मनीषा :

‘प्रमाणप्रमेयकलिका’के सन्दर्भमें

प्रो० श्रीरंजन सूरिदेव, पटना

जैनदर्शनमें स्व एवं परको प्रकाशित या अवबोधित करनेवाले सम्यग्ज्ञानको प्रमाण माना गया है । जैन दार्शनिक, ब्राह्मण नैयायिकोंकी भांति इन्द्रिय-विषय और उसके सन्निकर्ष या सम्बन्धको प्रमाण नहीं मानते । जैनदृष्टिसे स्वार्थ और परार्थ अथवा प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे प्रमाण दो प्रकारका है । परार्थ तो परोक्ष ही होता है, परन्तु स्वार्थ, प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारका होता है । मतिज्ञानात्मक स्वार्थप्रमाण सांख्यावहारिक प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञानात्मक स्वार्थप्रमाण परोक्ष । अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीनों ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं । पहले न जाना गया—अपूर्व पदार्थ प्रमाणका विषय है और वस्तुकी सिद्धि अथवा हितप्राप्ति एवं अहित-परिहार इसका फल है । प्रमाणका भाव या ज्ञात विषयमें व्यभिचार (अन्यथात्व) का न होना प्रामाण्य है । प्रामाण्यकी विद्यमानताके कारण ही ज्ञान प्रमाण कहा जाता है और उसकी अविद्यमानताके कारण अप्रमाण ।

प्रमाणके द्वारा परीक्ष्य वस्तु प्रमेय कहलाती है । ‘स्याद्वादमंजरी’के कर्ता आचार्य मल्लिषेणने कहा है : ‘द्रव्यपर्यायात्मकं वस्तु प्रमेयम्, इति तु ‘समीचीनं लक्षणं सर्वसङ्ग्राहकत्वात् ।’ अर्थात्, द्रव्यपर्याय-रूप वस्तु ही प्रमेय है । प्रमेयका यही लक्षण सर्वसंग्राहक होनेसे समीचीन है । प्रमेयके भावको प्रमेयत्व कहते हैं । प्रमाणके द्वारा जानने योग्य वस्तुका स्व-पर-स्वरूप ही प्रमेय है । इसीलिए, प्रमाण और प्रमेयकी व्युत्पत्तिकी जाती है : ‘प्रमोयते अनेनेति प्रमाणम्’, ‘प्रमोयते यत्तत् प्रमेयम् ।’ अर्थात्, जिसके द्वारा सामान्य और विशेषस्वरूप, यानी द्रव्य और पर्याय-स्वरूप पदार्थकी प्रमिति (परीक्षणपूर्वक जानकारी) की जाती है, वह प्रमाण है और उक्तविध प्रमाणका जो पदार्थ विषय बनता है, वह प्रमेय है । और फिर प्रमाणके द्वारा प्रमेय वस्तुके अज्ञानकी निवृत्ति, उपादेयकी प्राप्ति, हेयके परित्याग और उपेक्षणीयकी उपेक्षा प्रमिति है तथा प्रमाण और प्रमितिका आधार व्यक्ति प्रमाता कहा जाता है । आचार्य नरेन्द्रसेन (१८वीं शती) द्वारा रचित काल-जयी ग्रन्थ ‘प्रमाणप्रमेयकलिका’में उक्त प्रमाण और प्रमेयके सन्दर्भको ही पाण्डित्यपूर्ण भाष्यगर्भ सूत्रात्मक शैलीमें पल्लवित किया गया है ।

आचार्य नरेन्द्रसेनने अपनी यथोक्त बृहद्भाष्यगर्भ लघु कृतिको दो प्रकरणोंमें उपन्यस्त किया है : १. प्रमाणतत्त्वपरीक्षा तथा २. प्रमेयतत्त्वपरीक्षा । इन दोनों प्रकरणोंमें यथाक्रम प्रमाण और प्रमेयतत्त्वका पुंखानुपुंख सूक्ष्म विचार चिन्तनपूर्ण शास्त्रार्थशैलीमें किया गया है, जिसमें पूर्वपक्षको दिखलाकर उत्तरपक्षकी सिद्धि की गई है । कहना न होगा कि वैदिक न्यायदर्शनपरम्परामें तर्कके मूल सिद्धान्तोंको सुगमतासे समझनेके लिए महान् तार्किक अन्नम्भट्टके ‘तर्कसंग्रहका जो स्थान है, श्रमणन्यायदर्शन-परम्परामें वहीं स्थान प्रमाण और प्रमेयके प्रामाणिक प्रारम्भिक परिचयके लिए महान् दार्शनिक आचार्य नरेन्द्रसेनकी ‘प्रमाणप्रमेयकलिका’ का है ।

आचार्य नरेन्द्रसेनने अपनी इस महार्थ कृतिके, प्रमाणतत्त्वकी सीमांसासे सम्बद्ध प्रथम प्रकरणमें अपने पूर्ववर्ती नैयायिक, जैसे प्रभाकर, भट्टजयन्त आदिके अतिरिक्त सांख्य-योगके आचार्यों द्वारा प्रतिपादित

प्रमाणलक्षणोंको विवेचनापूर्वक अमाधु बताकर अपने द्वारा निर्मित प्रमाणलक्षणको निर्दोष सिद्ध किया है। नैयायिक प्रभाकरका मत है कि जिस माध्यमसे अर्थका प्रकाशन होता है, वह प्रमाण है और अर्थका प्रकाशन ज्ञाताके व्यापार द्वारा होता है। जबतक ज्ञाता ज्ञेय वस्तुके ज्ञानके निमित्त व्यापार, अर्थात् प्रवृत्ति नहीं करता, तबतक उसे वस्तुका ज्ञान नहीं होता। वस्तु, इन्द्रियाँ और ज्ञाता इन तीनोंके विद्यमान रहनेपर भी प्रमेय या वस्तुका ज्ञान नहीं होता। किन्तु, ज्ञाता जब व्यापार करता है, तब उसे वस्तुका ज्ञान अवश्य होता है। अतः ज्ञाताके व्यापारको प्रमाण मानना चाहिए।

जयन्तभट्ट और उनके अनुगामी बृद्ध नैयायिकोंका मत है कि प्रमेय यानो पदार्थके ज्ञान (अर्थोपलब्धि) में अर्थ, आलोक, इन्द्रिय, आत्मा, ज्ञान आदि सभी कारणोंका यथोचित योगदान होता है। इनमें यदि एककी भी कमी रहे, तो अर्थोपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए, सामग्री अथवा कारकसाकल्य (कारकोंका समग्रता) ही प्रमाण है।

सांख्योंका कहना है कि इन्द्रियोंके व्यापारके बिना अर्थका प्रकाशन नहीं होता, इसलिए अर्थके प्रकाशन या वस्तुके ज्ञानमें इन्द्रियव्यापारको ही कारण या साधकतम या माध्यम होनेसे इन्द्रियवृत्ति ही प्रमाण है। योगवादियोंकी मान्यता है कि ज्ञाताका व्यापार, इन्द्रियोंका व्यापार और कारकसाकल्य अर्थके ज्ञानमें तबतक कुछ भी सक्रिय योगदान नहीं कर सकता, जबतक इन्द्रियोंका योग्य देशमें अवस्थित अर्थके साथ सम्बन्ध न हो। इसलिए, इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध रूप सन्निकर्ष (इन्द्रिय-सन्निकर्ष) ही प्रमाण है, इन्द्रिय-व्यापार आदि नहीं। तथा बौद्धोंने प्रमेयनिरूपक ज्ञानको स्वसंवेदी मानते हुए प्रमा (तद्वृत्तमें तत्प्रकारक ज्ञान) के कारणके रूपमें साहस्य, तदाकारता या योग्यताको ही प्रमाण स्वीकार किया है।

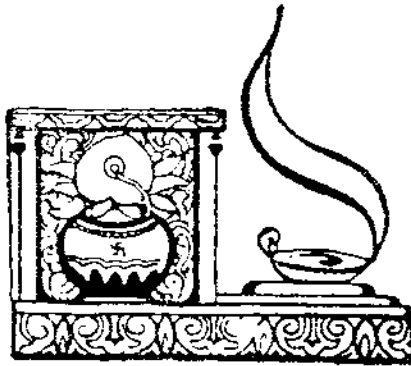
इस प्रकार, प्रभाकरके ज्ञातुव्यापार, जयन्तभट्टके कारकसाकल्य, सांख्योंके इन्द्रियव्यापार, योगोंके इन्द्रियसन्निकर्ष तथा बौद्धोंके ज्ञानगत साहस्य, तदाकारता एवं योग्यतारूप प्रमाणलक्षणको तर्कपूर्वक अस्वीकार करते हुए आचार्य नरेन्द्रसेनने 'स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान', अर्थात् प्रत्यक्ष-परोक्षरूप ज्ञानको निर्दुष्ट प्रमाणलक्षण सिद्ध किया है।

आचार्य नरेन्द्रसेनने, प्रमाणतत्त्वकी परीक्षाके बाद अपनी इस कृतिके द्वितीय प्रकरणमें प्रमेयतत्त्वकी परीक्षा की है। प्रमेयके सामान्य स्वरूपमें सभी तार्किक एकमत हैं। विवाद केवल उसके विशेष स्वरूपमें है। सांख्य प्रमाणके द्वारा प्रतीयमाण प्रमेयका विशेष स्वरूप सामान्य (प्रधान-प्रकृति) को मानते हैं। बौद्ध उसे विशेष (स्वलक्षण) रूप स्वीकार करते हैं। वैशेषिक सामान्य और विशेष दोनों परस्पर निरपेक्ष या स्वतन्त्र-को प्रमाणका विषय या प्रमेय मानते हैं और वेदान्ती परमपुरुष या ब्रह्मको प्रमेयके रूपमें ग्रहण करते हैं। किन्तु, आचार्य नरेन्द्रसेनका मत है कि वस्तु कथंचित् सामान्य और कथंचित् विशेष रूप है और यही कथंचित् सामान्यविशेषात्मक, एकानेकात्मक अथवा भेदाभेदात्मक या उभयात्मक (अनेकान्तात्मक) वस्तु ही प्रमेय अर्थात् प्रमाणका विषय है। इस प्रकार, उन्होंने अपनी 'प्रमाणप्रमेयकालिका' में यही अनेकान्तात्मक दृष्टि प्रस्तुत की है और इसे सप्त भंगी प्रक्रिया द्वारा सिद्ध किया है, जिसका निष्कर्ष यह है कि प्रमाण और प्रमेयके सम्यक् ज्ञानसे अज्ञान दूर होता है। प्रमाण-प्रमेयके सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न व्यक्ति ही अहितका त्याग, हितका उपादान अथवा उपेक्षणीयकी उपेक्षा करनेमें भी समर्थ होता है।

'प्रमाणप्रमेयकालिका' के विद्वान् सम्पादक तथा जैन परम्पराके कूटस्थ शास्त्रज्ञ आचार्य पं० ब० रवारी-लाल कोठियाजी ने आचार्य नरेन्द्रसेनके मूल विषयको, प्रतिपादनकी दृष्टिसे, कुल ५८ अनुच्छेदोंमें विभक्त किया है और हिन्दोमें लिखित अपनी बृहत् प्रामाणिक 'प्रस्तावना' में प्रमाण-प्रमेय कालिकागत प्रमाण और

प्रमेयका समीक्षात्मक विस्तृत एवं विशद अध्ययन और आचार्य नरेन्द्रसेनका ऐतिहासिक परिचय उपस्थित करते हुए उनके मूल वक्तव्यको सम्भीर सूक्ष्मेक्षिकासे पाण्डित्यपूर्ण, किन्तु सरल, सुबोध भाषा-शैलीमें उपन्यस्त किया है, जिससे यथा प्रतिपादित विषय हस्तामलक बन गया है। इससे आचार्य कोठियाजीकी गहन गवेषणा-दृष्टि, व्यापक तथा तलस्पर्शी अध्ययनशीलता और तत्त्वार्थभिनिवेशी सम्पादन मनीषा, तीनोंका एकसाथ विशद परिचय प्राप्त होता है। आशा है कि वे इस पुस्तकके आगामी संस्करणमें आचार्य नरेन्द्रसेन की मूल सामग्रीका प्रांजल हिन्दी अनुवाद भी सुलभ करा देंगे।

कुल मिलाकर दर्शनशास्त्रके प्रधान विषय—प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाताका विशद और प्रामाणिक विवेचन इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य है। धुरिकीर्त्तनीय जैन ताकिक आचार्य नरेन्द्रसेनका यह अनुपम सारस्वत अवदान भारतीय दर्शनशास्त्रको विशिष्ट उपलब्धि है। भारतीय दर्शनोंके तुलनात्मक अध्येता आचार्य कोठियाजीने इस गूढविषयात्मक कृतिको अपनी महत्त्वपूर्ण एवं सारार्थ प्रदर्शनी प्रस्तावना द्वारा बोधगम्य बनाकर जनहितकी दृष्टिसे ततोऽधिक श्लाघ्य कार्य तो किया ही है, पाठालोचन-सहित विषय सम्पादनके क्रममें आध्यात्मिक प्राचीन प्रतियों तथा इस संस्करण (प्रथम आवृत्ति, वीर निर्वाण संवत् २४८७) की विशेषताओंसे भी दार्शनिक पाठकोंको परिचित होनेका अलम्य अवसर दिया है। वैदुष्य और श्रमसाध्य इस मूल्यवान् सात्विक कार्यसे त्रैविचिती-विभूषित सम्पादक आचार्य कोठियाजीके प्रति सम्पूर्ण दार्शनिक-जगत् सदातन अधमर्ण बना रहेगा।



न्यायदीपिका : एक समीक्षा

समीक्षक—पं० नरेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायतीर्थ, सोलापुर

आधुनिक विद्वद्गणमें विद्वद्भक्त डॉ० पं० दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य वाराणसीका प्रमुख स्थान है। जैन साहित्यमें विशेषतः दर्शन व न्याय साहित्यमें आपका महत्त्वपूर्ण योगदान है। आपके द्वारा अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन व अनुवाद हुआ है, जो विद्वद्ग्राह्य एवं स्तुत्य हैं। उनके ये महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विभिन्न स्थानोंसे प्रकाशित हैं।

उनमें एक 'न्यायदीपिका' नामका न्यायविषयक अनुपम एवं अद्वितीय ग्रन्थ है। यह श्रीमद् अभिनव धर्मभूषण यति द्वारा विरचित संक्षिप्त एवं विशद तथा महत्त्वपूर्ण कृति है।

यद्यपि न्याय एवं दर्शन विषयके प्रकाशक अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्तण्ड, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, तत्त्वार्थवार्तिक, न्यायविनिश्चयविवरण, सिद्धिविनिश्चय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि प्रचुर ग्रन्थ हैं, जो प्रायः दुर्लभ, दुर्लभाह, गहन, जटिल और तीक्ष्णबुद्धियों द्वारा ही गम्य है, उनमें बालबुद्धियों (अल्पज्ञजनों) का प्रवेश होना अत्यन्त कठिन है। तथापि उनमें उनका भी प्रवेश हो, इस परोपकार भावनासे प्रेरित होकर अभिनव धर्मभूषणने इस लघुकाय, किन्तु विशद कृति, न्यायदीपिकाकी रचना की, जिसकी सूचना उन्होंने स्वयं आदिश्लोक (मंगलाचरणपद्य) में '....बालप्रबुद्धये । विरच्यते मितस्पष्टसन्दर्भन्यायदीपिका ॥' शब्दों द्वारा की है।

इसमें सन्देह नहीं कि न्यायके प्राथमिक जिज्ञासुओंके लिए अभिनव धर्मभूषणकी यह कृति बहुत उपयोगी है। वास्तवमें आचार्य गृद्धिपिच्छके द्वारा रचित महाशास्त्र 'तत्त्वार्थसूत्र' के 'प्रमाणनयैरधिगमः' [१-६] इस मूल सूत्रमें आये प्रमाण और नयका विवेचन करनेके लिए ही उन्होंने न्यायदीपिकाकी रचा। यों न्यायके सभी ग्रन्थोंका मूलाधार यही सूत्र है—उसीके आधारपर प्रायः सभी जैन न्यायग्रन्थ रचे गये हैं। अभिनव धर्मभूषणने भी अपनी न्यायदीपिका उसी सूत्रके आधारसे या उसीकी व्याख्याके लिए रची है। यह उन्होंने ग्रन्थकी भूमिकामें स्वयं कहा है। अतः इसमें मुख्यतासे प्रमाण और नयका अति संक्षेपमें तथा अत्यन्त सरल भाषामें युक्तिपूर्ण विचार किया गया है। अपने कथनके समर्थनमें उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्' अर्थात् प्रमाण और नयके विना जीवादिक पदार्थोंका ज्ञान करनेके लिए अन्य कोई प्रकार (उपाय) नहीं है।

ग्रन्थका तीन प्रकाशोंमें विभाजन

यह तीन प्रकाशोंमें विभाजित है। यतः ग्रन्थका नाम 'न्यायदीपिका' है, अतः उसके विभागों—परिच्छेदों—अध्यायोंका नाम भी 'प्रकाश' रखना स्वाभाविक है। दीप या दीपिकाका प्रकाश ही तो होता है। अतः उसके विभागोंको परिच्छेद या अध्याय न कह कर 'प्रकाश' कहना उचित और सुन्दर है।

वे तीन हैं—१. प्रमाणसामान्य-प्रकाश, २. प्रत्यक्ष-प्रकाश और ३. परोक्ष-प्रकाश।

१. प्रमाण सामान्य-प्रकाश

१. पहले प्रकाशका नाम प्रमाणसामान्यप्रकाश है। इस प्रकाशमें प्रमाण-सामान्यका लक्षण बताया गया है। कहा गया है कि 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' अर्थात् यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। इस लक्षणमें अव्याप्ति, अति-व्याप्ति और असम्भव इन तीन लक्षण-दोषोंमेंसे कोई भी दोष नहीं है। अतः यह प्रमाणका निर्दोष लक्षण है।

जैनतर दर्शनोंमें बौद्ध 'अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्'—अविसंवादि ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। किन्तु असम्भव दोष होनेसे यह प्रमाणका सम्यक् (निर्दोष) लक्षण नहीं है। उन्होंने दो प्रमाण माने हैं—१ प्रत्यक्ष और २ अनुमान। प्रत्यक्ष निर्विकल्पक होनेसे वह अविसंवादी—निश्चयात्मक नहीं हो सकता और अनुमान उन्हींके मतानुसार मिथ्याभूत सामान्यको विषय करनेसे अविसंवादी (यथार्थ) नहीं है। लक्ष्यभूत दोनों प्रमाणोंमें लक्षण (अविसंवादीपन) न रहनेसे उनका यह प्रमाणलक्षण असंभवि (असम्भवदोष सहित) है।

प्राभाकर 'अनुभूतिः प्रमाणम्'—अनुभूतिको प्रमाण मानते हैं। परन्तु उनका यह लक्षण करण और भाव दोनों साधनोंमें परस्पर अव्याप्त है, क्योंकि करणसाधन (अनुभूयतेऽनेनेति) मानने पर भावसाधनमें और भावसाधन (अनुभूतिमात्रं अनुभूतिः) को प्रमाण कहने पर करण साधनमें लक्षण अव्याप्त (अव्याप्तदोष युक्त) होता है।

भाट्टमीमांसक 'अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्' अनधिगत एवं यथार्थ अर्थके निश्चायकको प्रमाण बतलाते हैं। किन्तु उनका यह प्रमाणलक्षण भी धारावाहिक ज्ञानोंमें, जो अधिगत अर्थके निश्चायक एवं प्रमाण हैं, अव्याप्त है।

नैयायिक 'प्रमाणकरणं प्रमाणम्' प्रमाके करणको प्रमाण मानते हैं। लेकिन उनका भी यह प्रमाण-लक्षण अव्याप्तदोष युक्त है, क्योंकि प्रमाणरूपसे स्वीकृत ईश्वरमें वह नहीं रहता। ईश्वर तो प्रमाका आश्रय है, करण नहीं। उसको प्रमाको उन्होंने नित्य माना है। अतः ईश्वर करण नहीं है, अधिकरण है।

इस प्रकार अन्य प्रमाणलक्षणोंको सदोष बतला कर 'सम्यग्ज्ञान' को प्रमाणका निर्दोष लक्षण प्रति-पादित किया गया है।

इसी सन्दर्भमें प्रमाणके प्रामाण्यकी ज्ञप्ति और उत्पत्तिका विचार करते हुए अभ्यास दशा (परिचित जगह) में ज्ञप्तिको स्वतः और अनभ्यासदशा (अपरिचित स्थान) में परतः सिद्ध किया है तथा उत्पत्तिको सर्वत्र (अभ्यास और अनभ्यास दशामें) परतः (गुणोंसे) बतलाया गया है। प्रसंगसे अन्य मतोंकी समीक्षा भी की गयी है।

इस तरह प्रथम प्रकाशमें प्रमाणसामान्यका लक्षण और उसके प्रामाण्यका समीक्षापूर्वक अच्छा विमर्श किया गया है।

२. प्रत्यक्ष-प्रकाश

इसमें आरम्भमें प्रमाणके दो भेद किये हैं—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। ध्यातव्य है कि वैशेषिक और बौद्ध भी प्रमाणके दो भेद मानते हैं। किन्तु उनके दो भेद प्रत्यक्ष और अनुमान हैं। सांख्य प्रमाणके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद, नैयायिक उनमें उपमानको मिलाकर चार भेद, प्राभाकर मीमांसक उक्त चारमें अर्थापत्ति सहित पाँच और भाट्ट मीमांसक इनमें अभावको और मानकर छह प्रमाण स्वीकार करते हैं। परन्तु स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क (उद्घा) का इनमें अन्तर्भाव न हो सकनेसे इन सभी दार्शनिकोंकी

अभिमत दो आदि प्रमाण-संख्या विघटित हो जाती है। पर प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद माननेपर उनका परोक्षमें अन्तर्भाव हो जाता है। अतः प्रमाणके इन दो भेदोंका मानना युक्त है।

धर्मभूषणने आचार्य अकलंकके अनुसार प्रत्यक्षका लक्षण 'विशदं प्रत्यक्षम्'—विशद ज्ञान बतलाया है। जो ज्ञान विशद—स्पष्ट—निर्मल है वह प्रत्यक्ष है। इसके दो भेद हैं—१. सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष और २. पारमार्थिक प्रत्यक्ष। इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) के निमित्तसे जो ज्ञान होता है वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है। इसके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं। ये चारों बहु आदि बारह प्रकारके अर्थ (पदार्थ) को विषय करने और पाँचों इन्द्रियोंसे होनेके कारण $4 \times 12 \times 5 = 240$ संख्यक है। अवग्रह ज्ञानके दो भेद हैं—१ अर्थावग्रह और २ व्यञ्जनावग्रह। अर्थावग्रह पाँचों इन्द्रियोंसे होता है। उसकी अपेक्षासे ही उक्त भेद है। किन्तु व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनको छोड़कर शेष चार (स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र) इन्द्रियोंसे बहु आदि बारह प्रकारके अर्थमें होता है। अतः उसके भी $1 \times 4 \times 12 = 48$ भेद हैं। कुल $240 + 48 = 288$ भेद इन्द्रियप्रत्यक्षके हैं। इसी प्रकार अनिन्द्रिय (मन) के निमित्तसे बहु आदि बारह प्रकारके अर्थमें होने वाले अवग्रहादि चारों $1 \times 12 \times 4 = 48$ संख्यक हैं और इस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा अनिन्द्रियप्रत्यक्ष दोनोंके सब मिला कर $288 + 48 = 336$ भेद हैं। इन सबको मतिज्ञान या सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है।

प्रत्यक्षका दूसरा भेद पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। इसमें इन्द्रियों और मनकी अपेक्षा न होने तथा आत्माभावकी अपेक्षासे होनेके कारण इसे अतीन्द्रियप्रत्यक्ष कहा गया है। अतएव यह प्रत्यक्ष पूर्णतया विशद होता है। और इसीसे उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रतिपादित किया गया है। इसके दो भेद हैं—१. विकल्पारमार्थिक और २. सकल्पारमार्थिक। विकल्पारमार्थिकके भी दो भेद हैं—१. अवधि और २. मनःपर्यय। ये दोनों प्रत्यक्ष कतिपय विषय (मूर्त द्रव्य) को ग्रहण करते हैं। इसीसे उन्हें विकल्प कहा गया है। सर्वद्रव्य और उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंको जो युगवत् ग्रहण करता है वह सकल्पारमार्थिक प्रत्यक्ष है और वह केवलज्ञान है।

बौद्ध दर्शनमें निर्विकल्प ज्ञानको प्रत्यक्ष मानकर उसकी उत्पत्ति स्वलक्षण (विशेषरूप अर्थ) से स्वीकार की गयी है। जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वह उसीको जानता है, ऐसी विषयप्रतिनियमव्यवस्था है। धर्मभूषण इसकी समालोचना करते हुए कहते हैं कि कोई भी ज्ञान हो वह निश्चयात्मक (व्यवसायात्मक) ही होता है, निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) नहीं। दूसरे, वह अर्थसे उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ज्ञानका उसके साथ अन्वय और व्यतिरेक नहीं है। पदार्थके होने पर भी ज्ञान नहीं होता है और पदार्थके न होनेपर भी केशोंडुकज्ञान होता है। इस लिए पदार्थके साथ ज्ञानका अन्वय-व्यतिरेक घटित न होनेसे उनमें कार्यकारण-भाव नहीं है। अत एव उसे स्वलक्षणजन्य मानना युक्ति संगत नहीं है।

नैयायिक संनिकर्षको प्रत्यक्षका लक्षण मानते हैं। किन्तु वह अद्याप्त होनेसे निर्दोष लक्षण नहीं है। चक्षुरिन्द्रिय बिना संनिकर्षके ही अर्थको ग्रहण करती है क्योंकि वह अप्राप्यकारी है। उसे प्राप्यकारी सिद्ध करना युक्ति बाधित है। यदि वह प्राप्यकारी होती तो वृक्षकी शाखा और चन्द्रमाका एक साथ ग्रहण नहीं हो सकता था। अतः संनिकर्ष अद्याप्त है। इसके सिवाय वह अचेतन है और अचेतनसे अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमा संभव नहीं, तो वह प्रमाणकरण भी नहीं हो सकता और तब वह प्रमाण कैसे हो सकता है और जब प्रमाण नहीं तब वह प्रत्यक्ष कैसे? अतः संनिकर्ष असंभव दोषसे भी युक्त है।

जो अतीन्द्रियप्रत्यक्ष और तद्वान् सर्वज्ञको असंभव मानते हैं उन्हें जवाब देते हुए धर्मभूषण उनकी अनुमानप्रमाणसे सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं कि परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थ, रामरावणादिक कालव्यवहित

पदार्थ और मेरु आदि दूरस्थ पदार्थ किसीके ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष है, क्योंकि वे हमारे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि। इस अनुमानसे सामान्य सर्वज्ञकी तथा निर्दोषत्व हेतुसे अर्हन्तके ही सर्वज्ञ होनेकी सप्रमाण सिद्धि की गयी है। आत्मा 'ज्ञ' स्वभाव है। सब आवरणकर्म और अज्ञानादि दोष दूर होनेपर आत्माके ज्ञानस्वभावमें सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ स्वयं प्रतिबिम्बित होते हैं। इस प्रकार अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष और तद्वान् (सर्वज्ञ) की सिद्धि सुघटित है।

ज्ञातव्य है कि प्रत्यक्षता और परोक्षता ये दोनों ज्ञाननिष्ठ धर्म हैं। ज्ञेय पदार्थ उनका विषय होनेसे 'विषयीधर्मस्य विषयेऽप्युपचारात्' के अनुसार वे भी उपचारसे प्रत्यक्ष और परोक्ष कहे जाते हैं। इस प्रकार इस दूसरे प्रकाशमें प्रत्यक्ष और उसके भेदोंपर विशद प्रकाश डाला गया है।

३. परोक्ष-प्रकाश

इस तीसरे परोक्ष-प्रकाशमें प्रमाणके दूसरे भेद परोक्षका विशद एवं सयुक्तक निरूपण किया गया है। आरम्भमें उसका स्वरूप देते हुए कहा है कि जो ज्ञान अविशद—अस्पष्ट—निर्मल नहीं होता वह परोक्ष है। यह ज्ञान पर—इन्द्रियों और मनके अधीन होनेसे उसमें विशदता—स्पष्टता—निर्मलता नहीं होती, जब कि प्रत्यक्ष परापेक्ष न होनेसे पूर्णतया विशद होता है। यही कारण है कि उसका लक्षण 'विशदं ज्ञानं प्रत्यक्षम्'—विशद ज्ञान किया गया है और इसका लक्षण 'अविशदं ज्ञानं परोक्षम्'—अविशद ज्ञान बतलाया है।

इसके पाँच भेद हैं—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान और ५ आगम। पूर्वानुभूत विषयका स्मरण स्मृति है। इसमें पूर्वानुभव (भारणाज्ञान) की अपेक्षा रहती है। यह प्रमाण है। यदि इसे प्रमाण न माना जाय तो स्मृति द्वारा गृहीत व्याप्ति (साध्य-साधनका अविनाभाव) का ज्ञान भी प्रमाण नहीं माना जा सकेगा और उसके अप्रमाण होनेपर तत्पूर्वक होनेवाला अनुमान भी अप्रमाण ठहरेगा। अतः स्मृति प्रमाण है। यदि कहीं विषयका अन्यथा स्मरण हो तो वह स्मृत्याभास है।

अनुभव और स्मरणपूर्वक होनेवाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है। यह ज्ञान भी प्रमाण है, क्योंकि उसके द्वारा विषयका ज्ञान यथार्थ होता है। इसके एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदि अनेक भेद हैं। इनका जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें विस्तृत निरूपण है। अभिन्नव धर्मभूषणने इनका संक्षेपमें किन्तु विशद प्रतिपादन किया है।

उपलम्भ (अन्वय) और अनुपलम्भ (व्यतिरेक) पूर्वक होनेवाला व्याप्ति (अविनाभाव) का ज्ञान तर्क है। इसीको ऊहाज्ञान कहते हैं। इस तर्कसे ही साध्य और साधननिष्ठ व्याप्तिका ज्ञान होता है और व्याप्ति-ज्ञान होनेपर अनुमान होता है। साधनका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित न हो तो उस अनिश्चिताविनाभावि साधनसे साध्यका ज्ञान (अनुमान) नहीं हो सकता। यह तर्क भी प्रमाण है। इसे अप्रमाण माननेपर इस पूर्वक होनेवाला अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। अतः अनुमानकी तरह यह तर्क भी प्रमाण है।

निश्चित साधनसे जो साध्यका ज्ञान किया जाता है वह अनुमान है। इसके दो भेद हैं—१ स्वार्थ और २ परार्थ। अनुमाता परोपदेशके विना स्वयं ही जब गृहीताविनाभावि साधनसे साध्यका ज्ञान करता है तो उसका वह ज्ञान स्वार्थानुमान कहलाता है। और वही अनुमाता दूसरेको, जिसने साध्य और साधनकी व्याप्ति गृहीत कर रखी है या करा दी जाती है, प्रतिज्ञा और हेतुका प्रयोग करके साधनसे साध्यका ज्ञान कराता है तो उस (श्रोता) का वह ज्ञान परार्थानुमान कहा जाता है। धर्मभूषणने इन दोनों अनुमानोंका बहुत ही स्पष्ट निरूपण किया है।

स्वार्थानुमानके तीन अङ्ग हैं, जिनसे वह सम्पन्न होता है। वे हैं—धर्मी, साध्य और साधन। धर्मी साध्य और साधन दोनोंका आधार होनेसे, साध्य गम्य होनेसे और साधन गमक होनेसे अङ्ग हैं। धर्मीको पक्ष भी कहते हैं, क्योंकि साध्यकी सिद्धि वहीं की जाती है। जो इष्ट, अबाधित और असिद्ध है वह साध्य है। साध्यके लक्षणमें दिये इन तीन विशेषणोंमें इष्ट तथा अबाधित विशेषण वादीकी अपेक्षासे है, क्योंकि उसके लिए इष्ट और अबाधित साध्य ही साधनीय होता है। पर असिद्ध विशेषण प्रतिवादीकी दृष्टिसे है, क्योंकि जिसमें उसे विवाद है उसीकी सिद्धि वादी करता है। साध्यके साथ जिसकी अन्यथानुपपत्ति—व्याप्ति—अविनाभाव सुनिश्चित है उसे साधन कहते हैं। सुनिश्चित साध्याविनाभावी साधनसे विशिष्ट धर्मीमें विवक्षित साध्यकी सिद्धि करना स्वार्थानुमान अथवा परार्थानुमानका प्रयोजन है।

अथवा पक्ष और हेतु ये दो स्वार्थानुमानके अङ्ग हैं, क्योंकि साध्य धर्मसे विशिष्ट धर्मीको पक्ष कहा गया है। इन दोनों निरूपणोंमें मात्र विवक्षाभेद है, अर्थभेद नहीं है। चाहे धर्मी, साध्य और साधनके भेदसे स्वार्थानुमानके तीन अङ्ग कहें और चाहे पक्ष और साधनके भेदसे उसके दो अंग। इतना ही है कि तीन अङ्ग माननेमें धर्मी और धर्म (साध्य) के भेदकी विवक्षा है और दो अङ्ग प्रतिपादन करनेमें उनके समुदाय (अभेद) की विवक्षा है।

इसी सन्दर्भमें धर्मभूषणने धर्मीकी सिद्धि प्रमाण, विकल्प और तदुभय तीन प्रकारसे बतलाकर परार्थानुमानके भी अङ्गोंका कथन स्वार्थानुमानकी तरह किया है। हाँ, परार्थानुमानके प्रयोजक वाक्यके दो अवयवोंका प्रतिपादन किया है। वे हैं—१ प्रतिज्ञा और २ हेतु। इन दो अवयवोंसे ही व्युत्पन्न श्रोताको अनुमिति हो जाती है। नैयायिक अनुमितिके लिए प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवोंको आवश्यक मानते हैं। धर्मभूषणने इनकी समीक्षा करते हुए व्युत्पन्नके लिए उक्त दो ही अवयवोंका समर्थन किया है। हाँ, अव्युत्पन्न प्रतिबोध्यकी अपेक्षासे यथायोग्य दो, तीन, चार और पाँच अवयवोंका भी समर्थन किया है। इसी प्रसङ्गमें धर्मभूषणने विजिगोषुकथामें, जो व्युत्पन्नोके मध्यमें होती है, अनुमानके दो ही अवयवोंका प्रतिपादन किया है और वीतरागकथामें, जो अव्युत्पन्न-जिज्ञासुओंमें होती है, आवश्यकतानुसार दोसे पाँच तक अवयवोंका निर्देश किया है।

हेतुके बौद्धाभिमत त्रैरूप्य और नैयायिकाभिमत पाँचरूप्य लक्षणोंकी विशद मीमांसा करते हुए अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) रूप एक लक्षणको ही निर्दोष सिद्ध किया है। पक्षधर्मत्व (हेतुका पक्षमें रहना), सपक्षसत्त्व (संक्षेपमें हेतुका विद्यमान रहना) और विपक्षव्यावृत्ति (विपक्षमें हेतुका न रहना) ये तीन रूप हैं। इन्हीं तीन रूपोंमें अबाधितविषयत्व (हेतुका किसी प्रत्यक्षादि प्रमाणसे बाधित न होना) और असत्प्रतिपक्षत्व (विरोधी हेतुवन्तरका न होना) इन दो रूपोंको मिलाकर पाँच रूप होते हैं। किन्तु साध्यके होनेपर ही होनेवाला और साध्यके अभावमें न होनेवाला अर्थात् अन्यथानुपपन्न हेतु साध्यका साधक होनेसे अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) ही हेतुका लक्षण है। त्रैरूप्य और पाँचरूप्य लक्षण अन्याप्त तथा अतिभ्याप्त होनेसे हेतुके निर्दोष लक्षण नहीं है। अपने कथनके समर्थनमें धर्मभूषणने निम्न दो कारिकाएँ उपस्थित की हैं—

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम् ।
 नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र यत्र त्रयेण किम् ॥
 अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः ।
 नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः ॥

पहली कारिकामें त्रैलोक्यका और दूसरी कारिकामें पाँचरूप्यका निरसन किया गया है तथा हेतुके अन्यथानुपपत्तिलक्षण एकरूप्यका सम्युक्तिक समर्थन किया गया है ।

इसी सन्दर्भमें हेत्वाभासोंका भी निरूपण है । हेतुके दोषोंको हेत्वाभास कहते हैं । बौद्ध उक्त तीन रूपोंके अभावमें तीन और नैयायिक उपर्युक्त पाँचरूपोंके अभावमें पाँच हेत्वाभास मानते हैं । वे हैं—(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक, (४) बाधितविषय (कालात्ययापदिष्ट) और (५) सत्प्रतिपक्ष (प्रकरणसम) । जो हेतु साध्यके साथ नहीं रहता वह असिद्ध है । जो साध्याभावके ही साथ रहता है वह विरुद्ध है । जो साध्यके साथ रहता हुआ साध्याभावके साथ भी रहता है वह अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है । जो हेतु प्रत्यक्षादिप्रमाणसे बाधित है वह बाधित विषय (कालात्ययापदिष्ट) है । तथा जो हेतु अपने पक्षके समान बलशाली प्रतिपक्ष (विरोधी हेत्वन्तर) सहित है वह सत्प्रतिपक्ष है ।

हेतुके भेदोंका कथन करते हुए धर्मभूषणने आरम्भमें उसके दो भेद बतलाये—१. विधिरूप और २. प्रतिषेधरूप । विधिरूप हेतुके भी दो भेद हैं—१. विधिसाधक और २. प्रतिषेधसाधक । इनमें प्रथमके कार्यरूप, कारणरूप, विशेषरूप, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर आदि अनेक भेद हैं । इसी तरह प्रतिषेधसाधकहेतुके स्वभावहेतु आदि भेद बतलाये हैं । प्रतिषेधरूप हेतुके भी विधिसाधक और प्रतिषेधसाधक ये दो भेद करके उन्हें उदाहरण द्वारा निरूपित किया है । इस तरह हेतुके कुछ भेदोंको उदाहरणपूर्वक बतलाकर विस्तारसे उन्हें ज्ञात करनेके लिए परीक्षामुल्लका निर्देश किया है ।

जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें निरूपित हेत्वाभासके असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक और अकिञ्चित्कर इन चार भेदोंके लक्षण सोदाहरण दिये गये हैं । धर्मभूषणने इन हेतुदोषोंको अत्यन्त सरल भाषामें समझाया है ।

प्रतिज्ञा और हेतुके निरूपणके बाद उदाहरण, उदाहरणाभास, प्रसंगोपात्त व्याप्य, व्यापक, उपनय, उपनयाभास, निगमन और निगमनाभासका भी कथन किया गया है ।

परोक्षप्रमाणके पाँचवें भेद आगमका स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि आप्तके वचनोंसे जो अर्थ (तात्पर्य) का ज्ञान होता है वह आगम है । उदाहरणके लिए 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः' इस वाक्यसे होने वाला अर्थज्ञान । इस वाक्यसे वक्तृका तात्पर्य है कि सम्यग्दर्शन आदि तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग है, एक-एक मार्ग (उपाय) नहीं है । इस प्रकारका यथार्थ अर्थज्ञान आगम है । जिसमें संशय आदि या प्रतारण या विसंवाद है वह अर्थज्ञान आगम नहीं है । जैसे 'धावध्वं माणवका नद्यास्तोरे मोदकराशयः सन्ति' इत्यादि प्रतारणवाक्यसे होनेवाला अर्थज्ञान ।

आगमके स्वरूप-सन्दर्भमें धर्मभूषणने आप्त, वाक्य और अर्थका भी स्पष्टीकरण किया है । जो सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कर्ता और परमहितोपदेशी है वह आप्त है । एक वाक्यके सापेक्ष तथा अन्यवाक्योंके निरपेक्ष पदोंका समुदाय वाक्य है और अनेकान्तात्मक वस्तु अर्थ है । अर्थ पर्याय, गुण और द्रव्यरूप है । एक द्रव्यमें क्रमसे होने वाले परिणामों (परिणमनों) को पर्याय कहते हैं । समस्त द्रव्यमें व्यापी तथा सभी पर्यायोंके साथ रहने वाले गुण हैं तथा इन दोनोंका जो आश्रय है वह द्रव्य है । इन तीनोंका भी धर्मभूषणने विवेचन किया है ।

अन्तमें नय, नयके द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दो भेदों, सप्तभंगी, अनेकान्तमें अनेकान्तकी व्यवस्था जैसे जैन दार्शनिक तत्त्वोंका भी संक्षेपमें विशद निरूपण किया है ।

इस प्रकार अभिनव धर्मभूषणकी यह कृति उन सभी जैन न्याय-दर्शनके जिज्ञासुओंके लिए एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ है, जो उसमें प्रथमतः प्रवेश करना चाहते हैं ।

विद्वद्वरेण्य डाक्टर कोठियाने इसका वैज्ञानिक पद्धतिसे सुयोग्य सम्पादन करके तो उसे सर्वग्राह्य और सुपाठ्य बना दिया है । उन्होंने अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियोंसे इसका संशोधन किया और अनेक महत्त्वपूर्ण पाठान्तरोंको लेकर उनसे समृद्ध किया है । विषय-सूची, प्रकाशनामक सुबोध टिप्पण, हिन्दी रूपान्तर और आठ परिशिष्टोंसे इसे समलङ्कृत किया है । उनके इस संस्करणकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि १०१ (एकसौ एक) पृष्ठकी महत्त्वकी प्रस्तावना भी इसके साथ निबद्ध है, जिसमें न्यायदीपिकाके समय प्रमेयोंका समीक्षात्मक एवं तुलनात्मक चिन्तन और धर्मभूषणका बिलकुल नया अनुसंधानपूर्वक इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है । जैन न्यायका जिज्ञासु कोई भी पाठक उनकी अकेली इसी प्रस्तावनाको पढ़ ले तो वह जहाँ जैन न्यायके प्रमुख तत्त्वोंसे परिचित होगा वहीं वह न्याय-वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा और बौद्धन्यायसे भी बहुत कुछ अभिज्ञ हो जायगा ।

डाक्टर कोठियाकी सम्पादनशैलीकी एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता यह है कि भाषा सरल और सुबोध है । न्यायदीपिकाके इससे पूर्वके संस्कारणोंमें न विषय-सूची है, न पैराग्राफ है न उत्थानिकावाक्य हैं और न ग्रन्थ एवं ग्रन्थकारका परिचय है । न्यायाचार्यजीने इन सबका समावेश अपने परिश्रम एवं योग्यतासे सम्पादित इस न्यायदीपिकाके समीक्ष्य संस्करणमें किया है । इत्यलम् ।



द्रव्यसंग्रह : एक अनुचिन्तन

डा० भागचन्द्र 'भास्कर', डी० लिट्०, नामपुर

लोककल्याणकी पृष्ठभूमिमें गहन अध्ययनके लिए दुरुह ग्रन्थोंकी अवगाहनता, अभिव्यक्तिके लिए प्रखर पाण्डित्य और अनूठी प्रतिभा तथा प्रकाशनके लिए निःस्वार्थ त्यागवृत्ति और प्रगाढ़ समाजिकता ये तीन तत्त्व एक ही व्यक्तित्वके तीन प्ररूप हैं जिनका एकत्र संमिलन दुर्लभ-सा रहता है। न्यायचार्य डॉ० कोठिया जी एक विरल व्यक्तित्व हैं जो इन तीनों तत्त्वोंके धनी हैं। वे संपादनकलाके भी निष्णात पण्डित हैं। यह तथ्य उन मनीषीके द्वारा संपादित आप्तपरीक्षा, न्यायदीपिका, प्रमाणप्रमेयकलिका, प्रमाणपरीक्षा आदि दशाधिक ग्रन्थोंसे अच्छी तरह उद्घाटित हो जाता है। उनका 'जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' ग्रन्थ इसे और प्रमाणित कर देता है।

समीक्ष्य द्रव्यसंग्रह भी ऐसे ही संपादित ग्रन्थोंकी शृंखलाका अलख मणि है, जो सन् १९६६ से शीर्षस्थ संस्करणके रूपमें विद्वज्जगतके समक्ष अपनी पूरी शानके साथ आज भी लोकप्रिय बना हुआ है। पण्डितजीकी शोधनिष्ठा और प्रकाशनव्यवस्थाका ज्वलन्त प्रतीक समीक्ष्य ग्रन्थका संपादकीय वक्तव्य है। वैसे द्रव्यसंग्रहके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। पर प्रस्तुत संस्करणकी अन्यतम विशेषताएँ दृष्टव्य हैं—(१) पं० जयचन्द्रकृत देशवचनिकाका सर्वप्रथम प्रकाशन और (२) संस्कृतव्याख्या, विशद हिन्दी रूपान्तरके साथ। डॉ० कोठियाजीने इस ग्रन्थका संपादन बड़ीत, व्यावर तथा जयपुरकी प्रतिष्ठोंके आधारपर किया है। इसके अतिरिक्त गायानुक्रम, उद्धरणवाक्य और पाठान्तर ये तीन अन्य परिशिष्ट भी इसके साथ संबद्ध हैं।

संपादनके अन्य प्रमुख भागोंमें प्रस्तावनाका एक अपना महत्त्व होता है। कोठियाजीकी संपादनकलाका प्रमाण उनकी बृहदाकार शोधपरक प्रस्तावना मानो जा सकती है। उनके प्रायः सभी संपादित ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाएँ मूल ग्रन्थोंके आकार-प्रकारसे कम नहीं हैं। इस दृष्टिसे प्रस्तुत द्रव्यसंग्रहकी गहन सामग्रीको हम तीन भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—(१) प्रस्तावना, (२) मूलग्रन्थ, और (३) परिशिष्ट भाग। तीनों भागोंमें क्रमशः ८५ + ८० + ८० पृष्ठ हैं। पृष्ठोंका यह विभाजन इस तथ्यका द्योतक है कि संपादक अपनी पूरी ईमानदारी और विद्वत्ताके साथ अपने उत्तरदायित्वका निर्वाह कर रहा है।

१. प्रस्तावना भाग

इस विस्तृत प्रस्तावनाको संपादकने दो भागोंमें विभाजित किया है—ग्रन्थ और ग्रन्थकार। ग्रन्थ-भागमें उन्होंने (क) द्रव्यसंग्रह, (ख) द्रव्यसंग्रहका परिचय, (ग) लघु और बृहद् द्रव्यसंग्रह, (घ) अध्यात्म-शास्त्र, (ङ) ब्रह्मादेवकी संस्कृतटीका, (च) संस्कृतटीकामें उल्लिखित संस्कृत ग्रन्थ, (छ) महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान, (ज) अन्य टीकाएँ, (झ) द्रव्यसंग्रहवचनिका, (ञ) द्रव्यसंग्रहभाषा। ग्रन्थकार भागमें (क) ग्रन्थ-कर्ताका परिचय, (ख) नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान्, (ग) द्रव्यसंग्रहके कर्ता नेमिचन्द्र, (घ) समय, (ङ) गुरु-शिष्य, (च) प्रभाव, (छ) स्थान, (ज) रचनाएँ, (झ) ब्रह्मादेव—व्यक्तित्व, कृतित्व और समय, (ञ) वचनिकाकार पं० जयचन्द्रजी—परिचय, समय, साहित्यिक कार्य। यहीं लघु द्रव्यसंग्रह और बृहद् द्रव्यसंग्रहकी गायानुक्रमोंकी भी एक जगह दे दिया गया है।

२. मूल ग्रन्थ भाग

इस भागमें आचार्य नेमिचन्द्र प्रणीत द्रव्यसंग्रह तथा पं० जयचन्द्रकृत देशवचनिका व पद्यानुवाद सम्मिलित हैं ।

३. परिशिष्ट भाग

द्रव्यसंग्रहके परिशिष्ट भागमें चार परिशिष्ट समाहित हैं—१. द्रव्यसंग्रहकी संक्षिप्त संस्कृत व हिन्दी व्याख्या संपादककृत, २. गाथानुक्रम द्रव्यसंग्रहका, ३. पं० जयचन्द्रकृत वचनिकागत उद्धरणवाक्य, और ४. द्रव्यसंग्रहवचनिकाके पाठान्तर ।

संपादकने इन सभी शीर्षकों-उपशीर्षकोंपर गहराईसे चिन्तन-मनन किया है और विषयके हर पहलू-को बड़ी गहराईसे छुआ है । उदाहरणार्थ—साधारण तौर पर यह माना जाता रहा है कि बृहद् द्रव्यसंग्रह लघुद्रव्यसंग्रहका बृहद् रूप ही है । डॉ० कोठियाने ग्रन्थके अन्तःपरीक्षणके आधार पर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि ये दोनों ग्रन्थ वस्तुतः अपने आपमें स्वतन्त्र हैं । एक ही लेखकके दो ग्रन्थोंमें विषय-सामग्रीकी कुछ समानताका होना अस्वाभाविक नहीं है । पर उस समानताके आधारपर ही यह कह देना समुचित नहीं कहा जा सकता कि दोनों एक हैं । इसी तरह लघुद्रव्यसंग्रहमें कुल २६ गाथाएँ हैं । इन गाथाओंमें ६३ गाथाएँ बृहद्द्रव्यसंग्रहमें किसी तरह समाहित हुई हैं । इतने मात्रसे दोनों ग्रन्थोंको एक नहीं कहा जा सकता । लेखककी दृष्टिमें भी दोनों ग्रन्थ स्वतन्त्र रहें हैं अन्यथा वे स्वतंत्र मंगलपद्य और उपसंहारात्मक अन्तिम पद्य भिन्न-भिन्न न रखते ।

संपादकने इसी संदर्भमें यह भी स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि बृहद् द्रव्यसंग्रहकी २० वीं गाथा कदाचित् लघुद्रव्यसंग्रहकी मूल गाथा रही हो, जो प्रथम प्रतिलिपिकारकी भूलसे छूट गई हो । ब्रह्मादेवने इसपर टीका लिखी है । इससे भी यह प्रमाणित होता है । ब्रह्मादेवके स्वरमें अपना स्वर मिलकर संपादकने द्रव्यसंग्रहको द्रव्यानुयोगके साथ-साथ अध्यात्मशास्त्रका भी ग्रन्थ माना है ।

इसी तरह द्रव्यसंग्रहके लेखकके बारेमें भी जो कुछ थोड़ी-बहुत विशुद्धताएँ थीं वे भी पंडितजीने बड़े ऊहापोहके साथ दूर कर दी हैं । उन्होंने यह प्रस्थापना की है कि वसुनन्दिके गुरु नेमिचन्द्रको ही द्रव्यसंग्रहका कर्ता माना जाना चाहिए । इनका समय वि० सं० ११२५ के आसपास होना चाहिए । इस ग्रन्थकी रचना आचार्य नेमिचन्द्रने आश्रम नगरमें की, जो राजस्थानके अन्तर्गत कोटासे उत्तरपूर्वकी ओर लगभग ९ मीलकी दूरी पर और बूँदीसे लगभग ३ मील दूर चर्मण्वती (चम्बल) नदीपर अवस्थित वर्तमान 'केशोराय पाटण' अथवा 'पाटण केशोराय' ही है ।

इस प्रकार दर्शन और न्यायके तलस्पर्शी विद्वान् डॉ० कोठियाजीके हाथसे द्रव्यसंग्रहका जितना सुन्दर संपादन हुआ है आधुनिकतम संपादनपद्धतिके आधारपर उतना अच्छा अन्य कोई संस्करण देखनेमें नहीं आया । पंडितजीकी इस विद्वत्ताका उपयोग अष्टसहस्री जैसे ग्रन्थोंको उपलब्ध हो जाये तो ये ग्रन्थ 'कष्टसहस्री' के रूपसे मुक्त हो सकते हैं ।



आप्त-परीक्षा : एक अध्ययन

प्रो० उदयचन्द्र जैन बौद्ध-सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी

श्री डॉ० दरबारीलालजी कोठिया जैन न्याय और जैन दर्शनके उच्चकोटिके विद्वान् हैं। आपने सन् १९४० में न्यायाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करके अपनी न्याय-विषयक प्रतिभाको उजागर तो किया ही है, साथ ही जैन समाजको भी गौरवान्वित किया है। इसी प्रकार काशी हिन्दू विश्वविद्यालयसे सन् १९५५ में जैन दर्शनमें शास्त्राचार्य-परीक्षा सफलतापूर्वक उत्तीर्ण करके जैनदर्शनके क्षेत्रमें ख्याति अर्जित की है।

आप प्रारम्भसे ही प्रतिभाके धनी और कुशल अन्वेषक रहे हैं। अन्वेषण और शोध कार्योंके प्रति गहन रुचि होनेके कारण आपने जैन साहित्य और इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् पं० जुगल किशोरजी मुस्तारके सान्निध्यमें बीर-सेवा-मन्दिर सरसावामें रहकर अनेक खोजपूर्ण लेख लिखे तथा जैनन्याय और जैनदर्शनके अनेक उच्च कोटिके ग्रन्थोंका सफल सम्पादन एवं अनुवाद किया। आपने स्वसम्पादित ग्रन्थोंकी जो प्रस्तावनाएँ लिखी हैं वे अनेक विशेषताओंके कारण विशेष महत्त्व रखती हैं।

प्रस्तुत निबन्धका विषय कोठियाजीके द्वारा सम्पादित 'आप्त-परीक्षा' का अध्ययन है। आचार्य विद्यानन्दद्वारा विरचित 'आप्त-परीक्षा' जैनदर्शनका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें अनेक दृष्टिकोणोंसे आप्तकी परीक्षा करके यथार्थ आप्तका स्वरूप प्रतिष्ठापित किया गया है। संस्कृत-भाषामें रचित मूल आप्त-परीक्षामें १२४ कारिकाएँ हैं और स्वयं आचार्य विद्यानन्दने इन कारिकाओंके गूढार्थको स्वोपज्ञ विस्तृत संस्कृत-टीका द्वारा स्पष्ट किया है। समीक्ष्य ग्रन्थमें क्रमशः मूल कारिकाएँ, उसकी संस्कृत-टीका और हिन्दी रूपान्तर दिया गया है। इससे पाठकको मूलग्रन्थ एवं उसकी टीकाको समझनेमें सरलता हो जाती है। मुद्रित ग्रन्थकी साइज डिमाई है और इसके २६६ पृष्ठोंमें मूल संस्कृतके साथ हिन्दी अनुवाद समाप्त हुआ है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें पं० जुगल किशोरजी मुस्तारका प्रकाशकीय वक्तव्य है। इस वक्तव्यमें मुस्तार सा० ने लिखा है कि यह ग्रन्थ उनके लिए कितना प्रिय था। वे आप्त-परीक्षा और आप्त-मीमांसा दोनोंका नित्य पाठ किया करते थे। मुस्तार सा० के हृदयमें बराबर यह भावना बनी रहती थी कि यदि आप्त-परीक्षाका अच्छा हिन्दी अनुवाद हो जाय तो इससे लोकका बड़ा उपकार हो। तब तक कोठियाजी द्वारा 'न्यायदीपिका' का सुन्दर और सफल अनुवादादि कार्य सम्पन्न हो चुका था और इससे प्रभावित होकर मुस्तार सा०ने आप्तपरीक्षाके अनुवादके लिए कोठियाजीको प्रेरित किया। तदनन्तर कोठियाजीने दो वर्षमें ही आप्त-परीक्षाका हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावना आदि समस्त कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लिया। इसके बाद मुस्तार सा० ने बीर-सेवा-मन्दिरसे दिसम्बर १९४९ में इस ग्रन्थको प्रकाशित करके परम सन्तोषका अनुभव किया।

इस ग्रन्थके सम्पादकीयसे ज्ञात होता है कि कोठियाजीने प्रकृत ग्रन्थका संशोधन तथा सम्पादन दो मुद्रित तथा तीन अमुद्रित प्रतियोंके आधारसे किया है। मूल ग्रन्थको प्राप्त प्रतियोंके आधारसे शुद्ध किया गया है और अशुद्ध पाठों अथवा पाठान्तरोंको फुटनोटोंमें दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थके सन्दर्भके अनुसार कुछ आवश्यक पाठ भी निक्षिप्त किये गए हैं। ऐसे पाठ मुद्रित और अमुद्रित दोनों ही प्रतियोंमें

नहीं थे, परन्तु वहाँ आवश्यक थे। प्रकृत ग्रन्थको समझनेमें सरलता हो, इस दृष्टिसे मूल ग्रन्थमें उत्थानिका-वाच्य, विषय-विभाजन आदि महत्त्वपूर्ण कार्य भी किया गया है। ग्रन्थमें आये अवतरणवाक्योंके मूल स्थलोंको खोजकर उन्हें कोष्ठकमें दे दिया गया है। हिन्दी अनुवादको मूलानुगामी और सरल बनानेका पूरा प्रयत्न किया गया है।

इस ग्रन्थका प्राक्कथन समाजके ख्यातिप्राप्त विद्वान् पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने लिखा है। यह प्राक्कथन मूल ग्रन्थपर स्वर्णकलशकी भाँति सुशोभित हो रहा है। प्राक्कथनके प्रारम्भमें वैदिक दर्शनोंकी उत्पत्तिकी चर्चा की गयी है। इसके बाद भारतीय दर्शनोंमें सर्वज्ञताको लेकर जो मान्यताएँ हैं उनपर विचार किया गया है। वैदिक दर्शनोंमें मीमांसकदर्शन सर्वज्ञकी सत्ताको स्वीकार नहीं करता है। शेष वैदिक दर्शन सर्वज्ञकी सत्ताको स्वीकार करते हैं। तथा श्रमणपरम्पराके अनुयायी सांख्य, बौद्ध और जैन सर्वज्ञताको स्वीकार करते हैं। ये तीनों दर्शन अनीश्वरवादी हैं किन्तु वैदिक दर्शनोंमें मीमांसकके अतिरिक्त शेष सब ईश्वरवादी हैं। अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा जैनदर्शनमें सर्वज्ञतापर सर्वाधिक जोर दिया गया है और प्राक्कथनमें इस बातको स्पष्ट किया गया है कि जैनदर्शनमें सर्वज्ञतापर इतना जोर देनेका कारण क्या है। यहाँ यह भी बतलाया गया है कि दार्शनिक दृष्टिसे सर्वज्ञकी चर्चाका अवतरण सर्वप्रथम स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसाकी रचना करके किया है। प्राक्कथनके अन्तमें लेखकने कोठियाजीको इस महत्त्वपूर्ण कृतिके लिए हृदयसे शुभाशीर्वाद दिया है।

प्रकृत ग्रन्थका महत्त्वपूर्ण भाग डॉ० कोठिया द्वारा लिखित ५४ पृष्ठोंकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है। इसके द्वारा कोठियाजीके गंभीर अध्ययन, चिन्तन और अन्वेषणके विषयमें विस्तृत जानकारी मिल जाती है। सबसे पहले ग्रन्थ-परिचय दिया गया है। आचार्य विद्यानन्दने इस ग्रन्थकी रचना आचार्य गृद्धपिच्छ द्वारा रचित 'तत्त्वार्थसूत्र'के मञ्जलाचरण पद्यको आधार बनाकर की है। इस ग्रन्थमें कुल एकसौ चौबीस कारिकाएँ हैं और उनपर स्वयं विद्यानन्दकी 'आप्तपरीक्षालङ्कृति' नामक स्वोपज्ञ विस्तृत टीका है। इसमें वैशेषिक दर्शन, सांख्यदर्शन, बौद्धदर्शन, वेदान्तदर्शन और मीमांसादर्शनके तत्त्वोंकी तथा इनके उपदेशकोंकी युक्तिपूर्वक परीक्षा करके अन्तमें मोक्षमार्गनेतृत्व, कर्मभूभृद्भेदत्व और विश्वतत्त्वज्ञातृत्व इन तीन गुणोंसे युक्त अरहन्तजिनको आप्त सिद्ध किया गया है।

प्रस्तावनामें आचार्य विद्यानन्दके सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया गया है। सबसे पहले यह बतलाया गया है कि जैन परम्परामें विद्यानन्द नामके तीन आचार्य हुए हैं। किन्तु यहाँ इस ग्रन्थके कर्ता, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि दार्शनिक ग्रन्थोंके रचयिता तार्किक शिरोमणि विद्यानन्दको सिद्ध किया है और उनके विषयमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। विद्यानन्द और पात्रकेसरीके विषयमें जो एकताका भ्रम प्रचलित था उसका निराकरण युक्तिपूर्वक किया गया है। आचार्य विद्यानन्दके जीवन-परिचयपर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि वे दक्षिणके किसी प्रदेशमें ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए थे। दार्शनिक जिज्ञासाके कारण उन्होंने न्याय, वैशेषिक, वेदान्त आदिके दार्शनिक ग्रन्थोंका अध्ययन किया और अन्तमें जैनदर्शनके देवायम, अष्टशती, वादन्याय आदि ग्रन्थोंसे प्रभावित होकर जैनधर्म स्वीकार करके जैन साधुकी दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

गुण-परिचय-दिग्दर्शनमें सप्रमाण बतलाया गया है कि आचार्य विद्यानन्द सम्पूर्ण दर्शनोंके विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् थे। उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक और बौद्ध-दर्शनके मन्तव्योंको जिस प्रामाणिकताके साथ पूर्वपक्षके रूपमें प्रस्थापित किया है उससे उनके तत्त्वदर्शनोंके गंभीर अध्ययनकी स्पष्ट झलक मिलती है। भावना, विधि और नियोगकी दुरुह चर्चा सर्वप्रथम विद्यानन्द

द्वारा ही अपने ग्रन्थोंमें निबद्ध की गयी है और इससे उनके भीमांसा दर्शन और वेदान्त दर्शनके विशिष्ट अध्ययनका बोध होता है। आचार्य विद्यानन्दको अपने पूर्ववर्ती जैनाचार्योंका विपुल साहित्य उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त हुआ था। उन समस्त ग्रन्थोंका उन्होंने महन अध्ययन और मनन किया था तथा स्वरचित ग्रन्थोंमें उनका यथेष्ट उपयोग किया है। आचार्य विद्यानन्द पर उनके पूर्ववर्ती गृह्यपिच्छ, समन्तभद्र, श्रीदत्त, सिद्धसेन, पानस्वामी, अकलङ्क, कुमारनन्दि आदि जिन आचार्योंका विशेष प्रभाव पड़ा उनके विषयमें प्रस्तावनामें अच्छा प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र, अभयदेव, देवसूरि, हेमचन्द्र आदि जिन आचार्योंपर विद्यानन्द और उनके ग्रन्थोंका जो प्रभाव पड़ा है उसका भी प्रस्तावनामें उनके समयादिके निर्णयपूर्वक विस्तारसे उल्लेख किया गया है।

‘आचार्य विद्यानन्दकी रचनाएँ’ शीर्षकके अन्तर्गत आचार्य विद्यानन्दकी ९ रचनाओंका परिचय प्रस्तुत किया गया है। इनमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री और युक्त्यनुशासनालङ्कार ये तीन टीकात्मक रचनाएँ हैं तथा आप्त-परीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, पत्र-परीक्षा, सत्यशासन-परीक्षा, श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र और विद्यानन्दमहोदय ये छह स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। इन सभी रचनाओंके विषयमें प्रस्तावनामें विस्तृत जानकारी दी गयी है।

प्रस्तावनाके अन्तमें आचार्य विद्यानन्दके समयपर ऊहापोह पूर्वक विस्तारसे विचार किया गया है और उनके ग्रन्थोंके सूक्ष्म परीक्षण द्वारा विद्यानन्दकी पूर्वविधि और उत्तरविधि निश्चित करते हुए उनका समय ईस्वी सन् ७७५ से ८४० निर्धारित किया गया है।

इस प्रकार डॉ० कोठियाने प्रस्तावनामें प्रकृत ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें सुव्यवस्थित, परिमार्जित, प्रामाणिक और शोधपूर्ण विमर्श किया है।

ग्रन्थके अन्तमें सात परिशिष्ट दिये गए हैं जिनसे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। प्रथम परिशिष्टमें आप्त-परीक्षाकी कारिकाओंकी अकारादि क्रमसे अनुक्रमणिका दी गयी है। द्वितीय परिशिष्टमें आप्त-परीक्षामें आये हुए अवतरण-वाक्योंकी सूची है। तृतीय परिशिष्टमें आप्त-परीक्षामें उल्लिखित ग्रन्थोंकी सूची है। चतुर्थ परिशिष्टमें आप्तपरीक्षामें उल्लिखित ग्रन्थकारोंकी सूची है। पञ्चम परिशिष्टमें आप्त-परीक्षामें उल्लिखित न्याय-वाक्य दिये गए हैं। षष्ठ परिशिष्टमें आप्त-परीक्षागत विशेष नामों तथा शब्दोंकी सूची दी गयी है। और सप्तम परिशिष्टमें आप्त-परीक्षाकी प्रस्तावनामें चर्चित ग्रन्थकारोंका समय दिया गया है।

आप्त-परीक्षाके सम्पादक और अनुवादक डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया जैनदर्शनके ही नहीं अपितु समग्र भारतीय दर्शनोंके तलस्पर्शी विद्वान् होनेसे इस गम्भीर दार्शनिक तत्त्वोंसे परिपूर्ण आप्त-परीक्षाका मूलानुगामी एवं सरल हिन्दी अनुवाद आप जैसे विद्वान् के द्वारा ही सम्भव है। आपने अपनी परिमार्जित लेखनीसे सुबोध, सुग्राह्य और विशद शैलीमें आप्त-परीक्षाका अक्षरशः जो अनुवाद किया है वह दर्शनशास्त्रके अध्येताओंको तो लाभप्रद है ही, साथ ही दर्शनशास्त्रके जिज्ञासु भी इसे पढ़कर आप्त-परीक्षाके रहस्योंको हृदयङ्गम कर सकते हैं। अनुवाद इतना स्पष्ट है कि साधारण संस्कृतज्ञ भी हिन्दी अनुवादके आधारसे आप्त-परीक्षाकी कारिकाओं और संस्कृत-टीकाको आसानीसे समझ सकता है। इस अनुवादसे साधारणजनको भी आप्तके स्वरूप-निर्धारण करनेमें सुविधा होनेके साथ ही राष्ट्रभाषाका भी भण्डार बढ़ा है। वस्तुतः आप्तपरीक्षा जैन वाङ्मयकी एक अमूल्य निधि एवं कृति है। सुयोग्य विद्वान् डॉ० कोठियाके द्वारा किये गए हिन्दी अनुवाद और शोधपूर्ण प्रस्तावनाके साथ इसके प्रकाशनसे इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है।

समाधिमरणोत्साहदीपक : एक समीक्षा

डॉ० (सौ०) कुसुम पटोरिया, नागपुर

जैन साहित्यमें समाधिमरणपर अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं, उन्हींमें 'समाधिमरणोत्साहदीपक' भी एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता १५वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य सकलकीर्ति हैं। समाधिमरणके प्रति मुमूर्षुको उत्साहित करना इसका लक्ष्य है।

इसका सम्पादन सम्पादनकलामें निष्णात डॉ० दरबारीलालजी कोठियाने किया है। इसकी एक प्रति स्व० पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तारको बड़ा-घड़ा मन्दिर अजमेरसे प्राप्त हुई थी। उसीके आधारपर इस ग्रन्थका सुन्दर सम्पादन हुआ है। इसके पूर्व इस ग्रन्थका नामोल्लेख भी प्राप्त नहीं था।

ग्रन्थके आरम्भमें पं० परमानन्दजी शास्त्री द्वारा लिखित ग्रन्थकारका परिचय है, जिसे उन्होंने अप्रकाशित सकलकीर्तिरास, ऐतिहासिक पत्र और पट्टावलियों आदिके आधारसे प्रस्तुत किया है। मूलग्रन्थमें कोई प्रशस्ति नहीं है। रचयिताने 'सुगणिसकलकीर्त्या' उल्लेख द्वारा अपने नाममात्रकी सूचना की है। इस परिचय द्वारा उनके विषयमें पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है। इनके द्वारा रचित ३७ ग्रन्थ हैं, जिनकी सूची शास्त्रीजीने इसमें दी है। सकलकीर्तिने अपने जन्मसे गुजरातको सुशोभित किया था। इनकी दीक्षा सम्भवतः भट्टारकीय पद्धतिसे हुई थी, बादमें ये दिगम्बर साधु हो गये थे। ये भ० पद्मनन्दिके शिष्य थे तथा इनके शिष्य ब्रह्मजिनदास थे, जिन्होंने 'सकलकीर्तिरास' रचा है और उसके द्वारा उनका जीवन-परिचय दिया है।

डॉ० कोठिया द्वारा सम्पादित अन्य ग्रन्थोंकी तरह इस ग्रन्थकी भी विशेषता उसकी शोधपूर्ण प्रस्तावना है। इस प्रस्तावनामें उन्होंने सल्लेखनाका अर्थ, उसकी आवश्यकता, महत्त्व, काल, प्रयोजन, विधि, फल, सल्लेखनाधारकके सहायकों तथा उनके कर्त्तव्य, सल्लेखनाके भेदों तथा उसकी श्रेष्ठता आदिपर विस्तृत एवं सूक्ष्म विचार किया है। साथ ही जैनतर दर्शनोंमें इस सल्लेखनाके उपलब्ध न होनेका भी ऊहापोह पूर्वक विमर्श किया है। डॉ० कोठियाकी यह प्रस्तावना वस्तुतः एक छोटा-सा शोधग्रन्थ है।

प्रस्तावनामें डॉ० कोठियाने भगवती आराधना, सर्वार्थसिद्धि, रत्नकरण्डश्रावकाचार, गोम्मटसार, सागारधर्माभूत, मृत्युमहोत्सव आदि ग्रन्थोंका आलोचन कर उनके सल्लेखना सम्बन्धी उद्धरणोंको देकर उसे पूर्ण और उपादेय बनाया है। इससे कितनी ही नवीन ज्ञातव्य सामग्री पाठकोंको मिलेगी। सल्लेखना जैन धर्मकी एक विशिष्ट देन है। इसका अन्य दर्शनोंमें कोई कथन या उल्लेख नहीं है।

ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने किया है, जो मूलके अर्थको स्पष्ट करनेमें सक्षम है। आवश्यक स्थलों पर विशेषार्थों द्वारा भावों और कथासंकेतोंका भी स्पष्टीकरण किया है।

ग्रन्थके अन्तमें डॉक्टर कोठियाने तीन परिशिष्टोंकी भी योजना की है। पहला पद्यानुक्रमणिका, दूसरा पारिभाषिक शब्दसूची और तीसरा उपयोगी समाधिमरणपाठसंग्रह है। तीसरेमें (क) अज्ञातकर्तृक संस्कृत मृत्युमहोत्सव तथा उसकी पं० सदासुखजीकी हिन्दी वचनिका, (ख) पण्डित ध्यानतरायजीकृत समाधिमरण-भाषा (ग) पं० सूरचन्द्रजीकृत समाधिमरणभाषा और (घ) समाधिमरणभावना इन चारोंका संग्रह है। इनसे समाधिमरण करने और करामेमें अच्छी एवं पर्याप्त सहायता प्राप्त होगी।

यह प्रसन्नताकी बात है कि डॉ० कोठियाने एक साधारण ग्रन्थकी अपने सुयोग्य सम्पादन द्वारा जन-साधारणके अतिरिक्त विद्वानोंके लिये भी अध्येतव्य बना दिया है और इसे अपनी अन्य सम्पादित कृतियोंकी शृंखलामें जोड़ दिया है, निश्चय ही उनकी यह साहित्य-साधना स्तुत्य है। ●

तृतीय खण्ड
धर्म, दर्शन, न्याय

१. पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण
२. वर्तनाका अर्थ
३. जीवनमें संयमका महत्त्व
४. चारित्रिका महत्त्व
५. करुणा : जीवकी एक शुभ परिणति
६. जैनधर्म और दीक्षा
७. धर्म : एक चिन्तन
८. सम्यक्त्वका अमूढदृष्टि अंग : एक महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धान्त
९. महावीरकी धर्मदेशना
१०. वीर-शासन और उसका महत्त्व
११. महावीरका आध्यत्मिक मार्ग
१२. महावीरका आचार-धर्म
१३. भगवान् महावीरकी क्षमा और अहिंसाका एक विश्लेषण
१४. भ० महावीर और हमारा कर्तव्य

पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण

पूर्व वृत्त

‘सम्यग्दृष्टिके पुण्य और पाप दोनों हेय हैं’ शीर्षक एक लेखमें^१ मैंने बृहद्द्रव्यसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार ब्रह्मदेवके उद्धरणपूर्वक यह बताया है कि सम्यग्दृष्टिके पुण्य हेय है—उपादेय नहीं है और संस्कृत-टीकाकारकी सोदाहरण युक्ति द्वारा स्पष्ट किया है कि सम्यग्दृष्टि निज शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है। परन्तु चारित्र्यमोहके उदयसे यदि उस शुद्ध आत्म-भावनामें असमर्थ रहता है तो निर्दोष परमात्मस्वरूप अरहंतादि पंचपरमेष्ठियोंकी परमात्मपदकी प्राप्ति और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए दान, पूजा आदिसे अथवा गुणस्तुति आदिसे परम भक्ति करता है। इससे उस सम्यग्दृष्टि जीवके भोगोंकी आकांक्षा आदि निदान-रहित परिणाम उत्पन्न होता है। उससे उसके बिना चाहे विशिष्ट पुण्यका आलव होता है। जैसे किसान चावलोंकी प्राप्तिके लिए खेती करता है, पर पलाल उसे अनचाहे मिल जाता है। पुण्यका फल वैभव (इन्द्रादिपद) आदि मिलनेपर वह (सम्यग्दृष्टि) उसमें आसक्त या मोहित नहीं होता। इस क्रमसे वह आत्मगुणोंका विकास करता हुआ अन्तमें जिनदीक्षा लेकर निर्वाण प्राप्त करता है।

इस लेखमें हमने अपनी ओरसे कुछ न लिखकर केवल ब्रह्मदेवका उद्धरण और उसके अनुवादक पं० अजितकुमारजी शास्त्रीका हिन्दी अनुवाद दिया था। परन्तु उक्त पण्डितजीने ‘जैनगजट’ वर्ष ७१, अंक ५० के सम्पादकीयमें ‘त्याज्य और ग्राह्य’ शीर्षकके अन्तर्गत ‘भ्रान्ति-निरास’ उपशीर्षकसे एक टिप्पणी दी है और उसमें हमें अपने लेखका स्पष्ट अभिप्राय जनताको समझानेके लिए पुण्य-विषयक विवेचन शास्त्रीय साक्षीसे करनेकी प्रेरणा की है। अतः इस लेख द्वारा हम पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोणसे विचार करेंगे।

पुण्य और पाप

दिगम्बर परम्परामें प्राचीन आचार्योंमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनके बाद आचार्य मूढपिच्छका सर्वोपरि स्थान है तथा उनके ग्रन्थोंको निविदारूपमें प्रमाण माना जाता है। आ० कुन्दकुन्दने पंचत्थियसंग्रह (पंचास्तिक-संग्रह), पत्रयणसार (प्रवचनसार), नियमसार (नियमसार), अट्टपाहुड (अष्टप्राभृत), समयसार आदि मूढग्रन्थ ग्रंथोंकी रचना की है तथा आ० मूढपिच्छका एकमात्र आद्य संस्कृत-गद्यसूत्र-ग्रन्थ ‘तत्त्वार्थसूत्र’ उपलब्ध है। हमें देखना है कि इन ग्रंथोंमें पुण्य और पापका वर्णन मिलता है या नहीं? यदि मिलता है तो उन्होंने पुण्य और पापका निरूपण किस प्रकार किया है?

सबसे पहले हम कुन्दकुन्दका ‘पंचत्थियसंग्रह’ लेते हैं। इसमें पुण्य और पापको पदार्थ माना गया है और उनकी नौ पदार्थोंमें परिगणना की गई है। जैसा कि उसकी निम्न गाथासे प्रकट है—

जीवाजीवा भावा पुण्यं पावं च आसवं तेषि ।
संवर-णिज्जर-बंधो मोक्सो य ह्वंति ते अट्ठा ॥^२

१. जैन सन्देश, वर्ष ३०, अंक २४, जैन संघ, मथुरा।

२. पंचत्थियसंग्रह, गा० १०८।

आगे इसी ग्रन्थमें पुण्य और पापका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है कि जीवका शुभ परिणाम पुण्य पदार्थ है और अशुभ परिणाम पाप पदार्थ है । तथा इन दोनों शुभाशुभ परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गलका परिणाम क्रमशः शुभ कर्म और अशुभ कर्मरूप अवस्थाको प्राप्त होता है । तात्पर्य यह कि जीवका शुभ परिणाम भावपुण्य और उसके निमित्तसे होने वाला पुद्गलका शुभकर्मरूप परिणाम द्रव्यपुण्य है । तथा जीवका अशुभ परिणाम भावपाप और उसके निमित्तसे होने वाला पुद्गलका अशुभकर्मरूप परिणाम द्रव्यपाप है । यथा—

सुहपरिणामो पुण्यं असुहो पावन्ति हवदि जीवस्स ।

दोण्हं पोगलमेत्तो भावो कम्मत्तणं पत्तो ॥^१

यहां आ० अमृतचन्द्र और आ० जयसेनकी टीकायें द्रष्टव्य हैं । उन्होंने विषयका अच्छा स्पष्टीकरण किया है । स्मरण रहे कि शुभाशुभ परिणाम (भावपुण्य-भावपाप) का कर्ता तो जीव है और उनके निमित्तसे होनेवाले पुद्गलकर्मरूप परिणाम (द्रव्यपुण्य-द्रव्यपाप) का कर्ता पुद्गल है । तात्पर्य यह है कि जीव और पुद्गल ये दोनों अपने-अपने परिणामके उपादान हैं और एक-दूसरा एक-दूसरेके प्रति निमित्त हैं ।

पुण्यका आस्रव

इतनी सामान्य चर्चाके बाद अब हम केवल पुण्यके आस्रवके संबंधमें प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे । पुण्य क्या है, यह समझ लेनेके उपरान्त अब प्रश्न है कि पुण्यका आस्रव कैसे होता है ? इसका समाधान करते हुए इसी पंचतियसंग्रहमें आचार्यने बड़ी विशदतासे कहा है कि जिसके प्रशस्त राग है, अनुकम्पारूप परिणाम है और चित्तमें कालुष्य नहीं है उसी जीवके पुण्यका आस्रव होता है ।

अरहन्त, सिद्ध और साधु इनकी भक्ति, व्यवहारचारित्र्यरूप धर्मानुष्ठानमें चेष्टा (प्रवृत्ति) और गुरुजनोंका अनुगमन (विनय) प्रशस्त राग है । यह राग स्थूल लक्ष्य होनेके कारण केवल भक्तिप्रधान अज्ञानीके होता है अथवा अनुचित राग या तीव्र राग न होने पाये, इस हेतु वह कभी ज्ञानीके भी होता है । यद्यार्थमें सूक्ष्मलक्ष्यी सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको यह राग नहीं होता ।

प्यासे आकुलित, भूखसे पीड़ित अथवा इष्टवियोगादिजन्य दुःखसे दुःखित प्राणीको देखकर जो स्वयं दुःखी होता हुआ दयाभावसे उसके दुःखको दूर करनेकी इच्छासे आकुलित है उसके इस प्रकारके भावको अनुकम्पा कहते हैं । यह अज्ञानीके होती है । ज्ञानीके तो नीचेकी भूमिकामें रहते हुए जन्मोदधिमें डूबे जगत्को देखकर ईषत् खिन्नता होती है ।

जब क्रोध, मान, माया और लोभका तीव्रोदय होता है तब चित्तमें क्षोभ पैदा होता है और इसीको कालुष्य कहते हैं । परन्तु जब उन्हीं क्रोधादिका मन्दोदय होता है तब चित्तमें क्षोभ नहीं आता, ऐसे भावको अकालुष्य कहा गया है । यह कभी विशिष्ट कषायका क्षयोपशम होनेपर अज्ञानीके भी होता है और कषायका उदय रहते हुए और उपयोगके पूर्ण निर्मल न होते हुए ज्ञानीके भी कदाचित् होता है । यह सब निम्न गाथाओंसे स्पष्ट है—

रागो जस्स पसत्थो अणुक्पासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्यं जीवस्स आसवदि ॥
अरहंत-सिद्ध-साहुमु भत्तो धम्मम्मि जा य खलु चेद्ढा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चन्ति ॥

१. पंचतियसंग्रह, गा० १३२ ।

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठण जो हु दुहिदमणो ।
 पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुक्पा ॥
 कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
 जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेत्ति ॥^१

अब इन्हीं कुन्दकुन्दके समयसारको लीजिये । उसमें पुण्य और पापको लेकर एक स्वतंत्र ही अधिकार है, जिसका नाम 'पुण्यपापाधिकार' है । इसमें कर्मके दो भेद करके कहा गया है कि शुभकर्म सुशील (पुण्य) है और अशुभकर्म कुशील है—पाप है, ऐसा जगत् समझता है । परन्तु विचारनेकी बात है कि शुभकर्म भी अशुभकर्मकी तरह जीवको संसारमें प्रवेश कराता है तब उसे 'सुशील' कैसे माना जाय ? अर्थात् दोनों ही पुद्गलके परिणाम होनेसे तथा संसारके कारण होनेसे उनमें कोई अन्तर नहीं है । देखो, जैसे लोहेकी बेड़ी पुरुषको बाँधती है उसी तरह सोनेकी बेड़ी भी पुरुषको बाँधती है । इसी प्रकार शुभ परिणामोंसे किया गया शुभकर्म और अशुभ परिणामोंसे किया गया अशुभ कर्म दोनों जीवको बाँधते हैं । अतः उनमें भेद नहीं है । जैसे कोई पुरुष निन्दित स्वभाववाले (दुश्चरित्र) व्यक्तिको जानकर उसके साथ न उठता-बैठता है और न उससे मैत्री करता है । उसी तरह ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) जीव कर्मप्रकृतियोंके शीलस्वभावको कुत्सित (बुरा) जानकर उन्हें छोड़ देते हैं और उनके साथ संसर्ग नहीं करते । केवल अपने ज्ञायक स्वभावमें लीन रहते हैं । राग चाहे प्रशस्त हो, चाहे अप्रशस्त, दोनोंसे ही जीव कर्मको बाँधता है तथा दोनों प्रकारके रागोंसे रहित ही जीव उस कर्मसे छुटकारा पाता है । इतना ही जिन भगवान्के उपदेशका सार है, इसलिए न शुभकर्ममें रक्त होओ और न अशुभकर्ममें । यथार्थमें पुण्यकी वे ही इच्छा करते हैं जो आत्मस्वरूपके अनुभवसे च्युत हैं और केवल अशुभकर्मकी अज्ञानतासे बन्धका कारण मानते हैं तथा व्रत, नियमादि शुभकर्मको बन्धका कारण न जानकर उसे मोक्षका कारण समझते हैं । इस सन्दर्भमें इस ग्रन्थके उक्त अधिकारकी निम्न गाथाएँ भी द्रष्टव्य हैं—

कम्ममसुहं कुशीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुशीलं ।
 कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥
 सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
 बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥
 जह णाम को वि पुरिसो कुच्छियशीलं जणं वियाणित्ता ।
 वज्जेदि तेण समथं संसग्गं रायकरणं च ॥१४८॥
 एमेव कम्मपयडीशीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
 वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥
 रत्तो बंधदि कम्मं मुच्चदि जीवो विरागसंपत्तो ।
 एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मसु मा रज्ज ॥१५०॥
 वद-णियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुब्बंता ।
 परमट्ठवाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विदंति ॥१५३॥
 परमट्ठवाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
 संसारगमणहेदुं वि मोवखहेउं अजाणंता ॥१५४॥^२

१. पंचत्थियसंगह, गा० १३५, १३६, १३७, १३८ ।

२. समयसार, पुण्यपापाधिकार ।

आचार्य अमृतचंद्रने इन माथाओंका भ्रम बड़ी विशदतासे उद्घाटित किया है, जो उनकी टीकासे ज्ञातव्य है। यहाँ हम उनके दो दृष्टान्तोंको उपस्थित करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकते। एक दृष्टान्त द्वारा उन्होंने बताया है कि जैसे कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर उसे अपने ब्राह्मणत्वका अभिमान हो जाता है और कोई शूद्र कुलमें पैदा होकर वह उसके अहंकारसे नहीं बचता। परन्तु वे दोनों यह भूल जाते हैं कि उनकी जाति तो आखिर एक ही है—दोनों ही मनुष्य हैं। उसी तरह पुण्य और पाप कहनेको भले ही वे दो हों, किन्तु हैं दोनों ही एक ही पुद्गलको उपज। दूसरे दृष्टान्त द्वारा आ० अमृतचन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार एक हाथीको बाँधनेके लिए मनोरम अथवा अमनोरम हृथिनियाँ उसपर कूटनीतिका जाल फेंक उसे बाँध लेती हैं और वह हाथी अज्ञानतासे उनके शिकंजेमें आ जाता है, उसी प्रकार शुभकर्म और अशुभकर्म भी जीवपर अपना लुभावना जाल डालकर उसे बन्धनमें डाल देते हैं और जीव अज्ञानतासे उनके जालमें फँस जाता है। तात्पर्य यह कि पुण्य और पाप दोनों ही जीवके सजातीय नहीं हैं—वे उसके विजातीय हैं और एकजाति—पुद्गलके वे दो परिणाम हैं। तथा दोनों ही जीवके बन्धन हैं। इनमें इतना ही अन्तर है कि एकको शुभ (पुण्य) कहा जाता है और दूसरेको अशुभ (पाप)। पर कर्म दोनों ही हैं। और दोनों ही बन्धनकारक हैं। जैसे सोनेकी बेड़ी और लोहेकी बेड़ी। बेड़ी दोनों ही और दोनों ही पुरुषकी स्वतन्त्रताका अपहरण करके उसे बन्धनमें डालती हैं।

आ० गृद्धपिच्छने भी पुण्य और पाप दोनोंको कर्म (बन्धनकारक पुद्गलका परिणाम) कहा है और ज्ञानावरणादि आठों अथवा उनकी एकसौ अड़तालीस प्रवृत्तियोंको पुण्य तथा पापमें विभक्त किया है। उनके वे सूत्र इस प्रकार हैं—

१. सद्देयशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ।

२. अतोऽन्यत्पापम् ।^१

दूसरे कुछ आचार्योंका भी पुण्य-पाप विषयक निरूपण यहाँ उपस्थित है—

आ० योगीन्द्रदेव योगसारमें लिखते हैं—

पुण्यसे जीव स्वर्ग पाता है और पापसे नरकमें जाता है। जो इन दोनों (पुण्य और पाप) को छोड़कर आत्माको जानता है वही मोक्ष पाता है। (गा० दो० ३२)

जबतक जीवको एक परमशुद्ध पवित्र भावका ज्ञान नहीं होता तबतक व्रत, तप, संयम और शील ये सब कुछ भी कार्यकारी नहीं होते। (गा० दो० ३१)

पापको पाप तो सभी जानते और कहते हैं। परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है, ऐसा पण्डित कोई चिरला ही होता है। (दो, ७१)

जैसे लोहेकी सांकल, सांकल (बन्धनकारक) है उसी तरह सोनेकी सांकल भी सांकल (बन्धनकारक) है। यथार्थमें जो शुभ और अशुभ दोनों भावोंका त्याग कर देते हैं वे ही ज्ञानी हैं। (दो० ७२)

परमात्मप्रकाशमें भी आ० योगीन्द्रदेव पुण्य और पापकी विस्तृत चर्चा करते हुए कहते हैं—

जो व्यक्ति विभाव परिणामको बंधका और स्वभाव परिणामको मोक्षका कारण नहीं समझता वही अज्ञानसे पुण्यको भी और पापको भी दोनोंको ही करता है। (२-५३)

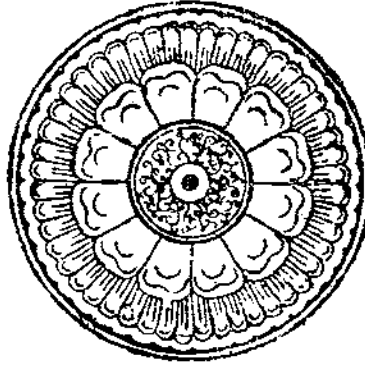
जो जीव पुण्य और पाप दोनोंको समान नहीं मानता वह मोहके कारण चिरकाल तक दुःख सहता हुआ संसारमें भटकता है। (२-५५)

१. तत्त्वार्थसू० ८।२५, २६।

इस तरह हम सहज रूपमें जान सकते हैं कि पुण्य और पापके विषयमें शास्त्रका क्या दृष्टिकोण है ? अर्थात् निश्चयनयसे पाप भी हेय है और पुण्य भी हेय है, क्योंकि वे दोनों पुद्गलके परिणाम हैं । पण्डितप्रवर दौलतरामजीके शब्दोंमें—

‘पुण्य-पापफल माहिं हरख-बिलखो मत भाई,
यह पुद्गल-परजाय उपज विनसै किर थाई ।’

तथा व्यवहारनयसे पुण्य उपादेय है, क्योंकि क्रतादिका ग्रहण प्रथमावस्थामें आवश्यक है और उनसे पुण्यका आस्रव होता है । पाप तो सर्वथा वर्जनीय ही है ।



१. छहडाला ।

वर्तनाका अर्थ

पण्डित राजमलजी द्वारा रचित 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें विद्वान् लेखकने जैन दर्शनमें मान्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंका विशद निरूपण किया है। इसका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन हमने किया है तथा जैन साहित्यकी प्रसिद्ध संस्था 'बीर-सेवा-मन्दिर' से उसका प्रकाशन हुआ है। इसमें वर्तनाका जो अर्थ हमने दिया है उसपर 'जैन गजट' के सम्पादक पं० बंशीधरजी शास्त्री सोलापुरने कुछ आपत्ति प्रस्तुत की है। ग्रन्थकी समालोचना करते हुए उन्होंने लिखा है—

'पृष्ठ ८३ में कालद्रव्यका वर्णन आया है, वहाँ वर्तनाका हिन्दी अर्थ गलत हो गया है। वर्तनाका अर्थ लिखा है—द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है। यह जो अर्थ लिखा गया है वह परिणामका अर्थ है—वर्तनाका यह अर्थ नहीं है। 'वर्तना' शब्द षिजन्त है। उसका अर्थ सीधी द्रव्यवर्तना नहीं है, किन्तु द्रव्योंको वर्तना अर्थ है। इसीलिये वर्तनारूप पर्याय खास अथवा सीधा कालपर्याय माना गया है और इसी सबबसे वर्तना द्वारा निश्चयकालद्रव्यकी सिद्धि होती है। यदि वर्तनाका अर्थ जैसाकि यहाँके हिन्दी अर्थमें बताया गया है कि द्रव्योंका सत्परिणाम वर्तना है तो कालके अस्तित्वका समर्थक दूसरा हेतु मिलना कठिन हो जायेगा। इसलिये पूर्वग्रंथोंके नाजुक एवं महत्त्वयुक्त विवेचनोंपर आधुनिक लेखकोंको आदरसे ध्यान रखकर अपनी लेखनी चलानी चाहिए'।

इस पर विचार करनेके पूर्व मैं 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड' के उस पूरे पद्य और उसके हिन्दी अर्थको भी यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। इससे पाठकोंके लिये समझनेमें सहूलियत होगी। पद्य और उसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है—

“द्रव्यं कालाणुमात्रं गुणगणकलितं चाश्रितं शुद्धभावे-
स्तच्छुद्धं कालसंज्ञं कथयति जिनपो निश्चयाद् द्रव्यनीतेः ।

द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना तत्र हेतुः

कालस्यायं च धर्मः स्वगुणपरणतिधर्मपर्याय एषः ॥

अर्थ—गुणोंसे सहित और शुद्ध पर्यायोंसे युक्त कालाणुमात्र द्रव्यको जिनन्द्र भगवान्ने द्रव्याधिक निश्चयनयसे शुद्ध कालद्रव्य अर्थात् निश्चयकाल कहा है। द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है। इस वर्तनामें निश्चयकाल निमित्तकारण है—द्रव्योंके अस्तित्वरूप वर्तनमें निश्चयकाल निमित्तकारण होता है। अपने गुणोंमें अपने ही गुणों द्वारा परिणमन करना कालद्रव्यका धर्म है—शुद्ध अर्थक्रिया है और यह उसकी धर्मपर्याय है।

यहाँ पद्यका हिन्दी अर्थ हूबहू मूलके ही अनुसार किया गया है। मूलमें जो वर्तनाका लक्षण “द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना” किया गया है वही—“द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है” हिन्दी अर्थमें व्यक्त किया गया है। अपनी ओरसे न तो किसी शब्दकी वृद्धि की है और न अपना कोई नया विचार ही उसमें प्रविष्ट किया है। अतः यदि इस हिन्दी अर्थको गलत कहा जायेगा तो मूलको भी गलत बताना होगा। किन्तु मूलको गलत नहीं बतलाया गया है और न वह गलत हो सकता है। प्रतीत होता है कि पंडितजीने मूलपर और सिद्धान्तग्रंथोंमें प्रतिपादित वर्तनालक्षणपर ध्यान नहीं दिया और यदि कुछ दिया भी हो तो उसपर सूक्ष्म तथा गहरा विचार नहीं किया।

वास्तवमें अनेक विद्वान् यही समझते हैं कि वर्तना कालद्रव्यकी ही खास पर्याय, परिणमन अथवा गुण है^१ और वह सीधी कालपर्याय है। पर यथार्थमें यह बात नहीं है। वर्तना जीवादि छहों द्रव्योंका अस्तित्व-रूप (उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक)^२ स्वात्मपरिणमन है और इस अस्तित्वरूप स्वात्मपरिणमनमें उपादानकारण तो तत्तद्द्रव्य है और साधारण बाह्य निमित्तकारण अथवा उदासीन अप्रेरक कारण कालद्रव्य है।^३ यदि प्रत्येक द्रव्य स्वतः वर्तनशील न हो तो वर्तनाको केवल कालद्रव्यकी सीधी पर्याय मानकर भी कालको उनका वर्तयिता—वर्तनेवाला नहीं कहा जा सकता और न वह हो ही सकता है। किन्तु जब प्रत्येक द्रव्य प्रतिसमय वर्त रहे होंगे तभी वह कालाणु (काल द्रव्य) प्रत्येक समय उनके वर्तनमें निमित्तकारण होता है। अतएव जिस प्रकार धर्मादि द्रव्य न हों तो जीव-पुद्गलोंकी गत्यादि नहीं हो सकती अथवा कुम्हारके चाककी कोली न हो तो चाक घूम नहीं सकता। उसी प्रकार कालद्रव्य न हो तो निमित्तकारणके बिना उन द्रव्योंका वर्तन नहीं हो सकता है। इसी निमित्तकारणताकी अपेक्षासे ही धर्मादिद्रव्यके गत्यादि उपकारकी तरह वर्तनाको कालद्रव्यका उपकार कहा गया है। इसी बातको सर्वार्थसिद्धिकार आ० पूज्यपादने कहा है—

‘धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृतिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात्-
त्प्रवर्तनोपलक्षितः काल इति कृत्वा वर्तना कालस्योपकारः।’ —स० सि० ५-२२।

विद्वद्भ्यं पं० राजमल्लजीने अपना पूर्वोक्त वर्तनालक्षण पूज्यपादके इसी वर्तनालक्षणके आधारपर रचा जान पड़ता है, क्योंकि दोनों लक्षणोंको जब सामने रखकर एक साथ पढ़ा जाता है तो वंसा स्पष्ट प्रतीत होता है। आ० अकलङ्कदेव भी यही कहते हैं—

‘प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्गतैकसमया स्वसत्तानुभूतिर्वर्तना...एकस्मिन्नविभागिनि समये धर्मादीनि द्रव्याणि षडपि स्वपर्यायैरादिमदनादिमद्भिर्द्रव्यरूपादव्ययधौव्यविकल्पैर्वर्तन्ते इति कृत्वा तद्विषया वर्तना। साऽनुमानिकी व्यावहारिकदर्शनात् पाकवत्। यथा व्यावहारिकस्य पाकस्य तद्बुल-
विवलेदनलक्षणस्यौदनपरिणामस्य दर्शनादनुमीयते—अस्ति प्रथमसमयादारम्य सूक्ष्मपाकाभिनिर्वृतिः प्रतिसमयमिति। यदि हि प्रथमसमयेऽन्युदकसन्निधाने कश्चित् पाकविशेषो न स्यात्, एवं द्वितीये तृतीये च न स्यात् इति पाकाभाव एव स्यात्। तथा सर्वेषामपि द्रव्याणां स्वपर्यायाभिनिर्वृत्तौ प्रति-
समयं दुरधिगमा निष्पत्तिरभ्युपगन्तव्या। तल्लक्षणः कालः। सा वर्तना लक्षणं यस्य स काल इत्यवसेयः। समयादीनां क्रियाविशेषाणां समयादिनिर्वृत्त्यानां च पर्यायाणां पाकादीनां स्वात्म-
सद्भावानुभवनेन स्वत एव वर्तमानानां निर्वृत्तेर्बहिरङ्गो हेतुः समयः पाक इत्येवमादिस्वसंज्ञारूढि-
सद्भावे काल इत्ययं व्यवहारोऽकस्मान्न भवतीति तद्व्यवहारहेतुनाऽन्येन भवितव्यमित्यनुमेयः।’

—त० वा०, ५-२२

यहाँ अकलङ्कदेवने बहुत ही विशदताके साथ कहा है कि “हरेक द्रव्यपर्यायमें जो हर समय स्वसत्ता-
नुभवन—वर्तन होता है वह वर्तना है। अर्थात् एक अविभागी समयमें धर्मादि छहों द्रव्य स्वतः ही अपनी सादि और अनादि पर्यायोसे जो उत्पाद, व्यय और धौव्यरूप है, वर्त रहे हैं उनके इस वर्तनको ही वर्तना कहते हैं

१. उदाहरणस्वरूप देखें, जयधवला, प्रथम पुस्तक (मुद्रित), पृ० ४०।

२. ‘उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्’, ‘सद् द्रव्यलक्षणम्’-त० सू० ५-३०, २९।

३. जैन सिद्धान्तदर्पण, प्र० भा०, पृ० ७२।

और चूँकि तत्तत् समय उसमें अप्रेरक बाह्यनिमित्तकारण होता है। इसलिए वर्तनाके द्वारा निमित्तकारण-रूपसे कालद्रव्य अनुमेय है, इसीसे वर्तनाको काल-द्रव्यके अस्तित्वका समर्थक मुख्य हेतु कहा जाता है।

आ० विद्यानन्दने भी इसी तरहका विस्तृत वर्णन किया है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४१४ पर एक अनुमान ही ऐसा प्रस्तुत है, जिसमें उन्होंने स्पष्टतया जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और इनकी व्यापक सत्ता तथा सूर्यगति आदिकी ही वर्तना स्वीकार की है और उसके द्वारा बहिरङ्गकारणरूपसे कालकी सिद्धि की है। जब शंकाकारके द्वारा कालवर्तनाके साथ व्यभिचार दोष उपस्थित किया गया तब उन्होंने कालकी मुख्य वर्तना न होनेका ही सिद्धान्त स्थापित किया है और धर्मादि द्रव्योंकी ही मुख्य वर्तना बतलाई है। कालद्रव्यकी भी मुख्य वर्तना माननेमें अनवस्था दोष दिया गया है। साथमें यह भी कहा गया कि कालमें वृत्ति और वर्तकका विभाग न होनेसे मुख्य वर्तना बन भी नहीं सकती। यदि शक्तिभेदसे वृत्ति और वर्तकका विभाग माना जावे तो कालद्रव्यकी भी वर्तना कही जा सकती है क्योंकि कालवर्तनाका बहिरङ्गकारण वर्तक शक्ति ही जाती है। इस तरह विद्यानन्द स्वामीने अनुमानमें उपस्थित किये गये व्यभिचार दोषको उत्सारित किया है। विद्यानन्दके इस स्फुट विवेचनसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि वास्तवमें वर्तना सभी द्रव्यगत है और काल उसमें केवल बहिरंग कारण है। द्रव्योंके इस वर्तना—अस्तित्वरूप परिणमनमें बहिरंग कारण न तो आकाश है और न जीवादिद्रव्य हैं, क्योंकि वे सब तो उसके उपादान कारण हैं और प्रत्येक कार्य उपादान तथा निमित्त इन दो कारणोंमें होता है। अतः वर्तनाके उपादान कारण जीवादिसे अतिरिक्त निमित्तकारणरूपसे निश्चयकालद्रव्यकी सिद्धि होती है।

सर्वार्थसिद्धि (सोलापुर संस्करण) पृ० १८३ में एक अतिस्पष्ट पादटिप्पण (फुटनोट) दिया गया है, जो श्रुतसागरसूरिकी श्रुतसागरी तत्त्वार्थवृत्तिका जान पड़ता है और जिससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि सभी द्रव्योंका प्रतिसमय वर्तन स्वभाव है तथा प्रतिक्षण उनकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म पर्यायोंमें जो परमाणु-रूप बाह्य निश्चयकालकी अपेक्षा लेकर वर्तन—परिणमन होता है वह वर्तना है। यहाँ फुटनोटकी कुछ उपयोगी पंक्तियोंको दिया जाता है—

“एवं सर्वेषां द्रव्याणां प्रतिसमयं स्थूलपर्यायविलोकनात् स्वयमेव वर्तनस्वभावत्वेन बाह्यनिश्चय-कालं परमाणुरूपं अपेक्ष्य प्रतिक्षणं उत्तरोत्तरसूक्ष्मपर्यायेषु वर्तनं परिणमनं यद् भवति सा वर्तना निर्णयते” ।

यहाँ “वर्तनं परिणमनं” कहकर तो वर्तनाका अर्थ परिणाम भी स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है। इस तरह सिद्धान्तग्रन्थोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि पं० राजमल्लजीने वर्तनाका जो “द्रव्याणामात्मना सत्परिणमनमिदं वर्तना” लक्षण किया है और हमने उसका जो ‘द्रव्योंके अपने रूपसे सत्परिणामका नाम वर्तना है’ हिन्दी अर्थ किया है दोनों ही सिद्धान्त सम्मत हैं—गलत नहीं हैं।

अब विचारके लिये शेष रह जाता है कि यदि सत्परिणाम वर्तना है तो परिणाम और वर्तनामें भेद क्या है, क्योंकि कालद्रव्यके उपकारोंमें परिणामको भी वर्तनासे पृथक् बतलाया गया है? इसका खुलासा इस प्रकार है—

प्रथम तो सामान्यतया वर्तना और परिणाममें कोई भेद नहीं है, क्योंकि वस्तुतः परिणाम आदि जो कालद्रव्यके उपकार बतलाये गये हैं वे वर्तनाके ही भेद हैं। जैसा कि आ० पूज्यपादके निम्न कथनसे प्रकट है—

१. त० श्लो० वा० ५-२२, पृ० ४१३, ४१४ ।

“ननु वर्तनाग्रहणमेवास्तु तद्भेदाः परिणामादयस्तेषां पृथग्ग्रहणमनर्थकम्; नानर्थकम्; कालद्वय-
सूचनार्थत्वात्प्रपञ्चस्य ।” —स० सि० ५-२२ ।

यहाँ शंका की है कि एक वर्तनामात्रका ग्रहण करना पर्याप्त है, परिणाम आदि तो उसीके भेद हैं, अतः वर्तनाग्रहणसे उनका भी ग्रहण हो जायगा, उनका पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है ? इस शंकाका आचार्य उत्तर देते हैं कि सूत्रमें उनका पृथक् ग्रहण व्यर्थ नहीं है, क्योंकि कालके दो भेदोंकी सूचना—ज्ञापन करनेके लिये प्रपञ्च—विस्तार किया गया है। तात्पर्य यह कि पूज्यपादके लिये परिणाम आदिको वर्तनाके भेद मानना स्पष्टतः अभीष्ट है। दूसरे, सत्परिणामनको वर्तना माननेपर वर्तना और परिणाम दोनों एक नहीं हो जाते। प्रतिक्षण समस्त द्रव्योंका अपनी उत्तरोत्तर सूक्ष्म पर्यायोंमें जो वर्तन सत्परिणामन होता है वह तो वर्तना है। जैसा कि पूर्वोक्त विवेचन और सर्वार्थसिद्धिके उल्लिखित फुटनोटसे स्पष्ट है और पूर्वपर्यायके त्याग और उत्तर पर्यायके उत्पादरूप जो द्रव्यमें अपरिस्पन्दात्मक विकार—पर्याय होती है उसे परिणाम कहते हैं। जैसा कि स्त्रयं पूज्यपादके ही निम्न कथनसे प्रकट है—

“द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरापजननरूपः अपरिस्पन्दात्मकः परिणामः। जीवस्य
क्रोधादिः, पुद्गलस्य वर्णादिः। धर्माधर्माकाशानामगुरुलघुगुणवृद्धिहानिकृतः” ।

—स० सि० ५-२२ ।

पूज्यपादके अनुगामी अकलङ्क^१ और विद्वानन्द^२ भी अपना यही अभिप्राय प्रकट करते हैं। इसी अध्यात्मकमलमार्तण्ड (पृष्ठ ८४) में अध्यात्मकमलमार्तण्डकारने परिणामका भी लक्षण दिया है, जिससे उनकी एकताका भ्रम दूर हो जाता है। उनका वह परिणामलक्षण इस प्रकार है—

“पर्यायः किल जीवपुद्गलभवो योऽशुद्धशुद्धाह्वयः” ।

अर्थात्—जीव और पुद्गलसे होने वाले शुद्ध और अशुद्ध परिणामनों—विकारोंको पर्याय—परिणाम कहते हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि ग्रन्थकार जीव और पुद्गलजन्य पर्याय (विकार) को ही परिणाम कहते हैं, धर्मादिद्रव्योंमें वे विकारको नहीं मानते। किन्तु तत्त्वार्थके सभी टीकाकारोंने द्रव्यविकारको परिणाम बतलाते हुए धर्मादिद्रव्योंमें भी अगुरुलघुगुणकृत विकार स्वीकार किया है और उसे भी परिणाम कहा है। अस्तु। तात्पर्य यह कि द्रव्यपर्यायोंमें प्रति समय होने वाला परिणामन तो वर्तना है और वे द्रव्यपर्याय परिणाम हैं। यही वर्तना और परिणाममें सिद्धान्तसम्मत भेद है। यद्यपि ‘वर्तना’ शब्द ‘णिजंत’ है, किन्तु यह भी ध्यातव्य है कि ‘णिज्’ का अर्थ यहाँ क्या विवक्षित है। सर्वार्थसिद्धिकारके णिजर्थ सम्बन्धी पूरे अभिप्रायको यहाँ दिया जाता है—

‘को णिजर्थः ? वर्तते द्रव्यपर्यायस्तस्य वर्तयिता कालः। यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति ।
यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयति इति; नैष दोषः; निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः ।
यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति । एवं कालस्य हेतुकर्तृता ।’—स० सि० ५-२२ ।

‘णिज्’ का अर्थ क्या है ? द्रव्यपर्याय वर्त रही है, उसका वर्तने वाला काल है। यदि ऐसा है तो कालके क्रियापना प्राप्त हो जायेगा। जैसे—शिष्य पढ़ता है, उपाध्याय पढ़ाता है ? यह कोई दोष नहीं, क्योंकि निमित्तमात्रमें भी कारणको कर्ता कह दिया जाता है। जैसे कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। यहाँ कण्डेकी अग्निको पढ़नेमें निमित्तकारण होने मात्रसे कर्ता कहा गया है। इसी प्रकार स्वतः वर्त रही द्रव्यपर्यायोंके

१. त० वा० ५-२२ ।

२. त० श्लो० वा० ५-२२, पृ० ४१४ ।

वर्तनमें काल निमित्तकारण होने मात्रसे वर्तयिता—वर्तनकर्ता (वर्ताने वाला) कहा है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'पढ़ाना' वस्तुतः उपाध्यायनिष्ठ ही है किन्तु निमित्त रूपसे कारीष-अग्निनिष्ठ भी माना जाता है उसी प्रकार वर्तना वस्तुतः समस्त द्रव्यपर्यायगत ही है फिर भी निमित्त होनेसे वर्तनाको कालगत भी मान लिया गया है। अतः वर्तनाका अर्थ मुख्यतः 'द्रव्यवर्तना' है और उपचारतः 'द्रव्योंको वर्तना' है। सोची द्रव्य-वर्तनाका व्यवच्छेद करके एकमात्र 'द्रव्योंको वर्तना' वर्तनाका अर्थ नहीं है। अन्यथा सर्वार्थसिद्धिकार 'वर्तते द्रव्यपर्यायः' इतने वाक्यांशको न लिखकर केवल "द्रव्यपर्यायस्य वर्तयिता कालः" इतना ही लिखते। इससे स्पष्ट है कि सत्परिणमनको जो हमने वर्तना कहा है वह मूलकार एवं सिद्धान्तकारोंके विरुद्ध नहीं है और न गलत है।

अन्तमें जो एक बात रह जाती है वह यह कि सत्परिणमनको वर्तना माननेपर कालके अस्तित्वका समर्थक कोई दूसरा हेतु नहीं मिल सकता, उस सम्बन्धमें मेरा कहना है कि सत्परिणमनको वर्तना माननेपर कालके अस्तित्वकी साधक वह क्यों नहीं रहेगी। दूसरे द्रव्य तो उस सत्परिणमनरूप वर्तनामें उपादान ही होंगे, निमित्तकारणरूपसे, जो प्रत्येक कार्यमें अवश्य अपेक्षित होता है, कालकी अपेक्षा होगी और इस तरह वर्तनाके द्वारा निमित्तकारणरूपसे कालकी सिद्धि होती ही है। यदि इस रूपमें वर्तनाका अर्थ वर्तना इष्ट हो तो उसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। सत्परिणमन भी वहाँ वर्तना रूप ही हो सकता है। यहाँ ध्यातव्य है कि पूज्यपाद और अकलङ्कदेवके अभिप्रायसे वर्तना कालका असाधारण गुण और विद्यानन्दके अभिप्रायानुसार पर्याय माना गया है।



जीवनमें संयमका महत्त्व

मानव-जीवनको सुखमय बनानेके लिए संयमकी बहुत आवश्यकता है। बिना संयमके इस दुःखमय संसारसे मुक्ति नहीं मिल सकती। एक तो संसार स्वयं दुःखमय है। दूसरे, हम भी विविध वासनाओंकी सृष्टि करके जीवनको भयानक गर्तमें डाल देते हैं। हमारी वासनार्यो—इच्छार्यो दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती ही चली जाती हैं। ज्यों ही एक इच्छाकी पूर्ति होती है त्यों ही दूसरी इच्छा-वासना आ खड़ी होती है। इस प्रकार एकके बाद दूसरी और दूसरीके बाद तीसरी, तीसरीके बाद चौथी आदि वासनाओंका तांता लगा ही रहता है। भले ही जीवनका अन्त हो जाय, पर वासनाओंका अन्त नहीं होता। अतएव कहना होगा कि वासनार्यो अपरिमित हैं, उनकी पूर्ति होना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है, क्योंकि उनके विषय परिमित हैं। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि “दुनियाकी सारी चीजें मुझे ही मिल जायें” तब यह कैसे सम्भव है कि अनन्तानन्त जीव-राशिकी इच्छार्यो-वासनार्यो परिमित वस्तुओंसे पूर्ण हो जायें। एक विद्वान्का यह वचन प्रत्येक मानवको अपने हृत्पटलपर अंकित कर लेना चाहिये—

आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणुपमम् ।
कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

—आत्मानुशासन ।

अर्थात्—अये ! दुःखागार संसार-निमग्न प्राणियो ! तुम्हारी वासनार्यो-इच्छार्यो बड़े भारी गड्ढेके समान हैं और यह दृश्यमान विश्व उसमें अणुके बराबर है तब उनकी पूर्ति अणु-विश्वसे कैसे हो सकती है ? अतः तुमको विषयोंमें अभिलाषा करना व्यर्थ है। यह भी ध्रुव सत्य समझो कि जिसकी अभिलाषा की जावे, वह प्रायः मिलती भी नहीं है। क्या यह नहीं सुना है कि “बिन मांगे मोती मिले, मांगे मिले न चून”।

जीवनमें जितने भी रोग, शोक, आधि, व्याधि आदि दुःख भोगने पड़ते हैं, उन सबका मूल कारण वासना एवं असंयम ही है। यदि वासना-इच्छा न हो तो दुःख कभी हो ही नहीं सकता, यह विलकुल यथार्थ है। इन्द्रिय और मनकी विषयोंमें स्वच्छन्द प्रवृत्तिका नाम ही वासना है। इसीको इन्द्रिय-असंयम कहते हैं।

मनसश्चेन्द्रियाणां च यत्स्वस्वार्थे प्रवर्तनम् ।
यदृच्छयेव तत्तज्ज्ञा इन्द्रियासंयमं विदुः ॥

अर्थात्—मन और इन्द्रियोंके अपने-अपने विषयमें स्वच्छन्द प्रवर्तनको विद्वान् इन्द्रियासंयम कहते हैं। सचमुचमें मनुष्य इसके चंगुलमें फँसकर जघन्य-से-जघन्य कुकृत्योंके करनेमें संकुचित नहीं होता। उसकी तीव्र वासना एवं स्वार्थलोलुपता उसके सच्चे स्वरूपपर कुठाराघात करती है। इतना ही नहीं, उसे महान दुःखोंके गर्तमें पटक देती है। अतः कहना होगा कि यह इन्द्रियासंयम अपर नाम वासना अनन्त संसारका कारण है। इस लिये यदि हम अपने जीवनको सुखी एवं शान्तिमय बनाना चाहते हैं, तो हमारा कर्तव्य है कि इस विषय-पिशाची वासनाका मूलोच्छेद करें। यह निश्चित है कि विषय नियत समयके लिये ही प्राप्त

होंगे, अपना समय पूरा करके चले जायेंगे। इससे हमें महान् दुःख होगा, आकुलता होगी, असंतोष पैदा होगा। यदि हम इनको स्वयमेव छोड़ देंगे तो हमें सन्तोष-सुख मिलेगा और दुःखोंका शिकार नहीं होना पड़ेगा। कहा है :—

अवश्यं यातारश्चरतरमुषित्वाऽपि विषया,
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयमभूत् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसाः,
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनंतं विदधति ॥

अतः विषयवासनाका उच्छेद करना परमावश्यक है। 'न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी', 'जड़ ही नष्ट हो गई तो अंकुर कैसा', 'स्रोत ही सुखा दिया जाय तो प्रवाह कैसा' ? हमारे मनमें वासनायें ही पैदा न होंगी तो दुःख कहाँसे होगा ? वासनाके निवृत्त हो जानेपर जो उनकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करने पड़ते थे, जो विकलता उठानी पड़ती थी, उन सबका अन्त हो जायेगा। फिर किसी भी बाह्य चीजकी अभिलाषा न होगी। अपने अन्तर्जगतमें छिपी चीजें (अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुखादि) प्रकट हो जावेंगी। आत्माकी ये ही स्वाभाविक एवं वास्तविक विभूति हैं। जब तक आकुलता रहती है तभी तक अशान्ति और दुःखका तांता है। जब आकुलता न रहेगी तब निराकुलतात्मक सुख एवं शान्तिकी पूर्ण व्यक्ति हो जायगी। ऐसी ही अवस्थाका नाम मोक्ष है। पं० दौलतरामजीके ये शब्द सदा स्मरणीय हैं—

आत्मको हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये।
आकुलता शिवमांहि न, तातें शिवमग लाग्यो चाहिये ॥

यदि हम विषय-वासनाके अन्तस्थलमें घुसैं तो कहना होगा कि विषय-वासना ही संसार है और उसकी विमुक्ति ही मुक्ति है। "बद्धो हि को यो विषयानुरागी, का वा विमुक्तिः विषये विरक्तः।" अर्थात् बद्ध कौन है ? जो विषयोंमें आसक्त है। मुक्ति क्या है ? विषयोंमें विरक्तता। वही मुक्त है जो विषयोंमें विरक्त है, उनमें आसक्त नहीं है। सन्नाद् भरत षट्खंड विभूतिका उपभोग करते हुए भी दीक्षा लेनेके बाद अन्तर्मुहूर्तमें केवली हो गये। अतः निश्चित है कि आसक्ति ही बंधका कारण है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टिकी क्रियायें एक होने पर भी मिथ्यादृष्टिकी क्रियायें बंधका कारण हैं, सम्यग्दृष्टिकी नहीं, क्योंकि मिथ्यादृष्टि जो क्रियायें करता है आसक्त (तन्मय) होकर करता है, सम्यग्दृष्टि नहीं। वह तो केवल पदस्य कर्त्तव्य समझ कर करता है—

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ता सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥

—समयसारकलश ।

अब विचारना है कि वासनाका उच्छेद कैसे हो सकता है, क्योंकि मनसे इच्छाओंका हटाना हंसी-खेल नहीं है, टेढ़ी खीर है। अपने-अपने विषयोंके प्रति गमन करनेवाली इन्द्रियों और मनको उनसे हटाना, उनको काबूमें करना उसी प्रकार कठिन है जिस प्रकार जगत्को विध्वंस करनेवाले उन्मत्त गजको वशमें करना है। किन्तु विशेषज्ञोंने जहाँ वासना-निवृत्तिका उपदेश दिया है वहीं मन और इन्द्रियोंको स्वच्छन्द न होने देनेका सुगम साधन भी बतलाया है। ज्यों ही इन्द्रियों और मनपर आत्माका पूर्ण आधिपत्य होता जायगा त्यों ही वासनाओंकी निवृत्ति होती चली जायगी। मनको काबूमें कर लेनेपर इन्द्रियाँ अपने आप काबूमें हो जावेंगी। मनको काबूमें करनेका सरल उपाय यही है कि मनमें बुरे विचार कभी भी उत्पन्न न

होने दें। अच्छे विचारोंको पैदा करें। ज्यों ही मन बुरे विचारोंमें गोता लगावे, त्यों ही विवेकांकुशसे लाभ लें। और उस समय इस प्रकार विचार करें—“धिकृच्छिः तुझे ऐसे नीचातिनीच अकृत्योंमें प्रवृत्त होते शर्म आनी चाहिये। लोकमें जो तेरी थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा है वह सारी मिट्टीमें मिल जायगी, फिर ऊँचा सिर करके नहीं चल सकेगा। परभवमें दुर्गंतियोंके अनेक असह्य दुखोंका सामना करना पड़ेगा, उनके शिकंजे-में पड़े बिना नहीं रह सकेगा। रे मन ! चेत ! जरा चेत !! इन बीभत्स अनर्थोंमें मत जा, अपने स्वाभाविक स्वरूपको पहचान”। इस प्रकार मनसे बुरे विचारोंको अपना (आत्माका) शत्रु समझकर हटाएँ और आत्माको अधःपतनसे रक्षित करें। महात्मा गाँधीने इन जवन्म्य मनोवृत्तियोंके दमन करनेके लिये एक बार महाभारतका सुन्दर चित्र खींचकर बतलाया था कि जब मेरे मनमें बुरे विचार उत्पन्न होते हैं तब मैं उसका इस प्रकार दमन करता हूँ—

“शरीरको तो कुरुक्षेत्र समझता और आत्माको अर्जुन, बुरे विचारोंको कौरव और अच्छे विचारोंको पाण्डव, तथा शुद्ध ज्ञानको कृष्ण। जब बुरे और अच्छे विचारोंमें संघर्ष होता है तब बुरे विचार अच्छे विचारोंको धर दबाते हैं तब कौरव शुद्ध ज्ञानकी वृत्ति उदित होकर (श्रीकृष्ण) आत्मा (अर्जुन) को सचेत कर कहती है (स्वकर्तव्योपदेश देती है) कि हे आत्मन् (अर्जुन) तेरी विरक्ति (मौन) का समय नहीं है, यह तेरे कर्तव्य पालनका समय है। बुरे विचारों (कौरवों) को तू अपना दुश्मन समझ, उनको अब भाई मत समझो। जब वे (बुरे विचार) तेरे निर्दोष भाइयों (अच्छे विचारों) पर अत्याचारोंके करनेपर उतारू हो गये हैं तब भ्रातृमोह कैसा ? यह असामयिक वैराग्य कैसा ? अतः अविलम्ब तुम कुरुक्षेत्र (शरीर) के मैदानमें जमकर दुश्मन कौरवों (बुरे विचारों) का संहार करो और अपने भाई—पाण्डवों (अच्छे विचारों) की रक्षा करके विजय प्राप्त करो एवं संसारके सामने नीतिका आदर्श पेश करो। इस प्रकार बुरे विचारोंका दमन किया करता हूँ।” यह महात्मा गाँधीने मनको वशमें करनेके लिये कितना अच्छा चित्र खींचा है।

इस प्रकार मनमें दो प्रकारकी वृत्तियाँ (विचार) पैदा हुआ करती हैं—अच्छी और बुरी। जब मनमें बुरे विचार पैदा होते हैं तब मनरूपी राजा इन्द्रियरूपी सेनाको लेकर विषयरूपी युद्धस्थलमें आत्मारूपी शत्रुको पराजित कर गिरा देता है। देवसेनाचार्य आराधनासारमें कहते हैं—

इंदिय-सेणा पसरइ मण-णरवइ-पेरिया ण संदेहो।

तम्हा मणसंजमणं खवएण य हवदि कायव्वं ॥५८॥

अर्थात् मननृपतिसे प्रेरित होकर इन्द्रियसेना विषयोंमें प्रवृत्त होती है। इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं। अतः पहले मननृपतिको ही रोकना आवश्यक है—

मणणरवइणो मरणे मरंति सेणाइ इंदियमयाइं।

ताणं मरणेण पुणो मरंति णिस्सेसकम्माइं ॥६०॥

तेसि मरणे मुखो मुखे पावेइ सासयं सुक्खं।

इंदियविसयविमुक्कं तम्हा मणमारणं कुणह ॥६१॥

अर्थात् मननृपतिके मर जानेपर इन्द्रियसेना अपने आप मर जाती है अर्थात् फिर इन्द्रियाँ आत्माको विषयोंमें पतित नहीं कर सकतीं। जैसे जली हुई रस्सी बन्धनरूप अर्थक्रिया नहीं कर सकती। इन्द्रियोंके मर जानेपर निःशेष कर्मोंका नाश हो जाता है। कर्मशत्रुओंके नाश हो जानेपर आत्माको अपना साम्राज्य (मोक्ष) मिल जाता है और उसके मिल जानेपर आत्मिक—स्वाभाविक सम्पत्ति—अतीन्द्रिय शाश्वत सुख

प्राप्त हो जाता है। अतः मनकी लिप्साओंको भस्मसात् कर देना चाहिये। एवं मनोव्यापारके नष्ट हो जानेपर इन्द्रियाँ फिर विषयोंमें प्रवृत्त नहीं हो सकती। “मूलाऽभावे कुतः शाखा” समूल वृक्षको यदि नष्ट कर दिया जाय तो अंकुर, पल्लव, शाखा आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। यथा—

ण्ट्रे मणवावारे विसएसु ण जंति इंदिया सब्बे ।
छिण्णे तरुस्स मूले कत्तो पुण पल्लवा हुंति ॥६९॥

—आराधनासार ।

यह भी निश्चित है कि मन ही बन्ध करता है और मन ही मोक्ष करता है—“मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।” देवसेनाचार्य पुनः कहते हैं :—

मणमित्ते वावारे णट्टप्पण्णे य वे गुणा हुंति ।
णट्टे आसवरोहो उप्पण्णे कम्मबन्धो य ॥७०॥

अर्थात् मनोवृत्तिके अवरोध और उसकी उत्पत्तिसे दो बातें होती हैं। अवरोधसे कर्मोंका आस्रव रुकता है और उसकी उत्पत्तिसे कर्मोंका बंध होता है। तब क्यों न हम अपनी पूरी शक्ति उसके रोकनेमें लगावें।

मन मतंग हाथो भयो ज्ञान भयो असवार ।
पग पग पै अंकुश लगे कस कुपन्थ चल जाय ॥
मन मतंग माने नहीं जौ लों धका न खाय ।

जैनदर्शनमें मनोनिग्रहसे अपरिमित लाभ बताये हैं। यहाँ तक कि उससे केवलज्ञान—पूर्ण ज्ञान तक होता है और आत्मा परमात्मा हो जाता है, अल्पज्ञ सर्वज्ञ हो जाता है। देवसेनने कहा है—

खीणे मणसंचारे तुट्टे तह आसवे य दुवियप्पे ।
गलइ पुराणं कम्मं केवलणाणं पयासेइ ॥७३॥
उव्वसिए मणगेहे णट्टे णीसेसकरणवावारे ।
विप्फुरिये ससहावे अप्पा परमप्पओ हवइ ॥८५॥

अर्थ—मनके व्यापारके रुक जाने पर दोनों प्रकारका आस्रव—पुण्यास्रव एवं पापास्रव रुक जाता है और पुराने कर्मोंका नाश हो जाता है तथा केवलज्ञान प्रकट हो जाता है और आत्मा परमात्मा हो जाता है। फिर संसारके दुःखोंमें नहीं भटकना पड़ता, क्योंकि कर्मबीज सर्वथा नाश हो जाता है। अतः सुखार्थियोंको संयमसे जीवन बिताना चाहिये। असंयमसे जो हानियाँ उठानी पड़ती हैं वे प्रत्येक संसारी मनुष्यसे छिपी नहीं हैं। संयमके विषयमें संसारके आधुनिक महापुरुषोंके मन्तव्य देखें—*

डॉ० सर ब्लेड कहते हैं कि—“असंयमके दुष्परिणाम तो निर्विवाद और सर्वविदित हैं परन्तु संयमके दुष्परिणाम तो केवल कपोलकल्पित हैं। उपर्युक्त दो बातोंमें पहली बातका अनुमोदन तो बड़े-बड़े विद्वान् करते हैं, लेकिन दूसरी बातको सिद्ध करने वाला अभी तक कोई मिला ही नहीं है”।

सर जेम्स प्रैगटकी धारणा है कि—“जिस प्रकार पवित्रतासे आत्माको क्षति नहीं पहुँचती उसी प्रकार शरीरको भी कोई हानि नहीं पहुँचती—इन्द्रियसंयम सबसे उत्तम आचरण है।

डॉ० वेरियर कहते हैं कि—पूर्ण संयमके बारेमें यह कल्पना कि वह खतरनाक है, बिलकुल गलत खयाल है और इसे दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

* विद्वानोंके ये मत लेखकने महात्मा गांधीरचित “अनीतिकी राह” पुस्तकसे उद्धृत किये हैं।

सर एंडरू क्लार्क कहते हैं कि—“संयमसे कोई नुकसान नहीं पहुँचता और न वह मनुष्यके स्वाभाविक विकासको रोकता है, वरन् वह तो बलको बढ़ाता है और तीव्र करता है। असंयमसे आत्मशासन जाता रहता है, आलस्य बढ़ता है और शरीर ऐसे रोगोंका शिकार बन जाता है जो पुस्त दरपुस्त असर करते चले जाते हैं।”

महाशय गैबरियल सीलेस कहते हैं कि—“हम बार-बार कहते फिरते हैं कि हमें स्वतन्त्रता चाहिये, हम स्वतन्त्र होंगे। परन्तु हम नहीं जानते कि स्वतन्त्रता कर्तव्यकी कैसी कठोर बेड़ी है। हमें यह नहीं मालूम कि हमारी इस नकली स्वतन्त्रताका अर्थ इन्द्रियोंकी गुलामी है जिससे हमें न तो कभी कष्टका अनुभव होता है और न हम कभी इसलिये उसका विरोध ही करते हैं।”

ब्यूरोका यह वाक्य प्रत्येक मनुष्यको अपने हृदय-पटल पर अंकित कर लेना चाहिये कि “भविष्य संयमी लोगोंके ही हाथोंमें है।”

महात्मा गांधी जो इन्द्रियसंयमके जागरूक प्रहरी थे—स्वयं क्या कहते हैं, सुनिये—

“संयत और धार्मिक जीवनमें ही अभीष्ट संयमके पालनकी काफी शक्ति है। संयत जीवन बितानेमें ही ईश्वर-प्राप्तिकी उत्कट जीवन्त अभिलाषा मिली रहती है। मैं यह दावा करता हूँ कि यदि विचार और विवेकसे काम लिया जाय तो बिना ज्यादा कठिनाईके संयमका पालन सर्वथा सम्भव है। वह गांधी, जो किसी जमानेमें कामके अभिभूत था, आज अगर अपनी पत्नीके साथ भाई या मित्रके समान रहता है और संसारकी सर्व श्रेष्ठ सुन्दरियोंको भी बहिन या बेटीके रूपमें देख सकता है, तो नीच-से-नीच और पतित मनुष्यके लिये भी आशा है? मनुष्य पशु नहीं है। पशुयोनिमें अनगिनत जन्म लेनेके बाद उस पदपर आया है। उसका जन्म सिर ऊँचा करके चलनेकी हुआ है, लेट कर या पेटके बल रेंगनेकी नहीं। पुरुषत्वसे पाशविकता उतनी ही दूर है, जितना आत्मासे शरीर।”

ब्यूरोके वाक्य ये हैं—“संयममें शांति है और असंयम तो अज्ञानिरूप महाशत्रुका घर है। असंयमीको अपनी इन्द्रियोंकी बड़ी बुरी गुलामी करनी पड़ती है। मनुष्यका जीवन मिट्टीके बर्तनके समान है जिसमें तुम यदि पहली बूँदमें ही मीला छोड़ देते हो तो फिर लाख पानी डालते रहो, सभी गन्दा होता जायगा। यदि तुम्हारा मन सदोष है तो तुम उसकी बातें सुनोगे और उसका बल बढ़ाओगे ध्यान रक्खो कि प्रत्येक काम-पूति तुम्हारी गुलामीकी जंजीरकी एक नई कड़ी बन जायगी, फिर तो इसे तोड़नेकी तुम्हें शक्ति ही न रहेगी और इस प्रकार तुम्हारा जीवन एक अज्ञानजनित अम्यासके कारण नष्ट हो जायगा। सबसे अच्छा उपाय तो ऊँचे विचारोंको पैदा करना और सभी कामोंमें संयमसे काम लेनेमें ही है।”

अन्तमें संयम और असंयमके परिणामोंको बतला कर लेखको समाप्त करता हूँ।

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।

तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥

अर्थात् इन्द्रियोंका असंयम अनेक आपदाओं-रोगों आदिका मार्ग है और उनपर विजय पाना सम्पत्तियों-स्वास्थ्यआदिका मार्ग है। इनमें जो मार्ग चुनना चाहें, चुनें और चले, आपकी इच्छा है।

चारित्रिका महत्त्व

जैन दर्शनमें चारित्रिका महत्त्व बहुत अधिक है। आत्मगवेषी मुमुक्षुको इस अनाद्यनन्त दुःखमय संसारसे छूटनेके लिये चारित्रिकी उपासना बहुत आवश्यक है। जब तक चारित्रिकी उपासना नहीं की जाती तब तक यह जीव संसारके अनेक दुःखोंका शिकार बना रहता है और संसारमें परिभ्रमण करता रहता है। यह निश्चित है कि प्रत्येक प्राणधारी इस परिभ्रमणसे बचना चाहता है और सुखकी खोजमें फिरता है। परन्तु इस परिभ्रमणसे बचनेका जो वास्तविक उपाय है उसे नहीं करता है। इसीलिये सुखी बननेके स्थानमें दुःखी बना रहता है।

यों तो संसारके सभी महापुरुषोंने जीवोंको उक्त परिभ्रमणसे छूटाने और उन्हें सुखी बनानेका प्रयत्न किया है। पर जैन धर्मके प्रवर्तक महापुरुषोंने इस दिशामें अपना अनूठा प्रयत्न किया है। यही कारण है कि वे इस प्रयत्नमें सफल हुये हैं। उन्होंने संसार-व्याधिसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुँचानेके लक्ष्यसे ही जैन धर्मके तत्त्वोंका अपनी दिव्य वाणी द्वारा सम्पूर्ण जीवोंको उपदेश दिया है। उनका यह उपदेश धारा-प्रवाह रूपसे आज भी चला आ रहा है। इसके द्वारा अनन्त भव्य जीवोंने कैवल्य और निःश्रेयस प्राप्त करके आत्मकल्याण किया है।

प्रायः सभी आस्तिक दर्शनकारोंने सम्पूर्ण कर्मबन्धनसे रहित आत्माकी अवस्था-विशेषको मोक्ष माना है। हम सब कोई कर्मबन्धनसे छूटना चाहते हैं और आत्माकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं। अतः हमें चाहिये कि उसकी प्राप्तिका ठीक उपाय करें। जैन दर्शनने इसका ठीक एवं चरम उपाय चारित्रिको बताया है। यह चारित्र दो भागोंमें विभक्त किया गया है :- १-व्यवहार चारित्र और २-निश्चय चारित्र। अशुभ क्रियाओंसे हटकर शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त होना सो व्यवहार चारित्र है। दूसरेका बुरा विचारना, उसका अनिष्ट करना, अन्याय-पूर्वक द्रव्य कमाना, पाँच पापोंका सेवन करना आदि अशुभ क्रियायें हैं। दूसरों पर दया करना, उनका परोपकार करना, उनका अच्छा विचारना, पाँच पापोंका त्याग, छह आवश्यकोंका पालन आदि शुभ क्रियायें हैं। संसारी प्राणी अनादि कालसे मोहके अधीन होकर अशुभ क्रियाओंमें रत है। उसे उनसे हटाकर शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त कराना सरल है। किन्तु शुद्धोपयोग या निश्चयमार्ग पर चलाना कठिन है। जिन अशुभ क्रियाओंके सस्कार खूब जमे हैं उन्हें जल्दी दूर नहीं किया जा सकता है। रोगीको कड़वी दवा, जो कड़वी दवा नहीं पीना चाहता है, मिश्री मिलाकर पिलाई जाती है। जब रोगी मिश्रीके लोभसे कड़वी दवा पीने लगता है तब उसे केवल कड़वी दवा ही पिलाई जाती है। संसारी प्राणी जब अनादि कालसे कषायों और विषयोंमें लिप्त रहनेसे उसकी वासनाओंसे ओतप्रोत है तो निश्चय मार्गमें नहीं चल सकता। चलानेकी कोशिश करने पर भी उसकी उस ओर अभिरुचि नहीं होती। अतः उसे पहिले व्यवहारमार्ग या व्यवहार चारित्रिका उपदेश दिया जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र व्यवहार चारित्रिका लक्षण करते हुये कहते हैं :-

असुहादो विणिविती सुहे पविती य जाण चारित्तं ।
व्रद-समिदि-गुत्तिरूवं व्यवहारणया दु जिणभणियं ॥

अशुभ क्रियाओंसे निवृत्त होना और शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्ति करना व्यवहारचारित्र्य है। यह व्यवहारचारित्र्य तेरह प्रकारका है—५ व्रत, ५ समिति और ३ गुणित। रत्नत्रयपूजामें इसी त्रयोदशभिः सभ्यक-चारित्र्यकी पूजा निहित है। पं० आशाधारजीने भी “अशुभ-कर्मणः निवृत्तिः शुभकर्मणि प्रवृत्तिः” को व्यवहारचारित्र्य या व्रत बतलाया है। इस व्यवहारचारित्र्यका अवलम्बन लेकर ही उत्तरोत्तर आत्म-विकास करता हुआ आत्मसाधक बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग क्रियाओंका निरोधकर अपने आपमें स्थिर हो जाने रूप परमोदासीनतात्मक परमोत्कृष्ट (निश्चय) चारित्र्यको प्राप्त करता है। आचार्य स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है कि, “रागद्वेष-निवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः” रागादिकी निवृत्तिके लिये साधु हिंसादिनिवृत्ति-लक्षण व्यवहारचारित्र्यका आचरण करता है। अतः स्पष्ट है कि निश्चयचारित्र्यको प्राप्त करनेके लिये व्यवहारचारित्र्य पालन करना आवश्यक एवं अनिवार्य है। यह व्यवहारचारित्र्य सब प्रकारसे मीठा है और तत्काल आनन्द देने वाला है।

विषयानुरागी जीवोंने इन्द्रिय-विषयमें ही आनन्द मान रखा है। एक कविने कहा है कि—
“अविदितपरमानन्दो जनो वदति विषयमेव रमणीयं। तिलतैलमेव मिष्टं येन न दृष्टं घृतं क्वापि ॥”

अर्थात् जिसने कभी धीको नहीं खाया वह पुरुष तेलको ही मीठा बतलाता है। इसी प्रकार संसारी प्राणीने मोक्षानन्दका कभी अनुभव नहीं किया है इसलिये वह विषयजन्य सुखको ही सुख, आनन्द समझता है। वास्तवमें हमें इन्द्रियाँ इसलिये प्राप्त हुई हैं कि हम अनिष्टसे बचे रहें। स्पर्शन इन्द्रिय कोमल शरीर वाले जीवोंकी रक्षाके लिये है। एकेन्द्रियादि जीवोंका स्पर्श होते ही तुरन्त उनकी रक्षाके भाव हो जाने चाहिये। रसना इन्द्रिय भी अनिष्ट, अनुपसेव्य, अभक्ष्य खाद्योंसे बचनेके लिये है। श्रोत्र इन्द्रिय शास्त्रश्रवण, जिनगुणश्रवण करनेके लिये है। चक्षुरिन्द्रिय देवदर्शन आदिके लिये है। घ्राणोन्द्रिय भी जीवरक्षाके लिये है। मन, आत्मचिन्तन, जिनगुणचिन्तन, दूसरोंका भला विचारना आदिके लिये है। किन्तु हम लोगोंने इन्द्रियोंका दुर्लभयोग कर रखा है। कहा है :—

भोगा न भुक्ताः वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।

कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

अर्थात् भोगोंको हमने नहीं भोगा, किन्तु भोगोंने ही हमें भोग लिया, मनुष्यपर्यायको पाकर हम तपश्चरण करनेके लिये आये थे, किन्तु विषयोंमें फँसकर तपको नहीं कर सके और विषयोंने ही हमें संतप्त कर दिया। काल नहीं बीता, सारी ही सारी उम्र बीत गयी। काल पूरा नहीं हो पाता, पर हम पूरे हो जाते हैं अर्थात् हम व्यर्थके झगड़े-टंटोंमें अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। हमें जो समय प्राप्त था, उसका उपयोग नहीं करते हैं। चौथे पादमें कवि कहता है कि हम बुढ़े हो गये, पर हमारी तृष्णा बुढ़ी नहीं हुई। गरज यह है कि हम विषयोंमें लिप्त होकर अपने आपको बिलकुल भूल जाते हैं, आत्म-कल्याणकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते हैं। अतः आत्मकल्याणाश्रियोंको उचित है कि वे व्यवहारचारित्र्यका ठीक-ठीक आचरणकर अनन्तान्त गुणोंके भण्डार चिदानन्द स्वरूप शुद्धात्माकी प्राप्ति करें। इससे स्पष्ट है कि जैन दृष्टिमें चारित्र्यका कितना महत्त्व है।



करुणा : जीवकी एक शुभ परिणति

करुणाको सभी धर्मोंमें स्वीकार किया गया और उसे धर्म माना गया है। जैन धर्ममें भी वह स्वीकृत है। परन्तु वह जीवके एक शुभ भाव (परिणाम) के रूपमें अभिमत है। उसे धर्म नहीं माना। धर्म तो अहिंसाको बताया गया है। अहिंसा और करुणामें अन्तर है। अहिंसामें रागभाव नहीं होता। वह भीतरसे प्रकट होती है और स्वाभाविक होती है। अतएव वह आत्माकी विशुद्ध परिणति मानी गयी है। पर करुणा जीवके, रागके सद्भावमें, बाहरका निमित्त पाकर उपजती है। अतएव वह नैमित्तिक एवं कादाचित्क है, स्वाभाविक तथा शाश्वत नहीं।

करुणा, अनुकम्पा, कृपा और दया ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं, जो अभाव अथवा कमीसे पीड़ित प्राणीकी पीड़ाको दूर करनेके लिए उत्पन्न रागात्मक सहानुभूति अथवा सहानुभूतिपूर्वक किये जानेवाले प्रयत्नके अर्थमें व्यवहृत होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्दने करुणाका स्वरूप निम्न प्रकार दिया है—

तिसिदं बुभुविखदं वा दुहिदं दट्टूण जो दुहिदमणो ।

पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकंपा ॥^१

‘जो प्याससे तड़फ रहा है, भूखसे विकल हो रहा है और असह्य रोगादिकी वेदनासे दुःखी हो रहा है उसे देखकर दुःखी चित्त होना अनुकम्पा—करुणा है।’

इसकी व्याख्यामें व्याख्याकार अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्यने लिखा है—

‘कञ्चिदुदन्त्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रतिचिषीर्काकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा ।

ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनः खेद इति ।’

‘करुणा पात्रभेदसे दो प्रकारकी है—एक अज्ञानीकी और दूसरी ज्ञानीकी। अज्ञानीकी करुणा तो वह है जो प्यास आदिके दुःखसे पीड़ितको देखकर दयाभावसे उसके दुःखको दूर करनेके लिए चित्तमें विकलता होती है। उसकी यह करुणा चूँकि उस प्यासादिसे दुःखी प्राणीके भौतिक शरीर सम्बन्धी दुःखको ही दूर करने तक होती है—उसके आध्यात्मिक (राग, द्वेष, मोहादि) दुःखको दूर करनेमें वह अक्षम है। अतएव वह अज्ञानीकी करुणा अर्थात् स्थूल करुणा बतलायी गयी है। जिसे शरीर और आत्माका भेदज्ञान हो गया है, पर अभी बहुत ऊँचे नहीं पहुँचा है—कुछ नीचेकी श्रेणियोंमें चल रहा है, उस ज्ञानी (साधु, उपाध्याय और आचार्य) को जन्म-सन्ततिके अपार दुःखोंमें डूबे प्राणियोंको देखकर जो उनके दुःखकी निवृत्तिके लिए कुछ खेद होता है वह ज्ञानीकी करुणा है और उपर्युक्त अज्ञानीकी करुणासे वह सूक्ष्म एवं विवेकपूर्ण है। किन्तु उसमें ईषत् रागभाव रहता ही है, भले ही वह लक्ष्यमें न आये। और इसलिये अज्ञानी और ज्ञानी दोनोंकी करुणाएँ पुण्यकर्मके आस्रवकी कारण हैं।

कुन्दकुन्दने पुण्यास्रवका स्वरूप इस प्रकार दिया है—

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।

चित्ते णत्थि कलुस्सं पुष्णं जीवस्स आसवदि ॥^२

१. पंचास्तिकाय, गाथा १३७ ।

२. पंचास्तिक, गा० १३५ ।

‘जिसके शुभ राग है, अनुकम्पा (दया) रूप परिणाम है और चित्तमें अकल्पता है उसके पुण्यका आखव (आयात) होता है ।’

यहाँ दृष्टव्य है कि कुन्दकुन्दने अनुकम्पारूप परिणामको स्पष्टतया पुण्यकर्मके आगमनका कारण बतलाया है । इसका अर्थ है कि जैन धर्ममें अनुकम्पा जीवका एक शुभ भाव मात्र है, जिसमें रागांश रहनेके कारण वह पौद्गलिक पुण्यरूप कर्मका जनक है । और जो कर्मका जनक है वह धर्म नहीं हो सकता । अतएव करुणा पुण्यकर्मका कारण होनेसे धर्म नहीं है । अहिंसा, जो आत्मामें भीतरसे विकसित होती है, फूटती है, अनाकुला, स्थायिनी, स्वाभाविकी और स्व-परमुखदायिनी है—दुःख तो उससे किसीको होता नहीं, धर्म है । वस्तुका निज स्वभाव ही धर्म होता है और अहिंसा आत्माका निज स्वभाव है । वह अनैमित्तिक (अनौपाधिक) है और करुणा नैमित्तिक (औपाधिक) है । दुःखी व्यक्ति जब सामने उपस्थित होता है तभी कारुणिकके चित्तमें करुणा जन्म लेती है । अहिंसाका स्रोत, ज्यों-ज्यों मोह और आवरण हटते जाते हैं, खुलता जाता है, सदा बहता रहता और बढ़ता जाता है । दुःखी व्यक्ति अहिंसकके सामने उपस्थित हो, चाहे न हो । सम्भवतः करुणा और अहिंसाके इसी सूक्ष्म अन्तर एवं रहस्यको लक्ष्य करके योगसूत्रकार महर्षि पतञ्जलिने भी अहिंसाको सर्वाधिक महत्त्व दिया और कहा कि ‘अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः’ (यो० सू० २-३५) अहिंसाकी आत्मामें प्रतिष्ठा होनेपर समस्त प्रकारका वैर (रंजिस) छूट जाता है और अहिंसकके समक्ष विश्वके समस्त प्राणी आत्मवत् हो जाते हैं ।

जैन दार्शनिक आचार्य विद्यानन्दने करुणाको मोहविशेष (इच्छाविशेष) रूप बतलाते हुए लिखा है :—‘तेषां मोहविशेषात्मिकायाः करुणायाः सम्भवाभावात्’—(अष्टस० पृ० २८३)—करुणा मोहविशेष (इच्छा) रूप है । वह वीतरागों (केवलियों) में सम्भव नहीं है । जब विद्यानन्दसे प्रश्न किया गया कि बिना करुणाके वीतरागोंकी दूसरोंके दुःखकी निवृत्तिके लिए किये जानेवाले हितोपदेशमें प्रवृत्ति कैसे होगी ? इसका वे सयुक्तिक समाधान करते हुए कहते हैं—‘स्वभावतोपि स्वपरदुःखनिवर्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः प्रदीपवत्’ (वही पृ० २८३)—जिस प्रकार दीपक बिना करुणाके दुःखहेतु अन्धकारकी निवृत्ति स्वभावतः करता है उसी प्रकार वीतराग भी बिना करुणाके स्वपरदुःखकी निवृत्ति स्वभावतः करते हैं । विश्रुत जैन मनीषी अकलङ्क-देव भी उक्त प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं—

‘न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो निवर्त्तयति । कल्पयित्वापि कृपालुतां तत्करणस्वभाव-सामर्थ्यं मृग्यम् । एवं हि परम्परापरिश्रमं परिहरेत् ।’—अष्टश० अष्टस० पृ० २८३ ।

क्या नहीं जानते कि दीपक कृपालु होनेसे स्वपरके अन्धकारको दूर नहीं करता, अपितु उसका उक्त प्रकारका स्वभाव होनेसे वह उभयका अन्धकार मिटाता है । वीतराग भी कृपालुताके कारण स्वपरके दुःखकी निवृत्ति नहीं करते, किन्तु उनका उस प्रकारका स्वभाव होनेसे स्वपरके दुःखको दूर करनेके लिए प्रवृत्त होते हैं । यदि करुणासे दुःखनिवृत्तिपर बल दिया जाय तो वीतरागोंके करुणा माननेपर भी उनका स्वपरदुःखके निवर्तनका स्वभाव अवश्य मानना पड़ेगा । अतः क्यों नहीं, वीतरागोंके करुणाके विना भी उक्त स्वभाव ही माना जाय ।

विद्यानन्द यौक्तिक समाधानके अलावा आगमिक समाधान भी करते हैं—

ततो निःशेषान्तरायक्षयादभयदानस्वरूपमेवात्मनः ‘प्रक्षीणावरणस्य परमा दया । सर्व मोहाभावा-द्रागद्वेषयोरप्रणिधानादुपेक्षा । तीर्थकरत्वनामोदयात् हितोपदेशप्रवर्तनात् परदुःखनिराकरण-सिद्धिः ।’—अष्टस० पृ० २८३ ।

सम्पूर्ण अन्तरायके क्षयसे वीतरागोंके जो आत्माका अभयदान स्वरूप प्रकट होता है वही उनकी परमा दया है और वह दया उनके मोहाभावमें होती है, क्योंकि उस समय उनके न किसीके प्रति राग होता है और न किसीके प्रति द्वेष । इसके सिवाय वीतरागोंकी द्वितोपदेशमें प्रवृत्ति उनके विद्यमान तीर्थकरनाम-कर्मके उदयसे होती है और उस द्वितोपदेश-प्रवृत्तिसे ही परदुःखनिराकरण सिद्ध हो जाता है । अतः जैन धर्ममें अर्हंतों (वीतरागों) की द्वितोपदेशमें प्रवृत्ति बुद्ध या ईश्वरकी तरह करुणासे स्वीकार नहीं की गयी । अतएव जैन दर्शनमें वीतराग परमात्माको अहिंसक माना गया है, कारुणिक नहीं । आचार्य समन्तभद्रने अहिंसाको जगद्विदित परमब्रह्म बतलाया है—‘अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।’—(स्वयम्भू०)

इस प्रकार कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलङ्क, विद्यानन्द जैसे युगप्रधान समर्थ शास्त्रकारोंके विवेचनसे अवगत होता है कि करुणा मोहविशेष (शुभेच्छा) रूप होनेसे वह परमार्थतः धर्म नहीं है—वह आत्माका एक विकार ही है । शुभपरिणतिरूप होनेसे करुणाको व्यवहारतः धर्म कहा गया है । कुन्दकुन्दने स्पष्ट कहा है कि करुणासे पुण्यसंचय होता है । इस पुण्यसे भोग प्राप्त होते हैं और भोगोंसे आसक्ति तथा आसक्ति जन्म-जन्मान्तरोत्पत्तिका कारण है । शास्त्रोंमें कहीं-कहीं ‘धर्मस्य मूलं दया’ जैसे प्रतिपादनों द्वारा जो दयाको धर्मका मूल या धर्म कहा गया है वह केवल अशुभसे निवृत्ति तथा शुभमें प्रवृत्ति करानेके प्रयोजनसे कहा है । जिससे व्यक्ति अशुभसे बचा रहे और शुभमें प्रवृत्त रहे । शुभसे शुद्धकी ओर जाया जा सकता है । अतः जैनधर्ममें व्यवहार और निश्चय अथवा उपचार और परमार्थ या उपाधि और निरुपाधि इन दो दृष्टियोंकी ध्यानमें रख कर प्रतिपादन है । निष्कर्ष यह कि करुणा व्यवहारतः धर्म है, परमार्थतः नहीं । परमार्थतः अहिंसा धर्म है ।



जैनधर्म और दीक्षा

भारतकी संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन है। यहाँ समय-समयपर अनेक महापुरुषोंने जन्म लिया और विश्वको नीति एवं कल्याणका मार्ग प्रदर्शित किया है। भगवान् ऋषभदेव इन्हीं महापुरुषोंमेंसे एक और प्रथम महापुरुष है, जिन्होंने इस विकसित युगके आदिमें नीति व स्वपर-कल्याणका संसारको पथ प्रदर्शित किया। श्रीमद्भागवतमें इनका उल्लेख करते हुए लिखा है—

‘जब ब्रह्माने देखा कि मनुष्य-संख्या नहीं बढ़ी तो उसने स्वयम्भू मनु और सत्यरूपाको उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामका पुत्र हुआ। प्रियव्रतके अनीध्र, अनीध्रके नाभि और नाभि तथा मरुदेवीके ऋषभदेव हुए। ऋषभदेवने इन्द्रके द्वारा दी गई जयन्ती नामकी भार्यामें सौ पुत्र उत्पन्न किये और बड़े पुत्र भरतका राज्याभिषेक करके संन्यास ले लिया। उस समय उनके पास केवल शरीर था और वे दिग्-म्बर वेषमें नग्न विचरण करते थे। मौनसे रहते थे। कोई डराये, मारे, ऊपर धूके, पत्थर फेंके, मूत्र-विष्टा फेंके तो इस सबकी ओर ध्यान नहीं देते थे। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान् ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्दका अनुभव करते हुए विचरते थे।’^१

जैन वाङ्मयमें प्रायः इसी प्रकारका वर्णन है। कहा गया है कि भगवान् ऋषभदेव युगके प्रथम प्रजापति और प्रथम संन्यासमार्ग प्रवर्तक थे। उन्होंने ही सबसे पहले लोगोंको खेती करना, व्यापार करना, तलवार चलाना, लिखना-पढ़ना आदि सिखाया था और बादको स्वयं प्रबुद्ध होकर संसारका त्याग करके संन्यास लिया था तथा जगतको आत्मकल्याणका मार्ग बताकर ब्रह्मपद (अपार शान्तिके आगार निर्वाण) को प्राप्त किया था।^२

इन दोनों वर्णनोंसे दो बातें ज्ञातव्य हैं। एक तो यह कि भ० ऋषभदेव भारतीय संस्कृति एवं सभ्यताके आद्य प्रवर्तक हैं। दूसरी यह कि उन्होंने आत्मिक शान्तिको प्राप्त करनेके लिए राज-पाट आदि समस्त भौतिक वैभवका त्यागकर और शान्तिके एकमात्र उपाय संन्यास—दैगम्बरी दीक्षाको अपनाया था। इससे यह ज्ञात होता है कि जैनधर्ममें प्रारम्भसे दीक्षाका महत्त्व एवं विशिष्ट स्थान है।

एक बात और है। जैनधर्म आत्माकी पवित्रताकी शिक्षा देता है। शिक्षा ही नहीं, बल्कि उसके आचरणपर भी वह पूरा जोर एवं भार देता है और ये दोनों चीजें बिना सबको छोड़े एवं दिग्म्बरी दीक्षा लिये प्राप्त नहीं हो सकतीं। अतः आत्माकी पवित्रताके लिये दीक्षाका ग्रहण आवश्यकीय है।

यद्यपि संसारके विविध प्रलोभनोंमें रहते हुए आत्माको पवित्र बनाना तथा इन्द्रियों व मन और शरीरको अपने काबूमें रखना बड़ा कठिन है। किन्तु इन कठिनाइयोंपर विजय पाना और समस्त विकारोंको दूर करके आत्माको पवित्र बनाना असंभव नहीं है। जो विशिष्ट आत्माएँ उनपर विजय पा लेती हैं उन्हीं

१. पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, जैनधर्म, पृ० ५।

२. स्वामी समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्रगत ऋषभजिनस्तोत्र, श्लोक २, ३, ४।

महान आत्माओंको जैनधर्ममें 'जिन' अर्थात् विकारोंको जीतनेवाला कहा है तथा उनके मार्गपर चलने वालोंको 'जैन' बतलाया है ।

ये जैन दो भागोंमें विभक्त हैं :—१ गृहस्थ और साधु । जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांच व्रतोंको एक देश पालते हैं उन्हें गृहस्थ अथवा श्रावक कहा गया है । इनके ऊपर कुटुम्ब, समाज और देशका भार होता है और इसलिये उनके संरक्षण एवं समृद्धिमें योगदान देनेके कारण ये इन व्रतोंको साधुकी तरह पूर्णतः नहीं पाल पाते । पर ये उनके पालनेकी भावना अवश्य रखते हैं । खेद है कि आज हम उक्त भावनासे भी बहुत दूर हो गये हैं और समाज, देश, धर्म तथा कुटुम्बके प्रति अपने कर्त्तव्योंको भूल गये हैं ।

जैनोंका दूसरा भेद साधु है । साधु उन्हें कहा गया है जो विषयेच्छा रहित हैं, अनारम्भी हैं, अपरिग्रही हैं और ज्ञान-ध्यान तथा तपमें लीन हैं । ये कभी किसीका बुरा नहीं सोचते और न बुरा करते हैं । मिट्टी और जलको छोड़कर किसी भी अन्य वस्तुको ये बिना दिये ग्रहण नहीं करते । अहिंसा आदि उक्त पांच व्रतोंको ये पूर्णतः पालन करते हैं । जमीन पर सोते हैं । यथाजात दिगम्बर नग्न वेषमें रहते हैं । सूक्ष्म जीवोंकी रक्षाके लिये पीछी, शौच-निवृत्तिके लिये कमण्डलु और स्वाध्यायके लिये शास्त्र इन तीन धर्मोपकरणोंके सिवाय और कोई भी परिग्रह नहीं रखते । ये जैन शास्त्रोक्त २८ मूलगुणोंका पालन करते हुए अपना तमाम जीवन परकल्याणमें तथा आत्मसाधना द्वारा बन्धनमुक्तिमें व्यतीत करते हैं । इस तरह कठोर चर्चा द्वारा साधु 'जिन' अर्थात् परमात्मा पदको प्राप्त करते हैं और हमारे उपास्य एवं पूज्य होते हैं । भर्तृहरिने भी वैराग्यशतकमें इस दि० साधु वृत्तिकी आकांक्षा एवं प्रशंसा की है । यथा—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।

कदाऽहं संभविष्यामि कर्मनिर्मूलन-क्षमः ॥

'कब मैं अकेला विहार करनेवाला, निःस्पृही, शान्त, पाणिपात्री (अपने ही हाथोंको पात्र बना कर भोजन लेनेवाला), दिगम्बर नग्न होकर कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ होऊँगा ।'

नग्न-मुद्राका महत्त्व

नग्नमुद्रा सबसे पवित्र, निर्विकार और उच्च मुद्रा है । श्रीमद्भागवतमें ऋषभदेवका चरित वर्णित है । उसमें उन्हें 'नग्न' ही विचरण करनेवाला बतलाया है । हिन्दू-परम्पराके परमहंस साधु भी नग्न ही विचरते थे । शुक्राचार्य, शिव और दत्तात्रेय ये तीनों योगी नग्न रहते थे । अवधूतोंकी शाखा दिगम्बर वेषको स्वीकार करती थी और उसीको अपना खास बाह्य वेष मानती थी । ऋक्संहिता (१०-१३६-२) में 'मुनयो वातवसनाः' मुनियोंको वातवसन अर्थात् नग्न कहा है । पद्मपुराणमें नग्न साधुका चरित देते हुए लिखा है—

नग्नरूपो महाकायः सितमुण्डो महाप्रभः ।

मार्जनीं शिखिपक्षाणां कक्षायां स हि धारयन् ॥

'वे अत्यन्त कान्तिमान् और शिर मुड़ाये हुए नग्न वेषको धारण किये हुए थे । तथा बगलमें मयूर पंखोंकी पीछी भी दबाये हुए थे ।' इसी तरह जावालोपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, परमहंसोपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद् आदि उपनिषदोंमें भी नग्नमुद्राका वर्णन है ।

ऐतिहासिक अनुसन्धानसे भी नग्नमुद्रापर अच्छा प्रकाश पड़ता है । मेजरजनरल जे० जी० आर फर्लाङ्ग अपनी Short Studies in Science of Comparative Religions (वैज्ञानिक दृष्टिसे धर्मोंका

तुलनात्मक सक्षिप्त अध्ययन) नामकी पुस्तकमें लिखते हैं कि 'हमने दुनियाके सर्व धार्मिक विचारोंको सच्चे भावसे पढ़कर यह समझा है कि इन सबका मूलकारण विचारवान् जैनियोंका यतिधर्म है। जैन साधु सब भूमियोंमें सुदूर पूर्वकालसे ही अपनेको संसारसे भिन्न करके एकान्त वन व पर्वतकी गुफाओंमें पवित्र ध्यानमें मग्न रहते थे।'

डाक्टर टाम्स कहते हैं कि 'जैन साधुओंका नग्न रहना इस मतकी बति प्राचीनता बताता है।'

सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें नग्न गुह्रोंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। मुद्राराक्षसके कर्ता प्रसिद्ध विद्वान् कवि कालिदासने लिखा है कि इसीलिये जासूसोंको नग्न साधुके देशमें घुमाया जाता था। नग्न साधुओंके सिवा दूसरोंकी पहुँच राजघरानोंमें उनके अन्तःपुर तक नहीं हो पाती थी। इससे यह विदित हो जाता है कि जैन निर्ग्रन्थ साधु कितने निर्विकार, निःस्पृही, विश्वासपात्र और उच्च चारित्रवान् होते हैं और उनकी यह नग्नमुद्रा बच्चेकी तरह कितनी विकारहीन एवं प्राकृतिक होती है।

साधुदीक्षाका महत्त्व

इस तरह आत्म-शुद्धिके लिये दिगम्बर साधु होने अथवा उसकी दीक्षा ग्रहण करनेका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। जब मुमुक्षु श्रावकको संसारसे निर्वेद एवं वैराग्य हो जाता है तो वह उक्त साधुकी दीक्षा लेकर साधनामय जीवन बिताता हुआ आत्म-कल्याणकी ओर उन्मुख होता है। जब उसे आत्मसाधना करते-करते आत्मदृष्टि (सम्यग्दर्शन), आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) और आत्मचरण (सम्यक्चारित्र) ये तीन महत्त्वपूर्ण आत्म-गुण प्राप्त हो जाते हैं और पूर्ण वीतराग सर्वज्ञ बन जाता है तो वह उन गुणोंको प्राप्त करनेका दूसरोंको भी उपदेश करता है। अतएव साधु-दीक्षा एवं तपका ग्रहण स्वपर-कल्याणका कारण होनेसे उसका जैन धर्ममें विशिष्ट स्थान है। दूसरोंके लिये तो वह एक आनन्दप्रद उत्सव है ही, किन्तु साधुके लिये भी वह अपूर्व आनन्दकारक उत्सव है। और इसीसे पण्डितप्रवर दौलतरामजीने निम्न पद्यमें भव-भोगविरामी मुनियोंके लिये 'बड़भागी' कहा है—

'मुनि सकलव्रती बड़भागी, भव-भोगनर्ते वैरागी।
वैराग्य उपावन माई, चिन्तौ अनुप्रेक्षा भाई॥

जैन शास्त्रोंमें बतलाया गया है कि तीर्थंकर जब संसारसे विरक्त होते हैं और मुनिदीक्षा लेनेके लिये प्रवृत्त होते हैं तो एक भवावतारी, सदा ब्रह्मचारी और सदैव आत्मज्ञानी लौकान्तिक देव उनके इस दीक्षा-उत्सवमें आते हैं और उनके इस कार्यकी प्रशंसा करते हैं। पर वे उनके जन्मादि उत्सवोंपर नहीं आते। इससे साधु-दीक्षाका महत्त्व विशेष ज्ञात होता है और उसका कारण यही है कि वह आत्माके स्वरूपलाभमें तथा परकल्याणमें मुख्य कारण है।

धर्म : एक चिन्तन

धर्मका स्वरूप

जैन संस्कृतिमें धर्मका स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि धर्म वह है जो प्राणियोंको संसारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखमें पहुँचाये—उसे प्राप्त कराये। आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्डक-श्रावकाचारमें 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्तिसे फलित होनेवाला धर्मका यही स्वरूप बतलाया है—

देशायामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम् ।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥

प्रश्न है कि संसारके दुःखोंका कारण क्या है और उत्तम सुखकी प्राप्तिके साधन क्या है, क्योंकि जब तक दुःखोंके कारणोंको ज्ञातकर उनकी निवृत्ति नहीं की जायगी तथा उत्तम सुखकी प्राप्तिके साधनोंको अवगत कर उन्हें अपनाया नहीं जायेगा तब तक न उन दुःखोंकी निवृत्ति हो सकेगी और न उत्तम सुख ही प्राप्त हो सकेगा ? इस प्रश्नका उत्तर भी इसी ग्रन्थमें विशदताके साथ दिया है। उन्होंने कहा है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनोकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥

'उत्तम सुखको प्राप्त करनेका साधन सद्दृष्टि—सम्यक् श्रद्धा (निष्ठा), सज्ज्ञान (सम्यक् बोध) और सद्द्वृत्त—मदाचरण (सम्यक् आचरण) इन तीनोंकी प्राप्ति है और दुःखोंके कारण इनसे विपरीत—मिथ्या-श्रद्धा, मिथ्याज्ञान और मिथ्या आचरण है, जिनके कारण संसारकी परम्परा—संसार-परिभ्रमण होता है।'

तात्पर्य यह है कि धर्मका प्रयोजन अथवा लक्ष्य दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति है। और प्रत्येक प्राणी, चाहे वह किसी भी अवस्थामें हो, यही चाहता है कि हमें दुःख न हो, हम सदा सुखी रहें। वास्तवमें दुःख किसीको भी इष्ट नहीं है, सभीको सुख इष्ट है। तब इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्ति किसे इष्ट नहीं है और कौन उसके लिए प्रयत्न नहीं करता ? अनुभवकी साक्षीके साथ यही कहा जा सकता है कि सारा विश्व निश्चय ही ये दोनों बातें चाहता है और इसलिए धर्मके प्रयोजन दुःख-निवृत्ति एवं सुख-प्राप्तिमें किसीको भी मतभेद नहीं हो सकता। हाँ, उसके साधनोंमें मतभेद हो सकता है।

जैन धर्मका दृष्टिकोण

जैन धर्मका दृष्टिकोण इस विषयमें बहुत ही स्पष्ट और सुलझा हुआ है। उसका कहना है कि वस्तुका स्वभाव धर्म है—'वस्तुसहावो धम्मो।' आत्मा भी एक वस्तु है और उसका स्वभाव रत्नत्रय है, अतः रत्नत्रय आत्माका धर्म है। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य ये तीन असाधारण आत्मगुण 'रत्नत्रय' कहे जाते हैं। जब आत्मा इन तीन गुणरूप अपने स्वभावमें स्थिर होता है तो उसे वस्तुतः सुख प्राप्त होता है और दुःखसे छुटकारा मिल जाता है। संसार दशामें आत्माका उक्त स्वभाव मिथ्यात्व, अज्ञान, क्रीध, मान, मात्सर्य, छल-कपट, दम्भ, असहिष्णुता आदि दुःप्रवृत्तियों अथवा बुराइयोंसे युक्त रहता है और इसलिए स्वभाव स्वभावरूपमें नहीं, किन्तु विभावरूपमें रहता है। इस कारण उसे न सच्चा सुख

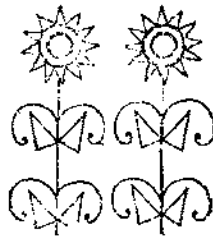
मिलता है और न दुःखसे छूट पाता है। तात्पर्य यह कि आत्माका उक्त स्वभाव अथवा धर्म आत्मामें अपने रूपमें यदि उपलब्ध है तो आत्माको अवश्य सुख प्राप्त होता है और उसके दुःखोंका भो अन्त हो जाता है। अतः जैन धर्मका दृष्टिकोण प्रत्येक प्राणीको दुःखसे छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) की ओर पहुँचाने का है। इसीसे जैन धर्ममें रत्नत्रय (सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को धर्म कहा गया है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको अधर्म बतलाया गया है, जो संसार-परिभ्रमणका कारण है। जैसाकि हम ऊपर आचार्य समन्तभद्रके उल्लिखित धर्मके स्वरूप द्वारा देख चुके हैं।

इससे यह सहजमें जान सकते हैं कि जीवनको पूर्ण सुखी, शान्त, निराकुल और दुःख रहित बनाने के लिए हमें धर्म अर्थात् स्वभावकी उपलब्धिकी कितनी भारी आवश्यकता है। इस स्वभावकी उपलब्धिके लिये हमें उसके तीनों रूपों—अङ्गों—श्रद्धा, ज्ञान और आचारको अपनाना परमावश्यक है। श्रद्धा-शून्य ज्ञान—विचार और आचार तथा विचारशून्य श्रद्धा एवं आचार और आचारहीन श्रद्धा एवं विचार संसार-परम्पराको काटकर पूर्ण सुखी नहीं बना सकते। अतः इन तीनोंकी ओर सुखाभिलाषियों एवं दुःख-निवृत्तिके इच्छुकोंको ध्यान रखना आवश्यक एवं अनिवार्य है।

आज सारा विश्व त्रस्त और भयभीत है। इस त्रास और भयसे मुक्त होनेके लिए वह छटपटा रहा है। पर उसके ज्ञान और प्रयत्न उचित दिशामें नहीं हो रहे। इसका कारण उसका मन अशुद्ध है। प्रायः सबके हृदय कलुषित हैं, दुर्भावनासे युक्त हैं, दूसरोंको पददलित करके अहंकारके उच्च शिखरपर आसीन रहनेकी भावना समाई हुई है और इस तरह न जाने कितनी दुर्भावनाओंसे वह भरा हुआ है। यह वाक्य अक्षरशः सत्य है कि 'भावना भवनाशिनी, भावना भवद्विनी' अर्थात् भावना ही संसारके दुःखोंका अन्त करती है और भावना ही संसारके दुःखोंको बढ़ाती है।

यदि विश्व जैन धर्मके उसूलोंपर चले तो वह आज ही सुखी और त्रासमुक्त हो सकता है। वह अहंकारको छोड़ दे, रोषको त्याग दे, असहिष्णुताको अलग कर दे, दूसरोंको सताने और अतिसंग्रहकी वृत्तिको सर्वथा तिलाञ्जलि दे दे तथा सर्व संसारके सुखी होनेकी भावनाको—'भावना विन-रात मेरी सब सुखी संसार हो'—अपने हृदयमें समा ले तथा वैसी प्रवृत्ति भी करे। अनेकान्तके विचार द्वारा विचार-वैमत्यको और अहिंसा, अपरिग्रह आदिके सुखद आचार द्वारा आचार-संघर्षको मिटाकर वह आगे बढ़े तो वह त्रस्त एवं दुखी न रहे।

अतः श्रद्धा समन्वित ज्ञान और आचार रूप धर्म ही व्यक्ति-व्यक्तिको सुखी कर सकता है और दुःखोंसे उसे मुक्त कर सकता है। इसलिए धर्मका पालन कितना आवश्यक है, यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे स्पष्ट है।



संन्यक्त्वका अडूढदृष्टि अङ्ग : ँक महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धान्त

यों तो सभी दर्शनों ँवं मतोंमें अपने-अपने सिद्धान्त ँवं आदर्श हैं । पर जैन दर्शनके आदर्श ँवं सिद्धान्त किसी व्यक्ति या समाज विशेषको लक्ष्यमें रखकर स्थापित नहीं हुए । वे हर व्यक्ति, हर समाज हर समय और हर क्षेत्रके लिए उदित हुए हैं । उनका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति और समाजका उत्थान तथा कल्याण करना है । अतएव जैनधर्मके प्रवर्तकों ँवं स्थापकोंने जहाँ आत्म-विकास तथा आत्म-कल्याणपर बल दिया है वहाँ बिना किसी चौकाबाजीके दूसरोंके, चाहे वे उनके अनुयायी हों या न हों, उत्थान तथा कल्याणका भी ध्येय रखा है । जैन दर्शन जैनधर्मके इसी ध्येयकी पूर्तिके लिए उनके द्वारा आविष्कृत हुआ है । धर्म और दर्शनमें यही मौलिक अन्तर है कि धर्म श्रद्धामूलक है और दर्शन विचारमूलक । जब तक दर्शन द्वारा धर्मको पोषण नहीं मिलता तब तक वह धर्म कोरा अन्धानुकरण समझा जाता है । अतः आवश्यक है कि धर्म-संस्थापक धर्मको दर्शन द्वारा प्राणवान् बनायें । ज्ञात होता है कि इसी दृष्टिके सामने रखकर लोककी गतानुगतिकता ँवं अन्धानुकरणको रोकने तथा उचित ँवं सत्य मार्गका अनुसरण करनेके लिए जैन मनीषियों तथा सन्तोंने धर्मके उपदेशके साथ दर्शनका भी निरूपण किया है और उसके सिद्धान्तोंकी स्थापना की है । आज हम इस छोटे-से लेखमें जैन-दर्शनके महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धान्तके सम्बन्धमें विचार करेंगे ।

परीक्षण-सिद्धान्त : ँक वैज्ञानिक तरीका

यह जैन-दर्शनका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और प्रमुख सिद्धान्त है । इसके द्वारा बताया गया है कि किसी बातको ठोक-बजाकर—परीक्षा करके ग्रहण करो । उसे इसलिए ग्रहण मत करो कि वह अमुककी कही है और उसे इसलिए मत छोड़ो कि अमुककी कही हुई नहीं है । परीक्षाको कसौटी पर उसे कस लो और उसकी सत्यता-असत्यताको परख लो । यदि परख द्वारा वह सत्य जान पड़े, सत्य साबित हो तो उसे स्वीकार करो और यदि सत्य प्रमाणित न हो तो उसे स्वीकार मत करो, उससे ताटस्थ (उपेक्षा—न राग और न द्वेष) रखो । जीवन बहुत ही अल्प है और इस अल्प जीवनमें अनेक कर्तव्य विधेय हैं । उसके साथ खिलवाड़ नहीं होना चाहिए । ँक पैसेकी हाँडी खरीदी जाती है तो वह भी ठोक-बजाकर ली जाती है । तो धर्मके क्रय (ग्रहण) में भी हाँडीकी नीतिके क्यों नहीं अपनाना चाहिए ? उसे भी परीक्षा करके ग्रहण करना चाहिए । अतः जीवन-विकासके मार्गको चुननेके लिए परीक्षण-सिद्धान्त नितांत आवश्यक है और उसे सदैव उपयोगमें लाना चाहिए । ँक बार लौकिक कार्योंमें उसकी उपेक्षा कर भी दी जाय, यद्यपि वहाँ भी उसकी उपेक्षा करनेसे भयंकर अलाभ और हानियाँ उठानी पड़ती हैं, पर धर्मके विषयमें उसकी उपेक्षा नहीं होनी चाहिए ।

ँक बारकी बात है । काशीमें पंचकोशीकी यात्रा अश्विन-कार्तिकमें आरम्भ हो जाती है और लोग इस यात्राको पैदल चलकर करते हैं । यात्री गंगाजीके घाटोंके किनारे-किनारे जाते हैं । और सभी स्याद्वाद महाविद्यालयके जैन घाट (प्रभुघाट) से निकलते हैं । ँक दिन हम लोगोंको क्या सूझा कि जैन घाटपर जाकर ँक किनारे दो-तीन पत्थर रख दिए और उनपर फूल डालकर पानी छिड़क दिया । जब हम लोग वहाँसे चुप-चाप चले आये और विद्यालयके घाटपर आकर खड़े हो गये, तो थोड़ी ही देरमें हम देखते हैं कि

वहाँ फूलों, मालाओं, खीलों और पैसोंका ढेर लग गया है। किसीने यह नहीं विचार किया कि यहाँ केवल पत्थर पड़े हैं, किसी देवताकी मूर्ति नहीं है तो फिर फूल आदि क्यों चढ़ाये जायें? इसीको गतानुगतिकता अथवा अन्धानुकरण कहते हैं। जैन-दर्शन कहता है कि ऐसी गतानुगतिकतासे कोई लाभ नहीं होता, प्रत्युत वह अज्ञानको बढ़ाती है। अतः धर्मके सम्बन्धमें परीक्षा-सिद्धान्त आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

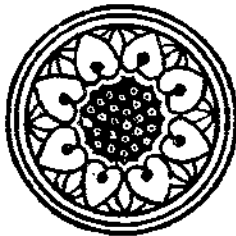
जैनधर्ममें जहाँ सम्यक्त्वके आठ अंगोंका वर्णन किया गया है वहाँ उनमें एक 'अमूढदृष्टि' अङ्ग भी बतलाया गया है। यह 'अमूढदृष्टि' अंग परीक्षा-सिद्धान्तको छोड़कर दूसरी चीज नहीं है। सत्यके खोजी-की दृष्टि निश्चय ही अमूढा (मूढ़ा—अन्धी नहीं—विवेकयुक्त) होना चाहिए। उसके बिना वह सत्यको खोज सही सही नहीं कर सकता। जैन दर्शनके इस अमूढदृष्टि बनाम परीक्षण-सिद्धान्तके आधारपर जैन चिन्तकोंने यहाँ तक धोषणा की है कि देव (आप्त) को भी उसकी परीक्षा करके अपना उपास्य मानो। आ० हरिभद्र सूरिने लिखा है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु । युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

'महावीरमें मेरा अनुराग नहीं है और कपिलादिकोंमें द्वेष नहीं है। किन्तु जिसकी बात युक्तिपूर्ण है वह ग्राह्य है।'

स्वामी समन्तभद्राचार्यने 'आप्तमीमांसा' नामका एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ ही इसी विषयपर लिखा है, जिसमें उन्होंने भगवान महावीरकी परीक्षा की है और परीक्षाके उपरान्त उन्हें उनमें परमात्माके योग्य गुणोंको पाकर 'आप्त' स्वीकार किया है। साथ ही उनके वचनों (तत्त्वोपदेशों—स्याद्वाद) की भी परीक्षा की है। आचार्य विद्यानन्द आदि उत्तरकालीन जैन तकलेखकोंने भी 'आप्तपरीक्षा' जैसे परीक्षा-ग्रन्थोंका निर्माण करके परीक्षण-सिद्धान्तको उद्दीपित किया है। वस्तुतः सत्यका ग्रहण श्रद्धासे नहीं, परीक्षासे होता है। उसके बिना अन्य उपाय नहीं है।

जिस परीक्षा-सिद्धान्तको जैन विचारकोंने हजारों वर्ष पूर्व जन्म दिया उसीको आज समूची दुनिया स्वीकार करने लगी है। इतना ही नहीं, अपनी बातकी प्रामाणिकताके लिए उसे सर्वोच्च कसौटी माना जाने लगा है और उसकी आवश्यकता मानी जाती है। वह विज्ञान (Science) के नामसे सबकी जिद्वानोंपर है। इस विज्ञानके बल पर जहाँ भौतिक प्रयोग सत्य सिद्ध किये जा रहे हैं वहाँ प्रायः सभी मत वाले अपने सिद्धान्त भी सिद्ध करनेको उद्यत हैं। जैन धर्मका 'अमूढदृष्टि' सिद्धान्त ऐसा सिद्धान्त है कि हम न धोखा खा सकते हैं और न अविवेकी एवं अन्धश्रद्धालु बन सकते हैं। अतः इस सिद्धान्तका पालन प्रत्येकके लिए सुखद है।



महावीरकी धर्म-देशना

महावीरका जन्म

आजसे २५५१ वर्ष पहले लोकवन्द्य महावीरने विश्वके लिए स्पृहणीय भारतवर्षके अत्यन्त रमणीक पुण्य-प्रदेश विदेहदेश (बिहार प्रान्त) के 'कुण्डपुर' नगरमें जन्म लिया था। 'कुण्डपुर' विदेहकी राजधानी वैशाली (वर्तमान बसाढ़) के निकट बसा हुआ था और उस समय एक सुन्दर एवं स्वतन्त्र गणसत्तात्मक राज्यके रूपमें अवस्थित था। इसके शासक सिद्धार्थ नरेश थे, जो लिच्छवी जातृवंशी थे और बड़े न्याय-नीति-कुशल एवं प्रजावत्सल थे। इनकी शासन-व्यवस्था अहिंसा और गणतंत्र (प्रजातंत्र) के सिद्धान्तोंके आधारपर चलती थी। ये उस समयके नौ लिच्छवि (बज्जि) गणोंमें एक थे और उनमें इनका अच्छा सम्मान तथा आदर था। सिद्धार्थ भी उन्हें इसी तरह सम्मान देते थे। इसीसे लिच्छवी गणोंके बारेमें उनके पारस्परिक, प्रेम और संगठनकी बातलाते हुए, बौद्धोंके दीघनिकाय-अट्ठकथा आदि प्राचीन ग्रन्थोंमें कहा गया है कि 'यदि कोई लिच्छवि बीमार होता तो सब लिच्छवि उसे देखने आते, एकके घर उत्सव होता तो उसमें सब सम्मिलित होते, तथा यदि उनके नगरमें कोई साधु-सन्त आता तो उसका स्वागत करते थे।' इससे मालूम होता है कि अहिंसाके परम पुजारी नृप सिद्धार्थके सूक्ष्म अहिंसक आचरणका कितना अधिक प्रभाव था? जो साथी नरेश जैन धर्मके उपासक नहीं थे वे भी सिद्धार्थकी अहिंसा-नीतिका समर्थन करते थे और परस्पर भ्रातृत्व-पूर्ण समानताका आदर्श उपस्थित करते थे।

सिद्धार्थके इन्हीं समभाव, प्रेम, संगठन, प्रभावादि गुणोंसे आकृष्ट होकर वैशालीके (जो विदेह देशकी तत्कालीन सुन्दर राजधानी तथा लिच्छवि नरेशोंके प्रजातंत्रकी प्रवृत्तियोंकी केन्द्र एवं गौरवपूर्ण नगरी थी) प्रभावशाली नरेश चेटकने अपनी गुणवती राजकुमारी त्रिशलाका विवाह उनके साथ कर दिया था। त्रिशला चेटककी सबसे प्यारी पुत्री थी, इसलिए चेटक उन्हें 'प्रियकारिणी' भी कहा करते थे। त्रिशला अपने प्रभावशाली सुयोग्य पिताकी सुयोग्य पुत्री होनेके कारण पैतृकगुणोंसे सम्पन्न तथा उदारता, दया, विनय, शीलादि गुणोंसे भी युक्त थी।

इसी भाग्यशाली दम्पति—त्रिशला और सिद्धार्थ—को लोकवन्द्य महावीरको जन्म देनेका अचिन्त्य सौभाग्य प्राप्त हुआ। जिस दिन महावीरका जन्म हुआ वह चैत सुदी तेरसका पावन दिवस था।

महावीरके जन्म लेते ही सिद्धार्थ और उनके परिवारने पुत्रजन्मके उपलक्ष्यमें खूब खुशियाँ मनाईं। गरीबोंको भरपूर धन-धान्य आदि दिया और सबकी मनोकामनाएँ पूरी कीं। तथा तरह-तरहके गायन-वादित्रादि करवाये। सिद्धार्थके कुटुम्बी जनों, समशील मित्रनरेशों, रिश्तेदारों और प्रजाजनोंने भी उन्हें बधाइयाँ भेजीं, खुशियाँ मनाईं और याचकोंको दानादि दिया।

महावीर बाल्यावस्थामें ही विशिष्ट ज्ञानवान् और अद्वितीय बुद्धिमान् थे। बड़ी-से-बड़ी शंकाका समाधान कर देते थे। साधु-सन्त भी अपनी शंकाएँ पूछने आते थे। इसीलिए लोगोंने उन्हें सन्मति कहना शुरू कर दिया और इस तरह वर्धमानका लोकमें एक 'सन्मति' नाम भी प्रसिद्ध हो गया। वह बड़े वीर भी थे।

भयंकर आपदाओंसे भी नहीं घबड़ाते थे, किन्तु उनका साहसपूर्वक सामना करते थे। अतः उनके साथी उन्हें वीर और अतिवीर भी कहते थे।

महावीरका वैराग्य

महावीर इस तरह बाल्यावस्थाको अतिक्रान्त कर धीरे-धीरे कुमारावस्थाको प्राप्त हुए और कुमारावस्थाको भी छोड़कर वे पूरे ३० वर्षके युवा हो गये। अब उनके माता-पिताने उनके सामने विवाहका प्रस्ताव रखा। किन्तु महावीर तो महावीर ही थे। उस समय जनसाधारणकी जो दुर्दशा थी उसे देखकर उन्हें असह्य पीड़ा हो रही थी। उस समयकी अज्ञानमय स्थितिको देखकर उनकी आत्मा सिंहर उठी थी और हृदय दयासे भर आया था। अतएव उनके हृदयमें पूर्णरूपसे वैराग्य समा चुका था। उन्होंने सोचा—'इस समय देशकी स्थिति धार्मिक दृष्टिसे बड़ी खराब है, धर्मके नामपर अधर्म हो रहा है। यज्ञोंमें पशुओंकी बलि दी जा रही है और उसे धर्म कहा जा रहा है। कहीं अश्वमेध हो रहा है तो कहीं अजमेध हो रहा है। पशुओंकी तो बात ही क्या, नरों (मनुष्यों) का भी यज्ञ करनेके लिए, वेदोंके सूक्त बताकर जनताको प्रोत्साहित किया जाता है और कितने ही लोग नरमेध यज्ञ भी कर रहे हैं। इस तरह जहाँ देखो वहाँ हिंसाका बोल-बाला और भीषणकाण्ड मचा हुआ है। सारी पृथ्वी खूनसे लथपथ हो रही है। इसके अतिरिक्त स्त्री, शूद्र और पतितजन्तोंके साथ उस समय जो दुर्व्यवहार हो रहा है वह भी चरमसीमा पर पहुँच चुका है। स्त्री और शूद्र वेदादि शास्त्र नहीं पढ़ सकते। 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयताम्' जैसे निषेधपरक वेदादिवाक्योंकी दुहाई दी जाती है और इस तरह उन्हें ज्ञानसे बंचित रखा जा रहा है। शूद्रके साथ संभाषण, उसका अन्नभक्षण और उसके साथ सभी प्रकारका व्यवहार बन्द कर रखा है और यदि कोई करता है तो उसे कड़े-से-कड़ा दण्ड भोगना पड़ता है। पतितोंकी तो हालत ही मत पूछिये। यदि किसी ने अज्ञानवलावश या भूलसे कोई अपराध बन गया तो उसे जाति, धर्म और तमाम उत्तम बातोंसे च्युत करके बहिष्कृत कर दिया जाता है—उनके उद्धारका कोई रास्ता ही नहीं है। यह भी नहीं सोचा जाता कि मनुष्य मनुष्य है, देवता नहीं। उससे गलतियाँ हो सकती हैं और उनका सुधार भी हो सकता है।

महावीर इस अज्ञानमय स्थितिको देखकर खिन्न हो उठे, उनकी आत्मा सिंहर उठी और हृदय दयासे भर आया। वे सोचने लगे कि 'यदि यह स्थिति कुछ समय और रही तो अहिंसक और आध्यात्मिक ऋषियोंकी यह पवित्र भारतभूमि नरककुण्ड बन जायगी और मानव दानव हो जायगा। जिस भारतभूमिके मस्तकको ऋषभदेव, राम और अरिष्टनेमि—जैसे अहिंसक महापुरुषोंने ऊँचा किया और अपने कार्योंसे उसे पावन, बनाया उसके माथेपर हिंसाका वह भीषण कलंक लगेगा जो धुल न सकेगा। इस हिंसा और जड़ताको शीघ्र ही दूर करना चाहिए। यद्यपि राजकीय दण्ड-विधान—आदेशसे यह बहुत कुछ दूर हो सकती है, पर उसका असर लोगोंके शरीरपर ही पड़ेगा—हृदय एवं आत्मा पर नहीं। आत्मा पर असर डालनेके लिए तो अन्दरकी आवाज—उपदेश ही होना चाहिए और वह उपदेश पूर्ण सफल एवं कल्याणप्रद तभी हो सकता है जब मैं स्वयं पूर्ण अहिंसाकी प्रतिष्ठा कर लूँ। इसलिए अब मेरा घरमें रहना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। घरमें रहकर सुखोपभोग करना और अहिंसाकी पूर्ण साधना करना दोनों बातें सम्भव नहीं हैं।' यह सोचकर उन्होंने घर छोड़नेका निश्चय कर लिया।

उनके इस निश्चयको जानकर माता त्रिशला, पिता सिद्धार्थ और सभी प्रियजन अवाक् रह गये, परन्तु उनकी दृढ़ताको देखकर उन्हें संसारके कल्याणके मार्गसे रोकना उचित नहीं समझा और सबने उन्हें उसके लिए अनुमति दे दी। संसार-भीह सम्भजनोंने भी उनके इस लोकोत्तर कार्यकी प्रशंसा की और गुणानुवाद किया।

महावीरकी निर्ग्रन्थ-दीक्षा

राजकुमार महावीर सब तरहके सुखों और राज्यका त्यागकर निर्ग्रन्थ-अचेल हो वन-वनमें, पहाड़ों-की गुफाओं और वृक्षोंकी कोटरोंमें समाधि लगाकर अहिंसाकी साधना करने लगे। काम-क्रोध, राग-द्वेष, मोह-माया, छल-ईर्ष्या आदि आत्माके अन्तरंग शत्रुओंपर विजय पाने लगे। वे जो कायमलेशादि बाह्य तप तपते थे वह अन्तरंगकी ज्ञानादि शक्तियोंको विकसित व पुष्ट करनेके लिए करते थे। उनपर जो विघ्न-बाधाएँ और उपसर्ग आते थे उन्हें वे वीरताके साथ सहते थे। इस प्रकार लगातार बारह वर्ष तक मीन-पूर्वक तपश्चरण करनेके पश्चात् उन्होंने कर्मकलंकको नाशकर अर्हत अर्थात् 'जीवन्मुक्त' अवस्था प्राप्त की। आत्माके विकासकी सबसे ऊँची अवस्था संसार दशामें यही 'अर्हत अवस्था' है जो लोकपूज्य और लोकके लिए स्पृहणीय है। बौद्धग्रन्थोंमें इसीको 'अर्हत सम्यक् सम्बुद्ध' कहा है।

उनका उपदेश

इस प्रकार महावीरने अपने उद्देश्यानुसार आत्मामें अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा कर ली, समस्त जीवों पर उनका समभाव हो गया—उनकी दृष्टिमें न कोई शत्रु रहा और न कोई मित्र। सर्प-नेवला, सिंह-गाय जैसे जाति-विरोधी जीव भी उनके सान्निध्यमें आकर अपने वैर-विरोधको भूल गये। वातावरणमें अपूर्व शान्ति आ गई। महावीरके इस स्वाभाविक आत्मिक प्रभावसे आकृष्ट होकर लोग स्वयमेव उनके पास आने लगे। महावीरने उचित अवसर और समय देखकर लोगोंको अहिंसाका उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया। 'अहिंसा परमो धर्मः' कह कर अहिंसाको परमधर्म और हिंसाको अधर्म बतलाया। यज्ञोंमें होनेवाली पशुबलिको अधर्म कहा और उसका अनुभव तथा युक्तियों द्वारा तीव्र विरोध किया। जगह-जगह जाकर विशाल सभाएँ करके उसकी बुराइयाँ बतलाई और अहिंसाके अरिमित लाभ बतलाये। इस तरह लगातार तीस वर्ष तक उन्होंने अहिंसाका प्रभावशाली प्रचार किया, जिसका यज्ञोंकी हिंसापर इतना प्रभाव पड़ा कि पशु-यज्ञके स्थानपर शान्तियज्ञ, ब्रह्मयज्ञ आदि अहिंसक यज्ञोंका प्रतिपादन होने लगा और यज्ञमें पिष्ट पशु (आटेके पशु) का विधान किया जाने लगा। इस बातको लोकमान्य तिलक जैसे उच्च कोटिके विचारक विद्वानोंने भी स्वीकार किया है।

पशुजातिकी रक्षा और धर्मान्धताके निराकरणका कार्य करनेके साथ ही महावीरने हीनों, पतितजनों तथा स्त्रियोंके उद्धारका भी कार्य किया। 'प्रत्येक योग्य प्राणी धर्म धारण कर सकता है और अपने आत्माका कल्याण कर सकता है' इस उदार घोषणाके साथ उन्हें ऊँचे उठ सकनेका आश्वासन, बल और साहस दिया। महावीरके संघमें पापीसे पापी भी सम्मिलित हो सकते थे और उन्हें धर्म धारणकी अनुज्ञा थी। उनका स्पष्ट उपदेश था कि 'पापीसे घृणा करो, पापीसे नहीं' और इसीलिए उनके संघका उस समय जो विशाल रूप था वह तत्कालीन अन्य संघोंमें कम मिलता था। ज्येष्ठा और अंजनचोर जैसे पापियोंका उद्धार महावीरके उदारधर्मने किया था। इन्हीं सब बातोंसे महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रने महावीरके शासन (तीर्थ-धर्म) को 'सर्वोदय तीर्थ' सबका उदय करनेवाला कहा है। उनके धर्मकी यह सबसे बड़ी विशेषता है।

महावीरने अपने उपदेशोंमें जिन तत्त्वज्ञानपूर्ण सिद्धान्तोंका प्रतिपादन एवं प्रकाशन किया उन पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है :—

१. सर्वज्ञ (परमात्म) वाद—जहाँ अन्य धर्मोंमें जीवको सदैव ईश्वरका दास रहना बतलाया गया है वहाँ जैन धर्मका मन्तव्य है कि प्रत्येक योग्य आत्मा अपने अध्यवसाय एवं प्रयत्नों द्वारा स्वतन्त्र, पूर्ण एवं

ईश्वर—सर्वज्ञ परमात्मा बन सकता है। जैसे एक छह वर्षका विद्यार्थी 'अ आ इ' सीखता हुआ एक-एक दर्जेको पास करके एम० ए० और डॉक्टर बन जाता है और छह वर्षके अल्प ज्ञानको सहस्रों गुना विकसित कर लेता है, उसी प्रकार साधारण आत्मा भी दोषों और आवरणोंको दूर करता हुआ महात्मा तथा परमात्मा बन जाता है। कुछ दोषों और आवरणोंको दूर करनेसे महात्मा और सर्व दोषों तथा आवरणोंको दूर करनेसे परमात्मा कहलाता है। अतएव जैनधर्ममें गुणोंकी अपेक्षा पूर्ण विकसित आत्मा ही परमात्मा है, सर्वज्ञ एवं ईश्वर है—उससे जुदा एक रूप कोई ईश्वर नहीं है। यथार्थतः गुणोंकी अपेक्षा जैनधर्ममें ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। यदि भेद है तो वह यही कि जीव कर्म-बन्धन युक्त है और ईश्वर कर्म-बन्धन मुक्त है। पर कर्म-बन्धनके दूर हो जानेपर वह भी ईश्वर हो जाता है। इस तरह जैनधर्ममें अनन्त ईश्वर हैं। हम व आप भी कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जानेपर ईश्वर (सर्वज्ञ) बन सकते हैं। पूजा, उपासनादि जैनधर्ममें मुक्त न होने तक ही बतलाई हैं। उसके बाद वह और ईश्वर सब स्वतन्त्र व समान हैं और अनन्त गुणोंके भण्डार हैं। यही सर्वज्ञवाद अथवा परमात्मवाद है जो सबसे निराला है। त्रिपिटकों (मज्झिमनिकाय अनु. पृ. ५७ आदि) में महावीर (निगमठनातपुत्र) को बुद्ध और उनके आनन्द आदि शिष्योंने 'सर्वज्ञ सर्वदर्शी निरन्तर समस्त ज्ञान दर्शनवाला' कहकर अनेक जगह उल्लेखित किया है।

२ रत्नत्रय धर्म—जीव परमात्मा कैसे बन सकता है, इस बातको भी जैनधर्ममें बतलाया गया है। जो जीव सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप रत्नत्रय धर्मको धारण करता है वह संसारके दुखोंसे मुक्त परमात्मा हो जाता है।

(क) सम्यक्दर्शन—मूढता और अभिमान रहित होकर यथार्थ (निर्दोष) देव (परमात्मा), यथार्थ वचन और यथार्थ महात्माको मानना और उनपर ही अपना विश्वास करना।

(ख) सम्यक्ज्ञान—न कम, न ज्यादा, यथार्थ, सन्देह और विपर्यय रहित तत्त्वका ज्ञान करना।

(ग) सम्यक्चरित्र—हिंसा न करना, झूठ न बोलना, पर-वस्तुको बिना दिये ग्रहण न करना, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना अपरिग्रही होना। गृहस्थ इनका पालन एकदेश और निर्ग्रन्थ साधु पूर्णतः करते हैं।

३ सप्त तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व (वस्तुभूत पदार्थ) हैं। जो चेतना (जानने-देखनेके) गुणसे युक्त है वह जीवतत्त्व है। जो चेतनायुक्त नहीं है वह अजीवतत्त्व है। इसके पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये पाँच भेद हैं। जिन कारणोंसे जीव और पुद्गलका संबंध होता है वे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग आस्रवतत्त्व हैं। दूध-पानीकी तरह जीव और पुद्गलका जो गाढ़ सम्बन्ध है वह बन्धतत्त्व है। अनागत बन्धका न होना संवरतत्त्व है और संचित पूर्व बन्धका छूट जाना निर्जरा है और सम्पूर्ण कर्मबन्धनसे रहित हो जाना मोक्ष है। मुमुक्षु और संसारी दोनोंके लिए इन तत्त्वोंका ज्ञान करना आवश्यक है।

४ कर्म—जो जीवको परार्थीन बनाता है—उसकी स्वतंत्रतामें बाधक है वह कर्म है। इस कर्मकी वजहसे ही जीवात्मा नाना योनियोंमें भ्रमण करता है। इसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहकीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये आठ भेद हैं। इनके भी उत्तर भेद अनेक हैं।

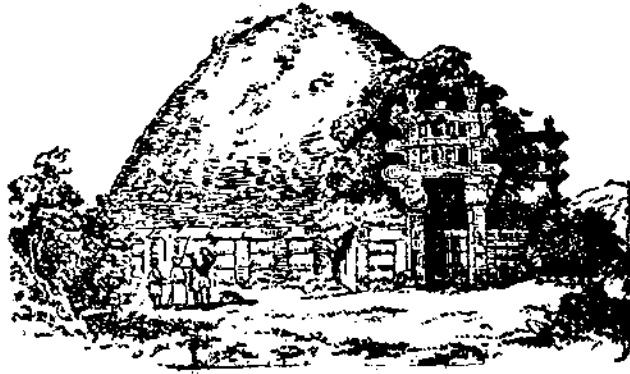
५ अनेकान्त और स्याद्वाद—जैन धर्मको ठीक तरह समझने-समझाने और मीमांसा करने-करानेके लिए महावीरने जैनधर्मके साथ ही जैन दर्शनका भी प्ररूपण किया।

(क) अनेकान्त—नाना धर्मरूप वस्तु अनेकान्त है ।

(ख) स्याद्वाद—अपेक्षासे नाना धर्मोंको कहनेवाले वचनप्रकारको स्याद्वाद कहते हैं । अपेक्षावाद, कथञ्चित्वाद आदि इसीके नाम हैं ।

इन और ऐसे ही और अनेक सिद्धान्तोंका महावीरने प्रतिपादन किया था, जो जैन शास्त्रोंसे ज्ञातव्य हैं ।

अन्तमें ७२ वर्षकी आयुमें कार्तिक वदी अमावस्याके प्रातः महावीरने पावासे निर्वाण प्राप्त किया, जिसकी स्मृतिमें जैन-समाजमें वीर-निर्वाण संवत् प्रचलित है और जो आज २४७८ चल रहा है ।



वीर-शासन और उसका महत्त्व

वीर-शासन

अन्तिम तीर्थंकर भगवान वीरने आजसे २४९८ वर्ष पूर्व बिहार प्रान्तके विपुलाचल पर्वतपर स्थित होकर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाकी पुष्यवेलामें, जब सूर्यका उदय प्राचीसे हो रहा था, संसारके संतप्त प्राणियोंके संतापको दूरकर उन्हें परम शान्ति प्रदान करनेवाला धर्मोपदेश दिया था। उनके धर्मोपदेशका यह प्रथम दिन था। इसके बाद भी लगातार उन्होंने तीस वर्ष तक अनेक देश-देशान्तरोंमें बिहार करके पथ-भ्रष्टोंको सत्पथका प्रदर्शन कराया था, उन्हें सन्मार्ग पर लगाया था। उस समय जो महान् अज्ञान-तम सर्वत्र फैला हुआ था, उसे अपने अमृत-मय उपदेशों द्वारा दूर किया था, लोगोंकी भूलोंको अपनी दिव्य वाणीसे बताकर उन्हें तत्त्वपथ ग्रहण कराया था, सम्यक्दृष्टि बनाया था। उनके उपदेश हमेशा दया एवं अहिंसासे ओत-प्रोत हुआ करते थे। यही कारण था कि उस समयकी हिंसामय स्थिति अहिंसामें परिणत हो गयी थी और यही वजह थी कि इन्द्रभूति जैसे कट्टर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी, जिन्हें बादको भगवान वीरके उपदेशोंके संकलनकर्ता—मुख्य गणधर तकके पदका गौरव प्राप्त हुआ है, उनके उपाश्रयमें आये और अन्तमें उन्होंने मुक्तिको प्राप्त किया। इस तरह भगवान वीरने अवशिष्ट तीस वर्षके जीवनमें संख्यातीत प्राणियोंका उद्धार किया और जगतको परम हितकारक सच्चे धर्मका उपदेश दिया। वीरका यह सब दिव्य उपदेश ही 'वीरशासन' या 'वीरतीर्थ' है और इस तीर्थको चलाने—प्रवृत्त करनेके कारण ही वे 'तीर्थंकर' कहे जाते हैं। वर्तमानमें उन्हींका शासन—तीर्थ चल रहा है, यह वीर-शासन क्या है? उसके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त कौनसे हैं? और उसमें क्या-क्या उल्लेखनीय विशेषतायें हैं? इन बातोंसे बहुत कम सज्जन अवगत हैं। अतः इन्हीं बातोंपर संक्षेपमें कुछ विचार किया जाता है।

समन्तभद्र स्वामीने, जो महान् ताकिक एवं परीक्षाप्रधानी प्रसिद्ध जैन आचार्य थे और जो आजसे लगभग १८०० वर्ष पूर्व हो चुके हैं, भगवान् महावीर और उनके शासनकी सयुक्तिक परीक्षा एवं जाँच की है—'युक्तिमद्बचन' अथवा 'युक्तिशास्त्राविरोधिबचन' और 'निर्दोषता' की कसौटीपर उन्हें और उनके शासनको खूब कसा है। जब उनकी परीक्षामें भगवान् महावीर और उनका शासन सौटची स्वर्णकी तरह ठोक साबित हुये तभी उन्हें अपनाया है। इतना ही नहीं, किन्तु भगवान् वीर और उनके शासनकी परीक्षा करनेके लिये अन्य परीक्षकों तथा विचारकोंको भी आमन्त्रित किया है—निष्पक्ष विचारके लिये खुला निमंत्रण दिया है।^१ समन्तभद्र स्वामीके ऐसे कुछ परीक्षा-वाक्य थोड़े-से ऊहापोहके साथ नीचे दिये जाते हैं :—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥

आप्तमीमांसा १ ।

१. युक्त्यनुशासन, का० ६३ ।

‘हे वीर ? देवोंका शाना, आकाशमें चलना, चमर, छत्र, सिंहासन आदि विभूतियोंका होना तो मायावियों—इन्द्रजालियोंमें भी देखा जाता है, इस वजहसे आप हमारे महान्—पूज्य नहीं हो सकते और न इन बातोंसे आपकी कोई महत्ता या बड़ाई है ।

समन्तभद्र स्वामीने ऐसे अनेक परीक्षा-वाक्यों द्वारा उनकी और उनके शासनकी परीक्षा की है, जिनका कथन सूत्ररूपसे आप्त-मीमांसामें दिया हुआ है । परीक्षा करनेके बाद उन्हें उनमें महत्ताकी जो बात मिली है और जिसके कारण भगवान् वीरको ‘महान्’ तथा उनके शासनको ‘अद्वितीय’ माना है । वह यह है :—
 त्वं शुद्धि-शक्तचोरुदयस्य काष्ठां, तुलाव्यतीतां जिन शान्तिरूपाम् ।
 अवापिथ ब्रह्मपथस्य नेता, महानितीयत्प्रतिवक्तमीशाः ॥

युक्त्यनुशासन ४ ।

‘हे जिन ! आपने शुद्धिके—ज्ञानावरण और दर्शनावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न आत्मीय ज्ञान-दर्शनके तथा शक्तिके—वीर्यनिरायकर्मके क्षयसे उत्पन्न आत्मबलके—परम प्रकर्षको प्राप्त किया है—आप अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और अनन्तवीर्यके धनी हैं । साथ ही अनुपम एवं अपरिमेय शान्तिरूपताकी—अनन्तमुखको भी प्राप्त हैं, इसीसे आप ‘ब्रह्मपथ’ के—मोक्षमार्गके—नेता हैं और इसीलिए आप महान् हैं—पूज्य हैं । ऐसा हम कहने—सिद्ध करनेके लिए समर्थ हैं ।’

समन्तभद्र वीरशासनको अद्वितीय बतलाते हुए लिखते हैं :—

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं, नयप्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम् ।

अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादेजिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

—युक्त्यनुशासन

‘हे वीर जिन ! आपका मत—शासन नय और प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वकी बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है और अन्य समस्त एकान्तवादियोंसे अबाध्य है—अखण्डनीय है, साथमें दया—अहिंसा, दम—इन्द्रिय-निग्रहरूप संयम, त्याग—दान अथवा समस्त परिग्रहका परित्याग और समाधि—प्रशस्त ध्यान इन चारोंकी तत्परताकी लिये हुये हैं, इसलिए वह ‘अद्वितीय’ है ।

दयाके बिना दम—संयम नहीं बन सकता और संयमके बिना त्याग नहीं और त्यागके बिना समाधि—प्रशस्त ध्यान नहीं हो सकता, इसीसे वीरशासनमें दया—अहिंसाको प्रधान स्थान प्राप्त है ।

‘वीर-शासन’ की इस महत्ताको बतलानेके बाद समन्तभद्र उसे ‘सर्वोदयतीर्थ’ भी बतलाते हैं—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुखप्रकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

युक्त्यनुशासन

‘हे वीर ! आपका तीर्थ—शासन अथवा परमागम-द्वादशाङ्गभूत—समस्त धर्मों वाला है और मुख्य गौणकी अपेक्षा समस्त धर्मोंकी व्यवस्थासे युक्त है—एक धर्मके प्रधान होनेपर अन्य बाकी धर्म गौण मात्र हो जाते हैं—उनका अभाव नहीं होता । किन्तु एकान्तवादियोंका आगमवाक्य अथवा शासन परस्पर निरपेक्ष होनेसे सब धर्मों वाला नहीं है—उनके यहाँ धर्मोंमें परस्पर अपेक्षा न होनेसे दूसरे धर्मोंका अभाव हो जाता है और उनके अभाव हो जानेपर उस अविनाभावी अभिप्रेत धर्मका भी अभाव हो जाता है । इस तरह एकान्त-में न वाच्यतत्त्व ही बनता है और न वाचकतत्त्व ही । और इसलिए हे वीर जिनन्द्र ! परस्परकी अपेक्षा रखनेके कारण—अनेकान्तमय होनेके कारण—आपका ही तीर्थ—शासन सम्पूर्ण आपदाओंका अन्त करने वाला है और स्वयं निरन्त है—अन्तर्हित अविनाशी है तथा सर्वोदयरूप है—समस्त अभ्युदयों—

आध्यात्मिक और भौतिक विभूतियोंका कारण है। तथा सर्व प्राणियोंके अभ्युदय—अभ्युत्थानका हेतु है। समन्तभद्रके इन वाक्योंसे यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः 'वीर-शासन' सर्वोदय तीर्थ कहलानेके योग्य है। उसमें वे विशेषताएँ एवं महत्ताएँ हैं, जो आज विश्वके लिए वीरशासनकी देन कही जाती हैं या कही जा सकती हैं। यहाँ वे विशेषताएँ भी कुछ निम्न प्रकार उल्लिखित हैं—

वीरशासनकी विशेषताएँ

१ अहिंसावाद, २ साम्यवाद ३ स्याद्वाद और ४ कर्मवाद। इनके अलावा वीरशासनमें और भी वाद हैं—आत्मवाद, ज्ञानवाद, चरित्रवाद, दर्शनवाद, प्रमाणवाद, नयवाद, परिग्रहपरिमाणवाद, प्रमेयवाद आदि। किन्तु उन सबका उल्लिखित चार वादोंमें ही प्रायः अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमाणवाद और नयवादके ही नामान्तर हैं और इनका तथा प्रमेयवादका स्याद्वादके साथ सम्बन्ध होनेसे स्याद्वादमें और बाकीका अहिंसावाद तथा साम्यवादमें अन्तर्भाव हो जाता है।

१. अहिंसावाद

'स्वयं जियो और जीनो दो' की शिक्षा भगवान् महावीरने इस अहिंसावाद द्वारा दी थी। जो परम आत्मा, परमब्रह्म, परमसुखी होना चाहता है उसे अहिंसाकी उपासना करनी चाहिये—उसे अपने समान ही सबको देखना चाहिये—अपना अहिंसक आचरण बनाना चाहिये। मनुष्यमें जब तक हिंसक वृत्ति रहती है तब तक आत्मगुणोंका विकास नहीं हो पाता—वह वृत्ती, अशान्त बना रहता है। अहिंसकका जीवमात्र मित्र बन जाता है—सर्व वैरका त्याग करके जातिविरोधी जीव भी उसके आश्रयमें आपसमें हिलमिल जाते हैं। क्रोध, दम्भ, द्वेष गर्व, लोभ आदि ये सब हिंसाकी वृत्तियाँ हैं। ये सच्चे अहिंसकके पासमें नहीं फटक पाती हैं। अहिंसकको कभी भय नहीं होता, वह निर्भङ्गताके साथ उपस्थित परिस्थितिका सामना करता है, कायरतासे कभी पलायन नहीं करता। अहिंसा कायरोंका धर्म नहीं है वह तो वीरोंका धर्म है। कायरताका हिंसाके साथ और वीरताका अहिंसाके साथ सम्बन्ध है। शारीरिक बलका नाम वीरता नहीं, आत्मबलका नाम वीरता है। जिसका जितना अधिक आत्मबल विकसित होगा वह उतना ही अधिक वीर और अहिंसक होगा। शारीरिक बल कदाचित् ही सफल होता देखा गया है, लेकिन सूखी हड्डियों वालेका भी आत्मबल विजयी और अभोघ रहा है।

अतः अहिंसा पर कायरताका लांछन लगाना निराधार है। भगवान् महावीरने वह अहिंसा दो प्रकारकी वर्णित की है—गृहस्थकी अहिंसा, २ साधुकी अहिंसा।

गृहस्थ-अहिंसा

गृहस्थ चार तरहकी हिंसाओं—आरम्भी, उद्योगी, विरोधी और संकल्पीमें—केवल संकल्पी हिंसाका त्यागी होता है, बाकीकी तीन तरहकी हिंसाओंका त्यागी वह नहीं होता। इसका मतलब यह नहीं है कि वह इन तीन तरहकी हिंसाओंमें असावधान बनकर प्रवृत्त रहता है, नहीं, आत्मरक्षा, जीवननिर्वाह आदिके लिये जितनी अनिवार्य हिंसा होगी वह उसे करेगा, फिर भी वह अपनी प्रवृत्ति हमेशा सावधानीसे करेगा। उसका व्यवहार हमेशा नैतिक होगा। यही गृहस्थधर्म है, अन्य क्रियाएँ—आचरण तो इसीके पालनके दृष्टिबिन्दु हैं।

साधु-अहिंसा

साधुकी अहिंसा सब प्रकारकी हिंसाओंके त्यागसे उदित होती है, उसकी अहिंसामें कोई विकल्प नहीं होता। वह अपने जीवनको सुवर्णके समान निर्मल बनानेके लिए उपद्रवों, उपसर्गोंको सहनशीलताके

साथ सहन करता है। निन्दा करने वालोंपर छुट नहीं होता और स्तुति करने वालोंपर प्रसन्न नहीं होता। वह सबपर साम्यवृत्ति रखता है। अपनेको पूर्ण सावधान रखता है। तामसी और राजसी वृत्तियोंसे अपने आपको बचाये रखता है। मार्ग चलेगा तो चार कदम जमीन देखकर चलेगा; जीव-जन्तुओंको बचाता हुआ चलेगा, हित-मित बचन बोलेगा, ज्यादा बकवाद नहीं करेगा। गरज यह कि जैन साधु अपनी तमाम प्रवृत्ति सावधानीसे करता है। यह सब अहिंसाके लिए, अहिंसातत्त्वकी उपासनाके लिए 'परमब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं' इस समस्तभद्रोक्त तत्त्वको हासिल करनेके लिए। इस तरह जैन साधु अपने जीवनको पूर्ण अहिंसामय बनाता हुआ, अहिंसाकी साधना करता हुआ, जीवनको अहिंसाजन्य अनुपम शांति प्रदान करता हुआ, विकारी पुद्गलसे अपना नाता तोड़ता हुआ, कर्म-बन्धनको काटता हुआ, अहिंसामें ही—परमब्रह्ममें ही—शाश्वतानन्दमें ही—निमग्न हो जाता है—लीन हो जाता है—सदाके लिए—अनन्तकालके लिए। फिर उसे संसारका चक्कर नहीं लगाना पड़ता। वह अजर, अमर, अविनाशी हो जाता है। सिद्ध एवं कृतकृत्य बन जाता है यह सब अहिंसाके द्वारा ही। वीर-शासनकी जड़—बुनियाद—आधार और विकास अहिंसा ही है।

वर्तमानमें जैन समाज इस अहिंसा-तत्त्व को कुछ भूल-सा गया है। इसीलिये जैनतर लोग उसके बाह्याचारको देखकर 'जैनी अहिंसा', 'वीर अहिंसा', पर कायरताका कलंक मढ़ते हुए पाये जाते हैं। क्या ही अच्छा हो, जैनी लोग अपने व्यवहारसे अहिंसाको व्यावहारिक धर्म बनाये रखनेसे सच्चे अर्थमें 'जैनी' बनें, आत्मबल पुष्ट करें, साहसी और वीर बनें, जितेन्द्रिय हों। उनकी अहिंसा केवल चिबटो-खटमल, जूँ आदिकी रक्षा तक ही सीमित न हो, जिससे दूसरे लोग हमारे दम्भपूर्ण व्यवहार—निरा अहिंसाके व्यवहार-को देखकर वीर प्रभुकी महती देन—अहिंसापर कलंक न मढ़ सकें।

२ साम्यवाद

यह अहिंसाका ही अवान्तर सिद्धान्त है, लेकिन इस सिद्धान्तकी हमारे जीवनमें अहिंसाकी ही भाँति अपनाये जानेकी आवश्यकता होनेसे 'अहिंसावाद' के समकक्ष इसकी भणना करना उपयुक्त है, क्योंकि भगवान् वीरके शासनमें सबके साथ साम्य-भाव—सद्भावनाके साथ व्यवहार करनेका उपदेश है, अनुचित राग और द्वेषका त्यागना, दूसरोंके साथ अन्याय तथा अत्याचारका बर्ताव नहीं करना, न्यायपूर्वक ही अपनी आजीविका सम्पादित करना, दूसरोंके अधिकारोंको हड़प नहीं करना, दूसरोंकी आजीविका पर नुकसान नहीं पहुँचाना, उनको अपने जैसा स्वतन्त्र और सुखी रहनेका अधिकारी समझकर उनके साथ 'वसुधैव कुटुम्बकम्'—यथा-योग्य भाईचारेका व्यवहार करना, उनके उत्कर्षमें सहायक होना, उनका कभी अपकर्ष नहीं सोचना, जीव-नोपयोगी सामग्रीको स्वयं उचित और आवश्यक रखना और दूसरोंकी रखने देना, संग्रह, लोलुपता, चूसनेकी वृत्तिका परित्याग करना ही 'साम्यवाद' का लक्ष्य है—साम्यवादकी शिक्षाका मुख्य उद्देश्य है। यदि आज विश्वमें वीरप्रभुकी यह साम्यवादकी शिक्षा प्रसूत हो जावे तो सारा विश्व सुखी और शांतिपूर्ण हो जाय।

३ स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद

इसको जन्म देनेका महान् श्रेय वीरशासनको ही है। प्रत्येक वस्तुके खरे और छोटेकी जाँच 'अनेकान्त दृष्टि'—'स्याद्वाद' की कसौटीपर ही की जा सकती है। चूँकि वस्तु स्वयं अनेकान्तात्मक है उसको वैसा माननेमें ही वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था होती है। स्याद्वादके प्रभावसे वस्तुके स्वरूप-निर्णयमें पूरा-पूरा प्रकाश प्राप्त होता है और सकल दुर्नयों एवं मिथ्या एकान्तोंका अन्त हो जाता है तथा समन्वयका एक महान्तम प्रशस्त मार्ग मिल जाता है। कुछ जैनतर विचारकोंने स्याद्वादको ठीक तरह से नहीं समझा। इसीसे उन्होंने स्याद्वादके

खंडनमें कुछ दूषण दिये हैं। शंकराचार्यने 'एकस्मिन्नसंभवात्' द्वारा 'एक जगह दो विरोधी धर्म नहीं बन सकते हैं।' यह कहकर स्याद्वादमें विरोधदूषण दिया है। किन्हीं विद्वानोंने इसे संशयवाद, छलवाद कह दिया है, किन्तु विचारनेपर उसमें इस प्रकारके कोई भी दूषण नहीं आते हैं। स्याद्वादका प्रयोजन है यथावत् वस्तुतत्त्वका ज्ञान कराना, उसकी ठीक तरहसे व्यवस्था करना, अब ओरसे देखना और स्याद्वादका अर्थ है कथंचित्वाद, दृष्टिवाद, अपेक्षावाद, सर्वथा एकान्तका त्याग, भिन्न-भिन्न पहलुओंमें वस्तुस्वरूपका निरूपण, मुख्य और गौणकी दृष्टिसे पदार्थका विचार^१। स्याद्वादमें जो 'स्यात्' शब्द है उसका अर्थ ही यही है^२ कि किसी एक अपेक्षासे—सब प्रकारसे नहीं—एक दृष्टिसे—है। 'स्यात्' शब्दका अर्थ 'सायद' नहीं है जैसा कि 'भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास' के लेखक विद्वान्ने भी समझा है। वे अपनी इस पुस्तकमें लिखते हैं कि 'स्याद्वादका वाच्यार्थ है 'सायदवाद' अंग्रेजीमें इसे 'प्रोबेबिलिज्म' कह सकते हैं। अपने अतिरिजितरूपमें स्याद्वाद संदेहवादका भाई है^३।' इसपर और आगे पीछेके जैनदर्शन सम्बन्धी उनके निबन्ध पर आलोचनात्मक स्वतन्त्र लेख ही लिखा जाना योग्य है। यहाँ तो केवल स्याद्वादको 'संदेहवाद' का भाई समझनेके विचारका चिंतन किया जायगा। उक्त लेखक यदि किसी जैन विद्वान्से 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' शब्दके अर्थको निबन्ध लिखनेके पहिले अवगत कर लेते तो इतनी स्थूल गलती उन जैसोंसे—भारतीयदर्शनशास्त्रका अपनेको अधिकारी विद्वान् समझने वालोंसे—न होती। जैन विचारकोंने 'स्यात्' शब्दका जो अर्थ किया है वह मैं ऊपर बता आया है,। देवराजव्यक्तिमें अनेक सम्बन्ध विद्यमान हैं—किसीका वह मामा है तो किसीका भानजा, किसीका पिता है तो किसीका पुत्र, इस तरह उसमें कई सम्बन्ध मौजूद हैं। मामा अपने भानजेकी अपेक्षा, पिता अपने पुत्रकी अपेक्षा, भानजा अपने मामाकी अपेक्षा, पुत्र अपने पिताकी अपेक्षासे है, इस प्रकार देवराजमें पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व, स्वस्नीयत्व आदि धर्म निश्चित रूप ही हैं—संदिग्ध नहीं हैं और वे हर समय विद्यमान हैं। 'पिता' कहे जानेके समय पुत्रपना उनमेंसे भाग नहीं जाता है—सिर्फ गौण होकर रहता है। इसी तरह जब उनका भानजा उन्हें 'मामा-मामा' कहता है उस समय वे अपने मामाकी अपेक्षा भानजे नहीं मिट जाते—उस समय भानजापना उनमें गौणमात्र होकर रहता है। स्याद्वाद इस तरहसे वस्तुधर्मोंकी गुत्थियोंको सुलझाता है—उनका यथावत् निश्चय कराता है^४—स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे ही वस्तु 'सत्'—अस्तित्ववान् है और परद्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे ही वस्तु 'असत्'—नास्तित्ववान् है आदि सात भङ्गों द्वारा ग्रहण करने योग्य और छोड़ने योग्य (गौण कर देने योग्य) पदार्थोंका स्याद्वाद हस्तामलकवत् निर्णय करा देता है। संदेह या भ्रमको वह पैदा नहीं करता है। बल्कि स्याद्वादका आश्रय लिये बिना वस्तुतत्त्वका याथातथ्य निर्णय हो ही नहीं सकता है। अतः स्याद्वादको संदेहवाद समझना नितांत असाधारण भूल है। भिन्न दो अपेक्षाओंसे विरोधी सरीखे दीख रहे (विरोधी नहीं) दो धर्मोंके एक जगह रहनेमें कुछ भी विरोध नहीं है। जहाँ पुस्तक अपनी अपेक्षा अस्तित्वधर्मवाली है वहाँ अन्य पदार्थोंकी अपेक्षा नास्तित्वधर्मवाली भी है, पर—निषेधके बिना स्वस्वरूपास्तित्व प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि स्याद्वादमें न विरोध है और न संदेह जैसा अन्य कोई दूषण; वह तो वस्तुनिर्णयका—तत्त्वज्ञानका अद्वितीय अमोघ शस्त्र है, सबल साधन है। वस्तु चूँकि अनेक धर्मात्मक है और उसका व्यवस्थापक स्याद्वाद है इसलिये स्याद्वादको ही अनेकान्तवाद भी कहते हैं। किन्तु 'अनेकान्त' और 'स्याद्वाद'में वाच्य-वाचक-सम्बन्ध है।

१. आप्तमीमांसा का० १०४।

२. आप्तमीमांसा का० १०३।

३. 'भारतीय दर्शनशास्त्रका इतिहास', पृ० १३५।

४. देखो, आप्तमीमांसा का० १५।

४. कर्मवाद

कर्म जड़ है, पौद्गलिक है, उसका जीवके साथ अनादिकालिक सम्बन्ध है। कर्मकी वजहसे ही जीव पराधीन है और सुखदुःखका अनुभव करता है। वह कर्मसे अनेक पर्यायोंको धारण करके चतुर्भूति संसारमें घूमता है। कभी ऊँचा बन जाता है तो कभी नीचा, दरिद्र होता है तो कभी अमीर, सुख होता है तो कभी विद्वान्, अन्धा होता है तो कभी बहिरा, लंगड़ा होता है तो कभी बौना, इस तरह शुभाशुभ कर्मोंकी बदौलत दुनियाके रंगमंचपर नटकी तरह अनेकों भेषोंको धारण करता है—अनगिनत पर्यायोंमें उपजता और मरता है। यह सब कर्मकी विडम्बना—कर्मकी प्रपञ्चना है। वीरशासनमें कर्मके मूल और उत्तरभेद और उनके भी भेदोंका बहुत ही सुन्दर, सूक्ष्म, विशद विवेचन किया है। बंध, बंधक, बन्धु और बन्धनीय तत्त्वोंपर गहरा विचार किया है। जीव कैसे और कब कर्मबंध करता है इन सभी बातोंका चिंतन किया गया है। कर्मवादसे हमें शिक्षा मिलती है कि हम स्वयं ऊँचे उठ सकते हैं और स्वयं ही नीचे गिर सकते हैं।

वीरशासनमें जीवादि सात तत्त्वों, सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र्यरूप मोक्षमार्ग और प्रमाण, नय, निक्षेप आदि उपायतत्त्वोंका भी बहुत ही सम्बद्ध एवं संगत, विशद व्याख्यान किया गया है। प्रमाणके दो (प्रत्यक्ष और परोक्ष) भेद करके उन्हींमें अन्य सब प्रमाणोंके अन्तर्भावकी विभावना कितने सुन्दर एवं युक्तिपूर्ण ढंगसे की गई है, वह एक निष्पक्ष विचारकको आकर्षित किये बिना नहीं रहती है। नयवाद तो जैन दर्शनकी अन्यतम महत्त्वपूर्ण देन है। वस्तुके अंशज्ञानको नय कहते हैं। वे नय अनेक हैं। वस्तुके भिन्न-भिन्न अंशोंको ग्रहण करने वाले नय हो हैं। ज्ञाताकी हमेशा प्रमाण-दृष्टि नहीं रहती है। कभी उसका वस्तुके किसी खास धर्मको ही जाननेका अभिप्राय होता है, उस समय उसकी नय-दृष्टि होती है और इसीलिये ज्ञाताके अभिप्रायको जैन दर्शनमें नय माना है। चूँकि वक्ताकी वचन-प्रवृत्ति भी क्रमशः होती है—वचनों द्वारा वह एक अंशका ही प्रतिवचन कर सकता है। इसलिये वक्ताके वचन-व्यवहारको भी जैनदर्शनमें 'नय' माना है। अतएव ज्ञानात्मक और वचनात्मकरूपसे अथवा ज्ञाननय और शब्दनयके भेदसे नय वर्णित है। इस तरह वीरशासन वैज्ञानिक एवं तात्त्विक शासन है। उसके अहिंसा, स्याद्वाद जैसे विश्वप्रिय सिद्धान्तोंसे उसकी उपयोगिता एवं आवश्यकता भी अधिक प्रकट होती है।

वीरशासनके अनुयायी हम जैनोंका परम कर्तव्य है कि भगवान् वीरके द्वारा उपदेशित उनके 'सर्वोदय तीर्थ' को विश्वमें चमस्कृत करें और उनके पवित्र सिद्धान्तोंका स्वयं ठीक तरह पालन करें तथा दूसरोंको पालन करावें और उनके शासनका प्रसार करें।

भगवान् महावीरका अध्यात्मिक मार्ग

धर्मका ह्रास, समाजका ह्रास, देशका ह्रास जब चरम सीमाको प्राप्त हो जाता है उस समय किसी अनोखे महापुरुषका अवतार-जन्म-प्रादुर्भाव होता है और वह अपने असाधारण प्रभावसे उस ह्रासको दूर करनेमें समर्थ होता है। वास्तवमें उस पुरुषमें महापुरुषत्व भी इसी समय प्रकट होता है और अनेकानेक शक्तियों तथा परमोच्च गुणोंका पूर्ण विकास भी तभी होता है। वह अपने समूचे जीवनको लोक-हितमें समर्पित कर देता है।

भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुषोंमें हैं। उन्होंने अपने जीवनके प्रत्येक क्षणको लोक-हितमें लगाया था। विश्वको आत्मकल्याणका सन्देश दिया था। उस समय विविध मतोंकी असमञ्जसता तीव्र गतिसे चल रही थी। धर्मका स्थान सम्प्रदाय तथा जातिने घेर लिया था। एक सम्प्रदाय एवं जाति दूसरे सम्प्रदाय एवं जातिको अपना शत्रु समझती थी। आजसे भी अधिकतम साम्प्रदायिकताकी तीव्र अग्नि उस समय धधक रही थी। दार्शनिक सिद्धान्तोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि बौद्ध और ब्राह्मण (याज्ञिक) आपसमें एक दूसरेको अपना लक्ष्य (वेध्य-भक्ष्य) समझते थे। आजके हिन्दू और मुसलमानों जैसी स्थिति थी। याज्ञिक यज्ञोंमें निरपराध पशुओंके हवनको धर्म बताते थे। उनके विरुद्ध बौद्ध याज्ञिक हिंसाको अधर्म और पापकृत्य बताते थे।

युक्तिवादको लेकर याज्ञिक कहते कि :—

“वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, आत्मनो नित्यत्वात्” वेदविहित हिंसा हिंसा (जीवघात) नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है, अमर है, उसका विनाश नहीं होता। भौतिक शरीर, इन्द्रिय, प्राण आदिका ही विनाश होता है। इसकी पुष्टि करनेके लिये वे एड़ीसे चोटी तक पसीना बहाते थे। उधर बौद्ध भी युक्तिवादमें कम नहीं थे। वे भी “सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्” समस्त चीजें नाशशील हैं क्योंकि सत् है—इस स्वकल्पित सिद्धान्तकी भित्तिपर “वैदिकी हिंसा हिंसा अस्त्येव आत्मनोऽनित्यत्वात्” वेद में कही हिंसा जीवघात ही है क्योंकि आत्मा अनित्य है, मरती है, उसका विनाश होता है। इस सिद्धान्तको झट रचकर उनका खंडन कर देते थे। यही कारण है कि याज्ञिकोंको बौद्धोंके प्रति प्रतिहिंसाके भावोंको लेकर उनके पराजित करनेके लिये छल, जाति, निग्रहस्थानोंकी सृष्टि करनी पड़ी, फिर भी वे इस दिशामें असफल रहे।

भगवान् महावीर ऐसी-ऐसी अनेकों विषम स्थितियों, उलझनोंकी तीस वर्षकी आयु तक अपनी चर्म-चक्षुओं और ज्ञानचक्षुओंसे देखते-देखते ऊब गये, उनकी आत्मा तिलमिला उठी, अब वे इन विषम-ताओं, अन्यायों, अत्याचारोंको नहीं सह सके। फलतः संसारके समस्त सुखोंपर लात मार दी, न विवाह किया, न राज्य किया और न साम्राज्यके ऐश्वर्यको भोगा। ठीक है लोकहितकी भावनामें सने हुए पुरुषको इन्द्रिय-सुखकी बातें कैसे सुहा सकती हैं। सुखको भोगना या जन्तुके कण्ठोंको दूर करना दोनोंमेंसे एक ही हो सकता है।

भगवान् महावीर संसार, शरीर, विषय-भोगोंसे विरक्त होकर पहले अपनेको पूर्ण बनानेके लिये उन्मुख हुये, क्योंकि वे अच्छी तरह समझते थे कि मैं अपूर्ण अवस्था और साम्राज्यशक्तिसे लोकका पूरा-पूरा हित नहीं कर सकता हूँ। भले ही साम्राज्यशक्तिसे तात्कालिक याज्ञिक हिंसा बन्द हो जावे, पर यह असर उनके शरीर तक ही सीमित रहेगा, आत्मा तक नहीं पहुँचेगा। आदेशका असर शरीर तक ही सीमित रहता है जबकि उपदेशका असर आत्मापर होता है और चिरस्थायी होता है। इन सब बातोंको विचारकर भगवान् महावीरने साम्राज्य-शक्तिको न आजमाकर आत्मशक्तिको ही आजमानेका सफल प्रयत्न किया। फलतः लगातार १२ वर्षकी कठोर तपश्चर्याके बाद उन्हें पूर्णत्वकी प्राप्ति हो गई और वे सर्वज्ञ कहे जाने लगे।

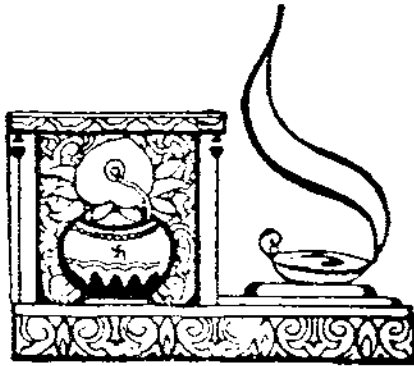
भगवान् महावीरने उक्त असमञ्जसताओंको दूर करनेवाले सफल तथ्य साधन स्याद्वाद (अपेक्षावाद) के द्वारा समन्वय करना शुरू किया और उनके एकान्त मन्तव्योंका समुचित निरसन किया। केवल आत्माकी नित्यता या अनित्यता वैदिक हिंसाका विधान या निषेध नहीं कर सकती है। विधान और नित्यता, निषेध और अनित्यतामें व्याप्ति नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा नित्य है इसलिए वैदिक हिंसाके करनेमें कोई दोष-जीवघात नहीं है, वैदिक हिंसा बंध है और यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा अनित्य है इसलिये वैदिक हिंसा दोष—जीवघात है—वैदिक हिंसा निषिद्ध है। नित्यता और अनित्यता परस्परमें सप्रतिपक्ष हैं।

अतः इस प्रकारसे समझना चाहिये कि आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी। चैतन्यस्वरूप आत्मद्रव्य हर अवस्थाओंमें रहता है उसका विनाश नहीं होता है, लेकिन अवस्थायें—पर्यायें बदलती रहती हैं, उनका विनाश होता है और ये पर्यायें आत्मद्रव्यसे पृथक् नहीं की जा सकती हैं, इसलिये अभिन्न है और द्रव्य पर्यायका भेद सुप्रतीत होता है, इसलिए भिन्न भी है। यज्ञोंमें किया गया पशुबध अवश्य हिंसा—जीवघात है क्योंकि शरीरादिके नाश होनेपर आत्माका भी नाश होता है। जैसे तिलमें तेल सर्वत्र व्याप्त होकर रहता है उसी प्रकार शरीरके अवयवोंमें आत्मा व्याप्त होकर रहती है। यही बात है कि अंगुली आदिके कट जानेपर कण्ट होता है, वेदना होती है। हिंसाका अर्थ ही जीवघात है, केवल घात या विनाश नहीं। इसीलिये हिंसा शब्दका प्रयोग अचेतन जड़पदार्थोंमें नहीं होता है। अतः स्पष्ट है कि यज्ञोंमें किया गया पशुबध जीवघात है क्योंकि वह संकल्पपूर्वक—जान-बूझकर किया जाता है प्रसिद्ध कसाइयोंके पशुबधके समान। यद्यपि घर-बार बनाने, कुटुम्ब परिपालन करने, आजीविकोपार्जन करने, मन्दिर आदिके निर्माण करानेमें भी हिंसा—जीवघात होता है। पर यह हिंसा गृहस्थपदकी हैसियतसे क्षम्य है, अनिवार्य है, असंकल्पपूर्वक है, साधुपदकी हैसियतसे तो यह भी अक्षम्य एवं निवार्य है, तब धर्मका ओटमें यज्ञोंमें याज्ञिक गृहस्थों द्वारा की जानेवाली निवार्य संकल्पी हिंसा कैसे जायज हो सकती है या बंध कही जा सकती है? दूसरी बात यह है कि वेदमें कही हिंसा धर्म नहीं है, उससे अपने तथा दूसरोंको वेदना—दुःख उत्पन्न होता है, राग-द्वेष आदि प्रमत्त भावोंसे की जाती है। हिंसा कभी भी धर्म नहीं है और न हुई है और न होगी। अहिंसा ही आत्माका निज धर्म है और वही प्राणियोंको संसार-समुद्रसे पार उतारनेवाली है। संसारकी वह पुस्तक धर्मपुस्तक नहीं है जिसमें हिंसाका प्रतिपादन है। वह केवल एकदेशीय लोगों द्वारा जनताको ठगनेके लिये लिखी गई है। अतः स्पष्ट है कि यज्ञोंमें किया गया पशुबध धर्म नहीं है। हाँ, यदि यज्ञ करना ही है तो निम्न प्रकारका यज्ञ करो—अपनी अन्तरात्माको कुण्ड बनाओ, उसमें ध्यानरूपी अग्नि जलाओ और उसे इन्द्रियोंके निग्रहरूप दमरूपी पवनसे उद्दीपित करो तथा उसमें अशुभकर्मरूपी ईंधनकी आहुति दो। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको नष्ट करनेवाले कषायरूपी पशुओंका शमरूपी मन्त्रोंका उच्चारण करके हवन करो। ऐसा आत्मयज्ञ ही विद्वानों द्वारा विधेय है। कर्म-

विमुक्तिका सीधा मार्ग है। भूतयज्ञ—पशुयज्ञ तुम्हारी कर्मविमुक्तिका मार्ग नहीं है, प्रत्युत कर्म-युक्तिका मार्ग है, दुर्गतिका कारण है। अतः यज्ञोंमें किया गया पशु-बध धर्म नहीं है।

बौद्धोंका अःश्माको सर्वथा क्षणिक मानना प्रत्यक्ष-प्रमाणसे बाधित है। प्रत्यक्षसे समस्त पदार्थ स्थिर स्थूल प्रतीत होते हैं। "असत्का उत्पाद नहीं होता है और सत्का विनाश नहीं होता" अर्थात् जो नहीं है वह उत्पन्न नहीं हो सकता और जो है—जिसका सद्भाव है उसका सर्वथा विनाश—अभाव नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा जब सद्—सद्भावरूप है तो उसका सर्वथा विनाश नहीं हो सकता। पर्यायरूपसे नाश होनेपर भी द्रव्यरूपसे उसका अवस्थान बना ही रहता है। अतः आत्माकी अनित्यताको लेकर वैदिक हिंसाका निषेध नहीं हो सकता। उसका तो उपर्युक्त ढंगसे ही निषेध हो सकता है। इस प्रकार भगवान् महावीरने ऐसी-ऐसी अनेकों समस्यायें हल कीं और विश्वको समभाव द्वारा सन्मार्गपर लगाया। भगवान् महावीरके ही सिद्धान्तोंपर महात्मा गांधी चले और समस्त राष्ट्रको चलाया है।

सत्य और अहिंसा आत्माकी अपनी विभूति हैं। उन्हें हम भूले हुए हैं। भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित सत्य और अहिंसाका आलोक स्थायी आलोक है। उसे हमें पूर्ण नैतिकताके साथ प्राप्त करना चाहिये। हमें भगवान् महावीरके पूर्ण कृतज्ञ होना चाहिये तथा उनके आदर्शों—उसूलों—सिद्धान्तोंका हार्दिकतासे अनुशीलन करना चाहिये।



महावीरका आचार-धर्म

महावीर और तत्कालीन स्थिति

लोकमें महापुरुषोंका जन्म जन-जीवनको ऊँचा उठाने और उनका हित करनेके लिए होता है। भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुष थे। उनमें लोक-कल्याणकी तीव्र भावना, असाधारण प्रतिभा, अद्वितीय तेज और अनुपम आत्मबल था। बचपनसे ही उनमें अलौकिक धार्मिक भाव और सर्वोदयकी सातिशय लगन होनेसे नेतृत्व, लोकप्रियता और अद्भुत संगठनके गुण विकसित होने लगे थे। भौतिकताके प्रति उनकी न आसक्ति थी और न आस्था। उनका विश्वास आत्माके केवल अमरत्वमें ही नहीं, किन्तु उसके पूर्ण विकसित रूप परमात्मत्वमें भी था। अतएव वे इन्द्रिय-विषयोंको तापकृत् और तृष्णाभिबर्द्धक मानते थे। एक लोक-पूज्य एवं सर्वमान्य ज्ञातृवंशी क्षत्रिय घरानेमें उत्पन्न होकर और वहाँ सभी सामग्रियोंके सुलभ होनेपर भी वे राजमहलोंमें तीस वर्ष तक 'जलमें भिन्न कमल' की भाँति अथवा गीताके शब्दों में 'स्थितप्रज्ञ' की तरह रहे, पर उन्हें कोई इन्द्रिय-विषय लुभा न सका। उनकी आँखोंसे बाह्य स्थिति भी ओझल न थी। राजनैतिक स्थिति यद्यपि उस समय बहुत ही सुदृढ़ और आदर्श थी। नौ लिच्छिवियोंका संयुक्त एवं संगठित शासन था और वे बड़े प्रेम एवं सहयोगसे अपने गणराज्यका संचालन करते थे। राजा चेटक इस गणराज्यके सुयोग्य अध्यक्ष थे और वैशाली उनकी राजधानी थी। वैशाली राजनैतिक हलचलों तथा लिच्छिवियोंकी प्रवृत्तियोंकी केन्द्र थी; पर सबसे बड़ी जो न्यूनता थी वह यह थी कि शासन समाज और धर्मके मामलेमें मौन था— उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। फलतः सामाजिक और धार्मिक पतन पराकाष्ठाको पहुँच चुका था तथा दोनोंकी दशा अत्यन्त विरूप रूप धारण कर चुकी थी। छुआछूत, जातीयता और ऊँच-नोचके भेदने समाज तथा धर्मकी जड़ोंको खोखला एवं जर्जरित बना दिया था। अज्ञान, मिथ्यात्व, पाखण्ड और अधर्मेने अपना डेरा डाल रखा था। इस बाह्य स्थितिने भी भगवान् महावीरकी आँखोंको अद्भुत प्रकाश दिया और वे तीस वर्षकी भरी जवानीमें ही समस्त वैषयिक सुखोपभोगोंको त्यागकर और उनसे विरक्ति धारण कर साधु बन गये थे। उन्होंने अनुभव किया था कि गृहस्थ या राजाके पदकी अपेक्षा साधुका पद अत्यन्त उन्नत है और इस पदमें ही तप, त्याग तथा संयमकी उच्चाराधना की जा सकती है और आत्माको 'परमात्मा' बनाया जा सकता है। फलस्वरूप उन्होंने बारह वर्ष तक कठोर तप और संयमकी आराधना करके अपने चरम लक्ष्य वीतराग-सर्वज्ञत्व अथवा परमात्मत्वकी शुद्ध एवं परमोच्च अवस्थाको प्राप्त किया था।

महावीर द्वारा आचारधर्मकी प्रतिष्ठा

उन्होंने जिस 'सुपथ' पर चलकर इतनी ऊँची उन्नति की और असीम ज्ञान एवं अक्षय आनन्दकी प्राप्त किया, उस 'सुपथ' को जनकल्याणके लिए भी उन्होंने उसी तरह प्रदर्शित किया, जिस तरह सदैव बड़े परिश्रम और कठोर साधनासे प्राप्त अपने अनुपम चिकित्सा-ज्ञान द्वारा कर्षणा-बुद्धिसे रोग-पीड़ित लोगोंका रोगोपशमन करता है और उन्हें जीवन-दान देता है। महावीरके 'आचार-धर्म' पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकारके हितोंको कर सकता है। आजके इस चाकचिब्य एवं

भौतिकता-प्रिय जगत्में उनके 'आचार-धर्म' के आचरणकी बड़ी आवश्यकता है । महाभारतके एक उपाख्यान-में निम्न श्लोक आया है :

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः, जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्मको जानता हूँ, पर उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और अधर्मको भी जानता हूँ, लेकिन उससे निवृत्ति नहीं । हृदयमें स्थित कोई देव जैसी मुझे प्रेरणा करता है, वैसा करता हूँ ।'

यथावर्ततः यही स्थिति आज अमनीषी और मनीषी दोनोंकी हो रही है । बाह्यमें वे भले ही धर्मात्मा हों, पर अन्तस् प्रायः सभीका तमोव्याप्त है । परिणाम यह हो रहा है कि प्रत्येक व्यक्तिकी नैतिक और आध्यात्मिक चेतना शून्य होती जा रही है और भौतिक चेतना एवं वैषयिक इच्छाएँ बढ़ती जा रही हैं । यदि यही भयावह दशा रही तो मानव-समाजमें न नैतिकता रहेगी और न आध्यात्मिकता तथा न बैसे व्यक्तियोंका सम्भाव कहीं मिलेगा । अतः इस भौतिकताके युगमें भगवान् महावीरका 'अचारधर्म' विश्वके मानव समाजको बहुत कुछ आलोक दे सकता है—आध्यात्मिक एवं नैतिक मार्गदर्शन कर सकता है । उसके आचरणसे मानव नियत मर्यादामें रहता हुआ ऐन्द्रियिक विषयोंको भोग सकता है और जीवनको नैतिक तथा आध्यात्मिक बनाकर उसे सुखी, यशस्वी और सब सुविधाओंसे सम्पन्न भी बना सकता है । दूसरोंको भी वह शान्ति और सुख प्रदान कर सकता है ।

अहिंसक व्यवहारकी आवश्यकता

मानव-समाज सुख और शान्तिसे रहे, इसके लिए महावीरने अहिंसा धर्मका उपदेश दिया । उन्होंने बताया कि दूसरोंको सुखी देखकर सुखी होना और दुखी देखकर दुखी होना ही पारस्परिक प्रेमका एयमात्र साधन है । प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह किसी भी मनुष्य, पशु या पक्षी, यहाँतक कि छोटे-से-छोटे जन्तु, कीट, पतंग आदिको भी न सताये । प्रत्येक जीव सुख चाहता है और दुखसे बचना चाहता है । इसका ध्वज उपाय यही है कि वह स्वयं अपने प्रयत्नसे दूसरोंको दुखी न करे और सम्भव हो तो उन्हें सुखी बनानेकी ही चेष्टा करे । ऐसा करनेपर वह सहजमें सुखी हो सकता है । अतः पारस्परिक अहिंसक व्यवहार ही सुखका सबसे बड़ा और प्रधान साधन है । इस अहिंसक व्यवहारको स्थायी बनाये रखनेके लिए उसके चार उपसाधन हैं ।

१. पहला यह कि किसीको धोखा न दिया जाय, जिससे जो कहा हो, उसे पूरा किया जाय । ऐसे शब्दोंका भी प्रयोग न किया जाय, जिससे दूसरोंको मार्मिक पीड़ा पहुँचे । जैसे अन्धेको अन्धा कहना या काणको काणा कहना सत्य है, पर उन्हें पीड़ा-जनक है ।

२. दूसरा उपसाधन यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने परिश्रम और न्यायसे उपाजित द्रव्यपर ही अपना अधिकार माने । जिस वस्तुका वह स्वामी नहीं है और न उसे अपने परिश्रम तथा न्यायसे अर्जित किया है उसका वह स्वामी न बने । यदि कोई व्यवसायी व्यक्ति उत्पादक और परिश्रमशील प्रजाका न्याय-युक्त भाग हड़पता है तो वह व्यवसायी नहीं । व्यवसायी वह है जो न्यायसे द्रव्यका अर्जन करता है । छल-फरेब, धोखाधड़ी या जोरजबर्दस्तीसे नहीं । अन्यथा वह प्रजाकी अशान्ति तथा कलहका कारण बन जायगा । अतः न्यायविरुद्ध द्रव्यका अर्जन दुख तथा संकलेशका बीज है, उसे नहीं करना चाहिए ।

३. तीसरा यह है कि प्रत्येक व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) को भोगोंमें आसक्त नहीं होना चाहिए। भोगोंमें आसक्त व्यक्ति अपना तथा दूसरोंका अहित करता है। वह न केवल अपना स्वास्थ्य ही नष्ट करता है, अपितु ज्ञान, विवेक, त्याग, पवित्रता, उच्चकुलनता आदि कितने ही सद्गुणोंका भी नाश करता है और भावी सन्तानको निर्बल बनाता है तथा समाजमें दुराचार एवं दुर्बलताको प्रश्रय देता है। अतः प्रत्येक पुरुषको अपनी पत्नीके साथ और प्रत्येक स्त्रीको अपने पतिके साथ संयमित जीवन बिताना चाहिए।

४. चौथा यह है कि संचयवृत्तिको सीमित करना चाहिए, क्योंकि आवश्यकतासे अधिक संग्रह करनेसे मनुष्यकी तृष्णा बढ़ती है तथा समाजमें असन्तोष फैलता है। यदि वस्तुओंका अनुचित रीतिसे संग्रह न किया जाय और प्राप्तपर सन्तोष रखा जाय तो दूसरोंको जीवन-निर्वाहके साधनोंकी कमी नहीं पड़ सकती।

इस तरह अहिंसाको जीवनमें लानेके लिए सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण इन चार नियमोंका पालन करना आवश्यक है। उनके बिना अहिंसा पल नहीं सकती—पूर्णरूपमें वह जीवनमें नहीं आ सकती। यही पाँच व्रत भगवान् महावीरका आचार-धर्म है।

आचार-धर्मका मूलाधार : अहिंसा

ऊपर देख चुके हैं कि इस आचार-धर्मका मूलाधार 'अहिंसा' है, शेष चार व्रत तो उसी तरह उसके रक्षक हैं जिस तरह खेतकी रक्षाके लिए बाढ़ (वारो) लगा दी जाती है। यह देखा जाता है कि मलत बात कहने, कटु बोलने, असंगत कहने और अधिक बोलनेसे न केवल हानि ही उठानी पड़ती है किन्तु कलुषता, अविश्वास और कलह भी उत्पन्न हो जाते हैं। जो वस्तु अपनी नहीं, उसे बिना मालिककी आज्ञासे ले लेनेपर वस्तुके स्वामीको दुःख और रोष होता है। परपुरुष या परस्त्री गमन भी अशान्ति तथा तापका कारण है। परिग्रहका आधिक्य तो स्पष्टतः संकलेश और आपत्तियोंका जनक है। इस प्रकार असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह ये चारों ही पापवृत्तियाँ हिंसाके बढ़ानेमें सहायक हैं। इसलिए इनके त्यागमें अहिंसाके ही पालनका लक्ष्य निहित है। अतएव अहिंसाको 'परम धर्म' कहा गया है।

द्रव्यहिंसा और भावहिंसा

अहिंसाके स्वरूपको समझनेके लिये हमें पहले हिंसाका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। भगवान् महावीरने हिंसाकी व्याख्या करते हुए बतलाया कि 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोषणं हिंसा' अर्थात् दुष्ट अभिप्रायसे प्राणीको चोट पहुँचाना हिंसा है। सामान्यतया हिंसा चार प्रकारकी है—संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी। इन चारों हिंसाओंमें 'चोट पहुँचाना' समान है, पर संकल्पी (जानबूझकर की जानेवाली) हिंसामें दुष्ट अभिप्राय होनेसे उनका गृहस्थके लिए त्याग और शेष तीन हिंसाओंमें दुष्ट अभिप्राय न होनेसे उनका अत्याग बतलाया गया है। वास्तवमें उन तीन हिंसाओंमें केवल द्रव्यहिंसा होती है और संकल्पी हिंसामें द्रव्य हिंसा और भावहिंसा दोनों ही हिंसाएँ होती हैं। जैनधर्ममें बिना भावहिंसाके कोरी द्रव्य-हिंसाको पापबन्धका कारण नहीं माना गया है। गृहस्थ अपने और परिवारके भरण-पोषणके लिए आरम्भ तथा उद्योग करता है और कभी-कभी अपनी, अपने परिवार, अपने समाज और अपने राष्ट्रकी रक्षाके लिए आक्रान्तासे लड़ाई भी लड़ता है और उसमें हिंसा होती ही है। परन्तु आरम्भ, उद्योग और विरोधके करते समय उसका दुष्ट अभिप्राय न होनेसे वह अहिंसक है तथा उसकी ये हिंसाएँ क्षम्य हैं, क्योंकि उसका लक्ष्य केवल न्याययुक्त भरण-पोषण तथा रक्षाका होता है। अतएव जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जाने या दुखी होनेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे

अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं। फिर भी जैनधर्म इस 'प्राणिघात' को हिंसा नहीं कहता। यथायथमें 'हिंसारूप परिणाम' ही हिंसा है। एक किसान प्रातःसे शाम तक खेतमें हल जोतता है और उसमें बीसियों जीवोंका घात होता है, पर उसे हिंसक नहीं कहा गया। किन्तु एक मछुआ नदीके किनारे सुबहसे सूर्यास्त तक जाल डाले बैठा रहता है और एक भी मछली उसके जालमें नहीं आती। फिर भी उसे हिंसक माना गया है। इसका कारण स्पष्ट है। किसानका हिंसाका भाव नहीं है—उसका भाव अनाज उपजाने का है और मछुआका भाव प्रतिसमय तीव्र हिंसाका रहता है। जैन विद्वान् आशाधरने निम्न श्लोकमें यही प्रदर्शित किया है :

विष्वज्जीव-चित्ते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत ।
भावैकसाधनौ बन्ध-मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥

'यदि भावोंपर बन्ध और मोक्ष निर्भर न हों तो सारा संसार जीवराशिसे खचाखच भरा होनेसे कोई मुक्त नहीं हो सकता ।'

जैनागममें स्पष्ट कहा गया है :—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥

'जीव भरे या चाहे जिये, असावधानीसे काम करनेवाले व्यक्तिको नियमसे हिंसाका पाप लगता है। परन्तु सावधानीसे प्रवृत्ति करनेवालेको हिंसा होनेमात्रसे हिंसाका पाप नहीं लगता ।'

जैनके पुराण युद्धोंसे भरे पड़े हैं और उन युद्धोंमें अच्छे अणुव्रतियोंने भाग लिया है। पद्मपुराणमें लड़ाईपर जाते हुए क्षत्रियोंके वर्णनमें एक सेनानीका चित्रण निम्न प्रकार किया है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः शूरः कश्चिदणुव्रती ।
पृष्ठतो वीक्ष्यते पत्न्या पुरस्त्रिदशकन्यया ॥

'एक सम्यग्दृष्टि और अणुव्रती सिपाही जब युद्धमें जा रहा है, तो उसे पीछेसे उसकी पत्नी देख रही है और विचारती है कि मेरा पति कायर बनकर युद्धसे न लौटे—वहीं वीरगति प्राप्त करे और सामनेसे देवकन्या देखती है—यह वीर देवगति पाये और चाह रही है कि मैं उसे वरण करूँ ।'

यह सिपाही सम्यग्दृष्टि भी है और अणुव्रती भी। फिर भी वह युद्धमें जा रहा है, जहाँ असंख्य मनुष्योंका घात होगा। इस सिपाहीका उद्देश्य मात्र आक्रान्तासे अपने देशकी रक्षा करना है। दूसरेके देशपर हमला कर उसे विजित करने या उसपर अधिकार जमाने जैसा दुष्ट अभिप्राय उसका नहीं है। अतः वह द्रव्य-हिंसा करता हुआ भी अहिंसा-अणुव्रती बना हुआ है। उसके अहिंसा-अणुव्रतमें कोई दूषण नहीं आता।

जैन धर्ममें एक 'समाधिमरण' व्रतका वर्णन आता है, जो आयुके अन्तमें और कुछ परिस्थितियोंमें जीवन-भर पाले हुए आचार-धर्मकी रक्षाके लिए ग्रहण किया जाता है। इस व्रतमें द्रव्य-हिंसा तो होती है पर भाव-हिंसा नहीं होती; क्योंकि उक्त व्रत उसी स्थितिमें ग्रहण किया जाता है, जब जीवनके बचनेकी आशा नहीं रहती और आत्मधर्मके नष्ट होनेकी स्थिति उपस्थित हो जाती है। इस व्रतके धारकके परिणाम संकल्पित न होकर विशुद्ध होते हैं। वह उसी प्रकार आत्मधर्म-रक्षाके लिए आत्मोत्सर्ग करता है जिस प्रकार एक बहादुर वीर सेनानी राष्ट्र-रक्षाके लिए हँसते-हँसते आत्मोत्सर्ग कर देता है और पीठ नहीं

फेरता। यही कारण है कि इस व्रतका धारक वीर सेनानीकी भाँति अहिंसक माना गया है। यदि कोई व्यक्ति इस व्रतका दुरुपयोग करता है तो किसी भी अच्छी बातका दुरुपयोग हो सकता है। बंगालमें 'अन्तक्रिया' का बहुत दुरुपयोग होता था। अनेक लोग वृद्धा स्त्रीको गंगा किनारे ले जाते थे और उससे कहते थे—'हरि बोल।' अगर उसने 'हरि' बोल दिया तो उसे जीते ही गंगामें बहा देते थे। परन्तु वह 'हरि' नहीं बोलती थी, इससे उसे बार-बार पानीमें डुबा-डुबाकर निकालते थे और जब तक वह 'हरि' न बोले तब तक उसे इसी प्रकार परेशान करते थे, जिससे घबराकर वह 'हरि' बोल दिया करती थी और वे लोग उसे स्वर्ग पहुँचा देते थे। 'अन्तक्रिया' का यह दुरुपयोग ही था। समाधिभरणव्रतका भी कोई दुरुपयोग कर सकता है। परन्तु दुरुपयोगके डरसे अच्छे कामका त्याग नहीं किया जाता। किन्तु यथासाध्य दुरुपयोगको रोकनेके लिए कुछ नियम बनाये जाते हैं। समाधिभरणव्रतके विषयमें भी जैनधर्ममें नियम बनाये गये हैं। अनशन कितना महत्वपूर्ण एवं आत्मशुद्धि और प्रायश्चित्तका साधन है। गाँधीजी उसका प्रयोग आत्मशुद्धिके लिए किया करते थे। किन्तु अपनी बात मनवाने के लिए आज उसका भी दुरुपयोग होने लगा है। लेकिन इस दुरुपयोगसे अनशनका न महत्त्व कम हो सकता है और न उसकी आवश्यकता समाप्त हो सकती है।

इस विवेचनसे हम द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसाके अन्तरको सहजमें समझ सकते हैं और भाव-हिंसाको ही हिंसा जान सकते हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि जैनधर्ममें द्रव्यहिंसाकी छूट दे दी गई है। यथा शक्य प्रयत्न उसको भी बचानेके लिए उपदेश दिया गया है और आचार-शुद्धिमें उसका बड़ा स्थान माना गया है। इस द्रव्यहिंसाके हो जानेपर व्रती (गृहस्थ और साधु दोनों) प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्त करते हैं। छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सभी जीवोंसे क्षमा-याचना की जाती है और प्रायश्चित्तमें स्वयं या गुरुसे कृतापराधके लिए दण्ड स्वीकार किया जाता है। जान पड़ता है कि जैनोके इस प्रतिक्रमण और प्रायश्चित्तका पारसी धर्मपर भी प्रभाव पड़ा है। उनके यहाँ भी पश्चात्ताप करनेका रिवाज है। इस क्रियामें जो मंत्र बोले जाते हैं उनमेंसे कुछका भाव इस प्रकार है—'घातु उपधातुके साथ जो मैंने दुर्व्यवहार किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'जमीनके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'पानी अथवा पानीके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'वृक्ष और वृक्षके अन्य भेदोंके साथ जो मैंने अपराध किया हो, उसका मैं पश्चात्ताप करता हूँ।' 'महताब, आफताब, जलती अग्नि आदिके साथ जो मैंने अपराध किया हो, मैं उसका पश्चात्ताप करता हूँ।' पारसियोंका यह विवेचन जैन-धर्मके प्रतिक्रमणसे मिलता-जुलता है, जो पारसी धर्मपर जैन धर्मके प्रभावका स्पष्ट सूचक है। अतः भाव-हिंसाको छोड़े बिना जिस तरह कोई व्यक्ति अहिंसक नहीं हो सकता, उसी तरह द्रव्य-हिंसाको छोड़े बिना निर्दोष आचार-शुद्धि नहीं पल सकती। इसलिए दोनों हिंसाओंको बचानेके लिए सदा प्रयत्न करना चाहिए।

आचार-धर्मके आधार : गृहस्थ और साधु

इस तरह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत हैं। इन व्रतोंको गृहस्थ और साधु दोनों पालते हैं। गृहस्थ इन्हें एक देशरूपसे और साधु पूर्णरूपसे पालन करते हैं। गृहस्थके ये व्रत अणुव्रत कहलाते हैं और साधुके महाव्रत। साधुका क्षेत्र विस्तृत होता है। उसकी सारी प्रवृत्तियाँ सर्वजन-हिताय और सर्वोदयके लिए होती हैं। वह ज्ञान, ध्यान और तपमें रत रहता हुआ वर्गसे, समाजसे और राष्ट्रसे बहुत ऊँचे उठ जाता है, उसकी दृष्टिमें ये सब संकीर्ण क्षेत्र हो जाते हैं। समाजसे वह कम लेकर और उसे अधिक देकर कृतार्थ होता है। लेकिन गृहस्थपर अनेक उत्तरदायित्व हैं। अपनी प्राणरक्षाके अलावा उसके कुटुम्बके प्रति, समाजके प्रति, धर्मके प्रति और राष्ट्रके प्रति भी कुछ कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों

को पालन करनेके लिए वह उक्त अहिंसा आदि व्रतोंको अणुव्रतके रूपमें ग्रहण करता है और इन स्वीकृत व्रतोंकी वृद्धिके लिए अन्य सात व्रतोंको भी धारण करता है, जो इस प्रकार है—

(१) अपने कार्य-क्षेत्रकी गमनागमनकी मर्यादा निश्चित कर लेना 'दिग्ब्रत' है। यह व्रत जीवन-भरके लिए ग्रहण किया जाता है। इस व्रतका प्रयोजन इच्छाओंकी सीमा बांधना है।

(२) दिग्ब्रतकी मर्यादाके भीतर ही उसे कुछ काल और क्षेत्रके लिए सीमित कर लेना—आने-जाने-के क्षेत्रको कम कर लेना बेशब्द व्रत है।

(३) तीसरा अनर्धदण्डव्रत है। इसमें व्यर्थके कार्यों और प्रवृत्तियोंका त्याग किया जाता है।

ये तीनों व्रत अणुव्रतोंके पोषक एवं वर्धक होनेसे गुणव्रत कहे जाते हैं।

(४) सामायिकमें आत्म-विचार किया जाता है और खोटे विकल्पोंका त्याग होता है।

(५) प्रोबधोपवासमें उपवास द्वारा आत्मशक्तिका विकास एवं सहनशीलताका अभ्यास किया जाता है।

(६) भोगोपभोगपरिमाणमें दैनिक भोगों और उपभोगोंकी वस्तुओंका परिमाण किया जाता है। जो वस्तु एक बार ही भोगी जाती है वह भोग तथा जो बार-बार भोगनेमें आती है वह उपभोग है। जैसे भोजन, पान आदि एक बार भोगनेमें आनेसे भोग वस्तुएँ हैं और वस्त्र, वाहन आदि बार-बार भोगनेमें आनेसे उपभोग वस्तुएँ हैं। इन दोनों ही प्रकारकी वस्तुओंका प्रतिदिन नियम लेना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है।

(७) अतिथिसंविभागमें सुपात्रोंको विद्या, औषधि, भोजन और सुरक्षाका दान दिया जाता है, जिससे व्यक्तिका उदारतागुण प्रकट होता है। तथा इनके अनुपालनसे साधु बननेकी शिक्षा (दिक्षा और प्रेरणा) मिलती है।

इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह सामाजिक जीवन-क्षेत्रमें हो या राष्ट्रीय, इन १२ व्रतोंका सरलतासे पालन कर सकता है और अपने जीवनको सुखी एवं शान्तिपूर्ण बना सकता है।



भगवान् महावीरकी क्षमा और अहिंसाका एक विश्लेषण

शान्ति और सुख ऐसे जीवन-मूल्य हैं, जिनकी चाह मानवमात्रको रहती है। अशान्ति और दुःख किसीको भी इष्ट नहीं, ऐसा सभीका अनुभव है। अस्पतालके उस रोगीसे पूछिए, जो किसी पीड़ासे कराह रहा है और डाक्टरसे शीघ्र स्वस्थ होनेके लिए कातर होकर याचना करता है। वह रोगी यही उत्तर देगा कि हम पीड़ाकी उपशान्ति और चैन चाहते हैं। उस गरीब और दीन-हीन आदमीसे प्रश्न करिए, जो अभावोंसे पीड़ित है। वह भी यही जवाब देगा कि हमें ये अभाव न सतायें और हम सुखसे जिएँ। उस अमीर और साधनसम्पन्न व्यक्तिको भी टटोलिए, जो बाह्य साधनोंसे भरपूर होते हुए भी रात-दिन चिन्तित है। वह भी शान्ति और सुखकी इच्छा व्यक्त करेगा। युद्धभूमिमें लड़ रहे उस योद्धासे भी सवाल करिए, जो देशकी रक्षाके लिए प्राणोत्सर्ग करनेके लिए उद्यत है। उसका भी उत्तर यही मिलेगा कि वह अन्तर्गमने शान्ति और सुखका इच्छुक है। इस तरह विभिन्न स्थितियोंमें फँसे व्यक्तिकी आन्तरिक चाह शान्ति और सुख प्राप्तिकी मिलेगी। वह मनुष्यमें, चाहे वह किसी भी देश, किसी भी जाति और किसी भी वर्गका हो, पायी जायेगी। इष्टका संवेदन होनेपर उसे शान्ति और सुख मिलता है तथा अनिष्टका संवेदन उसके अशान्ति और दुःखका परिचायक होता है।

इस सर्वेक्षणसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि मनुष्यके जीवनका मूल्य शान्ति और सुख है। यह बात उस समय और अधिक अनुभवमें आ जाती है जब हम किसी युद्धसे विरत होते हैं या किसी भागी परेशानीसे मुक्त होते हैं। दर्शन और सिद्धान्त ऐसे अनुभवोंके आधारसे ही निर्मित होते हैं और शाश्वत बन जाते हैं।

जब मनमें क्रोधकी उद्भूति होती है तो उसके भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। क्रुद्ध जर्मनोंने जब जापानयुद्धमें उसके दो नगरोंको बमोंसे ध्वंस कर दिया तो विश्वने उसकी भर्त्सना की। फलतः सब ओरसे शान्तिकी चाह की गयी। क्रोधके विषैले कीटाणु केवल आस-पासके वातावरण और क्षेत्रको ही ध्वस्त नहीं करते, स्वयं क्रुद्धका भी नाश कर देते हैं। हिटलर और मुसोलिनीके क्रोधने उन्हें विश्वके चित्रपटसे सदाके लिए अस्त कर दिया। दूर न जायें, पाकिस्तानने जो क्रोधोन्मादका प्रदर्शन किया उससे उसके पूर्वी हिस्सेको उसने हमेशाके लिए अलग कर दिया। व्यक्तिकी क्रोध कभी-कभी भारीसे भारी हानि पहुँचा देता है। इसके उदाहरण देनेकी जरूरत नहीं है। वह सर्वविदित है।

क्षमा एक ऐसा अस्त्रबल है जो क्रोधके बारको निरर्थक ही नहीं करता, क्रोधीको नमित भी करा देता है। क्षमासे अमावान्की रक्षा होती ही है, उससे उनकी भी रक्षा होती है, जिनपर वह की जाती है। क्षमा वह सुगन्ध है जो आस-पासके वातावरणको महका देती है और धीरे-धीरे हरेक हृदयमें वह बैठ जाती है। क्षमा भीतरसे उपजती है, अतः उसमें भयका लेशमात्र भी अंश नहीं रहता। वह वीरोंका बल है, कायरोंका नहीं। कायर तो क्षण-क्षणमें भीत और विजित होता रहता है। पर क्षमावान् निर्भय और विजयी होता है। वह ऐसी विजय प्राप्त करता है जो शत्रुको भी उसका बना देती है। क्षमावान्को क्रोध अज्ञात ही नहीं, उससे वह कोसों दूर रहता है।

वास्तवमें क्षमा—क्षमता—सहनशीलता मनुष्यका एक ऐसा गुण है जो दो नहीं, तीन नहीं हजारों, लाखों और करोड़ों मनुष्योंको जोड़ता है, उन्हें एक-दूसरेके निकट लाता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व-संस्था इसीके बलपर खड़ी हो सकी है और जब तक उसमें यह गुण रहेगा तब तक वह बना रहेगा।

तीर्थंकर महावीरमें यह गुण असीम था। फलतः उनके निकट जाति और प्रकृति विरोधी प्राणी—सर्प-नेवला, सिंह गाय जैसे भी आपसके वैर-भावको भूलकर आश्रय लेते थे, मनुष्योंका तो कहना ही क्या। उनकी दृष्टिमें मनुष्यमात्र एक थे। हाँ, गुणोंके विकासकी अपेक्षा उनका दर्जा ऊँचा होता जाता था और अपना स्थान ग्रहण करता जाता था। जिनकी दृष्टि पूत हो जाती थी वे सम्यक्दृष्टि, जिनका दृष्टिके साथ ज्ञान पवित्र (असद्भावमुक्त) हो जाता था वे सम्यग्ज्ञानी और जिनका दृष्टि और ज्ञानके साथ आचरण भी पावन हो जाता था वे सम्यक्चारित्री कहे जाते थे और वैसा ही उन्हें मान-सम्मान मिलता था।

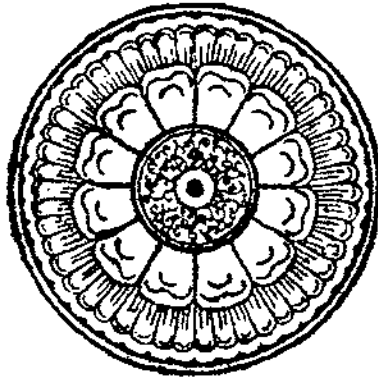
क्षमा यथार्थमें अहिंसाकी ही एक प्रकाशपूर्ण किरण है, जिससे अन्तरतम सु-आलोकित हो जाता है। अहिंसक प्रथमतः आत्मा और मनको वलिष्ठ बनानेके लिए इस क्षमाको भीतरसे विकसित करता, गाढ़ा बनाता और उन्नत करता है। क्षमाके उन्नत होनेपर उसकी रक्षाके लिए हृदयमें कोमलता, सरलता और निर्भङ्गवृत्तिकी वारी (रक्षकावलि) रोपता है। अहिंसाको ही सर्वांगपूर्ण बनानेके लिए सत्य, अचौर्य, शील, और अपरिग्रहकी निर्मल एवं उदात्त वृत्तियोंका भी वह अर्हतिश आचरण करता है।

सामान्यतया अहिंसा उसे कहा जाता है जो किसी प्राणीको न मारा जाय। परन्तु यह अहिंसाकी बहुत स्थूल परिभाषा है। तीर्थंकर महावीरने अहिंसा उसे बतलाया, जिसमें किसी प्राणीको मारनेका न मनमें विचार आवे, न वाणीसे कुछ कहा जाय और न हाथ आदिकी क्रियाएँ की जायें। तात्पर्य यह कि हिंसाके विचार, हिंसाके वचन और हिंसाके प्रयत्न न करना अहिंसा है। यही कारण है कि एक व्यक्ति हिंसाका विचार न रखता हुआ ऐसे वचन बोल देता है या उसकी क्रिया हो जाती है जिससे किसी जीवकी हिंसा सम्भव है तो उसे हिंसक नहीं माना गया है। प्रमत्तयोग-कषायसे होनेवाला प्राणव्यपरोपण ही हिंसा है। हिंसा और अहिंसा वस्तुतः व्यक्तिके भावोंपर निर्भर हैं। व्यक्तिके भाव हिंसाके हैं तो वह हिंसक है और यदि उसके भाव हिंसाके नहीं हैं तो वह अहिंसक है। इस विषयमें हमें वह मछुआ और कृषक ध्यातव्य है जो जलाशयमें जाल फैलाये बैठा है और प्रतिक्षण मछली ग्रहणका भाव रखता है, पर मछली पकड़में नहीं आती तथा जो खेत जोतकर अन्न उपजाता है और किसी जीवके घातका भाव नहीं रखता, पर अनेक जीव खेत जोतनेसे मरते हैं। वास्तवमें मछुआके क्षण-क्षणके परिणाम हिंसाके होनेसे वह हिंसक कहा जाता है और कृषकके भाव हिंसाके न होकर अन्न उपजानेके होनेसे वह अहिंसक माना जाता है। महावीरने हिंसा-अहिंसाको भावप्रधान बतलाकर उनकी सामान्य परिभाषासे कुछ ऊँचे उठकर उक्त सूक्ष्म परिभाषाएँ प्रस्तुत कीं। ये परिभाषायें ऐसी हैं जो हमें पाप और वचनसे बचाती हैं तथा तथ्यको स्पर्श करती हैं।

अहिंसक खेती कर सकता है, व्यापार-बंधे कर सकता है और जीवन-रक्षा तथा देश-रक्षाके लिए शस्त्र भी उठा सकता है, क्योंकि उसका भाव आत्मरक्षाका है, आक्रमणका नहीं। यदि वह आक्रमण होनेपर उसे सह लेता है तो उसकी वह अहिंसा नहीं है, कायरता है। कायरतासे वह आक्रमण सहता है और कायरतामें भय आ ही जाता है तथा भय हिंसाका ही एक भेद है। वह परघात न करते हुए भी स्वघात करता है। अतः महावीरने अहिंसाकी बारीकीको न केवल स्वयं समझा और आचरित किया, अपितु उसे उस रूपमें ही आचरण करनेका दूसरोंको भी उन्होंने उपदेश दिया।

यदि आंजका मनुष्य मनुष्यसे प्रेम करना चाहता है और मानवताकी रक्षा करना चाहता है तो उसे महावीरकी इन सूक्ष्म क्षमा और अहिंसाको अपनाना ही पड़ेगा। यह सम्भव नहीं कि बाहरसे हम मनुष्य-प्रेमकी दुहाई दें और भीतरसे कटार चलाते रहें। मनुष्य-प्रेमके लिए अन्तस् और बाहर दोनोंमें एक होना चाहिए। कदाचित् हम बाहर प्रेमका प्रदर्शन न करें, तो न करें, किन्तु अन्तस्में तो वह अवश्य हो, तभी विश्वमानवता जी सकती है और उसके जीनेपर अन्य शक्तियोंपर भी कर्षणाके भाव विकसित हो सकते हैं।

क्षमा और अहिंसा ऐसे उच्च सद्भाव पूर्ण आचरण हैं, जिनके होते ही समाजमें, देशमें, विश्वमें और जन-जनमें प्रेम और कर्षणाके अंकुर उगकर फूल-फल सकते तथा सबको सुखी बना सकते हैं।



भ० महावीर और हमारा कर्त्तव्य

प्रस्तुतमें विचारणीय है कि वे कौन-से गुण और कार्य थे, जिनके कारण भगवान् महावीर भगवान् बने और सबके स्मरणीय हुए। आचार्यों द्वारा संग्रहित उनके सिद्धान्तों और उपदेशोंसे उनके वे गुण और कार्य हमें अवगत होते हैं। महावीरने अपनेमें निःसीम अहिंसाकी प्रतिष्ठा की थी। इस अहिंसाकी प्रतिष्ठासे ही उन्होंने अपने उन समस्त काम-क्रोधदि विकारोंको जीत लिया था। कितना ही क्रूर एवं विरोधी उनके समक्ष पहुँचता, वह उन्हें देखते ही नत-मस्तक हो जाता था, वे उक्त विकारोंसे ग्रस्त दुनियाँसे इसी कारण ऊँचे उठ गये थे। उन्होंने अहिंसासे खुद अपना जीवन बनाया और अपने उपदेशों द्वारा दूसरोंका भी जीवन-निर्माण किया। एक अहिंसाकी साधनामेंसे ही उन्हें त्याग, क्षमता, सहनशीलता, सहानुभूति, मृदुता, ऋजुता, सत्य, निर्लोभता, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, ज्ञान आदि अनन्त गुण प्राप्त हुए और इन गुणोंसे वे लोकप्रिय तथा लोकनायक बने। लोकनायक ही नहीं, मोक्षमार्गके नेता भी बने।

हिंसा और विषमताओंका जो नग्न ताण्डव-प्रदर्शन उस समय हो रहा था, उन्हें एक अहिंसा-अस्त्र द्वारा ही उन्होंने दूर किया और शान्तिकी स्थापना की। आज विश्वमें भीतर और बाहर जो अशान्ति और भय विद्यमान है उनका मूल कारण हिंसा एवं आधिपत्यकी कलुषित दुर्भावनाएँ हैं। वास्तवमें यदि विश्वमें शान्ति स्थापित करनी है और पारस्परिक भयोंको मिटाना है तो एक मात्र अमोघ अस्त्र 'अहिंसा' का अबलम्बन एवं आचरण है। हम थोड़ी देरको यह समझ लें कि हिंसक अस्त्रोंसे भयभीत करके शान्ति स्थापित कर लेंगे, तो यह समझना निरी भूल होगी। आतंकका असर सदा अस्थायी होता है। पिछले जितने भी युद्ध हुए वे बतलाते हैं कि स्थायी शान्ति उनसे नहीं हो सकी है। अन्यथा एकके बाद दूसरा और दूसरेके बाद तीसरा युद्ध कदापि न होता। आज जिनके पास शक्ति है वे भले ही उससे यह सन्तोष कर लें कि विश्वशान्तिका उन्हें नुस्खा मिल गया, क्योंकि हिंसक शक्ति हमेशा बरबादी ही करती है। दूसरेके अस्तित्वको मिटा कर स्वयं कोई जिन्दा नहीं रह सकता। अतः अणुबम, उद्जन बम आदि जितने भी हिंसाजनक साधन हैं उन्हें समाप्त कर अहिंसक एवं सद्भावना पूर्ण प्रयत्नोंसे शान्ति और निर्भयता स्थापित करनी चाहिए।

हमारा कर्त्तव्य होना चाहिए कि हिंसाका पूरा विरोध किया जाय। जिन-जिन चीजोंसे हिंसा होती है अथवा की जाती है उन सबका सख्त विरोध किया जाय। इसके लिए देशके भीतर और बाहर जबर्दस्त आन्दोलन किया जाय तथा विश्वव्यापी हिंसाविरोधी संगठन कायम किया जाय। यह संगठन निम्न प्रकारसे हिंसाका विरोध करे—

१. अणुबम, उद्जनबम जैसे संहारक वैज्ञानिक साधनोंका आविष्कार और प्रयोग रोके जायें तथा हितकारक एवं संरक्षक साधनोंके विकास व प्रयोग किये जायें।
२. अन्न तथा शाकाहारका व्यापक प्रचार किया जाय और मांसभक्षणका निषेध किया जाय।
३. पशु-पक्षियोंपर किये जानेवाले निर्मम अत्याचार रोके जायें।
४. कषायी-खाने बन्द किये जायें। उपयोगी पशुओंका वध तो सर्वथा बन्द किया जाय।

५. बन्दर, कुत्ते, बिल्ली आदिपर वैज्ञानिक प्रयोग न किये जायें । सुष्टिके प्रत्येक प्राणीको जीवित रहनेका अधिकार है ।

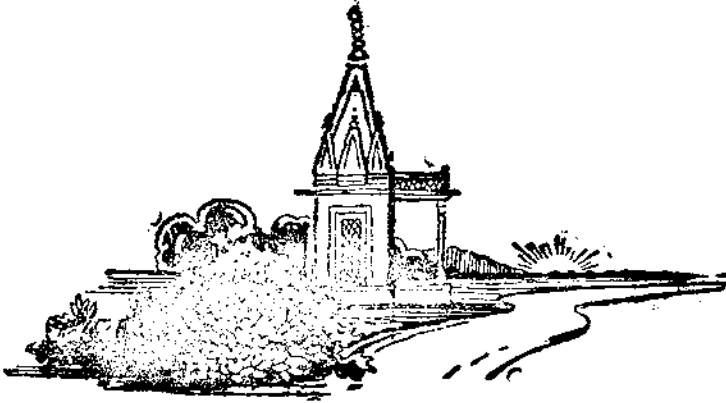
६. हीन, पतित, लूले-लंगड़े और गरीबोंके जीवनका विकास किया जाय और उनकी रक्षा की जाय ।

७. उद्योग, व्यापार और लेन-देनके व्यवहारमें भ्रष्टाचार न किया जाय और परिहार्य हिंसाका वर्जन किया जाय ।

८. धर्मके नामसे देवी-देवताओंके समक्ष होनेवाली पशुबलिको रोका जाय ।

९. जीवित जानवरोंको मारकर उनका चमड़ा निकालनेका हिंसक कार्य बन्द किया जाय ।

१०. नैतिक एवं अहिंसक नागरिक बननेका व्यापक प्रचार किया जाय । विश्वास है कि इस विषयमें अहिंसाप्रेमी जोरदार एवं व्यापक आन्दोलन करेंगे ।



दर्शन



१. अनेकान्तवाद-विमर्श
२. स्याद्वाद-विमर्श
३. संज्ञय बेलट्टिपुत्त और स्याद्वाद
४. जैनदर्शनके समन्वयवादी दृष्टिकोणकी ग्राह्यता
५. श्रमण-संस्कृतिकी वैदिक संस्कृतिको देन
६. डॉ० अम्बेडकरसे भेंटवातमें महत्वपूर्ण अनेकान्त-चर्चा
७. जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुशीलन
८. जैन दर्शनमें सर्वज्ञता
९. अर्थविधिगम-चिन्तन
१०. ज्ञापकतत्त्व-विमर्श
११. ध्यान-विमर्श

अनेकान्तवाद-विमर्श

जेण विणा लोगस्स वि व्यवहारो सव्वहा ण विव्वड्ड ।
तस्स भुवणेषक-गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

—आचार्य सिद्धसेन

‘जिसके बिना लोकका भी व्यवहार किसी तरह नहीं चल सकता, उस लोकके अद्वितीय गुरु ‘अनेकान्तवाद’ को नमस्कार है।’

यह उन सन्तोंकी उद्घोषणा एवं अमृत वाणी है, जिन्होंने अपना साधनामय समूचा जीवन परमार्थ-चिन्तन और लोककल्याणमें लगाया है। उनकी यह उद्घोषणा काल्पनिक नहीं है, उनकी अपनी सम्यक् अनुभूति और केवलज्ञानसे पूत एवं प्रकाशित होनेसे वह यथार्थ है। वास्तवमें परमार्थ-विचार और लोक-व्यवहार दोनोंकी आधार-शिला अनेकान्तवाद है। बिना अनेकान्तवादके न कोई विचार प्रकट किया जा सकता है और न कोई व्यवहार ही प्रवृत्त हो सकता है। समस्त विचार और समस्त व्यवहार इस अनेकान्तवादके द्वारा ही प्राण-प्रतिष्ठाको पाये हुए हैं। यदि उसकी उपेक्षा कर दी जाय तो वक्तव्य वस्तुके स्वरूपको न तो ठीक तरह कह सकते हैं, न ठीक तरह समझ सकते हैं और न उसका ठीक तरह व्यवहार ही कर सकते हैं। प्रत्युत, विरोध, उल्लंघन, झगड़े-फिसाद, रसाकशी, वाद-विवाद आदि दृष्टिगोचर होते हैं, जिनकी वजहसे वस्तुका यथार्थ स्वरूप निर्णीत नहीं हो सकता। अतएव प्रस्तुत लेखमें इस अनेकान्तवाद और उसकी उपयोगितापर कुछ प्रकाश डाला जाता है।

वस्तुका अनेकान्तस्वरूप—विश्वकी तमाम चीजें अनेकान्तमय हैं। अनेकान्तका अर्थ है नानाधर्म। अनेक यानी नाना और अन्त यानी धर्म और इसलिये नानाधर्मको अनेकान्त कहते हैं। अतः प्रत्येक वस्तुमें नानाधर्म पाये जानेके कारण उसे अनेकान्तमय अथवा अनेकान्तस्वरूप कहा गया है। यह अनेकान्तस्वरूपता वस्तुमें स्वयं है—आरोपित या काल्पनिक नहीं है। एक भी वस्तु ऐसी नहीं है जो सर्वथा एकान्तस्वरूप (एकधर्मात्मक) हो। उदाहरणार्थ यह लोक, जो हमारे व आपके प्रत्यक्षगोचर है, चर और अचर अथवा जीव और अजीव इन दो द्रव्योंसे युक्त है। वह लोकसामान्यकी अपेक्षा एक होता हुआ भी इन दो द्रव्योंकी अपेक्षा अनेक भी है और इस तरह वह अनेकान्तमय सिद्ध है। उसके एक जीवद्रव्यको ही लें। जीवद्रव्य जीवद्रव्य-सामान्यकी दृष्टिसे एक होकर भी चेतना, सुख, वीर्य आदि गुणों तथा मनुष्य, तिर्यच, नारकी, देव आदि पर्यायोंकी समष्टि रूप होनेकी अपेक्षा अनेक है और इस प्रकार जीवद्रव्य भी अनेकान्तस्वरूप प्रसिद्ध है। इसी तरह लोकके दूसरे अवयव अजीवद्रव्यकी ओर ध्यान दें। जो शरीर सामान्यकी अपेक्षासे एक है वह रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि गुणों तथा बाल्यावस्था, किशोरावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था आदि क्रमवर्ती पर्यायोंका आधार होनेसे अनेक भी है और इस तरह शरीरादि अजीवद्रव्य भी अनेकान्तात्मक सुविदित है। इस प्रकार जगत्का प्रत्येक सत् अनेकधर्मात्मक (गुणपर्यायात्मक, एकानेकात्मक, नित्यानित्यात्मक आदि) स्पष्टतया ज्ञात होता है।

और भी देखिए। जो जल प्यासको शान्त करने, खेतीको पैदा करने आदिमें सहायक होनेसे प्राणियोंका प्राण है—जीवन है वही बाढ़ लाने, डूबकर मरने आदिमें कारण होनेसे उनका घातक भी है। कौन नहीं जानता कि अग्नि कितनी संहारक है, पर वही अग्नि हमारे भोजन बनाने आदिमें परम सहायक भी है। भूखेको भोजन प्राणदायक है, पर वही भोजन अजीर्ण वाले अथवा टाइफाइडवाले बीमार आदमीके लिये विष है। मकान, किताब, कपड़ा, सभा, संघ, देश आदि ये सब अनेकान्त ही तो हैं। अकेली ईंटों या चूने-गारेका नाम मकान नहीं है। उनके मिलापका नाम ही मकान है। एक-एक पन्ना किताब नहीं है नाना पन्नोंके समूहका नाम किताब है। एक-एक सूत कपड़ा नहीं कहलाता। ताने-बाने रूप अनेक सूतोंके संयोगको कपड़ा कहते हैं। एक व्यक्तिको कोई सभा या संघ नहीं कहता। उनके समुदायको ही समिति, सभा, संघ या दल आदि कहा जाता है। एक-एक व्यक्ति मिलकर जाति, और अनेक जातियाँ मिलकर देश बनते हैं। जो एक व्यक्ति है वह भी अनेक बना हुआ है। वह किसीका मित्र है, किसीका पुत्र है, किसीका पिता है, किसीका पति या या स्त्री है, किसीका मामा या भांजा है, किसीका ताऊ या भतीजा है आदि अनेक सम्बन्धोंसे बंधा हुआ है। उसमें ये सम्बन्ध काल्पनिक नहीं हैं, यथार्थ हैं। हाथ, पैर, आँखें, कान ये सब शरीरके अवयव ही तो हैं और उनका आधारभूत अवयवी शरीर है। इन अवयव-अवयवी स्वरूप वस्तुको ही हम सभी शरीरादि कहते व देखते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह सारा ही जगत् अनेकान्तस्वरूप है। इस अनेकान्तस्वरूपको कहना या मानना अनेकान्तवाद है।

अनेकान्तस्वरूपका प्रदर्शक स्याद्वाद

भगवान् महावीर और उनके पूर्ववर्ती ऋषभादि तीर्थंकरोंने वस्तुको अनेकान्तस्वरूप साक्षात्कार करके उसका उपदेश दिया और परस्पर विरोधी-अविरोधी अनन्त-धर्मात्मक वस्तुको ठीक तरह समझने-समझानेके लिए वह दृष्टि भी प्रदान की जो विरोधादिके दूर करनेमें एकदम सक्षम है। वह दृष्टि है स्याद्वाद, जिसे कथंचित्वाद अथवा अपेक्षावाद भी कहते हैं। इस स्याद्वाद-दृष्टिसे ही हम उस अनन्तधर्मा वस्तुको ठीक तरह जान सकते हैं। कौन धर्म किस अपेक्षासे वस्तुमें निहित है, इसे हम, जब तक वस्तुको स्याद्वाद दृष्टिसे नहीं देखेंगे, नहीं जान सकते हैं। इसके सिवा और कोई दृष्टि वस्तुके अनेकान्तस्वरूपका निर्दोष दर्शन नहीं करा सकती है। वस्तु जैसी है उसका वैसा ही दर्शन करानेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि अथवा स्याद्वाददृष्टि ही हो सकती है, क्योंकि वस्तु स्वयं अनेकान्तस्वरूप है। इसीसे वस्तुके स्वरूप-विषयमें “अर्थोऽनेकान्तः। अनेके अन्ता धर्मा सामान्य-विशेष-गुण-पर्याया यस्य सोऽनेकान्तः” यों कहा गया है। दूसरी दृष्टियाँ वस्तुके एक-एक अंशका दर्शन अवश्य कराती हैं। पर उस दर्शनसे दर्शकको यह भ्रम एवं एकान्त आग्रह हो जाता है कि वस्तु इतनी मात्र ही है और नहीं है। इसका फल यह होता है कि शेष धर्मों या अंशोंका तिरस्कार हो जानेके कारण वस्तुका पूर्ण एवं सत्य दर्शन नहीं हो पाता। स्याद्वाद-तीर्थके प्रभावक आचार्य समन्तभद्रस्वामीने अपने स्वयम्भूस्तोत्रमें इसी बातको निम्न प्रकार प्रकट किया है :—

य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपर-प्रणाशिनः।

त एव तत्त्वं विमलस्य ते मुनेः परस्परपेक्षाः स्वपरोपकारिणः ॥

‘यदि नित्यत्व, अनित्यत्व आदि परस्पर निरपेक्ष एक-एक ही धर्म वस्तुमें हों तो वे न स्वयं अपने अस्तित्वको रख सकते हैं और न अन्यके। यदि वे ही परस्पर सापेक्ष हों—अन्यका तिरस्कार न करें—तो हे विमल जिन ! वे अपना भी अस्तित्व रखते हैं और अन्य धर्मोंका भी। तात्पर्य यह कि एकान्तदृष्टि तो स्वपरघातक है और अनेकान्त-दृष्टि स्वपरोपकारक है।’

इसी आशयसे उन्होंने स्पष्टतया यह भी बतलाया है कि वस्तुमें एकान्ततः नित्यत्व और एकान्ततः अनित्यत्व अपने अस्तित्वको क्यों नहीं रख सकते हैं? वे कहते हैं कि 'सर्वथा नित्य पदार्थ न तो उत्पन्न हो सकता है और न नाश हो सकता है, क्योंकि उसमें क्रिया और कारकको योजना सम्भव नहीं है। इसी तरह सर्वथा अनित्य पदार्थ भी, जो अन्वयरहित होनेसे प्रायः असत् रूप ही है, न उत्पन्न हो सकता है और न नष्ट हो सकता है, क्योंकि उसमें भी क्रिया और कारककी योजना असम्भव है। इसी प्रकार सर्वथा असत्का उत्पाद और सत्का नाश भी सम्भव नहीं है, क्योंकि असत् तो अन्वय-शून्य है और सत् व्यतिरेकशून्य है और इन दोनोंके बिना कार्यकारणभाव बनता नहीं। 'अन्वयव्यतिरेक-समधिगम्यो हि कार्यकारणभावः' यों सर्व सम्मत सिद्धान्त है। अतः वस्तुतत्त्व 'यह वही है' इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा-प्रतीति होनेसे नित्य है और 'यह वह नहीं है—अन्य है' इस प्रकारका ज्ञान होनेसे अनित्य है और ये दोनों नित्यत्व तथा अनित्यत्व वस्तुमें विरुद्ध नहीं हैं, क्योंकि वह द्रव्यरूप अन्तरंग कारणकी अपेक्षासे नित्य है और कालादि बहिरंग कारण तथा पर्यायरूप नैमित्तिक कार्यकी अपेक्षासे अनित्य है। यथा—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम् ।

नैवाऽसतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥२४॥

नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत् प्रतिपत्तिसिद्धेः ।

न तद्विरुद्धं बहिरन्तरङ्गनिमित्त-नैमित्तिक-योगतस्ते ॥४३॥

आगे इसी ग्रन्थमें उन्होंने अरजिनके स्तवनमें और भी स्पष्टताके साथ अनेकान्तदृष्टिको सम्यक् और एकान्त-दृष्टिको स्व-घातक कहा है :—

अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।

ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥१८॥

'हे अर जिन ! आपकी अनेकान्तदृष्टि समीचीन है—निर्दोष है, किन्तु जो एकान्तदृष्टि है वह सदोष है। अतः एकान्तदृष्टिसे किया गया समस्त कथन मिथ्या है, क्योंकि एकान्तदृष्टि बिना अनेकान्तदृष्टिके प्रतिष्ठित नहीं होती और इसलिये वह अपनी ही घातक है।'

तात्पर्य यह कि जिस प्रकार समुद्रके सद्भावमें ही उसकी अनन्त बिन्दुओंकी सत्ता बनती है और उसके अभावमें उन बिन्दुओंकी सत्ता नहीं बनती उसी प्रकार अनेकान्तरूप वस्तुके सद्भावमें ही सर्व एकान्त दृष्टियाँ सिद्ध होती हैं और उसके अभावमें एक भी दृष्टि अपने अस्तित्वको नहीं रख पाती। आचार्य सिद्ध-सेन अपनी चौथी द्वात्रिंशिकामें इसी बातको बहुत ही सुन्दर ढंगसे प्रतिपादन करते हैं :—

उदधाद्विव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।

न च तामु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तामु सरित्स्ववोदधिः ॥—(४-१५)

'जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्रमें सम्मिलित हैं उसी तरह समस्त दृष्टियाँ अनेकान्त-समुद्रमें मिली हैं। परन्तु उन एक-एकमें अनेकान्तका दर्शन नहीं होता। जैसे पृथक्-पृथक् नदियोंमें समुद्र नहीं दिखता।'

अतः हम अपने स्वल्प ज्ञानसे अनन्तधर्मा वस्तुके एक-एक अंशको छूकर ही उसमें पूर्णताका अहंकार 'ऐसी ही है' न करें, उसमें अन्य धर्मोंके सद्भावको भी स्वीकार करें। यदि हम इस तरह पक्षाग्रह छोड़कर वस्तुका दर्शन करें तो निश्चय ही हमें उसके अनेकान्तात्मक विराट् रूपका दर्शन हो सकता है। समन्तभद्र स्वामी युक्त्यनुशासनमें यही कहते हैं :—

एकान्तधर्माभिनिवेश-मूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम् ।

एकान्त-हानाच्च स यत्तदेव स्वाभाविकत्वाच्च समं मनस्ते ॥५१॥

‘एकान्तके आग्रहसे एकान्तीको अहंकार हो जाता है और उस अहंकारसे उसे राग, द्वेष, पक्ष आदि हो जाते हैं, जिनसे वह वस्तुका ठीक दर्शन नहीं कर पाता । पर अनेकान्तीको एकान्तका आग्रह न होनेसे उसे न अहंकार पैदा होता है और न उस अहंकारसे रागादिकको उत्पन्न होनेका अवसर मिलता है और उस हालतमें उसे उस अनन्तधर्मा वस्तुका सम्यग्दर्शन होता है; क्योंकि एकान्तका आग्रह न करना—दूसरे धर्मोंको भी उसमें स्वीकार करना सम्यग्दृष्टि आत्माका स्वभाव है और इस स्वभावके कारण ही अनेकान्तीके मनमें पक्ष या क्षोभ पैदा नहीं होता—वह समताको धारण किये रहता है ।’

अनेकान्तदृष्टिकी जो सबसे बड़ी विशेषता है वह है सब एकान्तदृष्टियोंको अपनाना—उनका तिरस्कार नहीं करना—और इस तरह उनके अस्तित्वको स्थिर रखना । आचार्य सिद्धसेनके शब्दोंमें हम इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

भद्रं मिच्छादंसण-समूह-मइयस्स अमयसारस्स ।

जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥

‘ये अनेकान्तमय जिनवचन मिथ्यादर्शनों (एकान्तों) के समूह रूप हैं—इसमें समस्त मिथ्यादृष्टियाँ (एकान्तदृष्टियाँ) अपनी-अपनी अपेक्षासे विराजमान हैं और अमृतसार या अमृतस्वादु हैं । वे संविग्न—रागद्वेषरहित तटस्थ वृत्तिवाले जीवोंको सुखदायक एवं ज्ञानोत्पादक हैं । वे जगत्के लिये भद्र हों—उनका कल्याण करें ।’

बन्ध, मोक्ष, आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक, पुण्य-पाप आदिकी सम्यक् व्यवस्था अनेकान्तमान्यतामें ही बनती है—एकान्तमान्यतामें नहीं । इसीसे समन्तभद्र स्वामीको देवागममें कहना पड़ा है कि—

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।

एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥

‘नित्यत्वादि किसी भी एकान्तमें पुण्य-पाप, परलोक, इहलोक आदि नहीं बनते हैं, क्योंकि एकान्तका अस्तित्व अनेकान्तके सद्भावमें ही बनता है और अनेकान्तके न माननेपर उनका वह एकान्त भी स्थिर नहीं रहता और इस तरह वे अपने तथा दूसरेके वैरी—अकल्याणकर्ता हैं ।’

इन्हीं सब बातोंसे आचार्य समन्तभद्रने भगवान् वीरके शासनको, जो अनेकान्तसिद्धान्तकी भव्य एवं विशाल आधारशिलापर निर्मित हुआ है और जिसकी बुनियाद अत्यन्त मजबूत है, ‘सर्वोदय तीर्थ—सबका कल्याण करने वाला तीर्थ’ कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य-कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वाऽऽपदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१॥

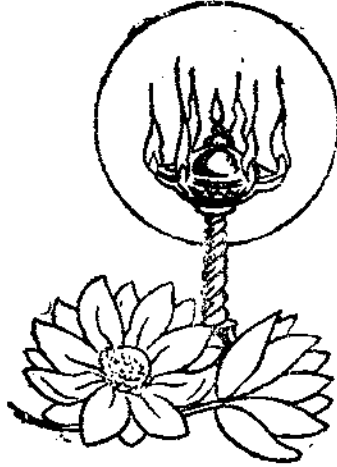
—युक्त्यनुशासन

‘हे वीर जिन ! आपका तीर्थ—शासन समस्त धर्मों—सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध, एक-अनेक, नित्यत्व-अनित्यत्व आदिसे युक्त है और गौण तथा मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए है—एक धर्म मुख्य

है तो दूसरा धर्म गौण है । किन्तु अन्य तीर्थ—शासन निरपेक्ष एक-एक नित्यत्व या अनित्यत्व आदिका ही प्रतिपादन करनेसे समस्त धर्मों—उस एक-एक धर्मके अविनाभावी शेष धर्मोंसे शून्य हैं और उनके अभावमें उनके अविनाभावी उस एक-एक धर्मसे भी रहित हैं । अतः आपका ही अनेकान्तशासनरूप तीर्थ सर्व दुःखोंका अन्त करनेवाला है, किसी अन्यके द्वारा अन्त (नाश) न होने वाला है और सबका कल्याणकर्ता है ।’

आचार्य अमृतचन्द्रके शब्दोंमें हम इस ‘अनेकान्त’ को, जिसे ‘सर्वोदयतीर्थ’ कहकर उसका अचिन्त्य माहात्म्य प्रकट किया गया है, नमस्कार करते और मंगलकामना करते हैं कि विश्व इसकी प्रकाशपूर्ण एवं आह्लादजनक शीतल छायामें आकर सुख-शान्ति एवं सदृष्टि प्राप्त करे ।

परमागमस्य बीजं निषिद्ध-जात्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।
सकल-नय-विलसितानां विरोधमथनं तमाम्यनेकान्तम् ॥



स्याद्वाद-विमर्श

स्याद्वाद : जैनदर्शनका मौलिक सिद्धान्त

‘स्याद्वाद’ जैन दर्शनका एक मौलिक एवं विशिष्ट सिद्धान्त है। ‘स्याद्वाद’ पद ‘स्यात्’ और ‘वाद’ इन दो शब्दोंसे बना है। यहाँ ‘स्यात्’ शब्द अव्यय निपात है, ‘क्रिया’ शब्द या अन्य शब्द नहीं है। इसका अर्थ कथंचित्, किंचित्, किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्मकी विवक्षा, कोई एक ओर, है। और ‘वाद’ शब्द का अर्थ है मान्यता अथवा कथन। जो ‘स्यात्’ (कथंचित्) का कथन करने वाला अथवा ‘स्यात्’ को लेकर प्रतिपादन करने वाला है वह ‘स्याद्वाद’ है। अर्थात् जो विरोधी धर्मका निराकरण न करके अपेक्षासे वस्तु-धर्मका प्रतिपादन (विधान) करता है उसे ‘स्याद्वाद’ कहा गया है।¹ कथंचित्वाद, अपेक्षावाद आदि इसी के नामान्तर हैं—इन नामोंसे उसीका बोध किया जाता है।

स्मरण रहे कि वक्ता अपने अभिप्रायको यदि सर्वथाके साथ प्रकट करता है तो उससे सही वस्तुका बोध नहीं हो सकता और यदि ‘स्यात्’ के साथ वह अपने अभिप्रायको प्रकट करता है तो वह वस्तु-स्वरूपका यथार्थ प्रतिपादन करता है। क्योंकि कोई भी धर्म वस्तुमें ‘सर्वथा’—ऐकान्तिक नहीं है। सत्त्व, असत्त्व, नित्यता, अनित्यता, एकत्व, अनेकत्व आदि भी धर्म वस्तुमें हैं और वे सभी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे उसमें विद्यमान हैं। सत्त्व असत्त्वका, नित्यत्व अनित्यत्वका, एकत्व अनेकत्वका और वक्तव्यत्व अवक्तव्यत्वका नियमसे अविनाभावी है। वे एक दूसरेको छोड़कर नहीं रहते। हाँ, एककी प्रधान विवक्षा होनेपर दूसरा गौण हो जायेगा। पर वे धर्म रहेंगे सभी। इसीसे वस्तु अनन्तवर्मात्मक है। इस विषयको जैन विचारक आचार्य समन्तभद्रने² बहुत स्पष्टताके साथ समझाया है। अतः प्रत्येक वक्ता जब कोई बात कहता है तो वह ‘स्याद्वाद’ की भाषामें कहता है। भले ही वह स्याद्वादका प्रयोग करे या न करे।

स्याद्वादका सार्वत्रिक उपयोग

लौकिक या पारलौकिक कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसमें स्याद्वादका उपयोग न किया जाता हो। जीवनके दैनिक व्यवहारसे लेकर भुक्ति तकके सभी विषयोंमें स्याद्वादका उपयोग होता है और हर व्यक्ति उसे करता है। टोपी, कुरता, धोती आदि जितने शब्द और संकेत हैं वे सब विवक्षित अभिप्रायोंको प्रकट करनेके साथ ही अविबक्षित गौण अभिप्रायोंकी भी सूचना करते हैं। यह दूसरी बात है कि उन्हें कहते समय या सुनते समय उन गौण अभिप्रायोंकी ओर वक्ता या श्रोताका ध्यान न जाय, क्योंकि उसका काम

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागार्तिकवृत्तचिद्विधिः । सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥

—समन्तभद्र, आप्तमी. का. १०४ ।

२. सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विषयाश्च ये नयाः । सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीहिते ॥

सर्वथा-नियम-त्यागी यथादृष्टमपेक्षकः । स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥

—समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तोत्र १०४, १०५ ।

विवक्षित अभिप्रायसे सम्पन्न हो जाता है। पर यह बात नहीं कि वे अविवक्षित अभिप्राय उसमें विद्यमान न हों। स्याद्वाद इसी ऐकान्तिकताका निषेध करता है और अनेकान्तका विधान करता है। और तो क्या, वह अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना करता है और यह अचरज करनेकी बात नहीं है। जिसे हमने अनेकान्त कहा है वह समष्टिको ध्यानमें रखकर ही तो कहा है, पर व्यष्टि (एक-एक धर्म-अभिप्राय) की अपेक्षासे तो वह अनेकान्त नहीं है, एक-एक अभिप्राय है। इस तरह अनेकान्तको भी स्याद्वादने समष्टि और व्यष्टिकी अपेक्षाओंसे अनेकान्त बतलाया है।¹ और यह अतात्त्विक या व्यर्थ जैसी चीज नहीं है। वस्तु ही जब वैसी स्वभावतः हो तो उसकी वैसी ही व्याख्या होनी चाहिए। हमें जो ऐकान्तिक दृष्टिसे देखनेकी लत पड़ी हुई है उसीसे हम उक्त प्रकारके प्रतिपादनको अतात्त्विक या व्यर्थ कहने लगते हैं। अतः वस्तुके यथार्थ स्वरूपको देखना है तो हमें इस एकान्त दृष्टिके सदोष चश्मेको दूर कर स्याद्वाद-दृष्टिके निर्दोष सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्रको लगाकर ही वस्तुके स्वरूपको देखना चाहिए और वैसी ही उसकी व्यवस्था करनी चाहिए।

स्याद्वाद और अनेकान्तवादका सम्बन्ध

कुछ विद्वानोंका कथन है कि स्याद्वाद और अनेकान्तवाद दोनों एक हैं—एक ही अर्थके प्रतिपादक दो शब्द हैं। किन्तु ऐसा नहीं है। इन दोनोंमें उसी तरहका भारी अन्तर है जिस तरहका प्रमाणवाद और प्रमेयवादमें, या ज्ञानवाद और ज्ञेयवादमें है। वस्तुतः स्याद्वाद व्यवस्थापक है और अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य। अथवा स्याद्वाद वाचक (प्रतिपादक) है और अनेकान्तवाद प्रतिपाद्य। दोनों स्वतन्त्र हैं। पर व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक या वाच्य-वाचक सम्बन्धसे वे परस्परमें ऐसे सम्बद्ध हैं, जैसे शब्द और अर्थ, प्रमाण और प्रमेय, ज्ञान और ज्ञेय। इस तरह इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है और दोनों ही भिन्नार्थक हैं। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि स्याद्वाद जब भी वस्तुकी व्यवस्था करेगा, तब 'सप्तभङ्गी' के द्वारा करेगा। अतः स्याद्वाद वक्ताका वचनस्थानीय है, अनेकान्तवाद वस्तुस्थानीय है और सप्तभङ्गीवाद प्रयोगसाधनस्थानीय है। चूँकि अनेकान्त-स्वरूप वस्तु स्वयं अपने आपमें समष्टि और व्यष्टिकी अपेक्षा तथा प्रमाण और नयकी विवक्षासे अनेकान्त तथा एकान्त दोनों रूप हैं। इसलिए उसकी साधन-प्रक्रिया—सप्तभङ्गी भी दो प्रकारकी कही गई है। एक प्रमाणसप्तभङ्गी और दूसरी नयसप्तभङ्गी। प्रमाणसप्तभङ्गीके द्वारा स्याद्वाद अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी अनेकान्तात्मकताका और नयसप्तभङ्गी द्वारा उसी अनेकान्तस्वरूप वस्तुकी अनेकान्तात्मकताका प्रतिपादन करता है। यहीं इन तीनों—स्याद्वाद, सप्तभङ्गीवाद और अनेकान्तवादमें गौलिक भेद है। यहाँ सप्तभङ्गी-वादसे उन सात भङ्गों (उत्तर वाक्यों) के समुच्चयसे अभिप्राय है, जिनके माध्यमसे वक्ता अपने अभिप्रायको प्रकट करता है और प्रश्नकर्ताके प्रश्नोंका समाधान करता है।

अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवाद

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे अनेकान्तवाद और सप्तभङ्गीवादका स्वरूप ज्ञात हो जाता है तथापि उनके सम्बन्धमें थोड़ा प्रकाश और डालना आवश्यक है। 'अनेकान्तवाद' पदमें तीन शब्द हैं—अनेक, अन्त और वाद। अनेकका अर्थ नाना है और अन्तका अर्थ यहाँ उसके नानार्थक होते हुए भी धर्म विवक्षित है और वादका अर्थ मान्यता अथवा कथन है। पूरे पदका अर्थ हुआ नाना-धर्मात्मक वस्तुकी मान्यता अथवा कथन। इस तरह नानाधर्मात्मक वस्तुका नाम अनेकान्त और उसके स्वीकारका नाम अनेकान्तवाद है।

१. अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।

अनेकान्तः प्रमाणात् तदेकान्तोऽपितान्नयात् ॥

—समन्तभद्र, स्वयम्भूस्तो० श्लो० १०६।

वस्तुमें सामान्य, विशेष, गुण, पर्याय आदि अनन्त धर्म भरे पड़े हैं। उनमेंसे एक ही धर्मको या एक धर्मात्मक ही वस्तुको स्वीकार करना एकान्तवाद है। सामान्यैकान्त, विशेषैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, नित्यैकान्त, अमित्यैकान्त आदि एकान्तवाद हैं। एकान्तवादके स्वीकार करनेमें जो सबसे बड़ा दोष है वह यह है कि उन सामान्य-विशेष आदिमेंसे केवल उसी एकको माननेपर दूसरे धर्मोंका तिरस्कार हो जाता है और उनके तिरस्कृत होने पर उनका अभिमत वह धर्म भी नहीं रहता, जिसे वे मानते हैं, क्योंकि उनका परस्पर अभेद्य सम्बन्ध अथवा अविनाभाव सम्बन्ध है। किन्तु विवक्षित और अविवक्षित धर्मोंको मुख्य तथा गौण दृष्टिसे स्वीकार करनेमें उक्त दोष नहीं आता। अतएव अन्तिम तीर्थंकर महावीरने बतलाया कि यदि अविकल पूरी वस्तु देलना चाहते हो तो उन एकान्तवादोंके समुच्चयस्वरूप अनेकान्तवादको स्वीकार करना चाहिए—उनकी परस्पर सापेक्षतामें ही वस्तुका स्वरूप स्थिर रहता और निखरता है। यही अनेकान्तवाद है, जिसकी व्यवस्था स्याद्वादके द्वारा बताया जा चुकी है।

सात उत्तरवाक्योंके समुदायका नाम सप्तभङ्गी है। यहाँ 'भङ्ग' शब्दका अर्थ उत्तरवाक्य अथवा वस्तु-धर्म विवक्षित है। जिसमें सात उत्तरवाक्य या धर्म हों, उसे सप्तभंगी कहते हैं। यह वक्तव्यकी प्रतिबोध्यकी समझानेकी एक प्रक्रिया है।^१ इसके स्वीकारका नाम सप्तभङ्गीवाद है। इस सप्तभंगीमें सात ही उत्तरवाक्योंका नियम इसलिए है कि प्रश्नकर्ताके द्वारा सात ही प्रश्न किये जाते हैं, और उन सात ही प्रश्न किये जानेका कारण उसकी सात ही जिज्ञासाएँ हैं तथा सात जिज्ञासाओंका कारण भी वस्तुके विषयमें उठने वाले उसके सात ही सन्देह हैं और इन सात सन्देहोंका कारण वस्तुनिष्ठ सात ही धर्म हैं।^२ यों तो वस्तुमें अनन्त धर्म हैं। किन्तु प्रत्येक धर्मको लेकर विधि-निषेध (है, नहीं) की अपेक्षासे सात ही धर्म उसमें व्यवस्थित हैं वे सात धर्म इस प्रकार हैं—सत्त्व, असत्त्व, सत्त्वासत्त्वोभय, अवक्तव्यत्व (अनुभय) सत्त्वावक्तव्यत्व, असत्त्वावक्तव्यत्व और सत्त्वासत्त्वोभयावक्तव्यत्व। इन सातसे न कम है और न ज्यादा। इन सातमें तीन भङ्ग (सत्त्व, असत्त्व और अवक्तव्यत्व) मूलभूत हैं, तीन (उभय, सत्त्वावक्तव्यत्व और असत्त्वावक्तव्यत्व) द्विसंयोगी हैं और एक (सत्त्वासत्त्वोभयावक्तव्यत्व) त्रिसंयोगी है। उदाहरणस्वरूप नमक, मिर्च और खटाई इन तीन मूल स्वादोंके संयोगज स्वाद चार और बन सकते हैं और कुल सात ही हो सकते हैं। उनसे न कम और न ज्यादा।

अतः इन सात धर्मोंके विषयमें प्रश्नकर्ताके द्वारा किये गये सात प्रश्नोंका उत्तर सप्तभङ्गों—सात उत्तरवाक्योंके द्वारा दिया जाता है। यही सप्तभंगीन्याय अथवा शैली या प्रक्रिया है, जो वस्तुसिद्धिके लिए स्याद्वादका अमोघ साधन है।



१. न्यायदीपिका पृ० १२७, तत्त्वार्थवार्तिक १-६, जैनतर्कभाषा, पृ० १९।

२. अष्टसहस्री पृ० १२५, १२६।

संजय वेलट्टिपुत्त और स्याद्वाद

स्याद्वादके सम्बन्धमें भ्रान्तियाँ

जैन दर्शनके स्याद्वाद सिद्धान्तको अभी भी विद्वान् ठीक तरहसे समझनेका प्रयत्न नहीं करते और धर्मकीर्ति एवं शङ्कराचार्यकी तरह उसके बारेमें भ्रान्त उल्लेख अथवा कथन कर जाते हैं।

पं० बलदेव उपाध्यायकी भ्रान्ति

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें संस्कृत-पाली विभागके व्याख्याता पं० बलदेव उपाध्यायने^१ सन् १९४६ में 'बौद्ध-दर्शन' नामका एक ग्रन्थ हिन्दीमें लिखकर प्रकाशित किया है। इसमें उन्होंने बुद्धके समकालीन मत-प्रवर्तकोंके मतोंको देते हुए संजय वेलट्टिपुत्तके अनिश्चिततावादको भी बौद्धोंके 'दीघनिकाय' (हिन्दी अ० पृ० २२) ग्रन्थसे उपस्थित किया है और अन्तमें यह निष्कर्ष निकाला है कि "यह अनेकान्तवाद प्रतीत होता है। सम्भवतः ऐसे ही आधारपर महावीरका स्याद्वाद प्रतिष्ठित किया गया था।"

राहुल सांस्कृत्यायनका भ्रम

इसी प्रकार दर्शन और हिन्दीके ख्यातिप्राप्त बौद्ध विद्वान् राहुल सांस्कृत्यायन अपने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में लिखते हैं—

"आधुनिक जैन-दर्शनका आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है संजय वेलट्टिपुत्तके चार अङ्गवाले अनेकान्तवादको (!) लेकर उसे सात अङ्गवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों (= परलोक, देवता) के बारेमें कुछ निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

१. है ?—नहीं कह सकता।
२. नहीं है ?—नहीं कह सकता।
३. है भी नहीं भी ?—नहीं कह सकता।
४. न है और न नहीं है—नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोंके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

१. है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)
२. नहीं है ?—नहीं भी हो सकता (स्यान्नास्ति)
३. है भी नहीं भी ?—है भी और नहीं भी हो सकता है (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते (= वक्तव्य) हैं ? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

४. स्याद् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (= वक्तव्य) है ?—नहीं, स्याद् अवक्तव्य है।
५. 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।
६. 'स्याद् नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।
७. 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नहीं, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अवक्तव्य है।

अवक्तव्य है।'

१. बौद्धदर्शन पृ० ४०।

२. दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९६-९७।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भङ्गियाँ बनाई हैं, और उसके चौथे वाक्य “न है और न नहीं है” को छोड़कर ‘स्याद्’ भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भङ्ग तैयार कर अपनी सप्तभङ्गी पूरी की ।

उपलभ्य सामग्रीसे मालूम होता है कि संजय अनेकान्तवादका प्रयोग परलोक, देवता, कर्मफल, मुक्त पुरुष जैसे—परोक्ष विषयोंपर करता था । जैन संजयकी युक्तिको प्रत्यक्ष वस्तुओंपर लागू करते हैं । उदाहरणार्थ सामने मौजूद घटकी सत्ताके बारेमें यदि जैन-दर्शनसे प्रश्न पूछा जाय, तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

१. घट यहाँ है ?—हो सकता है (= स्यादस्ति) ।

२. घट यहाँ नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है (= स्याद् नास्ति) ।

३. क्या घट यहाँ है भी और नहीं भी है ?—है भी और नहीं भी हो सकता है (= स्याद् अस्ति च नास्ति च) ।

४. ‘हो सकता है’ (= स्याद्) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, ‘स्याद्’ यह अवक्तव्य है ।

५. घट यहाँ ‘हो सकता है’ (= स्यादस्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, ‘घट यहाँ हो सकता है’ यह नहीं कहा जा सकता है ।

६. घट यहाँ ‘नहीं हो सकता है’ (= स्यान् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, ‘घट यहाँ नहीं हो सकता’ यह नहीं कहा जा सकता ।

७. घट यहाँ ‘हो भी सकता है’, नहीं भी हो सकता है’, क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, ‘घट’ यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है’ यह नहीं कहा जा सकता ।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (= वाद) की स्थापना न करना, जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया, और उसके चतुर्भंगी न्यायको सप्तभङ्गीमें परिणत कर दिया ।”

उक्त भ्रान्तिर्योंका निराकरण

मालूम होता है कि इन विद्वानोंने जैनदर्शनके स्याद्वाद-सिद्धान्तको निष्पक्ष होकर समझनेका प्रयत्न नहीं किया और परम्परासे जो जानकागी उन्हें मिली उसीके आधारपर उन्होंने उक्त कथन किया है । अच्छा होता, यदि वे किसी जैन विद्वान् अथवा दार्शनिक जैन ग्रन्थसे जैनदर्शनके स्याद्वादकी समझकर उसपर कुछ लिखते । हमें आश्चर्य है कि दर्शनों और उनके इतिहासका अपनेको अधिकारी विद्वान् माननेवाला राहुलजी जैसा महापण्डित जैनदर्शन और उसके इतिहासको छिपाकर यह कैसे लिख गया कि “संजयके वादको ही संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर जैनोंने अपना लिया ।” क्या वे यह मानते हैं कि जैनधर्म व जैनदर्शन और उनके माननेवाले जैन संजयके पहले नहीं थे ? यदि नहीं, तो उनका उक्त लिखना असम्बद्ध और भ्रान्त है । और यदि मानते हैं, तो उनकी यह बड़ी भारी ऐतिहासिक भूल है, जिसे स्वीकार करके उन्हें तुरन्त ही अपनी भूलका परिमार्जन करना चाहिये । यह अब सर्व विदित हो गया है और प्रायः सभी निष्पक्ष ऐतिहासिक भारतीय तथा पाश्चात्तम विद्वानोंने स्वीकार भी कर लिया है कि जैनधर्म व जैनदर्शनके प्रवर्तक भगवान् महावीर नहीं थे, अपितु उनसे पूर्व हो गये ऋषभदेव आदि २३ तीर्थङ्कर उनके प्रवर्तक हैं, जो विभिन्न समयोंमें हुए हैं और जिनमें पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव, २२वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि (कृष्णके समकालीन और उनके चचेरे भाई) तथा २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ तो ऐतिहासिक महापुरुष भी सिद्ध हो चुके हैं । अतः भगवान् महावीरके समकालीन संजय और उसके अनुयायियोंके पूर्व जैनधर्म व जैनदर्शन और

उनके माननेवाले जैन विद्यमान थे और इसलिये उनके द्वारा संज्ञयके वादको अपनातेका राहुलजीका आक्षेप सर्वथा निराधार और असंगत है। ऐसा ही एक भारी आक्षेप अपने बौद्ध ग्रन्थकारोंकी प्रशंसाकी धुनमें वे समग्र भारतीय विद्वानोंपर भी कर गये, जो अक्षम्य है। वे इसी 'दर्शन दिग्दर्शन' (पृ० ४९८) में लिखते हैं—

“नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु दिङ्नाग, धर्मकीर्ति—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हींके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्रायः सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते हैं।”

राहुलजी जैसे कलमशूरोको हरेक बातको और प्रत्येक पदवाक्यादिको नाथ-जोखकर ही कहना और लिखना चाहिए। उनका यह लिखना बहुत ही भ्रान्त और आपत्तिजनक है।

अब संज्ञयका वाद क्या है और जैनोंका स्याद्वाद क्या है? तथा उक्त विद्वानोंका उक्त कथन क्या संगत एवं अभ्रान्त है? इन बातोंपर संक्षेपमें विचार किया जाता है।

संज्ञयवेलट्टिपुत्तका वाद (मत)

भगवान् महावीरके समकालमें अनेक मत-प्रवर्तक विद्यमान थे। उनमें निम्न छह मत-प्रवर्तक बहुत प्रसिद्ध और लोकमान्य थे—

१ अजितकेश कम्बल, २ मक्खलि गोशाल, ३ पूरण काश्यप, ४ प्रक्रुध कात्यायन, ५ संज्ञय वेलट्टिपुत्त और ६ गौतम बुद्ध।

इनमें अजितकेश कम्बल और मक्खलि गोशाल भौतिकवादी, पूरण काश्यप और प्रक्रुध कात्यायन नित्यतावादी, सञ्जय वेलट्टिपुत्त अनिश्चिततावादी और गौतम बुद्ध क्षणिक अनात्मवादी थे।

प्रकृतमें हमें सञ्जयके मतको जानना है। अतः उनके मतको नीचे दिया जाता है। 'दीघनिकाय' में उनका मत इस प्रकार बतलाया है—

“यदि आप पूछें—‘क्या परलोक है’, तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बताऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता वैसे भी नहीं कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि ‘वह नहीं है’। मैं यह भी नहीं कहता कि ‘वह नहीं नहीं है’। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं।’ देवता (= औपवादिक प्राणी) हैं...। देवता नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं... अच्छे बुरे कर्मके फल हैं, नहीं हैं, हैं भी नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं। तथागत (= मुक्तपुरुष) मरनेके बाद होते हैं, नहीं होते हैं...?—यदि मुझसे ऐसा पूछें, तो मैं यदि ऐसा समझता होऊँ...तो ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नहीं कहता, वैसे भी नहीं कहता...”

यह बौद्धों द्वारा उल्लेखित संज्ञयका मत है। इसमें पाठक देखेंगे कि संज्ञय परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तपुरुष इन अतीन्द्रिय पदार्थोंके जाननेमें असमर्थ था और इसलिये उनके अस्तित्वादिके बारेमें वह कोई निश्चय नहीं कर सका। जब भी कोई इन पदार्थोंके बारेमें उससे प्रश्न करता था तब वह चतुष्कोटि विकल्पद्वारा यही कहता था कि मैं जानता होऊँ तो बतलाऊँ और इसलिये निश्चयसे कुछ भी नहीं कह सकता। अतः यह तो बिल्कुल स्पष्ट है कि संज्ञय अनिश्चिततावादी अथवा संशयवादी था और उसका मत अनिश्चिततावाद या संशयवादरूप था। राहुलजीने स्वयं भी लिखा है कि “संज्ञयका दर्शन जिस रूपमें हम

१. देखो, 'दर्शन-दिग्दर्शन' पृ० ४९२।

तक पहुँचा है उससे तो उसके दर्शनका अभिप्राय है, मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममें डाला जाये और वह कुछे निश्चय न कर भ्रान्त धारणाओंको अप्रत्यक्ष रूपसे पुष्ट करे।'

जैनदर्शनका स्याद्वाद और अनेकान्तवाद

परन्तु जैनदर्शनका स्याद्वाद संजयके उक्त अनिश्चिततावाद अथवा संशयवादसे एकदम भिन्न और निर्णय-कोटिको लिये हुए है। दोनोंमें पूर्व-पश्चिम अथवा ३६ के अंकों जैसा अन्तर है। जहाँ संजयका वाद अनिश्चयात्मक है वहाँ जैनदर्शनका स्याद्वाद निश्चयात्मक है। वह मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नहीं डालता, बल्कि उसमें आभासित अथवा उपस्थित विरोधों व सन्देहोंको दूर कर वस्तु-तत्त्वका निर्णय करानेमें सक्षम होता है। स्मरण रहे कि समग्र (प्रत्यक्ष और परोक्ष) वस्तु-तत्त्व अनेकधर्मात्मक है—उसमें अनेक (नाना) अन्त (धर्म-शक्ति-स्वभाव) पाये जाते हैं और इसलिये उसे अनेकान्तात्मक भी कहा जाता है। वस्तु-तत्त्वकी यह अनेकान्तात्मकता निसर्गतः है, अप्राकृतिक नहीं। यही वस्तुमें अनेक धर्मोंका स्वीकार व प्रतिपादन जैनोंका अनेकान्तवाद है। संजयके वादको, जो अनिश्चिततावाद अथवा संशयवादके नामसे उल्लिखित होता है, अनेकान्तवाद कहना अथवा बतलाना किसी तरह भी उचित एवं सङ्गत नहीं है, क्योंकि संजयके वादमें एक भी सिद्धान्तकी स्थापना नहीं है; जैसाकि उसके उपरोक्त मत-प्रदर्शन और राहुलजीके पूर्वोक्त कथनसे स्पष्ट है। किन्तु अनेकान्तवादमें अस्तित्वादि सभी धर्मोंकी स्थापना और निश्चय है। जिस जिस अपेक्षासे वे धर्म उसमें व्यवस्थित एवं निश्चित हैं उन सबका निरूपक स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद व्यवस्थाप्य है तो स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक है। दूसरे शब्दोंमें अनेकान्तवाद वस्तु (वाच्य-प्रमेय) रूप है और स्याद्वाद निर्णायक (वाचक-तत्त्व) रूप है। वास्तवमें अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको ठीक-ठीक समझने-समझाने, प्रतिपादन करने-करानेके लिये ही स्याद्वादका आविष्कार किया गया है, जिसके प्ररूपक जैनोंके सभी (२४) तीर्थंकर हैं। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरको उसका प्ररूपण उत्तराधिकारके रूपमें २३ वें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथसे तथा भगवान् पार्श्वनाथको कृष्णके समकालीन २२ वें तीर्थंकर अरिष्टनेमिसे मिला था। इस तरह पूर्व पूर्व तीर्थंकरसे अग्रिम तीर्थंकरको परम्परया स्याद्वादका प्ररूपण प्राप्त हुआ था। इस युगके प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव है जो इस युगके आद्य स्याद्वादप्ररूपक है। महान् जैन तार्किक समन्तभद्र^१ और अकलङ्कदेव^२ जैसे प्रख्यात जैनाचार्योंने सभी तीर्थंकरोंको स्पष्टतः स्याद्वादी—स्याद्वादप्रतिपादक बतलाया है और उस रूपसे उनका गुण-कीर्तन किया है। जैनोंकी यह अत्यन्त प्रामाणिक मान्यता है कि उनके हर एक तीर्थंकरका उपदेश 'स्याद्वादामृतगर्भ' होता है और वे 'स्याद्वादपुण्योदधि' होते हैं। अतः केवल भगवान् महावीर ही स्याद्वादके प्रतिष्ठापक व प्रतिपादक नहीं हैं। स्याद्वाद जैनधर्मका मौलिक सिद्धान्त है और वह भगवान् महावीरके पूर्ववर्ती ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक कालसे समागत है।

स्याद्वादका अर्थ और प्रयोग

'स्याद्वाद' पद स्यात् और वाद इन दो शब्दोंसे बना है। 'स्यात्' अव्यय निपातशब्द है, क्रिया अथवा अन्य शब्द नहीं, जिसका अर्थ है कथञ्चित्, किञ्चित्, किसी अपेक्षा, कोई एकदृष्टि, कोई एक धर्मकी

१. 'बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः ।

स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥१४॥'—स्वयंभूस्तोत्रगत शंभवाजिनस्तोत्र ।

२. "धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।

वृषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥१॥"—लघीयस्त्रय

विवक्षा कोई एक और । और 'बाद' शब्दका अर्थ है मान्यता अथवा कथन । जो स्यात् (कथञ्चित्) का कथन करनेवाला अथवा 'स्यात्' को लेकर प्रतिपादन करनेवाला है वह स्याद्वाद है । अर्थात् जो सर्वथा एकान्तका त्यागकर अपेक्षासे वस्तुस्वरूपका विधान करता है वह स्याद्वाद है । कथञ्चिद्वाद, अपेक्षावाद आदि इसीके दूसरे नाम हैं—इन नामोंसे भी उसीका बोध होता है । जैन तार्किकशिरोमणि स्वामी समन्तभद्रने आप्त-मीमांसा और स्वयम्भूस्तोत्रमें यही कहा है—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्कथञ्चित्त्वितिः ।

सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥—आप्तमीमांसा ।

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितिहिते ॥

सर्वथानियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।

स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥—स्वयम्भूस्तोत्र ।

अतः 'स्यात्' शब्दको संशयार्थक, भ्रमार्थक अथवा अनिश्चयात्मक नहीं समझना चाहिये । वह अविबक्षित धर्मोंकी गौणता और विबक्षित धर्मकी प्रधानताको सूचित करता हुआ विबक्षित हो रहे धर्मका विधान एवं निश्चय करानेवाला है । संजयके अनिश्चिततावादकी तरह वह अनिर्णीति अथवा वस्तुतत्त्वकी सर्वथा अवाच्यताकी घोषणा नहीं करता । उसके द्वारा जैसा प्रतिपादन होता है वह समन्तभद्रके शब्दोंमें निम्न प्रकार है—

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।

तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।

असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

क्रमापितद्वयाद् द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः ।

अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥१६॥

अर्थात् जैनदर्शनमें समग्र वस्तुतत्त्व कथञ्चित् सत् ही है, कथञ्चित् असत् ही है प्रथा कथञ्चित् उभय ही है और कथञ्चित् अवाच्य ही है, सो यह सब नयविवक्षासे है, सर्वथा नहीं ।

स्वरूपादि (स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव इन) चारसे उसे कौन सत् ही नहीं मानेगा और पररूपादि (परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल, परभाव इन) चारसे कौन असत् ही नहीं मानेगा । यदि इस तरह उसे स्वीकार न किया जाय तो उसकी व्यवस्था नहीं हो सकती ।

क्रमसे अपित दोनों (सत् और असत्) की अपेक्षासे वह कथञ्चित् उभय ही है, एक साथ दोनों (सत् और असत्) को कह न सकनेसे अवाच्य ही है । इसी प्रकार अवक्तव्यके बादके अन्य तीन भङ्ग (सदवाच्य, असदवाच्य, और सदसदवाच्य) भी अपनी विवक्षाओंसे समझ लेना चाहिए ।

यही जैनदर्शनका सप्तभङ्गी न्याय है जो त्रिरोधी-अविरोधी धर्मयुगलको लेकर प्रयुक्त किया जाता है और तत्तत् अपेक्षाओंसे वस्तु—धर्मोंका निरूपण करता है । स्याद्वाद एक विजयी योद्धा है और सप्तभङ्गी—न्याय उसका अस्त्र-शस्त्रादि विजय-साधन है । अथवा यों कहिए कि वह एक स्वतः सिद्ध न्यायाधीश है और सप्तभङ्गी उसके निर्णयका एक साधन है । जैनदर्शनके इन स्याद्वाद, सप्तभङ्गीन्याय, अनेकान्तवाद आदिका विस्तृत और प्रामाणिक विवेचन आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, सन्मतिसूत्र, अष्टशती, अष्ट-सहस्री, अनेकान्तजयपताका, स्याद्वादमञ्जरी आदि जैन दार्शनिक ग्रन्थोंमें समुपलब्ध है ।

संजयके अनिश्चिततावाद और जैनदर्शनके स्याद्वादमें अन्तर

ऊपर राहुलजीने संजयकी चतुर्भङ्गी इस प्रकार बतलाई है—

१. है ?—नहीं कह सकता ।

२. नहीं है ?—नहीं कह सकता ।

३. है भी नहीं भी ?—नहीं कह सकता ।

४. न है और न नहीं है ?—नहीं कह सकता ।

संजयने सभी परोक्ष वस्तुओंके बारेमें 'नहीं कह सकता' जवाब दिया है और इसलिये उसे अनिश्चित-तावादी कहा गया है ।

जैनोंकी जो सप्तभङ्गी है वह इस प्रकार है—

१. वस्तु है ?—कथञ्चित् (अपनी द्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु है ही—स्यादस्त्येव घटादिवस्तु ।

२. वस्तु नहीं है ?—कथञ्चित् (परद्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु नहीं ही है—स्यान्नास्त्येव घटादि वस्तु ।

३. वस्तु है, नहीं (उभय) है ?—कथञ्चित् (क्रमसे अर्पित दोनों—स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि चार अपेक्षाओंसे) वस्तु है, नहीं (उभय) ही है—स्यादस्ति नास्त्येव घटादि वस्तु ।

४. वस्तु अवक्तव्य है ?—कथञ्चित् (एक साथ विवक्षित स्वद्रव्यादि और परद्रव्यादि दोनों अपेक्षाओंसे कही न जा सकनेसे) वस्तु अवक्तव्य ही है—स्यादवक्तव्यमेव घटादिवस्तु ।

५. वस्तु है—अवक्तव्य है ?—कथञ्चित् (स्वद्रव्यादिसे और एक साथ विवक्षित दोनों स्व-पर-द्रव्यादिकी अपेक्षाओंसे कही न जा सकनेसे) वस्तु 'है—अवक्तव्य ही है'—स्यादस्त्यवक्तव्यमेव घटादिवस्तु ।

६. वस्तु 'नहीं—अवक्तव्य है' ?—कथञ्चित् (परद्रव्यादिसे और एक साथ विवक्षित दोनों स्व-पर-द्रव्यादिकी अपेक्षासे कही न जा सकनेसे) वस्तु 'नहीं—अवक्तव्य ही है'—स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव घटादिवस्तु ।

७. वस्तु 'है—नहीं—अवक्तव्य है' ?—कथञ्चित् (क्रमसे अर्पित स्व-पर द्रव्यादिसे और एक साथ अर्पित स्वपरद्रव्यादिकी अपेक्षासे कही न जा सकनेसे) वस्तु है, नहीं और अवक्तव्य ही है—स्यादस्ति नास्त्यवक्तव्यमेव घटादि वस्तु ।

जैनोंकी इस सप्तभङ्गीमें पहला, दूसरा और चौथा ये तीन भङ्ग तो मौलिक हैं और तीसरा, पाँचवाँ, और छठा द्विसंयोगी तथा सातवाँ त्रिसंयोगी भङ्ग है और इस तरह अन्य चार भङ्गमूलभूत तीन भङ्गोंके संयोगज भङ्ग हैं । जैसे नमक, मिर्च और खटाई इन तीनोंके संयोगज स्वाद चार ही बन सकते हैं—नमक-मिर्च, नमक-खटाई, मिर्च-खटाई और नमक-मिर्च-खटाई—इनसे ज्यादा या कम नहीं । इन संयोगी चार स्वादोंमें मूल तीन स्वादोंकी ओर मिला देनेसे कुल स्वाद सात ही बनते हैं । यही सप्तभङ्गोंकी बात है । वस्तुमें यों तो अनन्तधर्म हैं, परन्तु प्रत्येक धर्मको लेकर विधि-निषेधकी अपेक्षासे सात ही धर्म व्यवस्थित हैं—सत्त्वधर्म, असत्त्वधर्म, सत्त्वासत्त्वोभय, अवक्तव्यत्व, सत्त्वावक्तव्यत्व, असत्त्वावक्तव्यत्व और सत्त्वासत्त्वावक्तव्यत्व । इन सातसे न कम है और न ज्यादा । अतएव शङ्काकारोंको सात ही प्रकारके सन्देह, सात ही प्रकारकी जिज्ञासाएँ, सात ही प्रकारके प्रश्न होते हैं और इसलिये उनके उत्तरवाक्य सात ही होते हैं, जिन्हें

सप्तभङ्ग या सप्तभङ्गीके नामसे कहा जाता है। इस तरह जैनोंकी सप्तभङ्गी उपपत्तिपूर्ण ढङ्गसे सुव्य-
वस्थित और सुनिश्चित है। पर संजयकी उपर्युक्त चतुर्भङ्गीमें कोई भी उपपत्ति नहीं है। उसने चारों प्रश्नोंका
जवाब 'नहीं कह सकता' में ही दिया है और जिसका कोई भी हेतु उपस्थित नहीं किया और इसलिये वह
उनके विषयमें अनिश्चित है।

राहुलजीने जो ऊपर जैनोंकी सप्तभङ्गी दिखाई है वह भ्रमपूर्ण है। हम पहले कह आये हैं कि जैन-
दर्शनमें 'स्याद्वाद'के अन्तर्गत 'स्यात्' शब्दका अर्थ 'हो सकता है' ऐसा सन्देह अथवा भ्रमरूप नहीं है उसका
तो कथञ्चित् (किसी एक अपेक्षासे) अर्थ है जो निर्णयरूप है। उदाहरणार्थ देवदत्तको लीजिये, वह पिता-
पुत्रादि अनेक धर्मरूप है। यदि जैनदर्शनसे यह प्रश्न किया जाय कि क्या देवदत्त पिता है? तो जैनदर्शन
स्याद्वाद द्वारा निम्न प्रकार उत्तर देगा—

१. देवदत्त पिता है—अपने पुत्रकी अपेक्षासे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति' ।

२. देवदत्त पिता नहीं है—अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षासे—'क्योंकि उनकी अपेक्षासे तो वह
पुत्र, भानजा आदि है—'स्यात् देवदत्तः पिता नास्ति' ।

३. देवदत्त पिता है और नहीं है—अपने पुत्रकी अपेक्षा और अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षा
से—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्ति च नास्ति च' ।

४. देवदत्त अवक्तव्य है—एक साथ पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात्
देवदत्तः अवक्तव्यः' ।

५. देवदत्त पिता 'है—अवक्तव्य है'—अपने पुत्रकी अपेक्षा तथा एक साथ पिता-पुत्रादि दोनों
अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः पिता अस्त्यवक्तव्यः' ।

६. देवदत्त 'पिता नहीं है—अवक्तव्य है'—अपने पिता-मामा आदिकी अपेक्षा और एक साथ पिता
पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः नास्त्यवक्तव्यः' ।

७. 'देवदत्त पिता' है और नहीं है तथा अवक्तव्य है—क्रमसे विवक्षित पिता-पुत्रादि दोनोंकी
अपेक्षासे और एक साथ विवक्षित पिता-पुत्रादि दोनों अपेक्षाओंसे कहा न जा सकनेसे—'स्यात् देवदत्तः पिता
अस्ति नास्ति चावक्तव्यः' ।

यह ध्यान रहे कि जैनदर्शनमें प्रत्येक वाक्यमें उसके द्वारा प्रतिपाद्य धर्मका निश्चय करानेके लिये
'एवकारका' विधान अभिहित है जिसका प्रयोग नयविशारदोंके लिये यथेच्छ है—वे करें चाहे न करें। न
करनेपर भी उसका अध्यवसाय वे कर लेते हैं। राहुलजी जब 'स्यात्' शब्दके मूलार्थके समझनेमें ही भारी
भूल कर गये तब स्याद्वादकी भंगियोंके मेल-जोल करनेमें भूलें कर ही सकते थे और उसीका परिणाम है
कि जैनदर्शनके सप्तभंगोंका प्रदर्शन उन्होंने ठीक तरह नहीं किया। हमें आशा है कि वे तथा स्याद्वादके
सम्बन्धमें भ्रान्त अन्य विद्वान् भी जैनदर्शनके स्याद्वाद और सप्तभंगीको ठीक तरहसे ही समझने और उल्लेख
करनेका प्रयत्न करेंगे।

यदि संजयके दर्शन और चतुर्भङ्गीको ही जैन दर्शनमें अपनाया गया होता तो जैनदार्शनिक उसके
दर्शनका कदापि आलोचन न करते। अष्टशती और अष्टसहस्रीमें अकलंकदेव तथा विद्यानन्दने इस दर्शनकी
जैसी कुछ कड़ी आलोचना करके उसमें दोषोंका प्रदर्शन किया है वह देखते ही बनता है। यथा—

‘तर्ह्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शन-
मस्त्विति कश्चित्, सोपि पापीयान् । तथा हि सद्भावेतराम्भामनभिलापे वस्तुनः केवलं मूकत्वं
जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारयोगात् । न हि सर्वात्मनानभिलाप्यस्वभावं बुद्धिरध्यवस्यति ।
न चानध्यवसेयं प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात् । मूर्च्छार्चैतन्यवदिति ।”—
अष्टस० पृ० १२९ ।

इससे यह साफ है कि संजयकी सद्यो चतुर्भंगी और उसके दर्शनको जैनदर्शनने नहीं अपनाया । उसके
अपने स्याद्वादसिद्धान्त, अनेकान्त-सिद्धान्त, सप्तभंगीसिद्धान्त संजयसे बहुत पहलेसे प्रचलित हैं । जैसे उसके
अहिंसा-सिद्धान्त, अपरिग्रह-सिद्धान्त, कर्म-सिद्धान्त आदि सिद्धान्त प्रचलित हैं और जिनके आद्यप्रवर्तक इस
युगके तीर्थङ्कर ऋषभदेव हैं और अन्तिम महावीर हैं । विश्वास है उक्त विद्वान् अपनी जैनदर्शन व स्या-
द्वादके बारेमें हुई भ्रान्तियोंका परिमार्जन करेंगे और उसकी घोषणा कर देंगे ।



जैन दर्शनके समन्वयवादी दृष्टिकोणकी ग्राह्यता

यों तो किसी भी युग और किसी भी कालमें संघटन और ऐक्यकी महत्ता और आवश्यकता है, किन्तु वर्तमानमें उसकी नितान्त अपेक्षा है। राष्ट्रों, समाजों, जातियों और धर्मों सभीको एक सूत्रमें बंधकर रहनेकी जरूरत है। यदि राष्ट्र, समाज, जातियाँ और धर्म सहअस्तित्वके व्यापक और उदार सिद्धान्तको स्वीकार कर उसपर आचरण करें तो न राष्ट्रोंमें, न समाजोंमें, न जातियोंमें और न धर्मोंमें परस्पर संघर्षकी नौबत आ सकती है। विश्वके मानव यह सोच लें कि मानवताके नाते हमें जैसे रहने और जीनेका अधिकार है वैसे ही दूसरे मनुष्योंको भी, चाहे वे विश्वके किसी कोनेके, किसी समाजके, किसी जातिके, किसी धर्मके या किसी वर्गके हों। आखिर मनुष्य सब हैं और पैदा हुए हैं तो उन्हें अपने ढंगसे रहने तथा जीनेका भी हक प्राप्त है। यदि हम उनके इस हकको छीनते हैं तो यह न्याय नहीं कहलायेगा—अन्याय होगा और अध्याय करना मनुष्यके लिए न उचित है और न शान्तिदाता एवं प्रेम-प्रदर्शक है। यदि मनुष्यके सामने इतना विचार रहता है तो उनमें कभी संघर्ष नहीं हो सकता। संघर्ष होता है स्वार्थ और आत्माग्रहसे—अपने ही अस्तित्वको स्वीकार कर इतरका विरोध करनेसे। विश्वमें जब-जब युद्ध हुए या होते हैं तब-तब मनुष्य जातिके एक वर्गने दूसरे वर्गका विरोध किया, उसपर हमला किया और उसे ध्वस्त करनेका प्रयास किया है। आज भी विश्व दो गुटोंमें बंटा हुआ है तथा ये दोनों गुट एक-दूसरेके विरुद्ध मोरचाबन्दी किये हुए हैं। अपनी शक्तको विरोधीके ध्वंसमें प्रयुक्त कर रहे हैं। फलतः युद्धका भय या युद्धकी आशंका निरन्तर रहती है। यदि दोनों गुट विरोधमें नहीं, निर्माणमें अपनी सम्मिलित शक्तका उपयोग करें तो सारा विश्व सदा निर्भय, शान्त, सुखी और समृद्ध हो सकता है।

यद्यपि एक रुचि, एक विचार और एक आचारके सब नहीं हो सकते, सबकी रुचियाँ, सबके विचार और सबके आचार भिन्न-भिन्न होते हैं, किन्तु रुचि-भिन्नता, विचार-भिन्नता और आचार-भिन्नताके होते हुए भी उनमें समन्वयकी संभावना निश्चय ही विद्यमान रहती है। एक परिवारमें दस सदस्य हैं और सबकी रुचि, विचार और आचार अलग-अलग होते हैं। एक सदस्यको उड़दकी दाल अच्छी लगती है, दूसरेको अरहरकी दाल प्रिय है, तीसरेको हरी चाक स्वादिष्ट लगती है। इसी तरह अन्य सदस्योंकी रुचि अलग-अलग होती है। विचार भी सबके एक-से नहीं होते। एक राष्ट्रकी सेवाका विचार रखता है, दूसरा समाज-सेवाको अपना कर्तव्य समझता है, तीसरा धर्ममें संलग्न रहता है। दूसरे सदस्योंके भी विचार जुदे-जुदे होते हैं। आचार भी सबका एकसा नहीं होता। एक कुर्ता, धोती और टोपी लगाता है, दूसरा कोट, पतलून और नेकटाईको पसन्द करता है, तीसरा पेटिकोट, साड़ी और जम्फरको अपनी पोशाक समझता है। यह तीसरा स्त्री सदस्य है, जो उस दश संख्यक परिवारकी ही एक सदस्या है। इसी प्रकार बच्चे आदि अपना पहिनाव अलग रखते हैं। इस प्रकार उस परिवारमें रुचि-भेद, विचार-भेद और आचार-भेद होनेपर भी उसके सदस्योंमें कभी संघर्ष नहीं होता। सबकी रुचियों, सबके विचारों और सबके आचारोंका ध्यान रखा जाता है और इस तरह उनमें सदा समन्वयके दृष्टिकोणसे सुख और शान्ति रहती है। कदाचित् छोटा-मोटा मत-भेद होनेपर आपसी समझौते या प्रमुखकी हितावह सलाहसे वह सब मतभेद दूर हो जाता है और पूरा परि-

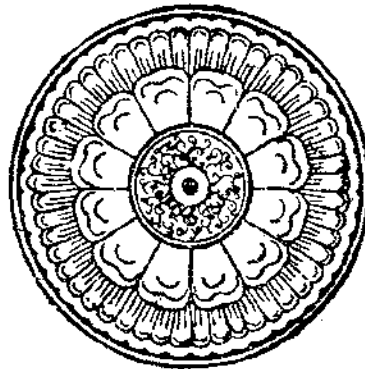
वार सुख-शान्तिसे जीवनयापन करता है। विश्व भी एक परिवार है और राष्ट्र उसके सदस्य है उनमें रुचि-भेद, विचार-भेद और आचार-भेद होना स्वाभाविक है, पर परिवारके सदस्योंकी तरह उनमें तालमेल बैठाना या समझदार राष्ट्रोंको बीचमें पड़कर निष्पक्ष ढंगसे उनमें समझौता करा देना आवश्यक है। इससे विश्वके छोटे-बड़े किसी भी राष्ट्रका अन्य राष्ट्रके साथ संघर्ष नहीं हो सकता। 'रहो और रहने दो' और 'जिओ और जीने दो' का सिद्धान्त ही सहअस्तित्वका सिद्धान्त है तथा यह सिद्धान्त ही मनुष्यजातिकी रक्षा, समृद्धि और हित कर सकता है। यह सिद्धान्त न्याय तथा सत्यका पोषक एवं समर्थक है। इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखनेपर कभी न्याय या सत्यकी हत्या नहीं हो सकती तथा सारे विश्वमें निर्भयता एवं शान्ति बनी रह सकती है।

हमारे देशमें, जिसमें भगवान महावीर, गौतम बुद्ध, महर्षि जैमिनि, कणाद, अक्षपाद, कपिल आदि धर्मोपदेशकोंने जन्म लिया और अपने विचारों द्वारा जनकल्याण किया है, अनेक जातियाँ तथा अनेक धर्म हैं। सबका अपना-अपना स्थान है और सबको पनपने-बढ़नेका स्वातन्त्र्य है। एक जाति दूसरी जातिको, एक धर्म दूसरे धर्मको और एक वर्ग दूसरे वर्गको गिराकर बढ़ नहीं सकता। उसकी उन्नति या वृद्धि तभी सम्भव है जब वह दूसरेके भी अस्तित्वका विरोध नहीं करता, अपनी कुष्ठा, बुराइयों और कारणवश आ घुसी कम-जोरियोंको ही हटानेका प्रयास करता है। सच तो यह है कि दूसरी जाति, दूसरा धर्म या दूसरा वर्ग अपनी जाति, अपने धर्म और अपने वर्गका बाधक नहीं होता, बाधक वे दोष होते हैं जो हमपर हावी होकर हमसे अनौचित्य करानेमें सफल हो जाते हैं। ऐसे दोष हैं संकीर्णता, असहिष्णुता, मूढ़ता, कदाग्रह, ईर्ष्या, अहंकार और अनुदारता। यदि सतर्कता, विवेक, सहिष्णुता, सत्याग्रह, अमात्सर्य, निरहंकार और उदारतासे काम लिया जाय तो जातियों, धर्मों और वर्गोंमें कभी भी संघर्षकी सम्भावना नहीं की जा सकती है। जो हमारा है वह सत्य है और जो परका है वह असत्य है, यही दृष्टिकोण संघर्षकी जन्म देता है। इस संघर्षको बचानेके लिए अनेकान्तवादी दृष्टिकोण होना चाहिए। उस दृष्टिकोणसे ही परस्परमें सौहार्द सम्भव है। यदि कोई गलत मार्गपर है तो सही मार्ग उसके सामने रख दीजिये और उनमेंसे एक मार्ग चुननेकी छूट उसे दे दीजिये। आप उसके लिए अपना आग्रह न करें। निश्चय ही वह अपने विवेकसे काम लेगा और सत्यका अनुसरण करेगा।

सत्यका आग्रह

आज विज्ञानका युग है। समझदार लोग विज्ञानके आधारसे सोचना, कहना और करना चाहते हैं। यह दृष्टिकोण सत्यके आग्रहका दृष्टिकोण है। लेकिन कभी-कभी आग्रही उसके माध्यमसे असत्यका भी समर्थन करने लगता है। अतः पूर्वाग्रहसे मुक्त होनेपर ही सत्यको कहा और पकड़ा जा सकता है। समाजके दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों वर्ग भगवान् महावीरके शासनके अनुयायी हैं। छोटे-मोटे उनमें अनेक मतभेद हैं और उनके गृहस्थों तथा साधुओंमें आचार-भेद भी हैं। किन्तु सबको बाँधनेवाला और एकसूत्रमें रखने वाला महावीरका शासन है। जो मतभेद और आचार-भेद हो चुके हैं वे यदि कम हो सकें तो अच्छा है और यदि कम न भी हों तब भी वे एक सूत्रमें बँधे रह सकते हैं। पिछली शताब्दियोंमें दोनों परम्पराओंमें फासला ही हुआ है, उन्हें समेटनेका दूरदर्शी सफल प्रयास हुआ हो, यह ज्ञात नहीं। फलतः दोनोंका साहित्य, दोनोंके आचार्य और दोनोंके तीर्थ उत्तरोत्तर बढ़ते गये हैं। इतना ही होता तो कोई हानि नहीं थी। किन्तु आज अपने साहित्य, अपने आचार्य और अपने तीर्थका आग्रह रखकर भी दूसरी परम्पराके साहित्य, आचार्य और तीर्थोंके विषयमें स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं है। एक साहित्यके महारथी अपने साहित्यकी अनुशंसा करते समय

दूसरेके साहित्यको उसकी छाया या अनुसरण सिद्ध करनेमें जब अपनी शक्ति लगाते हैं तो दूसरा उसका विरोध करनेके लिए तैयार रहता है। एक आचार्य अपनी श्रेष्ठता बतलाकर दूसरे आचार्यकी समालोचनाके लिए उद्यत रहता है तो समालोच्य आचार्य भी पीछे क्यों रहेगा। समाजके तीर्थोंका प्रश्न भी ऐसा ही है। अपना प्रभुत्व और हक रहे, दूसरेका वहाँ प्रवेश न हो, यह दृष्टिकोण समाजके दोनों वर्गोंको परेशान किये हुए है। फलतः संघर्ष भी होते हैं और उनमें विपुल धन-राशि भी व्यय होती है। यदि दोनों वर्ग महावीरके शासनमें आस्था रखते हुए समन्वयका दृष्टिकोण अपना लें तो दोनोंकी सम्मिलित शक्ति, दोनोंका सम्मिलित साहित्य और दोनोंके सम्मिलित तीर्थ समाजके अपार वैभवके सूचक तो होंगे ही, दोनों अपने विचार और आचारके अनुसार अपनी आस्थाको बनाये रखेंगे तथा संख्याकी दृष्टिसे वे दुगुने कहे जायेंगे। जबतक वे अलग-अलग दो भागों या तीन भागों में बँटे रहेंगे तबतक अन्य लोगोंको समुचित लाभ नहीं पहुँचा सकते हैं और न अहिंसा, स्याद्धाद, अनेकान्त एवं अपरिग्रह जैसे सिद्धान्तोंका विश्वको उचित मात्रामें दर्शन करा सकते हैं। अतः आवश्यक है कि जैन दर्शनमें अनेकान्तवादी या समन्वयवादी दृष्टिकोणपर गम्भीरतासे विचार करें और उसका आचरण कर ऐक्य एवं संघटनकी दिशामें प्रयत्न करें।



वैदिक संस्कृतिको श्रमण-संस्कृतिकी देन

[दिन और रातकी तरह अच्छाई और बुराईका, पुण्य और पापका, विचार-विभिन्नताका साथ सदासे ही रहा है। इतिहासके पन्नोंसे जहां यह स्पष्ट होता है कि श्रमणसंस्कृतिका अस्तित्व भारतमें प्राचीनतम कालसे है वहां यह भी स्पष्ट होता है कि उसका विरोध भी बहुत पुराना है। पुराणोंके अनुसार भगवान् ऋषभदेवके समयसे ही उनके विरोधी भी उत्पन्न हो गये थे। इतने दीर्घकालसे साथ-साथ रहनेके कारण दोनोंने ही एक-दूसरेसे बहुत कुछ लिया-दिया है। श्रमण-संस्कृतिने श्रमण-संस्कृतिको जो कुछ दिया उसमें प्रमुख हैं अहिंसा, मूर्तिपूजा, अध्यात्म आदि।]

जिस वर्ग, समाज या राष्ट्रकी कला, साहित्य, रीति-रिवाज, रहन-सहन, खान-पान, पहनाव-ओढ़ाव, धर्म-नीति, व्रत-पर्व आदि प्रवृत्तियां जिस विचार और आचारसे अनुप्राणित होती हैं या की जाती हैं वे उस वर्ग, समाज या राष्ट्रके उस विचार और आचार मूलक मानी जाती हैं। ऐसी प्रवृत्तियां ही संस्कृति कही जाती हैं।

भारत एक विशाल देश है। इसके भिन्न-भिन्न भागोंमें सदासे ही भिन्न-भिन्न विचार और आचार रहे हैं तथा आज भी ऐसा ही है। इसलिए यहां कभी एक, व्यापक और सर्वग्राह्य संस्कृति रही हो, यह संभव नहीं और न ज्ञात ही है। हाँ, इतना अवश्य जान पड़ता है कि दूर अतीतमें दो संस्कृतियोंका प्राधान्य अवश्य रहा है। ये दो संस्कृतियां हैं—१ वैदिक और—२ अवैदिक। वैदिक संस्कृतिका आधार वेदानुसारी आचार-विचार है और अवैदिक संस्कृतिका मूल अवेदानुसारी अर्थात् पुरुष-विशेषका अनुभवश्रित आचार-विचार है। ये दोनों संस्कृतियां जहाँ परस्परमें संघर्षशील रही हैं वहाँ वे परस्पर प्रभावित भी होती रही हैं।

वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृति

१. वैदिक (ब्राह्मण) संस्कृतिमें वेदको ही सर्वोपरि मानकर वेदानुयायियोंकी सारी प्रवृत्तियां तदनुसारी रही हैं। इस संस्कृतिमें वेदप्रतिपादित यज्ञोंका प्राधान्य रहा है और उनमें अनेक प्रकारकी हिंसाको विवेक स्वीकार किया गया है। 'यज्ञिको हिंसा हिंसा न भवति' कहकर उस हिंसाका विधान करके उसे खुल्लम-खुल्ला छूट दे दी गयी है। उसका परिणाम यह हुआ कि उत्तर कालमें मांस-भक्षण, मद्यपान और मैथुन-सेवन जैसी निन्द्य प्रवृत्तियां भी आ घुसीं और उनमें दोषाभावका प्रतिपादन किया गया—

‘न मांस-भक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥

—मनुस्मृति ।

इतना ही नहीं, उन्हें जीवोंकी प्रवृत्ति (स्वभाव) बतलाकर उन्हें स्वच्छन्द छोड़ दिया गया है—उनपर कोई नियन्त्रण नहीं रखा। फलतः उनसे निवृत्ति होना दुस्साध्य बतलाया है। सोमयज्ञमें एक वर्षकी लाल

गायके हवनका विधान, अन्य यज्ञोंमें श्वेत बकरेकी बलिका निर्देश जैसे सैकड़ों हिंसा-प्रतिपादक अनुष्ठानादेश वेदविहित हैं—'एक हायन्या अरुणया गवा सोमं क्रोणाति,' 'श्वेतमजमालभेत' आदि ।

२. वैदिक संस्कृति मीमांसक विचार और अनुष्ठान प्रधान है । अतएव आरम्भमें इसमें ईश्वरका कोई स्थान न था । क्रिया ही अनुष्ठेय एवं उपास्य थी । किसी पुरुषविशेषको उपास्य या ईश्वर मानना इस संस्कृतिके लिए इष्ट नहीं रहा, क्योंकि उसे माननेपर वेदकी अपौरुषेयतापर आंच आती और खतरेमें, पड़ती है । इसीलिए वैदिक मन्त्रोंमें केवल इन्द्र, वरुण जैसे देवताओंका ही आह्वान है । राम, कृष्ण, शिव विष्णु जैसे पुरुषावतारी ईश्वरकी उपासना इस संस्कृतिमें आरम्भमें नहीं रही । वह तो उत्तर कालमें आयी और उनके लिए मन्दिर बने तथा तीर्थोंका स्थापन हुआ ।

३. जहाँ तक ऐतिहासिकों और समीक्षकोंका विचार है यह संस्कृति क्रियाप्रधान है, अध्यात्म-प्रधान नहीं । वेदोंमें आत्माका विवेचन अनुपलब्ध है । वह उपनिषदोंके माध्यमसे इस संस्कृतिमें पीछे आया है । माण्डूक्य उपनिषद्में कहा है कि विद्या दो प्रकारकी है—१. परा और २. अपरा । परा विद्या आत्म-विद्या है और अपरा विद्या कर्म-काण्ड है । छान्दोग्योपनिषद्में आत्म-विद्याकी प्राप्ति क्षत्रियोंसे और क्रियाकाण्डका ज्ञान ब्राह्मणोंसे बतलाया गया है । इससे प्रतीत होता है कि उस सुदूर कालमें आत्म-विद्या इस संस्कृतिमें नहीं थी ।

४. वेदोंमें यज्ञ करनेसे स्वर्गप्राप्तिका निर्देश है, मोक्ष या निःश्रेयस की कोई चर्चा नहीं है । उसका प्रतिपादन इस संस्कृतिमें पीछे समाविष्ट हुआ है ।

५. वेदोंमें तप, त्याग, ध्यान, संयम और शम जैसे आध्यात्मिक साधनोंको कोई स्थान प्राप्त नहीं है । तत्त्वज्ञानका भी प्रतिपादन नहीं है । उनमें केवल 'यजेत् स्वर्गकामः' जैसे निर्देशों द्वारा स्वर्गकामोंके लिए यज्ञका ही विधान है ।

अवैदिक (श्रमण) संस्कृति

इसके विपरीत अवैदिक (श्रमण) संस्कृतिमें, जो पुरुष-विशेषके अनुभवपर आधृत है और जो श्रमण-संस्कृति या तीर्थंकर-संस्कृतिके नामसे जानी-पहचानी जाती है, वे सभी (ईश्वर, निःश्रेयस, तप, ध्यान, संयम, शम आदि) बातें पायी जाती हैं जो वैदिक संस्कृतिमें आरम्भमें नहीं थीं । यद्यपि जैन और बौद्ध दोनोंकी संस्कृतिको अवैदिक अर्थात् श्रमण-संस्कृति कहा जाता है । पर यथार्थमें आर्हत संस्कृति ही अवैदिक (श्रमण) संस्कृति है, क्योंकि उसे समण—सम + उपदेशक अर्हत्के अनुभव—केवलज्ञानमूलक माना गया है । दूमरे, बुद्ध भी आरम्भमें तीर्थंकर पार्श्वनाथकी परम्परामें हुए निर्ग्रन्थ मुनि पिहितान्तसे दीक्षित हुए थे और वर्षों तक तदनुसार दया, समाधि, केशलुचन, अनशनार्दि तप आदि प्रवृत्तियोंका आचरण करते रहे थे । बादको निर्ग्रन्थ-तप की क्लिष्टताको सहन न कर सकनेके कारण उन्होंने निर्ग्रन्थ-मार्गको छोड़ दिया और मध्यम मार्ग अपना लिया । फिर भी दया, समाधि आदि कुशल कर्मोंको नहीं त्यागा और बोधि प्राप्त हो जानेके बाद उन्होंने भी निर्ग्रन्थ संस्कृतिके दया, समाधि आदिका उपदेश दिया तथा वैदिक क्रियाकाण्ड-को बिना आत्मज्ञान (तत्त्वज्ञान) के थोथा बतलाया । इसीलिए उनकी विचारधारा और आचरण वैदिक संस्कृतिके अनुकूल न होने और केवलज्ञानमूलक श्रमण-संस्कृतिके कुछ अनुकूल होनेसे उसे श्रमण-संस्कृतिमें समाहित कर लिया गया है ।

१. विदित है कि श्रमणसंस्कृतिमें हिंसाको कहीं स्थान नहीं है। अहिंसाकी ही सर्वत्र प्रतिष्ठा है। न केवल क्रियामें, अपितु वाणी और मानसमें भी अहिंसाकी अनिवार्यता प्रतिपादित है। आचार्य समन्तभद्रने इसीसे अहिंसाको जगत् विदित 'परम ब्रह्म' निरूपित किया है—'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्,' इस अहिंसाका सर्वप्रथम विचार और आचार युगके आदि में ऋषभदेवके द्वारा प्रकट हुआ। वही अहिंसाका विचार और आचार परम्परया मध्यवर्ती तीर्थंकरों द्वारा नेमिनाथको प्राप्त हुआ। उनसे पार्श्वनाथको और पार्श्वनाथसे तीर्थंकर महावीरको मिला। इसीसे उनके शासनको स्वामी समन्तभद्रने दया, समाधि, दम और त्यागसे ओतप्रोत बतलाया है—'दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं।' इससे यह सहजमें समझा जा सकता है कि वैदिक संस्कृतिमें अहिंसाकी उपलब्धि श्रमण-संस्कृतिकी देन है, अहिंसामूलक आचार-विचार उसीका है।

२. श्रमणसंस्कृतिकी दूसरी देन यह है कि उसने वेदके स्थानमें पुरुषविशेषका महत्त्व स्थापित किया और उसके अनुभवको प्रतिष्ठित किया। उसने बतलाया कि पुरुषविशेष अकलंक अर्थात् ईश्वर हो सकता है—'बोधावरणयोर्हानिनिश्शेषास्यतिशायनात्। श्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षमः ॥' अतएव इस संस्कृतिमें पुरुषविशेषका महत्त्व बढ़ाया गया और उन पुरुषविशेषों—तीर्थंकरोंकी पूजा-उपासना प्रचलित की गयी तथा उनकी उपासनार्थ उपासनामन्दिरों एवं तीर्थोंका निर्माण हुआ। इसका इतना प्रभाव पड़ा कि अपौरुषेय वेदके अनुयायियोंमें ही कितने ही वेदको ईश्वरकृत मानने लगे और राम, कृष्ण, शिव, विष्णु जैसे पुरुषोंको ईश्वरका अवतार स्वीकार कर उनकी उपासना करने लगे। फलतः वैदिक संस्कृतिमें भी उनकी उपासनाके लिए अनेकों सुन्दर मन्दिरोंका निर्माण हुआ तथा तीर्थ भी बने।

३. निःसन्देह वैदिक संस्कृति जहाँ क्रियाप्रधान है, तत्त्वज्ञान उसके लिए गौण है वहाँ श्रमण-संस्कृति तत्त्वज्ञानप्रधान है और क्रिया उसके लिए गौण है। यह भी प्रकट है कि यह संस्कृति क्षत्रियोंकी संस्कृति है, जो उनकी आत्मविद्यासे निसृत हुई। सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे। अतः वैदिक संस्कृतिमें जो आत्मविद्याका विचार उपनिषदोंके रूपमें आया और जिसने वेदान्त (वेदोंके अन्त) का प्रचार किया वह निश्चय ही श्रमण (तीर्थंकर) संस्कृतिका स्पष्ट प्रभाव है। और इसलिए वैदिक संस्कृतिको आत्मविद्याकी देन भी श्रमण संस्कृतिकी विशिष्ट एवं अनुपम देन है।

४. वेदोंमें स्वर्गसे उत्तम अन्य स्थान नहीं है। अतः वैदिक संस्कृतिमें यज्ञादि करनेवालेको स्वर्ग-प्राप्तिका निर्देश है। इसके विपरीत श्रमण संस्कृतिमें स्वर्गको सुखका सर्वोच्च और शाश्वत स्थान न मानकर मोक्षको माना गया है। स्वर्ग एक प्रकारका संसार ही है, जहाँसे मनुष्यको वापिस आना पड़ता है। परन्तु मोक्ष शाश्वत और स्वाभाविक सुखका स्थान है। उसे प्राप्त कर लेनेपर मनुष्य मुक्तसिद्ध परमात्मा हो जाता है और बहाँसे उसे लौटकर आना नहीं पड़ता। इस प्रकार मोक्ष या निःश्रेयसकी मान्यता श्रमण संस्कृतिकी है, जिसे उत्तरकालमें वैदिक संस्कृतिमें भी अपना लिया गया है।

५. श्रमणसंस्कृतिमें आत्माको उपादेय और शरीर, इन्द्रिय तथा भोगोंको हेय बतलाया गया है। संसार-बन्धनसे मुक्ति पानेके लिए दया (अहिंसा), दम (इन्द्रिय-निग्रह), त्याग (अपरिग्रह) और समाधि

१. युक्त्यनु० का० ६। २. देवागम का० ४।

(ध्यान, योग) का निरूपण इस संस्कृतिमें किया गया है। ये सब आध्यात्मिक गुण हैं। प्रमाण और नयसे तत्त्व (आत्मा) का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेका प्रतिपादन भी आरम्भसे इसी संस्कृतिमें है—‘दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय-प्रमाणप्रकृताञ्जसार्थम्^१।’ इससे अवगत होता है कि अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, अपरिग्रह, समाधि और तत्त्वज्ञान, जो वैदिक संस्कृतिमें आरम्भमें नहीं थे और न वेदोंमें प्रतिपादित थे, बादमें वे उसमें आदृत हुए हैं, श्रमणसंस्कृतिकी वैदिक संस्कृतिकी असाधारण देन हैं।

यदि दोनों संस्कृतियोंके मूलका और गहराईसे अन्वेषण किया जाये तो ऐसे पर्याप्त तथ्य उपलब्ध होंगे, जो यह सिद्ध करनेमें सक्षम होंगे कि क्या किसकी देन है—किसने किसकी क्या दिया-लिया है।



१. युक्त्यनुशा० का० ४।

डाक्टर अम्बेदकरसे भेंटवार्तामें महत्त्वपूर्ण अनेकान्त-चर्चा

१४ नवम्बर १९४८ को सिद्धार्थ कालेज बम्बईके प्रोफेसर और अनेक ग्रन्थोंके निर्माता सर्वतंत्र-स्वतंत्र पं० माधवाचार्य विद्यामार्तण्डके साथ हमें डाक्टर अम्बेदकरसे, जो स्वतन्त्र भारतकी विधान-मसविदा समितिके अध्यक्ष थे और जिन्हें स्वतन्त्र भारतके विधान-निर्माता होनेसे वर्तमान भारतमें 'मनु' की संज्ञा दी जाती है तथा कानूनके विशेषज्ञ विद्वानोंमें सर्वोच्च एवं विख्यात विद्वान् माने जाते हैं, भेंट करनेका अवसर मिला था ।

डाक्टर सा० कानूनके पण्डित तो थे ही, दर्शनशास्त्रके भी विद्वान् थे, यह हमें तब पता चला, जब उनसे दार्शनिक चर्चा-वार्ता हुई । उन्होंने विभिन्न दर्शनोंका गहरा एवं तुलनात्मक अध्ययन किया है । बौद्ध-दर्शन और जैन दर्शनका भी अच्छा परिशीलन किया है ।

जब हम उनसे मिले तब हमारे हाथमें 'अनेकान्त' के प्रथम वर्षकी फ़ाइल थी, जिसमें उक्त प्रोफेसर सा० का एक निबन्ध 'भारतीय दर्शनशास्त्र' शीर्षक छपा था और उसमें प्रोफेसर सा० ने जैन दर्शनके स्याद्वाद और अनेकान्त सिद्धान्त पर उत्तम विचार प्रकट किये हैं । डाक्टर सा० ने बड़े सौजन्यसे हमसे कुछ प्रश्न किये और जिनका उत्तर हमने दिया । यह प्रश्नोत्तर महत्त्वका है । अतः यहाँ दे रहे हैं ।

डाक्टर सा०—आपके इस अखबारका नाम 'अनेकान्त' क्यों है ?

मैं—'अनेकान्त' जैन दर्शनका एक प्रमुख सिद्धान्त है, जिसका अर्थ नानाधर्मात्मक वस्तु है । अनेकका अर्थ नाना है और अन्तका अर्थ धर्म है और इसलिए दोनोंका सम्मिलित अर्थ नानाधर्मात्मक वस्तु है । जैन दर्शनमें विश्वकी सभी वस्तुएँ (पदार्थ) नानाधर्मात्मक प्रतिपादित हैं । एक घड़ेको लीजिए । वह मृत्तिका (मिट्टी) की अपेक्षा शाश्वत (नित्य, एक, अभेदरूप) है—उसका उस अपेक्षासे न नाश होता है और न उत्पाद होता है । किन्तु उसकी कपालादि अवस्थाओंकी अपेक्षासे वह अशाश्वत (अनित्य, अनेक, भेदरूप) है—उसका उन अवस्थाओंकी अपेक्षासे नाश भी होता है, उत्पाद भी होता है । इस तरह घड़ा शाश्वत-अशाश्वत (नित्यानित्य), एकानेक और भेदाभेदरूप होनेसे अनेकान्तात्मक है । इसी प्रकार सभी वस्तुएँ विधि-प्रतिषेधरूप उभयधर्मात्मक होनेसे अनेकान्तात्मक हैं । एक सरल उदाहरण और दे रहा हूँ । जिसे हम लोम डाक्टर या वकील कहकर सम्बोधित करते हैं उसे उनका पुत्र 'पिताजी' कहकर पुकारता है और उनके पिताजी उसे 'बेटा' कहकर बुलाते हैं । इसी तरह भतीजा 'चाचा' और चाचा 'भतीजा' तथा भानजा 'मामा' और मामा 'भानजा' कहकर बुलाते हैं । यह सब व्यवहार या सम्बन्ध डाक्टर या वकील-में एक साथ एक कालमें होते या हो सकते हैं, जब जिसकी विवक्षा होगी, तब । हाँ, यह हो सकता है कि जब जिनकी विवक्षा होगी वह मुख्य और शेष सभी व्यवहार या सम्बन्ध या धर्म गौण हो जायेंगे, उनका लोप या अभाव नहीं होगा । यही विश्वकी सभी वस्तुओंके विषयमें है । वस्तुके इस नानाधर्मात्मक स्वभाव-रूप अनेकान्तसिद्धान्तका सूचन या ज्ञापन करनेके लिए इस अखबारका नाम 'अनेकान्त' रखा गया है ।

डॉक्टर सा०—दर्शनका प्रयोजन तो जगत्में शान्तिका मार्ग दिखानेका है। किन्तु जितने दर्शन हैं वे सब परस्परमें विवाद करते हैं। उनमें खण्डन-मण्डन और एक-दूसरेको बुरा कहनेके सिवाय कुछ नहीं मालूम पड़ता है ?

मैं—निःसन्देह आपका यह कहना ठीक है कि 'दर्शन' का प्रयोजन जगत्में शान्तिका मार्ग-प्रदर्शन है और इसी लिए दर्शनशास्त्रका उदय हुआ है। जब लोकमें धर्मके नामपर अन्धश्रद्धा बढ़ गयी और लोगोंका गतानुगतिक प्रवर्तन होने लगा, तो दर्शनशास्त्र बनाने पड़े। दर्शनशास्त्र हमें बताता है कि अपने हितका मार्ग परीक्षा करके चुनो। 'धैलेकी हंडी भी ठोक-झाकर खरीदी जाती है' तो धर्मका भी ग्रहण ठोक-बजाकर करो। अमुक पुस्तकमें ऐसा लिखा है अथवा अमुक व्यक्तिका यह कथन है, इतने मात्रसे उसे मत मानो। अपने विवेकसे उसकी जांच करो, युक्त हो तो मानो, अन्यथा नहीं। जैन दर्शन तो स्पष्ट कहता और घोषणा करता है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

मूलमें सभी दर्शनकारोंका यही अभिप्राय रहा है कि मेरे इस दर्शनसे जगत्को शान्तिका मार्ग मिले। किन्तु उत्तर कालमें पक्षग्रह आदिसे उनके अनुयायियोंने उनके उस स्वच्छ अभिप्रायको सुरक्षित नहीं रखा और वे परपक्षखण्डन एवं स्वपक्षमण्डनके दल-दलमें फँस गये। इससे वे दर्शन विवादजनक हो गये। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जैन दर्शनमें विवादोंको समन्वित करने और मिटानेके लिए स्याद्वाद और अहिंसा ये दो शान्तिपूर्ण तरीके स्वीकार किये गये हैं। अहिंसाका तरीका आक्षेप और आक्रमणको रोकता है तथा स्याद्वाद उन सम्बन्धों, व्यवहारों एवं धर्मोंका समन्वय कर उनकी व्यवस्था करता है। कौन सम्बन्ध या धर्म वस्तुमें किस विवक्षासे है, यह स्याद्वाद व्यवस्थित करता है। उदाहरणार्थ द्रव्य (सामान्य) की अपेक्षा वस्तु सदा नित्य है और अवस्थाओं—परिणमनोंकी अपेक्षा वही वस्तु अनित्य है। पहलेमें द्रव्यार्थिकनयका दृष्टिकोण विवक्षित है और दूसरेमें पर्यायार्थिकनयका दृष्टिकोण है। जैन दर्शनमें असत्यार्थ—एकान्त मान्यताका अवयव निषेध किया जाता है और यह जरूरी भी है। अन्यथा सन्देह, विपर्यय और अनध्यवसायसे वस्तुका सम्यग्ज्ञान नहीं हो पायेगा। घटमें घटका ज्ञान ही तो सत्य है, अघटमें घटका ज्ञान सत्य नहीं है। उसे कोई सत्य मानता है तो उसका निषेध तो करना ही पड़ेगा।

डॉक्टर सा०—समन्वयका मार्ग तो ठीक नहीं है। उससे जनताको न शान्ति मिल सकती है और न सही मार्ग। हाँ, जो विरोधी है उसका निराकरण होना ही चाहिए ?

मैं—मेरा अभिप्राय यह है कि वस्तुमें सतत विद्यमान दो धर्मोंसे एक-एक धर्मको ही यदि कोई मानता है और विरोधी दिखनेसे दूसरे धर्मका वह निराकरण करता है तो स्याद्वाद द्वारा यह बतलाया जाता है कि 'स्यात्'—कथंचित्—अमुक दृष्टिसे अमुक धर्म है और 'स्यात्'—कथंचित्—अमुक दृष्टिसे अमुक धर्म है और इस तरह दोनों धर्म वस्तुमें हैं। जैसे, वेदान्ती आत्माको सर्वथा नित्य और बौद्ध उसे सर्वथा अनित्य (क्षणिक) मानते हैं। जैन दर्शन स्याद्वाद सिद्धान्तसे बतलाता है कि द्रव्यकी विवक्षासे वेदान्तीका आत्माको नित्य मानना सही है और अवस्था—परिणमनकी अपेक्षासे आत्माको अनित्य मानना बौद्धका कथन ठीक है। किन्तु आत्मा न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य है। अतएव दोनों—वेदान्ती और बौद्धका आत्माको कथंचित् नित्य (द्रव्य दृष्टिसे) और कथंचित् अनित्य (पर्यायदृष्टिसे) उभयात्मक स्वीकार करना ही वस्तुस्वरूपका प्रतिपादन कहा जायेगा। उसकी गलत ऐकान्तिक मान्यताका तो निषेध करना ही

चाहिए। यही समन्वयका मार्ग है। हमारा सब सच और दूसरेका सब झूठ, यह वस्तु-निर्णयकी सम्पत्क नीति नहीं है। हिन्दुस्तान हिन्दुओंका ही है, ऐसा मानने और कहनेमें झगड़ा है। किन्तु वह उसके निवासी जैनों, बौद्धों, मुसलमानों आदि दूसरोंका भी है, ऐसा मानने तथा कहनेमें झगड़ा नहीं होता। स्याद्वाद यही बतलाता है। जब हम स्याद्वादको दृष्टिमें रखकर कुछ कहते हैं या व्यवहार करते हैं तो सत्यार्थकी प्राप्तिमें कोई भी विरोधी नहीं मिलेगा, जिसका निराकरण करना पड़े।

डाक्टर सा०—बुद्ध और महावीरकी सेवाधर्मकी नीति अच्छी है। उसे अपनासे ही जनताको शान्ति मिल सकती है ?

मैं—सेवाधर्म अहिंसाका ही एक अङ्ग है। अहिंसकको सेवाभावी होना ही चाहिए। महावीर और बुद्धने इस अहिंसाद्वारा ही जनताको बड़ी शान्ति पहुँचायी थी और यही उन दोनों महापुरुषोंकी लोकोत्तर सेवा थी, जिसमें जनताके कल्याण और अभ्युदयकी भावना तथा प्रयत्न समाया हुआ था। महात्मा गांधीने भी अहिंसासे राष्ट्रको स्वतन्त्र किया। वास्तवमें सेवा, परिचर्या, वैयावृत्य आदि अहिंसाके ही रूपान्तर हैं। कोई सेवा द्वारा, कोई परिचर्या द्वारा और कोई वैयावृत्य द्वारा जनताके कष्टोंको दूर करता है और यह कष्ट दूर करना ही अहिंसाकी साधना है।

डाक्टर सा०—आज आपने बहुत-सी दर्शन-सम्बन्धी गूढ़ बातोंकी चर्चा की, इसकी हमें प्रसन्नता है।

मैं—मुझे खुशी है कि आपने अपना बहुमूल्य समय इस वार्ताके लिए दिया, इसके लिए आपको धन्यवाद देता हूँ।

यह वार्ता बड़ी मैत्री और सौजन्यपूर्ण हुई। लगभग आधे घंटे तक यह हुई।



जैन दर्शनमें सल्लेखना : एक अनुशीलन

पृष्ठभूमि

जन्मके साथ मृत्युका और मृत्युके साथ जन्मका अनादि-प्रवाह सम्बन्ध है। जो उत्पन्न होता है। उसकी मृत्यु भी अवश्य होती है और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है^१। इस तरह जन्म और मरणका प्रवाह तबतक प्रवाहित रहता है जबतक जीवकी मुक्ति नहीं होती। इस प्रवाहमें जीवोंको नाना क्लेशों और दुःखोंको भोगना पड़ता है। परन्तु राग-द्वेष और इन्द्रियविषयोंमें आसक्त व्यक्ति इस ध्रुव सत्य-को जानते हुए भी उससे मुक्ति पानेकी ओर लक्ष्य नहीं देते^२। प्रत्युत जब कोई पैदा होता है तो उसका वे 'जन्मोत्सव' मनाते तथा हर्ष व्यक्त करते हैं। और जब कोई मरता है तो उसकी मृत्युपर आँसू बहाते एवं शोक प्रकट करते हैं।

पर संसार-विरक्त मुमुक्षु सन्तोंकी वृत्ति इससे भिन्न होती है। वे अपनी मृत्युको अच्छा मानते हैं और यह सोचते हैं कि जीर्ण-शीर्ण शरीररूपी पिंजरेसे आत्माको छुटकारा मिल रहा है^३। अतएव जैन मनीषियोंने उनकी मृत्युको 'मृत्युमहोत्सव'के रूपमें वर्णन किया है^४। इस वैलक्षण्यको समझना कुछ कठिन नहीं है। यथार्थमें साधारण लोग संसार (विषय-कषायके पोषक चेतनाचेतन पदार्थों) को आत्मीय समझते हैं। अतः उनके छोड़नेमें उन्हें दुःखका अनुभव होता है और उनके मिलनेमें हर्ष होता है। परन्तु शरीर और आत्माके भेदको समझनेवाले ज्ञानी बीतरागी सन्त न केवल विषय-कषायकी पोषक बाह्य वस्तुओंको ही, अपितु अपने शरीरको भी पर—अनात्मीय मानते हैं। अतः शरीरको छोड़नेमें उन्हें दुःख न होकर प्रमोद होता है। वे अपना वास्तविक निवास इस द्वन्द्व-प्रधान दुनियाको नहीं मानते, किन्तु मुक्तिको समझते हैं और सद्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप, त्याग, संयम आदि आत्मीय गुणोंको अपना यथार्थ परिवार मानते हैं। फलतः सन्तजन यदि अपने पौद्गलिक शरीरके त्यागपर 'मृत्यु-महोत्सव' मनायें तो कोई आश्चर्य नहीं है। वे अपने रुग्ण, अशक्त, नर्जरित, कुछ क्षणोंमें जानेवाले और विपद्-ग्रस्त जीर्ण-शीर्ण शरीरको छोड़ने तथा नये शरीरको ग्रहण करनेमें उसी तरह उत्सुक एवं प्रमुदित होते हैं जिस तरह कोई व्यक्ति अपने पुराने, मलिन, जीर्ण और काम न दे सकनेवाले वस्त्रको छोड़ने तथा नवीन वस्त्रके परिधानमें अधिक प्रसन्न होता है^५।

१. 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।'—गीता, २-२७ ।

२. ३. 'संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भोतैर्भवेन्नृणाम् ।

मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥'—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १७ ।

४. 'जानिन् ! भयं भवेत्कस्मात्प्राप्ते मृत्यु-महोत्सवे ।

स्वरूपस्थः पुरं याति देहाद्देहान्तरस्थितिः ॥ —मृत्युमहोत्सव, श्लो० १० ।

५. जीर्णं देहादिकं सर्वं नूतनं जायते यतः ।

स मृत्युः किं न मोदाय सतां सातोत्थितिर्यथा ॥—मृत्युमहोत्सव, श्लो० १५ ।

गीतामें भी इसी भावको प्रदर्शित किया गया है। यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥—गीता, २-२२ ।

इसी तथ्यको दृष्टिमें रखकर संवेगी जैन श्रावक या जैन साधु अपना मरण सुधारनेके लिए उक्त परिस्थितियोंमें सल्लेखना ग्रहण करता है। वह नहीं चाहता कि उसका शरीर-त्याग रोते-बिलपते, संक्लेश करते और राग-द्वेषकी अग्निमें झुलसते हुए असावधान अवस्थामें हो, किन्तु दृढ़, शान्त और उज्ज्वल परिणामोंके साथ विवेकपूर्ण स्थितिमें वीरोंकी तरह उसका शरीर छूटे। सल्लेखना मुमुक्षु श्रावक और साधु दोनोंके इसी उद्देश्यकी पूरक है। प्रस्तुतमें उसीके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डाला जाता है।

सल्लेखना और उसका महत्त्व

‘सल्लेखना’ शब्द जैन-धर्मका पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—‘सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना’—सम्यक् प्रकारसे काय और कषाय दोनोंको कृश करना सल्लेखना है। तात्पर्य यह कि मरण-समयमें की जानेवाली जिस क्रिया-विशेषमें बाहरी और भीतरी अर्थात् शरीर तथा रागादि दोषोंका, उनके कारणोंको कम करते हुए प्रसन्नतापूर्वक विना किसी दबावके स्वेच्छासे लेखन अर्थात् कृशोकरण किया जाता है उस उत्तम क्रिया-विशेषका नाम सल्लेखना है^१। उसीको ‘समाधिमरण’ कहा गया है। यह सल्लेखना जीवनभर आचरित समस्त व्रतों, तपों और संयमकी संरक्षिका है। इसलिए इसे जैन-संस्कृतिमें ‘व्रतराज’ भी कहा है।

अपने परिणामोंके अनुसार प्राप्त जिन आयु, इन्द्रियों और मन, वचन, काय इन तीन बलोंके संयोगका नाम जन्म है और उन्हींके क्रमशः अथवा सर्वथा क्षीण होनेको मरण कहा गया है। यह मरण दो प्रकारका है—एक नित्यमरण और दूसरा तद्भव-मरण। प्रतिक्षण जो आयु आदिका ह्रास होता रहता है वह नित्य-मरण है तथा उत्तरपर्यायकी प्राप्तिके साथ पूर्व पर्यायका नाश होना तद्भव-मरण है^२। नित्य-मरण तो निरन्तर होता रहता है, उसका आत्म-परिणामोंपर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। पर तद्भव-मरणका कषायों एवं विषय-वासनाओंकी न्यूनाधिकताके अनुसार आत्म-परिणामोंपर अच्छा या बुरा प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस तद्भव-मरणको सुधारने और अच्छा बनानेके लिये ही पर्यायके अन्तमें ‘सल्लेखना’ रूप अलौकिक प्रयत्न किया जाता है। सल्लेखनासे अनन्त संसारकी कारणभूत कषायोंका आवेग उपशमित अथवा क्षीण हो जाता है तथा जन्म-मरणका प्रवाह बहुत ही अल्प हो जाता अथवा बिलकुल सूख जाता है। जैन लेखक आचार्य शिवार्थ सल्लेखनाधारण पर बल देते हुए कहते हैं^३ कि ‘जो भद्र एक पर्यायमें समाधिमरण-पूर्वक मरण करता है वह संसारमें सात-आठ पर्यायसे अधिक परिभ्रमण नहीं करता—उसके बाद वह अवश्य मोक्ष पा लेता है।’ आगे वे सल्लेखना और सल्लेखना-धारकका महत्त्व बतलाते हुए यहाँ तक

१. (क) ‘सम्यक्काय-कषाय-लेखना सल्लेखना। कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापन-क्रमेण सम्यगलेखना सल्लेखना।’—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ७-२२।

(ख) ‘मारणान्तिकीं सल्लेखनां ज्योषिता’—आ० गृह्यपिच्छ, तत्त्वार्थसू० ७-२२।

२. ‘स्वायुरिन्द्रियबलसंश्रयो मरणम्। स्वपरिणामोपात्तस्यायुषः इन्द्रियाणां बलानां च कारणवशात् संक्षयो मरणमिति मन्यन्ते मनीषिणः। मरणं द्विविधम्, नित्यमरणं तद्भवमरणं चेति। तत्र नित्यमरणं समये समये स्वायुरादीनां निवृत्तिः। तद्भवमरणं भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवद्विगमनम्।’—

—अकलङ्कदेव, तत्त्वार्थवा० ७-२२।

३. ‘एगमिं भवगहणे समाधिमरणेण जो मतो जीवो।

ण हु सो हिडदि बहुसो सत्तट्ट-भवे पमत्तूण ॥’—भगवती आरा०।

लिखते हैं^१ कि 'सल्लेखना-धारक (क्षपक) का भक्तिपूर्वक दर्शन, वन्दन और वैयावृत्य आदि करने-वाला व्यक्ति भी देवगतिके सुखोंको भोगकर अन्तमें उत्तम स्थान (निर्वाण) को प्राप्त करता है ।'

तेरहवीं शताब्दीके प्रौढ़ लेखक पण्डितप्रवर आशाधरजीने भी इसी बातको बड़े ही प्रांजल शब्दोंमें स्पष्ट करते हुए कहा है^२ कि 'स्वस्थ शरीर पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है तथा रुग्ण शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचारके योग्य है । परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर उनका अनुकूल असर न हो, प्रत्युत रोग बढ़ता ही जाय, तो ऐसी स्थितिमें उस शरीरको दुष्टके समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है ।' वे असावधानी एवं आत्मघातके दोषसे बचनेके लिए कुछ ऐसी बातोंकी ओर भी संकेत करते हैं, जिनके द्वारा शीघ्र और अवश्य मरणकी सूचना मिल जाती है । उस हालतमें व्रतीको आत्मधर्मकी रक्षाके लिए सल्लेखनामें लीन हो जाना ही सर्वोत्तम है ।

इसी तरह एक अन्य विद्वान्ने भी प्रतिपादन किया है कि 'जिस शरीरका बल प्रतिदिन क्षीण हो रहा है, भोजन उत्तरोत्तर घट रहा है और रोगादिकके प्रतीकार करनेकी शक्ति नहीं रही है वह शरीर ही विवेकी पुरुषोंको यथाख्यातचारित्र्य (सल्लेखना) के समयको इंगित करता है^३ ।

मृत्युमहोत्सवकारकी दृष्टिमें समस्त श्रुताभ्यास, घोर तपश्चरण और कठोर व्रताचरणकी सार्थकता तभी है जब मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु विवेक जाग्रत हो जानेपर सल्लेखनापूर्वक शरीर त्याग करता है । वे लिखते हैं^४ :—

'जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषोंको कायकलेशादि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समयमें सावधानीपूर्वक किये गये समाधिमरणसे जीवोंकी सहजमें प्राप्त हो जाता है ।^५ अर्थात् जो आत्म-विशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमें समाधिपूर्वक शरीर-त्यागसे प्राप्त हो जाती है ।'

'बहुत कालतक किये गये उग्र तपोंका, पाले हुए व्रतोंका और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र ज्ञानका एक-मात्र फल शान्तिके साथ आत्मानुभव करते हुए समाधिपूर्वक मरण करना है ।'

१. 'सल्लेहणाए मूलं जो वच्चइ तिव्व-भत्ति-राएण ।
भोत्तूण य देव-सुखं सो पावदि उत्तमं ठाणं ॥—भगवती आरा० ।
२. 'कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥' —आशाधर, सागरधर्मा० ८-६ ।
३. 'देहादिवैकृतैः सम्यक्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥—सागरधर्मा०, ८-१० ।
४. प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्जङ्गुक्ति त्यजत्प्रतीकारम् ।
वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयम् ॥—आदर्श सल्ले०, पृ० १९ ।
५. यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्नृतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥
तप्तस्य तपसश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥—मृत्युमहोत्सव, श्लोक २१, २३ ।

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके विद्वान् स्वामी समन्तभद्रकी मान्यतानुसार जीवनमें आचरित तपोंका फल वस्तुतः अन्त समयमें गृहीत सल्लेखना ही है। अतः वे उसे पूरी शक्तिके साथ धारण करनेपर जोर देते हैं^१।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि भी सल्लेखनाके महत्त्व और आवश्यकताको बतलाते हुए लिखते हैं^२ कि 'मरण किसीको इष्ट नहीं है। जैसे अनेक प्रकारके सोना-चाँदी, बहुमूल्य वस्त्रों आदिका व्यवसाय करने-वाले किसी व्यापारीको अपने उस घरका विनाश कभी इष्ट नहीं है, जिसमें उक्त बहुमूल्य वस्तुएँ रखी हुई हैं। यदि कदाचित् उसके विनाशका कारण (अग्निका लगना, बाढ़ आजाना या राज्यमें विप्लव होना आदि) उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी रक्षाका पूरा उपाय करता है और जब रक्षाका उपाय सफल होता हुआ दिखाई नहीं देता, तो घरमें रखे हुए बहुमूल्य पदार्थोंको बचानेका भरसक प्रयत्न करता है और घरको नष्ट होने देता है। उसी तरह व्रत-शीलादि गुणोंका अर्जन करनेवाला व्रती-श्रावक या साधु भी उन व्रतादिगुण-रत्नोंके आधारभूत शरीरकी, पोषक आहार-औषधादि द्वारा, रक्षा करता है, उसका नाश उसे इष्ट नहीं है। पर देववश शरीरमें उसके विनाश-कारण (असाध्य रोगादि) उपस्थित हो जायें, तो वह उनको दूर करनेका यथासाध्य प्रयत्न करता है। परन्तु जब देखता है कि उनका दूर करना अशक्य है और शरीरकी रक्षा अब सम्भव नहीं है, तो उन बहुमूल्य व्रत-शीलादि आत्म-गुणोंकी वह सल्लेखना-द्वारा रक्षा करता है और शरीर-को नष्ट होने देता है।'

इन उल्लेखोंसे सल्लेखनाकी उपयोगिता, आवश्यकता और महत्ता सहजमें जानी जा सकती है। ज्ञात होता है कि इसी कारण जैन-संस्कृतिमें सल्लेखनापर बड़ा बल दिया गया है। जैन लेखकोंने अकेले इसी विषयपर प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी आदि भाषाओंमें अनेकों स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य शिवार्थकी 'भगवती आराधना' इस विषयका एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विशाल प्राकृत-ग्रन्थ है। इसी प्रकार 'मृत्युमहोत्सव', 'समाधिमरणोत्साहदोषक', 'समाधिमरणपाठ' आदि नामोंसे संस्कृत तथा हिन्दीमें भी इसी विषयपर अनेक कृतियाँ उपलब्ध हैं।

सल्लेखनाका काल, प्रयोजन और विधि

यद्यपि ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका काल और प्रयोजन ज्ञात हो जाता है तथापि उसे यहाँ और भी अधिक स्पष्ट किया जाता है। आचार्य समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखना-धारणका काल (स्थिति) और उसका प्रयोजन बतलाते हुए लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥ --रत्नकरण्डश्रावका० ५-१।

१. अन्तःक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते ।

तस्माद्वाचद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥ --रत्नकरण्डश्रा० ५-२ ।

२. 'मरणस्यानिष्टत्वात् । यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसंचयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः । तद्विनाश-कारणे च कृतशिक्षदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति । दुष्परिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते । एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसंचये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति । तदुपप्लववकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति । दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते ।'

—सर्वार्थसि० ७-२२ ।

‘अपरिहार्य उपसर्ग, दुर्भिक्ष, बुढ़ापा और रोग—इन अवस्थाओंमें आत्मधर्मकी रक्षाके लिए जो शरीरका त्याग किया जाता है वह सल्लेखना है।’

स्मरण रहे कि जैन व्रती—श्रावक या साधुकी दृष्टिमें शरीरका उतना महत्त्व नहीं है जितना आत्माका है; क्योंकि उसने भौतिक दृष्टिको गौण और आध्यात्मिक दृष्टिको उपादेय माना है। अतएव वह भौतिक शरीरकी उक्त उपसर्गादि संकटावस्थाओंमें, जो साधारण व्यक्तिको विचलित कर देनेवाली होती है, आत्मधर्मसे च्युत न होता हुआ उसकी रक्षाके लिए साम्यभावपूर्वक शरीरका उत्सर्ग कर देता है। वास्तवमें इस प्रकारका विवेक, बुद्धि और निर्मोहभाव उसे अनेक वर्षोंके चिरन्तन अभ्यास और साधना द्वारा ही प्राप्त होता है। इसीसे सल्लेखना एक असामान्य असिधारा-व्रत है जिसे उच्च मनःस्थितिके व्यक्ति ही धारण कर पाते हैं। सच बात यह है कि शरीर और आत्माके मध्यका अन्तर (शरीर जड़, हेय और अस्थायी है तथा आत्मा चेतन, उपादेय और स्थायी है) जान लेनेपर सल्लेखना-धारण कठिन नहीं रहता। उस अन्तरका ज्ञाता यह स्पष्ट जानता है कि ‘शरीरका नाश अवश्य होगा, उसके लिए अविनश्वर फलदायी धर्मका नाश नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीरका नाश हो जानेपर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है। परन्तु आत्मधर्मका नाश हो जानेपर उसका पुनः मिलना दुर्लभ है।’ अतः जो शरीर-मोही नहीं होते वे आत्मा और अनात्माके अन्तरको जानकर समाधिमरण द्वारा आत्मासे परमात्माकी ओर बढ़ते हैं। जैन सल्लेखनामें यही तत्त्व निहित है। इसीसे प्रत्येक जैन देवोपासनाके अन्तमें प्रतिदिन यह पवित्र कामना करता है^२—

‘हे जितेन्द्र ! आप जगत् बन्धु होनेके कारण मैं आपके चरणोंकी शरणमें आया हूँ। उसके प्रभावसे मेरे सब दुःखोंका अभाव हो, दुःखोंके कारण ज्ञानावरणादि कर्मोंका नाश हो और कर्मनाशके कारण समाधिमरणकी प्राप्ति हो तथा समाधिमरणके कारणभूत सम्यक्बोध (विवेक) का लाभ हो।’

जैन संस्कृतिमें सल्लेखनाका यही आध्यात्मिक उद्देश्य एवं प्रयोजन स्वीकार किया गया है। लौकिक भोग या उपभोग या इन्द्रादि पदकी उसमें कामना नहीं की गई है। मुमुक्षु श्रावक या साधुने जो अब तक व्रत-तपादि पालनका घोर प्रयत्न किया है, कष्ट सहे है, आत्म-शक्ति बढ़ाई है और असाधारण आत्म-ज्ञानको जागृत किया है उसपर सुन्दर कलश रखनेके लिए वह अन्तिम समयमें भी प्रमाद नहीं करना चाहता। अतएव वह जागृत रहता हुआ सल्लेखनामें प्रवृत्त होता है।

सल्लेखनावस्थामें उसे कैसी प्रवृत्ति करना चाहिए और उसकी विधि क्या है ? इस सम्बन्धमें भी जैन लेखकोंने विस्तृत और विशद विवेचन किया है। आचार्य समन्तभद्रने सल्लेखनाकी निम्न प्रकार विधि बतलाई है^३ :—

१. नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।

देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥ —सा० ध०, ८-७ ।

२. दुक्ख-खओ कम्म-खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो य ।

मम होउ जगदबन्धव ! तव जिणवर ! चरणसरणेण ॥—भारतीय० ज्ञान० पू०, पृ० ८७ ।

३. स्नेहं संगं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।

स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥

आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।

आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥

सल्लेखना-धारी सबसे पहले इष्ट वस्तुओंमें राग, अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेष, स्त्री-पुत्रादि प्रियजनोंमें ममत्व और घनादिमें स्वामित्वका त्याग करके मनको शुद्ध बनाये। इसके पश्चात् अपने परिवार तथा सम्बन्धित व्यक्तियोंसे जीवनमें हुए अपराधोंको क्षमा कराये और स्वयं भी उन्हें प्रिय वचन बोलकर क्षमा करे।

इसके अनन्तर वह स्वयं किये, दूसरोंसे कराये और अनुमोदना किये हिंसादि पापोंकी निश्चल भावसे आलोचना (उनपर खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त महाव्रतोंका अपनेमें आरोप करे।

इसके अतिरिक्त आत्माको निर्बल बनानेवाले शोक, भय, अवसाद, ग्लानि, क्लृप्तता और आकुलता जैसे आत्म-विकारोंका भी परित्याग करे तथा आत्मबल एवं उत्साहको प्रकट करके अमृतोपम शास्त्र-वचनों द्वारा मनको प्रसन्न रखे।

इस प्रकार कषायको शान्त अथवा क्षीण करते हुए शरीरको भी कृष करनेके लिए सल्लेखनामें प्रथमतः अन्नादि आहारका, फिर दूध, छाछ आदि पेय पदार्थोंका त्याग करे। इसके अनन्तर कांजी या गर्म जल पीनेका अभ्यास करे।

अन्तमें उन्हें भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे। इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए पूर्ण विवेकके साथ सावधानीमें शरीरको छोड़े।

इस अन्तरङ्ग और बाह्य विधिसे सल्लेखनाधारी आनन्द-ज्ञानस्वभाव आत्माका साधन करता है और वर्तमान पर्यायके विनाशसे चिन्तित नहीं होता, किन्तु भावी पर्यायको अधिक सुखी, शान्त, शुद्ध एवं उच्च बनानेका पुरुषार्थ करता है। नश्वरसे अनश्वरका लाभ हो, तो उसे कौन बुद्धिमान् छोड़ना चाहेगा? फलतः सल्लेखना-धारक उन पाँच दोषोंसे भी अपनेको बचाता है, जिनसे उसके सल्लेखना-व्रतमें दूषण लगनेकी सम्भावना रहती है। वे पाँच दोष निम्न प्रकार बतलाये गये हैं :—

सल्लेखना ले लेनेके बाद जीवित रहनेकी आकांक्षा करना, कष्ट न सह सकनेके कारण शीघ्र मरनेकी इच्छा करना, भयभीत होना, स्नेहियोंका स्मरण करना और अगली पर्यायमें सुखोंकी चाह करना ये पाँच सल्लेखनाव्रतके दोष हैं, जिन्हें 'अतिचार' कहा गया है।

शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।

सत्त्वोत्साहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥

आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।

स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥

खरपान-हापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।

पञ्चनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥—रत्नक० श्रा० ५, ३-७ ।

१. जीवित-मरणांशसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः ।

सल्लेखनातिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥—रत्नक० श्रा० ५, ८ ।

सल्लेखनाका फल

सल्लेखना-धारक धर्मका पूर्ण अनुभव और लाभ लेनेके कारण नियमसे निःश्रेयस अथवा अभ्युदय प्राप्त करता है। समन्तभद्रस्वामीने सल्लेखनाका फल बतलाते हुए लिखा है^१ :—

‘उत्तम सल्लेखना करनेवाला धर्मरूपी अमृतका पान करनेके कारण समस्त दुःखोंसे रहित होकर या तो वह निःश्रेयसको प्राप्त करता है और या अभ्युदयको पाता है, जहाँ उसे अपरिमित सुखोंकी प्राप्ति होती है।’

विद्वद्गर पण्डित आशाधरजी कहते हैं^२ कि ‘जिस महापुरुषने संसार-परम्पराके नाशक समाधि-मरणको धारण किया है उसने धर्मरूपी महान् निधिको परभवमें जानेके लिए अपने साथ ले लिया है, जिससे वह उसी तरह सुखी रहे जिस प्रकार एक ग्रामसे दूसरे ग्रामको जानेवाला व्यक्ति पासमें पर्याप्त पाथेय होनेपर निराकुल रहता है। इस जीवने अनन्त बार मरण किया, किन्तु समाधि-सहित पुण्य-मरण कभी नहीं किया, जो सौभाग्यसे या पुण्योदयसे अब प्राप्त हुआ है। सर्वज्ञदेवने इस समाधि-सहित पुण्य-मरणकी बड़ी प्रशंसा की है, क्योंकि समाधिपूर्वक मरण करनेवाला महान् आत्मा निश्चयसे संसाररूपी पिंजरेको तोड़ देता है—उसे फिर संसारके बन्धनमें नहीं रहना पड़ता है।’

सल्लेखनामें सहायक और उनका महत्वपूर्ण कर्त्तव्य

आराधक जब सल्लेखना ले लेता है, तो वह उसमें बड़े आदर, प्रेम और श्रद्धाके साथ संलग्न रहता है तथा उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानी रखता हुआ आत्म-साधनामें गतिशील रहता है। उसके इस पुण्य-कार्यमें, जिसे एक ‘महान्-यज्ञ’ कहा गया है, पूर्ण सफल बनाने और उसे अपने पवित्र पथसे विचलित न होने देनेके लिए निर्यापकाचार्य (समाधि-मरण करानेवाले अनुभवी मुनि) उसकी सल्लेखनामें सम्पूर्ण शक्ति एवं आदरके साथ उसे सहायता पहुँचाते हैं और समाधि-मरणमें उसे सुस्थिर रखते हैं। वे सदैव उसे तत्त्वज्ञान-पूर्ण मधुर उपदेश करते तथा शरीर और संसारकी असारता एवं क्षणभंगुरता दिखलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न हो, जिन्हें वह हेय समझकर छोड़ चुका या छोड़नेका संकल्प कर चुका है, उनकी पुनः चाह न करे। आचार्य शिवार्यने भगवती-आराधना (गा० ६५०-६७६) में समाधि-मरण-करानेवाले इन निर्यापक मुनियोंका बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है :—

‘वे मुनि (निर्यापक) धर्मप्रिय, दृढश्रद्धांनी, पापभीरु, परीषह-जेता, देश-काल-ज्ञाता, योग्यायोग्य-विचारक, न्यायमार्ग-मर्मज्ञ, अनुभवी, स्वपरतत्त्व-विवेकी, विश्वासी और परम-उपकारी होते हैं। उनकी संख्या अधिकतम ४८ और न्यूनतम २ होती है।’

१. निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तीरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।

निःपिवति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥—रत्नक० ५-९ ।

२. सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।

समाधिमरणं येन भव-विध्वंसि साधितम् ॥

प्राजन्तुनाऽमुनाऽजन्ताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।

समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥

परं शंसन्ति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।

यस्मिन्समाहिता भव्या भञ्जन्ति भव-पञ्जरम् ॥—सा०ध० ७-५८, ८-२७, २८ ।

‘४८ मुनि क्षपककी इस प्रकार सेवा करें । ४ मुनि क्षपकको उठाने-बैठाने आदिरूपसे शरीरकी टहल करें । ४ मुनि धर्म-श्रमण करायें । ४ मुनि भोजन और ४ मुनि पान करायें । ४ मुनि देख-भाल रखें । ४ मुनि शरीरके मलमूत्रादि क्षेपणमें तत्पर रहें । ४ मुनि बसतिकाके द्वारपर रहें, जिससे अनेक लोग क्षपकके परिणामोंमें शोभन कर सकें । ४ मुनि क्षपककी आराधनाको सुनकर आये लोगोंको सभामें धर्मोपदेशद्वारा सन्तुष्ट करें । ४ मुनि रात्रिमें जागें । ४ मुनि देशकी ऊँच-नीच स्थितिके ज्ञानमें तत्पर रहें । ४ मुनि बाहर-से आये-गयोसे बातचीत करें । और ४ मुनि क्षपकके समाधिमरणमें विघ्न करनेकी सम्भावनासे आये लोगोंसे वाद (शास्त्रार्थ द्वारा धर्म-प्रभावना) करें । इस प्रकार ये निर्यापक मुनि क्षपककी समाधिमें पूर्ण प्रयत्नसे सहायता करते हैं । भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें कालकी विषमता होनेसे जैसा अवसर हो और जितनी विधि बन जाये तथा जितने गुणोंके धारक निर्यापक मिल जायें उतने गुणोंवाले निर्यापकोंसे भी समाधि करायें, अतिश्रेष्ठ है । पर एक निर्यापक नहीं होता चाहिए, कम-से-कम दो होना चाहिए, क्योंकि अकेला एक निर्यापक क्षपककी २४ घण्टे सेवा करनेपर थक जायगा और क्षपककी समाधि अच्छी तरह नहीं करा सकेगा ।’

इस कथनसे दो बातें प्रकाशमें आती हैं । एक तो यह कि समाधिमरण करानेके लिए दोसे कम निर्यापक नहीं होना चाहिए । सम्भव है कि क्षपककी समाधि अधिक दिन तक चले और उस दशामें यदि निर्यापक एक हो तो उसे विश्राम नहीं मिल सकता । अतः कम-से-कम दो निर्यापक तो होना ही चाहिए । दूसरी बात यह कि प्राचीन कालमें मुनियोंकी इतनी बहुलता थी कि एक-एक मुनिकी समाधिमें ४८, ४८ मुनि निर्यापक होते थे और क्षपककी समाधिको वे निर्विघ्न सम्पन्न कराते थे । ध्यान रहे कि यह साधुओंकी समाधिका मुख्यतः वर्णन है । श्रावकोंकी समाधिका वर्णन यहाँ गौण है ।

ये निर्यापक क्षपकको जो कल्याणकारी उपदेश देते तथा उसे सल्लेखनामें सुस्थिर रखते हैं, उसका पण्डित आशाधरजीने बड़ा सुन्दर वर्णन किया है^१ । वह कुछ यहाँ दिया जाता है :—

‘हे क्षपक ! लोकमें ऐसा कोई पुद्गल नहीं, जिसका तुमने एकसे अधिक बार भोग न किया हो, फिर भी वह तुम्हारा कोई हित नहीं कर सका । परवस्तु क्या कभी आत्माका हित कर सकती है ? आत्माका हित तो उसीके ज्ञान, संयम और श्रद्धादि गुण ही कर सकते हैं । अतः बाह्य वस्तुओंसे मोहको त्यागो, त्रिवेक तथा संयमका आश्रय लो । और सदैव यह विचारो कि मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है । मैं चेतन हूँ, ज्ञाता-द्रष्टा हूँ और पुद्गल अचेतन है, ज्ञान-दर्शनरहित है । मैं अनन्दधन हूँ और पुद्गल ऐसा नहीं है ।’

१. पिय-धम्मा दढ-धम्मा संविग्गावज्जभीरुणो धीरा ।

छंदण्ह पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्ह ॥

कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणज्जूदा सुद-रहस्सा ।

गोदत्था भयवंतो अइयालीसं (४८) तु गिज्जवया ॥

गिज्जवया य दोष्णि वि होंति जहण्णेण कालसंसयणा ।

एवको गिज्जावयओ ण होइ कइया वि जिणसुत्ते ॥ —शिवार्थ, भगवती आराधना गा० ६६२-६७३ ।

२. सागारधर्मांमृत ८-४८ से ८-१०७ ।

‘हे क्षपकराज ! जिस सल्लेखनाको तुमने अब तक धारण नहीं किया था उसे धारण करनेका सुअवसर तुम्हें आज प्राप्त हुआ है । उस आत्महितकारी सल्लेखनामें कोई दोष न आने दो । तुम परीषहों-क्षुधादिके कष्टोंसे मत धबड़ाओ । वे तुम्हारे आत्माका कुछ विगाड़ नहीं सकते । उन्हें तुम सहनशीलता एवं धीरतासे सहन करो और उनके द्वारा कर्मोंकी असंख्यगुणी निर्जरा करो ।’

‘हे आराधक ! अत्यन्त दुःखदायी मिथ्यात्वका व्रमन करो, सुखदायी सम्यक्त्वका आराधना करो, पंचपरमेष्ठिका स्मरण करो, उनके गुणोंमें सतत अनुराग रखो और अपने शुद्ध ज्ञानोपयोगमें लीन रहो । अपने महाव्रतोंकी रक्षा करो, कषायोंको जीतो, इन्द्रियोंको वशमें करो, सदैव आत्मामें ही आत्माका ध्यान करो, मिथ्यात्वके समान दुःखदायी और सम्यक्त्वके समान सुखदायी तीन लोकमें अन्य कोई वस्तु नहीं है । देखो, धनदत्त राजाका संघश्री मन्त्री पहले सम्यग्दृष्टि था, पीछे उसने सम्यक्त्वकी विराधना की और मिथ्यात्वका सेवन किया, जिसके कारण उसकी आँखें फूट गईं और संसार-चक्रमें उसे घूमना पड़ा । राजा श्रेणिक तोत्र मिथ्यादृष्टि था, किन्तु बादको उसने सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया, जिसके प्रभावसे उसने अपनी बँधी हुई नरककी स्थितिकी कम करके तीर्थङ्कर-प्रकृतिका बन्ध किया और भविष्यत्कालमें वह तीर्थङ्कर होगा ।’

‘इसी तरह हे क्षपक ! जिन्होंने परीषहों एवं उपसर्गोंको जीत करके महाव्रतोंका पालन किया, उन्होंने अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्त किया है । सुकमालमुनिको देखो, वे जब वनमें तप कर रहे थे और ध्यानमें मग्न थे, तो श्रुगालिनोंने उन्हें कितनी निर्दयतासे खाया । परन्तु सुकमालस्वामी जरा भी ध्यानसे विचलित नहीं हुए और धीरे उपसर्ग सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए । शिवभूति महामुनिको भी देखो, उनके सिरपर आँधीसे उड़कर घासका ढेर आपड़ा, परन्तु वे आत्म-ध्यानसे रत्तीभर भी नहीं डिगे और निश्चल भावसे शरीर त्यागकर निर्वाणको प्राप्त हुए । पाँचों पाण्डव जब तपस्या कर रहे थे, तो कौरवोंके भानजे आदिने पुरातन बैर निकालनेके लिए गरम लोहेकी सांकलोंसे उन्हें बाँध दिया और कीलियाँ ठोक दीं, किन्तु वे अडिग रहे और उपसर्गोंको सहकर उत्तम गतिको प्राप्त हुए । युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मोक्ष गये तथा नकुल और सहदेव सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त हुए । विद्युच्चरने कितना भारी उपसर्ग सहा और उसने सद्गति पाई ।’

‘अतः हे आराधक ! तुम्हें इन महापुरुषोंको अपना आदर्श बनाकर धीर-धीरतासे सब कष्टोंको सहन करते हुए आत्म-लीन रहना चाहिए, जिससे तुम्हारी समाधि उत्तम प्रकारसे हो और अभ्युदय तथा निःश्रेयसको प्राप्त करो ।’

इस तरह निर्यापक मुनि क्षपकको समाधिमरणमें निश्चल और सावधान बनाये रखते हैं । क्षपकके समाधिमरणरूप महान् यज्ञकी सफलतामें इन निर्यापक साधुवरोंका प्रमुख एवं अद्वितीय सहयोग होनेकी प्रशंसा करते हुए आचार्य शिवायने लिखा है :—

‘वे महानुभाव (निर्यापक मुनि) धन्य हैं, जो अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर बड़े आदरके साथ क्षपककी सल्लेखना कराते हैं ।’

१. ते चि य महाणुभावा धण्णा जेहि च तस्स लवयस्स ।

सन्वादेर-सत्तीए उवविहिदाराधणा सयला ।—भ० आ०, गा० २००० ।

सल्लेखनाके भेद

जैन शास्त्रोंमें शरीरका त्याग तीन तरहसे बताया गया है^१। एक च्युत, दूसरा च्यावित और तीसरा त्यक्त।

१. च्युत—जो आयु पूर्ण होकर शरीरका स्वतः छूटना है वह च्युत त्याग (मरण) कहलाता है।

२. च्यावित—जो विष-भक्षण, रक्त-क्षय, धातु-क्षय, शस्त्र-घात, संक्लेश, अग्नि-दाह, जल-प्रवेश, गिरि-पतन आदि निमित्तकारणोंसे शरीर छोड़ा जाता है वह च्यावित त्याग (मरण) कहा गया है।

३. त्यक्त—रोगादि हो जाने और उनकी असाध्यता तथा मरणकी आसन्नता ज्ञात होनेपर जो विवेकसहित संन्यासरूप परिणामोंसे शरीर छोड़ा जाता है, वह त्यक्त त्याग (मरण) है।

इन तीन तरहके शरीर-त्यागोंमें त्यक्तरूप शरीर-त्याग सर्वश्रेष्ठ और उत्तम माना गया है, क्योंकि त्यक्त अवस्थामें आत्मा पूर्णतया जागृत एवं सावधान रहता है तथा कोई संक्लेश परिणाम नहीं होता।

इस त्यक्त शरीर-मरणको ही समाधि-मरण, संन्यास-मरण, पण्डित-मरण, वीर-मरण और सल्लेखना-मरण कहा गया है। यह सल्लेखना-मरण (त्यक्त शरीरत्याग) भी तीत प्रकारका प्रतिपादन किया गया है;—

१. भक्तप्रत्याख्यान, २. इंगिनी और ३. प्रायोपगमन।

१. भक्तप्रत्याख्यान—जिस शरीर-त्यागमें अन्न-पानको धीरे-धीरे कम करते हुए छोड़ा जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान या भक्त-प्रतिज्ञा-सल्लेखना कहते हैं। इसका काल-प्रमाण न्यूनतम अन्तर्पूर्त है और अधिकतम बारह वर्ष है। मध्यम अन्तर्पूर्तसे ऊपर तथा बारह वर्षसे नीचेका काल है। इसमें आराधक आत्मातिरिक्त समस्त पर-वस्तुओंसे राम-द्वेषादि छोड़ता है और अपने शरीरकी टहल स्वयं भी करता है और दूसरोंसे भी कराता है।

२. इंगिनी^२—जिस शरीर-त्यागमें क्षपक अपने शरीरकी सेवा-परिचर्या स्वयं तो करता है, पर दूसरोंसे नहीं कराता उसे इंगिनी-मरण कहते हैं। इसमें क्षपक स्वयं उठेगा, स्वयं बैठेगा और स्वयं लेटेगा और इस तरह अपनी अमस्त क्रियाएँ स्वयं ही करेगा। वह पूर्णतया स्वावलम्बनका आश्रय ले लेता है।

३. प्रायोपगमन—जिस शरीर-त्यागमें इस सल्लेखनाका धारी न स्वयं अपनी सहायता लेता है और न दूसरेकी, उसे प्रायोपगमन-मरण कहते हैं। इसमें शरीरको लकड़ोकी तरह छोड़कर आत्माकी ओर ही क्षपकका लक्ष्य रहता है और आत्माके ध्यानमें ही वह सदा रत रहता है। इस सल्लेखनाको साधक तभी धारण करता है जब वह अन्तिम अवस्थामें पहुँच जाता है और उसका संहनन (शारीरिक बल और आत्म-सामर्थ्य) प्रबल होता है।

भक्तप्रत्याख्यान सल्लेखनाके दो भेद

इनमें भक्त-प्रत्याख्यान सल्लेखना दो तरहकी होती है:—(१) सविचार-भक्त-प्रत्याख्यान और (२) अविचार-प्रत्याख्यान। सविचार-भक्तप्रत्याख्यानमें आराधक अपने संघको छोड़कर दूसरे संघमें जाकर सल्लेखना ग्रहण करता है। यह सल्लेखना बहुत काल बाद मरण होने तथा शीघ्र मरण न होनेकी हालतमें ग्रहण की जाती है। इस सल्लेखनाका धारी 'अहं' आदि अधिकारोंके विचारपूर्वक उत्साह सहित इसे धारण करता है। इसीसे इसे सविचार-भक्त प्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। पर जिस आराधककी आयु अधिक नहीं है

१. आ० नेमिचन्द्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गा० ५६, ५७, ५८।

२. आ० नेमिचन्द्र, गो० क० गा० ६१।

और शीघ्र मरण होनेवाला है तथा दूसरे संघमें जानेका समय नहीं है और न शक्ति है वह मुनि दूसरी अविचार-भक्त-प्रत्याख्यान-सल्लेखना लेता है। इसके भी तीन भेद हैं :—१. निरुद्ध, २. निरुद्धतर और ३. परमनिरुद्ध ।

१. निरुद्ध—दूसरे संघमें जानेकी पैरोमें सामर्थ्य न रहे, शरीर थक जाय अथवा घातक रोग, व्याधि या उपसर्गादि आ जायें और अपने संघमें ही रुक जाय तो उस हालतमें मुनि इस समाधिमरणको ग्रहण करता है। इसलिए इसे निरुद्ध-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं। यह दो प्रकारकी है—१. प्रकाश और २. अप्रकाश। लोकमें जिनका समाधिमरण विख्यात हो जायें, वह प्रकाश है तथा जिनका विख्यात न हो, वह अप्रकाश है।

२. निरुद्धतर—सर्प, अग्नि, व्याघ्र, महिष, हाथी, रीछ, चोर, व्यन्तर, मूर्च्छा, दुष्ट-पुरुषों आदिके द्वारा मारणान्तिक आपत्ति आजानेपर आयुका अन्त जानकर निकटवर्ती आचार्यादिकके समीप अपनी निन्दा, गर्हा करता हुआ साधु शरीर-त्याग करे तो उसे निरुद्धतर-अविचार-भक्तप्रत्याख्यान-समाधिमरण कहते हैं।

३. परमनिरुद्ध—सर्प, व्याघ्रादिके भीषण उपद्रवोंके आनेपर वाणी रुक जाय, बोल न निकल सके, ऐसे समयमें मनमें ही अरहन्तादि पंचपरमेष्ठियोंके प्रति अपनी आलोचना करता हुआ साधु शरीर त्याग, तो उसे परमनिरुद्ध-भक्तप्रत्याख्यान-सल्लेखना कहते हैं।

सामान्य मरणकी अपेक्षा समाधिमरणकी श्रेष्ठता :

आचार्य शिवार्थने सतरह प्रकारके मरणोंका उल्लेख करके उनमें विशिष्ट पाँच^१ तरहके मरणोंका वर्णन करते हुए तीन मरणोंको प्रशंसनीय एवं श्रेष्ठ बतलाया है। वे तीन^२ मरण ये हैं :—१. पण्डितपण्डित-मरण, २. पण्डितमरण और ३. बालपण्डितमरण ।

उक्त मरणोंको स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है^३ कि चउदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली भगवान्का निर्वाण-गमन 'पण्डितपण्डितमरण' है, आचाराङ्ग-शास्त्रानुसार चारित्रिके धारक साधु-मुनियोंका मरण 'पण्डितमरण' है, देशव्रती श्रावकका मरण 'बालपण्डितमरण' है, अविरत-सम्यग्दृष्टिका मरण 'बालमरण' और मिथ्यादृष्टिका मरण 'बालबालमरण' है। ऊपर जो भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनी और प्रायोपगमन—इन तीन समाधिमरणोंका कथन किया गया है वह सब पण्डितमरणका कथन है। अर्थात् वे पण्डितमरणके भेद हैं।

१. पण्डितपण्डित-मरणं पण्डित्यं बाल-पण्डितं चैव ।

बाल-मरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥ —भ० आ० गा० २६ ।

२. पण्डितपण्डित-मरणं च पण्डितं बालपण्डितं चैव ।

एदाणि तिष्ठिण मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसन्ति ॥ —भ० आ० गा० २७ ।

३. पण्डितपण्डितमरणे खीणकसाया मरन्ति केवल्लिणो ।

विरदाविरदा जीवा मरन्ति तदियेण मरणेण ॥

पाओपममण-मरणं भत्तप्पण्णा य इंगिणी चैव ।

तिविहं पण्डितमरणं साहुस्स जहुत्तचरियस्स ॥

अविरदसम्मादिट्ठी मरन्ति बालमरणे चउत्थम्मि ।

मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥—भ. आ. २८, २९, ३० ।

समाधिमरणके कर्ता, कारयिता, अनुमोदक और दर्शकोंकी प्रशंसा :

शिवार्यने इस सल्लेखनाके करने, कराने, देखने, अनुमोदन करने, उसमें सहायक होने, आहार-औषध-स्थानादि देने तथा आदर-भक्ति प्रकट करनेवालोंको पुण्यशाली बतलाते हुए उनकी बड़ी प्रशंसा की है। वे लिखते हैं :—

‘वे मुनि धन्य हैं, जिन्होंने संघके मध्यमें जाकर समाधिमरण ग्रहण कर चार प्रकार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य और तप) की आराधनारूपी पताकाको फहराया है।’

‘वे ही भाग्यशाली और ज्ञानी हैं तथा उन्हींने समस्त लाभ पाया है जिन्होंने दुर्लभ भगवती आराधना (सल्लेखना) को प्राप्त किया है।’

‘जिस आराधनाको संसारमें महाप्रभावशाली व्यक्ति भी प्राप्त नहीं कर पाते, उस आराधनाको जिन्होंने पूर्णरूपसे प्राप्त किया, उनकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है?’

‘वे महानुभाव भी धन्य हैं, जो पूर्ण आदर और समस्त शक्तिके साथ क्षपककी आराधना कराते हैं।’

‘जो धर्मात्मा पुरुष क्षपककी आराधनामें उपदेश, आहार-पान, औषध व स्थानादिके दानद्वारा सहायक होते हैं, वे भी समस्त आराधनाओंको निर्विघ्न पूर्ण करके सिद्धपदको प्राप्त होते हैं।’

१. ते सूर्या भयवन्ता आइच्चइऊण संघ-मञ्जम्मि ।

आराधना-पडाया चउप्ययारा धिदा जेहि ॥

ते धण्णा ते णाणी लद्धो लाभो य तेहि सव्वेहि ।

आराधना भयवदी पडिवण्णा जेहि संपुण्णा ॥

कि णाम तेहि लोणे महाणुभावेहि हुज्ज ण य पत्तं ।

आराधना भयवदी सयला आराधिदा जेहि ॥

ते चि य महाणुभावा धण्णा जेहि च तस्स खवयस्स ।

सन्वादर-सत्तीए उवविहिदाराधना सयला ॥

जो उवविधेदि सन्वादरेण आराधणं सु अण्णस्स ।

सपज्जदि णिव्विग्धा सयला आराधना तस्स ॥

ते वि कदत्था धण्णा य ह्वंति जे पावकम्म-मल-हरणे ।

ल्लयंति खवय-तित्थे सन्वादर-भत्ति-संजुत्ता ॥

गिरि-णदियादिपदेसा तित्थाणि तवोधर्णेहि जदि उसिदा ।

तित्थं कथं ण हुज्जो तवगुणरासी सयं खवओ ॥

पुव्व-रिसीणं पडिमाउ वंदमाणस्स होइ जदि पुण्णं ।

खवयस्य वंदओ किह पुण्णं विउलं ण पाविज्ज ॥

जो ओलगादि आराधयं सदा तिक्कभत्तिसंजुत्तो ।

सपज्जदि णिव्विग्धा तस्स वि आराधना सयला ॥—भ० आ० गा० १९९७-२००५ ।

‘वे पुरुष भी पुण्यशाली हैं, कृतार्थ हैं, जो पापकर्मरूपी मूलको छुटानेवाले क्षपकरूपी तीर्थमें सम्पूर्ण भक्ति और आदरके साथ स्नान करते हैं। अर्थात् क्षपकके दर्शन, वन्दन और पूजनमें प्रवृत्त होते हैं।’

‘यदि पर्वत, नदी आदि स्थान तपोधनोंसे सेवित होनेसे ‘तीर्थ’ कहे जाते हैं और उनकी सभक्ति वन्दना की जाती है तो तपोगुणकी राशि क्षपक ‘तीर्थ’ क्यों नहीं कहा जावेगा? अर्थात् उसकी वन्दना और दर्शनका भी वही फल प्राप्त होता है जो तीर्थ-वन्दनाका होता है।’

‘यदि पूर्व ऋषियोंकी प्रतिमाओंकी वन्दना करनेवालोंको पुण्य होता है, तो साक्षात् क्षपककी वन्दना एवं दर्शन करनेवाले पुरुषको प्रचुर पुण्यका संचय क्यों नहीं होगा? अर्थात् अवश्य होगा।’

‘जो तीव्र भक्तिसहित आराधककी सदा सेवा—वैयावृत्य करता है उस पुरुषकी भी आराधना निर्विघ्न सम्पन्न होती है। अर्थात् वह भी समाधिपूर्वक मरण कर उत्तम गतिको प्राप्त होता है।’

सल्लेखना आत्म-घात नहीं है :

अन्तमें यह कह देना आवश्यक है कि सल्लेखनाको आत्म-घात न समझ लिया जाय; क्योंकि आत्म-घात तीव्र क्रोधादिके आवेशमें आकर या अज्ञानतावश शस्त्र-प्रयोग, विष-भक्षण, अभि-प्रवेश, जल-प्रवेश, गिरि-पात आदि घातक क्रियाओंसे किया जाता है, जब कि इन क्रियाओंका और क्रोधादिके आवेशका सल्लेखनामें अभाव है। सल्लेखना योजनानुसार शान्तिपूर्वक मरण है, जो जीवन-सम्बन्धी सुयोजनाका एक अङ्ग है। क्या जैनैतर दर्शनोंमें यह सल्लेखना है ?

यह सल्लेखना जैन दर्शनके सिवाय अन्य दर्शनोंमें उपलब्ध नहीं होती। हाँ, योगसूत्र आदिमें ध्यानार्थक समाधिका विस्तृत कथन अवश्य पाया जाता है। पर उसका अन्तःक्रियासे कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका प्रयोजन केवल सिद्धियोंके प्राप्त करने अथवा आत्म-साक्षात्कारसे है। वैदिक साहित्यमें वर्णित सोलह संस्कारोंमें एक ‘अन्त्येष्टि-संस्कार’ आता है^१, जिसे ऐहिक जीवनके अन्तिम अध्यायकी समाप्ति कहा गया है^२ और जिसका दूसरा नाम ‘मृत्यु-संस्कार’ है। इस संस्कारका अन्तःक्रियाके साथ सम्बन्ध हो सकता था। किन्तु मृत्यु-संस्कार सामाजिको अथवा सामान्य लोगोंका किया जाता है, सिद्ध-महात्माओं, संन्यासियों या भिक्षुओंका नहीं, क्योंकि उनका परिवारसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और इसीलिए उन्हें अन्त्येष्टि-क्रियाकी आवश्यकता नहीं रहती^३। उनका तो जल-निखात या भू-निखात किया जाता है^४। यह भी ध्यान देने योग्य है कि हिन्दूधर्ममें अन्त्येष्टिकी सम्पूर्ण क्रियाओंमें मृत व्यक्तिके विषय-भोग तथा सुख-सुविधाओंके लिए ही प्रार्थनाएँ की जाती हैं। हमें उसके आध्यात्मिक लाभ अथवा मोक्षके लिए इच्छाका बहुत कम संकेत मिलता है। जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति पानेके लिए कोई प्रार्थना नहीं की जाती^५। पर जैन-सल्लेखनामें पूर्णतया आध्यात्मिक लाभ तथा मोक्ष-प्राप्तिकी भावना स्पष्ट सन्निहित रहती है, लौकिक एषणाओंकी उसमें कामना नहीं होती। इतना यहाँ ज्ञातव्य है कि निर्णय-सिन्धुकारने ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके अतिरिक्त आतुर अर्थात् मुमुक्षु (मरणाभिलाषी) और दुःखित अर्थात् चौरव्याघ्रादिसे भयभीत व्यक्तिके लिए भी

१, २. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० २९६।

३. डा० राजबली पाण्डेय, हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३।

४. हिन्दूसंस्कार पृ० ३०३ तथा कमलाकरभट्टकृत निर्णयसिन्धु पृ० ४४७।

५. हिन्दूसंस्कार पृ० ३४६।

संन्यासका विधान करनेवाले कतिपय मतोंका उल्लेख किया है। उनमें कहा गया है कि 'संन्यास लेनेवाला आतुर अथवा दुःखित यह संकल्प करता है कि 'मैंने जो अज्ञान, प्रमाद या आलस्य दोषसे बुरा कर्म किया उसे मैं छोड़ रहा हूँ और सब जीवोंको अभय-दान देता हूँ तथा विचरण करते हुए किसी जीवकी हिंसा नहीं करूँगा।' किन्तु यह कथन संन्यासीके मरणान्त-समयके विधि-विधानको नहीं बतलाता, केवल संन्यास लेकर आगे की जानेवाली चर्यारूप प्रतिज्ञाका दिग्दर्शन कराता है। स्पष्ट है कि यहाँ संन्यासका वह अर्थ विवक्षित नहीं है जो जैन-सल्लेखनाका अर्थ है। संन्यासका अर्थ यहाँ साधुदीक्षा—कर्मत्याग—संन्यासनामक चतुर्थ आश्रमका स्वीकार है और सल्लेखनाका अर्थ अन्त (मरण) समयमें होनेवाली क्रिया-विशेष^२ (कषाय एवं कायका कृशीकरण करते हुए आत्माको कुमरणसे बचाना तथा आचरित संयमादि आत्म-धर्मकी रक्षा करना) है। अतः सल्लेखना जैनदर्शनको एक विशेष देन है, जिसमें पारलौकिक एवं आध्यात्मिक जीवनको उज्वलतम तथा परमोच्च बनानेका लक्ष्य निहित है। इसमें रागादिसे प्रेरित होकर प्रवृत्ति न होनेके कारण वह शुद्ध आध्यात्मिक है। निष्कर्ष यह है कि सल्लेखना आत्म-सुधार एवं आत्म-संरक्षणका अन्तिम और विचार-पूर्ण प्रयत्न है।



१. संन्यसेद् ब्रह्मचर्याद्वा संन्यसेच्च गृहादपि ।

वनाद्वा प्रव्रजेद्विद्वानातुरो वाऽथ दुःखितः ॥

उत्पन्ने संकटे घोरे चौर-व्याघ्रादि-गोचरे ।

भयभीतस्य संन्यासमङ्गिरा मनुरब्रवीत् ॥

यत्किञ्चिद्बाधकं कर्म कृतमज्ञानतो मया ।

प्रमादालस्यदोषाद्यत्तत्संत्यक्तवानहम् ॥

एवं संत्यज्य भूतेभ्यो दद्यादभयदक्षिणाम् ।

पद्भ्यां कराभ्यां विहरन्नाहं वाक्कायमानसैः ॥

करिष्ये प्राणिनां हिंसां प्राणिनः सन्तु निर्भयाः ।—कमलाकरभट्ट, निर्णयसिन्धु पृ० ४४७ ।

२. वैदिक साहित्यमें यह क्रिया-विशेष भृगु-पतन, अग्नि-प्रवेश, जल-प्रवेश आदिके रूपमें मिलती है।

जैसा कि माधके शिशुपालवधकी टीकामें उद्धृत निम्न पद्यसे जाना जाता है :—

अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः ।

भृग्वग्नि-जल-सम्पातैर्मरणं प्रविधीयते ॥—शिशुपालवध ४-२३ की टीकामें उद्धृत ।

किन्तु जैन संस्कृतिमें इस प्रकारकी क्रियाओंको मान्यता नहीं दी गई और उन्हें लोकमूढता बतलाया गया है :—

आपगा-सागर-स्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।

गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥—समन्तभद्र, रत्नकरण्ड० १-२२ ।

जैन दर्शनमें सर्वज्ञता

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥

—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय १ ।

पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक और मीमांसक इन दो दर्शनोंको छोड़कर शेष सभी (न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन) दर्शन सर्वज्ञताकी सम्भावना करते तथा युक्तियों द्वारा उसकी स्थापना करते हैं। साथ ही उसके सद्भावमें आगम-प्रमाण भी प्रचुर मात्रामें उपस्थित करते हैं।

चार्वाक दर्शनका दृष्टिकोण

चार्वाक दर्शनका दृष्टिकोण है कि 'यद्दृश्यते तदस्ति, यन्न दृश्यते तन्नास्ति'—इन्द्रियोंसे जो दिखे वह है और जो न दिखे वह नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत-तत्त्व ही दिखाई देते हैं। अतः वे हैं। पर उनके अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः वे नहीं हैं। सर्वज्ञता किसी भी पुरुषमें इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं है और अज्ञात पदार्थका स्वीकार उचित नहीं है। स्मरण रहे कि चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणके अलावा अनुमानादि कोई प्रमाण नहीं मानते। इसलिए इस दर्शनमें अतीन्द्रिय सर्वज्ञकी सम्भावना नहीं है।

मीमांसक दर्शनका मन्तव्य

मीमांसकोंका मन्तव्य है कि धर्म, अधर्म, स्वर्ग, देवता, नरक, नारकी आदि अतीन्द्रिय पदार्थ हैं तो अवश्य, पर उनका ज्ञान वेदद्वारा ही संभव है, किसी पुरुषके द्वारा नहीं^१। पुरुष रागादि दोषोंसे युक्त है और रागादि दोष पुरुषमात्रका स्वभाव है तथा वे किसी भी पुरुषसे सर्वथा दूर नहीं हो सकते। ऐसी हालतमें रागी-द्वेषी-अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा उन धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान संभव नहीं है। शबर स्वामी अपने शबर-भाष्य (१-१-५) में लिखते हैं :

‘चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम् ।’

इससे विदित है कि मीमांसक दर्शन सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान चोदना (वेद) द्वारा स्वीकार करता है। किसी इन्द्रियके द्वारा उनका ज्ञान संभव नहीं मानता। शबर स्वामीके परवर्ती प्रकाण्ड विद्वान् भट्ट कुमारिल भी किसी पुरुषमें सर्वज्ञताकी सम्भावनाका अपने मीमांसाश्लोकवातिकमें विस्तारके साथ

१. तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि ।

न स्वर्ग-देवताऽपूर्व-प्रत्यक्षकरणे क्षमः ॥

—भट्ट कुमारिल, मीमांसाश्लोकवा० ।

पुरजोर खण्डन करते हैं^१। पर वे इतना स्वीकार करते हैं कि हम केवल धर्मज्ञका अथवा धर्मज्ञताका निषेध करते हैं। यदि कोई पुरुष धर्मातिरिक्त अन्य सबको जानता है तो जाने, हमें कोई विरोध नहीं है।

धर्मज्ञत्व-निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
 सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥
 सर्वप्रमातृ-संबन्धि-प्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
 केवलाऽऽगम-गम्यत्वं लप्स्यते पुण्य-पापयोः^२ ॥

किसी पुरुषको धर्मज्ञ न माननेमें कुमारिलका तर्क यह है कि पुरुषोंका अनुभव परस्पर विरुद्ध एवं बाधित देखा जाता है^३। अतः वे उसके द्वारा धर्माधर्मका यथार्थ साक्षात्कार नहीं कर सकते। वेद मित्य, अपौरुषेय और त्रिकालाबाधित होनेसे उसका ही धर्माधर्मके मामलेमें प्रवेश है (यमे चोदनैव प्रमाणम्)। ध्यान रहे बौद्ध दर्शनमें बुद्धके अनुभव—योगिज्ञानको और जैन दर्शनमें अर्हत्के अनुभव—केवलज्ञानको धर्माधर्मका यथार्थ साक्षात्कारी बतलाया गया है। जान पड़ता है कि कुमारिलको इन दोनों दर्शनोंकी मान्यता (धर्माधर्मज्ञतास्वीकार)का निषेध करना इष्ट है। उन्हें त्रयीवित् मन्वादिका धर्माधर्मादिविषयक उपदेश मान्य

१. यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जतीयार्थदर्शनम् ।

दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरैऽप्यभूत् ॥११२—सू० २

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात् ।

दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥११४

येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा-मेधादिभिर्नराः ।

स्तोकस्तोकान्तरत्वेन नत्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥

प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोऽपि सन् ।

स्वजातीरनतिक्रमान्ततिशेते परान्तरान् ॥

एकशास्त्रविचारे तु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।

न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥

ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।

प्रकृष्यति न नक्षत्र-तिथि-ग्रहणनिर्णये ॥

ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्क-ग्रहणादिषु ।

न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥

दशहस्तान्तरे व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।

न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥

तस्मादतिशयज्ञानैरतिदूरगतैरपि ।

किंचिदेवाधिकं ज्ञातुं शक्यते न त्वतीन्द्रियम् ॥—अनन्तकीर्ति द्वारा बृहत्सर्वज्ञसिद्धिमें उद्धृत कारिकाएँ ।

२. इन दो कारिकाओंमें पहली कारिकाको शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें (३१२८ का०) और दोनोंको अनन्तकीर्तिने बृहत्सर्वज्ञसिद्धि (पृ० १३७) में उद्धृत किया है ।

३. सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।

तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥—अष्टस. पृ. ३, उद्धृत ।

है, क्योंकि वे उसे वेद-प्रभव बतलाते हैं^१। कुछ भी हो, वे किसी पुरुषको स्वयं धर्मज्ञ स्वीकार नहीं करते। वे मन्वादिको भी वेद द्वारा ही धर्माधर्मादिका ज्ञाता और उपदेष्टा मानते हैं।

बौद्ध दर्शनमें सर्वज्ञता

बौद्ध दर्शनमें अविद्या और तृष्णाके क्षयसे प्राप्त योगीके परम प्रकर्षजन्य अनुभव पर बल दिया गया है और उसे समस्त पदार्थोंका, जिनमें धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी सम्मिलित हैं, साक्षात्कर्ता कहा गया है। दिङ्नाग आदि बौद्ध-चिन्तकोंने सूक्ष्मादि पदार्थोंके साक्षात्करणरूप अर्थमें सर्वज्ञताको निहित प्रतिपादन किया है। परन्तु बुद्धने स्वयं अपनी सर्वज्ञतापर बल नहीं दिया। उन्होंने कितने ही अतीन्द्रिय पदार्थोंको अव्याकृत (न कहने योग्य) कह कर उनके विषयमें मौन ही रखा^२। पर उनका यह स्पष्ट उपदेश था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थका साक्षात्कार या अनुभव हा सकता है। उसके लिए किसी धर्म-पुस्तककी शरणमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्तिने भी बुद्धको धर्मज्ञ ही बतलाया है और सर्वज्ञताको मोक्षमार्गमें अनुपयोगी कहा है :

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीट-संख्यापरिज्ञाने तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥

—धर्मकीर्ति, प्रमाणवा. ३१, ३२।

१. उपदेशो हि बुद्धादिधर्मधर्मादिगोचरः ।

अन्यथा चोपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥

बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः ।

उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥

येऽपि मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् ।

त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥

नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स च सर्वज्ञ इत्यपि ।

साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत् ॥

सिद्धाधिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते ।

यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम् ॥

यदीयागमसात्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतेष्यते ।

न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते ॥

यावद्बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा ।

यत्र वचनं सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥

अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता ।

सामानाधिकरण्ये हि तयोरंगांगिता भवेत् ॥

ये कारिकाएँ कुमारिके नामसे अनन्तकीर्तिने बृ. स. सि. में उद्धृत की हैं।

२. देखिए, मज्झिमनिकाय २-२-३ के चूलमालुङ्क्य सूत्रका संवाद।

‘मोक्षमार्गमें उपयोगी ज्ञानका ही विचार करना चाहिए । यदि कोई जगत्के कीड़े-मकोड़ोंकी संख्या को जानता है तो उससे हमें क्या लाभ ? अतः जो हैय और उपादेय तथा उनके उपायोंको जानता है वही हमारे लिए प्रमाण आप्त है, सबका जानने वाला नहीं ।’

यहाँ उल्लेखनीय है कि कुमारिलने जहाँ धर्मज्ञका निषेध करके सर्वज्ञके सद्भावको इष्ट प्रकट किया है वहाँ धर्मकीर्तिने ठीक उसके विपरीत धर्मज्ञको मिद्ध कर सर्वज्ञका निषेध मान्य किया है । शान्तरहित और उनके शिष्य कमलशील बुद्धमें धर्मज्ञताके साथ ही सर्वज्ञताकी भी सिद्धि करते हैं^१ । पर त्रे भी धर्मज्ञताको मुख्य और सर्वज्ञताको प्रासङ्गिक बतलाते हैं^२ । इस तरह हम बौद्ध दर्शनमें सर्वज्ञताकी सिद्धि देख कर भी, वस्तुतः उसका विशेष बल हेयोपादेयतत्त्वज्ञतापर ही है, ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं ।

न्याय-वैशेषिक दर्शनमें सर्वज्ञता

न्याय-वैशेषिक ईश्वरमें सर्वज्ञत्व माननेके अतिरिक्त दूसरे योगी आत्माओंमें भी उन्ने स्वीकार करते हैं^३ । परन्तु उनकी वह सर्वज्ञता अपवर्ग-प्राप्तिके बाद नष्ट हो जाती है, क्योंकि वह योग तथा आत्ममनः-संयोग-जन्य गुण अथवा अणिमा आदि ऋद्धियोंकी तरह एक विभूति मात्र है । मुक्तावस्थामें न आत्ममनः-संयोग रहता है और न योग । अतः ज्ञानादि गुणोंका उच्छेद हो जानेसे वहाँ सर्वज्ञता भी समाप्त हो जाती है । हाँ, वे ईश्वरकी सर्वज्ञता अवश्य अनादि-अनन्त मानते हैं ।

सांख्य-योग दर्शनमें सर्वज्ञता

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृतिमें और ईश्वरवादी योग ईश्वरमें सर्वज्ञता स्वीकार करते हैं । सांख्य दर्शनका मन्तव्य है कि ज्ञान बुद्धितत्त्वका परिणाम है और बुद्धितत्त्व महत्त्व और महत्त्व प्रकृतिका परिणाम है । अतः सर्वज्ञता प्रकृतितत्त्वमें निहित है और वह अपवर्ग हो जानेपर समाप्त हो जाती । योगदर्शनका दृष्टिकोण है कि पुरुषविशेषरूप ईश्वरमें^४ नित्य सर्वज्ञता है और योगियोंकी सर्वज्ञता, जो सर्व विषयक ‘तारक’ विवेकज्ञान रूप है, अपवर्गके बाद नष्ट हो जाती है । अपवर्ग अवस्थामें पुरुष चैतन्यमात्र-में, जो ज्ञानसे भिन्न है, अवस्थित रहता है^५ । यह भी आवश्यक नहीं कि हर योगीको वह सर्वज्ञता प्राप्त हो । तात्पर्य यह कि योगदर्शनमें सर्वज्ञताकी सम्भावना तो की गई है, पर वह योगज विभूतिजन्य होनेसे अनादि-अनन्त नहीं है, केवल सादि-सान्त है ।

१. स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते ।
साधान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥—तत्त्व. सं. का. ३३० ।
२. ‘मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्राप्तकहेतुज्ञत्वसाधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते । यत्पुनः अशेषार्थपरिज्ञातृत्व-साधनमस्थ तत् प्रासङ्गिकम् ।’—तत्त्व. सं. प. ८६३ ।
३. ‘अस्मद्विशिष्टानां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिवकलालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुत्पद्यते, विद्युक्तानां पुनः.....।’
—प्रशस्तपादभाष्य, पृ० १८७ ।
४. ‘क्लेशकर्मविषाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः’—योगसूत्र ।
५. ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’—योगसूत्र १-१-३ ।

वेदान्त दर्शनमें सर्वज्ञता

वेदान्त दर्शनका मन्तव्य है कि सर्वज्ञता अन्तःकरणनिष्ठ है और वह जीवन्मुक्त दशा तक रहती है। उसके बाद वह छूट जाती है। उस समय जीवात्मा अविद्यासे मुक्त होकर विद्यारूप शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म मय हो जाता है और सर्वज्ञता आत्मज्ञतामें विलीन हो जाती है। अथवा उसका अभाव हो जाता है।

जैन दर्शनमें सर्वज्ञता-विषयक विस्तृत विमर्श :

जैन दर्शनमें ज्ञानको आत्माका स्वरूप अथवा स्वाभाविक गुण माना गया है^१ और उसे स्व-पर प्रकाशक स्वीकार किया गया है^२। यदि आत्माका स्वभाव ज्ञत्व (जानना) न हो तो वेदके द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयोंका ज्ञान नहीं हो सकता। आचार्य अकलङ्कदेवने लिखा है^३ कि ऐसा कोई ज्ञेय नहीं, जो ज्ञस्वभाव आत्माके द्वारा जाना न जाय। किसी विषयमें अज्ञताका होना ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषोंका कार्य है। जब ज्ञानके प्रतिबन्धक ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषोंका क्षय हो जाता है तो बिना त्कावटके समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान हुए बिना नहीं रह सकता; इसीको सर्वज्ञता कहा गया है। जैन मनीषियोंने प्रारम्भसे त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती अक्षेप पदार्थोंके प्रत्यक्ष ज्ञानके अर्थमें इस सर्वज्ञताको पर्यवसित माना है। आगम-ग्रन्थों एवं तर्क-ग्रन्थोंमें हमें सर्वत्र सर्वज्ञताका प्रतिपादन मिलता है। षट्खण्डागमसूत्रोंमें कहा गया है कि 'केवली भगवान् समस्त लोकों, समस्त जीवों और अन्य समस्त पदार्थोंको सर्वदा एक साथ जानते व देखते हैं'^४। आचारांगसूत्रमें भी यही कथन किया गया है^५। महान् चिन्तक और लेखक कुन्दकुन्दने भी लिखा है^६ कि 'आवरणोंके अभावसे उद्भूत केवलज्ञान वर्तमान, भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित आदि सब तरहके ज्ञेयोंको पूर्णरूपमें युगपत् जानता है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थोंको नहीं जानता वह अनन्त पर्यायों वाले एक द्रव्यको भी पूर्णतया नहीं जान सकता और जो अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्यको नहीं जानता वह समस्त द्रव्योंको कैसे एक साथ जान सकता है? प्रसिद्ध विचारक भगवती आराधनाकार शिवाय^७ और आवश्यकनिर्युक्तिकार भद्र-

१. 'उपयोगो लक्षणम्'—तत्त्वार्थसूत्र २-८।
२. 'णाणं सपरपयासयं'
३. 'न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात्।'—अष्ट० श०, अष्ट० स० पृ० ४७।
४. 'सयं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी'...सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति'
—षट्खं० पयदि० सू० ७८।
५. 'से भगवं अरिहं जिणो केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी'...सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च विहरइ।'—आचारांगसू० २-३।
६. जं तवकालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिमे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सव्वकं सपज्जयं दव्वमेकं वा ॥
दव्वं अणंतप्पज्जयमेवकमणंताणि दव्वजादाणि।
ण त्रिजाणदि जदि जुगवं कथं सो सव्वाणि जाणादि ॥—प्रवचनसा० १-४७, ४८, ४९।
७. पस्सदि जाणदि य तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे।
तह वा लोगमसेसं भयवं विगयमोहो ॥—भ० आ० गा० २१४१।

बाहु बड़े स्पष्ट और प्राञ्जल शब्दोंमें सर्वज्ञताका प्रबल समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'वीतराग भगवान् तीनों कालों, अनन्त पर्यायोंसे सहित समस्त ज्ञेयों और समस्त लोकोको युगपत् जानते व देखते हैं ।'

आगमयुगके बाद जब हम तार्किक युगमें आते हैं तो हम स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलङ्क, हरि-भद्र, पात्रस्वामी, वीरसेन, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र प्रभृति जैन तार्किकोंको भी सर्वज्ञताका प्रबल समर्थन एवं उपपादन करते हुए पाते हैं । इनमें अनेक लेखकोंने तो सर्वज्ञताकी स्थापनामें महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखे हैं । उनमें समन्तभद्र (वि० सं० दूसरी, तीसरी शती) को आप्तमीमांसा, जिसे 'सर्वज्ञविशेष-परीक्षा कहा गया है,^१ अकलंकदेवकी सिद्धिविनिश्चयगत 'सर्वज्ञसिद्धि', विद्यानन्दकी आप्तपरीक्षा, अनन्तकीति-की लघु व बृहत्सर्वज्ञसिद्धियाँ, वादीभसिंहकी स्याद्वादसिद्धिगत 'सर्वज्ञसिद्धि' आदि कितनी ही रचनाएँ उल्लेखनीय हैं । यदि कहा जाय कि सर्वज्ञतापर जैन दार्शनिकोंने सबसे अधिक चिन्तन और साहित्य सृजन करके भारतीय दर्शनशास्त्रको समृद्ध बनाया है तो अत्युक्ति न होगी ।

सर्वज्ञताकी स्थापनामें समन्तभद्रने जो युक्ति दी है वह बड़े महत्त्वकी है । वे कहते हैं कि सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी किसी पुरुषविशेषके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि । उनकी वह युक्ति इस प्रकार है :—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽन्यादिरति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥

समन्तभद्र एक दूसरी युक्तिके द्वारा सर्वज्ञताके रोकने वाले अज्ञानादि दोषों और ज्ञानावरणादि आवरणोंका किसी आत्मविशेषमें अभाव सिद्ध करते हुए कहते हैं कि "किसी पुरुषविशेषमें ज्ञानके प्रतिबन्धकोंका पूर्णतया अभाव हो जाता है, क्योंकि उनकी अन्यत्र न्यूनाधिकता देखी जाती है । जैसे स्वर्णमें बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकारके मेलोंका अभाव दृष्टिगोचर होता है^२ । प्रतिबन्धकोंके हट जानेपर जस्वभाव आत्माके लिए कोई ज्ञेय अज्ञेय नहीं रहता । ज्ञेयोंका अज्ञान या तो आत्मामें उन सब ज्ञेयोंको जाननेकी सामर्थ्य न होनेपर होता है या ज्ञानके प्रतिबन्धकोंके रहनेसे होता है । चूँकि आत्मा ज्ञ है और तप, संयमादिकी आराधनाद्वारा प्रतिबन्धकोंका अभाव पूर्णतया सम्भव है । ऐसी स्थितिमें उस वीतराग महायोगीको कोई कारण नहीं कि अशेष ज्ञेयोंका ज्ञान न हो । अन्तमें इस सर्वज्ञताको अर्हत्में सम्भाव्य बतलाया गया है । उनका प्रतिपादन इस प्रकार है—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥—आप्तमी० का० ५, ६ ।

१. संभिर्णं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।

तं णत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च ॥—आवश्यकनि० गा० १२७ ।

२. यहाँ ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्रने आप्तके आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य तीन गुणों एवं विशेषताओंमें सर्वज्ञताको आप्तकी अनिवार्य विशेषता बतलायी है—उसके बिना वे उसमें आप्तता असम्भव बतलाते हैं :—

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ —रत्नकरण्डध्रा० श्लोक ५ ।

समन्तभद्रके उत्तरवर्ती सूक्ष्म चिन्तक अकलंकदेवने सर्वज्ञताकी संभावनामें जो महत्त्वपूर्ण युक्तियाँ दी हैं वे भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। अकलंककी पहली युक्ति यह है कि आत्मामें समस्त पदार्थोंको जाननेकी सामर्थ्य है। इस सामर्थ्यके होनेसे ही कोई पुरुषविशेष वेदके द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयोंको जाननेमें समर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि संसारी-अवस्थामें ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण ज्ञान सब ज्ञेयोंको नहीं जान पाता। जिस तरह हम लोभोंका ज्ञान सब ज्ञेयोंको नहीं जानता, कुछ सीमितोंको ही जान पाता है। पर जब ज्ञानके प्रतिबन्धक कर्मों (आवरणों) का पूर्ण क्षय हो जाता है तो उस विशिष्ट इन्द्रियानपेक्ष और आत्ममात्र सापेक्ष ज्ञानको, जो स्वयं अप्राप्यकारी भी है, समस्त ज्ञेयोंको जाननेमें क्या बाधा है ?

उनकी दूसरी युक्ति यह है कि यदि पुरुषोंको धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय ज्ञेयोंका ज्ञान न हो तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओं और उनसे होनेवाला शुभाशुभका अविसंवादी उपदेश कैसे हो सकेगा ? इन्द्रियोंकी अपेक्षा किये बिना ही उनका अतीन्द्रियार्थविषयक उपदेश सत्य और यथार्थ स्पष्ट देखा जाता है। अथवा जिस तरह सत्य स्वप्न-दर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भावी राज्यादि लाभका यथार्थ बोध कराता है उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी अतीन्द्रिय पदार्थोंमें संवादी और स्पष्ट होता है और उसमें इन्द्रियोंकी आंशिक भी सहायता नहीं होती। इन्द्रियाँ तो वास्तवमें कम ज्ञानको ही कराती हैं। वे अधिक और सर्वविषयक ज्ञानमें उसी तरह बाधक हैं जिस तरह सुन्दर प्रासादमें बनी हुई खिड़कियाँ अधिक प्रकाशको रोकती हैं।

अकलंककी तीसरी युक्ति यह है कि जिस प्रकार अणुपरिमाण बढ़ता-बढ़ता आकाशमें महापरिमाण या विभुत्वका रूप ले लेता है, क्योंकि उसकी तरतमता देखी जाती है, उसी तरह ज्ञानके प्रकर्षमें भी तारतम्य देखा जाता है। अतः जहाँ वह ज्ञान सम्पूर्ण अवस्था (निरतिशयपने) को प्राप्त हो जाता है वहीं सर्वज्ञता आ जाती है। इस सर्वज्ञताका किसा व्यक्ति या समाजने ठेका नहीं लिया। वह प्रत्येक योग्य साधकको प्राप्त हो सकती है।

उनकी चौथी युक्ति यह है कि सर्वज्ञताका कोई बाधक नहीं है। प्रत्यक्ष आदि पाँच प्रमाण तो इस-लिए बाधक नहीं हो सकते, क्योंकि वे विधि (अस्तित्व) को विषय करते हैं। यदि वे सर्वज्ञताके विषयमें दखल दें तो उनसे सद्भाव ही सिद्ध होगा। मोमांसकोंका अभाव-प्रमाण भी उसका निषेध नहीं कर सकता, क्योंकि अभाव-प्रमाणके लिए यह आवश्यक है^२ कि जिसका अभाव करना है उसका स्मरण और जहाँ

१. कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्म-पटलाच्छता ।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः ॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः, कः सर्वथाऽऽवरणात्यये ।
सत्यमर्थं यथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति ॥
सर्वार्थग्रहणसामर्थ्याञ्चैतन्यप्रतिबन्धिनाम् ।
कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वान्तर्यान् न पश्यति ॥
ग्रहादिगतयः सर्वाः सुखः दुःखादिहेतवः ।
येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न् साक्षात्कृतं जगत् ॥
ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते ।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थावलीकनम् ॥—न्यायविनिश्चय, का०, ३६१, ६२, ४१०, ४१४, ४६५ ।
२. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनाम् ।
मानसं नास्तिताज्जानं जायतेऽज्ञानपेशया ॥

उसका अभाव करना है वहाँ उसका प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जब हम भूतलमें घड़ेका अभाव करते हैं तो वहाँ पहले देखे गये घड़ेका स्मरण और भूतलका दर्शन होता है, तभी हम यह कहते हैं कि यहाँ घड़ा नहीं है। किन्तु तीनों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) कालों तथा तीनों (ऊर्ध्व, मध्य, और अधो) लोकोंके अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन अनन्त पुरुषोंमें सर्वज्ञता नहीं थी, नहीं है और न होगी, इस प्रकारका ज्ञान उसीको हो सकता है जिसने उन तमाम पुरुषोंका साक्षात्कार किया है। यदि किसीने किया है तो वही सर्वज्ञ हो जायगा। साथ ही सर्वज्ञताका स्मरण सर्वज्ञताके प्रत्यक्ष अनुभवके बिना संभव नहीं और जिन त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती अनन्त पुरुषों (आधार) में सर्वज्ञताका अभाव करना है उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी संभव नहीं। ऐसी स्थितिमें अभावप्रमाण भी सर्वज्ञताका बाधक नहीं है। इस तरह जब कोई बाधक नहीं है तो कोई कारण नहीं कि सर्वज्ञताका सद्भाव सिद्ध न हो^१।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा 'ज्ञ'—ज्ञाता है और उसके ज्ञानस्वभावको ढँकनेवाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणोंके विच्छिन्न हो जानेपर ज्ञस्वभाव आत्माके लिए फिर शेष जानने योग्य क्या रह जाता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञानसे सकलार्थ विषयक ज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियाँ और मन सकलार्थपरिज्ञानमें साधक न होकर बाधक हैं। वे जहाँ नहीं हैं और आवरणोंका पूर्णतः अभाव है वहाँ त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावज्ज्योत्सवा साक्षात् ज्ञान होनेमें कोई बाधा नहीं है।

आ. वीरसेन^२ और आ. विद्यानन्द^३ ने भी इसी आशयका एक महत्त्वपूर्ण श्लोक प्रस्तुत करके उसके द्वारा ज्ञस्वभाव आत्मामें सर्वज्ञताकी सम्भावना की है। वह श्लोक यह है —

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने ।
दाह्योऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने ॥

—जयधवल पृ० ६६, अष्टस. पृ० ५० ।

अग्निमें दाहकता हो और दाह्य—ईधन सामने हो तथा बीचमें रूकावट न हो तो अग्नि अपने दाह्यको क्यों नहीं जलावेगी? ठीक उसी तरह आत्मा ज्ञ (ज्ञाता) हो, और ज्ञेय सामने हो तथा उनके बीचमें कोई रूकावट न रहे तो जाता उन ज्ञेयोंको क्यों नहीं जानेगा? आवरणोंके अभावमें ज्ञस्वभाव आत्माके लिए आसन्नता और दूरता ये दोनों भी निरर्थक हो जाती हैं।

उपसंहार :

जैन दर्शनमें प्रत्येक आत्मामें आवरणों और दोषोंके अभावमें सर्वज्ञताका होना अनिवार्य माना गया है। वेदान्त दर्शनमें मान्य आत्माकी सर्वज्ञतासे जैन दर्शनकी सर्वज्ञतामें यह अन्तर है कि जैन दर्शनमें सर्वज्ञताको आवृत करनेवाले आवरण और दोष मिथ्या नहीं हैं, जब कि वेदान्त दर्शनमें अविद्याको मिथ्या कहा गया है। इसके अलावा जैन दर्शनकी सर्वज्ञता जहाँ सादि-अनन्त है और प्रत्येक मुक्त आत्मामें वह पृथक्-पृथक् विद्यमान रहती है अतएव अनन्त सर्वज्ञ हैं, वहाँ वेदान्तमें मुक्त-आत्माएँ अपने पृथक् अस्तित्वको न रखकर एक अद्वितीय सनातन ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं और उनकी सर्वज्ञता अस्तःकरणसंबन्ध तक रहती है, बादको वह नष्ट हो जाती है या ब्रह्ममें ही उसका समावेश हो जाता है। ●

१. 'अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्, सुखादिवत् ।'—सिद्धिवि० वृ० ८-६ तथा अष्ट० स० का० ५ ।

२. विशेषके लिए वीरसेनकी जयधवला (पृ० ६४ से ६६) द्रष्टव्य है।

३. विद्यानन्दके आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ देखें।

अर्थाधिगम-चिन्तन

अन्तः और बाह्य पदार्थोंके ज्ञापक साधनोंपर प्रायः सभी भारतीय दर्शनोंमें विचार किया गया है और सबने अर्थाधिगमका साधन एकमात्र प्रमाणको स्वीकार किया है। 'प्रमाणाधीना हि प्रमेयव्यवस्था', 'मानाधीना हि वेद्यस्थितिः', 'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि' जैसे प्रतिपादनों द्वारा यही बतलाया गया है कि प्रमाण ही प्रमेयकी सिद्धि अथवा व्यवस्था या ज्ञानका साधन है, अन्य कोई नहीं।

जैन दर्शनमें अर्थाधिगमके साधन

पर जैन दर्शनमें प्रमाणके अतिरिक्त नयको भी पदार्थोंके अधिगमका साधन माना गया है। दर्शनके क्षेत्रमें अधिगमके इन दो उपायोंका निर्देश हमें प्रथमतः 'तत्त्वार्थसूत्र' में मिलता है। तत्त्वार्थ-सूत्रकारने लिखा है कि तत्त्वार्थका अधिगम दो तरहसे होता है :—१. प्रमाणसे और २. नयसे। उनके परवर्ती सभी जैन विचारकोंका भी यही मत है। यहाँ उन्हींके सम्बन्धमें कुछ विचार किया जाता है।

प्रमाण

अन्य दर्शनोंमें जहाँ इन्द्रियव्यापार, ज्ञातुव्यापार, कारकसाकल्य, सन्निकर्ष आदिको प्रमाण माना गया है और उनसे ही अर्थ-प्रमिति बतलाई गई है वहाँ जैन दर्शनमें स्वार्थ-व्यवसायि ज्ञानको प्रमाण कहा गया है और उसके द्वारा अर्थ-परिच्छिन्ति स्वीकार की गई है। इन्द्रिय-व्यापार आदिको प्रमाण न मानने तथा ज्ञानको प्रमाण माननेमें जैन चिन्तकोंने यह युक्ति दी है कि ज्ञान अर्थ-प्रमितिमें अव्यवहित—साक्षात् कारण है और इन्द्रियव्यापार आदि व्यवहित—परम्परा कारण हैं तथा अव्यवहित कारणको ही प्रमाणमानक मानना युक्त है, व्यवहितको नहीं। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि प्रमिति अर्थ-प्रकाश अथवा अज्ञान-निवृत्तिरूप है वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, अज्ञानरूप इन्द्रियव्यापार आदिके द्वारा नहीं। प्रकाशद्वारा ही अन्धकार दूर होता है, घटपटादिद्वारा नहीं। तात्पर्य यह कि जैनदर्शनमें प्रमाण ज्ञानरूप है और वही अर्थ-परिच्छेदक है।

प्रमाणसे दो प्रकारकी परिच्छिन्ति होती है :—१. स्पष्ट (विशद) और २. अस्पष्ट (अविशद)। जिस ज्ञानमें इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा नहीं होती वह ज्ञान स्पष्ट होता है तथा असन्दिग्ध, अवि-

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः'—तत्त्वार्थसू० १-६।

२. (क) 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय-संस्कृतम् ॥'

—समन्तभद्र, आप्तमो० का० १०१।

(ख) 'प्रमाणनयाम्बां हि विवेचिता जीवादयः सम्यग्धिगम्यन्ते।

तद्व्यतिरेकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्।'

—अभिनव धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ४।

परीत एवं निर्णयात्मक होता है। जैन दर्शनमें ऐसे तीन ज्ञान स्वीकार किये गये हैं। वे हैं अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इन तीन ज्ञानोंको मुख्य अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है।^१ पर जिन ज्ञानोंमें इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा रहती है वे ज्ञान अस्पष्ट होते हैं तथा जितने अंशोंमें वे व्यवहारा-विस्वादी होते हैं उतने अंशोंमें वे असदिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होते हैं, शेष अंशोंमें नहीं। ऐसे ज्ञान दो हैं :—१ मति और २ श्रुत। इन दोनों ज्ञानोंमें परकी अपेक्षा होनेसे उनकी परोक्ष संज्ञा है।^२ स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम जैसे परापेक्ष ज्ञानोंका समावेश इसी परोक्ष (मति और श्रुत) में किया गया है^३। इस तरह परोक्ष और प्रत्यक्षरूप इन मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानसे अर्थाधिगम होता है। स्मरण रहे कि इन्द्रियादिकी अपेक्षासे होने वाले चाक्षुष आदि ज्ञान प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोकसंव्यवहारके कारण होते हैं और उन्हें लोकमें 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। अतः इन ज्ञानोंको लोकव्यवहारकी दृष्टिसे जैन चिन्तकोंने सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा है। वैसे वे परोक्ष ही हैं।

अर्थाधिगमका हेतु नय, और प्रमाणसे उसका कथंचित् पार्थक्य

अब प्रश्न है कि नय भी यदि अर्थाधिगमका साधन है तो वह ज्ञानरूप है या नहीं? यदि ज्ञानरूप है तो वह प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाणसे पृथक् अर्थाधिगमका उपाय बतानेकी क्या आवश्यकता थी? अन्य दर्शनोंकी भाँति एकमात्र 'प्रमाण' को ही अधिगमोपाय बताना पर्याप्त था? यदि अप्रमाण है तो उससे यथार्थ अर्थाधिगम कैसे हो सकता है, अन्यथा संशयादि मिथ्याज्ञानोंसे भी यथार्थ अर्थाधिगम होना चाहिए? और यदि नय ज्ञानरूप नहीं है तो उसे सन्निकर्षादिकी तरह जापक स्वीकार नहीं किया जा सकता?

ये कतिपय प्रश्न हैं, जो नयको अर्थाधिगमोपाय मानने वाले जैन दर्शनके सामने उठते हैं। जैन मनीषियोंने इन सभी प्रश्नोंपर बड़े ऊहापोहके साथ विचार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नयको अर्थाधिगमोपायके रूपमें अन्य दर्शनोंमें स्वीकार नहीं किया गया है और जैन दर्शनमें ही उसे अंगीकार किया गया है। वास्तवमें 'नय' ज्ञानका एक अंश है^४ और इसलिए वह न प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु ज्ञानात्मक प्रमाणका एकदेश है। जब ज्ञाता या वक्ता ज्ञान द्वारा या वचनों द्वारा पदार्थमें अंशकल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन नय कहा जाता है और जब पदार्थमें अंशकल्पना किये बिना वह उसे समग्र रूपमें ग्रहण करता है तब वह ज्ञान प्रमाण रूपसे व्यवहृत होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानोंको प्रमाण कहा गया है और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इन दो भेदों (वर्गों) में विभक्त किया गया है। जिन ज्ञानोंमें विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है उन्हें परोक्ष तथा जिनमें विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिबिम्बित होता है उन्हें प्रत्यक्ष निरूपित किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानोंमें विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है, इस

१-२. 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्', 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'

—तत्त्वार्थसू० १-९, १०, ११, १२।

३. 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'

—तत्त्वार्थसूत्र १-१३।

४. 'प्रमाणैकदेशाश्च नयाः.....'—पूज्यपाद, सर्वार्थ० १-३२।

लिए उन्हें 'परोक्ष' कहा है तथा शेष तीन ज्ञानों (अवधि, मनःपर्यय और केवल) में विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिफलित होता है, अतः उन्हें 'प्रत्यक्ष' प्रतिपादन किया है ।

प्रतिपत्ति-भेदसे भी प्रमाण-भेदका निरूपण किया गया है । यह निरूपण हमें पूज्यपाद-देवनन्दिकी सर्वार्थसिद्धिमें उपलब्ध होता है । पूज्यपादने लिखा है^२ कि प्रमाण दो प्रकारका है :—१. स्वार्थ और २. परार्थ । श्रुतज्ञानको छोड़कर शेष चारों मति, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान स्वार्थ-प्रमाण है, क्योंकि उनके द्वारा स्वार्थ (ज्ञाताके लिए) प्रतिपत्ति होती है, परार्थ (श्रोता या विनेय जनोंके लिए) नहीं । परार्थप्रतिपत्तिका तो एकमात्र साधन वचन है और ये चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं हैं । किन्तु श्रुत-प्रमाण स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकारका है । ज्ञानात्मक श्रुत प्रमाणको स्वार्थ-प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक श्रुत प्रमाणको परार्थ-प्रमाण कहा गया है । वस्तुतः श्रुत-प्रमाणके द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और परार्थ-प्रतिपत्ति दोनों होती हैं । ज्ञानात्मक श्रुत-प्रमाण द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और वचनात्मक परार्थ-श्रुत-प्रमाण द्वारा परार्थ प्रतिपत्ति होती है । ज्ञाता-वक्ता जब किसी वस्तुका दूसरे को ज्ञान करानेके लिए शब्दोच्चारण करता है तो वह अपने अभिप्रायानुसार उस वस्तुमें अंश-कल्पना—पट, बट, काला, सफेद, छोटा, बड़ा आदि भेदों द्वारा उसका श्रोता या विनेयोंको ज्ञान कराता है । ज्ञाता या वक्ताका वह शब्दोच्चारण उपचारतः वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण है और श्रोताको जो वक्ताके शब्दोंसे बोध होता है वह वास्तव परार्थ श्रुत-प्रमाण है तथा ज्ञाता या वक्ताका जो अभिप्राय रहता है और जो अंशग्राही है वह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुतप्रमाण है । निष्कर्ष यह कि ज्ञानात्मक स्वार्थश्रुत-प्रमाण और वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण दोनों नय हैं । यही कारण है कि जैन दर्शन-ग्रन्थोंमें ज्ञाननय और वचननयके भेदसे दो प्रकारके नयोंका भी विवेचन मिलता है^३ ।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि नय श्रुत-प्रमाणका अंश है, वह मति, अवधि तथा मनःपर्ययज्ञानका अंश नहीं है, क्योंकि मत्यादि द्वारा ज्ञात सीमित अर्थके अंशमें नयकी प्रवृत्ति नहीं होती । नय तो समस्त पदार्थोंके अंशोंका एकैकशः निश्चायक है, जबकि मत्यादि तीनों ज्ञान उनको विषय नहीं करते । यद्यपि केवलज्ञान उन समस्त पदार्थोंके अंशोंमें प्रवृत्त होता है और इसलिए नयको केवलज्ञानका अंश माना जा सकता है किन्तु नय तो उन्हें परोक्ष-अस्पष्ट रूपसे जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूपसे उनका साक्षात्कार करता है । अतः नय केवलमूलक भी नहीं है । वह सिर्फ परोक्ष श्रुतप्रमाणमूलक ही है ।^४

१. 'तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तरनन्तपर्यायैः ।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥'—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसि० का० १ ।

२. 'तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्जम् । श्रुतं

पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् । तद्विकल्पा नयाः ।'

—पूज्यपाद, सर्वार्थसि० १-६ ।

३. 'ततः परार्थाधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्तव्यः स्वार्थं इव ज्ञानात्मभिः प्रमाणनयैः,

अन्यथा कास्त्वनैकदेशेन तत्त्वार्थाधिगमानुषपत्तेः ।'

—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० १४२ ।

४. 'मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा ।

ज्ञातस्यार्थस्य नांशोऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥

निःशेषदेशकालार्थबोचरत्वविनिश्चयात् ।

तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥२५॥

अतएव नय न अज्ञानरूप है, न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप । अपितु प्रमाणका एकदेश है । इसीसे उसे प्रमाणसे पृथक् अधिगमोपाय निरूपित किया गया है । अंशप्रतिपत्तिका एकमात्र साधन वही है । अंशी—वस्तुको प्रमाणसे जानकर अनन्तर किसी एक अंश—वस्था द्वारा पदार्थका निश्चय करना नय कहा गया है^१ । प्रमाण और नयके पारस्परिक अन्तरको स्पष्ट करते हुए जैन मनीषियोंने कहा है^२ कि प्रमाण समग्रको विषय करता है और नय असमग्रको ।

प्रखर तार्किक विद्यानन्दने तो उपर्युक्त प्रश्नोंका युक्ति एवं उदाहरण द्वारा समाधान करके प्रमाण और नयके पार्थक्यका बड़े अच्छे ढंगसे विवेचन किया है । वे जैन दर्शनके मूर्धन्य ग्रन्थ अपने तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकमें कहते हैं^३ कि नय न प्रमाण है और न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश है । ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार समुद्रसे लाया गया घड़ा भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश है । यदि उसे समुद्र मान लिया जाय तो शेष सारा पानी असमुद्र कहा जायगा, अथवा बहुत समुद्रोंकी कल्पना करनी

न हि मत्यवधिमनःपर्ययाभामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तन्ते, तेषां निःशेषदेशकालार्थमोवरत्वात्, मत्यादीनां तदगोचरत्वात् । न हि मनोमतिरप्यशेषविषया करणविषये तज्जातीये वाप्रवृत्तेः ।

त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः ।

केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥२६॥

परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु ।

श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमजसम्बन्धदर्शननिबन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनःपर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः । ततः केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पश्यामस्तद्वृत्तेषां स्पष्टत्वप्रसंगात् ।”

—विद्यानन्द, तत्त्वार्थश्लो० १-६, पृ० १२४ ।

१. (क) “एवं हि उक्तम्—“प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थविधारणं नयः ।”

—सर्वार्थसि० १-६ ।

(ख) “वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हि हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः ।”

—सर्वा० सि० १-३३ ।

२. (क) ‘सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः’ ।—स० सि० १-६ ।

(ख) ‘अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधोः ।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥’—अष्टस० पृ० २९० ।

३. (क) नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः ।

स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वार्थाप्यविरोधतः ॥ —त० श्लो० वा० पृ० १२३ ।

(ख) ‘नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः ।

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥

तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता ।

समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कोस्तु समुद्रवित् ॥ —त० श्लो० पृ० ११८ ।

पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाय तो शेषांशोंको भी असमुद्र कहा जायेगा और उस हालतमें समुद्रका व्यवहार कहीं भी नहीं होगा। ऐसी स्थितिमें किसीको 'समुद्रका ज्ञाता' नहीं कहा जायगा।

अतः नयको प्रमाणैकदेश मानकर उसे जैनदर्शनमें प्रमाणसे पृथक् अधिगमोपाय बताया गया है। वस्तुतः अल्पज्ञ ज्ञाता और श्रोताको दृष्टिसे उसका पृथक् निरूपण अत्यावश्यक है। संसारके समस्त व्यवहार और वचन-प्रवृत्ति नयोंके आधारपर ही चलते हैं। अनन्तधर्मात्मक वस्तुके एक-एक अंशको जानना या कहकर दूसरोंको जानना नयका काम है और उस पूरी वस्तुको जानना प्रमाणका कार्य है। यदि नय न हो तो विविध प्रश्न, उनके विविध समाधान, विविध वाद और उनका समन्वय आदि कोई भी नहीं बन सकता। स्वार्थप्रमाण गूंगा है। वह बोल नहीं सकता और न विविध वादों एवं प्रश्नोंको सुलझा सकता है। वह शक्ति नयमें ही है। अतः नयवाद जैन दर्शनकी एक विशेष उपलब्धि है और भारतीय दर्शनको उसकी अनुपम देन है।

उपसंहार

वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसका पूरा बोध हम इन्द्रियों या वचनों द्वारा नहीं कर सकते। हाँ, नयोंके द्वारा एक-एक धर्मका बोध करते हुए अनगिनत धर्मोंका ज्ञान कर सकते हैं। वस्तुको जब द्रव्य या पर्यायरूप, नित्य या अनित्य, एक या अनेक आदि कहते हैं तो उसके एक-एक अंशका ही कथन या ग्रहण होता है। इस प्रकारका ग्रहण नय द्वारा ही संभव है, प्रमाण द्वारा नहीं। प्रसिद्ध जैन तार्किक सिद्धसेनने नयवादकी आवश्यकतापर बल देते हुए लिखा है^१ कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नय हैं। मूलमें दो नय स्वीकार किये गये हैं^२—१. द्रव्याधिक और २. पर्यायाधिक। द्रव्य, सामान्य, अन्वयका ग्राहक द्रव्याधिक और पर्याय, विशेष, व्यतिरेकका ग्राही पर्यायाधिक नय है। द्रव्य और पर्याय ये सब मिलकर प्रमाणका विषय हैं। इस प्रकार विदित है कि प्रमाण और नय ये दो वस्तु-अधिगमके साधन हैं और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रमें वस्तुके ज्ञापक एवं व्यवस्थापक हैं।



१. 'जावह्या वयणपहा तावइया चैव होति णववाया' —सन्मतितर्क ३-४७।

२. 'नयो द्विविधः, द्रव्याधिकः पर्यायाधिकश्च। पर्यायाधिकनयेन भावतत्त्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां त्रयाणां द्रव्याधिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ। द्रव्याधिकः पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ। पर्यायाधिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणेनाधिगन्तव्यम्।'—सर्वार्थसि० १-३३।

ज्ञापकतत्त्व-विमर्श

तत्त्व और उसके भेद

जैन दर्शनमें सद्, वस्तु, अर्थ और तत्त्व ये चारों शब्द एक ही अर्थके बोधक माने गये हैं। सद् या वस्तु अथवा अर्थके कहनेसे जिसकी प्रतीति होती है उसीका बोध तत्त्वके द्वारा होता है। इसके दो भेद हैं— १ उपेय और २ उपाय। प्राप्यको उपेय और प्रापकको उपाय तत्त्व कहा जाता है। उपेय तत्त्वके भी दो भेद हैं—१ कार्य और २ ज्ञेय। उत्पन्न होनेवाली वस्तु कार्य कही जाती है और ज्ञापककी विषयभूत वस्तु ज्ञेयके नामसे अभिहित होती है। इसी प्रकार उपायतत्त्व भी दो प्रकारका है—१ कारक और २ ज्ञापक। जो कार्यको उत्पन्न करता है वह कारक उपायतत्त्व कहा जाता है और जो ज्ञेयको जानता है वह ज्ञापक उपाय-तत्त्व है। तात्पर्य यह है कि वस्तुप्रकाशक ज्ञानज्ञापक उपायतत्त्व है तथा कार्योत्पादक उद्योग-दैव आदि कारक उपायतत्त्व है।

प्रकृतमें हमें ज्ञापकतत्त्वपर प्रकाश डालना अभीष्ट है। अतएव हम कारकतत्त्वकी चर्चा इस निबन्ध-में नहीं करेंगे। इसमें केवल ज्ञापक उपायतत्त्वका विवेचन करना अभीष्ट है।

ज्ञापक उपायतत्त्व : प्रमाण और नय

प्रमाण और नय ये दोनों वस्तुप्रकाशक हैं। अतः ज्ञापक उपायतत्त्व दो प्रकारका है—१ प्रमाण और २ नय। आचार्य गृद्धपिच्छने, जिन्हें उमास्वामी और उमास्वाति भी कहा जाता है, अपने तत्त्वार्थ सूत्रमें स्पष्ट कहा है कि 'प्रमाणनयैरधिगमः' [त० सू० १-६]—प्रमाणों और नयोंके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान होता है। अतः जैनदर्शनमें पदार्थोंको जाननेके दो ही उपाय प्रतिपादित एवं विवेचित हैं और वे हैं प्रमाण तथा नय। सम्पूर्ण वस्तुको जानने वाला प्रमाण है और वस्तुके धर्मों—अंशोंका ज्ञान कराने वाला नय है। द्रव्य और पर्याय अथवा धर्मों और धर्म। अंशों और अंश दोनोंका समुच्चय वस्तु है।

प्रमाण और नयका भेद

प्रमाण जहाँ वस्तुको अखण्ड रूपमें ग्रहण करता है वहाँ नय उसे खण्ड-खण्ड रूपमें विषय करता है। यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि ज्ञापक तो ज्ञानरूप ही होता है और प्रमाण ज्ञानको कहा गया है। 'स्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्', 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' आदि सिद्धान्तवचनों द्वारा ज्ञानको प्रमाण ही बतलाया गया है, तब नयको ज्ञापक—प्रकाशक कैसे कहा? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि प्रमाण और नय ये दो भेद विषयभेदकी अपेक्षा किये गये हैं। वास्तवमें नय प्रमाणरूप है, प्रमाणसे वह भिन्न नहीं है। जिस समय ज्ञान पदार्थोंको अखण्ड-सकलांशरूपमें ग्रहण करता है तब वह प्रमाण कहा जाता है और जब उनके सापेक्ष एकांशको ग्रहण करता है तब वह ज्ञाननय कहलाता है। छद्मस्थ ज्ञाता जब अपने आपको वस्तुका ज्ञान करानेमें प्रवृत्त होता है तो उसका ज्ञान स्वार्थप्रमाण कहा जाता है और ऐसे ज्ञान मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल पाँचों ज्ञान हैं। किन्तु जब वह दूसरोंको समझानेके लिए वचन-प्रयोग करता है तब उसके वचनोंसे जिज्ञासुको होनेवाला वस्तुके धर्मों—अंशोंका ज्ञान परार्थश्रुत ज्ञान कहलाता है और उसके वे

वचन भी उपचारसे परार्थश्रुत ज्ञान माने जाते हैं। तथा वही प्रतिपत्ता उस वस्तुके धर्मोंका स्वयं ज्ञान करता है तो उसका वह ज्ञान स्वार्थश्रुतज्ञान है। आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि [१-६] में उक्त प्रश्नका अच्छा समाधान किया है। उन्होंने लिखा है कि—

‘तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च । तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्जम् । श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च । ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम् । तद्विकल्पा नयाः ।’

अर्थात् प्रमाण दो प्रकारका है—१ स्वार्थ और २ परार्थ। इनमें श्रुतको छोड़कर शेष सभी (मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल) स्वार्थप्रमाण है। किन्तु श्रुत स्वार्थप्रमाण भी है और परार्थ प्रमाण भी है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थप्रमाण है और वचनात्मक श्रुत परार्थप्रमाण है। इसीके भेद नय है। पूज्यपादके इस विवेचनसे स्पष्ट है कि नय भी ज्ञानरूप है और श्रुतज्ञानके भेद है।

विद्यानन्दने भी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक [१-६] में उक्त प्रश्नका सयुक्तिक समाधान किया है। वे कहते हैं कि नय न प्रमाण है और न अप्रमाण, अपितु वह प्रमाणका अंश है। जिस प्रकार समुद्रसे लाया गया घड़े भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रका अंश है। यथा—

नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः ।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता ।
समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्ववास्तु समुद्रवित् ॥

—त० श्लो० वा० पृ० ११८ ।

अतः नय प्रमाणरूप एवं ज्ञानरूप होनेपर भी छद्मस्थ ज्ञाता और वक्ताओंकी दृष्टिसे उनका पृथक् निरूपण किया गया है। संसारके सभी व्यवहार नयोंको लेकर ही होते हैं। प्रमाण अशेषार्थग्राहकरूपसे वस्तुका प्रकाशक—ज्ञापक है और नय वस्तुके एक-एक अंशोंके प्रकाशक—ज्ञापक है और इस प्रकार नय भी प्रमाणकी तरह ज्ञापकत्व है। आचार्य समन्तभद्रने भी आप्तमीमांसामें प्रमाण और नय दोनोंको वस्तु-प्रकाशक कहा है—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥

‘सम्पूर्ण पदार्थोंको युगपत् प्रकाशित करनेवाला तत्त्वज्ञान प्रमाणरूप है और क्रमसे होनेवाला छद्मस्थोंका ज्ञान स्याद्वादनयस्वरूप है ।’

नयोंका वैशिष्ट्य

ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट है कि जैन दर्शनमें नयोंका वही महत्त्वपूर्ण स्थान है जो प्रमाणका है। प्रमाण और नय दोनों जैन दर्शनकी आत्मा हैं। यदि नयको न माना जाय तो वस्तुका ज्ञान अपूर्ण रहनेसे जैन दर्शनकी आत्मा (वस्तु-विज्ञान) अपूर्ण रहेगी। वास्तवमें नय ही विविध वादों एवं प्रश्नोंके समाधान प्रस्तुत करते हैं। वे गुत्थियोंके सुलझाने तथा सही वस्तुस्वरूप बतलानेमें समर्थ हैं। प्रमाण मूँगा है, बोल नहीं सकता और न विविध वादोंको सुलक्षा सकता है। अतः जैन दार्शनिकोंने मतान्तरोंका समन्वय करनेके लिए नयवादका विस्तारके साथ प्रतिपादन किया है। वचनप्रयोग और लोकव्यवहार दोनों नयाश्रित हैं। विना नयका अवलम्बन लिए वे दोनों ही सम्भव नहीं हैं। अतः सभी दर्शनोंको इस नयवादको स्वीकार

करना आवश्यक है। उसके बिना वे न अपने खण्डनका परिहार या प्रतिवाद कर सकते हैं और न अपने दर्शनको उत्कृष्ट सिद्ध कर सकते हैं। न्यायदर्शनमें यद्यपि अपने ऊपर आनेवाले आक्रमणोंका परिहार करनेके लिए छल, जाति और निग्रहस्थानोंका कथन किया है। किन्तु ऐसे प्रयत्न सद्—सम्यक् नहीं कहे जा सकते। कोई भी प्रेक्षावान् असद् प्रयत्नों द्वारा अपने पक्षका समर्थन तथा परपक्षका निराकरण नहीं कर सकता। दर्शनका उद्देश्य जगत्के लोगोंका हित करना और उन्हें उचित मार्गपर लाना है। वितण्डावादसे उक्त दोनों बातें असम्भव हैं। जैन दर्शनका नयवाद विविध मतोंके एकान्तरूप अन्धकारको दूर करनेके लिए नहीं बुझने वाले विशाल गेसोंका काम देता है। मध्यस्थ एवं उपपत्तिचक्षुः होकर उसपर विचार करें तो उसकी अनिवार्यता निश्चय ही स्वीकार्य होगी।

वस्तु अनेकधर्मत्मक है और उसका पूरा ज्ञान हम इन्द्रियों या निरपेक्ष वचनों द्वारा नहीं कर सकते हैं। हाँ, नयोसे एक-एक धर्मका बोध करते हुए उसके विवक्षित अनेक धर्मोंका ज्ञान कर सकते हैं। द्रव्याधिक नयसे विवक्षा करनेपर वस्तु नित्य है और पर्यायाधिक नयसे कथन करनेपर वह अनित्य भी है। इसी प्रकार उसमें एक, अनेक, अभेद, भेद आदि विरोधी धर्मोंकी व्यवस्था नयवादसे ही होती है।

विवक्षित एवं अभिलषित अर्थकी प्राप्तिके लिए वक्ताकी जो वचनप्रवृत्ति या अभिलाषा होती है वही नय है। यह अर्थक्रियाधियोंकी अर्थक्रियाका सम्पादक है।

जैन दर्शनमें नयवादका परिवार विशाल है। या यों कहना चाहिए कि जितने वचनमार्ग हैं उतने ही नय हैं। आचार्य सिद्धसेनने सन्मतिसूत्रमें कहा है—

‘जावइया वयणवहा तावइया चैव होंति णयवाया ।’

जितना वचन व्यवहार है और वह जिस-जिस तरहसे हो सकता है वह सब नयवाद है। वचनमें एक साथ एक समयमें एक ही धर्मको प्रतिपादन करनेकी सामर्थ्य है, अनेक धर्मों या अर्थोंके प्रतिपादनकी सामर्थ्य उसमें नहीं है। ‘सकृदुच्चरितः शब्दः एकमेवार्थं गमयति’—एक बार बोला गया शब्द एक ही अर्थका बोध करा सकता है। इसीसे अनेक धर्मोंकी पिण्डरूप वस्तु प्रमाणका ही विषय होती है, नयका नहीं।

नयके भेद

नयके मूल दो भेद हैं—१ द्रव्याधिक और २ पर्यायाधिक। जो नय मात्र द्रव्यको ग्रहण करता है और पर्यायिकी सत्ताको गौण कर देता है वह द्रव्याधिक नय है तथा जो द्रव्यको गौण करके केवल पर्यायिकी विषय करता है वह पर्यायाधिक नय है। द्रव्याधिकके तीन भेद हैं—१ नैगम, २ संग्रह और ३ व्यवहार। पर्यायाधिक नयके चार भेद हैं—१ ऋजुसूत्र, २ शब्द, ३ समभिरूढ और ४ एवंभूत। द्रव्याधिकके तीन और पर्यायाधिकके चार इन सात नयोंका निरूपण तत्त्वार्थसूत्रकारने निम्न सूत्र द्वारा किया है—

‘नैगमसंग्रहव्यवहारजुंसूत्रशब्दसमभिरूढेवंभूता नयाः ।’ —त० सू० १-३३।

इनका विशेष विवेचन तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाओं—सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिमें तथा नयचक्र प्रभृति ग्रन्थोंमें किया गया है। विशेष जिज्ञासुओंको वहाँसे उनके स्वरूपादि ज्ञातव्य है।

यहाँ स्मरणीय है कि आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय और व्यवहार नयोंका भी जैन दर्शनमें प्रतिपादन उपलब्ध है। निश्चय और व्यवहारके भेदोंका भी विशद वर्णन किया गया है। इस तरह हम देखते हैं कि नय भी प्रमाणकी तरह वस्तुके बोधक है और इसलिए ज्ञापक तत्त्वके अन्तर्गत उनका कथन किया गया है।

प्रमाणका स्वरूप और उसके भेद

स्व तथा अपूर्व अर्थके यथार्थ निश्चय कराने वाले ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। किसी पदार्थको जाननेका प्रयोजन यह होता है कि तद्विषयक अज्ञानकी निवृत्ति हो और उसकी जानकारी हो। जानकारी होनेके उपरान्त प्रमाता उपादेयका उपादान, हेयका त्याग और उपेक्षणीयको उपेक्षा करता है। इस प्रकार प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल हानोपादानोपेक्षाबुद्धि है। यह दोनों प्रकारका फल स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान द्वारा ही संभव है। अतः जैनदर्शनमें स्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञानको प्रमाण माना गया है।

इसके मूलमें दो भेद हैं—१ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष। प्रत्यक्षके भी दो भेद हैं—१ सांख्यवहारिक और २ पारमार्थिक। परोक्ष प्रमाणके पाँच भेद हैं—१ स्मृति, २ प्रत्यभिज्ञान, ३ तर्क, ४ अनुमान और ५ आगम। प्रमाणके ये दार्शनिक भेद हैं। आगमकी अपेक्षा उसके पाँच भेद हैं—१ मति, २ श्रुत, ३ अवधि, ४ मनःपर्याय और ५ केवल।

इस प्रकार प्रमाण और नय दोनों ही वस्तुप्रतिपत्तिके अमोघ साधन हैं—उपाय हैं।



ध्यान-विमर्श

यों तो सभी धर्मों और दर्शनोंमें ध्यान, समाधि या योगका प्रतिपादन है। योगदर्शन तो उसीपर आधृत है और योगके सूक्ष्म चिन्तनको लिये हुए है। पर योगका लक्ष्य अणिमा, महिमा, वशित्व आदि ऋद्धि-प्रिद्धियोंकी उपलब्धि है और योगी उनकी प्राप्तिके लिये योगाराधन करता है। योगद्वारा ऋद्धि-सिद्धियोंको प्राप्त करनेका प्रयोजन भी प्रभाव-प्रदर्शन, चमत्कार-दर्शन आदि है। मुक्ति-लाभ भी योगका एक उद्देश्य है, पर वह गौण है।

जैन दर्शनमें ध्यानका लक्ष्य मुख्यतया कर्म-निरोध और कर्म-निर्जरा है और इन दोनोंके द्वारा अक्षेप कर्ममुक्ति प्राप्त करना है। यद्यपि योगीको अनेक ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भी उसके योग-प्रभावसे उपलब्ध होती हैं। पर वे उसकी दृष्टिमें प्राप्य नहीं हैं, मात्र आनुषङ्गिक हैं। उनसे उसको न लगाव होता है और न उसके लिये वह ध्यान करता है। वे तथा अन्य स्वर्गादि अभ्युदय उसे उसी प्रकार मिलते हैं जिस प्रकार चावलोंके लिये खेती करनेवाले किसानको भूसा अप्राप्यित मिल जाता है। किसान भूसाको प्राप्त करनेका न लक्ष्य रखता है और न उसके लिये प्रयास ही करता है। योगी भी योगका आराधन मात्र कर्म-निरोध और कर्म-निर्जराके लिये करता है। यदि कोई योगी उन ऋद्धि-सिद्धियोंमें उलझता है—उनमें लुभित होता है तो वह योगके वास्तविक लाभसे वंचित होता है। तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वातिने स्पष्ट लिखा है कि तप (ध्यान) से संवर (कर्म-निरोध) और कर्म-निर्जरा दोनों होते हैं। आचार्य रामसेन भी अपने तत्त्वानुशासनमें ध्यानको संवर तथा निर्जराका कारण बतलाते हैं। इन दोनोंसे समस्त कर्मोंका अभाव होता है और समस्त कर्माभाव ही मोक्ष है।^३ इससे स्पष्ट है कि जैन दर्शनमें ध्यानका आध्यात्मिक महत्त्व मुख्य है।

ध्यानकी आवश्यकतापर बल देते हुए आचार्य नेमिचन्द्र लिखते हैं^४ कि मुक्तिका उपाय रत्नत्रय है और यह रत्नत्रय व्यवहार तथा निश्चयकी अपेक्षा दो प्रकारका है। यह दोनों प्रकारका रत्नत्रय ध्यानसे ही उपलब्ध है। अतः सम्पूर्ण प्रयत्न करके मुक्तिको निरन्तर ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। तत्त्वार्थसारकार भा० अमृतचन्द्र^५ भी यही कहते हैं। यद्यर्थमें ध्यानमें जब योगी अपनेसे भिन्न किसी दूसरे मंत्रादि पदार्थका अवलम्बन लेकर उसे ही अपने श्रद्धान, ज्ञान और आचरणका विषय बनाता है तब वह व्यवहार-मोक्षमार्गो होता है और जब केवल अपने आत्माका अवलम्बन लेकर उसे ही श्रद्धा, ज्ञान और चर्याका विषय बनाता है

१. 'आस्रवनिरोधः संवरः', 'तपसा निर्जरा च'—त० सू० ९-१, ३।

२. 'तद् ध्यानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारणम्।'—तत्त्वानु० ५६।

३. 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमाक्षो मोक्षः'—त० सू० १०-२।

४. दुविहं पि मोक्षहेतुं ज्ञाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।

तम्हा पयत्तचित्ता जूर्यं ज्ञाणं समम्भसह ॥—द्रव्यसंग्रह भा० ४७।

५. निश्चय-व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।

तत्रायः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥—तत्त्वार्थसार।

तब वह निश्चयमोक्षमार्गी होता है। अतः मोक्ष प्राप्त करानेवाले रत्नत्रयरूप मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये योगीको ध्यान बहुत आवश्यक और उपयोगी है।

मनुष्यके चिरन्तन संस्कार उसे विषय और वासनाओंकी ओर ही ले जाते हैं। और इन संस्कारोंकी जनिका एवं उद्बोधिका पाँचों इन्द्रियाँ तो हैं ही, मन तो उन्हें ऐसी प्रेरणा देता है कि उन्हें न जाने योग्य स्थानमें भी जाना पड़ता है। फलतः मनुष्य सदा इन्द्रियों और मनका अपनेको गुलाम बनाकर तदनुसार उचित-अनुचित सब प्रकारकी प्रवृत्ति करता है। परिणाम यह होता है कि वह निरन्तर राग-द्वेषकी भट्टीमें जलता और कष्ट उठाता है। आचार्य अमितगतने^१ ठीक लिखा है कि आत्मा संयोगके कारण नाना दुःखोंको पाता है। अगर वह इस तथ्यको समझ ले तो उस संयोगके छोड़नेमें उसे एक क्षण भी न लगे। तत्त्वज्ञानसे क्या असम्भव है? यह तत्त्वज्ञान श्रुतज्ञान है और श्रुतज्ञान ही ध्यान है। अतः ध्यानके अभ्यासके लिये सर्व-प्रथम आवश्यक है इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण। जब तक दोनोंपर नियंत्रण न होगा तब तक मनुष्य विषय-वासनाओंमें डूबा रहेगा और उनसे कष्टोंको भोगता रहेगा। पर यह तथ्य है कि कष्ट या दुःख किसीको इष्ट नहीं है—सभीको सुख और शान्ति इष्ट है। जब वास्तविक स्थिति यह है तब मनुष्यको सस्संगतिसे या शास्त्रज्ञानसे उक्त तथ्यको समझकर विषय-वासनाओंमें ले जानेवाली इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण करना जरूरी है। जब इन्द्रिय और मन नियंत्रित रहेंगे तो मनुष्यकी प्रवृत्ति आत्मोन्मुखी अवश्य होगी, क्योंकि वे निविषय नहीं रह सकते। आत्मा उनका विषय हो जानेपर स्वाधीन सुख और शान्तिकी उत्तरोत्तर अपूर्व उपलब्धि होती जायेगी।

यह सच है कि इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण करना सरल नहीं है, अति दुष्कर है। परन्तु यह भी सच है कि वह असम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्य और असामान्य मनुष्यमें यही अन्तर है कि जो कार्य सामान्य मनुष्यके लिए अति दुष्कर होता है वह असामान्य मनुष्यके लिए सम्भव होता है और वह उसे कर डालता है। अतः इन्द्रियों और मनपर नियंत्रण करनेमें आरम्भमें भले ही कठिनाई दिखे। पर संकल्प और दृढ़ताके साथ निरन्तर प्रयत्न करनेपर उस कठिनाईपर विजय पा ली जाती है। इन्द्रियों और मनपर काबू पानेके लिये अनेक उपाय बताये गये हैं। उनमें प्रधान दो उपाय हैं—१. परमात्मभक्ति और २. शास्त्रज्ञान। परमात्मभक्तिके लिए पंचपरमेष्ठीका जप, स्मरण और गुणकीर्तन आवश्यक है। उसे ही अपना शरण (नान्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम) माना जाय। इससे आत्मामें विचित्र प्रकारकी शुद्धि आयेगी। मन और बाणी निर्मल होंगे। और उनके निर्मल होते ही वह ध्यानकी ओर झुकेगा तथा ध्यान द्वारा उपर्युक्त द्विविध मोक्षमार्गको प्राप्त करेगा। परमात्म-भक्तिमें उन सब मंत्रोंका जाप किया जाता है जिनमें केवल अर्हत्, केवल सिद्ध, केवल आचार्य, केवल उपाध्याय, केवल मुनि और या सभीको जपा जाता है। आचार्य विद्या-मन्दने^२ लिखा है कि परमेष्ठीकी भक्ति (स्मरण, कीर्तन, ध्यान) से निश्चय ही श्रेयोमार्गकी तसिद्धि होती है। इसीसे उनका स्तवन करना बड़े-बड़े मुनि श्रेष्ठोंने बतलाया है।

इन्द्रियों और मनको वशमें करनेका दूसरा उपाय श्रुतज्ञान है। यह श्रुतज्ञान सम्यक् शास्त्रोंके अनुशीलन, मनन और सतत अभ्याससे प्राप्त होता है। वास्तवमें जब मनका व्यापार शास्त्रस्वाध्यायमें लगा

१. संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिधा सर्वं त्यजाम्यहम् ॥ —सामायिकपाठ।

२. श्रेयोमार्गसंसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।

इत्याहुस्तद्गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ मुनिपुङ्गवाः ॥ —आप्तप० का० २।

होगा—उसके शब्द और अर्थके चिन्तनमें संलग्न होगा तो वह अन्यत्र जायेगा ही कैसे? और जब वह नहीं जायेगा तो इन्द्रियाँ उस अग्निकी तरह ठंडी (राख) हो जायेंगी, जो ईंधनके अभावमें राख हो जाती हैं। वस्तुतः इन्द्रियोंको मनके व्यापारसे ही खुराक मिलती है। इसीलिये मनको ही बन्ध और मोक्षका कारण कहा गया है। शास्त्रस्वाध्याय मनको नियंत्रित करनेके लिए एक अमोघ उपाय है। सम्भवतः इसीसे 'स्वाध्यायः परमं तपः' स्वाध्यायको परम तप कहा है।

ये दो मुख्य उपाय हैं इन्द्रियों और मनको नियंत्रित करनेके। इनके नियंत्रित हो जानेपर ध्यान हो सकता है। अन्य सब ओरसे चित्तकी वृत्तियोंको रोककर उसे एक मात्र आत्मामें स्थिर करनेका नाम ही ध्यान है। चित्तको जब तक एक ओर केन्द्रित नहीं किया जाता तब तक न आत्मदर्शन होता है न आत्मज्ञान होता है और न आत्मामें आत्माकी चर्चा। और जब तक ये तीनों प्राप्त नहीं होते तब तक दोष और आवरणोंकी निवृत्ति सम्भव नहीं। अतः योगी ध्यानके द्वारा चित् और आनन्दस्वरूप होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है। आचार्य रामसेन^१ लिखते हैं कि जिस प्रकार सतत अभ्याससे महाशास्त्र भी अभ्यस्त एवं सुनिश्चित हो जाते हैं उसी प्रकार निरन्तरके ध्यानाभ्याससे ध्यान भी अभ्यस्त एवं सुस्थिर हो जाता है। वे योगीको ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हुए कहते हैं—

'हे योगिन्! यदि तू संसार-बन्धनसे छूटना चाहता है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्ररूप रत्नत्रयको ग्रहण करके बन्धके कारणरूप मिथ्यादर्शनादिकके त्यागपूर्वक निरन्तर सद्ध्ययनका अभ्यास कर'।

'ध्यानके अभ्यासकी प्रकर्षतासे मोहका नाश करनेवाला चरम-शरीरी योगी तो उसी पर्यायमें मुक्ति प्राप्त करता है और जो चरमशरीरी नहीं है वह उत्तम देवादिकी आयु प्राप्त कर क्रमशः मुक्ति पाता है। यह ध्यानकी ही अपूर्व महिमा है।'

रत्नत्रयमुपादाय त्यक्त्वा बन्ध-निबन्धनम् ।
 ध्यानमभ्यस्यतां नित्यं यदि योगिन् ! मुमुक्षसे ॥
 ध्यानाभ्यास-प्रकर्षणं त्रुस्यन्मोहस्य योगिनः ।
 चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ॥

—आ. रामसेन, तत्त्वानुशासन २२३, २२४ ।

निःसन्देह ध्यान एक ऐसी चीज है जो परलोकके लिए उत्तम पाथेय है। इस लोकको भी सुखी, स्वस्थ और यशस्वी बनाता है। यह गृहस्थ और मुनि दोनोंके लिए अपनी-अपनी स्थितिके अनुसार उपयोगी है। यदि भारतवासी इसके महत्त्वको समझ लें तो वे पूर्व ऋषियोंके प्रभावपूर्ण आदर्शको विश्वके सामने सहज ही उपस्थित कर सकते हैं। जितेन्द्रिय और मनस्वी सन्तानें होंगी तथा परिवार-नियोजन, आपाधापी, संग्रह-वृत्ति आदि अनेक समस्यायें इसके अनुसरणसे अनायास सुलझ सकती हैं।



१. यथाभ्यासेन शास्त्राणि स्थिराणि स्युर्महान्त्यपि ।

तथा ध्यानमपि स्थैर्यं लभतेऽभ्यासवर्तिनाम् ॥ —तत्त्वा० ८८ ।

न्याय



१. भारतीय वाङ्मयमें अनुमान-विचार
२. न्याय-विद्यामृत

भारतीय वाङ्मयमें अनुमान-विचार

प्रास्ताविक

भारतीय तर्कशास्त्रमें अनुमानका महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार्वाक (लौकायत) दर्शनके अतिरिक्त शेष सभी भारतीय दर्शनके अनुमानको प्रमाणरूपमें स्वीकार किया है और उसे परोक्ष पदार्थोंकी व्यवस्था एवं तत्त्वज्ञानका अन्यतम साधन माना है।

विचारणीय है कि भारतीय तर्कग्रन्थोंमें^१ सर्वाधिक विवेचित एवं प्रतिपादित इस महत्त्वपूर्ण और अधिक उपयोगी प्रमाणका संव्यवहार कबसे आरम्भ हुआ? दूसरे, ज्ञात सुदूरकालमें उसे अनुमान ही कहा जाता था या किसी अन्य नामसे वह व्यवहृत होता था? जहाँ तक हमारा अध्ययन है भारतीय वाङ्मयके निबद्धरूपमें उपलब्ध ऋग्वेद आदि संहिता-ग्रन्थोंमें अनुमान या उसका पर्याय शब्द उपलब्ध नहीं होता। हाँ, उपनिषद्-साहित्यमें एक शब्द ऐसा अवश्य आता है जिसे अनुमानका पूर्व संस्करण कहा जा सकता है और वह शब्द है 'वाकोवाक्यम्'^२। छान्दोग्योपनिषद्के इस शब्दके अतिरिक्त ब्रह्मविन्दूपनिषद्में^३ अनुमानके अङ्ग हेतु और दृष्टान्त तथा मैत्रायणी-उपनिषद्में^४ अनुमानसूचक 'अनुमीयते' क्रियाशब्द मिलते हैं। इसी तरह सुबालोपनिषद्में^५ 'न्याय' शब्दका निर्देश है। इन उल्लेखोंके अध्ययनसे हम यह तथ्य निकाल सकते हैं कि उपनिषद् कालमें अध्यात्म-विवेचनके लिए क्रमशः अनुमानका स्वरूप उपस्थित होने लगा था।

शङ्कर-भाष्यमें^६ 'वाकोवाक्यम्' का अर्थ 'तर्कशास्त्र' दिया है। डा० भगवानदासने^७ भाष्यके इस अर्थको अपनाते हुए उसका तर्कशास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तरशास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्तिशास्त्र व्याख्यान किया है। इन (अर्थ और व्याख्यान)के आधारपर अनुभवगम्य अध्यात्मज्ञानको अभिव्यक्त करनेके लिए छान्दोग्योपनिषद्में व्यवहृत 'वाकोवाक्यम्'को तर्कशास्त्रका बोधक मान लेनेमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रियाका अध्ययन करनेसे अवगत होता है कि आदिम मानवको अपने प्रत्यक्ष (अनुभव) ज्ञानके अविस्वादिताकी सिद्धि अथवा उसकी सम्पुष्टिके लिए किसी तर्क, हेतु या युक्तिकी आवश्यकता पड़ी होगी।

प्राचीन बौद्ध पाली-ग्रन्थ ब्रह्मजालसुत्तमें^८ तर्की और तर्क शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो क्रमशः तर्कशास्त्री तथा तर्कविद्याके अर्थमें आये हैं। यद्यपि यहाँ तर्कका अध्ययन आत्मज्ञानके लिए अनुपयोगी बताया गया है,

१. गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३; भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी।

२. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि ... वाकोवाक्यमेकायनं ... अध्येमि।

—छान्दो० ७।१।२; निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९३२।

३. 'हेतुदृष्टान्तवर्जितम्'।—ब्रह्मविन्दू० श्लोक ९; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२।

४. ... बहिरात्मा मत्तन्तरात्मनानुमीयते।—मैत्रायणी० ५।१; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३२।

५. 'शिक्षा कल्पो...न्यायो भीमंसा...।'—सुबालोपनिष० खण्ड २; प्रकाशन स्थान व समय वही।

६. वाकोवाक्यं तर्कशास्त्रम्।—आ० शङ्कर, छान्दोग्यो० भाष्य ७।१।२, गीताप्रेस, गोरखपुर।

७. डा. भगवानदास, दर्शनका प्रयोजन पृ. १।

८. 'इध, भिक्खवे, एकस्सो समणो वा ब्राह्मणो वा तक्की होति वीमंसी। सो तक्कपरियाहंतं वीमंसानु-चरितं...।'—राय डेविड (सम्पादक), ब्रह्मजालसू० १।३२।

किन्तु तर्क और तर्की शब्दोंका प्रयोग यहाँ क्रमशः कुतर्क (वितण्डावाद या व्यर्थके विवाद) और कुतर्की (वितण्डावादी)के अर्थमें हुआ ज्ञात होता है। अथवा ब्रह्मजालसुक्तका उक्त कथन उस युगका प्रदर्शक है, जब तर्कका दुरुपयोग होने लगा था। और इसीसे सम्भवतः ब्रह्मजालसुक्तकारको आत्मज्ञानके लिए तर्कविद्याके अध्ययनका निषेध करना पड़ा। जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि उसमें तर्क और तर्की शब्द प्रयुक्त हैं और तर्कविद्याका अध्ययन आत्मज्ञानके लिए न सही, वस्तु-व्यवस्थाके लिए आवश्यक था।

न्यायसूत्र^१ और उसकी व्याख्याओंमें^२ तर्क और अनुमानमें यद्यपि भेद किया है—तर्कको अनुमान नहीं, अनुमानका अनुग्राहक कहा है। पर यह भेद बहुत उत्तरकालीन है। किसी समय हेतु, तर्क, न्याय और आन्वीक्षा ये सभी अनुमानार्थक माने जाते थे। उद्योतकरके^३ उल्लेखसे यह स्पष्ट जान पड़ता है। न्याय-कोशकारने^४ तर्कशब्दके अनेक अर्थ प्रस्तुत किये हैं। उनमें आन्वीक्षिकी विद्या और अनुमान अर्थ भी दिया है।

वाल्मीकि रामायणमें^५ आन्वीक्षिकी शब्दका प्रयोग है जो हेतुविद्या या तर्कशास्त्रके अर्थमें हुआ है। यहाँ उन लोगोंको 'अनर्थकुशल', 'बाल', 'पण्डितमानी' और 'दुर्बुध' कहा है जो प्रमुख धर्मशास्त्रोंके होते हुए भी व्यर्थ आन्वीक्षिकी विद्याका सहारा लेकर कथन करते या उसकी पुष्टि करते हैं।

महाभा-तमें^६ आन्वीक्षिकीके अतिरिक्त हेतु, हेतुक, तर्कविद्या जैसे शब्दोंका भी प्रयोग पाया जाता है। तर्कविद्याको तो आन्वीक्षिकीका पर्याय ही बतलाया है। एक स्थानपर^७ याज्ञवल्क्यने विश्वावसुके प्रश्नोंका उत्तर आन्वीक्षिकीके माध्यमसे दिया और उसे परा (उच्च) विद्या कहा है। दूसरे स्थलपर^८ याज्ञवल्क्य राजर्षि जनकको आन्वीक्षिकीका उपदेश देते हुए उसे चतुर्थी विद्या तथा मोक्षके लिए त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति तीनों विद्याओंसे अधिक उपयोगी बतलाते हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य जगह^९ शास्त्रश्रवणके अनधिकारियोंके लिए 'हेतुदुष्ट' शब्द आया है, जो असत्य हेतु प्रयोग करनेवालोंके ग्रहणका बोधक प्रतीत होता है। ध्यातव्य है कि जो व्यर्थ तर्कविद्या (आन्वीक्षिकी) पर अनुरक्त हैं उन्हें महाभारतकारने^{१०} वाल्मीकि रामायणकी तरह पण्डितक, हेतुक, और वेदनिन्दक कहकर उनकी भर्त्सना भी की है। तात्पर्य यह कि तर्कविद्याके सदुपयोग और दुरुपयोगकी ओर उन्होंने संकेत किया है। एक अन्य प्रकरणमें^{११} नारदको

१. अक्षपाद गौतम, न्यायसू० १।१।३, १।१।४०।
२. वात्स्यायन, न्यायभाष्य १।१।३, १।१।४०; उद्योतकर, न्यायवा. १।१।३, १।१।४०।
३. अपरे त्वनुमानं तर्क इत्याहुः। हेतुस्तर्को न्यायोऽन्वीक्षा इत्यनुमानमाख्यायत इति।—उद्योतकर, न्यायवा०, १।१।४०; चौखम्बा विद्याभवन, सन् १९१६।
४. भीमाचार्य (सम्पादक), न्यायकोश, 'तर्क' शब्द, पृ० ३२१, प्राच्यविद्यासंशोधनमन्दिर, बम्बई, सन् १९२८।
५. वाल्मीकि, रामायण, अयो० का. १००।३८, ३९, गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. सं. २०१७।
६. व्यास, महाभारत, ज्ञान्तिपर्व २१०।२२; १८०।४७; गीताप्रेस, गोरखपुर, वि. सं. २०१७।
७. वही, शा० प० ३१८।३४।
८. वही, शा० प० ३१८।३५।
९. वही, अनुशा० प० १३४।१७।
१०. वही, शा० प० १८०।४७।
११. व्यास, महाभा० सभापर्व ५।५, ८।

पंचावयवग्रन्थ वान्यके गुणदोषोंका वेत्ता और 'अनुमानविभागवित्' बतलाया है। इन समस्त उल्लेखोंसे अवगत होता है कि महाभारतमें अनुमानके उपादानों और उसके व्यवहार की चर्चा है।

आन्वीक्षिकी शब्द अनुमानका बोधक है। इसका यौगिक अर्थ है अनु—पश्चात् + ईक्षा—देखना अर्थात् फिर जाँच करना। वात्स्यायनके^१ अनुसार प्रत्यक्ष और आगमसे देखे-जाने पदार्थको विशेष रूपसे जाननेका नाम 'अन्वीक्षा' है और यह अन्वीक्षा ही अनुमान है। अन्वीक्षापूर्वक प्रवृत्ति करनेवाली विद्या आन्वीक्षिकी—न्यायविद्या—न्यायशास्त्र है। तात्पर्य यह कि जिस शास्त्रमें वस्तु-सिद्धिके लिए अनुमानका विशेष व्यवहार होता है उसे वात्स्यायनने अनुमानशास्त्र, न्यायशास्त्र, न्यायविद्या और आन्वीक्षिकी बतलाया है। इस प्रकार आन्वीक्षिकी न्यायशास्त्रकी संज्ञाको धारण करती हुई अनुमानके रूपको प्राप्त हुई है। डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषणने^२ आन्वीक्षिकीमें आत्मा और हेतु दोनों विद्याओंका समावेश किया है। उनका मत है कि सांख्य, योग और लोकायत आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि और असिद्धिमें प्राचीन कालसे ही हेतुवाद या आन्वीक्षिकीका व्यवहार करते आ रहे हैं।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें^३ आन्वीक्षिकीके समर्थनमें कहा गया है कि विभिन्न युक्तियों द्वारा विषयोंका बलाबल इसी विद्याके आश्रयसे ज्ञात होता है। यह लोकका उपकार करती है, दुःख-सुखमें बुद्धिको स्थैर्य प्रदान करती है, प्रजा, वचन और क्रियामें कुशलता लाती है। जिस प्रकार दीपक समस्त पदार्थोंका प्रकाशक है उसी प्रकार यह विद्या भी सब विद्याओं, समस्त कार्यों और समस्त धर्मोंकी प्रकाशिका है। कौटिल्यके इस विवेचन और उपर्युक्त वर्णनसे आन्वीक्षिकी विद्याको अनुमानका पूर्वरूप कहा जा सकता है^४।

मनुस्मृतिमें^५ जहाँ तर्क और तर्की शब्दोंका प्रयोग मिलता है वहाँ हेतुक, आन्वीक्षिकी और हेतु-शास्त्र शब्द भी उपलब्ध होते हैं। एक स्थानपर^६ तो धर्मतत्त्वके जिज्ञासुके लिए प्रत्यक्ष और विविध आगम-रूप शास्त्रके अतिरिक्त अनुमानको भी जाननेका स्पष्ट निर्देश किया है। इससे प्रतीत होता है कि मनुस्मृति-कारके समयमें हेतुशास्त्र और आन्वीक्षिकी शब्दोंके साथ अनुमान शब्द भी व्यवहृत होने लगा था और उसे असिद्ध या विवादापन्न वस्तुओंकी सिद्धिके लिए उपयोगी माना जाता था।

षट्खण्डागममें^७ 'हेतुवाद', स्थानाङ्गसूत्रमें^८ 'हेतु', भगवतीसूत्रमें^९ 'अनुमान' और अनुयोगसूत्रमें^{१०}

१. प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साङ्ख्यीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्थान्वीक्षणमन्वीक्षा। तथा प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्।—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।१; पृ० ७।
२. A History of Indian Logice, Calcutta University 1921, page 5.
३. कौटिल्य, अर्थशास्त्र, विद्यासमुद्देश १।१, पृ० १०, ११।
४. विशेषके लिए देखिए, डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण, ए हिस्टरी ऑफ इण्डियन लॉजिक, पृ० ४०।
५. मनुस्मृति १।२।१०६, १।२।१११, ७।४३, २।११; चौखम्बा सं० सी०, वाराणसी।
६. प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥—वही, १।२।१०५।
७. भूतबली-पुष्पद्रन्त, षट्ख० ५।५।५१, सोलापुर संस्करण, सन् १९६५ ई०।
८. मुनि कन्हैयालाल; स्था० सू०, पृ० ३०९, ३१०; व्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०।
९. मुनि कन्हैयालाल; भ० सू० ५।३।१९१-९२; घनपतसिंह, कलकत्ता।
१०. मुनि कन्हैयालाल, अनु० सू० मूलसूत्राणि, पृ० ५३९, व्यावर संस्करण, वि० सं० २०१०।

अनुमानके भेद-प्रभेदोंकी चर्चा समाहित है। अतः जैनागमोंमें भी अनुमानका पूर्वरूप और अनुमान प्रति-पादित हैं।

इस प्रकार भारतीय वाङ्मयके अनुशीलनसे अवगत होता है कि भारतीय तर्कशास्त्र आरम्भमें 'वाकोवाक्यम्', उसके पश्चात् आन्वीक्षिकी, हेतुशास्त्र, तर्कविद्या और न्यायशास्त्र या प्रमाणशास्त्रके रूपोंमें व्यवहृत हुआ। उत्तरकालमें प्रमाणमीमांसाका विकास होनेपर हेतुविद्यापर अधिक बल दिया गया। फलतः आन्वीक्षिकीमें अर्थसंकोच होकर वह हेतुपूर्वक होनेवाले अनुमानकी बोधक हो गयी। अतः 'वाकोवाक्यम्' आन्वीक्षिकीका और आन्वीक्षिकी अनुमानका प्राचीन मूल रूप ज्ञात होता है।

अनुमानका विकास

अनुमानका विकास निबद्धरूपमें अक्षपादके न्यायसूत्रसे आरम्भ होता है। न्यायसूत्रके व्याख्याकारों-वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति, जयन्त भट्ट, उदयन, श्रीकण्ठ, गंगेश, वर्द्धमानउपाध्याय, विश्वनाथ प्रभृति ने अनुमानके स्वरूप, आधार, भेदोपभेद, व्याप्ति, पक्षधर्मता, व्याप्तिग्रहण, अवयव आदिका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इसके विकासमें प्रशस्तपाद, माठर, कुमारिल जैसे वैदिक दार्शनिकोंके अतिरिक्त वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर, शान्तरक्षित, अर्चट आदि बौद्ध नैयायिकों तथा समन्तभद्र, सिद्धसेन, पात्रस्वामी, अकलंक, विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, प्रभाचन्द्र, देवसूरि, हेमचन्द्र प्रमुख जैन तार्किकोंने भी योगदान किया है। निःसन्देह अनुमानका क्रमिक विकास तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे जितना महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है उससे कहीं अधिक भारतीय धर्म और दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे भी। यतः भारतीय अनुमान केवल कार्यकारणरूप बौद्धिक व्यायाम ही नहीं है, बल्कि निःश्रेयस-उपलब्धिके साधनोंमें वह परिगणित है। यही कारण है कि भारतीय अनुमानका जितना विचार तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है उतना या उससे कुछ कम धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र और पुराणग्रन्थोंमें भी वह पाया जाता है।

प्रस्तुतमें हमारा उद्देश्य स्वतन्त्र रूपसे भारतीय तर्कग्रन्थोंमें अनुमानपर जो चिन्तन उपलब्ध होता है उसीके विकासपर यहाँ समीक्षात्मक विचार करना है।

(क) न्याय-दर्शनमें अनुमान-विकास

अक्षपादने अनुमानकी परिभाषा केवल 'तत्पूर्वकम्'^२ पद द्वारा ही उपस्थित की है। इस परिभाषा में "तत्" शब्द केवल स्पष्ट है, जो पूर्वलक्षित प्रत्यक्षके लिए प्रयुक्त हुआ है और वह बतलाता है कि प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान होता है, किन्तु वह अनुमान है क्या? यह जिज्ञासा अतृप्त ही रह जाती है। सूत्रके अग्रांशमें अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ये तीन भेद उपलब्ध होते हैं। इनमें प्रथम दो भेदोंमें आगत 'वत्' शब्द भी विचारणीय है। शब्दार्थकी दृष्टिसे 'पूर्वके समान' और 'शेषके समान' यही अर्थ उससे उपलब्ध होता है तथा 'सामान्यतोदृष्ट' से 'सामान्यतः दर्शन' अर्थ ज्ञात होता है। इसके अतिरिक्त उनके स्वरूपका कोई प्रदर्शन नहीं होता।^३

सोलह पदार्थोंमें एक अवयव पदार्थ परिगणित है। उसके प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निग

१. प्रदीपः सर्वविद्यानां.....इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं.....।

—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।१, पृष्ठ ११।

२. गौतम अक्षपाद, न्यायसू० १।१।५, ।

३. न्यायसू० १।१।५।

मन इन पाँच भेदोंका परिभाषासहित निर्देश किया है।^१ अनुमान इन पाँचसे सम्पन्न एवं सम्पूर्ण होता है। उनके बिना अनुमानका आत्मलाभ नहीं होता। अतः अनुमानके लिए उनकी आवश्यकता असन्दिग्ध है। 'हेतु' शब्दका प्रयोग अनुमानके लक्षणमें, जो मात्र कारणसामग्रीको ही प्रदर्शित करता है, हमें नहीं मिलता, किन्तु उक्त पंचावयवोंके मध्य द्वितीय अवयवके रूपमें 'हेतु' का और हेत्वाभासके विवेचन-सन्दर्भमें 'हेत्वाभासोंका' स्वरूप अवश्य प्राप्त होता है।^२

अनुमान-परीक्षाके प्रकरणमें रोध, उपघात और मादृश्यसे अनुमानके मिथ्या होनेकी आशंका व्यक्त की है।^३ इस परीक्षासे विदित है कि गौतमके समयमें अनुमानकी परम्परा पर्याप्त विकसित रूपमें विद्यमान थी—'वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणम्, प्रत्यक्षानुपपत्तेः'^४ सूत्रमें 'अनुपपत्ति' शब्दका प्रयोग हेतुके रूपमें किया है। वास्तवमें 'अनुपपत्ति' हेतु पंचम्यन्तकी अपेक्षा अधिक गमक है। इसीसे अनुमानके स्वरूपको भी निर्धारित किया जा सकता है। एक बात और स्मरणीय है कि 'व्याहृतत्वात् अहेतुः'^५ सूत्रमें 'अहेतु' शब्दका प्रयोग सामान्यार्थक मान लिया जाए तो गौतमकी अनुमान-सारणिमें हेतु, अहेतु और हेत्वाभास शब्द भी उपलब्ध हो जाते हैं। अतएव निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतम अनुमानके मूलभूत प्रतिज्ञा, साध्य और हेतु इन तीनों ही अंगोंके स्वरूप और उनके प्रयोगसे सुपरिचित थे। वास्तवमें अनुमानकी प्रमुख आधार-शिला गम्य-गमक (साध्य-साधन) भाव योजना ही है। इस योजनाका प्रयोगात्मक रूप साधर्म्य और वैधर्म्य दृष्टान्तोंमें पाया जाता है।^६ पंचावयवावयवकी साधर्म्य और वैधर्म्यरूप प्रणालीके मूललेखक गौतम अक्षपाद जान पड़ते हैं। इनके पूर्व कणादके वैशेषिकसूत्रमें अनुमानप्रमाणका निर्देश 'लैंगिक' शब्दद्वारा किया गया है,^७ पर उसका विवेचन न्यायसूत्रमें ही प्रथमतः दृष्टिगोचर होता है। अतः अनुमानका निबद्धरूपमें ऐतिहासिक विकासक्रम गौतमसे आरम्भकर रुद्रनारायण पर्यन्त अंकित किया जा सकता है। रुद्रनारायणने अपनी तत्त्वशौद्धीमें गंगेश उपाध्याय द्वारा स्थापित अनुमानकी नव्यन्यायपरम्परामें प्रयुक्त नवीन पदावलीका विशेष विश्लेषण किया है। यद्यपि मूलभूत सिद्धान्त तत्त्वचिन्तामणिके ही हैं, पर भाषाका रूप अपुनातन है और अवच्छेदकावच्छिन्न, प्रतियोगिताका भाव आदिको नवीन लक्षणावलीमें स्पष्ट किया है।

गौतमका न्यायसूत्र अनुमानका स्वरूप, उसकी परीक्षा, हेत्वाभास, अवयव एवं उसके भेदोंको ज्ञात करनेके लिए महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यद्यपि यह सत्य है कि अनुमानके निर्धारक तथ्य पक्षधर्मता, व्याप्ति और परामर्शका उल्लेख इसमें नहीं पाया जाता, तो भी अनुमानकी प्रस्तुत की गयी समीक्षासे अनुमानका पूरा रूप खड़ा हो जाता है। गौतमके समयमें अनुमान-सम्बन्धी जिन विशेष बातोंमें विवाद था उनका उन्होंने स्वरूप-विवेचन अवश्य किया है।^८ यथा—प्रतिज्ञाके स्वरूप-निर्धारणके सम्बन्धमें विवाद था—कोई साध्यको प्रतिज्ञा मानता था, तो कोई केवल धर्मोंको प्रतिज्ञा कहता था। उन्होंने साध्यके निर्देशको प्रतिज्ञा कहकर उस

१. न्यायसू०, १।१।३२-३९।

२. वही, १।२।५-९।

३. वही, २।१।३८।

४. वही, २।१।४३।

५. वही, २।१।२९।

६. साध्यसाधर्म्यासिद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्।—वही १।१।३६, ३७।

७. तथोन्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैंगिकाभ्याम्। अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैंगिकम्।—
वैशेषिक सू० १०।१।३, ९।२।१।

८. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।—न्यायसू० १।१।३३।

विवादका निरसन किया।^१ इसी प्रकार अवयवों, हेतुओं, हेतुभासों एवं अनुमान-प्रकारोंके सम्बन्धमें वर्तमान विप्रतिपत्तियोंका भी उन्होंने समाधान प्रस्तुत किया और एक सुदृढ़ परम्परा स्थापित की।

न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायनने सूत्रोंमें निर्दिष्ट अनुमानसम्बन्धी सभी उपादानोंकी परिभाषाएँ अंकित कीं और अनुमानकी पुष्ट और सम्बद्ध रूप प्रदान किया है। यथार्थमें वात्स्यायनने गौतमको अमर बना दिया है। व्याकरणके क्षेत्रमें जो स्थान भाष्यकार पतंजलिका है, न्यायके क्षेत्रमें वही स्थान वात्स्यायनका है। वात्स्यायनने सर्वप्रथम 'तत्पूर्वकम्' पदका विस्तार कर 'लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनपूर्वकमनुमानम्'^२ परिभाषा अंकित की। और लिङ्ग-लिङ्गीके सम्बन्धदर्शनको अनुमानका कारण बतलाया।

गौतमने अनुमानके त्रिविध भेदोंका मात्र उल्लेख किया था। पर वात्स्यायनने उनकी सोदाहरण परिभाषाएँ भी निबद्ध की हैं।^३ वे एक प्रकारका परिष्कार देकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, अपितु प्रकारान्तरसे दूसरे परिष्कार भी ग्रथित किये हैं।^४ इन व्याख्यामूलक परिष्कारोंके अध्ययन बिना गौतमके अनुमानरूपोंको अवगत करना असम्भव है। अतः अनुमानके स्वरूप और उसकी भेदव्यवस्थाके स्पष्टीकरणका श्रेय बहुत कुछ वात्स्यायनको है।

अपने समयमें प्रचलित दशावयवकी समीक्षा करके न्यायसूत्रकार द्वारा स्थापित पंचावयव-मान्यताका युवितपुरस्सर समर्थन करना भी उनका उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है।^५ न्यायभाष्यमें^६ साधर्म्य और वैधर्म्य प्रयुक्त हेतुरूपोंकी व्याख्या भी कम महत्त्वकी नहीं है। द्विविध उदाहरणका विवेचन भी बहुत सुन्दर और विशद है। ध्यातव्य है कि वात्स्यायनने 'पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति, साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति।'^७ कहकर साधर्म्यदृष्टान्तको अन्वयदृष्टान्त कहने और अन्वय एवं अन्वयव्याप्ति दिखानेका संकेत किया जान पड़ता है। इसी प्रकार 'उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते तयोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति, तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति।'^८ शब्दों द्वारा उन्होंने वैधर्म्य-दृष्टान्तको व्यतिरेकदृष्टान्त प्रतिपादन करने तथा व्यतिरेक एवं व्यतिरेकव्याप्ति प्रदर्शित करनेकी ओर भी इंगित किया है। यदि यह ठीक हो तो यह वात्स्यायनकी एक नयी उपलब्धि है। सूत्रकारने हेतुका सामान्य-लक्षण ही बतलाया है।^९ पर वह इतना अपर्याप्त है कि उससे हेतुके सम्बन्धमें स्पष्टतः जानकारी नहीं हो पाती। भाष्यकारने हेतु-लक्षणको उदाहरण द्वारा^{१०} स्पष्ट करनेका सफल प्रयास किया है। उनका अभिमत है कि 'साध्यसाधनं हेतुः' तभी स्पष्ट हो सकता है जब साध्य (पक्ष) तथा उदाहरणमें धर्म (पक्षधर्म हेतु) का प्रतिसन्धान कर उसमें साधनता बतलायी जाए। हेतु समान और असमान दोनों ही प्रकारके उदाहरण बतलाने पर साध्यका साधक होता है। यथा—न्यायसूत्रकारके प्रतिज्ञालक्षण^{११} को स्पष्ट करनेके लिए उदाहरणस्वरूप कहे गये 'शब्दोऽनित्यः' को 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'^{१२} हेतुका प्रयोग करके सिद्ध किया गया है। तात्पर्य यह कि भाष्यकारने हेतुस्वरूपबोधक सूत्रकी उदाहरणद्वारा विशद व्याख्या तो की ही है, पर 'साध्यो

१. न्यायभा०, १।१।५, पृष्ठ २१।

२, ३, ४. वही, १।१।५, पृष्ठ २१, २२।

५. न्यायभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७।

६. वही, १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८।

७. वही, १।१।३७, पृष्ठ ५०।

८. वही, १।१।३७, पृष्ठ ५०।

९. न्यायसू० १।१।३४, ३५।

१०. 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' इति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति।

—न्यायभा० १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८, ४९।

११. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा—न्यासू० १।१।३३।

१२. न्यायभा० १।१।३३, ३५, पृष्ठ ४८, ४९।

प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः^१ कथन द्वारा साध्यके साथ नियत सम्बन्धी-को हेतु कहा है। अतः जिस प्रकार उदाहरणके क्षेत्रमें उनकी देन है उसी प्रकार हेतुके क्षेत्रमें भी।

अनुमानकी प्रामाणिकता या सत्यता लिंग-लिंगीके सम्बन्धपर आश्रित है। वह सम्बन्ध नियत साहचर्यरूप है। सूत्रकार गौतम उसके विषयमें मौन हैं। पर भाष्यकारने^२ उसका स्पष्ट निर्देश किया है। उन्होंने लिंगदर्शन और लिंगस्मृतिके अतिरिक्त लिंग (हेतु) और लिंगी (हेतुमान्-साध्य) के सम्बन्ध दर्शनकी भी अनुमितिमें आवश्यक बतला कर उस सम्बन्धके मर्मका उद्घाटन किया है। उसका मत है कि सम्बद्ध हेतु तथा हेतुमान्के मिलनेसे हेतुस्मृतिका अभिसम्बन्ध होता है और स्मृति एवं लिंगदर्शनसे अप्रत्यक्ष (अनुमेय) अर्थात् अनुमान होता है। भाष्यकारके इस प्रतिपादनसे प्रतीत होता है कि उन्होंने 'सम्बन्ध' शब्दसे व्याप्ति-सम्बन्धका और 'लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनम्' पदोंसे उस व्याप्ति-सम्बन्धके ग्राहक भूयोदर्शन या सहचारदर्शनका संकेत किया है जिसका उत्तरवर्ती आचार्योंने स्पष्ट कथन किया तथा उसे महत्व दिया है।^३ वस्तुतः लिंगलिंगीको सम्बद्ध देखनेका नाम ही सहचारदर्शन या भूयोदर्शन है, जिसे व्याप्तिग्रहणमें प्रयोजक माना गया है। अतः वात्स्यायनके मतसे अनुमानकी कारण-सामग्री केवल प्रत्यक्ष (लिंगदर्शन) ही नहीं है, किन्तु लिंगदर्शन, लिंग-लिंगीसम्बन्धदर्शन और तत्सम्बन्धस्मृति ये तीनों हैं। तथा सम्बन्ध (व्याप्ति) का ज्ञान उन्होंने प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिपादन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती तार्किकोंने भी किया है।^४

वात्स्यायनकी^५ एक महत्वपूर्ण उपलब्धि और उल्लेख्य है। उन्होंने अनुमानपरीक्षा प्रकरणमें त्रिविध अनुमानोंके मिथ्यात्वकी आशंका प्रस्तुत कर उनकी सत्यताकी सिद्धिके लिए कई प्रकारसे विचार किया है। आपत्तिकार कहता है कि 'ऊपरके प्रदेशमें वर्षा हुई है, क्योंकि नदीमें बाढ़ आयी है;^६ वर्षा होगी, क्योंकि चींटियाँ अण्डे लेकर जा रही^७ हैं ये दोनों अनुमान सदोष हैं, क्योंकि कहीं नदीकी धारामें रुकावट होनेपर भी नदीमें बाढ़ आ सकती है। इसी प्रकार चींटियोंका अण्डों सहित संचार चींटियोंके बिलके नष्ट होनेपर भी हो सकता है। इसी तरह सामान्यतोद्ष्ट अनुमानका उदाहरण—'मोर बोल रहे हैं, अतः वर्षा होगी'—भी मिथ्यानुमान है, क्योंकि पुरुष भी परिहास या आजीविकाके लिए मोरकी बोली बोल सकता है।^८ इतना ही नहीं मोरके बोलनेपर भी वर्षा नहीं हो सकती; क्योंकि वर्षा और मोरके बोलनेमें कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। वात्स्यायन^९ इन समस्त आपत्तियों (व्यभिचार-शंकाओं) का निराकरण करते हुए कहते हैं कि उक्त आपत्तियाँ ठीक नहीं हैं, क्योंकि उक्त अनुमान नहीं है, अनुमानाभास है और अनुमानाभासोंको अनुमान समझ लिया गया है। तथ्य यह है कि विशिष्ट हेतु ही विशिष्ट साध्यका अनुमापक होता

१. न्यायभा०, १।१।३४, ३५, पृष्ठ ४८, ४९।

२. लिंगलिंगिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बद्धयते। लिंगलिंगिनोः सम्बद्धयोर्दर्शनेन लिंग-स्मृतिरभिसम्बद्धयते। स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते।—न्यायभा० १।१।५, पृ० २१।

३. यथास्वं भूयोदर्शनसहायानि स्वाभाविकसम्बन्धग्रहणे प्रमाणान्युन्नेतव्यानि—वाचस्पति, न्याय० ता० टी० १।१।५, पृ० १६७।

४. उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृ० ४४। न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६७। उदयन, न्यायवा० ता० टी० परिशु० १।१।५, पृ० ७०१। भंगेश, तत्त्वचिन्तामणि जागदी० पृ० ३७८, आदि।

५. ६. ७. न्यायभा० २।१।३८, पृ० ११४।

८. न्यायभा० २।१।३८, पृष्ठ ११४।

९. वही, २।१।३९, पृष्ठ ११४, ११५।

है^१। अतः अनुमानकी सत्यताका आधार विशिष्ट (साध्याविनाभावी) हेतु ही है, जो कोई नहीं। यहाँ वात्स्यायनके प्रतिपादन और उनके 'विशिष्ट हेतु' पदसे अव्यभिचारी हेतु अभिप्रेत है जो नियमसे साध्यका गमक होता है। वे कहते हैं^२ कि यह अनुमाताका ही अपराध माना जाएगा कि वह अर्थविशेषवाले अनुमेय अर्थको सामान्य अर्थसे जाननेकी इच्छा करता है, अनुमानका नहीं।

इस प्रकार वात्स्यायनने अनुमानके उपादानोंके परिष्कार एवं व्याख्यामूलक विशदीकरणके साथ कितना ही नया चिन्तन प्रस्तुत किया है।

अनुमानके क्षेत्रमें वात्स्यायनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य उद्योतकरका^३ है। उन्होंने लिंगपरामर्शको^४ अनुमान कहा है। अब तक अनुमानकी परिभाषा कारणसामग्रीपर निर्भर थी। किन्तु उन्होंने उसका स्वतन्त्र स्वरूप देकर नयी परम्परा स्थिर की। व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मताका ज्ञान ही परामर्श है। उद्योतकरकी^५ दृष्टिमें लिंगलिंगिसम्बन्धस्मृतिसे युक्त लिंगपरामर्श अभीष्टार्थ (अनुमेयार्थ) का अनुमापक है। वे कहते हैं^६ कि अनुमान वस्तुतः उसे कहना चाहिए, जिसके अनन्तर उत्तरकालमें शेषार्थ (अनुमेयार्थ) प्रतिपत्ति (अनुमिति) हो और ऐसा केवल लिंगपरामर्श ही है, क्योंकि उसके अनन्तर नियमतः अनुमिति उत्पन्न होती है। लिंग-लिंगिसम्बन्धस्मृति आदि लिंगपरामर्शसे व्यवहित हो जानेसे अनुमान नहीं है। उद्योतकरकी यह अनुमान-परिभाषा इतनी दृढ़ एवं बद्धमूल हुई कि उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याख्याकारोंने^७ अपने व्याख्या-ग्रन्थोंमें उसे अपनाया है। नव्यनैयायिकोंने तो उसमें प्रभूत परिष्कार भी उपस्थित किये हैं, जिससे तर्कशास्त्रके क्षेत्रमें अनुमानने व्यापकता प्राप्त की है। और नया मोड़ लिया है।

न्यायवार्तिककारने^८ गौतमोक्त पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन तीनों अनुमान-भेदोंकी व्याख्या करनेके अतिरिक्त अन्वयी, व्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमान-भेदोंकी भी सृष्टि की है, जो उनसे पूर्व न्यायपरम्परामें नहीं थे। 'त्रिविधम्' सूत्रके इन्होंने कई व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं।^९ निश्चयतः उनका यह सब निरूपण उनकी मौलिक देन है। परवर्ती नैयायिकोंने उनके द्वारा रचित व्याख्याओंका ही स्पष्टीकरण किया है।

उद्योतकर द्वारा बौद्धसन्दर्भमें की गयी हेतुलक्षणसमोक्षा भी महत्त्व की है। बौद्ध^{१०} हेतुका लक्षण त्रिरूप

१. वही० २।१।३९, पृष्ठ ११५।

२. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४५ आदि।

४. वही १।१।५, पृष्ठ ४५।

५. तस्मात् स्मृत्यनुगृहीतो लिंगपरामर्शोऽभीष्टार्थप्रतिपादकः—वही, १।१।५, पृ० ४५।

६. यस्माल्लिंगपरामर्शदिनन्तरं शेषार्थप्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिंगपरामर्शो न्याय्य इति।

स्मृतिर्न प्रधानम्। किं कारणम्? स्मृत्यनन्तरमप्रतिपत्तेः—वही, १।१।५, पृ० ५।

७. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६९। तथा उदयन, ता० टी० परिशु० १।१।५, पृ० ७०७।

८. गंगेश उपाध्याय, तत्त्वचिन्तामणि, जागदीश, पृ० १३, ७१। विश्वनाथ, सिद्धान्तमु० पृष्ठ ५० आदि।

९. न्यायवा० १।१।५, पृ० ४६।

१०. वही, १।१।५, पृ० ४६-४९।

११. दिग्नागशिष्य शङ्कर, न्यायप्रवेश, पृ० १।

मानते हैं। पर उद्योतकर न केवल उसकी ही आलोचना करते हैं, अपितु द्विलक्षणकी भी मीमांसा करते हैं।^१ किन्तु सूत्रकारोक्त एवं भाष्यकार समर्थित द्विलक्षण, त्रिलक्षणके साथ चतुर्लक्षण और पंचलक्षण हेतु उन्हें इष्ट^२ है। अन्वयव्यतिरेकीमें पंचलक्षण और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकीमें चतुर्लक्षण घटित होता है। यहाँ उद्योतकरकी विशेषता यह है कि वे न्यायभाष्यकारकी आलोचना करनेसे भी नहीं चूकते। वात्स्यायनने^३ 'तथा वैधर्म्यात्'^४ इस वैधर्म्य प्रयुक्त हेतुलक्षणका उदाहरण साधर्म्य प्रयुक्त हेतुलक्षणके उदाहरण 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' को ही प्रस्तुत किया है। इसे वे^५ युक्तिसंगत न मानते हुए कहते हैं कि यह तो मात्र प्रयोगभेद है। और प्रयोगभेदसे वस्तु (हेतु) भेद नहीं हो सकता। अथवा वह केवल उदाहरणभेद है—आत्मा और घट। यदि उदाहरण-भेदसे भेद हो तो 'तथा वैधर्म्यात्' यह सूत्र नहीं होना चाहिए, क्योंकि उदाहरणके भेदसे ही हेतुभेद अवगत हो जाता है और भेदक उदाहरणसूत्र 'तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम्' सूत्रकारने कहा ही है। अतः 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' यह वैधर्म्यप्रयुक्त हेतुका उदाहरण ठीक नहीं है। किन्तु 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं अप्रमाणादिमत्त्वप्रसंगादिति' यह उदाहरण उचित है। इस प्रकार न्यायभाष्यकारकी मीमांसा सूत्रकारद्वारा प्रतिपादित हेतुद्वयकी पुष्टिमें ही की गयी है। अतएव उद्योतकर अन्तिम निष्कर्ष निकालते हुए लिखते हैं^६ कि परोक्त हेतुलक्षण सम्भव नहीं है, यही आर्ष (सूत्रकारोक्त) हेतुलक्षण संगत है।

न्यायभाष्यकारके^७ समय तक अनुमानावयवोंकी मान्यता दो रूपोंमें उपलब्ध होती है—(१) पंचावयव और (२) दशावयव। वात्स्यायनने दशावयवमान्यताकी मीमांसा करके सूत्रकार प्रतिपादित पंचावयवमान्यताकी संपुष्टि की है। पर उद्योतकरने^८ व्यवयवमान्यताकी भी समीक्षा की है। यह मान्यता बौद्ध तार्किक दिङ्नागकी है, क्योंकि दिङ्नागने^९ ही अधिक-से-अधिक तीन अवयव स्वीकार किये हैं। सांख्य विद्वान् माठरने^{१०} भी अनुमानके तीन अवयव प्रतिपादित किये हैं। यदि माठर दिङ्नागसे पूर्ववर्ती है तो व्यवयवमान्यता उनकी समझना चाहिए। इस प्रकार कितनी ही स्थापनाओं और समीक्षाओंके रूपमें उद्योतकरकी उपलब्धियाँ हम उनके न्यायवार्तिकमें पाते हैं।

वाचस्पतिकी^{११} भी अनुमानके लिए महत्त्वपूर्ण देन है। व्याप्तिग्रहकी सामग्रीमें तर्कका प्रवेश उनकी ऐसी देन है जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी नैयायिकोंने किया है। उद्योतकर द्वारा प्रतिपादित 'लिङ्ग-

१. 'त्रिलक्षणं च हेतुं बुवाणेन—अहेतुत्वमिति प्राप्तम् । तादृग्विनाभावविधर्मोपदर्शनं हेतुरित्यपरे तादृशा विना न भवतीत्यनेन द्वयं लभ्यते—।'—न्यायवा० १।१।३५, पृ० १३१।
२. चशब्दात् प्रत्यक्षागमाविरुद्धं चेत्येवं चतुर्लक्षणं पंचलक्षणमनुमानमिति ।—वही, १।१।५, पृ० ४६।
३. न्यायभा० १।१।५, पृ० ४९।
४. न्यायसू० १।१।३५।
५. एतत्तु न समजसमिति पश्यामः प्रयोगमात्रभेदात् । उदाहरणमात्रभेदाच्च । तस्मान्नेदं उदाहरणं न्याय्यमिति । उदाहरणं तु 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरं अप्रमाणादिमत्त्वप्रसंगादिति' ।—न्यायवा० १।१।३५, पृ० १२३।
६. न्यायवा०, १।१।३५, पृ० १३४।
७. न्यायभा० १।१।३२, पृ० ४७।
८. न्यायवा० १।१।३२, पृ० १०८।
९. न्यायप्रवेश पृ० १, २।
१०. पक्षहेतुदृष्टान्ता इति व्यवयवम्—माठर वृ०, का० ५।
११. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६७, १७०, १७८, १६५ तथा १।१।३२, पृ० २६७।

परामर्शरूप' अनुमान-परिभाषाका समर्थन करके उसे पुष्ट किया है। दो अवयवकी मान्यता भी उल्लेख करके उसकी समीक्षा प्रस्तुत की है। यह दो अवयवकी मान्यता धर्मकीतिकी^१ है। न्यायदर्शनमें अविनाभावका सर्व-प्रथम स्वीकार या पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपोंके अविनाभाव द्वारा संग्रहका विचार उन्हींके द्वारा प्रविष्ट हुआ है। लिग-लिगीके सम्बन्धको स्वाभाविक प्रतिपादन करना और उसे निरुपाधि अंगीकार करना उन्हींकी सूझ है।

जयन्तभट्टका भी अनुमानके लिए कम महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं है। उन्होंने न्यायमंजरी और न्यायकालिकामें अनुमानका सांगोपांग निरूपण किया है। वे स्वतन्त्र चिन्तक भी रहे हैं। यहाँ हम उनके स्वतन्त्र विचारका एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। न्यायमंजरीमें^२ हेत्वाभासोंके प्रकरणमें उन्होंने अन्यथा-सिद्धत्व नामके एक छोटे हेत्वाभासकी चर्चा की है। सूत्रकारके उल्लंघनकी बात उठनेपर वे कहते हैं कि सूत्रकारका उल्लंघन होता है तो होने दो, सुस्पष्ट दृष्ट अप्रयोजक हेत्वाभासका अपह्नव नहीं किया जा सकता। पर अन्तमें वे उसे उद्योतकरकी तरह असिद्धवर्गमें अन्तर्भूत कर लेते हैं। 'अथवा' के साथ यह भी कहा है कि अप्रयोजकत्व (अन्यथासिद्धत्व) सभी हेत्वाभासवृत्ति अनुगत सामान्यरूप है। न्यायकालिकामें^३ भी यही मत स्थिर किया है। समव्याप्ति और विषमव्याप्तिका निर्देश भी उल्लेखनीय है। अवयव-समीक्षा, हेतुसमीक्षा आदि अनुमान-सम्बन्धी विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

उदयनका^४ चिन्तन सामान्यतया पूर्वपरम्पराका समर्थक है, किन्तु अनेक स्थलोंपर उनकी स्वस्थ और सूक्ष्मविचारधारा उनकी मौलिकताका स्पष्ट प्रकाशन करती है। उपाधि और व्याप्तिकी जो परिभाषाएँ उन्होंने प्रस्तुत कीं उत्तरकालमें उन्हींको केन्द्र बनाकर पुष्कल विचार हुआ है।

अनुमानके विकासमें अभिनव क्रान्ति उदयनसे आरम्भ होती है। सूत्र और व्याख्यापद्धतिके स्थानमें प्रकरण-पद्धतिका जन्म होता है और स्वतन्त्र प्रकरणों द्वारा अनुमानके स्वरूप, आधार, अवयव, परामर्श, व्याप्ति, उपाधि, हेतु एवं पक्ष-सम्बन्धी दोषोंका इस कालमें सूक्ष्म विचार किया गया है।

गंगेशने तत्त्वचिन्तामणिमें अनुमानकी परिभाषा तो वही दी है जो उद्योतकरने न्यायवार्तिकमें उपस्थित की है, पर उनका वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने अनुमितिकी ऐसी परिभाषा^५ प्रस्तुत की है जो न्याय-परम्परामें अब तक प्रचलित नहीं थी। उसमें प्रयुक्त व्याप्ति^६ और पक्षधर्मता^७ पदोंका उन्होंने सर्वथा अभिनव

१. 'अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नांगं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि.....'

—वादन्याय० पृ० ६१। किन्तु धर्मकीति, न्यायविन्दु (पृ० ९१) में दृष्टान्तको हेतुसे पृथक् नहीं मानते और हेतुको ही साधनावयव बतलाते हैं। प्रमाणवार्तिक (१-१२८) में भी 'हेतुरेव हि केवलः' कहते हैं।

२. न्यायमंजरी पृष्ठ १३१, १६३-१६६।

३. अप्रयोजकत्वं च सर्वहेत्वाभासानामनुगतं रूपम्।—न्यायक० पृष्ठ १५।

४. किरणावली० पृष्ठ २६७।

५. तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिः, तत्करणमनुमानम्।—त० चि०, अनुमानलक्षण, पृष्ठ १३।

६. नन्वनुमितिहेतुव्याप्तिज्ञाने का व्याप्तिः। न तावदव्यभिचरितत्वम्। 'नापि'। अत्रोच्यते। प्रतियोग्य-सामानाधिकरण्यत्सामानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगितावच्छेदकावच्छिन्नं यन्न भवति तेन समं तस्य सामानाधिकरण्यं व्याप्तिः।

—त० चि०, अनुमानलक्षण, पृष्ठ ७७, ८६, १७१, १७८, १८१, १८६-२०९।

७. वही, पृष्ठ ६३१।

तथा विस्तृत स्वरूप प्रदर्शित किया है। व्याप्तिग्रहके साधनोंमें सामान्यलक्षणाप्रत्यासात्तिपर^१ उन्होंने सर्वाधिक बल दिया है। उनका अभिमत है कि यदि सामान्यलक्षणा न हो तो अनुकूल तर्कादिके बिना धूमादिमें आशंकित व्यभिचार नहीं बन सकेगा, क्योंकि प्रसिद्ध धूममें वह्निसम्बन्धका ज्ञान हो जानेसे कालान्तरीय एवं देशान्तरीय धूमके सद्भावका साधक प्रमाण न होनेसे उसका ज्ञान नहीं होता। सामान्यलक्षणा द्वारा तो समस्त धूमोंकी उपस्थिति हो जाने और धूमान्तरका विशेष दर्शन न होनेसे व्यभिचारकी आशंका सम्भव है। तात्पर्य यह कि व्यभिचारशंकाके लिए सामान्यलक्षणाका मानना आवश्यक है और व्यभिचारशंकाके होने पर ही तर्कादिकी उपयोगिता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार गंगेशने अनुमानके सम्बन्धमें मौलिक विवेचन नव्यन्यायके आलोकमें कर नये सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं।

विश्वनाथ, जगदीश तर्कालंकार, मथुरानाथ तर्कवागीश, मदाधर आदि नव्यनैयायिकोंने भी अनुमान पर बहुत ही सूक्ष्म विचार करके उसे समृद्ध किया है। केशव मिश्रकी तर्कभाषा और अन्नम्भट्टकी तर्कसंग्रह प्राचीन और नवीन न्यायकी प्रतिनिधि तर्ककृतियाँ हैं, जिनमें अनुमानका सुबोध और सरल भाषामें विवेचन उपलब्ध है।

(ख) वैशेषिक-दर्शनमें अनुमानका विकास

वैशेषिकदर्शनसूत्रप्रणेता कणादने^२ स्वतन्त्र दर्शनका प्रणयन करके उसमें पदार्थकी सिद्धि (व्यवस्था) प्रत्यक्षके अतिरिक्त लैंगिक द्वारा भी प्रतिपादित की है और हेतु, अपदेश, लिंग, प्रमाण जैसे हेतुवाची पर्याय-शब्दोंका प्रयोग तथा कार्य, कारण, संयोग, विरोधि एवं समवायि इन पांच लैंगिकप्रकारों और त्रिविध हेत्वाभासोंका निर्देश किया है। उनके इस संक्षिप्त अनुमान-निरूपणमें अनुमानका सूत्रपात मात्र दिखता है, विकसित रूप कम मिलता है। पर उनके भाष्यकार प्रशस्तपादके भाष्यमें अनुमान-समीक्षा विशेष रूपमें उपलब्ध होती है। अनुमानका लक्षण प्रशस्तपादने इस प्रकार दिया है—'लिंगदर्शनात्संजायमानं लैंगिकम्'^३ अर्थात् लिंगदर्शनसे होनेवाले जानको लैंगिक कहते हैं। इसी सन्दर्भमें उन्होंने^४ लिंगका स्वरूप बतलानेके लिए काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनका आशय प्रस्तुत करते हुए लिखा है^५ कि जो अनुमेय अर्थके साथ किसी देशविशेष या कालविशेषमें सहचरित हो, अनुमेयधर्मसे समन्वित किसी दूसरे सभी अथवा एक स्थानमें प्रसिद्ध (विद्यमान) हो और अनुमेयसे विपरीत सभी स्थानोंमें प्रमाणसे असत् (व्यावृत्त) हो वह अप्रसिद्ध अर्थका अनुमापक लिंग है। किन्तु जो ऐसा नहीं वह अनुमेयके ज्ञानमें लिंग नहीं है—लिंगाभास है। इस प्रकार प्रशस्तपादने सर्वप्रथम लिंगको त्रिरूप वर्णित किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नागने^६ भी हेतुको त्रिरूप बतलाया है। सम्भवतः वह प्रशस्तपादका अनुसरण है।

१. व्याप्तिग्रहश्च सामान्यलक्षणाप्रत्यासात्त्या सकलधूमादिविषयकः...। यदि सामान्यलक्षणा नास्ति तदा...।

—वही, पृष्ठ ४३३, ४५३।

२. वैशेषिक० द० १०।१।३, तथा ९।२।१,४।

३. प्रश० भा०, पृष्ठ ९९।

४,५. वही, पृ० १००, १०१।

६. हेतुस्त्रिरूपः। कि पुनस्त्रैरूप्यम्। पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति। —न्यायप्र० पृ० १।

व्याप्तिग्रहणके प्रकारका निरूपण भी हम प्रशस्तपादके भाष्यमें^१ सर्वप्रथम देखते हैं। उन्होंने उसे बतलाते हुए लिखा है कि 'जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि होती है और अग्नि न होने पर धूम भी नहीं होता, इस प्रकारसे व्याप्तिको ग्रहण करने वाले व्यक्तिको असन्दिग्ध धूमको देखने और धूम तथा वह्निके साहचर्यका स्मरण होनेके अनन्तर अग्निका ज्ञान होता है। इसी तरह सभी अनुमानोंमें व्याप्तिका निश्चय अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होता है। अतः समस्त देश तथा कालमें साध्याविनाभूत लिंग साध्यका अनुमापक होता है।' व्याप्तिग्रहणके प्रकारका इस तरहका स्पष्ट निरूपण प्रशस्तपादसे पूर्व उपलब्ध नहीं होता।

प्रशस्तपादने^२ ऐसे कतिपय हेतुओंके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनका अन्तर्भाव सूत्रकार कणादके उक्त कार्यादि पंचविध हेतुओंमें नहीं होता। यथा—चन्द्रोदयसे समुद्रवृद्धि और कुमुदविकासका, शरदमें जलप्रसादसे अगस्त्योदयका अनुमान करना। अतएव वे सूत्रकारके हेतुकथनको अवधारणार्थक न मानकर 'अस्येदम्' इस सम्बन्धमात्रके सूचक वचनसे चन्द्रोदयादि हेतुओंका, जो कार्यादिरूप नहीं हैं, संग्रह कर लेते हैं। यह प्रतिपादन भी प्रशस्तपादकी अनुमानके क्षेत्रमें एक देन है।

अनुमानके दृष्ट और सामान्यतोदृष्टके भेदसे दो भेदों^३ तथा स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमानके भेदसे भी दो भेदोंका^४ वर्णन, शब्द, चेष्टा, उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और ऐतिह्यका अनुमानमें अन्तर्भाव-प्रतिपादन,^५ परार्थानुमानवाच्यके प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान, प्रत्याम्नाय इन पाँच अवयवोंकी परिकल्पना,^६ हेतुवाभासोंका अपने ढंगका चिन्तन,^७ अनध्यवसितनामके हेतुवाभासकी कल्पना और फिर उसे असिद्धके भेदोंमें ही अन्तर्भूत करना तथा निदर्शनके विवेचनप्रसंगमें निदर्शनाभामोंका कथन,^८ जो न्यायदर्शनमें उपलब्ध नहीं होता, केवल जैन और बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें वह मिलता है, आदि अनुमान-सम्बन्धी सामग्री प्रशस्तपादभाष्यमें पर्याप्त विद्यमान है।

व्योमशिव, श्रीधर आदि वैशेषिक तार्किकोंने भी अनुमानपर विचार किया है और उसे समृद्ध बनाया है।

(ग) बौद्ध दर्शनमें अनुमानका विकास

बौद्ध तार्किकोंने तो भारतीय तर्कशास्त्रको इतना प्रभावित किया है कि अनुमानपर उनके द्वारा संख्याबद्ध ग्रन्थ लिखे गये हैं। उपलब्ध बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन तर्कशास्त्र^९ और उपायहृदय^{१०} नामक

१. विधिस्तु यत्र धूमस्तत्राग्निरग्न्यभावे धूमोऽपि न भवतीति। एवं प्रसिद्धसमयस्यासन्निग्धधूमदर्शनात् साहचर्यानुस्मरणात् तदनन्तरमग्न्यध्यवसायो भवतीति। एवं सर्वत्र देशकालाविनाभूतमितरस्य लिंगम्।

—प्रश० भा० पृष्ठ १०२, १०३

२. शास्त्रे कार्यादिग्रहणं निदर्शनार्थं कृतं नावधारणार्थम्। कस्मात्? व्यतिरेकदर्शनात्। तद्यथा—व्यवहितस्य हेतुलिङ्गम्, चन्द्रोदयः समुद्रवृद्धेः कुमुदविकासस्य च'.....—वही, पृष्ठ १०४।

३. प्रश० भा० पृष्ठ १०४।

४. वही पृष्ठ १०६, ११३।

५. वही, पृष्ठ १०६-११२।

६. वही, पृष्ठ ११४-१२७।

७. वही, पृष्ठ ११६-१२१।

८. वही, पृष्ठ ११६ तथा १२०।

९. वही, पृष्ठ १२२।

१०. ओरियंटल इंस्टीट्यूट बड़ौदा द्वारा प्रकाशित Per Dinnaga Buddhist texts on Logic Form Chinese Sources के अन्तर्गत।

११. वही।

दो ग्रन्थ माने जाते हैं। तर्कशास्त्रमें तीन प्रकरण हैं। प्रथममें परस्पर दोषापादन, खण्डनप्रक्रिया, प्रत्यक्ष-विरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, लोकविरुद्ध तीन विरुद्धोंका कथन, हेतुफलन्याय, सापेक्षन्याय, साधनन्याय, तथतान्याय चार न्यायोंका प्रतिपादन आदि है। द्वितीयमें खण्डनभेदों और तृतीयमें उन्हीं बाईस निग्रहस्थानोंका अभिधान है, जिनका गौतमके न्यायसूत्रमें है। किन्तु गौतमकी तरह हेत्वाभास पाँच वर्णित नहीं हैं, अपितु असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन अभिहित हैं।^१ जैसी युक्तियाँ और प्रत्युक्तियाँ इसमें प्रदर्शित हैं उनसे अनुमानका उपहास ज्ञात होता है। पर^२ इतना स्पष्ट है कि शास्त्रार्थमें विजय पाने और विरोधीका मुँह बन्द करनेके लिए सद्-असद् तर्क उपस्थित करना उस समयकी प्रवृत्ति रही जान पड़ती है।

उपायहृदयमें चार प्रकरण हैं। प्रथममें वादके गुण-दोषोंका वर्णन करते हुए कहा गया है^३ कि वाद नहीं करना चाहिए, क्योंकि उससे वाद करनेवालोंको विपुल क्रोध और अहंकार उत्पन्न होता है तथा चित्त विभ्रान्त, मन कठोर, परपापप्रकाशक और स्वकीय पाण्डित्यका अनुशोदक बन जाता है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि तिरस्कार, लाभ और ख्यातिके लिए वाद नहीं, अपितु मुलक्षण और दुर्लक्षण उपदेशकी इच्छासे वह किया जाना चाहिए। यदि लोकमें वाद न हो तो मूर्खोंका बाहुल्य हो जायगा और उससे मिथ्या-ज्ञानादिका साम्राज्य जम जाएगा। फलतः संसारकी दुर्गति तथा उत्तम कार्योंकी क्षति होगी। इस प्रकरणमें न्यायसूत्रकी तरह प्रत्यक्षादि चार प्रमाण और पूर्ववदादि तीन अनुमान वर्णित हैं। आठ प्रकारके हेत्वाभावों आदिका भी निरूपण है। द्वितीयमें वादधर्मों आदिका, तृतीयमें दूषणों आदिका और चतुर्थमें बीस प्रकारके प्रश्नोत्तर धर्मों, जिनका न्यायसूत्रमें जातियोंके रूपमें कथन है, आदिका वर्णन है।^४ उल्लेख है कि इसमें पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट इन अनुमानोंके जो उदाहरण दिये गये हैं^५ वे न्यायभाष्यगत उदाहरणोंसे भिन्न तथा अनुयोगसूत्र^६ और युक्तिदीपिकासे^७ अभिन्न हैं। इससे प्रतीत होता है कि इसमें किसी प्राचीन परम्पराका अनुसरण है।

यहाँ इन दोनों ग्रन्थोंके संक्षिप्त परिचयका प्रयोजन केवल अनुमानके प्राचीन स्रोतको दिखाना है। परन्तु उत्तरकालमें इन ग्रन्थोंकी परम्परा नहीं अपनायी गयी। न्यायप्रवेशमें अनुमानसम्बन्धी अभिनव परम्पराएँ स्थापित की गयी हैं। साधन (परार्थानुमान) के पक्ष, हेतु और दृष्टान्त तीन अवयव, हेतुके पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षसत्त्व तीन रूप, पक्ष, सपक्ष और विपक्षके लक्षण तथा पक्षलक्षणमें प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध विशेषणका प्रवेश, जो प्रशस्तपादके अनुसरणका सूचक है, नवविध पक्षाभास, तीन हेत्वाभास और उनके प्रभेद, द्विविध दृष्टान्ताभास और प्रत्येकके पाँच-पाँच भेद, प्रत्यक्ष और अनुमानके भेदसे द्विविध

१. यथापूर्वमुक्तास्त्रिविधाः। असिद्धोऽनैकान्तिको विरुद्धश्चेति हेत्वाभासाः।—तर्कशास्त्र पृष्ठ ४०।

२. वही, पृष्ठ ३।

३. उपायहृदय पृष्ठ ३।

४. वही, पृष्ठ ६-१७, १८-२१, २२-२५, २६-३२।

५. यथा षडंगुलि सपिडकमूर्धानं बालं दृष्ट्वा पश्चाद्दृष्टं बहुश्रुतं देवदत्तं दृष्ट्वा षडंगुलिस्मरणात् सोऽयमिति पूर्ववत्। शेषवत् यथा, सागरसलिलं पीत्वा तल्लवणं समनुभूय शेषमपि सलिलं तुल्यमेव लवणमिति...।
—वही, पृष्ठ १३।

६. सं० मुनिश्री कन्हैयालाल, मूलमुत्ताणि, अ० सू० पृष्ठ ५३९।

७. यु० दी० का० ५, पृष्ठ ४५।

८. न्या० प्र० पृष्ठ १-८।

प्रमाण, लिगसे होनेवाले अर्थ (अनुमेय) दर्शनको अनुमान; हेत्वाभासपूर्वक होनेवाले ज्ञानको अनुमानाभास, दूषण और दूषणाभास आदि अनुमानोपयोगी तत्त्वोंका स्पष्ट निरूपण करके बौद्ध तर्कशास्त्रको अत्यधिक पुष्ट तथा पल्लवित किया गया है। इसी प्रयोजनको पुष्ट और बढ़ावा देनेके लिए दिङ्नागने न्यायद्वार, प्रमाण-समुच्चय सवृत्ति, हेतुचक्रसमर्थन आदि ग्रन्थोंकी^१ रचना करके उनमें प्रमाणका विशेषतया अनुमानका विचार किया है।

धर्मकीर्तिने प्रमाणसमुच्चयपर अपना प्रमाणवार्तिक लिखा है, जो उद्योतकरके न्यायवार्तिककी तरह व्याख्येय ग्रन्थसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और यशस्वी हुआ। इन्होंने हेतुबिन्दु, न्यायबिन्दु आदि स्वतन्त्र प्रकरण-ग्रन्थोंकी भी रचना की है^२ और जिनसे बौद्ध तर्कशास्त्र न केवल समृद्ध हुआ, अपितु अनेक उपलब्धियाँ भी उसे प्राप्त हुई हैं। न्यायबिन्दुमें अनुमानका लक्षण और उसके द्विविध भेद तो न्यायप्रवेश प्रतिपादित ही है। पर अनुमानके अवयव धर्मकीर्तिने तीन न मानकर हेतु और दृष्टान्त ये दो^३ अथवा केवल एक हेतु^४ ही माना है। हेतुके तीन भेद (स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि), अविनाभावनियामक तादात्म्य और तदुत्पत्तिस्म्बन्धद्वय, चारह अनुपलब्धियाँ आदि चिन्तन धर्मकीर्तिकी देन हैं। इन्होंने जहाँ दिङ्नागके विचारोंका समर्थन किया है वहाँ उनकी कई मान्यताओंकी आलोचना भी की है। दिङ्नागने विरुद्ध हेत्वाभासके भेदोंमें इष्टविधातकृत नामक तृतीय विरुद्ध हेत्वाभास, अनेकान्तिकभेदोंमें विरुद्धाव्यभिचारी और साधनावयवोंमें दृष्टान्तको स्वीकार किया है। धर्मकीर्तिने न्यायबिन्दुमें इन तीनोंकी समीक्षा की है।^५ इनकी विचार-धाराको उनकी शिष्यपरम्परामें होनेवाले देवेन्द्रबुद्धि, शान्तभद्र, विनीतदेव, अर्चट, धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर आदिने पुष्ट किया और अपनी व्याख्याओं-टीकाओं आदि द्वारा प्रवृद्ध किया है। इस प्रकार बौद्धतर्कशास्त्रके विकासने भी भारतीय अनुमानको अनेक रूपोंमें समृद्ध किया है।

(घ) मीमांसक-दर्शनमें अनुमानका विकास

बौद्धों और नैयायिकोंके न्यायशास्त्रके विकासका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि मीमांसक जैसे दर्शनोंमें, जहाँ प्रमाणकी चर्चा गौण थी, कुमारिलने श्लोकवार्तिक, प्रभाकरने बृहती, शालिकनारायणने बृहतीपर पंचिका और पार्थसारथिने शास्त्रदीपिकान्तर्गत तर्कपाद जैसे ग्रन्थ लिखकर तर्कशास्त्रको मीमांसक दृष्टिसे प्रतिष्ठित किया। श्लोकवार्तिकमें तो कुमारिलने^६ एक स्वतन्त्र अनुमान-परिच्छेदकी रचना करके अनुमानका विशिष्ट चिन्तन किया है और व्याप्य हो क्यों गमक होता है इसका सूक्ष्म विचार करते हुए उन्होंने व्याप्य एवं व्याप्तिके सम और विषम दो रूप बतलाकर अनुमानकी समृद्धि की है।

१. पं० दलमुखभाई मालवाणिया, धर्मोत्तर-प्रदीप, प्रस्ताव० पृष्ठ ४१।

२. धर्मोत्तरप्रदीप, प्रस्तावना, पृष्ठ ४४।

३. अथवा तस्यैव साधनस्य यन्नाङ्गं प्रतिज्ञोपनयनिगमनादि''''।—संपादक राहुल सांकृत्यायन, वादन्या० पृष्ठ ६१।

४. धर्मकीर्ति, न्यायबिन्दु, तृतीय परि०, पृष्ठ ९१।

५. (क) तत्र च तृतीयोऽपीष्टविधातकृद्विरुद्धः।''''स इह कस्मान्नोक्तः। अनयोरेवान्तर्भावात्।

(ख) विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः। अनुमानविषयेऽसम्भवात्।

(ग) त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावत्तैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग्दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्।—न्यायबि० पृष्ठ ७९-८०, ८६, ९१।

६. मी० श्लो०, अनुमा० परि०, श्लोक ४-७ तथा ८-१७१।

(ज) वेदान्त और सांख्यदर्शनमें अनुमान-विकास

वेदान्तमें प्रमाणशास्त्रकी दृष्टिसे वेदान्तपरिभाषा जैसे ग्रन्थ लिखे गये हैं। सांख्य विद्वान् भी पीछे नहीं रहे। ईश्वरकृष्णने अनुमानका प्रामाण्य स्वीकार करते हुए उसे त्रिविध प्रतिपादित किया है। माठर, युक्तिदीपिकाकार; विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति आदिने अपनी व्याख्याओं द्वारा उसे सम्पुष्ट और विस्तृत किया है।

जैनदर्शनमें अनुमान-विकास

जैन वाङ्मयमें अनुमानका क्या रूप रहा है और उसका विकास किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्धमें विचार करेंगे।

(क) षट्खण्डागममें हेतुवादका उल्लेख

जैन श्रुतका आलोडन करनेपर ज्ञात होता है कि षट्खण्डागममें श्रुतके पर्याय-नामोंमें एक 'हेतुवाद'^१ नाम भी परिगणित है, जिसका व्याख्यान आचार्य वीरसेनने हेतुद्वारा तत्सम्बद्ध अन्य वस्तुका ज्ञान करना किया है और जिसपरसे उसे स्पष्टतया अनुमानार्थक माना जा सकता है, क्योंकि अनुमानका भी हेतुसे साध्यका ज्ञान करना अर्थ है। अतएव हेतुवादका व्याख्यान हेतुविद्या, तर्कशास्त्र, युक्तिशास्त्र और अनुमानशास्त्र किया जाता है। स्वामी समन्तभद्रने सम्भवतः ऐसे ही शास्त्रको 'युक्त्यनुशासन'^२ कहा है और जिसे उन्होंने दृष्ट (प्रत्यक्ष) और आगमसे अविरुद्ध अर्थका प्ररूपक बतलाया है।

(ख) स्थानांगसूत्रमें हेतु-निरूपण

स्थानांगसूत्र^३ में 'हेतु' शब्द प्रयुक्त है और उसका प्रयोग प्रामाणसामान्य^४ तथा अनुमानके प्रमुख अंग हेतु (साधन) दोनोंके अर्थमें हुआ है। प्रमाणसामान्यके अर्थमें उसका प्रयोग इस प्रकार है—

१. हेतु चार प्रकारका है—

१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. आगम।

गीतमके न्यायसूत्रमें भी ये चार भेद अभिहित हैं। पर वहाँ इन्हें प्रमाणके भेद कहा है।

हेतुके अर्थमें हेतु शब्द निम्न प्रकार व्यवहृत हुआ है—

२. हेतुके चार भेद हैं—

१. विधि विधि—(साध्य और साधन दोनों सद्भावरूप हों)

२. विधि-निषेध—(साध्य विधिरूप और साधन निषेधरूप)

३. निषेध-विधि—(साध्य निषेधरूप और हेतु विधिरूप)

४. निषेध-निषेध—(साध्य और साधन दोनों निषेधरूप हों)

१. "हेतुवादो णयवादो परवादो भग्गवादो सुदवादो"।

—भूतबली-पुष्पदन्त, षट्खण्डा० ५।५।५१; सोलापुर संस्करण १९६५।

२. दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते।

—समन्तभद्र, युक्त्यनुशा० का० ४८; वीरसेवामन्दिर, दिल्ली।

३. अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नते तं जहा—पञ्चवक्खे अनुमाने उवमे आगमे। अथवा हेऊ चउव्विहे पन्नते तं जहा—अत्थि तं अत्थि सो हेऊ, अत्थि तं णत्थि सो हेऊ, णत्थि तं अत्थि सो हेऊ, णत्थि तं णत्थि सो हेऊ।—स्थानांगसू० पृष्ठ ३०९-३१०।

४. हिनोत्ति परिच्छिन्नत्थर्थमिति हेतुः।

इन्हें हम क्रमशः निम्न नामोंसे व्यवहृत कर सकते हैं—

१. विधिसाधक विधिरूप ^१	अविरुद्धोपलब्धि ^२
२. विधिसाधक निषेधरूप	विरुद्धानुपलब्धि
३. निषेधसाधक विधिरूप	विरुद्धोपलब्धि
४. प्रतिषेधसाधक प्रतिषेधरूप	अविरुद्धानुपलब्धि

इनके उदाहरण निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं—

१. अग्नि है, क्योंकि धूम है ।
२. इस प्राणीमें व्याधिविशेष है, क्योंकि निरामय चेष्टा नहीं है ।
३. यहाँ शीतस्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है ।
४. यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि अग्निका अभाव है ।

(ग) भगवतीसूत्रमें अनुमानका निर्देश

भगवतीसूत्रमें भगवान् महावीर और उनके प्रपन्न शिष्य गौतम (इन्द्रभूति) गणधरके संवादमें प्रमाणके पूर्वोक्त चार भेदोंका उल्लेख आया है, जिनमें अनुमान भी सम्मिलित है ।

(घ) अनुयोगसूत्रमें अनुमान-निरूपण

अनुमानकी कुछ अधिक विस्तृत चर्चा अनुयोगसूत्रमें उपलब्ध होती है । इसमें अनुमानके भेदोंका निर्देश करके उनका सोदाहरण निरूपण किया गया है ।

१. अनुमान-भेद :

इसमें^३ अनुमानके तीन भेद बताये हैं । यथा—

१. पुष्पवं (पूर्ववत्)
२. सेसवं (शेषवत्)
३. विद्वृसाहम्मवं (दृष्टसाधर्म्यवत्)

१. पुष्पवं^४—जो वस्तु पहले देखी गयी थी, कालान्तरमें किञ्चित् परिवर्तन होनेपर भी उसे प्रत्यक्ष-भिज्ञाद्वारा पूर्वलिङ्गदर्शनसे अवगत करना 'पुष्पवं' अनुमान है । जैसे बच्चपनमें देखे गये बच्चेकी युवावस्थामें किञ्चित् परिवर्तनके साथ देखनेपर भी पूर्व चिह्नों द्वारा ज्ञात करना कि 'वही शिशु' है । यह 'पुष्पवं' अनुमान क्षेत्र, वर्ष, लालन, मस्सा और तिल प्रभृति चिह्नोंसे सम्पादित किया जाता है ।

२. सेसवं^५—इसके हेतुभेदसे पाँच भेद हैं—

१. धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५-९९, वीरसेवामन्दिर, दिल्ली ।

२. माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।५७-५८ ।

३. तुलना कीजिए—

१. पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः—धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ९५ ।

२. यथाऽस्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।

३. नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।

४. नास्त्यत्र धूमोऽनपनेः ।—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।८७, ७६, ८२ ।

४. गोयमा णो तिण्ठे समट्टे ।...से कि तं पमाणं ? पमाणे छउव्विहे पणत्ते । तं जहा—पञ्चवखे अणुमाणे ओवम्म जहा अणुयोगदारे तहा णेयव्वं पमाणं ।—भगवती० ५, ३, १९१-९२ ।

५, ६, ७. अणुमाणे तिबिहे पणत्ते । तं जहा—१. पुष्पवं, २. सेसवं, ३. विद्वृसाहम्मवं । से कि पुष्पवं ? पुष्पवं—

१. कार्यानुमान, २. कारणानुमान, ३. गुणानुमान, ४. अवयवानुमान, ५. आश्रयी-अनुमान

१. **कार्यानुमान**—कार्यसे कारणको अवगत करना कार्यानुमान है। जैसे—शब्दसे शंखको, ताडनसे भेरीको, ढाडनेसे वृषभको, केकारवसे मयूरको, हिनहिनाने (ह्लेषित) से अश्वको, गुलगुलायित (चिघाड़ने) से हाथीको और घणाघणायित (घनघनाने) से रथको अनुमित करना।^१

२. **कारणानुमान**—कारणसे कार्यका अनुमान करना कारणानुमान है। जैसे—तन्तुसे पटका, वीरणसे कटका, मृत्पिण्डसे घड़ेका अनुमान करना। तात्पर्य यह कि जिन कारणोंसे कार्योंकी उत्पत्ति होती है, उनके द्वारा उन कार्योंका अवगम प्राप्त करना 'कारण' नामका 'सेसवं' अनुमान है।^२

३. **गुणानुमान**—गुणसे गुणीका अनुमान करना गुणानुमान है। यथा—गन्धसे पुष्पका, रससे लवणका, स्पर्शसे वस्त्रका और निरूपणसे सुवर्णका अनुमान करना।^३

४. **अवयवानुमान**—अवयवसे अवयवीका अनुमान करना अवयवानुमान है। यथा—सींगसे महिषका, शिखासे कुक्कुटका, झुण्डादण्डसे हाथीका, दाढ़से वराहका, पिच्छसे मयूरका, लांगूलसे वानरका, खुरासे अश्वका, नखसे व्याघ्रका, बालाग्रसे चमरीगायका, दो पैरसे मनुष्यका, चार पैरसे गौ आदिका, बहुपादसे कनगोजर (पटार) का, केसरसे सिंहका, ककुभसे वृषभका, चूड़ीसहित बाहुसे महिलाका, बद्धपरिकरतासे योद्धाका, वस्त्रसे महिलाका, धान्यके एक कणसे द्रोण पाकका और एक माथासे कविका अनुमान करना।^४

५. **आश्रयी-अनुमान**—आश्रयीसे आश्रयका अनुमान करना आश्रयी-अनुमान है। यथा—धूमसे अग्नि का, बलाकासे जलका, विशिष्ट मेधोंसे वृष्टिका और शील-समाचारसे कुलपुत्रका अनुमान करना।^५

शेषवत्के इन पाँचों भेदोंमें अविनाभावी एकसे शेष (अवशेष) का अनुमान होनेसे शेषवत् कहा है।

माया पुत्तं जहा नहुं जुवाणं पुणरागयं ।

काई पच्चभिजाणेज्जा पुब्बलिगेण केणई ।।

तं जहा—खैतेण वा, वण्णेण वा, लंछणेण वा, मसेण वा, तिलेण वा । से तं पुब्बवं । से कि तं सेसवं ? सेसवं पंचविहं पणत्तं । तं जहा—१. कज्जेणं, २. कारणेणं, ३. गुणेणं, ४. अवयवेणं, ५. आसएणं ।—मुनि श्री कन्हैयालाल, अनुयोगद्वारसूत्र. मूलसुत्ताणि, पृ० ५३९ ।

१. कज्जेणं—संखं सद्देणं, भेरिं ताडिएणं, वसभं ढक्किएणं, मोरं किकाइएणं, हयं हेसिएणं, गयं गुलगुलाइएणं, रहं घणघणाइएणं, से तं कज्जेणं ।—अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार, पृष्ठ ५३९ ।

२. कारणेणं—तंतवो पडस्स कारणं ण पडो तंतुकारणं, वीरणा कडस्स कारणं ण कडो वीरणाकारणं, मिप्पिडो घडस्स कारणं ण घडो मिप्पिडकारणं, से तं कारणेणं ।—वही, पृष्ठ ५४० ।

३. गुणेणं—सुवणं निकसेणं, पुप्फं गंधेणं, लवणं रसेणं, मडरं आसायएणं, वत्थं फासेणं, से तं गुणेणं ।—वही, पृष्ठ ५४० ।

४. अवयवेणं—महिसं सिगेणं, कुक्कुडं सिहाएणं, हत्थि विसासेणं, वराहं दाटाएणं, मोरं पिच्छेणं, आसं खुरेणं, वग्गं नहेणं, चमरिं बालागेणं, वाणरं लंगुलेणं, दुपयं मणुस्सादि, चउप्ययं गवमादि, बहुपयं गोमि आदि, सीहं केसरेणं, वसहं ककुहेणं, महिलं वलयबाहाए, गाहा-परिअरवंधेण भडं जाणिज्जा, महिलियं वस्सेणं, सित्थेण दोणपागं, कवि च एक्काए माहाए, से तं अवयवेणं ।—वही, पृष्ठ ५४० ।

५. आसएणं—अग्निं धूमेणं, सलिलं बलागेणं, बुट्ठि अम्भविकारेणं, कुलपुत्तं सीलसमायारेणं । से तं आसएणं । से तं सेसवं ।—अनुयोग० उपक्रमाधिकार प्रमाणद्वार, पृष्ठ ५४०-४१

३. दिट्ठसाहम्मव—इस अनुमानके दो भेद हैं^१। यथा—

१. सामन्नदिट्ठ (सामान्य-दृष्ट), २. विसेसदिट्ठ (विशेषदृष्ट)।

१. किसी एक वस्तुको देखकर तत्सजातीय सभी वस्तुओंका साधर्म्य ज्ञात करना या बहुत वस्तुओंको एक-सा देखकर किसी विशेष (एक) में तत्साधर्म्यका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट है। यथा—जैसा एक मनुष्य है, वैसे बहुतसे मनुष्य हैं। जैसे बहुतसे मनुष्य हैं वैसे एक मनुष्य है। जैसा एक करिशावक है वैसे बहुतसे करिशावक हैं। जैसे बहुतसे करिशावक हैं वैसे एक करिशावक है। जैसा एक कार्षापण है वैसे अनेक कार्षापण हैं, जैसे अनेक कार्षापण हैं, वैसे एक कार्षापण है। इस प्रकार सामान्यधर्मदर्शनद्वारा ज्ञातसे अज्ञातका ज्ञान करना सामान्यदृष्ट अनुमानका प्रयोजन है।

२. जो अनेक वस्तुओंमेंसे किसी एकको पृथक् करके उसके वैशिष्ट्यका प्रत्यभिज्ञान कराता है वह विशेषदृष्ट है। यथा—कोई एक पुरुष बहुतसे पुरुषोंके बीचमें पूर्वदृष्ट पुरुषका प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह वही पुरुष है। या बहुतसे कार्षापणोंके मध्यमें पूर्वदृष्ट कार्षापणको देखकर प्रत्यभिज्ञा करना कि यह वही कार्षापण है। इस प्रकारका ज्ञान विशेषदृष्ट दृष्टसाधर्म्यवत् अनुमान है।

२. कालभेदसे अनुमानका त्रैविध्य^२

कालकी दृष्टिसे भी अनुयोगद्वारमें अनुमानके तीन प्रकारोंका प्रतिपादन उपलब्ध है। यथा—१. अतीतकालग्रहण, २. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण और ३. अनागतकालग्रहण।

१. अतीतकालग्रहण—उत्तृणवन, निष्पन्नशस्या पृथ्वी, जलपूर्ण कुण्ड-सर-नदी-दीविका-तडाक आदि देखकर अनुमान करना कि सुवृष्टि हुई है, यह अतीतकालग्रहण है।

२. प्रत्युत्पन्नकालग्रहण—भिक्षाचर्यामें प्रचुर भिक्षा मिलती देख अनुमान करना कि सुभिक्ष है, यह प्रत्युत्पन्नकालग्रहण है।

३. अनागतकालग्रहण—बादलकी निर्मलता, कृष्ण पहाड़, सविद्युत् मेघ, मेघगर्जन, वातोद्भ्रम, रक्त और प्रस्निग्ध सन्ध्या, वारुण या माहेन्द्रसम्बन्धी या और कोई प्रशस्त उत्पात इनको देख कर अनुमान करना कि सुवृष्टि होगी, यह अनागतकालग्रहण अनुमान है।

उक्त लक्षणोंका विपर्यय देखने पर तीनों कालोंके ग्रहणमें विपर्यय भी हो जाता है। अर्थात् सूखी जमीन, शुष्क तालाब आदि देखने पर वृष्टिके अभावका, भिक्षा कम मिलने पर वर्तमान दुर्भिक्षका और प्रसन्न दिशाओं आदिके होने पर अनागत कुवृष्टिका अनुमान होता है, यह भी अनुयोगद्वारमें सोदाहरण अभिहित है। उल्लेखनीय है कि कालभेदसे तीन प्रकारके अनुमानोंका निर्देश चरकसूत्रस्थान (अ० ११२१, २२) में भी मिलता है।

न्यायसूत्र^३, उपायहृदय^४ और सांख्यकारिका^५ में भी पूर्ववत् आदि अनुमानके तीन भेदोंका प्रतिपादन है। उनमें प्रथमके दो वही हैं जो ऊपर अनुयोगद्वारमें निर्दिष्ट हैं। किन्तु तीसरे भेदका नाम अनुयोगकी

१. से कि तं दिट्ठसाहम्मवं । दिट्ठसाहम्मवं दुविहं पणत्तं । जहा—सामन्नदिट्ठं च विसेसदिट्ठं च ।

—वही, पृष्ठ ५४१-४२

२. तस्म समासओ त्तिविहं गहणं भवइ । तं जहा—१. अतीतकालग्रहणं, २. पडुप्पण्णकालग्रहणं, ३. अणागयकालग्रहणं ।—वही, पृष्ठ ५४१-५४२ ।

३. अक्षपाद, न्यायसू० १।१।५ ।

४. उपायहृ० पृ० १३ ।

५. ईश्वरकृष्ण, सां० का० ५, ६ ।

तरह दृष्टसाधर्म्यवत् न होकर सामान्यतोदृष्ट है। अनुयोगद्वारगत पूर्ववत् जैसा उदाहरण उपायहृदय (पृ० १३) में भी आया है।

इन अनुमानभेद-प्रभेदों और उनके उदाहरणोंके विवेचनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि गौतमके न्यायसूत्रमें जिन तीन अनुमानभेदोंका निर्देश है वे उस समयकी अनुमान-चर्चामें वर्तमान थे। अनुयोग-द्वारके अनुमानोंकी व्याख्या अभिधामूलक है। पूर्ववत्का शाब्दिक अर्थ है पूर्वके समान किसी वस्तुको वर्तमानमें देखकर उसका ज्ञान प्राप्त करना। स्मरणीय है कि द्रष्टव्य वस्तु पूर्वोत्तरकालमें मूलतः एक ही है और जिसे देखा गया है उसके सामान्य धर्म पूर्वकालमें भी विद्यमान रहते हैं तथा उत्तरकालमें भी पाये जाते हैं। अतः पूर्वदृष्टके आधारपर उत्तरकालमें देखी वस्तुकी जानकारी प्राप्त करना पूर्ववत् अनुमान है। इस प्रक्रियामें पूर्वांश अज्ञात है और उत्तरांश ज्ञात। अतः ज्ञातसे अज्ञात (अतीत) अंशको जानकारी (प्रत्यभिज्ञा) की जाती है। जैसा कि अनुयोग और उपायहृदयमें दिये गये उदाहरणसे प्रकट है। शेषवत्में कार्य-कारण, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी एवं आश्रय-आश्रयीमेंसे अविनाभावी एक अंशको ज्ञातकर शेष (अवशिष्ट) अंशको जाना जाता है। शेषवत् शब्दका अभिधेयार्थ भी यही है। साधर्म्यको देखकर तत्तुल्यका ज्ञान प्राप्त करना दृष्ट-साधर्म्यवत् अनुमान है। यह भी वाच्यार्थमूलक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण सादृश्यप्रत्यभिज्ञानके तुल्य हैं। पर शब्दार्थके अनुसार यह अनुमान सामान्यदर्शनपर आश्रित है। दूसरे, प्राचीन कालमें प्रत्यभिज्ञानको अनुमान ही माना जाता था। उसे पृथक् माननेकी परम्परा दार्शनिकोंमें बहुत पीछे आयी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुयोगसूत्रमें उक्त अनुमानोंकी विवेचना पारिभाषिक न होकर अभिधामूलक है।

पर न्यायसूत्रके व्याख्याकार वात्स्यायनने उक्त तीनों अनुमान-भेदोंकी व्याख्या वाच्यार्थके आधारपर नहीं की। उन्होंने उनका स्वरूप पारिभाषिक शब्दावलीमें ग्रथित किया है। इससे यदि यह निष्कर्ष निकाला जाय कि पारिभाषिक शब्दोंमें प्रतिपादित स्वरूपकी अपेक्षा अवयवार्थ द्वारा विवेचित स्वरूप अधिक मौलिक एवं प्राचीन होता है तो अयुक्त न होगा, क्योंकि अभिधामें अनन्तर ही लक्षणा या व्यंजना या रूढ शब्दावली द्वारा स्वरूप-निर्धारण किया जाता है। दूसरे, वात्स्यायनकी त्रिविध अनुमान-व्याख्या अनुयोगद्वारसूत्रकी अपेक्षा अधिक पुष्ट एवं विकसित है। अनुयोगद्वारसूत्रमें जिस तथ्यको अनेक उदाहरणों द्वारा उपस्थित किया है उसे वात्स्यायनने संक्षेपमें एक-दो पंक्तियोंमें ही निबद्ध किया है। अतः भाषाविज्ञान और विकास-सिद्धान्तकी दृष्टिसे अनुयोगद्वारका अनुमान-निरूपण वात्स्यायनके अनुमान-व्याख्यानसे प्राचीन प्रतीत होता है।

(ड) अवयव-चर्चा :

अनुमानके अवयवोंके विषयमें आगमोंमें तो कोई कथन उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उनके आधारसे रचित तत्त्वार्थसूत्रमें तत्त्वार्थसूत्रकारने^१ अवश्य अवयवोंका नामोल्लेख किये बिना पक्ष (प्रतिज्ञा), हेतु और दृष्टान्त इन तीनोंके द्वारा मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन सिद्ध किया है, जिससे ज्ञात होता है कि आरम्भमें जैन परम्परामें अनुमानके उक्त तीन अवयव मान्य रहे हैं। समन्तभद्र^२, पूज्यपाद^३ और सिद्धसेनने^४ भी इन्हीं तीन अवयवोंका निर्देश किया है। भद्रबाहुने^५ दशवैकालिकनिर्युक्तिमें अनुमानवाक्यके दो, तीन, पाँच, दश और

१. त० सू० १०।५, ६, ७।

२. आप्तमी० ५, १७, १८ तथा युक्त्यनु० ५३।

३. स० सि० १०।५, ६, ७।

४. न्यायाव० १३, १४, १७, १८, १९।

५. दशवै० नि० गा० ४९-१३७।

दश इस प्रकार पाँच तरहसे अवयवोंकी चर्चा की है। प्रतीत होता है कि अवयवोंकी यह विभिन्न संख्या विभिन्न प्रतिपादनोंकी^१ अपेक्षा बतलायी है।

व्यातव्य है कि वात्स्यायन द्वारा समालोचित तथा युक्तिदीपिकाकार द्वारा विवेचित जिज्ञासादि दशावयव भद्रबाहुके दशावयवोंसे भिन्न हैं।

उल्लेखनीय है कि भद्रबाहुने मात्र उदाहरणसे भी साध्य-सिद्धि होनेकी बात कही है जो किसी प्राचीन परम्पराकी प्रदर्शक है।^२

इस प्रकार जैनागमोंमें हमें अनुमान-मीमांसाके पुष्कल बीज उपलब्ध होते हैं। यह सही है कि उनका प्रतिपादन केवल निःश्रेयसाधिगम और उसमें उपयोगी तत्त्वोंके ज्ञान एवं व्यवस्थाके लिए ही किया गया है। यही कारण है कि उनमें न्यायदर्शनकी तरह वाद, जल्प और वितण्डापूर्वक प्रवृत्त कथाओं, जातियों, निग्रह-स्थानों, छलों तथा हेत्वाभासोंका कोई उल्लेख नहीं है।

(च) अनुमानका मूल-रूप

आगमोत्तर कालमें जब ज्ञानमीमांसा और प्रमाणमीमांसाका विकास आरम्भ हुआ तो उनके विकासके साथ अनुमानका भी विकास होता गया। आगम-वर्णित मति, श्रुत आदि पाँच ज्ञानोंको प्रमाण कहने और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष दो भेदोंमें विभक्त करने वाले सर्वप्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ हैं। उन्होंने^३ शास्त्र और लोकमें व्यवहृत स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन चार ज्ञानोंको भी एक सूत्र द्वारा परोक्ष-प्रमाणके अन्तर्गत समाविष्ट करके प्रमाणशास्त्रके विकासका सूत्रपात किया तथा उन्हें परोक्ष प्रमाणके आद्य प्रकार मतिज्ञानका पर्याय प्रतिपादन किया। इन पर्यायोंमें अभिनिबोधका जिस क्रमसे और जिस स्थानपर निर्देश हुआ है उससे ज्ञात होता है कि सूत्रकारने^४ उसे अनुमानके अर्थमें प्रयुक्त किया है। स्पष्ट है कि पूर्व-पूर्वको प्रमाण और उत्तर-उत्तरको प्रमाण-फल बतलाना उन्हें अभीष्ट है। मति (अनुभव-धारणा) पूर्वक स्मृति, स्मृतिपूर्वक संज्ञा, संज्ञा-पूर्वक चिन्ता और चिन्तापूर्वक अभिनिबोध ज्ञान होता है, ऐसा सूत्रसे ध्वनित है। यह चिन्तापूर्वक होनेवाला अभिनिबोध अनुमानके अतिरिक्त अन्य नहीं है। अतएव जैन परम्परामें अनुमानका मूलरूप 'अभिनिबोध' और 'पूर्वोक्त 'हेतुवाद' में उसी प्रकार समाहित है जिस प्रकार वह वैदिक परम्परामें 'वाक्यवाक्यम्' और 'आन्वीक्षिकी' में निविष्ट है।

उपर्युक्त मीमांसासे दो तथ्य प्रकट होते हैं। एक तो यह कि जैन परम्परामें ईस्वी पूर्व शताब्दियोंसे ही अनुमानके प्रयोग, स्वरूप और भेद-प्रभेदोंकी समीक्षा की जाने लगी थी तथा उसका व्यवहार हेतुजन्य ज्ञानके अर्थमें होने लगा था। दूसरा यह कि अनुमानका क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक था। स्मृति, संज्ञा और चिन्ता, जिन्हें परवर्ती जैन ताकिकोंने परोक्ष प्रमाणके अन्तर्गत स्वतन्त्र प्रमाणोंका रूप प्रदान किया है,

१. प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः।—प्र० परी० पृ० ४९ में उद्धृत कुमारनन्दिका वाक्य।
२. श्रीदलसुखभाई मालवणिया, आगमयुगका जैन दर्शन, प्रमाणखण्ड, पृ० १५७।
३. मतिश्रुतावधिमतःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। तत्प्रमाणे। आद्ये परोक्षम्। प्रत्यक्षमन्यत्।—तत्त्वा० सू० १९, १०, ११, १२।
४. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽअभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।—वही, ११३।
५. गृद्धपिच्छ, त० सू० ११३।

अनुमान (अभिनिबोध) में ही सम्मिलित थे । वादिराजने^१ प्रमाणनिर्णयमें सम्भवतः ऐसी ही परम्पराका निर्देश किया है जो उन्हें अनुमानके अन्तर्गत स्वीकार करती थी । अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव जैसे परोक्ष ज्ञानोंका भी इसीमें समावेश किया गया है ।^२

(छ) अनुमानका तार्किक विकास

अनुमानका तार्किक विकास स्वामी समन्तभद्रसे आरम्भ होता है । आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्रमें उन्होंने अनुमानके अनेकों प्रयोग प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उसके उपादानों—साध्य, साधन, पक्ष, उदाहरण, अविनाभाव आदिका निर्देश है । सिद्धसेनका न्यायावतार न्याय (अनुमान) का अवतार ही है । इसमें अनुमानका स्वरूप, उसके स्वार्थ-परार्थ द्विविध भेद, उनके लक्षण, पक्षका स्वरूप, पक्षप्रयोगपर बल, हेतुके तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति द्विविध प्रयोगोंका निर्देश, साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्तद्वय, अन्तर्व्याप्तिके द्वारा ही साध्यसिद्धि होनेपर भार, हेतुका अन्यथानुपपन्नत्वलक्षण, हेत्वाभास और दृष्टान्ताभास जैसे अनुमानोपकरणोंका प्रतिपादन किया गया है । अकलंकके न्याय-विवेचनने तो उन्हें 'अकलंक न्याय' का संस्थापक एवं प्रवर्तक ही बना दिया है । उनके विशाल न्याय-प्रकरणोंमें न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, लघोयस्त्रय और सिद्धिविनिश्चय जैन प्रमाणशास्त्रके मूर्धन्य ग्रन्थोंमें परिगणित हैं । हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्त-जयपताका आदि ग्रन्थोंमें अनुमान-चर्चा निहित है । विद्यानन्दने अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा जैसे दर्शन एवं न्याय-प्रबन्धोंको रचकर जैन न्यायवाङ्मयकी समृद्ध किया है । माणिक्य-नन्दिका परीक्षामुख, प्रभाचन्द्रका प्रमेयकमलमार्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्र-युगल, अभयदेवकी सम्मतितर्कटीका, देवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, वादिराजका न्यायविनिश्चय-विवरण, लघु अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्रकी प्रमाण-मीमांसा, धर्मभूषणकी न्यायदोषिका और यशोविजयकी जैन तर्कभाषा जैन अनुमानके विवेचक प्रमाणग्रन्थ हैं ।

अनुमानका स्वरूप

व्याकरणके अनुसार 'अनुमान' शब्दकी निष्पत्ति अनु + मा + ल्युट्से होती है । अनुका अर्थ है पश्चात् और मानका अर्थ है ज्ञान । अतः अनुमानका शाब्दिक अर्थ है पश्चाद्वर्ती ज्ञान । अर्थात् एक ज्ञानके बाद होनेवाला उत्तरवर्ती ज्ञान अनुमान है । यहाँ 'एक ज्ञान' से क्या तात्पर्य है ? मनीषियोंका अभिमत है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही एक ज्ञान है जिसके अनन्तर अनुमानकी उत्पत्ति या प्रवृत्ति पायी जाती है । गौतमने इसी कारण अनुमानको 'तत्पूर्वकम्^३—प्रत्यक्षपूर्वकम्' कहा है । वात्स्यायनका^४ भी अभिमत है कि प्रत्यक्षके बिना कोई अनुमान सम्भव नहीं । अतः अनुमानके स्वरूप-लाभमें प्रत्यक्षका सहकार पूर्वकारणके रूपमें अपेक्षित होता है । अतएव तर्कशास्त्री ज्ञात—प्रत्यक्षप्रतिपन्न अर्थसे अज्ञात—परोक्ष वस्तुकी जानकारी अनुमान द्वारा करते हैं ।^५

१. अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यविकल्पात् । तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति ।—।

—वादिराज, प्र० नि०, पृष्ठ ३३; माणिक्यचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई ।

२. अकलंकदेव, तं वा० १।२०, पृष्ठ ७८; भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ।

३. अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् ।—न्यायसू० १।१।५ ।

४. अथवा पूर्ववदिति—यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्वयतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानम् । यथा धूमे-
नान्निरिति ।—न्यायभा० १।१।५, पृष्ठ २२ ।

५. यथा धूमेन प्रत्यक्षोणाप्रत्यक्षस्य वल्लेर्ग्रहणमनुमानम् ।—वही, २।१।४७, पृष्ठ १२० ।

कभी-कभी अनुमानका आधार प्रत्यक्ष न रहने पर आगम भी होता है। उदाहरणार्थ शास्त्रों द्वारा, आत्माकी सत्ताका ज्ञान होनेपर हम यह अनुमान करते हैं कि 'आत्मा शाश्वत है, क्योंकि वह सत् है।' इसी कारण वात्स्यायनने^१ 'प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानम्' अनुमानको प्रत्यक्ष या आगमपर आश्रित कहा है। अनुमानका पर्यायशब्द अन्वीक्षा^२ भी है, जिसका शाब्दिक अर्थ एक वस्तुज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् दूसरी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना है। यथा—धूमका ज्ञान प्राप्त करनेके बाद अग्निका ज्ञान करना।

उपर्युक्त उदाहरणमें धूमद्वारा वह्निका ज्ञान इसी कारण होता है कि धूम वह्निका साधन है। धूमको अग्निका साधन-हेतु^३ माननेका भी कारण यह है कि धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध—अविनाभाव है। जहाँ धूम रहता है वहाँ अग्नि अवश्य रहती है। इसका कोई अपवाद नहीं पाया जाता। तात्पर्य यह है कि एक अविनाभावी वस्तुके ज्ञान द्वारा तत्सम्बद्ध इतर वस्तुका निश्चय करना अनुमान है।^४ अनुमानके अंग

अनुमानके उपर्युक्त स्वरूपका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि धूमसे अग्निका ज्ञान करनेके लिए दो तत्त्व आवश्यक हैं—१. पर्वतमें धूमका रहना और २. धूमका अग्निके साथ नियत साहचर्य सम्बन्ध होना। प्रथमको पक्षधर्मता और द्वितीयको व्याप्ति कहा गया है। यही दो अनुमानके आधार अथवा अंग हैं।^५ जिस वस्तुसे जहाँ सिद्धि करना है उसका वहाँ अनिवार्य रूपसे पाया जाना पक्षधर्मता है। जैसे धूमसे पर्वतमें अग्निकी सिद्धि करना है तो धूमका पर्वतमें अनिवार्य रूपसे पाया जाना आवश्यक है। अर्थात् व्याप्यका पक्षमें रहना पक्षधर्मता है।^६ तथा साधनरूप वस्तुका साध्यरूप वस्तुके साथ ही सर्वदा पाया जाना व्याप्ति है। जैसे धूम अग्निके होनेपर ही पाया जाता है—उसके अभावमें नहीं, अतः धूमकी वह्निके साथ व्याप्ति है। पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनों अनुमानके आधार हैं। पक्षधर्मताका ज्ञान हुए बिना अनुमानका उद्भव सम्भव नहीं है। उदाहरणार्थ—पर्वतमें धूमकी वृत्तिका ज्ञान न होने पर वहाँ उससे अग्निका अनुमान नहीं किया जा सकता। अतः पक्षधर्मताका ज्ञान आवश्यक है। इसी प्रकार व्याप्तिका ज्ञान भी अनुमानके लिए परमावश्यक है। यतः पर्वतमें धूमदर्शनके अनन्तर भी तब तक अनुमानकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक धूमका अग्निके साथ अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित न हो जाए। इस अनिवार्य सम्बन्धका नाम ही नियत साहचर्य सम्बन्ध या व्याप्ति है।^७ इसके अभावमें अनुमानकी उत्पत्तिमें धूमज्ञानका कुछ भी महत्त्व नहीं है। किन्तु व्याप्तिज्ञानके होनेपर अनुमानके लिए उक्त धूमज्ञान महत्त्वपूर्ण बन जाता है और वह अग्नि-

१. वही, १।१।१। पृष्ठ ७।

२. वही, १।१।१, पृष्ठ ७।

३. साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः।—माणिक्यनन्दि, परीक्षामु० ३।१५।

४. व्याप्यस्य ज्ञानेन व्यापकस्य निश्चयः, यथा वह्निर्धूमस्य व्यापक इति धूमस्तस्य व्याप्त इत्येवं तयोर्भूयः सहचारं पाकस्थानादौ दृष्ट्वा पश्चात्पर्वतादौ उद्भूयमानशिखस्य धूमस्य दर्शने तत्र वह्निरस्तीति निश्चीयते।—वाचस्पत्यम्, अनुमानशब्द, प्रथम जिल्द पृष्ठ १८१, चौखम्बा, वाराणसी, सन् १९६२ ई०।

५. अनुमानस्य द्वे अंगे व्याप्तिः पक्षधर्मता च।—केशवमिश्र, तर्कभाषा, अनु० निरु०, पृष्ठ ८८, ८९।

६. व्याप्यस्य पर्वतादिवृत्तित्वं पक्षधर्मता।—अन्नभट्ट, तर्कसं० अनु० नि०, पृष्ठ ५७।

७. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः।—तर्कसं०, पृष्ठ ५४। तथा केशवमिश्र, तर्कभा० पृष्ठ ७२।

ज्ञानको उत्पन्न कर देता है। अतः अनुमानके लिए पक्षधर्मता और व्याप्ति इन दोनोंके संयुक्त ज्ञानकी आवश्यकता है। स्मरण रहे कि जैन तार्किकोंने व्याप्तिज्ञानको ही अनुमानके लिए आवश्यक माना है, पक्षधर्मताके ज्ञानको नहीं; क्योंकि अपक्षधर्म कृत्तिकोदय आदि हेतुओंसे भी अनुमान होता है।

(क) पक्षधर्मता :

जिस पक्षधर्मताका अनुमानके आवश्यक अंगके रूपमें ऊपर निर्देश किया गया है उसरा व्यवहार न्यायशास्त्रमें सबसे आरम्भ हुआ, इसका यहां ऐतिहासिक विमर्श किया जाता है।

कणादके वैशेषिकसूत्र और अक्षपादके न्यायसूत्रमें न पक्ष शब्द मिलता है और न पक्षधर्मता शब्द। न्यायसूत्रमें^२ साध्य और प्रतिज्ञा शब्दोंका प्रयोग पाया जाता है, जिनका न्यायभाष्यकारने^३ प्रज्ञापनीय धर्मसे विशिष्ट धर्मि अर्थ प्रस्तुत किया है और जिसे पक्षका प्रतिनिधि कहा जा सकता है, पर पक्षशब्द प्रयुक्त नहीं है। प्रशस्तपादभाष्यमें^४ यद्यपि न्यायभाष्यकारकी तरह धर्मि और न्यायसूत्रकी तरह प्रतिज्ञा दोनों शब्द एकत्र उपलब्ध हैं। तथा लिंगको त्रिरूप बतलाकर उन तीनों रूपोंका प्रतिपादन काश्यपके नामसे दो कारिकाएँ उद्धृत करके किया है।^५ किन्तु उन तीन रूपोंमें भी पक्ष और धर्मपक्षता शब्दोंका प्रयोग नहीं है।^६ हाँ, 'अनुमेय सम्बद्धलिंग' शब्द अवश्य पक्षधर्मका बोधक है। पर 'पक्षधर्म' शब्द स्वयं उपलब्ध नहीं है।

पक्ष और पक्षधर्मता शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग, सर्वप्रथम सम्भवतः बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्याय-प्रवेशमें^७ हुआ है। इसमें पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, पक्षवचन, पक्षधर्म, पक्षधर्मवचन और पक्षधर्मत्व ये सभी शब्द प्रयुक्त हुए हैं। साथमें उनका स्वरूप-विवेचन भी किया है। जो धर्मिके रूपमें प्रसिद्ध है वह पक्ष है। 'शब्द अनित्य है' ऐसा प्रयोग पक्षवचन है। 'क्योंकि वह कृतक है' ऐसा वचन पक्षधर्म (हेतु) वचन है। 'जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, यथा घटादि' इस प्रकारका वचन सपक्षानुगम (सपक्षसत्त्व) वचन है। 'जो नित्य होता है वह अकृतक देखा गया है, यथा आकाश' यह व्यतिरेक (विपक्षसत्त्व) वचन है। इस प्रकार हेतुको त्रिरूप प्रतिपादन करके उसके तीनों रूपोंका भी स्पष्टीकरण किया है। वे तीन रूप हैं—१ पक्षधर्मत्व,

१. पक्षधर्मत्वहीनोऽपि गमकः कृत्तिकोदयः ।

अन्तर्व्याप्तिरतः सैव गमकत्वप्रसाधनी ॥ —बादीभसिंह, स्या० सि० ४।८३-८४ ।

२. साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा । —अक्षपाद, न्यायसू० १।१।३३ ।

३. प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः अनित्यः शब्द इति ।—वात्स्यायन, न्यायभा० १।१।३३ तथा १।१।३४ ।

४. अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा । प्रतिषिपादयिषितधर्मविशिष्टस्य धर्मिणोऽपदेश-विषयमापादयितुमुद्देशमात्रं प्रतिज्ञा ।...।—प्रशस्तपाद, वैशि० भाष्य पृष्ठ ११४ ।

५. यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।

तदभावे च नास्त्येव तल्लिगमनुमापकम् ॥ —बही, पृष्ठ १०० ।

६. प्रश० भा०, पृ० १०० ।

७. पक्षः प्रसिद्धो धर्मि...। हेतुस्त्रिरूपः । किं पुनस्त्रैरूप्यम् ? पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं विपक्षे चासत्त्वमिति ।...तद्यथा । अनित्यः शब्द इति पक्षवचनम् । कृतकत्वादिति पक्षधर्मवचनम् । यत्कृतकं तदनित्यं दृष्टं तथा घटादिरिति सपक्षानुगमवचनम् । यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टं तथाऽऽकाशमिति व्यतिरेकवचनम् । —शंकरस्वामी, न्यायप्र० पृष्ठ १-२ ।

२ सपक्षसत्त्व, और ३ विपक्षासत्त्व । ध्यान रहे, यहाँ 'पक्षधर्मत्व' पक्षधर्मताके लिए ही आया है । प्रशस्तपादने जिस तथ्यको 'अनुमेयसम्बद्धत्व' शब्दसे प्रकट किया है उसे न्यायप्रवेशकारने 'पक्षधर्मत्व' शब्द द्वारा बतलाया है । तात्पर्य यह कि प्रशस्तपादके मतसे हेतुके तीन रूपोंमें परिगणित प्रथम रूप 'अनुमेय-सम्बद्धत्व' है और न्यायप्रवेशके अनुसार 'पक्षधर्मत्व' । दोनोंमें केवल शब्दभेद है, अर्थभेद नहीं । उत्तरकालमें तो प्रायः सभी भारतीय तार्किकोंके द्वारा तीन रूपों अथवा पाँच रूपोंके अन्तर्गत पक्षधर्मत्वका बोधक पक्षधर्मत्व या पक्षधर्मता पर ही अभिप्रेत हुआ है । उद्योतकर^१, वाचस्पति^२, उदयन^३ गंगेश^४, केशव^५ प्रभृति वैदिक नैयायिकों तथा धर्मकीर्ति^६, धर्मोत्तर^७, अर्चट^८ आदि बौद्ध तार्किकोंने अपने ग्रन्थोंमें उसका प्रतिपादन किया है । पर जैन नैयायिकोंने^९ पक्षधर्मतापर उतना बल नहीं दिया, जितना व्याप्तिपर दिया है । सिद्धसेन^{१०}, अकलंक^{११}, विद्यानन्द^{१२}, वादीभसिंह^{१३} आदिने तो उसे अनावश्यक एवं व्यर्थ भी बतलाया है । उनका मन्तव्य^{१४} है कि 'कल सूर्यका उदय होगा, क्योंकि वह आज उदय हो रहा है, 'कल शनिवार होगा, क्योंकि आज शुकवार है', 'ऊपर देशमें वृष्टि हुई है, क्योंकि अधोदेशमें प्रवाह वृष्टिगोचर हो रहा है', 'अद्वैतवादीको भी प्रमाण इष्ट है, क्योंकि इष्टका साधन और अनिष्टका दूषण अन्यथा नहीं हो सकता' जैसे प्रचुर हेतु पक्षधर्मताके अभावमें भी मात्र अन्तर्व्याप्तिके बलपर साध्यके अनुमापक हैं ।

(ख) व्याप्ति :

अनुमानका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और अतिवार्य अंग व्याप्ति है । इसके होनेपर ही साधन साध्यका गमक होता है, उसके अभावमें नहीं । अतएव इसका दूसरा नाम 'अविनाभाव' भी है । देखना है कि इन दोनों शब्दोंका प्रयोग कबसे आरम्भ हुआ है ।

अक्षपादके^{१५} न्यायसूत्र और वात्स्यायनके^{१६} न्यायभाष्यमें न व्याप्ति शब्द उपलब्ध होता है और न अविनाभाव । न्यायभाष्यमें^{१७} मात्र इतना मिलता है कि लिंग और लिंगीमें सम्बन्ध होता है अथवा वे सम्बद्ध

१. उद्योतकर, न्यायवा० १।१।३५, पृष्ठ १२९, १३१ ।
२. वाचस्पति, न्यायवा० ता० टी० १।१।१५, पृष्ठ १७१ ।
३. उदयन, किरणा०, पृष्ठ २९०, २९४ ।
४. त० चि० जागदी० टी० पृ० १३, ७१ ।
५. केशव मिश्र, तर्कभा०, अनु० निरू०, पृष्ठ ८८, ८९ ।
- ६-७. धर्मकीर्ति, न्यायवि०, द्वि० परि० पृष्ठ २२ ।
८. अर्चट, हेतुवि० टी०, पृष्ठ २४ ।
९. न्यायवि० १।१७६ ।
१०. सिद्धसेन, न्यायाव० का० २० ।
११. न्यायवि० २।२२१ ।
१२. प्रमाणपरी० पृष्ठ ४९ ।
१३. वादीभसिंह, स्या० सि० ४।८७ ।
१४. अकलंक, लघीय० १।३।१४ ।
१५. न्यायसू० १।१।५, ३४, ३५ ।
१६. न्यायभा० १।१।५, ३४, ३५ ।
१७. लिंगलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिंगदर्शनं चाभिसम्बन्ध्यते । लिंगलिङ्गिनोः सम्बन्धयोर्दर्शनेन लिंगस्मृतिरभिसम्बन्ध्यते । --न्यायभा० १।१।५ ।

होते हैं। पर वह सम्बन्ध व्याप्ति अथवा अविनाभाव है, इसका वहाँ कोई निर्देश नहीं है। गौतमके हेतु-लक्षणप्रदर्शक सूत्रोंसे^१ भी केवल यही ज्ञात होता है कि हेतु वह है जो उदाहरणके साधर्म्य अथवा वैधर्म्यसे साध्यका साधन करे। तात्पर्य यह कि हेतुको पक्षमें रहनेके अतिरिक्त सपक्षमें विद्यमान और विपक्षसे व्यावृत्त होना चाहिए, इतना ही अर्थ हेतुलक्षणसूत्रसे ध्वनित होता है, हेतुको व्याप्त (व्याप्तिविशिष्ट या अविनाभावी) भी होना चाहिए, इसका उनसे कोई संकेत नहीं मिलता। उद्योतकरके^२ न्यायवातिकमें अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्द प्राप्त हैं। पर उद्योतकरने उन्हें परमतके रूपमें प्रस्तुत किया है तथा उनकी आलोचना भी की है। इससे प्रतीत होता है कि न्यायवातिककारको भी न्यायसूत्रकार और न्यायभाष्यकारकी तरह अविनाभाव और व्याप्ति दोनों अमान्य हैं। उल्लेख्य है कि उद्योतकर अविनाभाव और व्याप्तिकी आलोचना (न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५४, ५५) कर तो गये। पर स्वकीय सिद्धान्तकी व्यवस्थामें उनका उपयोग उन्होंने असन्दिग्ध रूपमें किया है^३। उनके परवर्ती वाचस्पति मिश्रने^४ अविनाभावको हेतुके पाँच रूपोंमें समाप्त कहकर उसके द्वारा ही समस्त हेतुरूपोंका संग्रह किया है। किन्तु उन्होंने भी अपने कथनको परम्परा-विरोधी समझकर अविनाभावका परित्याग कर दिया है और उद्योतकरके अभिप्रायानुसार पक्षधर्मत्वादि पाँच हेतुरूपोंको ही महत्त्व दिया है, अविनाभावको नहीं। जयन्त भट्टने^५ अविनाभावको स्वीकार करते हुए भी उसे पक्षधर्मत्वादि पाँच रूपोंमें समाप्त बतलाया है।

इस प्रकार वाचस्पति और जयन्त भट्टके द्वारा स्पष्टतया अविनाभाव और व्याप्तिका प्रवेश न्याय-परम्परामें हो गया तो उत्तरवर्ती न्यायग्रन्थकारोंने उन्हें अपना लिया और उनकी व्याख्याएँ आरम्भ कर दीं। यही कारण है कि बौद्ध तार्किकों द्वारा मुख्यतया प्रयुक्त अनन्तरीयक (या नान्तरीयक) तथा प्रतिबन्ध और जैन तर्कग्रन्थकारों द्वारा प्रधानतया प्रयोगमें आने वाले अविनाभाव एवं व्याप्ति जैसे शब्द उद्योतकरके

१. उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः। तथा वैधर्म्यात् । --न्यायसू० १।१।३४, ३५।
२. (क) अविनाभावेन प्रतिपादयतीति चेत्। अथापीदं स्यात् अविनाभावोऽग्निधूमयोरतो धूमदर्शनादग्निं प्रतिपद्यत इति। तन्न। विकल्पानुपपत्तेः। अग्निधूमयोरविनाभाव इति कोऽर्थः? किं कार्यकारणभावः उतैकार्थसमवायः तत्सम्बन्धमात्रं वा।....।—उद्योतकर, न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५०, चौखम्भा, काशी, १९१६ ई०।
(ख) अथोत्तरमवधारणमवगम्यते तस्य व्याप्तिरर्थः तथाप्यनुमेयमवधारितं व्याप्त्या न धर्मो, यत एव करणं ततोऽज्यत्रावधारणमिति। सम्भवव्याप्त्या चानुमेयं नियतं....।—वही, १।१।५, पृष्ठ ५५, ५६।
३. (क) सामान्यतोदृष्टं नाम अकार्यकारणीभूतेन यत्राविनाभाविना विशेषणेन विशेष्यमाणो धर्मो गम्यते तत् सामान्यतोदृष्टं यथा बलाकया सलिलानुमानम्।—न्यायवा० १।१।५, पृ० ४७।
(ख) प्रसिद्धमिति पक्षे व्यापकं, सदिति सजातीयोऽस्ति, असन्दिग्धमिति सजातीयाविनाभावि।—वही, १।१।५, पृष्ठ ४९।
४. यद्यप्यविनाभावः पंचसु चतुर्षु वा रूपेषु लिगस्य समाप्यते इत्यविनाभावेनैव सर्वाणि लिगरूपाणि संगृह्यन्ते, तथापीह प्रसिद्धसच्छब्दाभ्यां द्वयोः संग्रहे गोवलीवर्दान्यायेन तत्परित्यज्य विपक्षव्यतिरेकासत्प्रतिपक्षत्वाबाधितविषयत्वानि संगृह्यन्ति।—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १७८, चौखम्भा. १९२५ ई०।
५. एतेषु पंचलक्षणेषु अविनाभावः समाप्यते। --न्यायकलिका पृष्ठ २।

बाद न्यायदर्शनमें समाविष्ट हो गये एवं उन्हें एक-दूसरेका पर्याय माना जाने लगा । जयन्त भट्टने^१ अविनाभावका स्पष्टीकरण करनेके लिए व्याप्ति, नियम, प्रतिबन्ध और साध्याविनाभावित्वको उसीका पर्याय बतलाया है । वाचस्पति मिश्र^२ कहते हैं कि हेतुका कोई भी सम्बन्ध हो उसे स्वाभाविक एवं नियत होना चाहिये और स्वाभाविकका अर्थ वे उपाधिरहित बतलाते हैं । इस प्रकारका हेतु ही गमक होता है और दूसरा सम्बन्धी (साध्य) गम्य । तात्पर्य यह कि उनका अविनाभाव या व्याप्तिशब्दोंपर जोर नहीं है । पर उदयन^३, केशव मिश्र^४, अन्तम्भट्ट^५, विश्वनाथ पंचानन^६ प्रभृति नैयायिकोंने व्याप्ति शब्दको अपनाकर उसीका विशेष व्याख्यान किया है तथा पक्षधर्मताके साथ उसे अनुमानका प्रमुख अंग बतलाया है । गंगेश और उनके अनुवर्ती वद्वर्मान उपाध्याय, पक्षधरमिश्र, वासुदेव मिश्र, रघुनाथ शिरोमणि, मधुरानाथ तर्कवागीश, जगदीश तर्कालंकार, गदाधर भट्टाचार्य आदि नव्य नैयायिकोंने^७ व्याप्तिपर सर्वाधिक चिन्तन और निबन्धन किया है । गङ्गेशने तत्त्वचिन्तामणिमें अनुमानलक्षण^८ प्रस्तुत करके उसके व्याप्ति^९ और पक्षधर्मता^{१०} दोनों अंगोंका नव्यपद्धतिसे विवेचन किया है ।

प्रशस्तपाद-भाष्यमें^{११} भी अविनाभावका प्रयोग उपलब्ध होता है । उन्होंने अविनाभूत लिंगको लिपिका गमक बतलाया है । पर वह उन्हें विलक्षणरूप ही अभिप्रेत है ।^{१२} यही कारण है कि टिप्पणकारने^{१३} अविनाभावका अर्थ 'व्याप्ति' एवं 'अव्यभिचरित सम्बन्ध' दे करके भी शंकरमिश्र द्वारा किये गये अविनाभावके खण्डनसे सहमति प्रकट की है और 'वस्तुतस्त्वनीपाधिकसम्बन्ध एव व्याप्तिः'^{१४} इस उदयनोक्त^{१५} व्याप्तिलक्षणको ही मान्य किया है । इससे प्रतीत होता है कि अविनाभावकी मान्यता वैशेषिकदर्शनकी भी स्वोपज्ञ एवं मौलिक नहीं है ।

१. अविनाभावो व्याप्तिनियमः प्रतिबन्धः साध्याविनाभावित्वमित्यर्थः ।—न्यायकलि० पृ० २ ।
२. तस्माद्यो वा स वाऽस्तु, सम्बन्धः, केवलं यस्यासी स्वाभाविको नियतः स एव गमको गम्यश्चेतरः सम्बन्धीति युज्यते । तथा हि धूमादीनां बह्व्यादिसम्बन्धः स्वाभाविकः न तु बह्व्यादीनां धूमादिभिः । तस्मादुपाधि प्रयत्नेनान्विष्यन्तोऽनुपलभमाना नास्तौत्यवगम्य स्वाभाविकत्वं सम्बन्धस्य निश्चिनुमः ।
—न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृ० १६५ ।
३. किरणा० पृ० २९०, २९४, २९५-३०२ ।
४. तर्कभा० पृ० ७२, ७८, ८२, ८३, ८८ ।
५. तर्कसं० पृ० ५२-५७ ।
६. सि० मु० का० ६८, पृ० ५१-५५ ।
७. इनके ग्रन्थोद्धरण विस्तारभयसे यहाँ अप्रस्तुत हैं ।
८. त० वि० अनु० खण्ड, पृ० १३ ।
९. वही, पृ० ७७-८२, ८६-८९, १७१-२०८, २०९-४३२ ।
१०. वही, अनु० ख० पृ० ६२३-६३१ ।
- ११-१२. प्र० भा०, पृ० १०३ तथा १०० ।
१३. वही, दुण्डिराज शास्त्री, टिप्प० पृ० १०३ ।
१४. प्र० भा० टिप्प० पृ० १०३ ।
१५. किरणा० पृ० २९७ ।

कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिकमें^१ व्याप्ति और अविनाभाव दोनों शब्द मिलते हैं। पर उनके पूर्व न जैमिनिसूत्रमें वे हैं और न शाबर-भाष्यमें।

बौद्ध तार्किक शंकरस्वामीके न्यायप्रवेशमें^२ भी अविनाभाव और व्याप्ति शब्द नहीं हैं। पर उनके अर्थका बोधक नान्तरीयक (अनन्तरीयक) शब्द पाया जाता है। धर्मकीर्ति^३, धर्मोत्तर^४, अर्चट^५ आदि बौद्ध नैयायिकोंने अवश्य प्रतिबन्ध और नान्तरीयक शब्दोंके साथ इन दोनोंका भी प्रयोग किया है। इनके पश्चात् तो उक्त शब्द बौद्ध तर्कग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध हैं।

तब प्रश्न है कि अविनाभाव और व्याप्तिका मूल स्थान क्या है? अनुसन्धान करनेपर ज्ञात होता है कि प्रशस्तपाद और कुमारिलसे पूर्व जैन तार्किक समन्तभद्रने^६, जिनका समय^७ विक्रमकी २२०, ३२१ शती माना जाता है, अस्तित्वको नास्तित्वका और नास्तित्वको अस्तित्वका अविनाभावी बतलाते हुए अविनाभावका व्यवहार किया है। एरू-दूसरे स्थलपर^८ भी उन्होंने उसे स्पष्ट स्वीकार किया है। और इस प्रकार अविनाभावका निर्देश मान्यताके रूपमें सर्वप्रथम समन्तभद्रने किया जान पड़ता है। प्रशस्तपादकी तरह उन्होंने उसे त्रिलक्षणरूप स्वीकार नहीं किया। उनके पश्चात् तो वह जैन परम्परामें हेतुलक्षणरूपमें ही प्रतिष्ठित हो गया। पूज्यपादने^९, जिनका अस्तित्व-समय ईसाकी पाँचवीं शताब्दी है, अविनाभाव और व्याप्ति दोनों शब्दोंका प्रयोग किया है। सिद्धसेन^{१०}, पात्रस्वामी^{११}, कुमारनन्दि^{१२}, अकलंक^{१३}, माणिक्यनन्दि^{१४} आदि जैन तर्कग्रंथकारोंने अविनाभाव, व्याप्ति और अन्यथानुपपत्ति या अन्यथानुपपन्नत्व तीनोंका व्यवहार पर्याय-शब्दोंके रूपमें किया है। जो (साधन) जिस (साध्य)के बिना उपपन्न न हो उसे अन्यथानुपपन्न कहा गया है।^{१५} असम्भव नहीं कि शाबरभाष्यगत^{१६} अर्थापत्त्युत्थापक अन्यथानुपपद्यमान और प्रभाकरकी बृहतीमें^{१७} उसके लिए प्रयुक्त अन्यथानुपपत्ति शब्द अर्थापत्ति और अनुमानको अभिन्न मानने वाले जैन तार्किकोंसे अप-

१. मी० श्लोक अनु० खं० श्लो० ४, १२, ४३ तथा १६१।

२. न्या० प्र० पृ० ४, ५।

३. प्रमाणवा० १:३, १:३२ तथा न्यायवि० पृ० ३०, ९३। हेतुवि० पृ० ५४।

४. न्यायवि० टी० पृ० ३०।

५. हेतुवि० टी० पृ० ७, ८, १०, ११ आदि।

६. श्री जुगलकिशोर मुख्तार, स्वामी समन्तभद्र पृ० १६६।

७. अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि। नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि।

—आप्तमी० का० १७, १८।

८. धर्मधर्म्यविनाभावः सिद्धयत्यन्योन्यवीक्षया।—वही, का० ७५।

९. स० सि० ५।१८, १०।४।

१०. न्यायाव० १३, १८, २०, २२।

११. तत्त्वसं० पृ० ४०६ पर उद्धृत 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि कारि०।

१२. प्र० पृ० ४९ में उद्धृत 'अन्यथानुपपत्त्येकधर्मिणि' आदि कारि०।

१३. न्या० वि० २।१८७, ३२३, ३२७, ३२९।

१४. परी० मु० ३।११, १५, १६, १४, १५, १६।

१५. साधनं प्रकृताभावेऽनुपपन्नं—।—न्यायवि० २।६९, तथा प्रमाणसं० २१।

१६. अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना।—शाबरभा० १।१।५, बृहती पृ० ११०।

१७. केयमन्यथानुपपत्तिर्नाम ?—न हि अन्यथानुपपत्तिः प्रत्यक्षसमधिगम्या।—बृहती पृ० ११०, १११।

नाये गये हों, क्योंकि ये शब्द जैन न्यायग्रंथोंमें अधिक प्रचलित एवं प्रयुक्त मिलते हैं और शान्तरक्षित^१ आदि प्राचीन तार्किकोंने उन्हें पाश्चात्तमीका मत कह कर उद्धृत तथा समालोचित किया है। अतः उनका उद्भव जैन तर्कग्रन्थोंसे बहुत कुछ सम्भव है।

प्रस्तुत अनुशीलनसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनोंमें आरम्भ में पञ्चधर्मता (सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति सहित) को तथा मध्यकाल और नव्ययुगमें पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंको अनुमानका आधार माना गया है। पर जैन तार्किकोंने आरम्भसे अन्त तक पञ्चधर्मता (अन्य दोनों रूपों सहित) को अनावश्यक तथा एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव, अन्यथानुपपन्नत्व) को अनुमानका अपरिहार्य अंग बतलाया है।

अनुमान-भेद

प्रश्न है कि यह अनुमान कितने प्रकारका माना गया है? अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि सर्व प्रथम कणादने^२ अनुमानके प्रकारोंका निर्देश किया है। उन्होंने उसको कष्टतः संख्याका तो उल्लेख नहीं किया, किन्तु उसके प्रकारोंको गिनाया है। उनके परिगणित प्रकार निम्न हैं—(१) कार्य, (२) कारण, (३) संयोगी, (४) विरोधि और (५) समवायि। यतः हेतुके पाँच भेद हैं, अतः उनसे उत्पन्न अनुमान भी पाँच हैं।

न्यायसूत्र^३, उपायहृदय^४, चरक^५ 'सांख्यकारिका^६ और अनुयोगद्वारसूत्रमें^७ अनुमानके पूर्वोल्लिखित पूर्ववत् आदि तीन भेद बताये हैं। विशेष यह कि चरकमें त्रिविधसंख्याका उल्लेख है, उनके नाम नहीं दिये। सांख्यकारिकामें भी त्रिविधत्वका निर्देश है और केवल तीसरे सामान्यतोदृष्टका नाम है।^८ किन्तु माठर^९ तथा युक्तिदीपिकाकार^{१०} ने तीनोंके नाम दिये हैं और वे उपर्युक्त ही हैं। अनुयोगद्वारमें प्रथम दो भेद तो वही हैं, पर तीसरेका नाम सामान्यतोदृष्ट न होकर दृष्टसाधर्म्यवत् नाम है।

इस विवेचनसे ज्ञात होता है कि तार्किकोंने उस प्राचीन कालमें कणादकी पंचविध अनुमान-परम्पराको नहीं अपनाया, किन्तु पूर्ववदादि त्रिविध अनुमानकी परम्पराको स्वीकार किया है। इस परम्पराका मूल क्या है? न्यायसूत्र है या अनुयोगसूत्र आदिमेंसे कोई एक? इस सम्बन्धमें निर्णयपूर्वक कहना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उस समय पूर्वागत त्रिविध अनुमानकी कोई सामान्य परम्परा रही है जो अनुमान-चर्चामें वर्तमान थी और जिसके स्वीकारमें किसीको सम्भवतः विवाद नहीं था।

पर उत्तरकालमें यह त्रिविध अनुमान-परम्परा भी सर्वमान्य नहीं रह सकी। प्रशस्तपादने^{११} दो तरहसे

१. तत्त्वसं० पृ० ४०५-४०८।
२. वैशे० सू० १।२।१।
३. न्यायसू० १।१।५।
४. उपायहृ० पृ० १३।
५. चरकसूत्रस्थान १।१।२१, २२।
६. सां० का०, का० ५।
७. मुनि कन्हैयालाल, अनुयो० सू० पृ० ५३९।
८. सां० का०, का० ६।
९. माठरवृ०, का० ५।
१०. युक्तिदी०, का० ५, पृ० ४३, ४४।
११. प्रश० भा०, पृ० १०४, १०६, ११३।

अनुमान-भेद बतलाये हैं—१ दृष्ट और २ सामान्यतोदृष्ट । अथवा १. स्वनिश्चितार्थानुमान और परार्थानुमान । मीमांसादर्शनमें शबरने^१ प्रशस्तपादके प्रथमोक्त अनुमानद्वैविध्यको ही कुछ परिवर्तनके साथ स्वीकार किया है—१ प्रत्यक्षतोदृष्टसम्बन्ध और २ सामान्यतोदृष्टसम्बन्ध । सांख्यदर्शनमें वाचस्पतिके^२ अनुसार वीत और अवीत ये दो भेद भी मान लिये हैं । वीतानुमानको उन्होंने पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट द्विविधरूप और अवीतानुमानको शेषवत् रूप मानकर उक्त अनुमानत्रैविध्यके साथ समन्वय भी किया है । ध्यातव्य है कि सांख्योकी सप्तविध अनुमान-मान्यताका भी उल्लेख उद्योतकर^३, वाचस्पति^४ और प्रभाचन्द्रने^५ किया है । पर वह हमें सांख्यदर्शनके उपलब्ध ग्रन्थोंमें प्राप्त नहीं हो सकी । प्रभाचन्द्रने तो प्रत्येकका स्वरूप और उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट भी किया है ।

आगे चलकर जो सर्वाधिक अनुमानभेद-परम्परा प्रतिष्ठित हुई वह है प्रशस्तपादकी उक्त—१ स्वार्थ और २ परार्थभेदवाली परम्परा । उद्योतकरने^६ पूर्ववदादि अनुमावत्रैविध्यकी तरह केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी इन तीन नये अनुमानभेदोंका भी प्रदर्शन किया है । किन्तु उन्होंने और उनके उत्तरवर्ती वाचस्पति तकके नैयायिकोंने प्रशस्तपादनिर्दिष्ट उक्त स्वार्थ-परार्थके अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार नहीं किया । पर जयन्तभट्ट^७ और उनके पश्चात्वर्ती केशव मिश्र^८ आदिने उक्त अनुमानद्वैविध्यको मान लिया है ।

बौद्ध दर्शनमें दिङ्नागसे पूर्व उक्त द्वैविध्यको परम्परा नहीं देखी जाती । परन्तु दिङ्नागने^९ उसका प्रतिपादन किया है । उनके पश्चात् तो धर्मकीर्ति^{१०} आदिने इसीका निरूपण एवं विशेष व्याख्यान किया है ।

जैन तार्किकोंने^{११} इसी स्वार्थ-परार्थ अनुमानद्वैविध्यको अंगीकार किया है और अनुयोगद्वारादिपतिपादित अनुमानत्रैविध्यको स्थान नहीं दिया, प्रत्युत उसकी समीक्षा की है ।^{१२}

इस प्रकार अनुमान-भेदोंके विषयमें भारतीय तार्किकोंकी विभिन्न मान्यताएँ तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होती हैं । तथ्य यह कि कणाद जहाँ साधनभेदसे अनुमानभेदका निरूपण करते हैं वहाँ न्यायसूत्र आदिमें

१. शाबरभा० १।१।५, पृष्ठ ३६ ।
२. सां० त० का० ५, पृ० ३०-३२ ।
३. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ५७ ।
४. न्यायवा० ता० टी० १।१।५, पृष्ठ १६५ ।
५. न्यायकु० च० ३।१४, पृष्ठ ४६२ ।
६. न्यायवा० १।१।५, पृष्ठ ४६ ।
७. न्यायमं पृष्ठ १३०, १३१ ।
८. तर्कभा० पृ० ७९ ।
९. प्रमाणसमु० २।१ ।
१०. न्यायवि० पृ० २१, द्वि० परि० ।
११. सिद्धसेन, न्यायाव० का० १० । अकलंक, सि० वि० ६।२, पृष्ठ ३७३, । विद्यानन्द, प्र० प० पृ० ५८ । माणिक्यनन्द, परी० मु० ३।५२, ५३ । देवसूरि, प्र० न० त० ३।९, १०, । हेमचन्द्र, प्रमाणमी० १।२।८, पृष्ठ ३९ आदि ।
१२. अकलंक, न्यायविनि० ३४१, ३४२, । स्वाहादर० पृष्ठ ५२७ । आदि ।

विषयभेद तथा प्रशस्तपादभाष्य आदिमें प्रतिपत्ताभेदसे अनुमान-भेदका प्रतिपादन जात होता है। साधन अनेक हो सकते हैं, जैसा कि प्रशस्तपादने^१ कहा है, अतः अनुमानके भेदोंकी संख्या पाँचसे अधिक भी हो सकती है। न्यायसूत्रकार आदिकी दृष्टिमें चूँकि अनुमेय या तो कार्य होगा, या कारण या अकार्यकारण। अतः अनुमेयके त्रैविध्यसे अनुमान त्रिविध है। प्रशस्तपाद द्विविध प्रतिपत्ताओंकी द्विविध प्रतिपत्तियोंकी दृष्टिसे अनुमानके स्वार्थ और परार्थ दो ही भेद मानते हैं जो बुद्धिको लगता है, क्योंकि अनुमान एक प्रकारकी प्रतिपत्ति है और वह स्व तथा पर दोके द्वारा की जाती है। सम्भवतः इसीसे उत्तरकालमें अनुमानका स्वार्थ-परार्थद्वैविध्य सर्वाधिक प्रतिष्ठित और लोकप्रिय हुआ।

अनुमानावयव :

अनुमानके तीन उपादान हैं,^२ जिनसे वह निष्पन्न होता है—१. साधन, २. साध्य और ३. धर्मी। अथवा^३ १. पक्ष और २. हेतु ये दो उसके अंग हैं, क्योंकि साध्यधर्म विशिष्ट धर्मोंको पक्ष कहा गया है। अतः पक्षको कहनेसे धर्म और धर्मी दोनोंका ग्रहण हो जाता है। साधन गमकरूपसे उपादान है, साध्य गम्यरूपसे और धर्मी साध्यधर्मके आधाररूपसे, क्योंकि किसी आधार-विशेषमें साध्यकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। सच यह है कि केवल धर्मकी सिद्धि करना अनुमानका ध्येय नहीं है, क्योंकि वह व्याप्ति-निश्चयकालमें ही अवगत हो जाता है और न केवल धर्मकी सिद्धि अनुमानके लिये अपेक्षित है, क्योंकि वह सिद्ध रहता है। किन्तु 'पर्वत अग्निवाला है' इस प्रकार पर्वतमें रहने वाली अग्निका ज्ञान करना अनुमानका लक्ष्य है। अतः धर्मी भी साध्यधर्मके आधाररूपसे अनुमानका अंग है। इस तरह साधन, साध्य और धर्मी ये तीन अथवा पक्ष और हेतु ये दो स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान दोनोंके अंग हैं। कुछ अनुमान ऐसे भी होते हैं जहाँ धर्मी नहीं होता। जैसे—सोमवारसे मंगलवारका अनुमान आदि। ऐसे अनुमानोंमें साधन और साध्य दो ही अंग हैं।

उपर्युक्त अंग स्वार्थानुमान और ज्ञानात्मक परार्थानुमानके कहे गये हैं। किन्तु वचनप्रयोग द्वारा प्रतिवादियों या प्रतिपादकोंको अभिधेय-प्रतिपत्ति कराना जब अभिप्रेत होता है तब वह वचनप्रयोग परार्थानुमान-वाक्यके नामसे अभिहित होता है और उसके निष्पादक अंगोंको अवयव कहा गया है। परार्थानुमान-वाक्यके कितने अवयव होने चाहिए, इस सम्बन्धमें तार्किकोंके विभिन्न मत हैं। न्यायसूत्रकार^४ का मत है कि परार्थानुमान वाक्यके पाँच अवयव हैं—१. प्रतिज्ञा २. हेतु, ३. उदाहरण, ४. उपनय और ५. निगमन। भाष्यकारने^५ सूत्रकारके इस मतका न केवल समर्थन ही किया है, अपितु अपने कालमें प्रचलित दशावयव-मान्यताका निरास भी किया है। वे दशावयव हैं—उक्त ५ तथा ६. जिज्ञासा, ७. संशय, ८. शक्यप्राप्ति, ९. प्रयोजन और १०. संशयव्युदास।

यहाँ प्रश्न है कि ये दश अवयव किनके द्वारा माने गये हैं? भाष्यकारने उन्हें 'दशावयवानेके न्यायिका वाक्ये संवन्ते^६' शब्दों द्वारा 'किन्हीं नैयायिकों' की मान्यता बतलाई है। पर मूल प्रश्न असमाधेय ही रहता है।

हमारा अनुमान है कि भाष्यकारको 'एके नैयायिकाः' पदसे प्राचीन सांख्यविद्वान् युक्तिदीपिकाकार

१. प्रश० भा० पृ० १०४।

२. धर्मभूषण, न्यायदी० तृ० प्रकाश पृ० ७२।

३. वही, पृष्ठ ७२-७३।

४. न्यायसू० १।१।३२। ५-६. न्याभा० १।१।३२, पृष्ठ ४७।

अभिप्रेत हैं, क्योंकि युक्तिदीपिकामें^१ उक्त दशावयवोंका न केवल निर्देश है किन्तु स्वमतस्वरूपमें उनका विशद एवं विस्तृत व्याख्यान भी है। युक्तिदीपिकाकार उन अवयवोंको बतलाते हुए प्रतिपादन करते हैं^२ कि 'जिज्ञासा, संशय, प्रयोजन, शक्यप्राप्ति और संशयव्युदास ये पाँच अवयव व्याख्यांग हैं तथा प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपसंहार और निगमन ये पाँच परप्रतिपादनांग। तात्पर्य यह कि अभिधेयका प्रतिपादन दूसरोंके लिए प्रतिज्ञादि द्वारा होता है और व्याख्या जिज्ञासादि द्वारा। पुनरुक्ति, वैयर्थ्य आदि दोषोंका निरास करते हुए युक्तिदीपिकामें कहा गया है^३ कि विद्वान् सबके अनुग्रहके लिए जिज्ञासादिका अभिधान करते हैं। यतः व्युत्पाद्य अनेक तरहके होते हैं—सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अभ्युत्पन्न। अतः इन सभीके लिए सन्तोंका प्रयास होता है। दूसरे, यदि प्रतिवादी प्रश्न करे कि क्या जानना चाहते हो? तो उसके लिए जिज्ञासादि अवयवोंका वचन आवश्यक है। किन्तु प्रश्न न करे तो उसके लिए वे नहीं भी कहे जाएँ। अन्तमें निष्कर्ष निकालते हुए युक्तिदीपिकाकार^४ कहते हैं कि इसीसे हमने जो वीतानुमानके दशावयव कहे वे सर्वथा उचित हैं। आचार्य^५ (ईश्वरकृष्ण) उनके प्रयोगको न्याय-संगत मानते हैं।^६ इससे अवगत होता है कि दशावयवकी मान्यता युक्तिदीपिकाकारकी रही है। यह भी सम्भव है कि ईश्वरकृष्ण या उनसे पूर्व किसी सांख्य विद्वान्ने दशावयवोंको माना हो और युक्तिदीपिकाकारने उनका समर्थन किया हो।

जैन विद्वान् भद्रबाहुने^७ भी दशावयवोंका उल्लेख किया है। जैसा कि पूर्वमें लिखा गया है। किन्तु उनके वे दशावयव उपयुक्त दशावयवोंसे कुछ भिन्न हैं।

प्रशस्तपादने^८ पाँच अवयव माने हैं। पर उनके अवयवनामों और न्यायसूत्रकारके अवयवनामोंमें कुछ अन्तर है। प्रतिज्ञाके स्थानमें तो प्रतिज्ञा नाम ही है। किन्तु हेतुके लिए अपदेश, दृष्टान्तके लिए निदर्शन, उपनयके स्थानमें अनुसन्धान और निगमनकी जगह प्रत्याभ्नाय नाम दिये हैं। यहाँ प्रशस्तपादकी^९ एक विशेषता उल्लेखनीय है। न्यायसूत्रकारने जहाँ प्रतिज्ञाका लक्षण 'साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा' यह किया है कि वहाँ प्रशस्तपादने 'अनुमेयोद्देशोऽविरोधी प्रतिज्ञा' यह कहकर उसमें 'अविरोधी' पदके द्वारा प्रत्यक्ष-विरुद्ध आदि

१-२. तस्य पुनरवयवाः—जिज्ञासा-संशय-प्रयोजन-शक्यप्राप्ति-संशयव्युदासलक्षणाश्च व्याख्यांगम् प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्तोपसंहार-निगमनानि परप्रतिपादनांगमिति । —युक्तिदी० का० ६, पृष्ठ ४७।

३. अत्र भूमः—न, उक्तत्वात् । उक्तमेतत् पुरस्तात् व्याख्यांगं जिज्ञासादयः । सर्वस्य चानुग्रहः कर्त्तव्य इत्येवमर्थं च शास्त्रव्याख्यां विपश्चिद्भिः प्रत्याख्यते, न स्वार्थं शश्वदज्ञबुद्धयर्थं वा । —वही, का० ६, पृष्ठ ४९।

४. 'तस्मात् सूक्तं दशावयवो वीतः । तस्य पुरस्तात् प्रयोगं न्याय्यमाचार्या मन्यन्ते ।' —यु० दी० का० ६, पृष्ठ ५१।

अवयवाः पुनर्जिज्ञासादयः प्रतिज्ञादयश्च । तत्र जिज्ञासादयो व्याख्यांगम् प्रतिज्ञादयः परप्रत्यायनांगम् । तानुत्तरत्र वक्ष्यामः । —वही० का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

५. युक्तिदीपिकाकारने इसी बातको आचार्य (ईश्वरकृष्ण) की कारिकाओं—१, १५, १६, ३५ और ५७ के प्रतीकों द्वारा समर्थित किया है। —यु. दी. का० १ की भूमिका पृष्ठ ३।

६. दशवै० नि० गा० ४९-१३७।

७. अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शानुसन्धानप्रत्याभ्नायाः । —प्रश० भा० पृ० ११४।

८. वही, पृ० ११४, ११५।

पाँच विरुद्धसाध्यों (साध्याभासों) का भी निरास किया है। न्यायप्रवेशकारने^१ भी प्रशस्तपादका अनुसरण करते हुए स्वकीय पक्षलक्षणमें 'अबिरोधी' जैसा ही 'प्रत्यक्षाद्यविरुद्ध' विशेषण दिया है और उसके द्वारा प्रत्यक्षविरुद्धादि साध्याभासोंका परिहार किया है।

न्यायप्रवेश^२ और माठरवृत्तिमें^३ पक्ष, हेतु और दृष्टान्त ये तीन अवयव स्वीकार किये हैं। धर्मकीर्तिने^४ उक्त तीन अवयवोंमेंसे पक्षको निकाल दिया है और हेतु तथा दृष्टान्त ये दो अवयव माने हैं। न्यायबिन्दु और प्रमाणवार्तिकमें उन्होंने केवल हेतुको ही अनुमानावयव माना है।^५

मीमांसक विद्वान् शालिकानाथने^६ प्रकरणपंचिकामें, नारायण भट्टने^७ मानमेयोदयमें और पार्थसारथि-ने^८ न्यायरत्नाकरमें प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंके प्रयोगको प्रतिपादित किया है।

जैन तार्किक समन्तभद्रका संकेत तत्त्वार्थसूत्रकारके अभिप्रायानुसार पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंको माननेका ओर प्रतीत होता है। उन्होंने आप्तमीमांसा (का० ६, १७, १८, २७ आदि) में उक्त तीन अवयवोंसे साध्य-सिद्धि प्रस्तुत की है। सिद्धसेनने^९ भी उक्त तीन अवयवोंका प्रतिपादन किया है। पर अकलंक^{१०} और उनके अनुवर्ती विद्यानन्द^{११}, माणिक्यनन्दि^{१२}, देवसूरि^{१३}, हेमचन्द्र^{१४}, धर्मभूषण^{१५}, यशोविजय^{१६} आदिने पक्ष और हेतु ये दो ही अवयव स्वीकार किये हैं और दृष्टान्तादि अन्य अवयवोंका निरास किया है। देवसूरिने^{१७} अत्यन्त व्युत्पन्नकी अपेक्षा मात्र हेतुके प्रयोगको भी मान्य किया है। पर साथ ही वे यह भी बतलाते हैं कि बहुलतासे एकमात्र हेतुका प्रयोग न होनेसे उसे सूत्रमें ग्रथित नहीं किया। स्मरण रहे कि जैन न्यायमें उक्त दो अवयवोंका प्रयोग व्युत्पन्न प्रतिपाद्यकी दृष्टिसे अभिहित है। किन्तु अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी

१. न्यायप्र० पृ० १ ।
२. वही, पृ० १, २ ।
३. माठरवृ० का० ५ ।
४. वादन्या० पृ० ६१ । प्रमाणवा० १।१२८ । न्यायबि० पृ० ९१ ।
५. प्रमाणवा० १, १२८ । न्यायबि० पृष्ठ ९१ ।
६. प्र० पं० पृ० २२० ।
७. मा० मे० पृ० ६४ ।
८. न्यायरत्ना० पृष्ठ ३६१ (मी० श्लोक० अनु० परि० श्लोक ५३)
९. न्यायाव० १३-१९ ।
१०. न्या० वि०, का० ३८१ ।
११. पत्रपरी०, पृ० १८ ।
१२. परीक्षामु० ३।३७ ।
१३. प्र० न० त० ३। २८, २३ ।
१४. प्र० मी० २।१।९ ।
१५. न्याय० दी० पृष्ठ ७६ ।
१६. जैनत० पृ० १६ ।
१७. प्र० न० त० ३।२३, पृ० ५४८ ।

अपेक्षासे तो दृष्टान्तादि अन्य अवयवोंका भी प्रयोग स्वीकृत है।^१ देवसूरि^२, हेमचन्द्र^३ और यशोविजयने^४ भद्रबाहुकथित पक्षादि पाँच शुद्धियोंके भी वाक्यमें समावेशका कथन किया और भद्रबाहुके दशावयवोंका समर्थन किया है।

अनुमान-दोष :

अनुमान-निरूपणके सन्दर्भमें भारतीय तार्किकोंने अनुमानके सम्भव दोषोंपर भी विचार किया है। यह विचार इसलिए आवश्यक रहा है कि उससे यह जानना शक्य है कि प्रयुक्त अनुमान सदोष है या निर्दोष? क्योंकि जब तक किसी ज्ञानके प्रामाण्य या अप्रामाण्यका निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान अभिप्रेत अर्थकी सिद्धि या असिद्धि नहीं कर सकता। इसीसे यह कहा गया है^५ कि प्रमाणसे अर्थसंसिद्धि होती है और प्रमाणाभाससे नहीं। और यह प्रकट है कि प्रामाण्यका कारण गुण हैं और अप्रामाण्यका कारण दोष। अतएव अनुमानप्रामाण्यके हेतु उसकी निर्दोषताका पता लगाना बहुत आवश्यक है। यही कारण है कि तर्कग्रन्थोंमें प्रमाण-निरूपणके परिप्रेक्ष्यमें प्रमाणाभास-निरूपण भी पाया जाता है। न्यायसूत्रमें^६ प्रमाणपरीक्षा प्रकरणमें अनुमानकी परीक्षा करते हुए उसमें दोषाशंका और उसका निरास किया गया है। वात्स्यायनने^७ अनुमान (अनुमानाभास) को अनुमान समझनेकी चर्चा द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि दूषितानुमान भी सम्भव है।

अब देखना है कि अनुमानमें क्या दोष हो सकते हैं और वे कितने प्रकारके सम्भव हैं? स्पष्ट है कि अनुमानका गठन मुख्यतया दो अङ्गों पर निर्भर है—१ साधन और २ साध्य (पक्ष)। अतएव दोष भी साधनगत और साध्यगत दो ही प्रकारके हो सकते हैं और उन्हें क्रमशः साधनाभास तथा साध्याभास (पक्षाभास) नाम दिया जा सकता है। साधन अनुमान-प्रासादका वह प्रधान एवं महत्वपूर्ण स्तम्भ है जिसपर उसका भव्य भवन निर्मित होता है। यदि प्रधान स्तम्भ निर्बल हो तो प्रासाद किसी भी क्षण क्षतिग्रस्त एवं धराशायी हो सकता है। सम्भवतः इसीसे गौतमने^८ साध्यगत दोषोंका विचार न कर मात्र साधनगत दोषोंका विचार किया और उन्हें अवयवोंकी तरह सोलह पदार्थोंके अन्तर्गत स्वतन्त्र पदार्थका स्थान प्रदान किया है। इससे गौतमकी दृष्टिमें उनकी अनुमानमें प्रमुख प्रतिबन्धकता प्रकट होती है। उन्होंने उन साधनगत दोषोंको, जिन्हें हेत्वाभासके नामसे उल्लिखित किया गया है, पाँच बतलाया है। वे हैं—१. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. कालातीत। हेत्वाभासोंकी पाँच संख्या सम्भवतः हेतुके पाँच रूपोंके अभावपर आधारित जान पड़ती है। यद्यपि हेतुके पाँच रूपोंका निर्देश न्यायसूत्रमें उपलब्ध नहीं है। पर उसके व्याख्याकार उद्योतकर प्रभृतिने उनका उल्लेख किया है। उद्योतकरने^{१०}

१. परी० मु० ३।४६। प्र० न० त० ३।४२। प्र० मी० २।१।१०।
२. प्र० न० त० ३।४२, पृ० ५६५।
३. प्र० मी० २।१।१०, पृष्ठ ५२।
४. जैनत० भा० पृष्ठ १६।
५. प्रमाणादर्थसंसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः।—माणिक्यनन्दि, परी० मु०, प्रतिज्ञाश्लो० १।
६. न्यायसू० २।१।३८, ३९।
७. न्यायभा० २।१।३९।
८. न्यायसू० १।२।४-९।
९. सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः।—न्यायसू० १।२।४।
१०. समस्तलक्षणोपपत्तिरसमस्तलक्षणोपपत्तिश्च।—न्यायवा० १।२।४, पृष्ठ १६३।

हेतुका प्रयोजक समस्तरूपसम्पत्तिको और हेत्वाभासका प्रयोजक असमस्तरूपसम्पत्तिको बतलाकर उन रूपोंका संकेत किया है। वाचस्पतिने^१ उनकी स्पष्ट परिगणना भी कर दी है : वे पाँच रूप हैं—पक्षधर्मत्व, सपक्ष-सत्त्व, विपक्षासत्त्व, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व। इनके अभावसे हेत्वाभास पाँच ही सम्भव हैं। जयन्तभट्टने^२ तो स्पष्ट लिखा है कि एक-एक रूपके अभावमें पाँच हेत्वाभास होते हैं। न्यायसूत्रकारने एक-एक पृथक् सूत्र द्वारा उनका निरूपण किया है। नात्स्यायनने^३ हेत्वाभासका स्वरूप देते हुए लिखा है कि जो हेतुलक्षण (पंचरूप) रहित है परन्तु कतिपय रूपोंके रहनेके कारण हेतु-सादृश्यसे हेतुकी तरह आभासित होते हैं उन्हें अहेतु अर्थात् हेत्वाभास कहा गया है। सर्वदेवने^४ भी हेत्वाभासका यही लक्षण दिया है।

कणादने^५ अप्रसिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध ये तीन हेत्वाभास प्रतिपादित किये हैं। उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने^६ उनका समर्थन किया है। विशेष यह है कि उन्होंने^७ काश्यपकी दो कारिकाएँ उद्धृत करके पहली द्वारा हेतुको त्रिरूप और दूसरी द्वारा उन तीन रूपोंके अभावसे निष्पन्न होनेवाले उक्त विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध तीन हेत्वाभासोंको बताया है। प्रशस्तपादका^८ एक वैशिष्ट्य और उल्लेख्य है। उन्होंने निदर्शनके निरूपण-सन्दर्भमें बारह निदर्शनाभासोंका भी प्रतिपादन किया है, जबकि न्यायसूत्र और न्यायभाष्यमें उनका कोई निर्देश प्राप्त नहीं है। पाँच प्रतिज्ञाभासों (पक्षाभासों) का भी कथन प्रशस्तपादने^९ किया है, जो बिल्कुल नया है। सम्भव है न्यायसूत्रमें हेत्वाभासोंके अन्तर्गत जिस कालातीत (बाधितविषय-कालात्ययापदिष्ट) का निर्देश है उसके द्वारा इन प्रतिज्ञाभासोंका संग्रह न्यायसूत्रकारको अभीष्ट हो। सर्व-देवने^{१०} छह हेत्वाभास बताये हैं।

उपायहृदयमें^{११} आठ हेत्वाभासोंका निरूपण है। इनमें चार (कालातीत, प्रकरणसम, सव्यभिचार और विरुद्ध) हेत्वाभास न्यायसूत्र जैसे ही हैं तथा शेष चार (वाक्यछल, सामान्यछल, संशयसम और वर्ण्य-सम) नये हैं। इनके अतिरिक्त इसमें अन्य दोषोंका प्रतिपादन नहीं है। पर न्यायप्रवेशमें^{१२} पक्षाभास, हेत्वा-भास और दृष्टान्ताभास इन तीन प्रकारके अनुमान-दोषोंका कथन है। पक्षाभासके नौ^{१३}, हेत्वाभासके^{१४} तीन, दृष्टान्ताभासके^{१५} दश भेदोंका सोदाहरण निरूपण है। विशेष यह कि अनैकान्तिक हेत्वाभासके छह भेदोंमें

१. न्यायवा० ता० टी० १।२।४, पृष्ठ ३३०।
२. हेतोः पंचलक्षणानि पक्षधर्मत्वादीनि उक्तानि। तेषामकैकापाये पंच हेत्वाभासा भवन्ति असिद्ध-विरुद्ध-अनैकान्तिक-कालात्ययापदिष्ट-प्रकरणसमाः।—न्यायकलिका पृ० १४। न्यायमं० पृ० १०१।
३. हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः।—न्यायभा० १।२।४ की उत्थानिका, पृ० ६३।
४. प्रमाणमं० पृष्ठ ९।
५. वै० सू० ३।१।१५।
६. प्रश० भा० पृ० १००-१०१।
७. प्रश० भा० पृ० १००।
८. प्र० भा०, पृ० १२२, १२३।
९. वही, पृ० ११५।
१०. प्रमाणमं० पृष्ठ ९।
११. उ० ह० पृ० १४।
१२. एषां पक्षहेतुदृष्टान्ताभासानां वचनानि साधनाभासम्।—न्या० प्र०, पृ० २-७।
- १३, १४, १५. वही, २, ३-७।

एक विरुद्धाव्यभिचारीका^१ भी कथन उपलब्ध होता है, जो तार्किकों द्वारा अधिक चर्चित एवं समालोचित हुआ है। न्यायप्रवेशकारने^२ दश दृष्टान्ताभासोंके अन्तर्गत उभयासिद्ध दृष्टान्ताभासको द्विविध वर्णित किया है और जिससे प्रशस्तपाद जैसी ही उनके दृष्टान्ताभासोंकी संख्या द्वादश हो जाती है। पर प्रशस्तपादोक्त द्विविध आश्रयासिद्ध उन्हें अभीष्ट नहीं है।

कुमारिल^३ और उनके व्याख्याकार पार्श्वसारथिने^४ मीमांसक दृष्टिसे छह प्रतिज्ञाभासों, तीन हेत्वाभासों और दृष्टान्तदोषोंका प्रतिपादन किया है। प्रतिज्ञाभासोंमें प्रत्यक्षविरोध, अनुमानविरोध और शब्दविरोध ये तीन प्रायः प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेशकारकी तरह ही हैं। हाँ, शब्दविरोधके प्रतिज्ञातविरोध, लोक-प्रसिद्धिबिरोध और पूर्वसंज्ञत्वविरोध ये तीन भेद किये हैं। तथा अर्थापत्तिविरोध, उपमानविरोध और अभावविरोध ये तीन भेद सर्वथा नये हैं, जो उनके मतानुरूप हैं। विशेष^५ यह कि इन विरोधोंको धर्म, धर्मी और उभयके सामान्य तथा विशेष स्वरूपगत बतलाया गया है। त्रिविध हेत्वाभासोंके अवान्तर भेदोंका भी प्रदर्शन किया है और न्यायप्रवेशकी भाँति कुमारिलने^६ विरुद्धाव्यभिचारी भी माना है।

सांख्यदर्शनमें युक्तिदीपिका आदिमें तो अनुमानदोषोंका प्रतिपादन नहीं मिलता। किन्तु माठरने^७ असिद्धादि चउदह हेत्वाभासों तथा साध्यविकलादि दश साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंका निरूपण किया है। निदर्शनाभासोंका प्रतिपादन उन्होंने प्रशस्तपादके अनुसार किया है। अन्तर इतना ही है कि माठरने प्रशस्तपादके बारह निदर्शनाभासोंमें दशको स्वीकार किया है और आश्रयासिद्ध नामक दो साधर्म्य-वैधर्म्य निदर्शनाभासोंको छोड़ दिया है। पक्षाभास भी उन्होंने नौ निर्दिष्ट किये हैं।

जैन परम्पराके उपलब्ध न्यायग्रन्थोंमें सर्वप्रथम न्यायावतारमें अनुमान-दोषोंका स्पष्ट कथन प्राप्त होता है। इसमें पक्षादि तीनके वचनको परार्थानुमान कहकर उसके दोष भी तीन प्रकारके बतलाए हैं^८—
१. पक्षाभास, २. हेत्वाभास और ३. दृष्टान्ताभास। पक्षाभासके सिद्ध और बाधित ये दो भेद दिखाकर बाधितके प्रत्यक्षबाधित, अनुमानबाधित, लोकबाधित और स्ववचनबाधित—ये चार^९ भेद गिनाये हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक तीन^{१०} हेत्वाभासों तथा छह साधर्म्य और छह^{११} वैधर्म्य कुल बारह दृष्टान्ताभासोंका भी कथन किया है। ध्यातव्य है कि साध्यविकल, साधनविकल और उभयविकल ये तीन साधर्म्य-दृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त साधनाव्यावृत्त और उभयाव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास तो प्रशस्त-

१. वही, पृ० ४।
२. न्यायप्र०, सू० ७।
३. मी० श्लोक, अनु०, श्लोक० ५८-६९, १०८।
४. न्यायरत्ना०, मी० श्लोक०, अनु०, ५८-६९, १०८।
५. मी० श्लो०, अनु० परि०, श्लोक ७०, तथा व्याख्या।
६. वही, अनु० परि०, श्लोक ९२ तथा व्याख्या।
७. माठरवृ० का० ५।
८. न्यायाव० का० १३, २१-२५।
- ९-१०. वही, का० २१।
११. वही, का० २२, २३।
१२. वही, का० २४, २५।

पादभाष्य और न्यायप्रवेश जैसे ही हैं किन्तु सन्दिग्धसाध्य, सन्दिग्धसाधन और सन्दिग्धोभय ये तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यावृत्ति, सन्दिग्धसाधनव्यावृत्ति और सन्दिग्धोभयव्यावृत्ति ये तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभास न प्रशस्तपादभाष्यमें है^१ और न न्यायप्रवेशमें।^२ प्रशस्तपादभाष्यमें आश्रयसिद्ध, अननुगत और विपरीतानुगत ये तीन साधर्म्य तथा आश्रयसिद्ध, अव्यावृत्त और विपरीतव्यावृत्त ये तीन वैधर्म्यनिदर्शनाभास हैं। और न्यायप्रवेशमें अनन्वय तथा विपरीतान्वय ये दो साधर्म्य और अव्यतिरेक तथा विपरीतव्यतिरेक ये दो वैधर्म्य दृष्टान्ताभास उपलब्ध हैं। पर हाँ, धर्मकीर्तिके न्यायविन्दुमें^३ उनका प्रतिपादन मिलता है। धर्मकीर्तिने सन्दिग्धसाध्यादि उक्त तीन साधर्म्यदृष्टान्ताभासों और सन्दिग्धव्यतिरेकादि तीन वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोंका स्पष्ट निरूपण किया है। इसके अतिरिक्त धर्मकीर्तिने न्यायप्रवेशगत अनन्वय, विपरीतान्वय, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक इन चार साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभासोंको अपनाते हुए अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन दो नये दृष्टान्ताभासोंको और सम्मिलित करके नव-नव साधर्म्य-वैधर्म्य दृष्टान्ताभास प्रतिपादित किये हैं।

अकलंकने^४ पक्षाभासके उक्त सिद्ध और बाधित दो भेदोंके अतिरिक्त अनिष्ट नामक तीसरा पक्षाभास भी वर्णित किया है। जब साध्य शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और असिद्ध होता है तो उसके दोष भी बाधित, अनिष्ट और सिद्ध ये तीन कहे जाएँगे। हेत्वाभासोंके सम्बन्धमें उनका मत है कि जैन न्यायमें हेतु न त्रिरूप है और न पाँच-रूप, किन्तु एकमात्र अन्यथानुपपन्नत्व (अविनाभाव) रूप है। अतः उसके अभावमें हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक ये उसीका विस्तार हैं। दृष्टान्तके विषयमें उनकी मान्यता है कि वह सर्वत्र आवश्यक नहीं है। जहाँ वह आवश्यक है वहाँ उसका और उसके साध्यविकलादि दोषोंका कथन किया जाना योग्य है।

माणिक्यनन्दि^५, देवसूरि^६, हेमचन्द्र^७ आदि जैन तार्किकोंने प्रायः सिद्धसेन और अकलंकका ही अनुसरण किया है।

इस प्रकार भारतीय तर्कग्रन्थोंके साथ जैन तर्कग्रन्थोंमें भी अनुमानस्वरूप, अनुमानभेदों, अनुमानांगों, अनुमानावयवों और अनुमानदोषोंपर पर्याप्त चिन्तन उपलब्ध है।

जैन अनुमानकी उपलब्धियाँ

यहाँ जैन अनुमानकी उपलब्धियोंका निर्देश किया जायेगा, जिससे भारतीय अनुमानको जैन तार्किकों की क्या देन है, उन्होंने उसमें क्या अभिवृद्धि या संशोधन किया है, यह समझनेमें सहायता मिलेगी।

अध्ययनसे अवगत होता है कि उपनिषद् कालमें अनुमानकी आवश्यकता एवं प्रयोजनपर भार दिया जाने लगा था, उपनिषद्दोमें 'आत्मा बाजरे द्रष्टव्यः ओतव्यो मन्तव्यो निर्विध्यासितव्यः'^८ आदि वाक्यों द्वारा आत्माके श्रवणके साथ मननपर भी बल दिया गया है, जो उपपत्तियों

१. प्रश० भा०. पृ० १२३।

२. न्यायप्र०, पृ० ५-७।

३. न्याय० वि०, तृ० परि० पृष्ठ ९४-१०२।

४. न्यायविवि०, का० १७२, २९९, ३६५, ३६६, ३७०, ३८१।

५. परोक्षामु० ६।१२-५०।

६. प्रमाणन०, ६।३८-८२।

७. प्रमाणमी०, १।२।१४, २।१।१६-२७।

८. बृहदारण्य० २।४।५।

(युक्तियों) के द्वारा किया जाता था ।^१ इससे स्पष्ट है कि उस कालमें अनुमानको भी श्रुतिकी तरह ज्ञानकी एक साधन माना जाता था—उसके बिना दर्शन अपूर्ण रहता था । यह सच है कि अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे व्यवहार होनेकी अपेक्षा 'वाकोवाक्यम्' 'आन्वीक्षिकी', 'तर्कविद्या', 'हेतुविद्या' जैसे शब्दों द्वारा अधिक होता था ।

प्राचीन जैन वाङ्मयमें ज्ञानमीमांसा (ज्ञानमार्गणा) के अन्तर्गत अनुमानका 'हेतुवाद' शब्दसे निर्देश किया गया है और उसे श्रुतका एक पर्याय (नामान्तर) बतलाया गया है । तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे अभिनिबोध नामसे उल्लेखित किया है । तात्पर्य यह है कि जैन दर्शनमें भी अनुमान अभिमत है तथा प्रत्यक्ष (सांग्यव-हारिक और पारमाधिक ज्ञानों) की तरह उसे भी प्रमाण एवं अर्थनिश्चायक माना गया है । अन्तर केवल उनमें वैशद्य और अवैशद्यका है । प्रत्यक्ष विशद है और अनुमान अविशद (परोक्ष) ।

अनुमानके लिए किन घटकोंकी आवश्यकता है, इसका आरम्भिक प्रतिपादन कणादने किया प्रतीत होता है । उन्होंने अनुमानका 'अनुमान' शब्दसे निर्देश न कर 'लैङ्गिक' शब्दसे किया है, जिससे ज्ञात होता है कि अनुमानका मुख्य घटक लिङ्ग है । सम्भवतः इसी कारण उन्होंने मात्र लिङ्गों, लिङ्गरूपों और लिङ्गा-भाषोंका निरूपण किया है, उसके और भी कोई घटक है इसका कणादने कोई उल्लेख नहीं किया । उनके भाष्यकार प्रशस्तपादने अवश्य प्रतिज्ञादि पाँच अवयवोंको उसका घटक प्रतिपादित किया है ।

तर्कशास्त्रका निबद्धरूपमें स्पष्ट विकास अक्षपादके न्यायसूत्रमें उपलब्ध होता है । अक्षपादने अनुमानको 'अनुमान' शब्दसे ही उल्लेखित किया तथा उसकी कारणसामग्री, भेदों, अवयवों और हेतुभासोंका स्पष्ट विवेचन किया है । साथ ही अनुमानपरीक्षा, वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे अनुमान-सहायक तत्त्वोंका प्रतिपादन करके अनुमानको शास्त्रार्थोपयोगी और एक स्तर तक पहुँचा दिया है । वास्त्या-यन, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और गङ्गेशने उसे विशेष परिष्कृत किया तथा व्याप्ति, पक्षधर्मता, परामर्श जैसे तदुपयोगी अभिनव तत्त्वोंको विविकृत करके उनका विस्तृत एवं सूक्ष्म निरूपण किया है । वस्तुतः अक्षपाद और उनके अनुवर्ती तार्किकोंने अनुमानको इतना परिष्कृत किया कि उनका दर्शन न्याय (तर्क—अनुमान) दर्शनके नामसे ही विश्रुत हो गया ।

असंग, बसुबन्धु, विद्मनाग, धर्मकीर्ति प्रभृति बौद्ध तार्किकोंने न्यायदर्शनकी समालोचनापूर्वक अपनी विशिष्ट और नयी मान्यताओंके आधारपर अनुमानका सूक्ष्म और प्रचुर चिन्तन प्रस्तुत किया है । इनके चिन्तनका अवश्यम्भावी परिणाम यह हुआ कि उत्तरकालीन समग्र भारतीय तर्कशास्त्र उससे प्रभावित हुआ और अनुमानकी विचारधारा पर्याप्त आगे बढ़नेके साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म एवं जटिल होती गयी । वास्तवमें बौद्ध तार्किकोंके चिन्तनने तर्कमें आयी कुण्ठाको हटाकर और सभी प्रकारके परिवेशोंको दूर कर उन्मुक्तभावसे तत्त्वचिन्तनकी क्षमता प्रदान की । फलतः सभी दर्शनोंमें स्वीकृत अनुमानपर अधिक विचार हुआ और उसे महत्त्व मिला ।

ईश्वरकृष्ण, युक्तिदीपिकाकार, माठर, विज्ञानभिक्षु आदि सांख्यविद्वानों, प्रभाकर, कुमारिल, पार्थ-सारथि प्रभृति मीमांसकचिन्तकोंने भी अपने-अपने ढंगसे अनुमानका चिन्तन किया है । हमारा विचार है कि इन चिन्तकोंका चिन्तन-विषय प्रकृति-पुरुष और क्रियाकाण्ड होते हुए भी वे अनुमान-चिन्तनसे अछूते नहीं रहे । श्रुतिके अलावा अनुमानको भी इन्हें स्वीकार करना पड़ा और उसका कम-बहु विवेचन किया है ।

१. श्रुतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।

मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥

जैन विचारक ती आरम्भसे ही अनुमानको मानते आये हैं। भले ही उसे 'अनुमान' नाम न देकर 'हेतुवाद' या 'अभिनिबोध' संज्ञासे उन्होंने उसका व्यवहार किया हो। तत्त्वज्ञान, स्वतत्त्वसिद्धि, परपक्षदूषणोद्भावनके लिए उसे स्वीकार करके उन्होंने उसका पर्याप्त विवेचन किया है। उनके चिन्तनमें जो विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं उनमें कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है :—

अनुमानका परोक्षप्रमाणमें अन्तर्भाव :

अनुमानप्रमाणवादी सभी भारतीय तार्किकोंने अनुमानको स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकार किया है। पर जैन तार्किकोंने उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना। प्रमाणके उन्होंने मूलतः दो भेद माने हैं—(१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। हम पीछे इन दोनोंकी परिभाषाएँ अङ्कित कर आये हैं। उनके अनुसार अनुमान परोक्ष प्रमाणमें अन्तर्भूत है, क्योंकि वह अविशद ज्ञान है और उसके द्वारा अप्रत्यक्ष अर्थकी प्रतिपत्ति होती है। परोक्ष प्रमाणका क्षेत्र इतना व्यापक और विशाल है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव और शब्द जैसे अप्रत्यक्ष अर्थके परिच्छेदक अविशद ज्ञानोंका इसीमें समावेश है। तथा वैशद्य एवं अवैशद्यके आधारपर स्वीकृत प्रत्यक्ष और परोक्षके अतिरिक्त अन्य प्रमाण मान्य नहीं है।

अर्थापत्ति अनुमानसे पृथक् नहीं :

प्राभाकर और भाट्ट मीमांसक अनुमानसे पृथक् अर्थापत्ति नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उनका मन्तव्य है कि जहाँ अमुक अर्थ अमुक अर्थके बिना न होता हुआ उसका परिकल्पक होता है वहाँ अर्थापत्ति प्रमाण माना जाता है।—जैसे **पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुंक्ते** इस वाक्यमें, उक्त 'पीनत्व' अर्थ 'भोजन' के बिना न होता हुआ 'रात्रिभोजन' की कल्पना करता है, क्योंकि दिवा भोजनका निषेध वाक्यमें स्वयं घोषित है। इस प्रकारके अर्थका बोध अनुमानसे न होकर अर्थापत्तिसे होता है। किन्तु जैन विचारक उसे अनुमानसे भिन्न स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि अनुमान अन्यथानुपपन्न (अविनाभावी) हेतुसे उत्पन्न होता है और अर्थापत्ति अन्यथानुपपद्यमान अर्थसे। अन्यथानुपपन्न हेतु और अन्यथानुपपद्यमान अर्थ दोनों एक हैं—उनमें कोई अन्तर नहीं है। अर्थात् दोनों ही व्याप्तिविशिष्ट होनेसे अभिन्न हैं। डा० देवराज भी यही बात प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'एक वस्तु द्वारा दूसरी वस्तुका आक्षेप तभी हो सकता है जब दोनोंमें **व्याप्यव्यापकभाव या व्याप्तिसम्बन्ध हो**'^१। देवदत्त मोटा है और दिनमें खाता नहीं है, यहाँ अर्थापत्ति द्वारा रात्रिभोजनकी कल्पना की जाती है। पर वास्तवमें मोटापन भोजनका अविनाभावी होने तथा दिनमें भोजनका निषेध करनेसे वह देवदत्तके रात्रिभोजनका अनुमापक है। वह अनुमान इस प्रकार है—**देवदत्तः रात्रौ भुंक्ते, दिवाऽभोजित्वे सति पीनत्वान्यथानुपपत्तेः।** यहाँ अन्यथानुपपत्तिसे अन्तर्व्याप्ति विवक्षित है, बहिर्व्याप्ति या सकलव्याप्ति नहीं, क्योंकि ये दोनों व्याप्तियाँ अव्यभिचरित नहीं हैं। अतः अर्थापत्ति और अनुमान दोनों व्याप्तिपूर्वक होनेसे एक ही हैं—पृथक्-पृथक् प्रमाण नहीं।

अनुमानका विशिष्ट स्वरूप :

न्यायसूत्रकार अक्षपादकी 'तत्पूर्वकमनुमानम्', प्रशस्तपादकी 'लङ्कदर्शनात्संजायमानं लङ्किकम्' और उद्योतकरकी **लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्** परिभाषाओंमें केवल कारणका निर्देश है, अनुमानके स्वरूपका नहीं। उद्योतकरकी एक अन्य परिभाषा 'लङ्किकी प्रतिपत्तिरनुमानम्' में भी लिङ्गरूप कारणका उल्लेख है, स्वरूप

१. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ७१।

का नहीं। दिङ्नामशिष्य शङ्करस्वामीकी 'अनुमानं लिङ्गार्थवर्षानम्' परिभाषामें यद्यपि कारण और स्वरूप दोनोंकी अभिव्यक्ति है, पर उसमें कारणके रूपमें लिङ्गको सूचित किया है, लिङ्गके ज्ञानको नहीं। तथ्य यह है कि अज्ञायमान धूमादि लिङ्ग अग्नि आदिके अनुमापक नहीं हैं। अन्यथा जो पुरुष सोया हुआ है, मूर्च्छित है, अगृहीतव्याप्तिक है उसे भी पर्वतमें धूमके सद्भाव मात्रसे अग्निका अनुमान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं है। अतः शंकरस्वामीके उक्त अनुमानलक्षणमें 'लिङ्गात्' के स्थानमें 'लिङ्गवर्षानात्' पद होनेपर ही वह पूर्ण अनुमानलक्षण हो सकता है।

जैन तार्किक अकलंकदेवने जो अनुमानका स्वरूप प्रस्तुत किया है वह उक्त न्यूनताओंसे मुक्त है। उनका लक्षण है—

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात् ।

लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिवृद्धयः ॥

इसमें अनुमानके साक्षात्कारण—लिङ्गज्ञानका भी प्रतिपादन है और उसका स्वरूप भी 'लिङ्गिधीः' शब्दके द्वारा निर्दिष्ट है। अकलंकने स्वरूपनिर्देशमें केवल 'धीः' या 'प्रतिपत्ति' नहीं कहा, किन्तु 'लिङ्गिधीः' कहा है, जिसका अर्थ है साध्यका ज्ञान; और साध्यका ज्ञान होना ही अनुमान है। न्यायप्रवेशकार शंकर-स्वामीने साध्यका स्थानापन्न 'अर्थ' का अवश्य निर्देश किया है। पर उन्होंने कारणका निर्देश अपूर्ण किया है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अकलंकके इस लक्षणकी एक विशेषता और भी है। वह यह कि उन्होंने 'तत्फलं हानादिवृद्धयः' शब्दों द्वारा अनुमानका फल भी निर्दिष्ट किया है। सम्भवतः इन्हीं सब बातोंसे उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने अकलंककी इस प्रतिष्ठित और पूर्ण अनुमान-परिभाषाको ही अपनाया। इस अनुमानलक्षणसे स्पष्ट है कि वही साधन अथवा लिङ्ग लिङ्ग (साध्य—अनुमेय) का गमक हो सकता है जिसके अविनाभावका निश्चय है। यदि उसमें अविनाभावका निश्चय नहीं है तो वह साधन नहीं है, भले ही उसमें तीन या पाँच रूप भी विद्यमान हों। जैसे 'वज्रलोहलेख्यं ह्येव, वयोकि पाषिच है, काष्ठकी तरह' इत्यादि हेतु तीन रूपों और पाँच रूपोंसे सम्पन्न होनेपर भी अविनाभावके अभावसे सद्घेतु नहीं है, अपितु हेत्वाभास है और इसीसे वे अपने साध्योंके अनुमापक नहीं माने जाते। इसी प्रकार एक मूर्हत बाद शकटका उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकाका उदय हो रहा है', 'समुद्रमें वृद्धि होना चाहिए अथवा कुमुदोंका विकास होना चाहिए, क्योंकि चन्द्रका उदय है' आदि हेतुओंमें पक्षधर्मत्व न होनेसे न त्रिरूपता है और न पंचरूपता। फिर भी अविनाभावके होनेसे कृत्तिकाका उदय शकटोदयका और चन्द्रका उदय समुद्रवृद्धि एवं कुमुदविकासका गमक है।

हेतुका एकलक्षण (अन्यथानुपपन्नत्व) स्वरूप :

हेतुका स्वरूपका प्रतिपादन अक्षपादसे आरम्भ होता है, ऐसा अनुसन्धानसे प्रतीत होता है। उनका वह लक्षण साधर्म्य और वैधर्म्य दोनों दृष्टान्तोंपर आधारित है। अत एव नैयायिक चिन्तकोंने उसे द्विलक्षण, त्रिलक्षण, चतुर्लक्षण और पंचलक्षण प्रतिपादित किया तथा उसकी व्याख्याएँ की हैं। वैशेषिक, बौद्ध, सांख्य आदि विचारकोंने उसे मात्र त्रिलक्षण बतलाया है। कुछ तार्किकोंने षड्लक्षण और सप्तलक्षण भी उसे कहा है, जैसा कि हम हेतुलक्षण प्रकरणमें पीछे देख आये हैं। पर जैन लेखकोंने अविनाभावको ही हेतुका प्रधान और एकलक्षण स्वीकार किया है तथा त्रैलक्ष्य, पांचरूप्य आदिको अव्याप्त और अतिव्याप्त बतलाया है, जैसा कि ऊपर अनुमानके स्वरूपमें प्रदर्शित उदाहरणोंसे स्पष्ट है। इस अविनाभावको ही अन्यथानुपपन्नत्व अथवा अन्यथानुपपत्ति या अन्तर्व्याप्ति कहा है। स्मरण रहे कि यह अविनाभाव या अन्यथानुपपन्नत्व जैन लेखकोंकी ही उपलब्धि है, जिसके उद्भावक आचार्य समन्तभद्र हैं, यह हम पीछे विस्तारके साथ कह आये हैं।

अनुमानका अङ्ग एकमात्र व्याप्ति :

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक और बौद्ध सभीने पक्षधर्मता और व्याप्ति दोनोंको अनुमानका अंग माना है। परन्तु जैन तार्किकोंने केवल व्याप्तिको उसका अंग बतलाया है। उनका मत है कि अनुमानमें पक्षधर्मता अनावश्यक है। 'उपरि कृष्टिरभूत् अधोपूरान्धयानुपपत्तेः' आदि अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म नहीं है फिर भी व्याप्तिके बलसे वह गमक है। 'स इयामस्तन्पुत्रत्वावितरतःपुत्रवत्' इत्यादि असद् अनुमानोंमें हेतु पक्षधर्म है किन्तु अविनाभाव न होनेसे वे अनुमापक नहीं हैं। अतः जैन चिन्तक अनुमानका अंग एकमात्र व्याप्ति (अविनाभाव) को ही स्वीकार करते हैं, पक्षधर्मताको नहीं।

पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर हेतुओंकी परिकल्पना :

अकलङ्कदेवने कुछ ऐसे हेतुओंकी परिकल्पना की है जो उनसे पूर्व नहीं माने गये थे। उनमें मुख्यतया पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये तीन हेतु हैं। इन्हें किसी अन्य तार्किकने स्वीकार किया हो, यह ज्ञात नहीं। किन्तु अकलङ्कने इनकी आवश्यकता एवं अतिरिक्तताका स्पष्ट निर्देश करते हुए स्वरूप प्रतिपादन किया है। अतः यह उनकी देन कही जा सकती है।

प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा अनुमान-प्रयोग

अनुमानप्रयोगके सम्बन्धमें जहाँ अन्य भारतीय दर्शनोंमें व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न प्रतिपाद्योंकी विवक्षा किये बिना अवयवोंका सामान्य कथन मिलता है वहाँ जैन विचारकोंने उक्त प्रतिपाद्योंकी अपेक्षा उनका विशेष प्रतिपादन भी किया है। व्युत्पन्नोके लिए उन्होंने पक्ष और हेतु ये दो अवयव आवश्यक बतलाये हैं। उन्हें दृष्टान्त आवश्यक नहीं है। 'सर्व क्षणिकं सत्वात्' जैसे स्थलोंमें बौद्धोंने और 'सर्वमभिषेयं प्रमेयत्वात्' जैसे केवलान्वयिहेतुक अनुमानोंमें नैयायिकोंने भी दृष्टान्तको स्वीकार नहीं किया। अव्युत्पन्नोके लिए उक्त दोनों अवयवोंके साथ दृष्टान्त, उपनय और निगमन इन तीन अवयवोंकी भी जैन चिन्तकोंने यथायोग्य आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसे और स्पष्ट यों समझिए—

गृह्यपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद और सिद्धसेनके प्रतिपादनसे अवगत होता है कि आरम्भमें प्रतिपाद्यसामान्यकी अपेक्षासे पक्ष, हेतु और दृष्टान्त इन तीन अवयवोंसे अभिप्रेतार्थ (साध्य) की सिद्धि की जाती थी। पर उत्तरकालमें अकलङ्कका संकेत पाकर कुमारनन्दि और विद्यानन्दने प्रतिपाद्योंकी व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न दो वर्गोंमें विभक्त करके उनकी अपेक्षासे पृथक्-पृथक् अवयवोंका कथन किया। उनके बाद माणिवयनन्दि, देवसूरि आदि परवर्ती जैन ग्रन्थकारोंने उनका समर्थन किया और स्पष्टतया व्युत्पन्नोके लिए पक्ष और हेतु ये दो तथा अव्युत्पन्नोके बोधार्थ उक्त दोके अतिरिक्त दृष्टान्त, उपनय और निगमन ये तीन सब मिलाकर पाँच अवयव निरूपित किये। भद्रबाहुने प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाशुद्धि आदि दश अवयवोंका भी उपदेश दिया, जिसका अनुसरण देवसूरि, हेमचन्द्र और यशोविजयने किया है।

व्याप्तिका ग्राहक एकमात्र तर्क :

अन्य भारतीय दर्शनोंमें भूयोदर्शन, सहचारदर्शन और व्यभिचाराग्रहको व्याप्तिग्राहक माना गया है। न्यायदर्शनमें वाचस्पति और सांख्यदर्शनमें विज्ञानभिक्षु इन दो तार्किकोंने व्याप्तिग्रहकी उपर्युक्त सामग्रीमें तर्कको भी सम्मिलित कर लिया। उनके बाद उदयन, गंगेश, वर्द्धमान प्रभृति तार्किकोंने भी उसे व्याप्तिग्राहक मान लिया। पर स्मरण रहे, जैन परम्परामें आरम्भसे तर्कको, जिसे चिन्ता, ऊहा आदि शब्दोंसे व्यवहृत किया गया है, अनुमानकी एकमात्र सामग्रीके रूपमें प्रतिपादित किया है। अकलङ्क ऐसे जैन

तार्किक है जिन्होंने वाचस्पति और विज्ञानभिक्षुसे पूर्व सर्व प्रथम तर्कको व्याप्तिग्राहक समर्थित एवं सम्पुष्ट किया तथा सबलतासे उसका प्रामाण्य स्थापित किया । उनके पश्चात् सभीने उसे व्याप्तिग्राहक स्वीकार कर लिया ।

तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति :

यद्यपि बहिर्व्याप्ति, सकलव्याप्ति और अन्तर्व्याप्तिके भेदसे व्याप्तिके तीन भेदों, समव्याप्ति और विषमव्याप्तिके भेदसे उसके दो प्रकारों तथा अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति इन दो भेदोंका वर्णन तर्कग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है किन्तु तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति इन दो व्याप्तिप्रकारों (व्याप्तिप्रयोगों) का कथन केवल जैन तर्कग्रन्थोंमें पाया जाता है । इनपर ध्यान देनेपर जो विशेषता ज्ञात होती है वह यह है कि अनुमान एक ज्ञान है उसका उपादान कारण ज्ञान ही होना चाहिए । तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति ये दोनों ज्ञानात्मक हैं, जब कि उपर्युक्त व्याप्तियाँ ज्ञेयात्मक (विषयात्मक) हैं । दूसरी बात यह है कि उक्त व्याप्तियोंमें एक अन्तर्व्याप्ति ही ऐसी व्याप्ति है, जो हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, अन्य व्याप्तियाँ अन्तर्व्याप्तिके बिना अव्याप्त और अतिव्याप्त हैं, अतएव वे साधक नहीं हैं । तथा यह अन्तर्व्याप्ति ही तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्तिरूप है अथवा उनका विषय है । इन दोनोंमेंसे किसी एकका ही प्रयोग पर्याप्त है । इनका विशेष विवेचन अन्यत्र किया गया है ।

साध्याभास :

अकलङ्कने अनुमानाभासोंके विवेचनमें पक्षाभास या प्रतिज्ञाभासके स्थानमें साध्याभास शब्दका प्रयोग किया है । अकलङ्कके इस परिवर्तनके कारणपर सूक्ष्म ध्यान देनेपर अवगत होता है कि चूँकि साधनका विषय (गम्य) साध्य होता है और साधनका अविनाभाव (व्याप्तिसम्बन्ध) साध्यके ही साथ होता है, पक्ष या प्रतिज्ञाके साथ नहीं, अतः साधनाभास (हेत्वाभास) का विषय साध्याभास होनेसे उसे ही साधनाभासोंकी तरह स्वीकार करना युक्त है । विद्यानन्दने अकलङ्ककी इस सूक्ष्म दृष्टिको परखा और उनका सयुक्तिक समर्थन किया । यथार्थमें अनुमानके मुख्य प्रयोजक साधन और साध्य होनेसे तथा साधनका साधा सम्बन्ध साध्यके साथ ही होनेसे साधनाभासकी भाँति साध्याभास ही विवेचनीय है । अकलङ्कने शक्य, अभिप्रेत और असिद्धको साध्य तथा अशक्य, अनभिप्रेत और सिद्धको साध्याभास प्रतिपादित किया है—(साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम् । साध्याभासं विशुद्धादि साधनाविषयत्वतः ॥)

अकिञ्चित्कर हेत्वाभास :

हेत्वाभासोंके विवेचन-सन्दर्भमें सिद्धसेनने कणाद और न्यायप्रवेशकारकी तरह तीन हेत्वाभासोंका कथन किया है, अक्षपादकी भाँति उन्होंने पाँच हेत्वाभास स्वीकार नहीं किये । प्रश्न ही सकता है कि जैन तार्किक हेतुका एक (अविनाभाव—अन्यथानुपपन्नत्व) रूप मानते हैं, अतः उसके अभावमें उनका हेत्वाभास एक ही होना चाहिए । वैशेषिक, बौद्ध और सांख्य तो हेतुको त्रिरूप तथा नैयायिक पंचरूप स्वीकार करते हैं, अतः उनके अभावमें उनके अनुसार तीन और पाँच हेत्वाभास तो युक्त हैं । पर सिद्धसेनका हेत्वाभास-त्रैविध्य प्रतिपादन कैसे युक्त है ? इसका समाधान सिद्धसेन स्वयं करते हुए कहते हैं कि चूँकि अन्यथानुपपन्नत्वका अभाव तीन तरहसे होता है—कहीं उसकी प्रतीति न होने, कहीं उसमें सन्देह होने और कहीं उसका विपर्यास होनेसे; प्रतीति न होनेपर असिद्ध, सन्देह होनेपर अनैकान्तिक और विपर्यास होनेपर विरुद्ध ये तीन हेत्वाभास होते हैं ।

अकलङ्क कहते हैं कि यथार्थमें हेत्वाभास एक ही है और वह है अकिञ्चित्कर, जो अन्यथानुपपन्नत्व-के अभावमें होता है। वास्तवमें अनुमानका उत्पापक अविनाभावो हेतु ही है, अतः अविनाभाव (अन्यथानुपपन्नत्व) के अभावमें हेत्वाभासको सृष्टि होती है। यतः हेतु एक अन्यथानुपपन्नरूप ही है, अतः उसके अभावमें मूलतः एक ही हेत्वाभास मान्य है और वह है अन्यथा उपपन्नत्व अर्थात् अकिञ्चित्कर। असिद्धादि उसीका विस्तार हैं। इस प्रकार अकलङ्कके द्वारा 'अकिञ्चित्कर' नामके नये हेत्वाभासकी परिकल्पना उनकी अन्यतम उपलब्धि है।

बालप्रयोगाभास :

माणिक्यनन्दिने आभासोंका विचार करते हुए अनुमानाभाससन्दर्भमें एक 'बालप्रयोगाभास' नामके नये अनुमानाभासकी चर्चा प्रस्तुत की है। इस प्रयोगाभासका तात्पर्य यह है कि जिस मन्दप्रज्ञको समझानेके लिए तीन अवयवोंकी आवश्यकता है उसके लिए दो ही अवयवोंका प्रयोग करना, जिसे चारकी आवश्यकता है उसे तीन और जिसे पाँचकी जरूरत है उसे चारका ही प्रयोग करना अथवा विपरीत क्रमसे अवयवोंका कथन करना बालप्रयोगाभास है और इस तरह के चार (द्वि-अवयवप्रयोगाभास, त्रि-अवयवप्रयोगाभास, चतुरवयवप्रयोगाभास और विपरीतावयवप्रयोगाभास) सम्भव हैं। माणिक्यनन्दिसे पूर्व इनका कथन दृष्टि-गोचर नहीं होता। अतः इनके पुरस्कर्ता माणिक्यनन्दि प्रतीत होते हैं।

अनुमानमें अभिनिबोध-मतिज्ञानरूपता और श्रुतरूपता :

जैन वाङ्मयमें अनुमानकी अभिनिबोधमतिज्ञान और श्रुत दोनों निरूपित किया है। तत्त्वार्थसूत्रकारने उसे अभिनिबोध कहा है जो मतिज्ञानके पर्यायोंमें पठित है। षट्खण्डागमकार भूतबलि-पुष्पदन्तने उसे 'हेतुवाद' नामसे व्यवहृत किया है और श्रुतके पर्यायनामोंमें गिनाया है। यद्यपि इन दोनों कथनोंमें कुछ विरोध-सा प्रतीत होगा। पर विद्यानन्दने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने स्वार्थानुमानको अभिनिबोध कहा है, जो वचनात्मक नहीं है और षट्खण्डागमकार तथा उनके व्याख्याकार वीरसेनने परार्थानुमानको श्रुतरूप प्रतिपादित किया है, जो वचनात्मक होता है। विद्यानन्दका यह समन्वयात्मक सूक्ष्म चिन्तन जैन तर्कशास्त्रमें एक नया विचार है जो विशेष उल्लेख्य है। इस उपलब्धिका सम्बन्ध विशेषतया जैन ज्ञान-मीमांसाके साथ है।

इस तरह जैन चिन्तकोंकी अनुमानविषयमें अनेक उपलब्धियाँ हैं। उनका अनुमान-सम्बन्धी चिन्तन भारतीय तर्कशास्त्रके लिए कई नये तत्त्व देता है।

न्याय-विद्यामृत

न्याय एक विद्या है, जिसे न्यायशास्त्र, तर्कशास्त्र, आन्वीक्षिकी विद्या और हेतुविद्या या हेतुवाद कहा गया है। आचार्य अनन्तवीर्यने तो इस न्याय-विद्याको अमृत कहा है। परीक्षा-मुखकी व्याख्याके आरम्भमें मङ्गलाचरणके बाद वे लिखते हैं^१—

अकलङ्कवचोऽम्भोधेरुद्घ्रे येन धीमता ।
न्याय-विद्यामृतं तस्मै नमो माणिक्यनन्दिने ॥

‘विद्वत्तासे ओतप्रोत जिन विद्वान् आचार्य माणिक्यनन्दिने अकलङ्कके वचन-समुद्रका अवगाहन कर उससे न्यायविद्यारूप अमृतको निकाला अर्थात् परीक्षामुख लिखा उन माणिक्यनन्दिनेके लिए विनम्रतापूर्वक नमस्कार (प्रणाम) करता हूँ।’

यहाँ अनन्तवीर्यने माणिक्यनन्दिने परीक्षामुखको ‘न्यायविद्यामृत’ कहा है, जो जैन न्यायका आद्यसूत्र ग्रन्थ है। अमृत जिस प्रकार अमरत्व प्रदान करता है उसी प्रकार न्यायविद्या तत्त्वज्ञानको प्रदान कर आत्माको अमर (मिथ्याज्ञानादि संसार-बन्धनसे मुक्त) कर देती है। निश्चय ही यह न्याय-विद्याके प्रभावकी उद्घोषणा है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणको अथवा प्रमाणन्यात्मक युक्तिको न्याय कहा है^२। निपूर्वक ‘इण्’ गमनार्थक धातुसे ‘करण’ अर्थमें ‘घञ्’ प्रत्यय करनेपर ‘न्याय’ शब्दकी सिद्धि होती है, जिसका यह अर्थ होता है कि जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान निश्चित रूपमें होता है। तत्त्वार्थसूत्रकारने भी यही लिखा है^३। वे कहते हैं कि प्रमाण और नयमे जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान होता है। अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए प्रमाण-न्यात्मक न्यायविद्याका अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है^४। इसलिए ऐसी विद्याको ‘अमृत’ कहा जाना उपयुक्त है।

सभी दर्शनोंमें इस विद्याका प्रतिपादन और विशेष विवेचन किया गया है। जैन दर्शनमें इस विद्याके प्रचुर बीज आचार्य वृद्धपिच्छके^५ तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होते हैं। स्वामी समन्तभद्रके देवायम^६ (आप्तभीमांसा), युवस्थनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्रमें न्यायका विकासारम्भ प्राप्त है।

१. प्रमेयरत्नमाला, प्रथम समुद्देश, श्लोक २।

२. प्रत्यक्षादिप्रमाणं न्यायः। अथवा नयप्रमाणात्मिका युक्तिन्यायः। निपूर्वादिण्गतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्ययः, तेन न्यायशब्दसिद्धिः। नितरां ईयते जायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः।—वही, टिप्पण पृ० ४।

३. त० सू० १-६।

४. न्यायदी० पृ० ५, मूल व टिप्पण०।

५. ‘तत्त्वार्थसूत्रमें न्यायशास्त्रके बीज’ शीर्षक निबन्ध, जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७०।

६. इन्होंने अपने ग्रन्थोंमें न्यायशास्त्रकी एक उत्तम एवं योग्य भूमिका प्रस्तुत की है, जिसे जैन न्यायके विकासका आदिकाल कह सकते हैं। देखो, जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७ से ११।

स्वामी समन्तभद्रने भारतीय दार्शनिक क्षेत्रके जैन दर्शन क्षेत्रमें युग-प्रवर्तकका कार्य किया है। उनके पहले जैन दर्शनके प्राणभूत तत्त्व 'स्याद्वाद' को प्रायः आगमरूप ही प्राप्त था और उसका आगमिक तत्त्वोंके निरूपणमें ही उपयोग होता था तथा सीधी-साधी विवेचना कर दी जाती थी। विशेष युक्तिवाद देनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। किन्तु समन्तभद्रके समयमें उस युक्तिवादकी आवश्यकता महसूस हुई। दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके सांस्कृतिक इतिहासमें अपूर्व दार्शनिक क्रान्तिकार रहा है, इस समय सभी दर्शनोंमें अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् पैदा हुए हैं। यह हम उस समयके दार्शनिक ग्रन्थोंसे ज्ञात कर सकते हैं। समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा इसकी साक्षी है, जिसमें भावैकान्त, अभावैकान्त आदि अनेक एकान्तोंकी चर्चा और उनकी समालोचना उपलब्ध है। इसीलिए समन्तभद्रके कालको जैन न्यायके विकासका आदिकाल कहा जाता है। इस तरह इस आदिकाल अथवा समन्तभद्रकालमें जैन न्यायकी एक योग्य और उत्तम भूमिका तैयार हो गयी थी।

उक्त भूमिकापर जैन न्यायका उत्सुंग और सर्वांगपूर्ण महान् प्रासाद जिस कुशल और तीक्ष्णबुद्धि तार्किक-शिल्पीने खड़ा किया, वह है अकलंक। अकलंकके कालमें भी समन्तभद्रसे कहीं अधिक जबर्दस्त दार्शनिक मुठभेड़ हो रही थी। एक तरफ शशद्वैतवादी भर्तृहरि, प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल, न्यायनिष्णात उद्योतकर प्रभृति वैदिक विद्वान् अपने पक्षोंपर आरूढ़ थे, तो दूसरी ओर धर्मकीर्ति और उनके तर्कपटु शिष्य एवं व्याख्याकार प्रजाकर, धर्मांतर, कर्णकगोमि आदि बौद्ध तार्किक अपने पक्षपर दृढ़ थे। शास्त्रार्थी और शास्त्रनिर्माणकी पराकाष्ठा थी। प्रत्येक दार्शनिकका प्रयत्न था कि वह जिस किसी तरह अपने पक्षको सिद्ध करे और परपक्षका निराकरण कर विजय प्राप्त करे। इतना ही नहीं, परपक्षको असद् प्रकारोंसे पराजित एवं तिरस्कृत भी किया जाता था। विरोधीको 'पशु', 'अहोर्क' जैसे गहिर्त शब्दोंसे व्यवहृतकर उसके सिद्धान्तोंको तुच्छ प्रकट किया जाता था। यह काल जहाँ तर्कके विकासका मध्याह्न माना जाता है वहाँ इस कालमें न्यायका बड़ा उपहास भी हुआ है। तत्त्वके संरक्षणके लिए छल, जाति, निग्रहस्थान जैसे असद् उपायोंका खुलकर प्रयोग करना और उन्हें शास्त्रार्थका अंग मानना इस कालकी देन बन गयी^१। क्षणिकवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि पक्षोंका समर्थन इस कालमें घड़लेसे किया गया और कट्टरतासे इतरका निरास किया गया।

तीक्ष्णदृष्टि अकलङ्कने इस स्थितिका अध्ययन किया और सभी दर्शनोंका गहरा एवं सूक्ष्म अभ्यास किया। इसके लिए उन्हें कांची, नालन्दा आदिके तत्कालीन विद्यापीठोंमें प्रवृत्त वेषमें रहना पड़ा। समन्तभद्र द्वारा स्थापित स्याद्वादन्यायकी भूमिकाको ठीक तरह न समझनेके कारण दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, उद्योतकर, कुमारिल आदि बौद्ध-वैदिक विद्वानोंने पक्षाग्रही दृष्टिका ही समर्थन किया था तथा जैन दर्शनके स्याद्वाद, अनेकान्त आदि सिद्धान्तोंपर आक्षेप किये थे। अतः अकलङ्कने महाप्रयास करके तीन अपूर्व कार्य किये। एक तो शास्त्रार्थों द्वारा जैन दर्शनके सही रूपको प्रस्तुत किया और आक्षेपोंका निराकरण किया। दूसरा कार्य यह किया कि स्याद्वादन्यायपर आरोपित दूषणोंको दूर कर उसे स्वच्छ बनाया और तीसरा कितना ही नया निर्माण किया। यही कारण है कि उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थोंमें चार ग्रन्थ केवल न्यायशास्त्रपर ही लिखे गये हैं, जिनमें विभिन्न वादियों द्वारा दिये गये सभी दूषणोंका परिहार कर उनके एकान्त सिद्धान्तों की कड़ी समीक्षा की गयी है और जैन न्यायके जिन आवश्यक उपादानोंका जैन दर्शनमें विकास नहीं हो सका था, उनका उन्होंने विकास किया अथवा उनकी प्रतिष्ठा की है। उनके वे महत्वपूर्ण न्यायग्रन्थ निम्न

१. न्यायसू० १।१।१, ४।२।५०, १।२।२, ३, ४ आदि और उनकी व्याख्याएँ।

प्रकार हैं—१. न्यायविनिश्चय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) २. सिद्धि-विनिश्चय, ३. प्रमाणसंग्रह और ४. लघीय-स्त्रय (स्वोपज्ञवृत्ति सहित) । ये चारों ग्रन्थ कारिकात्मक हैं ।

अकलङ्कने जैन न्यायको जो रूपरेखा और दिशा निर्धारित की, उसीका अनुसरण उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकोंने किया है । हरिभद्र, वीरसेन, कुमारनन्द विद्यानन्द, अनन्तवीर्य प्रथम, वादिराज, माणिक्यनन्द आदि मध्ययुगीन आचार्योंने उनके कार्यको आगे बढ़ाया और उसे यशस्वी बनाया है । उनके सूत्रात्मक एवं दुरूह कथनको इन आचार्योंने अपनी रचनाओं द्वारा सुविस्तृत और सुपुष्ट किया है । हरिभद्रकी अने कान्तजयपताका, शास्त्रवातसिमुच्चय, वीरसेनकी तर्कबहुल धवला-जयधवला टीकाएँ, कुमारनन्दिका वाद-न्याय, विद्यानन्दके विद्यानन्दमहोदय, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, आप्त-परीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य, वादिराजके न्यायविनिश्चय-विवरण, प्रमाण-निर्णय और माणिक्यनन्दिका परीक्षामुख इस कालकी अनूठी न्याय-रचनाएँ हैं ।

जैन न्यायके विकासका उत्तरकाल प्रभाचन्द्रका काल माना जा सकता है, क्योंकि प्रभाचन्द्रने इस कालमें अपने पूर्वज आचार्योंका अनुगमन करते हुए जो विशालकाय व्याख्याग्रन्थ लिखे हैं वैसे व्याख्याग्रन्थ उनके बाद नहीं लिखे गये । अकलंकके लघीयस्त्रयपर लघीयस्त्रयालंकार, जिसका दूसरा नाम न्यायकुमुदचन्द्र है और माणिक्यनन्दके परीक्षामुखपर प्रमेयकमलमार्तण्ड नामकी प्रमेयबहुल एवं तर्कपूर्ण टीकाएँ रची हैं, जो प्रभाचन्द्रकी अमोघ तर्कण और उज्ज्वल यशको प्रसूत करती हैं । अभयदेवकी सन्मसितर्कटीका और वादि-देवसूरिका स्याद्वादरत्नाकर (प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकारटीका) ये दो टीकाएँ भी महत्वपूर्ण हैं, जो प्रभाचन्द्रकी तर्क-पद्धतिसे प्रभावित हैं ।

इस कालमें मौलिक ग्रन्थोंके निर्माणकी क्षमता प्रायः कम हो गयी और व्याख्याग्रन्थोंका निर्माण हुआ । लघु अनन्तवीर्यने परीक्षामुखकी लघुवृत्ति—प्रमेयरत्नमाला, अभयदेवने सन्मसितर्कटीका, देवसूरिने प्रमाणनय-तत्त्वालोकालंकार और उसकी स्वोपज्ञ टीका स्याद्वादरत्नाकर, अभयचन्द्रने लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति, हेमचन्द्रने प्रमाणमीमांसा, मल्लिषेणने स्याद्वादमंजरी, आशाधरने प्रमेयत्नाकर, भावसेनने विश्वतत्त्वप्रकाश, अजितसेनने न्यायमणिदीपिका, धर्मभूषणने न्यायदीपिका, चारुकीर्तिने अर्थप्रकाशिका और प्रमेयरत्नालंकार, विमलदासने सप्तभङ्गि-तरंगिणी, नरेन्द्रसेनने प्रमाणप्रमेयकलिका और यशोविजयने अष्टसहस्रीविवरण, ज्ञानविन्दु और जैन तर्कभाषाकी रचना की, जो विशेष उल्लेखयोग्य न्यायग्रन्थ हैं । इसके बाद जैन न्यायकी धारा प्रायः बन्द हो गयी । हाँ, बीसवीं शताब्दीमें श्री गणेशप्रसाद वर्णी न्यायाचार्य, पं० माणिक्यन्द्रजी न्यायाचार्य, पं० सुखलालजी प्रज्ञाचक्षु, पं० दलसुखभाई मालवणिया और पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यके भी नाम उल्लेख योग्य हैं, जिन्होंने न्यायशास्त्रका गहरा अध्ययन किया और न्यायग्रन्थोंका सम्पादनकर उनके साथ शोधपूर्ण प्रस्तावनाएँ निबद्ध की हैं ।

इस न्याय-विद्याके अध्ययनकी चिह्नता और पाण्डित्य प्राप्त करनेके लिए बहुत आवश्यकता है । उससे बुद्धि पैनी एवं तर्कप्रवण होती है । न्यायशास्त्रका अध्ययन परीक्षा-चक्षु होता है ।

न्यायविद्याके अध्ययनसे लाभ

१. हरेके व्यक्तिकी बुद्धि स्वभावतः कुछ न कुछ तर्कशील रहती है । न्यायशास्त्रके अध्ययनसे उस तर्कमें विकास होता है, बुद्धि परिमार्जित होती है, प्रश्न करने और उसे जमा कर उपस्थित करनेका बुद्धिमें माद्दा आता है । बिना तर्ककी बुद्धि कभी-कभी ऊटपटांग—जीको स्पर्श न करने वाले प्रश्न कर बैठती है, जिससे व्यक्ति हास्यका पात्र बनता है ।

२. न्याय-ग्रन्थोंका पढ़ना व्यवहारकुशलताके लिये भी उपयोगी है। उससे हमें यह मालूम हो जाती है कि दुनियामें भिन्न-भिन्न विचारोंके लोग हमेशासे रहे हैं और रहेंगे। यदि हमारे विचार ठीक और सत्य हैं और दूसरेके विचार ठीक एवं सत्य नहीं हैं तो दर्शनशास्त्र हमें दिशा दिखाता है कि हम सत्यके साथ सहिष्णु भी बनें और अपनेसे विरोधी विचार वालोंको अपने तर्कों द्वारा ही सत्यकी ओर लानेका प्रयत्न करें, जोर-जबरदस्तीसे नहीं। जैन दर्शन सत्यके साथ सहिष्णु है। इसीलिये वह और उसका सम्प्रदाय भारतमें टिका चला आ रहा है, अन्यथा बौद्ध आदि दर्शनोंकी तरह उसका टिकना अशक्य था। अन्धध्रुवाको हटाने, वस्तु-स्थितिकी समझने और विभिन्न विचारोंका समन्वय करनेके लिये न्याय एवं दार्शनिक ग्रन्थोंका पढ़ना, मनन करना, चिन्तन करना जरूरी है। न्याय-ग्रन्थोंमें जो आलोचना पाई जाती है उसका उद्देश्य केवल इतना ही है कि सत्यका प्रकाशन और सत्यरूप ग्रहण हो। न्यायालयमें भी झूठे पक्षकी आलोचनाकी ही जाती है।

३. न्यायशास्त्रका प्रभावक्षेत्र व्यापक है। व्याकरण, साहित्य, राजनीति, इतिहास, सिद्धान्त आदि सबपर इसका प्रभाव है। कोई भी विषय ऐसा नहीं है जो न्यायके प्रभावसे अछूता हो। व्याकरण और साहित्यके उच्च ग्रन्थोंमें न्यायसूर्यका तेजस्वी और उज्ज्वल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ मिलागा। मैं उन मित्रोंको जानता हूँ जो व्याकरण और साहित्यके अध्ययनके समय न्यायके अध्ययनकी अपनेमें महसूस करते हैं और उसकी आवश्यकतापर जोर देते हैं। इससे स्पष्ट है कि न्यायका अध्ययन कितना उपयोगी और लाभदायक है।

४. किसी भी प्रकारकी विद्वत्ता प्राप्त करने और किसी भी प्रकारके साहित्य-निर्माण करनेके लिये चलता दिमाग चाहिए। यदि चलता दिमाग नहीं है तो वह न तो विद्वान बन सकता है और न किसी तरहके साहित्यका निर्माण ही कर सकता है। और यह प्रकट है कि चलता दिमाग मुख्यतः न्यायशास्त्रसे होता है। उसे दिमागको तीक्ष्ण एवं द्रुत गतिसे चलता करनेके लिए उसका अवलम्बन जरूरी है। सोनेमें चमक कसौटीपर ही की जाती है। अतः साहित्यसेवी और विद्वान बननेके लिए न्यायका अभ्यास उतना ही जरूरी है जितना आज राजनीति और इतिहासका अध्ययन।

५. न्यायशास्त्रमें कुशल व्यक्ति सब दिशाओंमें जा सकता है और सब क्षेत्रोंमें अपनी विशिष्ट उन्नति कर सकता है—वह असफल नहीं हो सकता। सिर्फ शर्त यह कि वह न्यायग्रन्थोंका केवल भारवाही न हो। उसके रससे पूर्णतः अनुप्राणित हो।

६. निसर्गत तर्क कम लोगोंमें होता है। अधिकांश लोगोंमें तो अधिगमज तर्क ही होता है, जो साक्षात् अथवा परम्परया न्यायशास्त्र—तर्कशास्त्रके अभ्याससे प्राप्त होता है। अतएव जो निसर्गतः तर्कशील नहीं हैं उन्हें कभी भी हताश नहीं होना चाहिए और न्यायशास्त्रके अध्ययन द्वारा अधिगमज तर्क प्राप्त करना चाहिए। इससे वे न केवल अपना ही लाभ उठा सकते हैं किन्तु वे साहित्य और समाजके लिए भी अपूर्व देनकी सृष्टि कर सकते हैं।

७. समन्तभद्र, अकलंक, विद्वानन्द आदि जो बड़े-बड़े दिग्गज प्रभावशाली विद्वानाचार्य हुए हैं वे सब न्यायशास्त्रके अभ्याससे ही बने हैं। उन्होंने न्यायशास्त्र-रत्नकारका अच्छी तरह अवगाहन करके ही उत्तम-उत्तम ग्रन्थरत्न हमें प्रदान किये हैं, जिनका प्रकाश आज प्रकट है और जो हमें धरोहरके रूपमें सौभाग्यसे प्राप्त हैं। हमारा कर्तव्य है कि हम उन रत्नोंकी आभाको अधिकाधिक रूपमें दुनियामें कोने-कोनेमें फैलायें, जिससे जैन शासनकी महत्ता और जैन दर्शनका प्रभाव लोकमें ख्यात हो।

वस्तुतः न्याय-विद्या एक बहुत उपयोगी और लाभदायक विद्या है, जिसका अध्ययन लौकिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियोंसे आवश्यक है।

चतुर्थ खण्ड

इतिहास और साहित्य

इतिहास और साहित्य



१. स्याद्वादसिद्धि और वादीभसिंह
२. द्रव्यसंग्रह और नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव
३. शासन-चतुस्त्रशतिका और मदनकीर्ति
४. संजदपदके सम्बन्धमें अकलंकदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत
५. ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका सद्भाव
६. नियमसारकी ५३वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन
७. अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहमुक्तिका आवश्यक : कुछ प्रश्न और समाधान
८. गुणचन्द्रमुनि कौन हैं ?
९. कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?
१०. गजपथ तीर्थक्षेत्रका एक अतिप्राचीन उल्लेख
११. अनुसंधानविषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर
१२. आचार्य कुन्दकुन्द
१३. आचार्य गृद्धपिच्छ
१४. आचार्य समन्तभद्र

स्याद्वादसिद्धि और वादीभसिंह

स्याद्वादसिद्धि

(क) ग्रन्थ-परिचय

इस ग्रन्थरत्नका नाम 'स्याद्वादसिद्धि' है। यह दार्शनिकशिरोमणि वादीभसिंहसूरिद्वारा रची गई महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटिकी दार्शनिक कृति है। इसमें जैनदर्शनके मौलिक और महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' का प्रतिपादन करते हुए उसका विभिन्न प्रमाणों तथा युक्तियोंसे साधन किया गया है। अतएव इसका 'स्याद्वाद-सिद्धि' यह नाम भी सार्थक है। यह प्रख्यात जैन तार्किक अकलंकदेवके न्यायविनिश्चय आदि जैसा ही कारिकात्मक प्रकरणग्रन्थ है। किन्तु दुःख है कि यह विद्यानन्दकी 'सत्यशासनपरीक्षा' और हेमचन्द्रकी 'प्रमाण-मीमांसा' की तरह खण्डित एवं अपूर्ण ही उपलब्ध होती है। मालूम नहीं, यह अपने पूरे रूपमें और किसी शास्त्रभण्डारमें पायी जाती है या नहीं,। अथवा ग्रन्थकारके अन्तिम जीवनकी यह रचना है जिसे वे स्वर्गवास हो जानेके कारण पूरा नहीं कर सके? मूढविद्वीके जैनमठसे जो इसकी एक अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण और प्राचीन ताडपत्रीय प्रति प्राप्त हुई है तथा जो बहुत ही खण्डित दशामें विद्यमान है—जिसके अनेक पत्र मध्यमें और किनारोंपर टूटे हुए हैं और सात पत्र तो बीचमें बिल्कुल ही गायब हैं उससे जान पड़ता है कि ग्रन्थकारने इसे सम्भवतः पूरे रूपमें ही रचा है। यदि यह अभी नष्ट नहीं हुई है तो असम्भव नहीं कि इसका अनु-सन्धान होनेपर यह किसी दूसरे जैन या जैनेतर शास्त्रभण्डारमें मिल जाय।

यह प्रसन्नताकी बात है कि जितनी रचना उपलब्ध है उसमें १३ प्रकरण तो पूरे और १४ वाँ तथा अगले २ प्रकरण अपूर्ण और इस तरह पूर्ण-अपूर्ण १६ प्रकरण मिलते हैं। और इन सब प्रकरणोंमें (२४ + ४४ + ७४ + ८९ + ३२ + २२ + २२ + २१ + २३ + ३९ + २८ + १६ + २१ + ७० + १३८ + ६३ =) ६७० जितनी कारिकाएँ सन्निबद्ध हैं। इससे ज्ञात हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महान् और विशाल है। दुर्भाग्यसे अब तक यह विद्वत्संसारके समक्ष शायद नहीं आया और इसलिए अभी तक अपरिचित तथा अप्रकाशित दशामें पड़ा चला आया।

(ख) भाषा और रचनाशैली

दार्शनिक होनेपर भी इसकी भाषा विशद और बहुत कुछ सरल है। ग्रन्थको सहजभावसे पढ़ते जाइये, विषय समझमें आता जायेगा। हाँ, कुछ ऐसे भी स्थल हैं जहाँ पाठकको अपना पूरा उपयोग लगाना पड़ता है और जिससे ग्रन्थकी प्रौढता, विशिष्टता एवं अपूर्वताका भी कुछ अनुभव हो जाता है। यह ग्रन्थकारकी मौलिक स्वतन्त्र पद्यात्मक रचना है—किसी दूसरे गद्य या पद्यरूप मूलकी व्याख्या नहीं है। इस प्रकारकी रचनाको रचनेकी प्रेरणा उन्हें अकलंकदेवके न्यायविनिश्चयआदि और शान्तरक्षितादिके तत्त्वसंग्रहादिसे मिली जान पड़ती है।

धर्मकीर्ति (६२५ ई०) ने सन्तानांतरसिद्धि, कल्याणरक्षित (७०० ई०) ने बाह्यार्थसिद्धि, धर्मोत्तर (ई० ७२५) ने परलोकसिद्धि और क्षणभङ्गसिद्धि तथा शङ्करानन्द (ई० ८००) ने अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धि जैसे नामोंवाले ग्रन्थ बनाये हैं और इनसे भी पहले स्वामी समन्तभद्र (विक्रमकी २ री, ३ री शती)

और पूज्यपाद-देवनन्द (विक्रमकी ६ ठी शती) ने क्रमशः जीवसिद्धि तथा सर्वार्थसिद्धि जैसे सिद्धघन्त नामके ग्रन्थ रचे हैं। सम्भवतः वादीभसिंहने अपनी यह 'स्याद्वादसिद्धि' भी उसी तरह सिद्धघन्त नामसे रची है।

(ग) विषय-परिचय

ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारने प्रथमतः पहली कारिकाद्वारा मञ्जुलाचरण और दूसरी कारिकाद्वारा ग्रन्थ बनानेका उद्देश्य प्रदर्शित किया है। इसके बाद उन्होंने विवक्षित विषयका प्रतिपादन आरम्भ किया है। वह विवक्षित विषय है स्याद्वादकी सिद्धि और उसीमें तत्त्वव्यवस्थाका सिद्ध होना। इन्हीं दो बातोंका इसमें कथन किया गया है और प्रसङ्गतः दर्शनान्तरीय मन्तव्योंकी समीक्षा भी की गई है।

इसके लिये ग्रन्थकारने प्रस्तुत ग्रन्थमें अनेक प्रकरण रखे हैं। उपलब्ध प्रकरणोंमें विषय-वर्णन इस प्रकार है :—

१. जीवसिद्धि—इसमें चार्वाकको लक्ष्य करके सहेतुक जीव (आत्मा) की सिद्धि की गई है और उसे भूतसंघातका कार्य माननेका निरसन किया गया है। इस प्रकरणमें २४ कारिकाएँ हैं।

२. फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें बौद्धोंके क्षणिकवादमें दूषण दिये गये हैं। कहा गया है कि क्षणिक चित्तसन्तानरूप आत्मा धर्मादिजन्य स्वर्गादि फलका भोक्ता नहीं बन सकता, क्योंकि धर्मादि करने-वाला चित्त क्षणध्वंसी है—वह उसी समय नष्ट हो जाता है और यह नियम है कि 'कर्त्ता ही फलभोक्ता होता है' अतः आत्माको कर्त्तृचित् नाशशील—सर्वथा नाशशील नहीं—स्वीकार करना चाहिए। और उस हालतमें कर्त्तृत्व और फलभोक्तृत्व दोनों एक (आत्मा) में बन सकते हैं। यह प्रकरण ४४ कारिकाओंमें पूरा हुआ है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि—इसमें वस्तुको युगपत्—एक साथ वास्तविक अनेकधर्मात्मक सिद्ध किया गया है और बौद्धाभिमत अपोह, सन्तान, सादृश्य तथा संवृत्ति आदिकी युक्तिपूर्ण समीक्षा करते हुए चित्तक्षणोंको निरन्वय एवं निरंश स्वीकार करनेमें एक दूषण यह दिया गया है कि जब चित्तक्षणोंमें अन्वय (व्यापिद्रव्य) नहीं है—वे परस्पर सर्वथा भिन्न हैं तो 'दाताको ही स्वर्ग और वधकको ही नरक हो' यह नियम नहीं बन सकता। प्रत्युत इसके विपरोत भी सम्भव है—दाताको नरक और वधकको स्वर्ग क्यों न हो? इस प्रकरणमें ७४ कारिकाएँ हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि—इसमें वस्तुको क्रमसे वास्तविक अनेक धर्मवाली सिद्ध किया है। यह प्रकरण भी तीसरे प्रकरणकी तरह क्षणिकवादी बौद्धोंको लक्ष्य करके लिखा गया है। इसमें कहा गया है कि यदि पूर्व और उत्तर पर्यायोंमें एक अन्वयी द्रव्य न हो तो न तो उपादानोपादेयभाव बन सकता है, न प्रत्यभिज्ञा बनती है, न स्मरण बनता है और न व्याप्तिग्रहण ही बनता है, क्योंकि क्षणिकैकान्तमें उन (पूर्व और उत्तर पर्यायों) में एकता सिद्ध नहीं होती, और ये सब उसी समय उपपन्न होते हैं जब उनमें एकता (अनुस्यूतरूपसे रहनेवाला एकपना) हो। अतः जिस प्रकार मिट्टी क्रमवर्ती स्थास-कोश-कुशूल-कपाल-धटादि अनेक पर्याय-धर्मोंसे युक्त है उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ भी क्रमसे नानाधर्मात्मक हैं और वे नाना धर्म उनके उसी तरह वास्तविक हैं जिस तरह मिट्टीके स्थासादिक।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि वादीभसिंहकी तरह विद्यानन्दने भी अनेकान्तके दो भेद बतलाये

१. गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये ।

तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥—तत्त्वार्थश्लो० श्लो० ४३८

है—एक सहानेकान्त और दूसरा क्रमानेकान्त । और इन दोनों अनेकान्तोंकी प्रसिद्धि एवं मान्यताको उन्होंने श्रीगृद्धपिच्छाचार्यके 'गुणपर्ययवद्ब्रह्मम्' [त० सू० ५-३७] इस सूत्रकथनसे समर्थित किया है अथवा सूत्रकारके कथनको उक्त दो अनेकान्तोंकी दृष्टिसे सार्थक बतलाया है । अतः युगपदेकान्त और क्रमानेकान्तरूप दो अनेकान्तोंकी प्रस्तुत चर्चा जैन दर्शनकी एक बहुत प्राचीन चर्चा मालूम होती है जिसका स्पष्ट उल्लेख इन दोनों आचार्यों द्वारा ही हुआ जान पड़ता है । यह प्रकरण ८९ई कारिकाओंमें समाप्त है ।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें सर्वथा नित्यवादीको लक्ष्य करके उसके नित्यैकान्तकी समीक्षा की गई है । कहा गया है कि यदि आत्मादि वस्तु सर्वथा नित्य—कूटस्थ—सदा एक-सी रहने वाली—अपरिवर्तनशील हो तो वह न कर्ता बन सकती है और न भोक्ता । कर्ता माननेपर भोक्ता और भोक्ता माननेपर कर्ताके अभावका प्रसङ्ग आता है, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन ये दोनों क्रमवर्ती परिवर्तन हैं और वस्तु नित्यवादियोंद्वारा सर्वथा अपरिवर्तनशील—नित्य मानी गई है । यदि वह कर्तापनका त्यागकर भोक्ता बने तो वह नित्य नहीं रहती—अनित्य हो जाती है, क्योंकि कर्तापन आदि वस्तुसे अभिन्न है । यदि भिन्न हों तो वे आत्माके सिद्ध नहीं होते, क्योंकि उनमें समवायादि कोई सम्बन्ध नहीं बनता । अतः नित्यैकान्तमें आत्माके भोक्तापन आदिका अभाव सिद्ध है । इस प्रकरणमें ३२ कारिकाएँ हैं ।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि—इसमें नित्यवादी नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसकोंको लक्ष्य करके उनके स्वीकृत नित्यैकान्त प्रमाण (आत्मा-ईश्वर अथवा वेद) में सर्वज्ञताका अभाव प्रतिपादन किया गया है । इसमें २२ कारिकाएँ हैं ।

७. जगत्कर्तृत्वाभावसिद्धि—इसमें ईश्वर जगत्कर्ता सिद्ध नहीं होता, यह बतलाया गया है । इसमें भी २२ कारिकाएँ हैं ।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि—इसमें सप्रमाण अर्हन्तको सर्वज्ञ सिद्ध किया गया है और विभिन्न बाधाओंका निरसन किया गया है । इसमें २१ कारिकाएँ हैं ।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि—नवाँ प्रकरण अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि है । इसमें सर्वज्ञादिकी साधक अर्थापत्तिको प्रमाण सिद्ध करते हुए उसे अनुमान प्रतिपादित किया गया है और उसे माननेकी खास आवश्यकता बतलाई गई है । कहा गया है कि जहाँ अर्थापत्ति (अनुमान) का उत्पादक अन्यथानुपपन्नत्व-अविनाभाव होता है वहीं साधन साध्यका गमक होता है । अत एव उसके न होने और अन्य पक्षधर्मत्वादि तीन रूपोंके होने पर भी 'वह श्याम होना चाहिये, क्योंकि उसका पुत्र है, अन्य पुत्रोंकी तरह' इस अनुमानमें प्रयुक्त 'उसका पुत्र होना' रूप साधन अपने 'श्यामत्व' रूप साध्यका गमक नहीं है । अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है—प्रमाण है और वह अनुमानस्वरूप है । इस प्रकरणमें २३ कारिकाएँ हैं ।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि—दशवाँ प्रकरण वेदपौरुषेयत्वसिद्धि है । इसमें वेदको सयुक्तिक पौरुषेय सिद्ध किया गया है । और उसकी अपौरुषेय-मान्यताकी मार्मिक मीमांसा की गई है । यह प्रकरण ३९ कारिकाओंमें समाप्त है ।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि—ग्यारहवाँ प्रकरण परतः प्रामाण्यसिद्धि है । इसमें मीमांसकोंके स्वतः प्रामाण्य मतकी कुमारिलके मीमांसाश्लोकवार्तिक ग्रन्थके उद्धरणपूर्वक कड़ी आलोचना करते हुए प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आगम) प्रमाणोंमें गुणकृत प्रामाण्य सिद्ध किया गया है । इस प्रकरणमें २८ कारिकाएँ हैं ।

१२ अभावप्रमाणदूषणसिद्धि—बारहवां प्रकरण अभावप्रमाणदूषणसिद्धि है। इसमें सर्वज्ञका अभाव बतलानेके लिये भाट्टोंद्वारा प्रस्तुत अभावप्रमाणमें दूषण प्रदर्शित किये गये हैं और उसकी अतिरिक्त प्रमाणाका निराकरण किया गया है। इसमें १६ कारिकाएँ निबद्ध हैं।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि—तेरहवां प्रकरण तर्कप्रामाण्यसिद्धि है। इसमें अविनाभावरूप व्याप्तिका निश्चय करानेवाले तर्कको प्रमाण सिद्ध किया गया है और यह बतलाया गया है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अविनाभावका ग्रहण नहीं हो सकता। इसमें २१ कारिकाएँ हैं।

१४.चौदहवां प्रकरण अधूरा है और इसलिये इसका अन्तिम समाप्तिपुष्पिकावाक्य उपलब्ध न होनेसे यह ज्ञात नहीं होता कि इसका नाम क्या है? इसमें प्रधानतया वैशेषिकके गुण-गुणीभेदादि और समवायादिकी समालोचना की गई है। अतः सम्भव है इसका नाम 'गुण-गुणीभेदसिद्धि' हो। इसमें ७० कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसकी अन्तिम कारिका, जो खण्डित एवं त्रुटित रूपमें है, इस प्रकार है—

तद्विशेषणभावाख्यसम्बन्धे तु न च (चा?) स्थितः ।

समवा ॥ ७० ॥

ब्रह्मदूषणसिद्धि—उपलब्ध रचनामें उक्त प्रकरणके बाद यह प्रकरण पाया जाता है। मूडबिंद्रीकी ताडपत्र-प्रतिमें उक्त प्रकरणकी उपर्युक्त 'तद्विशेषण' आदि कारिकाके बाद इस प्रकरणकी 'तन्नो चेद्ब्रह्म-निर्णीति' आदि ५२वीं कारिकाके पूर्वार्द्ध तक सात पत्र त्रुटित हैं। इन सात पत्रोंमें मालूम नहीं कितनी कारिकाएँ और प्रकरण नष्ट हैं। एक पत्रमें लगभग ५० कारिकाएँ पाई जाती हैं और इस हिसाबसे सात पत्रोंमें ५० × ७ = ३५० के करीब कारिकाएँ होनी चाहिये और प्रकरण कितने होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। अतएव यह 'ब्रह्मदूषणसिद्धि' प्रकरण कौनसे नम्बर अथवा संख्यावाला है, यह बतलाना भी अशक्य है। इसका ५१^३ कारिकाओं जितना प्रारम्भिक अंश नष्ट है। ब्रह्मावादियोंको लक्ष्य करके इसमें उनके अभिमत ब्रह्ममें दूषण दिखाये गये हैं। यह १८९ (त्रुटित ५१^३ + उपलब्ध १३७^३ =) कारिकाओंमें पूर्ण हुआ है और उपलब्ध प्रकरणोंमें सबसे बड़ा प्रकरण है।

अन्तिम प्रकरण—उक्त प्रकरणके बाद इसमें एक प्रकरण और पाया जाता है और जो खण्डित है तथा जिसमें सिर्फ आरम्भिक ६^३ कारिकाएँ उपलब्ध हैं। इसके बाद ग्रन्थ खण्डित और अपूर्ण हालतमें विद्यमान है। चौदहवें प्रकरणकी तरह इस प्रकरणका भी समाप्तिपुष्पिकावाक्य अनुपलब्ध होनेसे इसका नाम ज्ञात नहीं होता। उपलब्ध कारिकाओंसे मालूम होता है कि इसमें स्याद्वादका प्ररूपण और बौद्धदर्शनके अपोहादिका खण्डन होना चाहिए।

अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका उल्लेख

ग्रन्थकारने इस रचनामें अन्य ग्रन्थकारों और उनके ग्रन्थवाक्योंका भी उल्लेख किया है। प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना और नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निम्न प्रकार खण्डन किया है—

नियोग-भावनारूपं भिन्नमर्थद्वयं तथा

भट्ट-प्रभाकराभ्यां हि वेदार्थत्वेन निश्चितम् ॥६-१९॥

इसी तरह अन्य तीन जगहोंपर कुमारिल भट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे 'वार्तिक' नामसे अथवा उसके बिना नामसे भी तीन कारिकाएँ उद्धृत करके समालोचित हुई हैं और जिन्हें ग्रन्थका अङ्ग बना लिया गया है। वे कारिकाएँ ये हैं—

(क) 'यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम्

तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥'—मी० श्लो० अ० ७, का० ३५५ ।
इत्यस्मादनुमानान्स्याद्वेदस्यापौरुषेयता ॥१०-३७॥

(ख) 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् ।

न हि स्ततोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ॥'

—मी० श्लो० सू० २, का० ४७ ।

इति वार्तिकसद्भावात्.....—१-११ ।

(ग) 'शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्र्यधीन इति स्थितिः ।

तदभावः क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥'—मी० श्लो० सू० २, का० ६२ ।

इति वार्तिकतः शब्द.....—११-२० ।

इसी तरह प्रशस्तकर^१, दिग्नाग^२, धर्मकीर्ति^३ जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थकारोंके पाद-वाक्यादिकोंके भी उल्लेख इसमें पाये जाते हैं ।

स्याद्वादसिद्धिः हिन्दी-सारांश

१. जीव-सिद्धि

सङ्गलाचरण—श्रीवर्द्धमानश्वामीके लिये मेरा तम्र तमस्कार है जो विश्ववेदी (सर्वज्ञ) हैं, नित्यानन्दस्वभाव हैं और भक्तोंको अपने समान बनानेवाले हैं—उनकी जो भक्ति एवं उपासना करते हैं वे उन जैसे उत्कृष्ट आत्मा (परमात्मा) बन जाते हैं ।

१. 'इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।

बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥'५-८॥

इसमें प्रशस्तकरके प्रशस्तपादभाष्यगत समवायलक्षणकी सिद्धि प्रदर्शित है । तथा आगेकी कारिकाओंमें उनके 'अयुतसिद्धि' विशेषणकी आलोचना भी की गई है ।

२. 'विकल्पयोनयः शब्दा इति बौद्धवचः श्रुतेः ।

कल्पनाया विकल्पत्वान्न हि बुद्धस्य वक्तृता ॥'७-५॥

इस कारिकामें जिस 'विकल्पयोनयः शब्दाः' वाक्यको बौद्धका वचन कहा गया है वह वाक्य निम्न कारिकाका वाक्यांश है—

'विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः ।

तेषामन्योन्यसम्बन्धो नाथान् शब्दाः स्पृशन्त्यमी ॥'

यह कारिका न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ५३७) आदि ग्रंथोंमें उद्धृत है । ८वीं-९वीं शतीके विद्वान् हरिभद्रने भी इसे अनेकान्तजयपताका (पृ० ३३७) में उद्धृत किया है और उसे भदन्त दिग्नागकी बतलाई है । भदन्त दिग्नाग सम्भवतः दिग्नागको ही कहा गया है । इस कारिकामें प्रतिपादित सिद्धान्त (शब्द और अर्थके सम्बन्धाभाव)को दिग्नागके अनुगामी धर्मकीर्तिने भी अपने प्रमाणवार्तिक (३-२०४) में वर्णित किया है ।

३. 'विधूतकल्पनाजालगम्भीरोदारमूर्तये ।

इत्यादिवाक्यसद्भावात्स्याद्धि बुद्धेऽप्यवक्तृता ॥'७-४॥

इस कारिकाका पूर्वार्ध प्रमाणवार्तिक १-१ का पूर्वार्ध है ।

ग्रन्थका उद्देश्य—संसारके सभी जीव सुख चाहते हैं, परन्तु उसका उपाय नहीं जानते। अतः प्रस्तुत ग्रन्थद्वारा सुखके उपायका कथन किया जाता है क्योंकि बिना कारणके कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता।

ग्रन्थारम्भ—यदि प्राणियोंको प्राप्त सुख-दुखादिरूप कार्य बिना कारणके हों तो किसीको ही सुख और किसीको ही दुःख क्यों होता है, सभीको केवल सुख ही अथवा केवल दुःख ही क्यों नहीं होता? तात्पर्य यह कि संसारमें जो सुखादिका वैषम्य—कोई सुखी और कोई दुखी—देखा जाता है वह कारणभेदके बिना सम्भव नहीं है।

तथा कोई कफप्रकृतिवाला है, कोई वातप्रकृतिवाला है और कोई पित्तप्रकृतिवाला है सो यह कफादिकी विषमतारूप कार्य भी जीवोंके बिना कारणभेदके नहीं बन सकता है और जो स्त्री आदिके सम्पर्कसे सुखादि माना जाता है वह भी बिना कारणके असम्भव है, क्योंकि स्त्री कहीं अन्तक—घातकका भी काम करती हुई देखी जाती है—किसीको वह विषादि देकर मारनेवाली भी होती है।

क्या बात है कि सर्वाङ्ग सुन्दर होनेपर भी कोई किसीके द्वारा ताड़न-वध-बन्धनादिको प्राप्त होता है और कोई तोता, मैना आदि पक्षी अपने भक्षकोंद्वारा भी रक्षित होते हुए बड़े प्रेमसे पाले-पोषे जाते हैं?

अतः इन सब बातोंसे प्राणियोंके सुख-दुःखके अन्तरङ्ग कारण धर्म और अधर्म अनुमानित होते हैं। वह अनुमान इस प्रकार है—धर्म और अधर्म हैं, क्योंकि प्राणियोंको सुख अथवा दुःख अन्यथा नहीं हो सकता। जैसे पुत्रके सद्भावसे उसके पितारूप कारणका अनुमान किया जाता है।

चार्वाक—अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें व्यभिचार (अर्थके अभावमें होना) देखा जाता है?

जैन—यह बात तो प्रत्यक्षमें भी समान है, क्योंकि उसमें भी व्यभिचार देखा जाता है—सीपमें चांदीका, रज्जुमें सर्पका और बालोंमें कीड़ोंका प्रत्यक्षज्ञान अर्थके अभावमें भी देखा गया है और इसलिए प्रत्यक्ष तथा अनुमानमें कोई विशेषता नहीं है जिससे प्रत्यक्षको तो प्रमाण कहा जाय और अनुमानको अप्रमाण।

चार्वाक—जो प्रत्यक्ष निर्बाध है वह प्रमाण माना गया है और जो निर्बाध नहीं है वह प्रमाण नहीं माना गया। अतएव सीपमें चांदीका आदि प्रत्यक्षज्ञान निर्बाध न होनेसे प्रमाण नहीं है?

जैन—तो जिस अनुमानमें बाधा नहीं है—निर्बाध है उसे भी प्रत्यक्षकी तरह प्रमाण मानिये, क्योंकि प्रत्यक्षविशेषकी तरह अनुमानविशेष भी निर्बाध सम्भव है। जैसे हमारे सद्भावसे पितामह (बाबा) आदिका अनुमान निर्बाध माना जाता है।

इस तरह अनुमानके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा धर्म और अधर्म सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कार्य कर्ताकी अपेक्षा लेकर ही होता है—उसकी अपेक्षा लिये बिना वह उत्पन्न नहीं होता और तभी वे धर्माधर्म सुख-दुःखादिके जनक होते हैं। अतः अर्थापत्तिरूप अनुमान प्रमाणसे हम सिद्ध करते हैं कि—‘धर्मादिका कर्ता जीव है, क्योंकि सुखादि अन्यथा नहीं हो सकता।’ प्रकट है कि जीवमें धर्मादिसे सुखादि होते हैं, अतः वह उनका कर्ता है, था और आगे भी होगा और इस तरह परलोकी नित्य आत्मा (जीव) सिद्ध होता है।

१. ‘हमारे पितामह, प्रपितामह आदि थे, क्योंकि हमारा सद्भाव अन्यथा नहीं हो सकता था।’

जीवकी सिद्धि एक दूसरे अनुमानसे भी होती है और जो निम्न प्रकार है :—

‘जीव पृथिवी आदि पंच भूतोंसे भिन्न तत्त्व है, क्योंकि वह सत् होता हुआ चैतन्यस्वरूप है और अहेतुक (नित्य) है ।’

आत्माको चैतन्यस्वरूप माननेमें चार्वाकको भी विवाद नहीं है, क्योंकि उन्होंने भी भूतसंहतिसे उत्पन्न विशिष्ट कार्यको ज्ञानरूप माना है । किंतु ज्ञान भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है, क्योंकि स्व-संवेदनप्रत्यक्षसे वह शरीरका कार्य प्रतीत नहीं होता । प्रकट है कि जिस इन्द्रियप्रत्यक्षसे मिट्टी आदिका ग्रहण होता है उसी इन्द्रियप्रत्यक्षसे उसके घटादिक विकाररूप कार्योंका भी ग्रहण होता है और इसलिये घटादिक मिट्टी आदिके कार्य माने जाते हैं । परन्तु यह बात शरीर और ज्ञानमें नहीं है—शरीर तो इन्द्रिय-प्रत्यक्षसे ग्रहण किया जाता है और ज्ञान स्वसंवेदनप्रत्यक्षसे । यह कौन नहीं जानता कि शरीर तो आँखोंसे देखा जाता है किंतु ज्ञान आँखोंसे देखनेमें नहीं आता । अतः दोनोंकी विभिन्न प्रमाणोंसे प्रतीति होनेसे उनमें परस्पर कारणकार्यभाव नहीं है । जिनमें कारणकार्यभाव होता है वे विभिन्न प्रमाणोंसे गृहीत नहीं होते । अतः ज्ञानस्वरूप आत्मा भूतसंहतिरूप शरीरका कार्य नहीं है । और इसलिये वह अहेतुक—नित्य भी सिद्ध है ।

चार्वाक—यदि ज्ञान शरीरका कार्य नहीं है तो न हो पर वह शरीरका स्वभाव अवश्य है और इसलिये वह शरीरसे भिन्न तत्त्व नहीं है, अतः उक्त हेतु प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्ध है ?

जैन—नहीं, दोनोंकी पर्यायें भिन्न भिन्न देखी जाती हैं, जिस तरह शरीरसे बाल्यादि अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं उस तरह रागादिपर्यायें उससे उत्पन्न नहीं होती—वे चैतन्यस्वरूप आत्मासे ही उत्पन्न होती हैं किंतु जो जिसका स्वभाव होता है वह उससे भिन्न पर्यायवाला नहीं होता । जैसे सड़े महुआ और गुडादिकसे उत्पन्न मदिरा उनका स्वभाव होनेसे भिन्न द्रव्य नहीं है और न भिन्न पर्यायवाली है । अतः सिद्ध है कि ज्ञान शरीरका स्वभाव नहीं है ।

अतएव प्रमाणित होता है कि आत्मा भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व है और वह उसका न कार्य है तथा न स्वभाव है ।

इस तरह परलोककी नित्य आत्माके सिद्ध हो जानेपर स्वर्ग-नरकादिरूप परलोक भी सिद्ध हो जाता है । अतः चार्वाकोंको उनका निषेध करना तर्कयुक्त नहीं है । इसलिये जो जीव सुख चाहते हैं उन्हें उसके उपायभूत धर्मको अवश्य करना चाहिए, क्योंकि बिना कारणके कार्य उत्पन्न नहीं होता यह सर्वमान्य सिद्धान्त है और जिसे ग्रन्थके आरम्भमें ही हम ऊपर कह आये हैं ।

२. फलभोक्तृत्वाभावसिद्धि

बौद्ध आत्माको भूतसंघातसे भिन्न तत्त्व मानकर भी उसे सर्वथा क्षणिक—अनित्य स्वीकार करते हैं, परन्तु वह युक्त नहीं है; क्योंकि आत्माको सर्वथा क्षणिक माननेमें न धर्म बनता है और न धर्मफल बनता है । स्पष्ट है कि उनके क्षणिकत्वसिद्धान्तानुसार जो आत्मा धर्म करनेवाला है वह उसी समय नष्ट

१. शरीरे दृश्यमानेऽपि न चैतन्यं विलोक्यते ।

शरीरं न च चैतन्यं यतो भेदस्तयोस्ततः ॥

चक्षुषा वीक्ष्यते मात्रं चैतन्यं संविदा यतः ।

भिवज्ज्ञानोपलम्भेन ततो भेदस्तयोः स्फुटम् ॥ पञ्चपुराण ।

हो जाता है और ऐसी हालतमें वह स्वर्गादि धर्मफलका भोक्ता नहीं हो सकता । और यह नियम है कि 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है, अन्य नहीं ।'

बौद्ध—यद्यपि आत्मा, जो चित्तक्षणोंके समुदायरूप है, क्षणिक है तथापि उसके कार्यकारणरूप सन्तानके होनेसे उसके धर्म और धर्मफल दोनों बन जाते हैं और इसलिये 'कर्ता ही फलभोक्ता होता है' यह नियम उपपन्न हो जाता है ?

जैन—अच्छा, तो यह बतलाइये कि कर्ताको फल प्राप्त होता है या नहीं ? यदि नहीं, तो फलका अभाव आपने भी स्वीकार कर लिया । यदि कहें कि प्राप्त होता है तो कर्ताके नित्यपनेका प्रसंग आता है, क्योंकि उसे फल प्राप्त करने तक ठहरना पड़ेगा । प्रसिद्ध है कि जो धर्म करता है उसे ही उसका फल मिलता है अन्यको नहीं । किन्तु जब आप आत्माको निरन्वय क्षणिक मानते हैं तो उसके नाश हो जानेपर फल दूसरा चित्त ही भोगेगा, जो कर्ता नहीं है और तब 'कर्ताको ही फल प्राप्त होता है' यह कैसे सम्भव है ?

बौद्ध—जैसे पिताकी कमाईका फल पुत्रको मिलता है और यह कहा जाता है कि पिताको फल मिला उसी तरह कर्ता आत्माको भी फल प्राप्त हो जाता है ?

जैन—आपका यह केवल कहना मात्र है—उससे प्रयोजन कुछ भी सिद्ध नहीं होता । अन्यथा पुत्रके भोजन कर लेनेसे पिताके भी भोजन कर लेनेका प्रसंग आवेगा ।

बौद्ध—व्यवहार अथवा संवृत्तिसे कर्ता फलभोक्ता बन जाता है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—हमारा प्रश्न है कि व्यवहार अथवा संवृत्तिसे आपको क्या अर्थ विवक्षित है ? धर्मकर्ताको फल प्राप्त होता है, यह अर्थ विवक्षित है अथवा धर्मकर्ताको फल प्राप्त नहीं होता, यह अर्थ इष्ट है या धर्मकर्ताको कथंचित् फल प्राप्त होता है, यह अर्थ अभिप्रेत है ? प्रथमके दो पक्षोंमें बही दूषण आते हैं जो ऊपर कहे जा चुके हैं और इस लिये ये दोनों पक्ष तो निर्दोष नहीं हैं । तीसरा पक्ष भी बौद्धोंके लिये इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उससे उनके क्षणिक सिद्धान्तकी हानि होती है और स्याद्वादमतका प्रसङ्ग आता है ।

दूसरे, यदि संवृत्तिसे धर्मकर्ता फलभोक्ता हो तो संसार अवस्थामें जिन चित्तने धर्म किया था उसे मुक्त अवस्थामें भी संवृत्तिसे उसका फलभोक्ता मानना पड़ेगा । यदि कहा जाय कि जिस संसारी चित्तने धर्म किया था उस संसारी चित्तको ही फल मिलता है मुक्त चित्तको नहीं, तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि धर्मकर्ता संसारी चित्तको भी उसका फल नहीं मिल सकता । कारण, वह उसी समय नष्ट हो जाता है और फल भोगनेवाला संसारी चित्त दूसरा ही होता है फिर भी यदि आप उसे फलभोक्ता मानते हैं तो मुक्त चित्तको भी उसका फलभोक्ता कहिये, क्योंकि मुक्त और संसारी दोनों ही चित्त फलसे सर्वथा भिन्न तथा नाशकी अपेक्षासे परस्परमें कोई विशेषता नहीं रखते । यदि उनमें कोई विशेषता ही तो उसे बतलाना चाहिए ।

बौद्ध—पूर्व और उत्तरवर्ती संसारी चित्तक्षणोंमें उपादानोपादेयरूप विशेषता है जो संसारी और मुक्त चित्तोंमें नहीं है और इसलिए उक्त दोष नहीं है ?

जैन—चित्तक्षण जब सर्वथा भिन्न और प्रतिसमय नाशशील हैं तो उनमें उपादानोपादेयभाव बन ही नहीं सकता है । तथा निरन्वय होनेसे उनमें एक सन्तति भी असम्भव है । क्योंकि हम आपसे पूछते हैं कि वह सन्तति क्या है ? सादृश्यरूप है या देश-काल सम्बन्धी अन्तरका न होना (नैरन्तर्य) रूप है अथवा एक कार्यको करना रूप है ? पहला पक्ष तो ठीक नहीं है । कारण, निरंशवादमें सादृश्य सम्भव नहीं है—सभी

क्षण परस्पर विलक्षण और भिन्न-भिन्न माने गये हैं। अन्यथा पिता और पुत्रमें भी ज्ञानरूपसे सादृश्य होनेसे एक सन्ततिके माननेका प्रसङ्ग आवेगा। दूसरा पक्ष भी युक्त नहीं है, क्योंकि बौद्धोंके यहाँ देश और काल कल्पित माने गये हैं और तब उनकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य भी कल्पित कहा जायगा, किन्तु कल्पितसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है अन्यथा कल्पित अग्निसे दाह और मिथ्या सर्पदंशसे मरणरूप कार्य भी हो जाने चाहिए, किन्तु वे नहीं होते। एक कार्यको करसारूप सन्तति भी नहीं बनती; क्योंकि क्षणिकवादमें उस प्रकारका ज्ञान ही सम्भव नहीं है। यदि कहा जाय कि एकत्ववासनासे उक्त ज्ञान हो सकता है अर्थात् जहाँ 'सोऽहं'—'वही मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होता है वहीं उपादानोपादेयरूप सन्तति मानी गई है और उक्त ज्ञान एकत्ववासनासे होता है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस प्रकार है—जब एकत्वज्ञान सिद्ध हो तब एकत्ववासना बने और जब एकत्ववासना बन जाय तब एकत्वज्ञान सिद्ध हो। और इस तरह दोनों ही असिद्ध रहते हैं। केवल कार्य-कारणरूपतासे सन्तति मानना भी उचित नहीं है, अन्यथा बुद्ध और संसारियोंमें भी एक सन्तानका प्रसङ्ग आवेगा, क्योंकि उनमें कार्य-कारणभाव है—वे बुद्धके द्वारा जाने जाते हैं और यह नियम है कि जो कारण नहीं होता वह ज्ञानका विषय भी नहीं होता—अर्थात् जाना नहीं जाता। तात्पर्य यह कि कारण ही ज्ञानका विषय होता है और संसारी बुद्धके विषय होनेसे वे कारण हैं तथा बुद्धचित्त उनका कार्य है अतः उनमें भी एक सन्ततिका प्रसंग आता है।

अतः आत्माको सर्वथा क्षणिक और निरन्वय माननेपर धर्म तथा धर्मफल दोनों ही नहीं बनते, किन्तु उसे कथंचित् क्षणिक और अन्वयी स्वीकार करनेसे वे दोनों बन जाते हैं। 'जो मैं बाल्यावस्था में था वही उस अवस्थाको छोड़कर अब मैं युवा हूँ।' ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामका निर्वाध ज्ञान होता है और जिससे आत्मा कथंचित् नित्य तथा अनित्य प्रतीत होता है और प्रतीतिके अनुसार वस्तुकी व्यवस्था है।

३. युगपदनेकान्तसिद्धि

एक साथ तथा क्रमसे वस्तु अनेकधर्मात्मक है, क्योंकि सन्तान आदिका व्यवहार उसके बिना नहीं हो सकता। प्रकट है कि बौद्ध जिस एक चित्तको कार्यकारणरूप मानते हैं और उसमें एक सन्ततिका व्यवहार करते हैं वह यदि पूर्वोक्त क्षणोंकी अपेक्षा तानात्मक न हो तो न तो एक चित्त कार्य एवं कारण दोनोंरूप हो सकता है और न उसमें सन्ततिका व्यवहार ही बन सकता है।

बौद्ध—वात यह है कि एक चित्तमें जो कार्यकारणादिका भेद माना गया है वह व्यावृत्तिद्वारा, जिसे अपोह अथवा धन्यापोह कहते हैं, कल्पित है वास्तविक नहीं ?

जैन—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि व्यावृत्ति अवस्तरूप होनेसे उसके द्वारा भेदकल्पना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि प्रत्यक्षादिसे उक्त व्यावृत्ति सिद्ध भी नहीं होती, क्योंकि वह अवस्तु है और प्रत्यक्षादिकी वस्तुमें ही प्रवृत्ति होती है।

बौद्ध—ठीक है कि प्रत्यक्षसे व्यावृत्ति सिद्ध नहीं होती, पर वह अनुमानसे अवश्य सिद्ध होती है और इसलिये वस्तुमें व्यावृत्ति-कल्पित ही धर्मभेद है ?

जैन—नहीं, अनुमानसे व्यावृत्तिकी सिद्धि माननेमें अन्योन्याश्रय नामका दोष आता है। वह इस तरहसे है—व्यावृत्ति जब सिद्ध हो तो उससे अनुमानसम्पादक साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो और जब साध्यादि धर्मभेद सिद्ध हो तब व्यावृत्ति सिद्ध हो। अतः अनुमानसे भी व्यावृत्तिकी सिद्धि सम्भव नहीं है। ऐसी स्थितिमें उसके द्वारा धर्मभेदको कल्पित बतलाना असंगत है।

बौद्ध—विकल्प व्यावृत्तिग्राहक है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि विकल्पको आपने अप्रमाण माना है। अर्थात्, यह कल्पनात्मक व्यावृत्ति वस्तुओंमें सम्भव नहीं है अन्यथा वस्तु और अवस्तुमें साङ्कर्य हो जायगा।

इसके सिवाय, खण्डादिमें जिस तरह अगोनिवृत्ति है उसी तरह गुल्मादिमें भी वह है, क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है—भेद तो वस्तुनिष्ठ है और व्यावृत्ति अवस्तु है। और उस हालतमें 'गायको लाओ' कहनेपर जिसप्रकार खण्डादिका आनयन होता है उसीप्रकार गुल्मादिका भी आनयन होना चाहिये।

यदि कहा जाय कि 'अगोनिवृत्तिका खण्डादिमें संकेत है, अतः 'गायको लाओ' कहनेपर खण्डादिरूप गायका ही आनयन होता है, गुल्मादिका नहीं, क्योंकि वे अगो हैं—गो नहीं है' तो यह कहना भी संगत नहीं है, कारण अन्योन्याश्रय दोष प्रमत्त होता है। खण्डादिमें गोपना जब सिद्ध हो जाय तो उससे गुल्मादिमें अगोपना सिद्ध हो और उनके अगो सिद्ध होनेपर खण्डादिमें गोपना की सिद्धि हो।

अगर यह कहें कि 'वहनादि कार्य खण्डादिमें ही सम्भव है, अतः 'गो' का व्यपदेश उन्हींमें होता है, गुल्मादिमें नहीं' तो यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि वह कार्य भी उक्त गुल्मादिमें क्यों नहीं होता, क्योंकि उस कार्यका नियामक अपोह ही है और वह अपोह सब जगह अविशिष्ट—समान है।

तात्पर्य यह कि अपोहकृत वस्तुमें धर्मभेदकी कल्पना उचित नहीं है, किन्तु स्वरूपतः ही उसे मानना संगत है। अतः जिस प्रकार एक ही चित्त पूर्व क्षणकी अपेक्षा कार्य और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कारण होनेसे एक साथ उसमें कार्यता और कारणत्वरूप दोनों धर्म वास्तविक सिद्ध होते हैं उसी प्रकार सब वस्तुएँ युगपत् अनेकधर्मात्मक सिद्ध हैं।

४. क्रमानेकान्तसिद्धि

पूर्वोत्तर चित्तक्षणोंमें यदि एक वास्तविक अनुस्यूतपना न हो तो उनमें एक सन्तान स्वीकार नहीं की जा सकती है और सन्तानके अभावमें फलाभाव निश्चित है क्योंकि करनेवाले चित्तक्षणसे फलभोगनेवाला चित्तक्षण भिन्न है और इसलिये एकत्वके बिना 'कर्ताको ही फलप्राप्ति' नहीं हो सकती।

यदि कहा जाय कि 'पूर्व क्षण उत्तर क्षणका कारण है, अतः उसके फलप्राप्ति हो जायगी' तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कारणकार्यभाव तो पिता-पुत्रमें भी है और इसलिये पुत्रकी क्रियाका फल पिताको भी प्राप्त होनेका प्रसंग आवेगा।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें उपादानोपादेयभाव न होनेसे पुत्रकी क्रियाका फल पिताको प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो उपादानोपादेयभाव मौजूद है, अतः उनके फलका अभाव नहीं हो सकता ?

जैन—यह उपादानोपादेयभाव सर्वथा भिन्न पूर्वोत्तर क्षणोंकी तरह पिता-पुत्रमें भी क्यों नहीं है, क्योंकि भिन्नता उभयत्र एक-सी है। यदि उसमें कथंचिद् अभेद मानें तो जैनपनेका प्रसंग आवेगा, कारण जैनोंमें ही कथंचिद् अभेद उनमें स्वीकार किया है, बौद्धोंने नहीं।

बौद्ध—पिता-पुत्रमें सादृश्य न होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं है, किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें तो सादृश्य पाया जानेसे उनमें उपादानोपादेयभाव है। अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—यह कथन भी संगत नहीं है, क्योंकि उक्त क्षणोंमें सादृश्य माननेपर उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं बन सकता। सादृश्यमें तो वह नष्ट ही हो जाता है। वास्तवमें सदृशता उनमें होती है जो भिन्न होते हैं और उपादानोपादेयभाव अभिन्न (एक) में होता है।

बौद्ध—बात यह है कि पिता-पुत्रमें देश-कालकी अपेक्षासे होनेवाला नैरन्तर्य नहीं है और उसके न होनेसे उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं है। किन्तु पूर्वोत्तर क्षणोंमें नैरन्तर्य होनेसे उपादानोपादेयभाव है ?

जैन—यह कहना भी युक्त नहीं है, कारण बौद्धोंके यहाँ स्वलक्षणरूप क्षणोंसे भिन्न देशकालादिको नहीं माना गया है और तब उनकी अपेक्षासे कल्पित नैरन्तर्य भी उनके यहाँ नहीं बन सकता है। अतः उससे उक्त क्षणोंमें उपादानोपादेयभावकी कल्पना और पिता-पुत्रमें उसका निषेध करना सर्वथा असंगत है।

अतः कार्यकारणरूपसे सर्वथा भिन्न भी क्षणोंमें कार्यकारणभावकी सिद्धिके लिये उनमें एक अन्वयी द्रव्यरूप सन्तान अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

एक बात और है। जब आप क्षणोंमें निर्बाध प्रत्ययसे भेद स्वीकार करते हैं तो उनमें निर्बाध प्रत्ययसे ही अभेद (एकत्व—एकपना) भी मानना चाहिए; क्योंकि वे दोनों ही वस्तुमें सुप्रतीत होते हैं।

यदि कहा जाय कि दोनोंमें परस्पर विरोध होनेसे वे दोनों वस्तुमें, नहीं माने जा सकते हैं तो यह कहना भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि अनुपलभ्यमानोंमें विरोध होता है, उपलभ्यमानोंमें नहीं। और भेद अभेद दोनों वस्तुमें उपलब्ध होते हैं। अतः भेद और अभेद दोनों रूप वस्तु मानना चाहिए।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। वह यह कि आप (बौद्धों) के यहाँ सत् कार्य माना गया है या असत् कार्य? दोनों ही पक्षोंमें आकाश तथा खरविषाणकी तरह कारणापेक्षा सम्भव नहीं है।

यदि कहें कि पहले असत् और पीछे सत् कार्य हमारे यहाँ माना गया है तो आपका क्षणिकत्व सिद्धान्त नहीं रहता; क्योंकि वस्तु पहले और पीछे विद्यमान रहनेपर ही वे दोनों (सत्त्व और असत्त्व) वस्तुके बनते हैं। किन्तु स्याद्वादी जैनोंके यहाँ यह दोष नहीं है, कारण वे कार्यको व्यक्ति (विशेष) रूपसे असत् और सामान्यरूपसे सत् दोनों रूप स्वीकार करते हैं और इस स्वीकारसे उनके किसी भी सिद्धान्तका घात नहीं होता। अतः इससे भी वस्तु नानाधर्मात्मक सिद्ध है।

बौद्धोंने जो चित्रज्ञान स्वीकार किया है उसे उन्होंने नानात्मक मानते हुए कार्यकारणतादि अनेकधर्मात्मक प्रतिपादन किया है। इसके सिवाय, उन्होंने रूपादिका भी नानाशक्त्यात्मक बतलाया है। एक रूप-क्षण अपने उत्तरवर्ती रूपक्षणमें उपादान तथा रसादिकक्षणमें सहकारी होता है और इस तरह एक ही रूपादि क्षणमें उपादानत्व और सहकारित्व दोनों शक्तियाँ उनके द्वारा मानी गई हैं।

यदि रूपादि क्षण सर्वथा भिन्न हों, उनमें कथंचिद् भी अभेद—एकपना न हो, तो संतान, सादृश्य साध्य, साधन और उनकी क्रिया ये एक भी नहीं बन सकते हैं। न ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि बन सकते हैं अतः क्षणोंकी अपेक्षा अनेकान्त और अन्वयी रूपकी अपेक्षा एकान्त दोनों वस्तुमें सिद्ध है। एक ही हेतु अपने साध्यकी अपेक्षा गमक और इतरकी अपेक्षा अगमक दोनों रूप देखा जाता है। वास्तवमें यदि वस्तु एकानेकात्मक न हो तो स्मरणादि असम्भव हैं। अतः स्मरणादि अन्यथानुपपत्तिके बलसे वस्तु अनेकान्तात्मक प्रसिद्ध होती है और अन्वथानुपपत्ति ही हेतुकी गमकतामें प्रयोजक है, पक्षधर्मत्वादि नहीं। कृत्तिकोदय हेतुमें पक्षधर्मत्व नहीं है किन्तु अन्यथानुपपत्ति है, अतः उसे गमक स्वीकार किया गया है। और तत्पुत्रत्वादि हेतुमें पक्षधर्मत्वादि तीनों हैं, पर अन्यथानुपपत्ति नहीं है और इसलिये उसे गमक स्वीकार नहीं किया गया है।

अतएव हेतु, साध्य, स्मरण, प्रत्यभिज्ञा आदि चित्तक्षणोंमें एकपनेके बिना नहीं बन सकते हैं, इस लिये वस्तुमें क्रमसे अनेकान्त भी सहानेकान्तकी तरह सुस्थित होता है।

५. भोक्तृत्वाभावसिद्धि

वस्तुको सर्वथा नित्य मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस हालतमें आत्माके कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों नहीं बन सकते हैं। कर्तृत्व माननेपर भोक्तृत्व और भोक्तृत्व माननेपर कर्तृत्वके अभावका प्रसंग आता है; क्योंकि ये दोनों धर्म आत्मामें एक साथ नहीं होते—क्रमसे होते हैं और क्रमसे उन्हें स्वीकार करनेपर वस्तु नित्य नहीं रहती। कारण, कर्तृत्वको छोड़कर भोक्तृत्व और भोक्तृत्वको त्यागकर कर्तृत्व होता है और ये दोनों ही आत्मासे अभिन्न होते हैं। यदि उन्हें भिन्न मानें तो 'वे आत्माके हैं अन्यके नहीं' यह व्यवहार उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि कहा जाय कि उनका आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है और इसलिये 'वे आत्माके हैं, अन्यके नहीं' यह व्यपदेश हो जाता है तो यह कहना योग्य नहीं है, क्योंकि उक्त समवाय प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे प्रतीत नहीं होता। यदि प्रत्यक्षसे प्रतीत होता तो उसमें विवाद ही नहीं होता, किंतु विवाद देखा जाता है।

यौग—आगमसे समवाय सिद्ध है, अतः उक्त दोष नहीं है ?

जैन—नहीं, जिस आगमसे वह सिद्ध है उसकी प्रमाणता अनिश्चित है। अतः उससे समवायकी सिद्धि बतलाना असंगत है।

यौग—समवायकी सिद्धि निम्न अनुमानसे होती है :—'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है' यह बुद्धि सम्बन्धपूर्वक है, क्योंकि वह 'इहेदं' बुद्धि है। जैसे 'इस कुण्डमें यह दही है' यह बुद्धि। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार 'इस कुण्डमें यह दही है' यह ज्ञान सयोगसम्बन्धके निमित्तसे होता है इसी प्रकार 'इन शाखाओंमें यह वृक्ष है', यह ज्ञान भी समवायसम्बन्धपूर्वक होता है। अतः समवाय अनुमानसे सिद्ध है ?

जैन—नहीं, उक्त हेतु 'इस वनमें यह आम्रादि हैं' इस ज्ञानके साथ व्यभिचारी है क्योंकि यह ज्ञान 'इहेदं' रूप तो है किन्तु किसी अन्य सम्बन्ध-पूर्वक नहीं होता और न यौगोने उनमें समवाय या अन्य सम्बन्ध स्वीकार किया भी है। केवल उसे उन्होंने अन्तरालाभावपूर्वक प्रतिपादन किया है और यह प्रकट है कि अन्तरालाभाव सम्बन्ध नहीं है। अतः इस अन्तरालाभावपूर्वक होनेवाले 'इहेदं' रूप ज्ञानके साथ उक्त हेतु व्यभिचारी होनेसे उसके द्वारा समवायकी सिद्धि नहीं हो सकती है।

ऐसी हालतमें बुद्ध्यादि एवं कर्तृत्वादिसे आत्मा भिन्न ही रहेगा और तब जड़ आत्मा धर्मकर्ता अथवा फल-भोक्ता कैसे बन सकता है ? अतः क्षणिकैकान्तको तरह नित्यैकान्तका मानना भी निष्फल है।

अपि च, आप यह बतलाइये कि समवाय क्या काम करता है ? आत्मा और बुद्ध्यादिमें अभेद करता है अथवा उनके भेदको मिटाता है ? अन्य विकल्प सम्भव नहीं है ? प्रथम पक्षमें बुद्ध्यादिकी तरह आत्म अनित्य हो जायगा अथवा आत्माकी तरह बुद्ध्यादि नित्य हो जायेंगे; क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। दूसरे पक्षमें आत्मा और बुद्ध्यादिके भेद मिटनेपर घट-पटादिकी तरह वे दोनों स्वतंत्र हो जायेंगे। अतः समवायसे पहले इनमें न तो भेद ही माना जा सकता है और न अभेद ही, क्योंकि उक्त दूषण आते हैं। तथा भेदाभेद उनमें आपने स्वीकार नहीं किया तब समवायको माननेसे क्या फल है ?

यौग—भेदको हमने अन्योन्याभावरूप माना है अतः आत्मा और बुद्ध्यादिमें स्वतंत्रपनेका प्रसंग नहीं आता ?

जैन—यह कहना भी आपका ठीक नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावमें भी घट-पटादिकी तरह स्वतन्त्रता रहेगी—वह मिट नहीं सकती। यदि वह मिट भी जाय तो अभेद होनेसे उक्त नित्यता-अनित्यताका दोष तदवस्थित है।

योग—पृथक्त्वगुणसे उनमें भेद बन जाता है अतः अभेद होनेका प्रसंग नहीं आता और न फिर उसमें उक्त दोष रहता है ?

जैन—नहीं, पृथक्त्वगुणसे भेद माननेपर पूर्ववत् आत्मा और बुद्ध्यदिमें घटादिकी तरह भेद प्रसक्त होगा ही ।

एक बात और है । समवायसे आत्मामें बुद्ध्यादिका सम्बन्ध माननेपर मुक्त जीवमें भी उनका सम्बन्ध मानना पड़ेगा, क्योंकि वह व्यापक और एक है ।

योग—बुद्ध्यादि अमुक्त-प्रभव धर्म हैं, अतः मुक्तोंमें उनके सम्बन्धका प्रसंग खड़ा नहीं हो सकता है ?

जैन—नहीं, बुद्ध्यादि मुक्तप्रभव धर्म क्यों नहीं हैं, इसका क्या समाधान है ? क्योंकि बुद्ध्यादिका जनक आत्मा है और वह मुक्त तथा अमुक्त दोनों अवस्थाओंमें समान है । अन्यथा जनकस्वभावको छोड़ने और अजनकस्वभावको ग्रहण करनेसे आत्माके नित्यपनेका अभाव आवेगा ।

योग—बुद्ध्यादि अमुक्त समवेतधर्म हैं, इसलिये वे अमुक्त-प्रभव—मुक्तप्रभव नहीं हैं ?

जैन—नहीं, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष आता है । बुद्ध्यादि जब अमुक्तसमवेत सिद्ध हो जायें तब वे अमुक्त-प्रभव सिद्ध हों और उनके अमुक्तप्रभव सिद्ध होनेपर वे अमुक्त-समवेत सिद्ध हों । अतः समवायसे आत्मा तथा बुद्ध्यादिमें अभेदादि माननेमें उक्त दूषण आते हैं और ऐसी दशामें वस्तुको सर्वथा नित्य मानने-पर धर्मकतके फलका अभाव सुनिश्चित है ।

६. सर्वज्ञाभावसिद्धि

नित्यैकान्तका प्रणेता—उपदेशक भी सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह समीचीन अर्थका कथन करनेवाला नहीं है । दूसरी बात यह है कि वह सरागी भी है । अतः हमारी तरह दूसरोंको भी उसकी उपासना करना योग्य नहीं है ।

सोचनेकी बात है कि जिसने अविचारपूर्वक स्त्री आदिका अपहरण करनेवाला तथा उसका नाश करनेवाला दोनों बनाये वह अपनी तथा दूसरोंकी अन्योंसे कैसे रक्षा कर सकता है ?

साथ ही जो उपद्रव एवं झगड़े करता है वह विचारक तथा सर्वज्ञ नहीं हो सकता । यह कहना युक्त नहीं कि वह उपद्रवरहित है, क्योंकि ईश्वरके कोपादि देखा जाता है ।

अतः यदि ईश्वरको आप इन सब उपद्रवोंसे दूर वीतराग एवं सर्वज्ञ मानें तो उसीको उपास्य भी स्वीकार करना चाहिये, अन्य दूसरेको नहीं । रत्नका पारखी काचका उपासक नहीं होता ।

यह वीतराग—सर्वज्ञ ईश्वर भी निरुपाय नहीं है । अन्यथा वह न वक्ता बन सकता है और न सशरीरी । उसे वक्ता माननेपर वह सदा वक्ता रहेगा—अवक्ता कभी नहीं बन सकेगा ।

यदि कहा जाय कि वह वक्ता और अवक्ता दोनों है, क्योंकि वह परिणामी है तो यह कहना भी ठीक नहीं है । कारण, इस तरह वह नित्यानित्यरूप सिद्ध होनेसे स्याद्वादकी ही सिद्धि करेगा—कूटस्थ नित्यकी नहीं ।

अपि च, उसे कूटस्थ नित्य माननेपर उसके वक्तापन बनता भी नहीं है, क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है । आगमको प्रमाण माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होता है ।

स्पष्ट है कि जब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो जाय तो उसका उपदेशरूप आगम प्रमाण सिद्ध हो और जब आगम प्रमाण सिद्ध हो तब वह सर्वज्ञ सिद्ध हो।

इसी तरह शरीर भी उसके नहीं बनता है।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदरूप आगम प्रमाण नहीं है क्योंकि उसमें परस्पर-विरोधी अर्थोंका कथन पाया जाता है। सभी वस्तुओंको उसमें सर्वथा भेदरूप अथवा सर्वथा अभेदरूप बतलाया गया है। इसी प्रकार प्राभाकर वेदवाक्यका अर्थ नियोग, भाट्ट भावना और वेदान्ती विधि करते हैं और ये तीनों परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। ऐसी हालतमें यह निश्चय नहीं हो सकता कि अमुक अर्थ प्रमाण है और अमुक नहीं।

अतः वेद भी निरुपाय एवं अशरीरी सर्वज्ञका साधक नहीं है और इसलिये नित्यैकान्तमें सर्वज्ञका भी अभाव सुनिश्चित है।

७. जगत्कर्त्तृत्वाभावसिद्धि

किन्तु हाँ, सोपाय बीतराग एवं हितोपदेशी सर्वज्ञ हो सकता है क्योंकि उसका साधक अनुमान है। वह अनुमान यह है—

‘कोई पुरुष समस्त पदार्थोंका साक्षात्कर्त्ता है, क्योंकि ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अन्यथा नहीं हो सकता।’ इस अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि होती है।

पर ध्यान रहे कि यह अनुमान अनुपायसिद्ध सर्वज्ञका साधक नहीं है, क्योंकि वह वक्ता नहीं है। सोपायमुक्त बुद्धादि यद्यपि वक्ता है किन्तु उनके वचन सदोष होनेसे वे भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते।

दूसरे, बौद्धोंने बुद्धको ‘विभूतकल्पनाजाल’ अर्थात् कल्पनाओंसे रहित कहकर उन्हें अवक्ता भी प्रकट किया है और अवक्ता होनेसे वे सर्वज्ञ नहीं हैं।

तथा यौगों (नैयायिकों और वैशेषिकों) द्वारा अभिमत महेश्वर भी स्व-पर-द्रोही दैत्यादिका स्रष्टा होनेसे सर्वज्ञ नहीं है।

यौग—महेश्वर जगत्का कर्त्ता है, अतः वह सर्वज्ञ है; क्योंकि बिना सर्वज्ञताके उससे इस सुव्यवस्थित एवं सुन्दर जगत्की सृष्टि नहीं हो सकती है ?

जैन—नहीं, क्योंकि महेश्वरको जगत्कर्त्ता सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है।

यौग—निम्न प्रमाण है—‘पर्वत आदि बुद्धिमानद्वारा बनाये गये हैं, क्योंकि वे कार्य हैं तथा जड़-उपादान-जन्य हैं। जैसे घटादिक।’ जो बुद्धिमान् उनका कर्त्ता है वह महेश्वर है। वह यदि असर्वज्ञ हो तो पर्वतादि उक्त कार्योंके समस्त कारकोंका उसे परिज्ञान न होनेसे वे असुन्दर, अव्यवस्थित और बेडौल भी उत्पन्न हो जायेंगे। अतः पर्वतादिका बनानेवाला सर्वज्ञ है ?

जैन—यह कहना भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि यदि वह सर्वज्ञ होता तो वह अपने तथा दूसरोंके घातक दैत्यादि दुष्ट जीवोंकी सृष्टि न करता। दूसरी बात यह है कि उसे आपने अशरीरी भी माना है पर बिना शरीरके वह जगत्का कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि उसके शरीरकी कल्पना की जाय तो महेश्वरका संसारी होना, उस शरीरके लिये अन्य-अन्य शरीरकी कल्पना करना आदि अनेक दोष आते हैं। अतः महेश्वर जगत्का कर्त्ता नहीं है और तब उसे उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना अयुक्त है।

८. अर्हत्सर्वज्ञसिद्धि

इस तरह न बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध होता है और न महेश्वर आदि । पर ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है, अतः अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा अर्हन्त भगवान् ही सर्वज्ञ सिद्ध होते हैं ।

मीमांसक—अर्हन्त वचता है, पुरुष है और प्राणादिमान् है, अतः हम लोगोंकी तरह वे भी सर्वज्ञ नहीं हैं ?

जैन—नहीं, क्योंकि वक्तापन आदिका सर्वज्ञपनेके साथ विरोध नहीं है । स्पष्ट है कि जो जितना अधिक ज्ञानवान् होगा वह उतना ही उत्कृष्ट वक्ता आदि होगा । आपने भी अपने मीमांसादर्शनकार जैमि-निको उत्कृष्ट ज्ञानके साथ ही उत्कृष्ट वक्ता आदि स्वीकार किया है ।

मीमांसक—अर्हन्त वीतराग है, इसलिये उनके इच्छाके बिना वचनप्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

जैन—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि इच्छाके बिना भी सोते समय अथवा गोत्रस्खलन आदिमें वचनप्रवृत्ति देखी जाती है और इच्छा करनेपर भी मूर्ख शास्त्रवक्ता नहीं हो पाता । दूसरे, सर्वज्ञके निर्दोष इच्छा माननेमें भी कोई बाधा नहीं है और उस दशामें अर्हन्त भगवान् वक्ता सिद्ध है ।

मीमांसक—अर्हन्तके वचन प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे पुरुषके वचन हैं, जैसे बुद्धके वचन ?

जैन—यह कथन भी सम्यक् नहीं है; क्योंकि दोषवान् वचनोंकी ही अप्रमाण माना गया है, निर्दोष वचनोंकी नहीं । अतः अर्हन्तके वचन निर्दोष होनेसे प्रमाण हैं और इसलिये वे ही सर्वज्ञ सिद्ध हैं ।

९. अर्थापत्तिप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो 'ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश सर्वज्ञके बिना सम्भव नहीं है' यह अर्थापत्ति प्रमाण दिया गया है उसे मीमांसकोंकी तरह जैन भी प्रमाण मानते हैं, अतः उसे अप्रमाण होने अथवा उसके द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध न होनेकी शंका निर्मूल हो जाती है । अथवा, अर्थापत्ति अनुमानरूप ही है । और अनुमान प्रमाण है ।

यदि कहा जाय कि अनुमानमें तो दृष्टान्तकी अपेक्षा होती है और उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें ही होता है किन्तु अर्थापत्तिमें दृष्टान्तकी अपेक्षा नहीं होती और न उसके अविनाभावका निर्णय दृष्टान्तमें होता है अपितु पक्षमें ही होता है, तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि दोनोंमें कोई भेद नहीं है—दोनों ही जगह अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही किया जाता है । सर्व विदित है कि अद्वैतवादियोंके लिये प्रमाणोंका अस्तित्व सिद्ध करनेके लिये जो 'इष्टसाधन' रूप अनुमान प्रमाण दिया जाता है उसके अविनाभावका निश्चय पक्षमें ही होता है क्योंकि वहाँ दृष्टान्तका अभाव है । अतः जिस तरह यहाँ प्रमाणोंके अस्तित्वको सिद्ध करनेमें दृष्टान्तके बिना भी पक्षमें ही अविनाभावका निर्णय हो जाता है उसी तरह अन्य हेतुओंमें भी समझ लेना चाहिए । तथा इस अविनाभावका निर्णय विपक्षमें बाधक प्रमाणके प्रदर्शन एवं तर्कसे होता है । प्रत्यक्षादिसे उसका निर्णय असम्भव है और इसी लिये व्याप्ति एवं अविनाभावको ग्रहण करने रूपसे तर्कको पृथक् प्रमाण स्वीकार किया गया है । अतः अर्थापत्ति अप्रमाण नहीं है ।

१०. वेदपौरुषेयत्वसिद्धि

मीमांसक—ज्योतिषशास्त्रादिका उपदेश अपौरुषेय वेदसे संभव है, अतः उसके लिये सर्वज्ञ स्वीकार करना उचित नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वेद पद-वाक्यादिरूप होनेसे अपौरुषेय है, जैसे भारत आदि शास्त्र ।

मीमांसक—वेदमें जो वर्ण हैं वे नित्य हैं, अतः उनके समूहरूप पद और पदोंके समूहरूप वाक्य नित्य होनेसे उनका समूहरूप वेद भी नित्य है—वह अपौरुषेय नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि वर्ण भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं, इसलिये वे अनित्य हैं । दूसरे, ओठ, तालु, आदिके प्रयत्नपूर्वक वे होते हैं और जो प्रयत्नपूर्वक होता है वह अनित्य माना गया है । जैसे घटादिक ।

मीमांसक—प्रदीपादिकी तरह वर्णोंकी ओठ, तालु आदिके द्वारा अभिव्यक्ति होती है—उत्पत्ति नहीं । दूसरे, 'यह वही गकारादि है' ऐसी प्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञा होनेसे वर्ण नित्य हैं ?

जैन—नहीं; ओठ, तालु आदि वर्णोंके व्यंजक नहीं हैं वे उनके कारक हैं । जैसे दण्डादिक घटादिके कारक हैं । अन्यथा घटादि भी नित्य हो जायेंगे । क्योंकि हम भी कह सकते हैं कि दण्डादिक घटादि के व्यंजक हैं कारक नहीं । दूसरे, 'वही मैं हूँ' इस प्रत्यभिज्ञासे एक आत्माकी भी सिद्धिका प्रसंग आवेगा । यदि इसे भ्रान्त कहा जाय तो उक्त प्रत्यभिज्ञा भी भ्रान्त क्यों नहीं कही जा सकती है ।

मीमांसक—आप वर्णोंको पुद्गलका परिणाम मानते हैं किन्तु जड़ पुद्गलपरमाणुओंका सम्बन्ध स्वयं नहीं हो सकता । इसके सिवाय, वे एक श्रोताके काममें प्रविष्ट हो जानेपर उसी समय अन्यके द्वारा सुने नहीं जा सकेंगे ?

जैन—यह बात तो वर्णोंकी व्यंजक ध्वनियोंमें भी लागू हो सकती है । क्योंकि वे न तो वर्णरूप हैं और न स्वयं अपनी व्यंजक हैं । दूसरे, स्वाभाविक योग्यतारूप संकेतसे शब्दोंको हमारे यहाँ अर्थप्रतिपत्ति कराने वाला स्वीकार किया गया है और लोकमें सब जगह भाषावर्णणाएँ मानी गई हैं जो शब्द रूप बनकर सभी श्रोताओं द्वारा सुनी जाती हैं ।

मीमांसक—'वेदका अध्ययन वेदके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह वेदका अध्ययन है, जैसे आजकलका वेदाध्ययन ।' इस अनुमानसे वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है ?

जैन—नहीं, क्योंकि उक्त हेतु अप्रयोजक है—हम भी कह सकते हैं कि 'पिटकका अध्ययन पिटकके अध्ययनपूर्वक होता है, क्योंकि वह पिटकका अध्ययन है, जैसे आजकलका पिटकाध्ययन ।' इस अनुमानसे पिटक भी अपौरुषेय सिद्ध होता है ।

मीमांसक—बात यह है कि पिटकमें तो बौद्ध कर्त्तिका स्मरण करते हैं और इसलिये वह अपौरुषेय सिद्ध नहीं हो सकता । किन्तु वेदमें कर्त्तिका स्मरण नहीं किया जाता, अतः वह अपौरुषेय सिद्ध होता है ?

जैन—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि बौद्धोंके पिटक सम्बन्धी कर्त्तृस्मरणको आप प्रमाण मानते हैं तो वे वेदमें भी अष्टकादिकको कर्त्ता स्मरण करते हैं अर्थात् वेदको भी वे सकर्तृक बतलाते हैं, अतः उसे भी प्रमाण स्वीकार करिये । अन्यथा दोनोंको अप्रमाण कहिए । अतः कर्त्तके अस्मरणसे भी वेद अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता और उस हालतमें वह अपौरुषेय ही सिद्ध होता है ।

११. परतः प्रामाण्यसिद्धि

मीमांसक—वेद स्वतः प्रमाण है, क्योंकि सभी प्रमाणोंकी प्रामाण्यता हमारे यहाँ स्वतः ही मानी गई है, अतः वह अपौरुषेय नहीं है ?

जैन—नहीं, क्योंकि अप्रमाणताकी तरह प्रमाणोंकी प्रमाणता भी स्वतः नहीं होती, गुणादि सामग्रीसे वह होती है। इन्द्रियोंके निर्दोष—निर्मल होनेसे प्रत्यक्षमें, त्रिरूपतासहित हेतुसे अनुमानमें और आप्तद्वारा कहा होनेसे आगममें प्रमाणता मानी गई है और निर्मलता आदि ही 'पर' हैं, अतः प्रमाणताकी उत्पत्ति परसे सिद्ध है और ज्ञप्ति भी अनभ्यास दशामें परसे सिद्ध है। हाँ, अभ्यासदशामें ज्ञप्ति स्वतः होती है। अतः परसे प्रमाणता सिद्ध हो जाने पर कोई भी प्रमाण स्वतः प्रमाण सिद्ध नहीं होता और इसलिये वेद पौरुषेय हैं तथा वह सर्वज्ञका बाधक नहीं हैं।

१२. अभावप्रमाणदूषणसिद्धि

अभाव प्रमाण भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है, क्योंकि भावप्रमाणसे अतिरिक्त अभावप्रमाणकी प्रतीति नहीं होती। प्रकट है कि 'यहाँ घड़ा नहीं है' इत्यादि जगह जो अभावज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष, स्मरण और अनुमान इन तीन ज्ञानोंसे भिन्न नहीं है। 'यहाँ' यह प्रत्यक्ष है, 'घड़ा' यह पूर्व दृष्ट घड़ेका स्मरण है और 'नहीं है' यह अनुपलब्धिजन्य अनुमान है। यहाँ और कोई ग्राह्य है नहीं, जिसे अभावप्रमाण जाने। दूसरे, वस्तु भावाभावात्मक है और भावको जाननेवाला भावप्रमाण ही उससे अभिन्न अभावको भी जान लेता है, अतः उसको जाननेके लिये अभावप्रमाणकी कल्पना निरर्थक है। अतएव वह भी सर्वज्ञका बाधक नहीं है।

१३. तर्कप्रामाण्यसिद्धि

सर्वज्ञका बाधक जब कोई प्रमाण सिद्ध न हो सका तो मीमांसक एक अन्तिम शंका और उठाता है। वह कहता है कि सर्वज्ञको सिद्ध करनेके लिये जो हेतु ऊपर दिया गया है उसके अविनाभावका ज्ञान असंभव है; क्योंकि उसको ग्रहण करने वाला तर्क अप्रमाण है और उस हालतमें अन्य अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि नहीं हो सकती है? पर उसकी यह शंका भी निस्सार है क्योंकि व्याप्ति (अविनाभाव) को प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। व्याप्ति तो सर्वदेश और सर्वकालको लेकर होती है और प्रत्यक्षादि नियत देश और नियत कालमें ही प्रवृत्त होते हैं। अतः व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क प्रमाण है और उसके प्रमाण सिद्ध हो जानेपर उक्त सर्वज्ञ साधक हेतुके अविनाभावका ज्ञान उसके द्वारा पूर्णतः सम्भव है। अतः उक्त हेतुमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक आदि कोई भी दोष न होनेसे उससे सर्वज्ञकी सिद्धि भली भाँति होती है।

१४. गुण-गुणीअभेदसिद्धि

वैशेषिक गुण-गुणी, आदिमें सर्वथा भेद स्वीकार करते हैं और समवाय सम्बन्धसे उनमें अभेदज्ञान मानते हैं। परन्तु वह ठीक नहीं है; क्योंकि न तो भिन्न रूपसे गुण-गुणी अगदिकी प्रतीति होती है और न उनमें अभेदज्ञान कराने वाले समवायकी।

यदि कहा जाय कि 'इसमें यह है' इस प्रत्ययसे समवायकी सिद्धि होती है तो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'इस गुणादिमें संख्या है' यह प्रत्यय भी उक्त प्रकारका है किन्तु इस प्रत्ययसे गुणादि और संख्यामें वैशेषिकोंने समवाय नहीं माना। अतः उक्त प्रत्यय समवायका प्रसाधक नहीं है।

अगर कहें कि दो गन्ध, छह रस, दो सामान्य, बहुत विशेष, एक समवाय इत्यादि जो गुणादिकमें संख्याकी प्रतीति होती है वह केवल औपचारिक है क्योंकि उपचारसे ही गुणादिकमें संख्या स्वीकार की गई है, तो उनमें 'पृथक्त्व' गुण भी उपचारसे स्वीकार करिए और उस दशामें अपृथक्त्व उनमें वास्तविक मानना पड़ेगा, जो वैशेषिकोंके लिये अनिष्ट है। अतः यदि पृथक्त्वको उनमें वास्तविक मानें तो संख्याको भी गुणादिमें

वास्तविक ही मानें । और तब उनमें एक तादात्म्य सम्बन्ध ही सिद्ध होता है—समवाय नहीं । अतएव गुणा-दिकको गुणी आदिसे कथंचित् अभिन्न स्वीकार करना चाहिए ।

ब्रह्मदूषणसिद्धि

ब्रह्माद्वैतवादियों द्वारा कल्पित ब्रह्म और अविद्या न तो स्वतः प्रणीत होते हैं, अन्यथा विवाद ही न होता, और न प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंसे; क्योंकि द्वैतकी सिद्धिका प्रसंग आता है । दूसरे, भेदको मिथ्या और अभेदको सम्यक् बतलाना युक्तिसंगत नहीं है । कारण, भेद और अभेद दोनों रूप ही वस्तु प्रमाणसे प्रतीत होती है । अतः ब्रह्मवाद ग्राह्य नहीं है ।

अन्तिम उपलब्ध खण्डित प्रकरण

शंका—भेद और अभेद दोनों परस्पर विरुद्ध होनेसे वे दोनों एक जगह नहीं बन सकते हैं, अतः उनका प्रतिपादक स्याद्वाद भी ग्राह्य नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे वे दोनों एक जगह प्रतिपादित हैं—पर्याथोंकी अपेक्षा भेद और द्रव्यकी अपेक्षा अभेद बतलाया गया है और इस तरह उनमें कोई विरोध नहीं है । एक ही रूपादिक्षणको जैसे बौद्ध पूर्व क्षणकी अपेक्षा कारण और उत्तर क्षणकी अपेक्षा कार्य दोनों स्वीकार करते हैं और इसमें वे कोई विरोध नहीं मानते । उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिए । अन्यापोहकृत उक्त भेद माननेमें सांकर्यादि दोष आते हैं । अतः स्याद्वाद वस्तुका सम्यक् व्यवस्थापक होनेसे सभीके द्वारा उपादेय एवं आदरणीय है ।

२. वादीभसिंहसूरि

(क) वादीभसिंह और उनका समय

ग्रन्थके प्रारम्भमें इस कृतिको वादीभसिंहसूरिकी प्रकट किया गया है तथा प्रकरणोंके अन्तमें जो समाप्तिपुष्पिकावाक्य दिये गये हैं उनमें भी उसे वादीभसिंहसूरिकी ही रचना बतलाया गया है^१, अतः यह निस्सन्देह है कि इस कृतिके रचयिता आचार्य वादीभसिंह हैं ।

अब विचारणीय यह है कि ये वादीभसिंह कौनसे वादीभसिंह हैं और वे कब हुए हैं—उनका क्या समय है ? आगे इन्हीं दोनों बातोंपर विचार किया जाता है ।

१. आदिपुराणके कर्ता जिनसेनस्वामीने, जिनका समय ई० ८३८ है, अपने आदिपुराणमें एक 'वादिंसिंह' नामके आचार्यका स्मरण किया है और उन्हें उत्कृष्ट कोटिका कवि, वाग्मी तथा गमक बतलाया है । यथा—

कवित्वस्य परा सीमा वाग्मिवस्य परं पदम् ।

गमकत्वस्य पर्यन्तो वादिंसिंहोऽर्च्यते न कैः ॥

१. यथा—'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः ॥१॥ इत्यादि ।

२. पार्श्वनाथचरितकार वादिराजसूरि (ई० १०२५) ने भी पार्श्वनाथचरितमें 'वादिंसिंह' का समुल्लेखन किया है और उन्हें स्याद्वादवाणीकी गर्जना करनेवाला तथा दिग्नाग और धर्मकीतिके अभिमानको चूर-चूर करनेवाला प्रकट किया है। यथा—

स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिंसिंहस्य गजिते ।

दिङ्नागस्य मदध्वंसे कीर्तिभङ्गो न दुर्घटः ॥

३. श्रवणबेलगोलाकी मल्लिषेणप्रशस्ति (ई० ११२८) में एक वादीभंसिंहसूरि अपरनाम गणभृत (आचार्य) अजितसेनका गुणानुवाद किया गया है और उन्हें स्याद्वादविद्याके पारगामियों द्वारा आदरपूर्वक सतत बन्दनीय और लोगोंके भारी आन्तर तमको नाश करनेके लिये पृथिवीपर आया दूसरा सूर्य बतलाया गया है। इसके अलावा, उन्हें अपनी गर्जनाद्वारा वादि-गर्जोंको शीघ्र चुप करके निग्रहरूपी जीर्ण गड्ढेमें पटकनेवाला तथा राजमान्य भी कहा गया है। यथा—

वन्दे वन्दितमादरादहरहरस्याद्वादविद्याविदां ।

स्वान्त-ध्वान्त-वितान-धूनन-विधौ भास्वन्तमन्यं भुवि ।

भक्त्या त्वाऽजितसेनमानतिकृतां यत्सन्नियोगान्मनः-

पद्मं सद्य भवेद्विकास-विभवस्योन्मुक्त-निद्राभरं ॥५४॥

मिथ्या-भाषण-भूषणं परिहरेतौद्धत्यमुन्मुञ्चत,

स्याद्वादं वदतानमेत विनयाद्वादीभकण्ठीरवं ।

नो चेत्तद्गुरुर्गजित-श्रुति-भय-भ्रान्ता स्थ यूयं यत्-

स्तूर्णं निग्रहजोर्णकूपकुहरे वादि-द्विषाः पातिनः ॥५५॥

सकल भुवनपालानम्रमूर्द्धाविवद्ध-

स्फुरित-मुकुट चूडालीढ-पादारविन्दः ।

मदवदखिल-वादीभेन्द्र-कुम्भप्रभेदी,

गणभृदजितसेनो भाति वादीभंसिंहः ॥५७॥—शिलालेख नं० ५४ (६७) ।

४. अष्टसहस्रीके टिप्पणकार लघुसमन्तभद्रने भी अपने टिप्पणके प्रारम्भमें एक वादीभंसिंहका उल्लेख निम्न प्रकार किया है—

'तदेवं महाभागैस्ताकिकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभंसिंहोपलालितामाप्तमीमांसमल्लि-
कीर्षवः स्याद्वादोद्भासिसत्यवाक्यमाणिक्यमकारिकाघटमदेकटकाराः सुरयो विद्यानन्दस्वामिनस्त-
दादौ प्रतिज्ञाश्लोकमेकमाह ।'
--अष्टसहस्री टि० पृ० १ ।

यहाँ लघुसमन्तभद्र (विक्रमकी १३वीं शती) ने वादीभंसिंहको समन्तभद्राचार्यरचित आप्तमीमांसाका उपलालन (परिपोषण) कर्ता बतलाया है। यदि लघुसमन्तभद्रका यह उल्लेख अश्रान्त है तो कहना होगा कि वादीभंसिंहने आप्तमीमांसापर कोई महत्त्वकी टीका लिखी है और उसके द्वारा आप्तमीमांसाका उन्होंने परिपोषण किया है। श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने^१ भी इसकी सम्भावना की है और उसमें आचार्य विद्यानन्दके अष्टसहस्री गत 'अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते' शब्दोंके साथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्यको प्रमाणरूपमें प्रस्तुत किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि आप्तमीमांसापर विद्यानन्दके पूर्व लघुसमन्तभद्रद्वारा उल्लिखित वादीभंसिंहने टीका रची हो और जिसरो ही लघुसमन्तभद्रने उन्हें आप्तमीमांसा-

१. न्यायकु०, प्र० भा०, प्रस्ता० पृ० १११ ।

का उपलालनकर्ता कहा है और विद्यानन्दने 'केचित्' शब्दोंके साथ उन्हींकी टीकाके उक्त 'जयति' आदि समाप्तिमङ्गलको अष्टसहस्रीके अन्तमें अपने तथा अकलङ्कदेवके समाप्तिमङ्गलके पहले उद्धृत किया है।

५. शत्रुचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंह सूर अतिविख्यात और सुप्रसिद्ध हैं।

६. पं० के० भुजबलीजी शास्त्री^१ ई० १०९० और ई० ११४७ के नं० ३ तथा ३७ के दो शिलालेखोंके^२ आधारसे एक वादीभसिंह (अपर नाम अजितसेन) का उल्लेख करते हैं।

७. श्रुतसागरसूरिने भी सोमदेवकृत यशस्तिलक (आश्वास २-१२६) की अपनी टीकामें एक वादीभसिंहका निम्न प्रकार उल्लेख किया है और उन्हें सोमदेवका शिष्य कहा है:—

'वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः

श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः। इत्युक्तत्वाच्च।'

वादिंसिंह और वादीभसिंहके ये सात उल्लेख हैं जो अब तककी खोजके परिणामस्वरूप विद्वानोंको जैन साहित्यमें मिले हैं। अब देखना यह है कि वे सातों उल्लेख भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक? अन्तिम उल्लेखको प्रेमीजी^३, पं० कैलाशचन्द्रजी^४ आदि विद्वान् अभ्रान्त और अविश्वसनीय नहीं मानते, जो ठीक भी है, क्योंकि इसमें उनका हेतु है कि न तो वादीभसिंहने ही अपनेको सोमदेवका कहीं शिष्य प्रकट किया और न वादिराजने ही अपनेको उनका शिष्य बतलाया है। प्रत्युत वादीभसिंहने तो पुष्पसेन मुनिको और वादिराजने मतिसागरको अपना गुरु बतलाया है। दूसरे, सोमदेवने उक्त वचन किस ग्रंथ और किस प्रसङ्गमें कहा, यह सोमदेवके उपलब्ध ग्रन्थोंपरसे ज्ञात नहीं होता। अतः जबतक अन्य प्रमाणोंसे उसका समर्थन नहीं होता तबतक उसे प्रमाणकोटिमें नहीं रखा जा सकता।

शेष उल्लेखोंमें मेरा विचार है कि तीसरा और छठा ये दो उल्लेख अभिन्न हैं तथा उन्हें एक दूसरे वादीभसिंहके होना चाहिए, जिनका दूसरा नाम मल्लिषेणप्रशस्ति और निर्दिष्ट शिलालेखोंमें अजितसेन मुनि अथवा अजितसेन पण्डितदेव भी पाया जाता है तथा जिनके उक्त प्रशस्तिमें शान्तिनाथ और पद्मनाभ अपरनाम श्रीकान्त और वादिकोलाहल नामके दो शिष्य भी बतलाये गये हैं। इन मल्लिषेणप्रशस्ति और शिलालेखोंका लेखनकाल ई० ११२८, ई० १०९० और ई० ११४७ है और इसलिये इन वादीभसिंहका समय लगभग ई० १०६५ से ई० ११५० तक हो सकता है। बाकीके चार उल्लेख—पहला, दूसरा, चौथा और पांचवां प्रथम वादीभसिंहके होना चाहिए, जिन्हें 'वादिंसिंह' नामसे भी साहित्यमें उल्लेखित किया गया है। वादीभसिंह और वादिंसिंहके अर्थमें कोई भेद नहीं है—दोनोंका एक ही अर्थ है। वादिरूपी गजोंके लिये सिंह और वादियोंके लिये सिंह एक ही बात है।

अब यदि यह सम्भावना की जाय कि शत्रुचूडामणि और गद्यचिन्तामणि काव्यग्रन्थोंके कर्ता वादीभसिंहसूरि ही स्याद्वादसिद्धिकार हैं और इन्हींने आप्तमीमांसापर विद्यानन्दसे पूर्व कोई टीका अथवा वृत्ति

१. देखो, जैनसिद्धान्तभास्कर भाग ६, कि० २ पृ० ७८।

२. देखो, ब्र० शीतलप्रसादजी द्वारा सङ्कलित तथा अनुवादित 'भद्रास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन स्मारक' नामक पुस्तक।

३. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४८०।

४. देखो, न्यायकुमुद, प्र० भा०, प्रस्ता० पृ० ११२।

लिखी है जो लघुसमन्तभद्रके उल्लेख तथा विद्यानन्दके 'केचित्' शब्दके साथ उद्धृत 'जयति जगति' आदि पद्य परसे जानी जाती है तथा इन्हीं वादीभसिंहका 'वादिंसिंह' नामसे जिनसेन और वादिराजसूरिने बड़े सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। तथा 'स्याद्वादगिरमाश्रित्य वादिंसिंहस्य गजिते' वाक्यमें वादिराजने 'स्याद्वाद-गिर' पदके द्वारा इन्हींकी प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धि जैसी स्याद्वादविद्यासे परिपूर्ण कृतियोंकी ओर इशारा किया है तो कोई अनुचित मालूम नहीं होता। इसके औचित्यको सिद्ध करनेवाले नीचे कुछ प्रमाण भी उपस्थित किये जाते हैं।

(१) क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके मङ्गलाचरणोंमें कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् भक्तोंके समीहित (जिनेश्वर-पदप्राप्ति) को पुष्ट करें—देवों। यथा—

(क) श्रीपतिभगवान्पुण्याद्भक्तानां वः समीहितम् ।

यद्भक्तिः शुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे ॥१॥—क्षत्रचू० १-१ ।

(ख) श्रियः पतिः पुष्यतु वः समीहितं,

त्रिलोकरक्षानिरतो जिनेश्वरः ।

यदीयपादाम्बुजभक्तिशीकरः,

सुरासुराधीशपदाय जायते ॥—गद्यचि० पृ० १ ।

लगभग यही स्याद्वादसिद्धिके मङ्गलाचरणमें कहा गया है—

(ग) नमः श्रीवर्द्धमानाय स्वामिने विश्ववेदिने ।

नित्यानन्द-स्वभावाय भक्त-सारूप्य-दायिने ॥१-१॥

(२) जिस प्रकार क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिके प्रत्येक लम्बके अन्तमें समाप्तिपुष्पिकावाक्य दिए हैं वैसे ही स्याद्वादसिद्धिके प्रकरणान्तमें वे पाये जाते हैं। यथा—

(क) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तामणी सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः'—क्षत्र-चूडा० ।

(ख) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचिते गद्यचिन्तामणी सरस्वतीलम्भो नाम प्रथमो लम्बः ।'—गद्य-चिन्तामणि ।

(ग) 'इति श्रीमद्वादीभसिंहसूरिविरचितायां स्याद्वादसिद्धौ चार्वाकं प्रति जीवसिद्धिः ।'—स्याद्वाद-सिद्धि ।

(३) जिस तरह क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें यत्र क्वचित् नीति, तर्क और सिद्धान्तकी पुट उपलब्ध होती है उसी तरह वह प्रायः स्याद्वादसिद्धिमें भी उपलब्ध होती है। यथा—

(क) 'अतर्कितमिदं वृत्तं तर्करूढं हि निश्चलम् ॥१-४२॥

इत्युद्देह विरक्तोऽभूद्गत्यधीनं हि मानसम् ॥१-६५॥

—क्षत्रचूडामणि ।

(ख) 'ततो हि सुधियः संसारमुपेक्षन्ते ।'

—गद्यचिन्तामणि पृ० ७८ ।

'एवं परगतिविरोधिन्या..... चार्वाकमतसब्रह्मचारिण्या राज्यश्रिया परिगृहीताः क्षिति-पातसुता नैयायिकनिर्दिष्टनिर्वाणपदप्रतिष्ठिता इव.....कापिलकल्पितपुरुषा इव .. प्रकृति-विकारपरं वचनं प्रतिपादयन्ति ।'

—गद्यचि० पृ० ६६

‘यतोऽभ्युदयनिश्रयससिद्धिः स धर्मः । स च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकः । अधर्मस्तु तद्विपरीतः ।’

—गद्य० पृ० २४३ ।

(ग) ‘तदुपायं ततो वक्ष्ये न हि कार्यमहेतुकम् ॥१-२॥

न ह्यवास्तवतः कार्ये कल्पिताग्नेश्च दाहवत् ॥२-४८॥

न हि स्वान्यातिकृत्वं स्याद्विरागे विश्ववेदिनि ॥७-२२॥

सत्येवात्मनि धर्मे च सौख्योपाये सुखार्थिभिः ।

धर्म एव सदा कार्यो न हि कार्यमकारणं ॥१-२४॥—स्याद्वा० ।

इन तुलनात्मक कुछ उद्धरणोंपरसे सम्भावना होती है कि क्षत्रचूडामणि तथा गद्यचिन्तामणिके कर्ता वादीभसिंहसूरि और स्याद्वादसिद्धिके कर्ता वादीभसिंहसूरि अभिन्न हैं—एक ही विद्वान्की ये तीनों कृतियाँ हैं । इन कृतियोंसे उनकी उत्कृष्ट कवि, उत्कृष्ट वादी और उत्कृष्ट दार्शनिककी ख्याति और प्रसिद्धि भी यथार्थ जंचती है । तृतीय वादीभसिंहकी भी जो इसी प्रकारकी ख्याति और प्रसिद्धि शिलालेखोंमें उल्लिखित पाई जाती है और जिससे विद्वानोंको यह भ्रम हुआ है कि वे दोनों एक हैं वह हमें प्रथम वादीभसिंहकी छाप (अनुकृति) जान पड़ती है । इस प्रकारके प्रयत्नके जैन साहित्यमें अनेक उदाहरण मिलते हैं । तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक आदि महान् दार्शनिक ग्रंथोंके कर्ता आचार्य विद्यानन्दकी जैनसाहित्यमें जो भारी ख्याति और प्रसिद्धि है वैसी ही ख्याति और प्रसिद्धि ईसाकी १६वीं शताब्दामें हुए एक दूसरे विद्यानन्दकी हुम्बुच्चके शिलालेखों और वर्द्धमानमुनीन्द्रके दशभक्त्यादिमहाशास्त्रमें वर्णित मिलती है और जिससे विद्वानोंको इन दोनोंके ऐक्यमें भ्रम हुआ है, जिसका निराकरण विद्यानन्दकी स्वोपज्ञ टीका सहित ‘आप्त-परीक्षा’की प्रस्तावनामें किया गया है ।^१ हो सकता है कि प्रथम नामवाले विद्वान्की तरह उसी नामवाले दूसरे विद्वान् भी प्रभावशाली रहे हों । अतः ८वीं-९वीं शताब्दीसे १२वीं शताब्दी तक विभिन्न वादीभसिंहोंका अस्तित्व मानना चाहिए । यहां यह उल्लेखनीय है कि उक्त ग्रंथोंके कर्ता वादीभसिंहके कवि और स्याद्वादी होनेके उनके ग्रंथोंमें प्रचुर बीज भी मिलते हैं ।

अब इनके समयपर विचार किया जाता है ।

१. स्वामीसमन्तभद्ररचित रत्नकरण्डक और आप्तमीमांसाका क्रमशः क्षत्रचूडामणि और स्याद्वाद-सिद्धिपर स्पष्ट प्रभाव है । यथा—

(क) श्वाऽपि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्म-किल्बिषात् ।

—रत्नकरण्डक०, श्लोक २९ ।

देवता भविता श्वापि देवः श्वा धर्म-पापतः ।

—क्षत्रचूडामणि ११-७७

(ख) कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ॥ आप्त, मी०, श्लो० ८॥

कुशलाकुशलत्वं च न चेत् दातृहिस्रयोः ॥

—स्या० ३-५० ।

अतः वादीभसिंहसूरि स्वामी समन्तभद्रके पश्चाद्द्विती विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीके बादके विद्वान् हैं ।

१. देखो, प्रस्तावना पृ० ८ ।

२. अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयादि ग्रन्थोंका भी स्याद्वादसिद्धिपर असर है जिसके तीन तुलनात्मक नमूने इस प्रकार हैं—

(१) असिद्धधर्मिधर्मत्वेऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् ।

हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥

—न्यायविनि० का० १७६ ।

पक्षधर्मत्व-वैकल्येऽप्यन्यथानुपपत्तिमान् ॥

हेतुरेव यथा सन्ति प्रमाणानीष्टसाधनात् ॥

—स्या०-४-८७, ८८ ।

(२) समवायस्य वृक्षोऽत्र शाखास्वित्यादिसाधनैः ॥

अनन्यसाधनैः सिद्धिरहो लोकोत्तरा स्थितिः ॥

—न्यायवि० का० १०३, १०४

इह शाखासु वृक्षोऽयमिति सम्बन्धपूर्विका ।

बुद्धिरिहेदंबुद्धित्वात्कुण्डे दधीति बुद्धिवत् ॥ —स्या० ५-८ ।

(३) अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्ययात् ।

इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ॥

—न्यायवि० का० ३५६ ।

सार्वज्ञसहजेच्छा तु विरागेऽप्यस्ति, सा हि न ।

रागाद्युपहृता तस्माद्भवेद्वक्तैव सर्ववित् ॥ —स्या० ८-१० ।

अतः वादीभसिंह अकलङ्कदेवके अर्थात् विक्रमकी सातवीं शताब्दीके उत्तरवर्ती विद्वान् हैं ।

३. प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिके छठे प्रकरणकी १९वीं कारिकामें भट्ट और प्रभाकरका नामोल्लेख करके उनके अभिमत भावना-नियोगरूप वेदवाक्यार्थका निर्देश किया गया है । इसके अलावा, कुमारिलभट्टके मीमांसाश्लोकवार्तिकसे कई कारिकाएँ भी उद्धृत करके उनकी आलोचना की गई है । कुमारिलभट्ट और प्रभाकर समकालीन विद्वान् हैं तथा ईसाकी सातवीं शताब्दी उनका समय माना जाता है, अतः वादीभसिंह इनके उत्तरवर्ती हैं ।

४. बौद्ध विद्वान् शङ्करानन्दकी अपोहसिद्धि और प्रतिबन्धसिद्धिकी आलोचना स्याद्वादसिद्धिके तीसरे-चौथे प्रकरणोंमें की गई मालूम होती है । शङ्करानन्दका समय राहुल सांकृत्यायनने ई० ८१० निर्धारित किया है ।^१ शङ्करानन्दके उत्तरकालीन अन्य विद्वान्की आलोचना अथवा विचार स्याद्वादसिद्धिमें पाया जाता हो, ऐसा नहीं जान पड़ता । अतः वादीभसिंहके समयकी पूर्वाविधि शङ्करानन्दका समय जानना चाहिये । अर्थात् ईसाकी ८वीं शती इनकी पूर्वाविधि माननेमें कोई बाधा नहीं है ।

अब उत्तरावधिके साधक प्रमाण दिये जाते हैं—

१. तामिल-साहित्यके विद्वान् पं० स्वामिनाथय्या और श्री कुप्पुस्वामी शास्त्रीने अनेक प्रमाणपूर्वक यह सिद्ध किया है कि तामिल भाषामें रचित तिरुत्तकदेव कृत 'जीवकचिन्तामणि' ग्रन्थ धन्वचूडामणि और गद्यचिन्तामणिकी छाया लेकर रचा गया है और जीवकचिन्तामणिका उल्लेख सर्वप्रथम तामिलभाषाके पेरियपुराणमें मिलता है जिसे चोल-नरेश कुलोत्तुङ्गके अनुरोधसे शेविकलार नामक विद्वान्ने रचा माना जाता

१. देखो, 'वादन्यायका परिशिष्ट A ।

२. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास ।

है। कुलोत्तुङ्गका राज्यकाल वि० सं० ११३७ से ११७५ (ई० १०८० से ई० १११८) तक है।^१ अतः वादीभसिंह इससे पूर्ववर्ती है—बादके नहीं।

२. श्रावकके आठ मूलगुणोंके बारेमें जिनसेनाचार्यके पूर्व एक ही परम्परा थी और वह थी स्वामी समन्तभद्रकृत रत्नकरण्डकश्रावकाचार प्रतिपादित। जिसमें तीन मकार (मद्य, मांस और मधु) तथा हिंसादि पाँच पापोंका त्याग विहित है। जिनसेनाचार्यने उक्त परम्परामें कुछ परिवर्तन किया और मधुके स्थानमें जुआको रखकर मद्य, मांस, जुआ तथा पाँच पापोंके परित्यागको अष्ट मूलगुण बतलाया। उसके बाद सोमदेवने तीन मकार और पाँच उदुम्बर फलोंके त्यागको अष्ट मूलगुण कहा, जिसका अनुसरण पं० आशाधरजी आदि विद्वानोंने किया है। परन्तु वादीभसिंहने क्षत्रचूडामणिमें स्वामी समन्तभद्र प्रतिपादित पहली परम्पराको ही स्थान दिया है और जिनसेन आदिकी परम्पराओंको स्थान नहीं दिया। यदि वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवके उत्तरकालीन होते तो वे बहुत सम्भव था कि उनकी परम्पराको देते अथवा साथमें उन्हें भी देते। जैसा कि पं० आशाधरजी आदि उत्तरवर्ती विद्वानोंने किया है। इसके अलावा, जिनसेन (ई० ८३८) ने आदिपुराणमें इनका स्मरण किया है, जैसाकि पूर्वमें कहा जा चुका है। अतः वादीभसिंह जिनसेन और सोमदेवसे, जिनका समय क्रमशः ईसाकी नवमी और दशमी शताब्दी है, पश्चाद्वर्ती नहीं हैं—पूर्ववर्ती हैं।

३. न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टने कुमारिलकी मीमांसाश्लोकवार्तिक गत 'वेदस्याध्ययनं सर्वं' इस, वेदकी अपौरुषेयताको सिद्ध करनेके लिये उपस्थित की गई अनुमानकारिकाका न्यायमञ्जरीमें सम्भवतः सर्व प्रथम 'भारताध्ययनं सर्वं' इस रूपसे खण्डन किया है, जिसका अनुसरण उत्तरवर्ती प्रभाचन्द्र^२, अभयदेव^३ देवसूरि^४, प्रमेयरत्नमालाकार अनन्तवीर्य^५ प्रभृति तार्किकोंने किया है। न्यायमञ्जरीकारका वह खण्डन इस प्रकार है—

'भारतेऽप्येवमभिधातुं शक्यत्वात् भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकं ।
भारताध्ययनवाच्यत्वादिदानोन्तनभारताध्ययनवदिति ॥'

—न्यायमं पृ० २१४ ।

परन्तु वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिमें कुमारिलकी उक्त कारिकाके खण्डनके लिये अन्य विद्वानोंकी तरह न्यायमञ्जरीकारका अनुगमन नहीं किया। अपितु स्वरचित एक भिन्न कारिकाद्वारा उसका निरसन किया है जो निम्न प्रकार है—

पिटकाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।

तदध्ययनवाच्यत्वादधुनेव भवेदिति ॥—स्या० १०-३० ।

इसके अतिरिक्त वादीभसिंहने कोई पाँच जगह और भी इसी स्याद्वादसिद्धिमें पिटकका ही उल्लेख किया है, जो प्राचीन परम्पराका द्योतक है। अष्टशती और अष्टसहस्री (पृ० २३७) में अकलङ्कदेव तथा उनके अनुगामी विद्यानन्दने भी इसी (पिटकत्रय) का ही उल्लेख किया है।

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं स्वस्त्री-मितवसु-ग्रहौ ।

मद्यमांसमधुत्यागैस्तेषां मूलगुणाष्टकम् ॥—क्षत्र० ७-२३ ।

२. देखो, न्यायकुमुद पृ० ७३१, प्रमेयक०, पृ० ३९६।

३. देखा, सन्मतिटी०, पृ० ४१ ।

४. देखो, स्या० २०, पृ० ६३४ ।

५. देखो, प्रमेयरत्न०, पृ० १३७ ।

इससे हम इस नतीजेपर पहुँचते हैं कि यदि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्टके उत्तरवर्ती होते तो सम्भव था कि वे उनका अन्य उत्तरकालीन विद्वानोंकी तरह जरूर अनुसरण करते—‘भारताध्ययनं सर्वं’ इत्यादिको ही अपनाते और उस हालतमें ‘पिटकाध्ययनं सर्वं’ इस नई कारिकाको जन्म न देते। इससे ज्ञात होता है कि वादीभसिंह न्यायमञ्जरीकारके उत्तरवर्ती विद्वान् नहीं हैं। न्यायमञ्जरीकारका समय ई० ८४० के लगभग माना जाता है। अतः वादीभसिंह इनसे पहलेके हैं।

४. आ० विद्यानन्दने आप्तपरीक्षामें जगत्कर्तृत्वका खण्डन करते हुए ईश्वरको शरीरी अथवा अशरीरी माननेमें दूषण दिये हैं और उसको विस्तृत सीमांसा की है। उसका कुछ अंश टीका सहित नीचे दिया जाता है—

‘महेश्वरस्याशरीरस्य स्वदेहनिर्माणानुपपत्तेः। तथा हि—

देहान्तराद्विना तावत्स्वदेहं जनयेद्यदि।

तदा प्रकृतकार्येऽपि देहाधानमनर्थकम् ॥१८॥

देहान्तरात्स्वदेहस्य विधाने चानवस्थितिः।

तथा च प्रकृतं कार्यं कुर्यादीशो न जातुचित् ॥१९॥

यथैव हि प्रकृतकार्यजननायापूर्वशरीरमीश्वरो निष्पादयति तथैव तच्छरीरनिष्पादनाया-
पूर्वशरीरान्तरं निष्पादयेदिति कथमनवस्थां विनिवार्येत ?

यथाऽनीशः स्वदेहस्य कर्ता देहान्तरान्मतः।

पूर्वस्मादित्यनादित्वान्नानवस्था प्रसज्यते ॥२१॥

तथेशस्यापि पूर्वस्माद्देहाद्देहान्तरोद्भवात्।

नानवस्थेति यो ब्रूयात्तस्यानीशत्वमीशितुः ॥२२॥

अनीशः कर्मदेहेनाऽनादिसन्तानवतिना।

यथैव हि सकर्माणस्तद्वन्न कथमीश्वरः ॥२३॥

प्रायः यही कथन वादीभसिंहने स्याद्वादसिद्धिकी सिर्फ ढाई कारिकाओंमें किया है और जिसका पल्लवन एवं विस्तार उपर्युक्त जान पड़ता है। वे ढाई कारिकाएँ ये हैं—

देहारम्भोऽप्यदेहस्य वक्तृत्ववदयुक्तिमान्।

देहान्तरेण देहस्य यद्यारम्भोऽनवस्थितिः ॥

अनादिस्तत्र बन्धश्चेत्त्यक्तोपात्तशरीरता।

अस्मादादिवदेवाऽस्य जातु नैवाशरीरता ॥

देहस्यानादिता स्यादेतस्यां च प्रमात्ययात् ॥—६-१०, ११३।

इन दोनों उद्धरणोंका मिलान करनेसे ज्ञात होता है कि वादीभसिंहका कथन जहाँ संक्षिप्त है वहाँ विद्यानन्दका कथन कुछ विस्तारयुक्त है। इसके अलावा, वादीभसिंहने प्रस्तुत स्याद्वादसिद्धिमें अनेकान्तके युगपदनेकान्त और क्रमानेकान्त ये दो भेद प्रदर्शित करके उनका एक-एक स्वतन्त्र प्रकरण द्वारा विस्तारसे वर्णन किया है। विद्यानन्दने भी श्लोकवार्तिक (पृ० ४३८) में अनेकान्तके इन दो भेदोंका उल्लेख किया है।

१. देखो, न्यायकु०, द्वि० भा०, प्र० पृ० १६।

इन बातोंमें लगता है कि शायद विद्यानन्दने वादीभसिंहका अनुसरण किया है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो विद्यानन्दका समय वादीभसिंहकी उत्तरावधि समझना चाहिये। यदि वे दोनों विद्वान् समकालीन हों तो भी एक दूसरेका प्रभाव एक दूसरेपर पड़ सकता है और एक दूसरेके कथन एवं उल्लेखका आदर एक दूसरा कर सकता है। विद्यानन्दका समय हमने अन्यत्र^१ ई० ७७५ से ८४० अनुमानित किया है।

५. गद्यचिन्तामणि (पीठिका श्लोक ६) में वादीभसिंहने अपना गुरु पुष्पषेण आचार्यको बतलाया है और ये पुष्पषेण वे ही पुष्पषेण मालूम होते हैं जो अकलंकदेवके सधर्मा और 'शत्रुभयङ्कर' कृष्ण प्रथम (ई० ७५६-७७२) के समकालीन कहे जाते हैं। और इसलिये वादीभसिंह भी कृष्ण प्रथमके समकालीन है।

अतः इन सब प्रमाणोंसे वादीभसिंहसूरिका अस्तित्व-समय ईसाकी ८वीं और ९वीं शताब्दीका मध्यकाल—ई० ७७० से ८६० सिद्ध होता है।

बाधकोंका निराकरण

इस समयके स्वीकार करनेमें दो बाधक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं और वे ये हैं—

१. क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणिमें जीवन्धर स्वामीका चरित्र निबद्ध है जो गुणभद्राचार्यके उत्तरपुराण^३ (शक सं० ७७०, ई० ८४८) गत जीवन्धरचरितसे लिया गया है। इसका संकेत भी गद्यचिन्तामणिके निम्न पद्यमें मिलता है—

निःसारभूतमपि बन्धनतन्तुजातं, मूर्ध्ना जनो वहति हि प्रसवानुषङ्गात् ।

जीवन्धरप्रभवपुण्यपुराणयोगाद्वाक्यं ममाऽप्युभयलोकहितप्रदायि ॥९॥

अतएव वादीभसिंह गुणभद्राचार्यसे पीछेके हैं।

२. सुप्रसिद्ध धारानरेश भोजकी झूठी मृत्युके शोकपर उनके समकालीन सभाकवि कालिदास, जिन्हें परिमल अथवा दूसरे कालिदास कहा जाता है, द्वारा कहा गया निम्न श्लोक प्रसिद्ध है—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।

पण्डिता खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥

और इसी श्लोकके पूर्वार्धकी छाया सत्यन्धर महाराजके शोकके प्रसङ्गमें कही गई गद्यचिन्तामणिकी निम्न गद्यमें पाई जाती है—

'अद्य निराधारा धरा निरालम्बा सरस्वती ।'

अतः वादीभसिंह राजा भोज (वि० सं० १०७६ से वि० ११-१२) के बादके विद्वान् हैं।

ये दो बाधक हैं जिनमें पहलेके उद्धावक अर्द्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी हैं और दूसरेके स्यायक श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्री तथा समर्थक प्रेमीजी हैं। इनका समाधान इस प्रकार है—

१. देखो, आप्तपरीक्षाकी प्रस्तावना पृ० ५३।

२. देखो, डा० सालतोर कृत मिडियावल जैनिज्म पृ० ३६।

३. प्रेमीजीने जो इसे 'शक सं० ७०५ (वि० सं० ८४०) की रचना' बतलाई है (देखो, जैनसा० और इति० पृ० ४८१) वह प्रेसादिकी गलती जान पड़ती है; क्योंकि उन्हींने उसे अन्यत्र शक सं० ७७०, ई० ८४८के लगभगकी रचना सिद्ध की है, देखो वही पृ० ५१४।

१. कवि परमेष्ठी अथवा परमेश्वरने जिनसेन और गुणभद्रके पहले 'वागर्थसंग्रह' नामका जगत्प्रसिद्ध पुराण रचा है और जिसमें त्रेशठशलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा जिसे उत्तरवर्ती अनेकों पुराणकारों-ने अपने पुराणोंका आधार बनाया है। खुद जिनसेन और गुणभद्रने भी अपने भादिपुराण तथा उत्तरपुराण उसीके आधारसे बनाये हैं, यह प्रेमीजी स्वयं स्वीकार करते हैं^२। तब वादीभसिहने भी जीवन्धरचरित, जो उक्त पुराणमें निबद्ध होगा, उसी (पुराण) से लिया है, यह कहनेमें भी कोई बाधा नहीं जान पड़ती।

गद्यचिन्तामणिका जो पद्य प्रस्तुत किया गया है उसमें सिर्फ इतना ही कहा है कि 'इसमें जीवन्धर-स्वामीके चरितके उद्धावक पुण्यपुराणका सम्बन्ध होने अथवा मोक्षगामी जीवन्धरके पुण्य-चरितका कथन होनेसे यह (मेरा गद्यचिन्तामणिरूप वाक्य-समूह) भी उभय लोकके लिये हितकारी है।' और वह पुण्यपुराण उपर्युक्त कविपरमेष्ठीका वागर्थसंग्रह भी हो सकता है। इसके सिवाय, गद्यचिन्तामणिकारने उस जीवन्धर-चरितको गद्यचिन्तामणिमें कहनेकी प्रतिज्ञा की है जिसे गणधरने कहा और अनेक सूरियों (आचार्यों) द्वारा जगत्में ग्रन्थरचनादिके रूपमें प्रख्यापित हुआ है। यथा—

इत्येवं गणनायकेन कथितं पुण्यास्त्रवं शृण्वतां
तज्जीवन्धरवृत्तमत्र जगति प्रख्यापितं सूरिभिः।
विद्यास्फूर्तिविधायि धर्मजननीवाणीगुणाभ्यर्थिनां
वक्ष्ये गद्यमयेन वाङ्मयसुधावर्षेण वाक्सिद्धये ॥१५॥

दूसरे, यदि अत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि वादीभसिह सूरिकी अन्तिम रचनाएँ हों तो गृणभद्र (ई० ८४८) के उत्तरपुराणका उनमें अनुसरण माननेमें भी कोई हानि नहीं है।

अतः वादीभसिहको गुणभद्राचार्यका उत्तरवर्ती सिद्ध करनेके लिये जो उक्त हेतु दिया गया है वह वादीभसिहके उपरोक्त समयका बाधक नहीं है।

२. दूसरी बाधाको उपस्थित करते हुए उसके उपस्थापक श्रीकुण्डस्वामी शास्त्री और समर्थक प्रेमीजी दोनों विद्वानोंको कुछ भ्रान्ति हुई है। वह भ्रान्ति यह है कि गद्यचिन्तामणिकी उक्त गद्यको सत्यन्धर महाराज-के शोकके प्रसङ्गमें कही गई बतलाई है किन्तु वह उनके शोकके प्रसङ्गमें नहीं कही गई। अपितु काष्ठाङ्गारके हाथीको जीवन्धरस्वामीने कड़ा मारा था, उससे क्रुद्ध हुए काष्ठाङ्गारके निकट जब जीवन्धरस्वामीको गन्धो-त्कटने बांधकर भेज दिया और काष्ठाङ्गारने उन्हें वधस्थानमें लेजाकर फांसी देनेकी सजाका हुक्म दे दिया तो सारे नगरमें सन्नाटा छा गया और समस्त नगरवासी सन्तापमें मग्न होगये तथा शोक करने लगे। इसी समयकी उक्त गद्य है और जो पांचवें लम्बमें पाई जाती है जहाँ सत्यन्धरका कोई सम्बन्ध नहीं है—उनका तो पहले लम्ब तक ही सम्बन्ध है। वह पूरी प्रकृतोपयोगी गद्य इस प्रकार है—

'अद्य निराश्रयः श्रीः, निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती, निष्फलं लोकलोचनविधानम्, निःसारः संसारः, नीरसा रसिकता, निरास्पदा वीरता इति मिथः प्रवर्तयति प्रणयोद्गारिणीं वाणीम्'—पृ० १३१।

इस गद्यके पद-वाक्योंके विन्यास और अनुप्रासको देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह गद्य मौलिक है और वादीभसिहकी अपनी रचना है। हो सकता है कि उक्त परिमल कविने इसी गद्यके पदोंको अपने उक्त श्लोकमें समाविष्ट किया हो। यदि उल्लिखित पद्यकी इसमें छाया होती तो 'अद्य' और 'निराधारा धरा'

१. देखो डा० ए० एन० उपाध्यायका 'कवि परमेश्वर या परमेष्ठी' शीर्षक लेख, जैनसि० भा० १३, कि. २।

२. देखो, जैनसाहित्य और इतिहास पृ० ४२१।

के बीचमें 'निराश्रया श्रीः' यह पद्य फिर शायद न आता । छायामें मूल ही तो आता है । यही कारण है कि इस पदको शास्त्रीजी और प्रेमीजी दोनों विद्वानोंने पूर्वोल्लिखित गद्यमें उद्धृत नहीं किया—उसे अलग करके और 'अद्य' को 'निराधारा धरा' के साथ जोड़कर उपस्थित किया है ! अतः यह दूसरी बाधा भी उपरोक्त समयकी बाधक नहीं है ।

(ख) पुष्पसेन और ओडयदेव

वादीभसिंहके साथ पुष्पसेन मुनि और ओडयदेवका सम्बन्ध बतलाया जाता है । पुष्पसेनको उनका गुरु और ओडयदेव उनका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम कहा जाता है । इसमें निम्न पद्य प्रमाणरूपमें दिये जाते हैं—

पुष्पसेनमुनिनाथ इति प्रतीतो, दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम संनिदध्यात् ।
यच्छक्तितः प्रकृतमूढमतिर्जनोऽपि, वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति ॥
श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः ।
स्थेयादोडयदेवेन चिरायास्थानभूषणः ॥
स्थेयादोडयदेवेन वादीभहरिणा कृतः ।
गद्यचिन्तामणिलोके चिन्तामणिरिवापरः ॥

इतमें पहला पद्य गद्यचिन्तामणिकी प्रारम्भिक पीठिकाका छठा पद्य है और जो स्वयं ग्रन्थकारका रचा हुआ है । इस पद्यमें कहा गया है कि 'वे प्रसिद्ध पुष्पसेन मुनिन्द्र दिव्य मनु—पूज्य गुरु मेरे हृदयमें सदा आसन जमाये रहें—वर्तमान रहें जिनके प्रभावसे मुझ जैसा निपट मूर्ख साधारण आदमी भी वादीभसिंह मुनिश्रेष्ठ अथवा वादीभसिंहसूरि बन गया ।' अतः यह असंदिग्ध है कि वादीभसिंह सूरिके गुरु पुष्पसेन मुनि थे—उन्होंने उन्हें मूर्खसे विद्वान् और साधारण जनसे मुनिश्रेष्ठ बनाया था और इसलिए वे वादीभसिंहके दीक्षा और विद्या दोनोंके गुरु थे ।

अन्तिम दोनों पद्य, जिनमें ओडयदेवका उल्लेख है, मुझे वादीभसिंहके स्वयंके रचे नहीं मालूम होते, क्योंकि प्रथम तो जिस प्रशस्तिके रूपमें वे पाये जाते हैं वह प्रशस्ति गद्यचिन्तामणिकी सभी प्रतियोंमें उपलब्ध नहीं है—सिर्फ तन्जोरकी दो प्रतियोंमेंसे एक ही प्रतिमें वह मिलती है । इसीलिये मुद्रित गद्यचिन्तामणिके अन्तमें वे अलगसे दिए गए हैं, और श्रीकुप्पुस्वामी शास्त्रीने फुटनोटमें उक्त प्रकारकी सूचना की है । दूसरे, प्रथम श्लोकका पहला पाद और दूसरे श्लोकका दूसरा पाद, तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका तीसरा पाद तथा पहले श्लोकका तीसरा पाद और दूसरे श्लोकका पहला पाद परस्पर अभिन्न हैं—पुनरुक्त हैं—उनसे कोई विशेषता जाहिर नहीं होती और इसलिये ये दोनों शिथिल पद्य वादीभसिंह जैसे उत्कृष्ट कविकी रचना ज्ञात नहीं होते । तीसरे, वादीभसिंहसूरिकी प्रशस्ति देनेकी प्रकृति और परिणति भी प्रतीत नहीं होती । उनकी क्षत्रचूडामणियों भी वह नहीं है और स्याद्वादसिद्धि अपूर्ण है, जिससे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता । अतः उपर्युक्त दोनों पद्य हमें अन्यद्वारा रचित एवं प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं और इसलिए ओडयदेव वादीभसिंहका जन्म नाम अथवा वास्तव नाम था, यह विचारणीय है । हाँ, वादीभसिंहका जन्म नाम व असली नाम कोई रहा जरूर होगा । पर वह क्या होगा, इसके साधनका कोई दूसरा पुष्ट प्रमाण ढूँढना चाहिए ।

(ग) वादीभसिंहकी प्रतिभा और उनकी कृतियाँ

आचार्य जिनसेन तथा बादिराज जैसे प्रतिभाशाली विद्वानों एवं समर्थ ग्रन्थकारोंने आचार्य वादीभसिंहकी प्रतिभा और विद्वत्तादि गुणोंका समुल्लेख करते हुए उनके प्रति अपना महान् आदरभाव प्रकट किया

है और लिखा है कि वे सर्वोत्कृष्ट कवि, श्रेष्ठतम वाग्मी और अद्वितीय गमक थे तथा स्याद्वादविद्याके पार-
गामी और प्रतिवादियोंके अभिमानचूरक एवं प्रभावशाली विद्वान् थे और इसलिये वे सबके सम्मान योग्य
हैं। इससे जाना जा सकता है कि आचार्य वादीभसिंह एक महान् दार्शनिक, वादी, कवि और दृष्टिसम्पन्न
विद्वान् थे—उनकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता चहुमुखी थी और उन्हें विद्वानोंमें अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त थी।

इनकी तीन कृतियाँ अबतक उपलब्ध हुई हैं। वे ये हैं—

१. स्याद्वादसिद्धि—प्रस्तुत ग्रन्थ है।

२. क्षत्रचूचडामणि—यह उच्चकोटिका एक नीति काव्यग्रन्थ है। भारतीय काव्यसाहित्यमें इस
जैसा नीतिकाव्यग्रन्थ और कोई दृष्टिभोचर नहीं आया। इसकी सूक्तियाँ और उपदेश हृदयस्पर्शी हैं। यह
पद्यात्मक रचना है। इसमें क्षत्रियमुकुट जीवन्धरके, जो भगवान् महावीरके समकालीन और सत्यन्धर नरेशके
राजपुत्र थे, चरितका चित्रण किया गया है। उन्होंने भगवान्से दीक्षा लेकर निर्वाण लाभ किया था और
इससे पूर्व अपने शौर्य एवं पराक्रमसे शत्रुओंपर विजय प्राप्त करके नीतिपूर्वक राज्यका शासन किया था।

३. गद्यचिन्तामणि—यह ग्रन्थकारकी गद्यात्मक काव्यरचना है। इसमें भी जीवन्धरका चरित
निबद्ध है। रचना बड़ी ही सरस, सरल और अपूर्व है। पदलालित्य, वाक्यविन्यास, अनुप्रास और शब्दावली-
की छटा ये सब इसमें मौजूद है। जैन काव्यसाहित्यकी विशेषता यह है कि उसमें सरागताका वर्णन होते
हुए भी वह गौण—अप्रधान रहता है और विरागता एवं आध्यात्मिकता लक्ष्य तथा मुख्य वर्णनीय होती है।
यही बात इन दोनों काव्यग्रन्थोंमें है। काव्यग्रन्थके प्रेमियोंको ये दोनों काव्यग्रन्थ अवश्य ही पढ़ने योग्य हैं।

प्रमाणनीका और नवपदार्थनिश्चय ये दो ग्रन्थ भी वादीभसिंहके माने जाते हैं। प्रमाणनीका हमें उप-
लब्ध नहीं हो सकी और इसलिये उसके बारेमें नहीं कहा जा सकता है कि वह प्रस्तुत वादीभसिंहकी ही कृति
है अथवा उनके उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना है। नवपदार्थनिश्चय हमारे सामने है और
जिसका परिचय अनेकान्त वर्ष १० किरण ४-५ में दिया गया है। इस परिचयसे हम इसी निष्कर्षपर पहुँचे
हैं कि यह रचना स्याद्वादसिद्धि जैसे प्रौढ़ ग्रन्थोंके रचयिताकी कृति ज्ञात नहीं होती। ग्रन्थकी भाषा, विषय
और वर्णनशैली प्रायः उतने प्रौढ़ नहीं हैं जितने उनमें हैं और न ग्रन्थका जैसा नाम है वैसा इसमें महत्त्वका
विवेचन है—साधारण तौरसे नवपदार्थोंके मात्र लक्षणादि दिये गये हैं। अन्तःपरीक्षणपरसे यह प्रसिद्ध और
प्राचीन तर्क-काव्यग्रन्थकार वादीभसिंहसूरिसे भिन्न और उत्तरवर्ती किसी दूसरे वादीभसिंहकी रचना जान
पड़ती है। ग्रन्थके अन्तमें जो समाप्तपुष्पिकावाक्य पाया जाता है उसमें इसे 'भट्टारक वादीभसिंहसूरि' की
कृति प्रकट भी किया गया है। यह रचना ७२ अनुष्टूप और १ मालिनी कुल ७३ पद्योंमें समाप्त है।
रचना साधारण और औपदेशिक है और प्रायः अशुद्ध है। विद्वानोंको इसके साहित्यादिपर विशेष विचार
करके उसके समयादिका निर्णय करना चाहिए।

इस तरह ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें कुछ प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया गया है।

१. 'इति श्रीभट्टारकवादीभसिंहसूरिविरचितो नवपदार्थनिश्चयः'।

द्रव्यसंग्रह और नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव

द्रव्य-संग्रह

प्रति-परिचय

यहाँ द्रव्य-संग्रहभाषामें उपयुक्त प्रतियोंका परिचय दिया जाता है—

१. ब—यह बड़ौत (मेरठ)के दि० जैन पंचायती मन्दिरके शास्त्र-भण्डारकी प्रति है। आरम्भमें हमें यही प्रति प्राप्त हुई थी। इसमें कुल पत्र ४६ हैं। प्रथम पत्रका प्रथम पृष्ठ और अन्तिम पत्रका अन्तिम पृष्ठ खाली हैं—उनपर कोई लिखावट नहीं है। शेष ४५ पत्रों अर्थात् ९० पृष्ठोंमें लिखावट है। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई ९-९ इंच और चौड़ाई ६-६ इंच है। प्रत्येक पृष्ठमें १३ लाइनें और एक-एक लाइनमें २८ से ३० तक अक्षर हैं। जिस पंक्तिमें संयुक्त अक्षर अधिक हैं उनमें २८ अक्षर हैं और जिसमें संयुक्त अक्षर कम हैं उसमें ३० तक अक्षर हैं। उल्लेखनीय है कि इसमें प्रतिका लेखन-काल भी दिया हुआ है, जो इस प्रकार है—

‘इति द्रव्यसंग्रहभाषा संपूर्ण ॥ श्री ॥ संवत् १८७६ माघ कृष्ण ११ भौमवासरे लिखितं
मिश्र सुखलाल बड़ौतमध्ये ॥ श्री शुभं मंगलं ददातु ॥ श्री श्री ॥’—मुद्रित पृ० ८० ।

इस अन्तिम पुष्पिका-वाक्यसे प्रकट है कि यह प्रति माघ कृष्ण ११ मंगलवार सं० १८७६ में मिश्र सुखलालद्वारा बड़ौतमें लिखी गई है। यह प्रतिलेखन-काल ग्रन्थलेखन-काल (सं० १८६३) से केवल १३ वर्ष अधिक है—ज्यादा वादकी लिखी यह प्रति नहीं है। फिर भी वह इतने अल्पकाल (१३ वर्ष) में इसनी अशुद्ध कैसे लिखी गयी? इसका कारण सम्भवतः वचनिकाकी राजस्थानी भाषासे लेखकका अपरिचित होना या प्राप्त प्रतिका अशुद्ध होना जान पड़ता है, जो हो। प्रतिदाता ला० प्रेमचन्द्रजी सर्राफने प्रति-प्रेषक बा० लक्ष्मीचन्द्रजीको यह कहकर प्रति दी थी कि मूल वचनिका ज्यों-की-त्यों छपे—जिस भाषा और जिन शब्दोंमें पं० जयचन्द्रजीने टीका की है वे जरूर कायम रहें। उनकी इस भावनाको ध्यानमें रखा गया है और पं० जयचन्द्रजीकी भाषा एवं शब्दोंमें ही वचनिका छापी गई है। इस प्रतिकी बड़ौत अर्थ सूचक ‘ब’ संज्ञा रखी है।

२. व—यह ध्यावरके ऐ० पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवनकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ५७ अर्थात् ११४ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई मय दोनों ओरके हाँसियोंके १० इंच है। १,१ इंच पत्रके दोनों ओर हाँसियोंके रूपमें रिक्त है और मात्र ८ इंचकी लम्बाईमें लिखाई है। इसी तरह चौड़ाई ऊपर-नीचेके हाँसियोंसहित ५ इंच है और दोनों ओर ३, ३ इंच खाली है तथा शेष ३, ३ इंच चौड़ाईमें लिखाई है। एक पृष्ठमें १० और एक पत्रमें २० पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्तिमें प्रायः ३०-३० अक्षर हैं प्रति पृष्ठ और मजबूत है तथा शुद्ध और सुवाच्य है। इसमें बड़ौत प्रतिकी तरह प्रतिलेखन-काल उपलब्ध नहीं है। जैसाकि उसके अन्तिम पुष्पिका-वाक्यसे स्पष्ट है और जो मुद्रित पृ० ८० के फुटनोटमें दिया गया है। इस प्रतिका सांकेतिक नाम ध्यावर-बोधक ‘व’ रखा गया है।

३. ज—यह जयपुरके महावीर-भवन स्थित आमेर-शास्त्रभण्डारकी प्रति है। इसमें कुल पत्र ५२ हैं, अर्थात् १०४ पृष्ठ हैं। प्रथम पत्रका प्रथम पृष्ठ खाली है और उसके दूसरे पृष्ठसे लिखावट आरम्भ है। इसी प्रकार पत्र ५२ के पहले पृष्ठमें सिर्फ चार पंक्तियाँ हैं। इस पृष्ठका शेष भाग और दूसरा पृष्ठ रिक्त है। इस तरह ५०^३ पत्रों अर्थात् १००^३ पृष्ठोंमें लिखावट है। प्रत्येक पृष्ठकी लम्बाई मय दोनों ओरके हांसियोंके १०^१, १०^३ इंच और चौड़ाई मय ऊपर-नीचेके हांसियोंसहित ४^३, ४^३ इंच है। लम्बाईमें १^३, १^३ इंचके दोनों ओर हांसिये हैं तथा चौड़ाईमें भी ऊपर-नीचे ३^३, ३^३ इंच हांसियोंकी खाली जगह है। इस प्रकार ८ इंच लम्बाई और ३^३ इंच चौड़ाईमें लिखाई है। प्रत्येक पृष्ठमें १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्तिमें प्रायः ३२ अथवा कम-बढ़ अक्षर पाये जाते हैं। प्रति पृष्ठ, शुद्ध और सुवाच्य है। व्यावर-प्रति और इस प्रतिके पाठ प्रायः सर्वत्र समान हैं। इसका अन्तिम पुष्पिका-वाक्य ठीक उसी प्रकार है जैसा व्यावर-प्रतिमें है और जो पुस्तक (पृ० ७४) के अन्तमें मुद्रित है। हाँ, द्रव्यसंग्रह-भाषाका अन्तिम पुष्पिका-वाक्य भिन्न है और जो निम्न प्रकार है :—

‘इति द्रव्यसंग्रहभाषा संपूर्ण ॥ लिपीकृतं माणिकचन्द्र लेखक लिखापितं सुखराम सिंभूराम पापडीवाल रूपाहेडीका शुभं भूयात् ।’

इस पुष्पिका-वाक्यसे दो बातें ज्ञात होती हैं। एक यह कि इस प्रतिके लेखक माणिकचन्द्र हैं और यह सुखराम सिंभूराम पापडीवाल द्वारा लिखाई गई है। दूसरी बात यह ध्वनित होती है कि सुखराम सिंभूराम पापडीवाल रूपाहेडीके रहने वाले थे और सम्भवतः यह प्रति रूपाहेडीमें ही लिखी गयी है। मालूम पड़ता है कि यह रूपाहेडी उस समय एक अच्छा सम्पन्न कस्बा होगा, जहाँ जैनियोंके अनेक घर होंगे और उनमें धार्मिक जागृति अच्छी होगी। यह ‘रूपाहेडी’ जयपुरके दक्षिणकी ओर करीब २० मीलपर एक छोटे-से गाँवके रूपमें आज भी विद्यमान है और वहाँ ४, ५ जैन घर होंगे, ऐसा डा० फस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल के उस पत्रसे ज्ञात हुआ जो उन्होंने २९ जुलाई ६६ को लिखा।

इस प्रतिके प्रथम पत्रके द्वितीय पृष्ठके मध्यमें एक छह पांखुड़ीका सुन्दर कमलका आकार लाल स्याहीसे बना हुआ है, अन्य पत्रोंमें नहीं है। इस प्रतिकी जयपुर-सूचक ‘ज’ संज्ञा रखी है।

. ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत मूल ग्रन्थ ‘द्रव्यसंग्रह’ है और उसके कर्ता श्री नेमिचन्द्र मुनि हैं^१। इसमें उन्होंने जैनदर्शनमें^२

१. द्रव्यसंग्रहमिणं.....नेमिचन्द्रमुणिणा भणियं जं ॥

—नेमिचन्द्रमुनि, द्रव्यसंग्रह गा० ५८ ।

२. भारतीय दर्शनमें वैशेषिक और मीमांसक दोनों दर्शन पदार्थ तथा द्रव्य दोनोंको मानते हैं। पर उनके अभिमत पदार्थ और द्रव्य तथा उनकी संख्या जैन दर्शनके पदार्थों और द्रव्योंसे बिलकुल भिन्न है। इसी प्रकार न्यायदर्शनमें स्वीकृत केवल पदार्थ और सांख्यदर्शनमें मान्य केवल तत्त्व और उनकी संख्या भी जैन दर्शनके पदार्थों तथा तत्त्वोंसे सर्वथा अलग है। बौद्धदर्शनके चार आर्यसत्य—दुःख, समुदय, मार्ग और निरोध यद्यपि जैनदर्शनके आश्रव, बन्ध, संवर-निर्जरा और मोक्ष तत्त्वोंका स्मरण दिलाते हैं; पर वे भी भिन्न ही हैं और संख्या भी भिन्न है। वेदान्तदर्शनमें केवल एक आत्मतत्त्व ही ज्ञातव्य और उपादेय है तथा वह एकमात्र अद्वैत है। चार्वाकदर्शनमें पृथिवी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूततत्त्व हैं और जिनके समुदायसे चैतन्यकी उत्पत्ति होती है। चार्वाकदर्शनके ये चार भूततत्त्व भी जैन दर्शनके सात तत्त्वोंसे भिन्न हैं। इन दर्शनोंके पदार्थों, द्रव्यों और तत्त्वोंका उल्लेख अगले पाद-टिप्पणमें किया गया है, जो अवश्य जानने योग्य है।

साम्य छह द्रव्योंका संकलन तथा स्वरूपात्मक कथन किया है। इसके साथ ही पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों, नौ पदार्थों, दो प्रकारके मोक्षमार्गों, पाँच परमेष्ठियों और ध्यानका भी संक्षेपमें प्रतिपादन किया है। द्रव्योंका कथन मुख्य अथवा आरम्भमें होनेसे ग्रन्थका नाम 'द्रव्यसंग्रह' रखा गया है। यह शब्दपरिमाणमें लघु होते हुए भी इतना व्यवस्थित, सरल, विशद और अपनेमें पूर्ण है कि जैनधर्म-सम्बन्धी प्रायः सभी मोटी बातोंका इसमें वर्णन आ गया है और उनका ज्ञान करानेमें यह पूर्णतः सक्षम है।

ध्यान रहे कि एक तत्त्वज्ञानीको त्रिःश्रेयस अथवा सुखकी प्राप्तिके लिए जिनका सम्यक् ज्ञान आवश्यक है उन्हें सांख्यदर्शनमें^१ २५ तत्त्वों, न्यायदर्शनमें^२ १६ पदार्थों, वैशेषिकदर्शनमें^३ ६ पदार्थों तथा ९ द्रव्यों, मीमांसादर्शनमें^४ भाट्टोंके अनुसार ५ पदार्थों और ११ द्रव्यों तथा प्राभाकरोंके अनुसार ८ पदार्थों और ९ द्रव्यों, बौद्धदर्शनमें^५ ४ आर्यसत्त्वों एवं चार्वाकदर्शनमें ४ भूततत्त्वोंके रूपमें स्वीकार किया गया है। परन्तु जैनदर्शनमें छह द्रव्यों, पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों और नौ पदार्थोंके रूपमें उन्हें माना गया है। द्रव्यसंग्रहकारने उनके दार्शनिक विवेचनमें न जाकर केवल उनका आगमिक वर्णन किया है, जो प्रस्तुत ग्रन्थमें बड़ी सरलतासे उपलब्ध है।

(क) विषय

इसमें कुल अष्टावन (५८) गाथाएँ हैं, जो प्राकृत-भाषामें रची गई हैं। यद्यपि इसमें ग्रन्थकारद्वारा किया गया अधिकारोंका विभाजन प्रतीत नहीं होता, तथापि ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाके अनुसार इसमें तीन अधिकार और तीनों अधिकारोंके अन्तर्गत आठ अन्तराधिकार माने गये हैं। इनका विषय-वर्णन इस प्रकार है :—

१. यथा—'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ।'

—कपिल, सांख्यशास्त्र १-६१ ।

२. 'प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां (पदार्थानां) तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।'

—गीतम अक्षपाद, न्यायसूत्र १-१-१ ।

३. (अ) द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।'

—कणाद, वैशेषिकदर्शन १-१-४ ।

(आ) 'पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।'

—वही १-१-५ ।

४. (अ) 'द्रव्यगुणकर्मसामान्याभावभेदेन पञ्चविधः पदार्थः ।'

भाट्टमीमांसक, P. N. Pattabhirama shastri द्वारा Journal of the benares hindu university में प्रकाशित 'भट्टप्रभाकरयोर्मतभेदः' शीर्षक निबन्ध पृ० ३३१ ।

५. (आ) 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्मशब्दतर्मांसि द्रव्याण्येकादश ।'

—भाट्टमीमांसक, वही पृ० ३३१ ।

(इ) 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यशक्तिसादृश्यसंख्यासमवायभेदेनाष्टविधः पदार्थः ।'

—प्राभाकरमीमांसक, वही पृ० ३३१ ।

(ई) 'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि नव द्रव्याणि ।'—प्राभाकरमीमांसक, वही पृ० ३३१ ।

१. पहला अधिकार 'षड्द्रव्य-पञ्चास्तिकाय-प्रतिपादक' नामका है। इसमें तीन अन्तराधिकार हैं और सत्ताईस गाथाएँ हैं। प्रथम अन्तराधिकारमें चउदह गाथाओंद्वारा जीवद्रव्यका, द्वितीय अन्तराधिकारमें आठ गाथाओंद्वारा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच अजीवद्रव्योंका और तीसरे अन्तराधिकारमें पाँच गाथाओंद्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश इन पाँच अस्तिकायोंका कथन है। प्रथम अन्तराधिकारकी चउदह गाथाओंमें भी पहली गाथाद्वारा मङ्गलाचरण तथा श्रीऋषभजिनेन्द्र-प्रतिपादित जीव और अजीव इन मूल दो द्रव्योंका नाम-निर्देश किया गया है। दूसरी गाथाद्वारा जीवद्रव्यके जीवत्व, उपयोगमयत्व, अमूर्तत्व, कर्तृत्व, स्वदेहपरिमितत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, सिद्धत्व और विस्रसा ऊर्ध्वगमन ये नौ अधिकार (वर्णन-प्रकार) गिनाये गये हैं। तीसरी गाथासे लेकर चउदहवीं गाथा तक बारह गाथाओंद्वारा उक्त अधिकारोंके माध्यमसे जीवका स्वरूप वर्णित किया है।

२. दूसरा अधिकार 'सप्ततत्त्व-नवपदार्थप्रतिपादक' नामका है। इसमें दो अन्तराधिकार हैं तथा ग्यारह गाथाएँ हैं। प्रथम अन्तराधिकारमें अट्ठाईसवीं गाथासे लेकर सैंतीसवीं गाथा तक दस गाथाओं द्वारा जीव, अजीव, आत्मव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका और दूसरे अन्तराधिकारमें अड़तीसवीं गाथाद्वारा उक्त सात तत्त्वोंमें पुण्य तथा पापको मिलाकर हुए नौ पदार्थोंका स्वरूप-कथन है।

३. तीसरा अधिकार 'मोक्षमार्ग-प्रतिपादक' नामका है। इसमें भी दो अन्तराधिकार हैं और बीस गाथाएँ हैं। प्रथम अन्तराधिकारमें उनतालीसवीं गाथासे लेकर छियालीसवीं गाथा तक आठ गाथाओंद्वारा व्यवहार और निश्चय दो प्रकारके मोक्षमार्गोंका प्रतिपादन है। यतः ये दोनों मोक्षमार्ग ध्यानद्वारा ही योगीको प्राप्त होते हैं, अतः इसी अधिकारके अन्तर्गत दूसरे अन्तराधिकारमें सैंतालीसवीं गाथासे लेकर सत्तावनवीं गाथा तक ग्यारह गाथाओंद्वारा ध्यान और ध्येय (ध्यानके आलम्बन) पाँच परमेष्ठियोंका भी संक्षेपमें प्ररूपण है। अन्तिम अष्टावनवीं गाथाद्वारा, जो स्वागताछन्दमें है, ग्रन्थकर्ताने अपनी लघुता एवं निरहंकार-वृत्ति प्रकट की है।

इस तरह मुनि श्री नेमिचन्द्रने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थमें बहुत ही थोड़े शब्दों—केवल अष्टावन (५८) गाथाओंद्वारा विपुल अर्थ भरा है। जान पड़ता है कि इसीसे यह इतना प्रामाणिक और लोकप्रिय हुआ है कि उत्तरवर्ती लेखकोंने उसे सबहुमान अपनाया है। इसके संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेवने इसकी गाथाओंको 'सूत्र' और इसके कर्ताको 'भगवान्' कहकर उल्लेखित किया है^१। पण्डितप्रवर आशाधरजीने अनमारधर्माभूत की स्वोपज्ञ टीकामें इसकी गाथाओंको उद्धृत करके उनसे अपने वर्ण्यविषयको प्रमाणित एवं पुष्ट किया है^२। भाषा-वचनिकाकार पं० जयचन्द्रजीने भी ग्रन्थके महत्त्वको अनुभव करके उसपर संक्षिप्त, किन्तु विशद वचनिका लिखी है। पं० जयचन्द्रजी वचनिका लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उसपर द्रव्यसंग्रह-भाषा अर्थात् हिन्दी-पद्यानुवाद भी उन्होंने लिखा है, जो गाथाके पूरे अर्थको एक-एक चौपाई द्वारा बड़े अच्छे

१. '...भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति'—संस्कृत-टीका पृष्ठ ४; 'अत्र सूत्रे'—वही पृ० २१; 'सूत्रं गतम्'—वही पृ० २३; 'तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवानामिति'—वही पृ० ५८; 'अत्राह सोमाभिधानो राजश्रेष्ठी । भगवन् ? ...'—वही पृ० ५८; 'भगवानाह'—वही पृ० ५९; 'अत्राह सोमनामराजश्रेष्ठी । भगवन् ! ...'—वही पृ० १४९; 'भगवानाह'—वही पृ० १४९; 'भगवान् सूत्रमिदं प्रतिपादयति'—वही पृ० २०९; २२३; 'भगवन्'—वही पृ० २२९, २३१।

२. देखिए, अनमारधर्माभूतटीका पृष्ठ ४, १०९, ११२, ११६, २०४ आदि। पृ० ११८ पर तो 'तथा चोक्तं द्रव्यसंग्रहेऽपि' कहकर उसकी 'सर्व्वस कम्मणो' आदि गाथा उद्धृत की गई है।

ढंगसे व्यक्त करता है। यह ग्रंथ आज भी लोकप्रिय बना हुआ है और उसपर अनेक हिन्दी-व्याख्याएँ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं। मराठीमें भी इसका कई बार अनुवाद छप चुका है। प्रो० शरच्चन्द्र घोषालके सम्पादकत्वमें आरासे^२ सन् १९१७ में और जैन समाज पहाड़ीधीरज दिल्लीसे सन् १९५६ में अंग्रेजीमें यह दो बार प्रकाशित हो चुका है। अनेक परीक्षालयोंके पाठ्यक्रममें भी यह वर्षोंसे निहित है। इससे स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कितना महत्व रखता है।

(ख) लघु और बृहद् द्रव्यसंग्रह :

श्रीब्रह्मादेवने संस्कृत-टीकाके आरम्भमें लिखा है^३ कि 'श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथाओंमें 'लघु-द्रव्यसंग्रह' बनाया था, पीछे विशेष तत्त्वज्ञानके लिए उन्होंने 'बृहद्-द्रव्यसंग्रह'की रचना की थी।' ब्रह्मादेवके इस कथनसे ज्ञान पड़ता है कि ग्रन्थकारने द्रव्यसंग्रह लघु और बृहद् दोनों रूपमें रचा था—पहले लघुद्रव्यसंग्रह और पीछे कुछ विशेष कथनके लिए बृहद्द्रव्यसंग्रह। आश्चर्य नहीं कि उन्होंने इस प्रकारकी दो कृतियोंकी रचनाकी हो। जैन साहित्यमें हमें इस प्रकारके प्रयत्न और भी मिलते हैं। मुनि अनन्तकीर्तिने पहले लघुसर्वज्ञ सिद्धि और बादको बृहत्सर्वज्ञसिद्धि बनाई थी। उनकी ये दोनों कृतियाँ उपलब्ध एवं प्रकाशित हैं।

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि लघुद्रव्यसंग्रहमें कुछ गाथाएँ बढ़ाकर उसे ही बृहद्द्रव्य-संग्रह नाम दे दिया गया है। परन्तु अनुसन्धानसे ऐसी बात मालूम नहीं होती; क्योंकि न तो संस्कृत-टीकाकारके उक्त कथनपरसे प्रकट होता है^४ और न दोनों ग्रन्थोंके अन्तःपरीक्षणसे ही प्रतीत होता है। बृहद्द्रव्यसंग्रहको लघुद्रव्यसंग्रहका बृहद्रूप माननेपर उपलब्ध बृहद्द्रव्यसंग्रहमें लघुद्रव्यसंग्रहकी सभी गाथाएँ पायी जानी चाहिए थीं। परन्तु ऐसा नहीं है। धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्योंकी लक्षणपरक तीन गाथाओं नं० ८, ९, १० और काललक्षणप्रतिपादिका गाथा नं० ११ के पूर्वार्ध तथा गाथा नं० १२ व १४ को, जो बृहद्द्रव्यसंग्रहमें क्रमशः नं० १७, १८, १९, २१ (पूर्वार्ध), २२ और २७ पर पायी जाती हैं, छोड़कर इसकी शेष सब (१९^३) गाथाएँ बृहद्द्रव्यसंग्रहसे भिन्न हैं। इससे प्रकट है कि लघुद्रव्यसंग्रहमें कुछ गाथाओंकी वृद्धि करके उसे ही बृहद् रूप नहीं दिया गया है, अपितु दोनोंको स्वतंत्र रूपसे रचा गया है और इसीसे दोनोंके मङ्गल-पद्य^५ तथा उपसंहारात्मक अन्तिम पद्य^६ भी भिन्न-भिन्न हैं।

१., २. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, 'द्रव्यसंग्रह-समालोचना', जैन हितैषी, वर्ष १३, अङ्क १२, (सन् १९१८) पृ० ५४१।

३. ४. श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विनेयतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।—सं० टी० पृ० ४।

५. जीवमजीवं दम्बं जिणवरवसहेण जेण णिदिट्ठं।

देविदविदवदं वदे तं सब्बदा सिरसा ॥१॥—मंगल-पद्य, बृहद्द्रव्यसं०।

छद्रव्व पंच अत्थो सत्त वि तच्चाणि णवपयत्था य।

भंगुपाय-धुवत्ता णिदिट्ठा जेण सो जिणो जयउ ॥१॥—मंगल-पद्य, लघुद्रव्यसं०।

६. दम्बसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुष्णा।

सोधयंतु तणुसुत्तधरेण भेमिचंदमुणिणा मणियं जं ॥५८॥—उपसंहार० पद्य, बृहद्द्रव्यसं०।

सोमच्छलेण रइया पयत्थ-लवखणकराउ गाहाओ।

भव्वुवयार-णिमित्तं मणिणा सिरिणेमिचदेण ॥२५॥—उपसंहारात्मकपद्य, लघुद्रव्यसं०।

यहाँ व्यातव्य है कि लघुद्रव्यसंग्रहमें उसका नाम 'द्रव्यसंग्रह' नहीं दिया, किन्तु 'पयत्य-लक्षण-कराओ गाथाओ' पदोंके द्वारा उसे 'पदार्थलक्षणकारिणी गाथाएँ' कहा है, जब कि बृहद्द्रव्यसंग्रहमें 'ब्रह्मसंग्रह-मिणं' पदके द्वारा उसका नाम स्पष्टरूपसे 'द्रव्यसंग्रह' दिया है और इससे मालूम होता है कि 'द्रव्यसंग्रह' नामकी कल्पना ग्रंथकारको अपनी पूर्व रचनाके बाद इस द्रव्यसंग्रहको रचते समय उत्पन्न हुई है और इसके रचे जाने तथा उसे 'द्रव्यसंग्रह' नाम दे देनेके उपरान्त 'पदार्थलक्षणकारिणी गाथाओं'को भी ग्रन्थकार अथवा दूसरोंके द्वारा 'लघुद्रव्यसंग्रह' नाम दिया गया है और तब यह ५८ गाथाओंवाली कृति—'द्रव्यसंग्रह' बृहद्-विशेषणके साथ सुतरां 'बृहद्द्रव्यसंग्रह'के नामसे व्यवहृत एवं प्रसिद्ध हुई जान पड़ती है। अतएव 'लघुद्रव्य-संग्रह'के अन्तमें पाये जानेवाले पुष्पिकावाक्यमें उसके 'लघुद्रव्यसंग्रह' नामका उल्लेख मिलता है^१।

यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि उपलब्ध 'लघुद्रव्यसंग्रह' में २५ ही गाथाएँ पायी जाती हैं, जबकि संस्कृत-टीकाकार उसे २६ गाथाप्रमाण बतलाते हैं। अतः वास्तविकता क्या है? इस सम्बन्धमें श्रद्धेय प० जुगलकिशोरजी मुख्तारने ऊहापोहके साथ सम्भावना की है^२ कि 'हो सकता है, एक गाथा इस ग्रन्थ-प्रतिमें छूट गई हो, और सम्भवतः १० वीं-११ वीं गाथाओंके मध्यकी वह गाथा जान पड़ती है जो 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' में 'घम्माघम्मा कालो' इत्यादि रूपसे नं० २० पर दी गई है और जिसमें लोकाकाश तथा अलोकाकाशका स्वरूप वर्णित है।' इसमें युक्तिके रूपमें उन्होंने कुछ आवश्यक गाथाओंका दोनोंमें पाया जाना बतलाया है। निःसन्देह मुख्तार साहबकी सम्भावना और युक्ति दोनों बुद्धिको लगते हैं। यथार्थमें 'लघुद्रव्यसंग्रह'में जहाँ धर्म, अधर्म, आकाश आदिकी लक्षणपरक गाथाएँ दी हुई हैं वहाँ लोकाकाश तथा अलोकाकाशके स्वरूपकी प्रतिपादिका कोई गाथा न होना खटकता है। स्मरण रहे कि बृहद्द्रव्यसंग्रहमें १७, १८, १९, २१ और २२ नं० पर लगातार पायी जाने वाली ये पाँचों गाथाएँ तो लघुद्रव्यसंग्रहमें ८, ९, १०, ११ और १२ नं० पर स्थित हैं, पर बृहद्द्रव्यसंग्रहकी १९ और २१ वीं गाथाओंके मध्यकी २० नं० वाली गाथा लघुद्रव्यसंग्रहमें नहीं है, जिसका भी वहाँ होना आवश्यक था। अतः बृहद्द्रव्यसंग्रहमें २० नं० पर पायी जाने वाली उक्त गाथा लघुद्रव्यसंग्रहकी उपलब्ध ग्रन्थ-प्रतिमें छूटी हुई मानना चाहिए। सम्भव है किसी अन्य ग्रन्थ-प्रतिमें वह मिल जाय। उपलब्ध २५ गाथा-प्रमाण यह 'लघुद्रव्यसंग्रह' अपने संक्षिप्त अर्थके साथ इसी बृहद्द्रव्यसंग्रहमें मुद्रित है।

(ग) अध्यात्मशास्त्र

वस्तुके—मुख्यतया जीवके—शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोंका निश्चय और व्यवहार अथवा शुद्ध और अशुद्ध नयोंसे कथन करनेवाला अध्यात्मशास्त्र है। जो नय शुद्धताका प्रकाशक है वह निश्चय नय अथवा शुद्ध नय है^३। और जो अशुद्धताका द्योतक है वह व्यवहारनय अथवा अशुद्धनय है। द्रव्यसंग्रहमें इन दोनों नयोंसे जीवके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोंका वर्णन किया गया है। ग्रन्थकर्त्ताने स्पष्टतया नं० ३, ६, ७, ८, ९, १०, १३, ३० और ४५ वीं गाथाओंमें 'निश्चयदो', 'व्यवहारा', 'शुद्धणया' 'अशुद्धणया' जैसे पद-प्रयोगों द्वारा

१. इति श्रीनेमिचन्द्रस्त्रिकृतं लघुद्रव्यसंग्रहमिदं पूर्णम् । —अन्तिम पुष्पिकावाक्य, लघुद्रव्यसंग्र० ।
२. अनेकान्त वर्ष १२, किरण ५, पृ० १४९ ।
३. शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः ।...अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः । उभावप्येतौ स्तः, शुद्धा-शुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात् । किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वाद्दुपात्तः । साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एक साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः ।
—अमृतचन्द्र, प्रवच० ज्ञेया० गा० ९७ ।

निश्चय और व्यवहार अथवा शुद्ध और अशुद्ध नयीसे जीवके शुद्ध और अशुद्ध स्वरूपोंकी बताया है। इसीसे संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेवने इसे 'अध्यात्मशास्त्र' स्पष्ट कहा है^१ और अपनी यह टीका भी उसी अध्यात्म-पद्धतिसे लिखी है। अतः द्रव्यसंग्रह द्रव्यानुयोगका^२ शास्त्र होते हुए भी अध्यात्म-ग्रन्थ है।

(घ) संस्कृत-टीका

इसपर एकमात्र^३ श्रीब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीका उपलब्ध है और जो चार बार प्रकाशित हो चुकी है। दो बार रायचन्द्रशास्त्रमाला बम्बईसे, तीसरी बार पहाड़ीधीरज दिल्लीसे और चौथी बार खरखरी (धनवाद) से। यह मध्यम-परिमाणकी है, न अतिविस्तृत है और न अतिलघु। टीकाकारने प्रत्येक गाथाके पदोंका मर्मो-द्धाटन बड़ी विशदतासे किया है। साथ ही दूसरे ग्रन्थोंके प्रचुर उद्धरण भी दिये हैं। ये उद्धरण आचार्य कुन्दकुन्द, गृह्यपिच्छ, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क, वीरसेन, जिनसेन, विद्यानन्द, गुणभद्र, नेमिचन्द्रसिद्धान्त-चक्रवर्ती, शुभचन्द्र, योगीन्दुदेव और वसुनन्दिसिद्धान्तदेव आदि कितने ही ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे दिये गये हैं, जिनसे टीकाकारकी बहुश्रुतता और स्वाध्यायशीलता प्रकट होती है। गुणस्थानों और मार्गणाओंका विशद प्रतिपादन, सम्बद्ध कथाओंका प्रदर्शन, तत्त्वोंका सरल निरूपण और लोकभावनाके प्रकरणमें ऊर्ध्व, मध्य और अधो लोकका कथन करते हुए बीस विदेहोंका विस्तृत वर्णन उनके चारों अनुयोगोंके पाण्डित्यकी सूचित करता है। गाथा नं० ३५ का उन्होंने जो ५० पृष्ठोंमें विस्तृत व्याख्यान किया है वह कम आश्चर्यजनक नहीं है। टीकाकी विशेषता यह है कि इसकी भाषा सरल और प्रसादयुक्त है तथा सर्वत्र आध्यात्मिक पद्धति अपनायी गई है। अपनी इस व्याख्याको ब्रह्मदेवने 'वृत्ति' नाम दिया है^४ और उसे तीन अधिकारों तथा आठ अन्तराधिकारोंमें विभाजित किया है।

(ङ) संस्कृत-टीकामें उल्लिखित अनुपलब्ध ग्रन्थ

इस टीकामें कुछ ऐसे ग्रन्थोंके भी उद्धरण दिये गये हैं, जो आज उपलब्ध नहीं हैं और जिनके नाम-सुने जाते हैं। उनमें एक तो 'आचाराराधनाटिप्पण' है^५, जो या तो श्रीचन्द्रका हीना चाहिए और या जय-

१. 'अत्राध्यात्मशास्त्रे यद्यपि सिद्धपरमेष्ठिनमस्कार उचितस्तथापि व्यवहारनयमाश्रित्य प्रत्युपकारस्मरणार्थ-महत्परमेष्ठिनमस्कार एव कृतः।'—ब्रह्मदेव, बृ० सं० टी० पृ० ६।
२. द्रव्यानुयोग श्रुत (आगम) के चार अनुयोगों—स्तम्भों (प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग) मेंसे अन्यतम है। यह जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तत्त्वोंका प्रकाशन करता है। देखिए, रत्नकरण्डकश्वा० श्लोक ४६।
३. पं० नाथूरामजी प्रेमीने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृ० २०) में प्रभाचन्द्रकृत एक 'द्रव्यसंग्रहपञ्जिका' का उल्लेख किया है, पर वह उपलब्ध न होनेसे उसके बारेमें कुछ कहा नहीं जा सकता। प्रेमीजीने भी नामोल्लेखके सिवाय उसपर कोई प्रकाश नहीं डाला और न अपने उल्लेखका कोई आधार बताया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह रचना या तो लुप्त हो गई और या किसी शास्त्रभण्डारमें अज्ञात दशामें पड़ी हुई है। यदि लुप्त नहीं हुई तो अन्वेषकोंकी उसकी अवश्य खोज करनी चाहिए।
४. '.....वृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।'—वृहद्द्रव्य० सं० टी० पृ० २।
५. '.....आचाराराधनाटिप्पणे कथितमास्ते।'—सं० टी० पृ० १०६।

नन्दिका^१। दूसरा ग्रन्थ है गन्धर्वाराधना^२। मालूम नहीं, यह ग्रन्थ कब और किसके द्वारा रचा गया। सम्भव है भगवतीआराधनाको ही गन्धर्वाराधना कहा गया हो। परन्तु जो उद्धरण दिया गया है वह उसमें नहीं है।

(च) महत्त्वपूर्ण शङ्का-समाधान

इसमें कई शङ्का-समाधान बड़े महत्त्वके हैं। एक जगह शङ्का की गई है^३ कि सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य और पाप दोनों ही हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है? इसका समाधान करते हुए ब्रह्मदेव लिखते हैं कि 'जैसे कोई व्यक्ति किसी दूसरे देशमें स्थित मनोहर स्त्रीके पाससे आये पुरुषोंका उस स्त्रीकी प्राप्तिके लिए दान (भेंट), सम्मान आदि करता है, उसी तरह सम्यग्दृष्टि जीव भी उपादेयरूपसे अपने शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है, परन्तु चारित्रमोहके उदयसे उस निज-शुद्ध-आत्म-भावनामें असमर्थ होता हुआ निर्दोष परमात्मस्वरूप अर्हन्त और सिद्धों तथा उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओंकी परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए और विषय-कषायोंकी दूर करनेके लिए दान, पूजा आदिसे अथवा गुणस्तुति आदिसे परम भक्ति करता है। इससे उस सम्यग्दृष्टि जीवके भोगोंकी आकांक्षा आदि निदानरहित परिणाम उत्पन्न होता है। उससे उसके बिना चाहे विशिष्ट पुण्यका आस्त्व उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कुटुम्बियों (कृषकों) को बिना चाहे पलाल मिल जाता है। उस पुण्यसे वह स्वर्गमें इन्द्र, लौकान्तिक देव आदिकी विभूति पाकर वहाँकी विमान, परिवार आदि सम्पदाको जीर्ण तृणके समान मानता हुआ पाँच महाविदेहोंमें पहुँच कर देखता है कि 'यह वह समवसरण है, ये वे वीतराग सर्वज्ञदेव हैं, और ये वे भेदाभेदरत्नत्रयके आराधक गणधरदेवादिक हैं; जिनके विषयमें हम पहले सुना करते थे। उन्हें इस समय प्रत्यक्ष देख लिया' ऐसा मानकर धर्ममें बुद्धिको विशेष दृढ़ करके चौथे गुणस्थानके योग्य अपनी अविरत अवस्थाको न छोड़ता हुआ भोगोंका अनुभव होनेपर भी धर्म-ध्यानपूर्वक समय यापनकर स्वर्गसे आकर तीर्थकरादि पदोंके मिलने पर भी पूर्व भवमें भावना किये विशिष्ट भेदज्ञानकी वासनाके बलसे मोह नहीं करता है। इसके पश्चात् जिनदीक्षा लेकर पुण्य-पापरहित निज परमात्मा-

१. पं० नाथूरामजी प्रेमी, 'जैन साहित्य और इतिहास' पृ० ८६।
२. '.....तर्हि "तुसमासं घोसंतो शिवभूदी केवली जादो" इत्यादि गन्धर्वाराधनादिभणितं व्याख्यानं कथं घटते।'—सं० टी० पृ० २३३।
३. 'सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। कथं पुण्यं करोतीति? तत्र युक्तिमाह—यथा कोऽपि देशान्तर-स्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिर्पुपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति। चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थः सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवर्जनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवना-दिना वा परमभक्तिं करोति। तेन भोगाकाङ्क्षादिनिदानरहितपरिणामेन कुटुम्बिनां पलालमिव अनीहित-वृत्त्या विशिष्टपुण्यमास्त्वति, तेन च स्वर्गे देवेन्द्रलौकान्तिकादिविभूति प्राप्य विमानपरिवारादिसम्पदं जीर्ण-तृणमिव गणयन् पञ्चमहाविहेषु गत्वा पश्यति। किं पश्यतीति चेत्—तदिदं समवसरणं ते एते वीतरागसर्वज्ञाः ते एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते त इदानीं प्रत्यक्षेण दृष्टा इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यामात्मनोऽविरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादाभ्य त्तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितविशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति। ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा....मोक्षं गच्छति। मिथ्यादृष्टिस्तु....'

—सं० टी० पृ० १५९-१६०।

का ध्यान करके मोक्षको प्राप्त करता है। पर मिथ्यादृष्टि तीव्र निदानजनित पुण्यसे भोगोंको पाकर, अर्धचक्रीरावणादिकी तरह, पीछे नरकको जाता है।¹

इस शङ्खा-समाधानसे सम्यग्दृष्टिकी दृष्टिसे पुण्य-पापकी हेयतापर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी तरह इस टीकामें ब्रह्मदेवने और भी कई शङ्खा-समाधान प्रस्तुत किये हैं, जो टीकासे ही ज्ञातव्य हैं।

(छ) अन्य टीकाएँ

उक्त संस्कृत-टीकाके अतिरिक्त अन्य भाषाओंमें भी इसके रूपान्तर हुए हैं। मराठीमें यह गांधी नेमचन्द बालचन्द द्वारा कई बार छप चुका है। अंग्रेजीमें भी इसके दो संस्करण क्रमशः सन् १९१७ और १९५६ में निकले हैं और दोनोंके रूपान्तरकार एवं सम्पादक प्रो० घोषाल हैं। हिन्दीमें तो इसकी कई विद्वानोंद्वारा अनेक व्याख्याएँ लिखी गई हैं और वे सब प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें बा० सूरजभानजी वकील, पं० हीरालालजी शास्त्री, पं० मोहनलालजी शास्त्री और पं० भुवनेन्द्रजी 'विश्व' की टीकाएँ उल्लेखनीय हैं।

(ज) द्रव्यसंग्रह-वचनिका

ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाके बाद और उक्त टीकाओंसे पूर्व पण्डित जयचन्दजी छावड़ाने इसपर देश-भाषामय (ढूढारी-राजस्थानीमें) वचनिका लिखी है। यह वचनिका वि० सं० १८६३ (सन् १८०६) में रची गयी है,² जो लगभग १६० वर्ष प्राचीन है और अब पहली बार प्रकाशमें आ रही है। इसमें गाथाओंका संक्षिप्त अर्थ व उनका भावार्थ दिया गया है। भाषा परिमार्जित, प्रसादपूर्ण और सरल है। स्वाध्यायप्रेमियोंके लिए यह बड़ी उपयोगी है। पं० जयचन्दजीने अपनी इस वचनिकाका आधार प्रायः ब्रह्मदेवकी संस्कृत-टीकाको बनाया है। तथा उसीके आधारसे अनेक शङ्खा-समाधान भी दिये हैं। वचनिकाके अन्तमें उन्होंने स्वयं लिखा है कि 'याका विशेष व्याख्यान याकी टीका, ब्रह्मदेव आचार्यकृत है, तातें जानना।' इसमें कई चर्चाएँ बड़े महत्त्वकी हैं और नयी जानकारी देती हैं।

(झ) द्रव्यसंग्रह-भाषा

उक्त वचनिकाके बाद पं० जयचन्दजीने द्रव्यसंग्रहका चौपाई-बद्ध पद्यानुवाद भी रचा है, जिसे उन्होंने 'द्रव्यसंग्रह-भाषा' नाम दिया है।³ एक गाथाको एक ही चौपाईमें बड़े सुन्दर ढंग एवं कुशलतासे अनूदित किया गया है और इस तरह ५८ गाथाओंकी ५८ चौपाइयाँ, आदिमें एक और अन्तमें दो इस प्रकार ३ दोहे, सब मिलाकर कुल ६१ छन्दोंमें यह 'द्रव्यसंग्रह-भाषा' समाप्त हुई है। आरम्भके दोहामें मङ्गल और छन्दोंके माध्यमसे द्रव्यसंग्रहको कहनेकी प्रतिज्ञा की है³। तथा अन्तके दो दोहोंमें प्रथम (नं ६०) के द्वारा अपनी

१. संवत्सर विक्रमतणू, अठदश-शत त्रयसाठ।

श्रावणवदि चोदशि दिवस, पूरण भयो सुपाठ ॥५॥ —प्रस्तुत वचनिका, ३रा अधिकार, पृ० ७४।

२. द्रव्यसंग्रहभाषाका आदि और अन्तभाग, पृ० ७५ व ८०।

३. देव जिनेश्वर वदि करि, वाणी सुगुरु मनाय।

करुं द्रव्यसंग्रहतणी, भाषा छंद वणाय ॥१॥

—प्रस्तुत वचनिका पृ० ८०।

लघुताको मुनि नेमिचन्द्रकी लघुतासे अधिक प्रकट किया है^१ । दूसरे दोहेके द्वारा अन्तिम मञ्जल किया है^२ । इस तरह पं० जयचन्द्रजीकी यह रचना भी बड़ी उपयोगी और महत्त्वकी है । बालक-बालिकाओंको वह अनायास कण्ठस्थ कराई जा सकती है ।

२. नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव

(क) द्रव्यसंग्रहके कर्ताका परिचय

इसके कर्ता मुनि नेमिचन्द्र है । जैसा कि ग्रन्थकी अन्तिम (५८ वीं) गथासे प्रकट है । संस्कृत-टीकाकार श्रीब्रह्मदेव भी इसे मुनि नेमिचन्द्रकी ही कृति बतलाते हैं । अब केवल प्रश्न यह है कि ये मुनि नेमिचन्द्र कौन-से नेमिचन्द्र हैं और कब हुए हैं तथा उनकी रची हुई कौन-सी कृतियाँ हैं; क्योंकि जैन परम्परामें नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं ? इसी सम्बन्धमें यहाँ विचार किया जाता है ।

(ख) नेमिचन्द्र नामके अनेक विद्वान्

१. एक नेमिचन्द्र तो वे हैं, जिन्होंने गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार-क्षपणासार जैसे मूर्द्धन्य सिद्धान्त-ग्रन्थोंका प्रणयन किया है और जो 'सिद्धान्तचक्रवर्ती' की उपाधिसे विभूषित थे^३ तथा गंगवंशी राजा राचमल्लके प्रधान सेनापति चामुण्डराय (शक सं० १०० वि सं० १०३५) के गुरु भी थे^४ । इनका अस्तित्व-समय वि० सं० १०३५ है ।

२. दूसरे नेमिचन्द्र वे हैं, जिनका उल्लेख वसुनन्द सिद्धान्तिदेवने अपने उपासकाध्ययन (गा० ५४३) में किया है और जिन्हें 'जिनागमरूप समुद्रकी बेला-तरङ्गोंसे घुले हृदयवाला' तथा 'सम्पूर्ण जगत्में विख्यात' लिखा है^५ । साथ ही उन्हें नयनन्दिका शिष्य और अपना गुरु भी बताया है^६ ।

३. तीसरे नेमिचन्द्र वे हैं, जिन्होंने प्रथम नम्बरपर उल्लिखित नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिके गोम्मट-सार (जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड दोनों) पर 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' नामकी संस्कृत-टीका, जो अभयचन्द्रकी 'मन्दप्रदीपिका' और केशववर्णीकी संस्कृत-मिश्रित कनडी टीका 'जीवतत्त्वप्रदीपिका' इन दोनों टीकाओंके आधारसे रची गई है, लिखी है ।

४. चौथे नेमिचन्द्र प्रस्तुत द्रव्यसंग्रहके कर्ता नेमिचन्द्र है ।

१. 'द्रव्यसंग्रह-भाषा' पद्य नं० ६०, वचनिका पृ० ८० ।

२. वही, पद्य नं० ६१, पृ० ८० ।

३. 'जह चक्केण य चक्की छवखंडं साहियं अविग्घेण ।

तह मइ-चक्केण मया छवखंडं साहियं सम्मं ॥

—कर्मका० गा० ३९७ ।

४. चामुण्डरायने इन्हींकी प्रेरणासे श्रवणबेलगोला (मैसूर) में ५७ फुट उत्तुंग, विशाल एवं संसार-प्रसिद्ध श्रीबाहुबली स्वामीकी मूर्तिका निर्माण कराया था ।

५. सिस्सो तस्य जिनागम-जलगिहि-बेलातरंग-धोयमणी ॥
संजाओ सयल-जए विक्खाओ नेमिचंद्रु ति ॥५४३॥

६. तस्य पसाएण मए आइरिय-परंपराभयं सत्थं ।

वच्छल्लयाए रइयं भवियाणमुवासयज्जयणं ॥४४४॥

इन चार नेमिचन्द्रोंके सिवाय, सम्भव है, और भी नेमिचन्द्र हुए हों। पर अभी तक हमें इन चारका ही पता चला है।

अब विचारणीय है कि ये चारों नेमिचन्द्र एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न-भिन्न ?

१. जहाँ तक प्रथम और तृतीय नेमिचन्द्रकी बात है, ये दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं। प्रथम नेमिचन्द्र तो मूल ग्रन्थकार हैं और तीसरे नेमिचन्द्र उनके टीकाकार हैं। तथा प्रथम नेमिचन्द्रका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दी है^१ और तीसरे नेमिचन्द्रका ईसा की १६ वीं शताब्दी है^२। अतः इन दोनों नेमिचन्द्रोंके पौर्वापर्यमें प्रायः ५०० वर्षका अन्तर होनेसे वे दोनों एक नहीं हैं।

२. प्रथम तथा द्वितीय नेमिचन्द्र भी एक नहीं हैं। प्रथम नेमिचन्द्र जहाँ विक्रमकी ११ वीं शताब्दी (वि० सं० १०३५) में हुए हैं^३ वहाँ द्वितीय नेमिचन्द्र उनसे लगभग १०० वर्ष पीछे—१२ वीं शताब्दी (वि० सं० ११२५) के विद्वान् हैं; क्योंकि द्वितीय नेमिचन्द्र वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु थे और वसुनन्दिका समय १२वीं शताब्दी (वि० सं० ११५०) है^४। इसके अलावा, प्रथम नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कहे जाते हैं और दूसरे नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव।

३. प्रथम और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी भिन्न हैं। चतुर्थ नेमिचन्द्र जहाँ अपनेको 'तनुसूत्रधर' (अल्पज्ञ) कहते हैं^५ वहाँ प्रथम नेमिचन्द्र चक्रवर्तीकी तरह सिद्धान्तके छह खण्डोंका विजेता—'सिद्धान्तचक्रवर्ती' अपनेको प्रकट करते हैं^६। संस्कृतटीकाकार ब्रह्मदेवने भी अपनी टीकामें द्रव्यसंग्रहकार चौथे नेमिचन्द्रको जगह-जगह 'सिद्धान्तिदेव' ही लिखा है^७, सिद्धान्तचक्रवर्ती नहीं। अपि च, प्रथम नेमिचन्द्र अपने गुरुओंका उल्लेख करते हुए पाये जाते हैं^८, पर चौथे नेमिचन्द्र ऐसा कुछ नहीं करते—मात्र अपना ही नाम देते देखे जाते हैं^९। इसके अतिरिक्त दोनोंमें मान्यताभेद भी है। प्रथम नेमिचन्द्रने भावास्त्रवके जो भेद (५७) मिलाये हैं^{१०} वे द्रव्यसंग्रहकार-द्वारा प्रतिपादित भावास्त्रवके भेदों (३२) से भिन्न हैं^{११}। इसके अलावा, प्रथम नेमिचन्द्र दक्षिण भारतके

१. डा० ए० एन० उपाध्ये, अनेकान्त वर्ष ४, किरण १, पृ० ११३-१२०। तथा पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पुरातन जैन वाक्य-सूचीकी प्रस्तावना पृ० ८९।
२. अनेकान्त वर्ष ४, किरण १।
३. वही।
४. पुरातन जैन वाक्यसूचीकी प्रस्तावना पृ० १९०।
५. द्रव्यसंग्रह, गाथा ५८।
६. गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, गा० ३९७।
७. द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका, पृ० २, ५, ५८ आदि।
८. कर्मकाण्ड, गाथा ४३६, ७८५, त्रिलोकसार गा० १०१८, लब्धिसार गा० ४४८।
९. वृ० द्रव्यसंग्रह, गा० ५८, लघुद्रव्यसं० गा० २५।
१०. मिच्छत्तं अविरमणं कसाय-जोगा य आसवा ह्येति।
पण वारस पणवीसं पणरसा ह्येति तद्भेया ॥—गोम्म० कर्म०, गा० ७८६।
११. मिच्छत्ताविरदि-पमाद-जोग-कोहादओस्य विष्णोया।
पण पण पणदस तिय चट्टु कमसो भेदा दु पुव्वस्स ॥—द्रव्यसं०, गा० ३०।
१२. टीका पृ० ४, १०९, ११२, ११६, २०४।

निवासी हैं और चतुर्थ नेमिचन्द्र उत्तर भारत (मालवा) के विद्वान् हैं। इन सब बातोंसे प्रथम नेमिचन्द्र और चतुर्थ नेमिचन्द्र एक व्यक्ति नहीं हैं—वे दोनों एक दूसरेसे पृथक् एवं स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं।

४. द्वितीय और तृतीय नेमिचन्द्र भी अभिन्न नहीं हैं, द्वितीय नेमिचन्द्र १२ वीं शताब्दीके विद्वान् हैं और तृतीय नेमिचन्द्र १६ वीं शतीमें हुए हैं और इसलिए इनमें लगभग चारसौ वर्षका पीरपर्य है।

५. तृतीय और चतुर्थ नेमिचन्द्र भी एक नहीं हैं। १३ वीं शताब्दी (वि० सं० १३००) के ग्रन्थकार पं० आशाधरजीने चौथे नेमिचन्द्रके द्रव्यसंग्रहके नामोल्लेखपूर्वक तथा बिना नामोल्लेखके उसकी अनेक गाथाओंको अनगारधर्माभूतकी स्वोपज्ञ-टीकामें उद्धृत किया है। अतः चौथे नेमिचन्द्र स्पष्टतया पं० आशाधरजीके पूर्ववर्ती अर्थात् १३ वीं शताब्दीसे पहलेके हैं, जब कि तृतीय नेमिचन्द्र उनके उत्तरकालीन अर्थात् १६ वीं शतीमें हुए हैं।

(ग) द्रव्यसंग्रहके कर्त्ता नेमिचन्द्र

अब रह जाते हैं दूसरे और चौथे नेमिचन्द्र। सो ये दोनों विद्वान् निम्न आधारोंसे एक व्यक्ति ज्ञात होते हैं।

१. पं० आशाधरजी (वि० सं० १३००) ने वसुनन्दि सिद्धान्तदेवका सागारधर्माभूत तथा अनगारधर्माभूत दोनोंकी टीकाओंमें उल्लेख किया है^१ और वसुनन्दिने द्वितीय नेमिचन्द्रका अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है^२ तथा उन्हें श्रोत्रन्दिका प्रशिष्य एवं नयनन्दिका शिष्य बतलाया है^३। ये नयनन्दि यदि वे ही नयनन्दि हैं, जिन्होंने 'सुदंसणचरिउ' की रचना की है और जिसे उन्होंने धारामें रहते हुए राजा भोजदेवके कालमें वि० सं० ११०० में पूर्ण किया है^४, तो द्वितीय नेमिचन्द्र नयनन्दिसे कुछ ही उत्तरवर्ती और वसुनन्दिसे कुछ पूर्ववर्ती अर्थात् वि० सं० ११२५के करीबके विद्वान् ठहरते हैं। उधर चौथे नेमिचन्द्र (द्रव्यसंग्रहकार) का भी समय पं० आशाधरजीके ग्रन्थोंमें उनका उल्लेख होने तथा ब्रह्मदेव द्वारा उनके द्रव्यसंग्रहकी टीका लिखी जानेसे उनसे पूर्ववर्ती अर्थात् वि० सं० की १२ वीं शताब्दी सिद्ध होता है। इसलिए बहुत सम्भव है कि ये दोनों नेमिचन्द्र एक हों।

२. वसुनन्दिने अपने गुरु नेमिचन्द्रको 'समस्त जगतमें विख्यात' बतलाया है। उधर 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता नयनन्दि भी अपनेको 'जगत-विख्यात' प्रकट करते हैं^५। इससे ध्वनित होता है कि वसुनन्दिने अपने द्वारा नेमिचन्द्रके गुरुरूपसे उल्लिखित नयनन्दि वे ही नयनन्दि अभिप्रेत हैं जो 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता हैं और उन्हींके जगत-विख्यात जैसे गुणोंको वे उनके शिष्य और अपने गुरु (नेमिचन्द्र) में भी देख रहे हैं। इससे जान पड़ता है कि वसुनन्दिने उल्लिखित नयनन्दि और 'सुदंसणचरिउ' के कर्त्ता नयनन्दि अभिन्न हैं।

१. सा० ध० टी० ४-५२, अनगा० ध० टी० ५-६६, ८-३७ और ८-८८।

२. वसुनन्दिश्रावका०, गा० ५४३, ५४४।

३. वही, गा० ५४०, ५४२।

४. निव-विक्रम-कालहो ववगएसु। एयारह-संवच्छर-सएसु ॥

तहि केवलि-चरिउ अमयच्छरेण। णयणंदी विरयउ वित्थरेण ॥—सुदंसणचरिउ, अन्तिम प्रशस्ति।

५. पढम-सोसु तहो जायउ जगविकखायउ मुणि णयणंदी....।

चरिउ सुदंसणणाहहो तेण अवाहहो विरइउ....।—सुदंसणचरिउ, अन्तिमप्रश० ४।

तथा उन्हींके शिष्य नेमिचन्द्रका वसुनन्दिने अपने गुरुरूपसे स्मरण किया है और ये नेमिचन्द्र वे ही नेमिचन्द्र हो, जो द्रव्यसंग्रहके कर्ता हैं, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

३. द्रव्यसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्रका 'सिद्धान्तिदेव' उपाधिके साथ अपनी संस्कृत-टीकाके मध्यमें तथा अधिकारोंके अन्तिम पुष्पिका-वाक्योंमें उल्लेख किया है^१। उधर वसुनन्दि और उनके गुरु नेमिचन्द्र भी 'सिद्धान्तिदेव' की उपाधिसे भूषित मिलते हैं^२। अतः असम्भव नहीं कि ब्रह्मदेवके अभिप्रेत नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और वसुनन्दिनेके गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव एक हों।

४. ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रहके प्रथम अधिकारके अन्तमें और द्वितीय अधिकारसे पहले वसुनन्दि-श्रावकाचारकी दो गाथाएँ नं० २३ और नं० २४ उद्धृत करते हुए लिखा है^३ कि 'इसके आगे पूर्वोक्त छहों द्रव्योंका चूलिकारूपसे विशेष व्याख्यान किया जाता है। वह इस प्रकार है।' यह उत्थानिकावाक्य देकर उन दोनों गाथाओंको दिया गया है और द्रव्यसंग्रहकारकी गाथाओंकी तरह ही उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है। व्याख्याके अन्तमें 'चूलिका' शब्दका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि विशेष व्याख्यान, अथवा उक्तानुक्त व्याख्यान और उक्तानुक्त मिश्रित व्याख्यानका नाम चूलिका है।

आशय यह है कि ब्रह्मदेवने वसुनन्दिकी गाथाओं (नं० २३ व २४) को जिस ढंगसे यहाँ प्रस्तुत किया है और उनकी व्याख्या दी है, उससे विदित होता है कि वे वसुनन्दिनेके गुरु नेमिचन्द्रकी ही द्रव्यसंग्रहका कर्ता मानते थे और इसीलिए वसुनन्दिनेके उक्त विशिष्ट गाथाओं और अपनी व्याख्याद्वारा उनके गुरु (नेमिचन्द्र-द्रव्यसंग्रहकार) के संक्षिप्त कथनका उन्होंने विस्तार किया है। और यह कोई असंगत भी नहीं है, क्योंकि गुरुके हृदयस्थ अभिप्रायका जितना जानकार एवं उद्घाटक साक्षात्-शिष्य हो सकता है उतना प्रायः अन्य नहीं। उक्त गाथाओंकी ब्रह्मदेवने उसी प्रकार व्याख्या की है जिस प्रकार उन्होंने द्रव्यसंग्रहकी समस्त गाथाओंकी की है। स्मरण रहे कि ब्रह्मदेवने अन्य आचार्योंके भी बीसियों उद्धरण दिये हैं, पर उनमेंसे उन्होंने किसी भी उद्धरणकी ऐसी व्याख्या नहीं की और न इस तरहसे उन्हें उपस्थित किया है—उन्हें तो उन्होंने 'तदुक्तं', 'तथा चोक्तं' जैसे शब्दोंके साथ उद्धृत किया है। जब कि वसुनन्दिनेके उक्त गाथाओंको द्रव्यसंग्रहकारकी गाथाओंकी तरह 'अतः परं पूर्वोक्तद्रव्याणां चूलिकारूपेण विस्तर-व्याख्यानं क्रियते। तथा—' जैसे उत्थानिका-वाक्यके साथ दिया है। अतः ब्रह्मदेवके उपर्युक्त प्रतिपादनपरसे यह निष्कर्ष सहज ही निकला जा सकता है कि उन्हें वसुनन्दिनेके गुरु नेमिचन्द्र ही द्रव्यसंग्रहके कर्ता अभिष्ट हैं—वे उन्हें उनसे भिन्न व्यक्ति नहीं मानते हैं।

१.श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्व...—पृ० २। '... तिष्ठन्तीत्यभिप्रायो भगवतां श्रीनेमिचन्द्र-सिद्धान्तिदेवानामिति।'—पृ० ५८। 'इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे... प्रथमो-ऽधिकारः समाप्तः।' 'इति श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचिते द्रव्यसंग्रहग्रन्थे... द्वितीयोऽधिकारः समाप्तः।' 'इति... श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचितस्य द्रव्यसंग्रहाभिधानग्रन्थस्य... श्रीब्रह्मदेवकृतवृत्तिः समाप्तः।'—पृ० २४१।

२. आशाधर, सा० ध० टी०, ४-५२; अनगा० ध० टी०, ८-८८।

३. बृहद्द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका पृ० ७६।

४. बृहद्द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका, पृ० ८०।

इस तरह उपर्युक्त आधारोंसे द्रव्यसंग्रहके कर्ता मुनि नेमिचन्द्र वे ही नेमिचन्द्र ज्ञात होते हैं, जो वसुनन्दि सिद्धान्तिदेवके गुरु और नयनन्दि सिद्धान्तिदेव (सिद्धान्तपारंगत)^१ के शिष्य हैं। सम्भवतः इसीसे—गुरु-शिष्योंको 'सिद्धान्तिदेव' होनेसे—ब्रह्मादेव उन्हें (द्रव्यसंग्रहकार मुनि नेमिचन्द्रको) भी 'सिद्धान्तिदेव' मानते और उल्लिखित करते हुए देखे जाते हैं। इसके प्रचुर प्रमाण उनकी द्रव्यसंग्रहवृत्तिमें उपलब्ध हैं।

(घ) समय :

हम ऊपर कह आये हैं कि नयनन्दिने अपना 'सुदंशणचरिउ' विक्रम सं० ११०० में पूर्ण किया है। अतः नयनन्दिका अस्तित्व-समय वि० सं० ११०० है। यदि उनके शिष्य नेमिचन्द्रको उनसे अधिक-से-अधिक २५ वर्ष पीछे माना जाय तो वे लगभग वि० सं० ११२५ के ठहरते हैं। उधर इनके शिष्य वसुनन्दिका समय विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका पूर्वार्ध अर्थात् वि० सं० ११५० माना जाता है^२, जो उचित है। इससे भी नयनन्दि (वि० सं० ११००) और वसुनन्दि (वि० सं० ११५०) के मध्य होनेवाले इन नेमिचन्द्रका समय विक्रम सं० ११२५ के आस-पास होना चाहिए।

(ङ) गुरु-शिष्य :

यद्यपि द्रव्यसंग्रहकारने न अपने किसी गुरुका उल्लेख किया है और न किसी शिष्यका। उनके उपलब्ध लघु और बृहद् दोनों द्रव्यसंग्रहोंमें उन्होंने अपना नाममात्र दिया है। इतना विशेष है कि लघु-द्रव्यसंग्रहमें उसकी रचनाका निमित्त भी बताया है^३। और वह है सोम (राजश्रेष्ठी)। उन्हींके बहानेसे भव्यजीवोंके कल्याणार्थ उन्हींने उसे रचा है। फिर भी वसुनन्दिके उल्लेखानुसार उनके गुरु नयनन्दि है और दादा गुरु श्रीनन्दि^४। वसुनन्दि उनके साक्षात्शिष्य हैं। वसुनन्दिने अपना 'उपासकाध्ययन', जो अर्थतः आचार्यपरम्परासे आगत था, शब्दतः उन्हींसे सिद्धान्तका अध्ययन करके उनके प्रसादसे पूरा किया था^५। ग्रन्थकारके और भी शिष्य रहे होंगे, पर उनके जाननेका अभी तक कोई साधन प्राप्त नहीं है।

(च) प्रभाव :

यों तो ग्रंथकारने स्वयं अपना कोई परिचय नहीं दिया, जिससे उनके प्रभावदिका पता चलता, तथापि उत्तरवर्ती ग्रंथकारोंद्वारा उनका स्मरण किया जाना और 'भगवान्' जैसे सम्मानसूचक शब्दोंके साथ उनके द्रव्यसंग्रहकी गाथाओंका उद्धरण देना आदि बातोंसे उनके प्रभावका पता चलता है^६। वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव तो उन्हें 'जिनागमरूपी समुद्रकी धेला-तरंगोंसे धुले हृदयवाला' तथा 'समस्त जगतमें विख्यात' बतलाते हैं। इससे वे तत्कालीन विद्वानोंमें निश्चय ही एक प्रभावशाली एवं सिद्धान्तवेत्ता विद्वान् रहे होंगे, यह स्पष्ट ज्ञात होता है।

१. वसुनन्दि, उपासकाध्ययन गा० ५४२।

२. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पुरातन जैन वाक्य-सूची, प्रस्तावना पृ० १००।

३. सोमच्छलेण रद्वया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।

भव्वुवयार-णिमित्तं गणिणा सिरिणेमिच्चदेण ॥—लघुद्रव्यसं० गा० २५।

४. वसुनन्दि-सिद्धान्तिदेव, उपासकाध्ययन गा० ५४०, ५४१, ५४२।

५. वही, गा० ५४४।

६. ब्रह्मादेव, द्रव्यसंग्रह-संस्कृतटीका, पृ० ५८, १४९, २२९। तथा आशाधर, अनंगारघर्मामृतटीका पृ० ४, १०९, ११६, ११८। और जयसेन, पञ्चास्तिकाय-तात्पर्यवृत्ति पृ० ६, ७, १६३, १८६।

(छ) स्थान :

ब्रह्मदेवके उल्लेखानुसार ग्रन्थकारने अपने दोनों द्रव्यसंग्रहोंकी रचना 'आश्रम' नामक नगरके श्रीमुनिसुव्रततीर्थकरचैत्यालयमें रहते हुए की थी। यह 'आश्रम' नगर उस समय मालवाके अन्तर्गत था और मालवासम्राट् धाराधिपति परमारवंशी भोजदेवके प्रान्तीय-प्रशासक परमारवंशीय श्रीपालद्वारा वह प्रशासित था। 'सोम' नामक राजश्रेष्ठी उनका प्रभावशाली एवं विश्वसनीय अधिकारी था, जिसके अधिकारमें खजाना आदि कई महत्त्वपूर्ण विभाग थे। इन सोमश्रेष्ठीके अनुरोधपर ही श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गद्यात्मक पदार्थलक्षणरूप 'लघुद्रव्यसंग्रह' और फिर पीछे विशेष तत्त्वज्ञानके लिए 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' रचा था। ब्रह्मदेवने अपने इस उल्लेखमें सोमश्रेष्ठीको 'परम आध्यात्मिक भव्योत्तम' बताया है, जिससे सोमश्रेष्ठीकी उत्कट आध्यात्मिक-जिज्ञासाका परिचय मिलता है। इसी उल्लेखसे जहाँ यह भी ज्ञात होता है कि उक्त 'आश्रम' नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवके स्थायी अथवा अस्थायी निवासके रूपमें विश्रुत था, और सोमश्रेष्ठी जैसे आध्यात्मिक सुधारसपिपासु वहाँ पहुँचते थे, वहाँ इस पावन स्थानका महत्त्व भी प्रकट होता है। लगता है कि उन दिनों जैन परम्परामें इस स्थानकी प्रसिद्धि एवं मान्यता वहाँके उक्त चैत्यालयमें प्रतिष्ठित बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रतनाथकी सातिशय, मनोज्ञ एवं आकर्षक प्रतिमाके कारण रही है। मूर्तिके इस अतिशयका उल्लेख मुनि मदनकीर्तिने शासनचतुस्त्रिशिका (पद्य २८), निर्वाणकाण्डकारने प्राकृत-निर्वाणकाण्ड (गा० २०) और मुनि उदयकीर्तिने अपभ्रंश-निर्वाणभक्ति (गा० ६) में भी किया है। इन उल्लेखोंसे स्पष्ट जान पड़ता है कि उक्त 'आश्रम' नगर एक प्रसिद्ध और पावन दिग्म्बर तीर्थस्थान रहा है।

इस स्थानकी वर्तमान स्थितिके बारेमें पं० दीपचन्द्रजी पाण्ड्या^२ और डा० दशरथ शमनि^३ ऊहापोह एवं प्रमाणपूर्वक विचार करते हुए लिखा है कि 'आश्रम' नगर, जिसे साहित्यकारोंने आश्रम, आशारम्याट्टण^४, आश्रमपत्तन^५, पट्टण^६ और पुटभेदनके नामसे उल्लेखित किया है^७, राजस्थानके अन्तर्गत कोटासे उत्तरपूर्वकी

१. 'अथ मालवदेशे धारानामनगराधिपतिभोजदेवाभिधानकलिकालचक्रवर्तिसम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धिन्याश्रमनामनगरे श्रीमुनिसुव्रततीर्थकरचैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्समुत्पन्नसुखामृतरसास्वाद-विपरीतनारकादिदुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रयभावना-प्रियस्य भव्यवरचण्डरीकस्य भाण्डानाराजनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमि-चन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशतिगाथाभिर्लघुद्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद्विंशोपतत्त्वज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारभ्यते।'—ब्रह्मदेव, बृहद्द्रव्यसंग्रहं वृत्तिः, पृ० १-२।
२. 'क्या पाटण-केशोराय ही प्राचीन आश्रमनगर है?' शीर्षक लेख, वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८, अंक १३, पृ० १०९।
३. 'आश्रमपत्तन ही केशोराय पट्टन है' शीर्षक निबन्ध, अनेकान्त (छोटेलाल स्मृति अंक) वर्ष १९, कि० १-२, पृ० ७०।
४. मदनकीर्ति, शासनचतुस्त्रिशिका पद्य २८ तथा उदयकीर्ति अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति गा० ६।
५. निर्वाणकाण्ड गा० २०।
६. नयचन्द्रसूरि, हम्मीरकाव्य ८-१०६।
७. ८. चन्द्रशेखर, सुर्जनचरितमहाकाव्य ११-२२, ३९।
९. जल और स्थल मार्गसे व्यापार करनेवाले नदी-किनारे स्थित नगरको पुटभेदन और मुख्यतः बन्दरगाह-को पत्तन या पट्टन कहा जाता है, चाहे वह समुद्रतटपर हो या नदी-तटपर। आश्रमनगरके लिए ये दोनों शब्द प्रयुक्त हो सकते हैं; क्योंकि वह चम्बलके किनारे स्थित है।

और लगभग ९ मीलकी दूरीपर और बूंदीसे लगभग ३ मील दूर चर्मण्वती (चम्बल) नदीपर अवस्थित वर्तमान 'केशोराय पाटण' अथवा 'पाटण केशोराय' ही है। प्राचीन कालमें यह राजा भोजदेवके परमार-साम्राज्यके अन्तर्गत मालवामें रहा है। नितर्गमणीय यह स्थान आश्रम-भूमि (तपोवन) के उद्युक्त होनेके कारण वास्तवमें 'आश्रम' कहलानेका अधिकारी है। नदीके किनारे होनेसे यह बड़ा भव्य, शान्त और मनोज्ञ है। इसकी प्राकृतिक सुषमा बहुत ही आकर्षक है। सम्भवतः इसी कारण यह जैनों (दिगम्बरों) के अतिरिक्त हिन्दुओंका भी तीर्थ है। दिगम्बर-साहित्यमें इसके दिगम्बर तीर्थ होनेके प्रचुर उल्लेख विक्रमकी १२वीं १२वीं शताब्दीसे मिलते हैं और जैन-साहित्यमें इसके हिन्दू तीर्थ होनेके निर्देश विक्रमकी १५वीं-१६वीं शताब्दीसे उपलब्ध होते हैं। पाण्ड्याजीके कथनानुसार आज भी वहाँ (पाटण केशोराय कस्बामें) चम्बल नदीके किनारे बहुत विशाल लगभग ४० फुट ऊँचा भव्य जैन मन्दिर है। मन्दिरका एक भाग सुदृढ़ नीव है, जिससे मन्दिरकी पानीसे कभी क्षति न पहुँचे। दूसरे भागमें शाला, कोठे आदि बने हुए हैं, जहाँ बहूसंख्यामें बाहसे यात्री आते व ठहरते हैं और दर्शन, पूजन करके मनोरथ पूरा होने हेतु गण-भोज भी किया करते हैं। श्रीमुनिसुवतकी दिगम्बरीय प्रतिमा मन्दिरके ऊपरी भागमें भूगर्भमें विराजमान है। पृथ्वीतलसे नीचे होनेके कारण जनता इस प्राचीन मन्दिरको 'भुईं देवरा' (भोंयरा) कहती है।^१ डा० शर्माके सूचनानुसार रणथंभोरके राजा हठीले हम्मीरके पिता जैसिहने पुत्रको राज्य देकर आश्रमपत्तनके पवित्र तीर्थके लिए प्रयाण किया था^२। तथा रणथंभोरेश्वर हम्मीरने राजधानीमें यज्ञ न कर इसी महान् तीर्थपर आकर 'कोटिसख' किया था^३। किन्तु प्रतीत होता है कि १६वीं शताब्दीकी जनता इसे आश्रमपत्तन या आश्रमनगर न कहकर पत्तन या पट्टन या पुटभेदन कहने लगी थी^४।

इस तरह आश्रमनगर^५ जैनोंके साथ हिन्दुओंका भी पावन तीर्थस्थान है। श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं प्राकृतिक सुषमासे सम्पन्न शान्त स्थानको साहित्य-सृजन, ज्ञानाराधन और ध्यान आदिके लिए चुना हो, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

(ज) रचनाएँ

जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवकी दो ही रचनाएँ उपलब्ध हैं—एक लघुद्रव्यसंग्रह और दूसरी बृहद्द्रव्यसंग्रह। इन दोके अलावा उनकी और कोई कृति प्राप्त नहीं है। उनके प्रभावको

१. डा० शर्माके उल्लिखित लेखमें उद्धृत 'आर्काएलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डियाकी १९०४-५ की प्रोग्रेस रिपोर्ट'।
२. नयचन्द्रधूरि, हम्मीरमहाकाव्य ८-१०६।
३. चन्द्रशेखर, सुर्जनचरितमहाकाव्य ११-५८।
४. वही, ११-२२।
५. सन् १९४९में मदनकीर्तिकी शासनचतुर्विधशिक्षाके सम्पादन-समय उसके उल्लेख (पृष्ठ २८)में आये आश्रम पदसे आश्रमनगरकी ओर मेरा ध्यान नहीं गया था और उसके तृतीय चरणमें विद्यमान 'विप्रजनाव-रोधनगरे' शब्दोंपरसे अवरोधनगरकी कल्पना की थी, जो ठीक नहीं थी। वहाँ 'आश्रम' से आश्रमनगर मदनकीर्तिको दृष्ट है, इसकी ओर हमारा ध्यान पं० दीपचन्द्रजी पाण्ड्याके उस लेखने आकर्षित किया है, जो उन्होंने बीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १८, अंक १३ में प्रकाशित किया है और जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। इसके लिए हम उनके आभारी हैं।—लेखक।

देखते हुए यह सम्भावना अवश्य की जा सकती है कि उनने और भी कृतियोंका निर्माण किया होगा, जो या तो लुप्त हो गईं या शास्त्रभण्डारोंमें अज्ञात दशामें पड़ी होंगी ।

(अ) ब्रह्मदेव

ब्रह्मदेव श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तदेवके बृहद्द्रव्यसंग्रहके संस्कृत-टीकाकार हैं और वे उनके ग्रन्थोंसे बहुत परिचित एवं प्रभावित मालूम पड़ते हैं । अतः उनके व्यक्तित्व, कृतित्व और समयके सम्बन्धमें भी यहाँ विचार करना अनुचित न होगा ।

(१) व्यक्तित्व

श्रीब्रह्मदेवकी रचनाओंपरसे उनके व्यक्तित्वका अच्छा परिचय मिलता है । वे प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत तीनों भाषाओंके पण्डित थे और तीनोंमें उनका अबाध प्रवेश दिखाई देता है । वे अध्यात्मकी चर्चा करते हुए उसके रसमें स्वयं तो निमग्न होते ही हैं, किन्तु पाठकोंको भी उसमें तन्मय कर देनेकी क्षमता रखते हैं ।^१ इससे वे स्पष्टतया आध्यात्मिक विद्वान् जान पड़ते हैं । लेकिन इससे यह न समझ लिया जाय कि वे केवल आध्यात्मिक ही विद्वान् थे । वरन् द्रव्यानुयोगकी चर्चके साथ प्रथमानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोगके बीसियों ग्रन्थोंके उद्धरण देकर वे अपना चारों अनुयोगोंका पाण्डित्य एवं बहुश्रुतत्व भी ख्यापित करते हैं । पंचास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमें जयसेनने और परमात्मप्रकाशकी कन्नड-टीकामें मलधारी बालचन्द्रने उनका पूरा अनुकरण किया है । पदच्छेद, उत्थानिका, अधिकारों और अन्तराधिकारोंकी कल्पना इन दोनों विद्वानोंने ब्रह्मदेवसे ली है । शब्दसाम्य और अर्थसाम्य तो अनेकत्र हैं । समयका विचार करते समय हम आगे दिखायेंगे कि जयसेनका अनुकरण ब्रह्मदेवने नहीं किया, अपितु ब्रह्मदेवका जयसेनने किया है ।

(२) कृतित्व

ब्रह्मदेवकी निम्न रचनाएँ मानी जाती हैं :—

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति, २. बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति, ३. तत्त्वदीपक, ४. ज्ञानदीपक, ५. त्रिवर्णाचार-दीपक, ६. प्रतिष्ठातिलक, ७. विवाहपटल और ८. कथाकोश ।

परन्तु डा० ए० एन० उपाध्ये उनकी दो ही प्रामाणिक रचनाएँ बतलाते हैं^२—एक परमात्मप्रकाश-वृत्ति और दूसरी बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति ।

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति—परमात्मप्रकाशवृत्ति (परमप्पयासु) श्री योगीन्द्रदेवकी अपभ्रंशमें रची महत्त्वपूर्ण कृति है । इसमें आत्मा ही परमात्मा है, इसपर प्रकाश डाला गया है । ब्रह्मदेवने इसीपर संस्कृतमें अपनी वृत्ति लिखी है, जिसे उन्होंने स्वयं 'परमात्मप्रकाशवृत्ति' कहा है^३ । आध्यात्मिक पद्धति, पदच्छेद, उत्थानिका, सन्धिकी यथेच्छता, अधिकारों और अन्तराधिकारोंकी कल्पना ये सब बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्तिकी तरह इसमें भी हैं । भाषा सरल और सुबोध है ।

(२) बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति—इसका परिचय इसी प्रस्तावनामें पृष्ठ २३ पर दिया जा चुका है ।

१. परमात्मप्रकाशवृत्ति (नई आवृत्ति), १-२१४, पृ० ३५१ ।

२. परमात्मप्रकाश (नई आवृत्ति), हिन्दी प्रस्तावना पृ० ११६ ।

३. 'सूत्राणां विवरणभूता परमात्मप्रकाशवृत्तिः समाप्ता ।'—डा० उपाध्ये, परमात्मप्रकाश अ० २-२१४, पृ० ३५० ।

(३) समय :

(१) ब्रह्मदेवने वसुनन्दिके उपासकाध्ययनसे दो गाथाएँ (नं० २३ व २४) बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति (पृ० ७६) में उद्धृत की हैं और उनका विस्तृत व्याख्यान किया है। वसुनन्दिका समय विक्रम सं० ११५० है। अतः ब्रह्मदेव वसुनन्दि वि० ११५०) से पूर्ववर्ती नहीं है—उनके उत्तरवर्ती हैं।

(२) पं० आशाधरजी (वि० सं० १२९६) ने अपने सागारधर्मांमृत (१-१३) में ब्रह्मदेवकी बृहद्द्रव्यसंग्रहवृत्ति (पृ० ३३-३४) का अनुकरण किया है और उनके 'तलवरगृहीतत्स्कर' का उदाहरण ही नहीं अपनाया, अपितु उनके शब्दों और भावोंको भी अपनाया है। अतएव ब्रह्मदेव पं० आशाधरजी (वि० सं० १२९६) से पूर्ववर्ती हैं।

(३) ब्रह्मदेवने सम्यग्दृष्टिके पुण्य और पाप दोनोंको हेय बतलाते हुए दृष्टान्तके साथ जो इस विषय की गद्य दी है उसका अनुकरण जयसेनने पञ्चास्तिकायकी तात्पर्यवृत्तिमें किया है। इसके कई आधार हैं। पहले, जयसेनने यहाँ ब्रह्मदेवके दृष्टान्तको तो लिया ही है, उनके शब्दों और भावोंको भी अपनाया है।^२

१. तुलना कीजिए :—

(क) ' निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारनय-साध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीत-तस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् ।

—ब्रह्मदेव, वृ० द्र० वृ०, पृ० ३३-३४।

(ख) भूरेखादिसदृशकषायवशागो यो विश्वदृशवाज्ञया, हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्धत् । चोरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान्, शार्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तध्यते सोऽप्यधैः ॥

—आशाधर, सागारधर्मांमृत, १-१३।

२. (क) यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थं दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिपरमुपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति...निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराध-काचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवर्जनार्थं च दानपूजादिनां...परमभक्तिं करोति...तेन च स्वर्गं देवेन्द्रलोकान्तिकादिविभूतिं प्राप्य विमानपरीवारादिसंपदं जीर्णतृणमिव गणयन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा पश्यति । किं पश्यति, इति चेत्—तदिदं समवसरणं, त एते वीतरागसर्वज्ञाः, त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधका गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते...इति मत्वा विशेषेण दृढधर्ममतिभूत्वा चतुर्थ-गुणस्थानयोग्यामात्मनोऽविरतावस्थामपरित्यजन् भोगानुभवेऽपि सति धर्मध्यानेन कालं नीत्वा स्वर्गादागत्य तीर्थकरादिपदे प्राप्तेऽपि पूर्वभवभावितद्विशिष्टभेदज्ञानवासनाबलेन मोहं न करोति, ततो जिनदीक्षां गृहीत्वा पुण्यपापरहितनिजपरमात्मध्यानेन मोक्षं गच्छतीति ।'

—बृह० द्र० वृ०, पृ० १५९-१६०।

(ख) 'यथा कोऽपि रामदेवादिपुरुषो देशान्तरस्थसीतादिस्त्रीसमीपादागतानां पुरुषाणां तदर्थं दानसन्माना-दिकं करोति तथा मुक्तिस्त्रीवशीकरणार्थं निर्दोषपरमात्मनां तीर्थकरपरमदेवानां तथैव गणधरदेवभरत-सगररामपाण्डवादिमहापुरुषाणां चाशुभरागवर्जनार्थं शुभधर्मानुरागेण भरितपुराणादिकं श्रुणोति भेदा-भेदरत्नत्रयभावनारतानामाचार्योपाध्यायादीनां गृहस्थावस्थायां च पुनर्दानपूजादिकं करोति च तेन

दूसरे, जयसेनने अपने ढंगसे मामूली परिवर्तन (घटा-बढ़ीरूप सुधार) भी किया है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसने किसका अनुकरण किया है। उदाहरणके लिए ब्रह्मदेवका 'देशान्तरस्थस्त्री'—का दृष्टान्त लीजिए। इसमें जयसेनने 'सीतादि' पद और जोड़कर 'देशान्तरस्थसीतादिस्त्री' का दृष्टान्त दिया है। इसी तरह ब्रह्मदेवके 'कोऽपि' पदके साथ 'रामदेवाविपुष्यो' और मिलाकर 'कोऽपि रामदेवाविपुष्यो' ऐसा व्याख्यात्मक पद जयसेनने प्रस्तुत किया है। इस ढंगके सुधार और परिवर्तन उत्तरवर्ती ही करता है और इसलिए यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि जयसेनने ब्रह्मदेवका अनुकरण किया है। तीसरे, पदच्छेद, उत्थानिका, अधिकारों और अन्तराधिकारोंकी कल्पना जयसेनने ब्रह्मदेवसे ली है। चौथे, जयसेनने पंचास्तिकायमें व्याख्याका ढंग वही अपनाया है, जो ब्रह्मदेवने द्रव्यसंग्रह और परमात्मप्रकाशमें अपनाया है। सन्धि न करनेका जो 'सुखबोधार्थ' हेतु ब्रह्मदेवने प्रस्तुत किया है वही जयसेनने दिया है। पाँचवें, जयसेनने अपने निमित्त-कथनका समर्थन ब्रह्मदेव-निमित्त-कथनसे किया है और 'अत्र प्राभूतग्रन्थे शिवकुमार महाराजो निमित्तं, अन्यत्र द्रव्यसंग्रहादौ सोम-भ-च्छर्वादि ज्ञानव्यम्' शब्दोंको देकर तो उन्होंने स्पष्टतया ब्रह्मदेवके अनुकरणको प्रमाणित कर दिया है। इस प्रकार दोनों टीकाकारोंकी टीकाओंके आभ्यन्तर परीक्षणसे जयसेन निश्चय ही ब्रह्मदेवके उत्तरकालीन विद्वान् ज्ञात होते हैं। जयसेनका समय डा० ए० एन० उपाध्येने ईसाकी बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निर्धारित किया है। ब्रह्मदेव उक्त आधारोंसे उनसे पूर्ववर्ती सिद्ध होनेसे उनका अस्तित्व-समय ईसाकी बारहवीं शताब्दीका आरम्भ और विक्रमकी १२ वीं शताब्दीका उत्तरार्ध (वि० सं० ११५० से १२००) ज्ञात होता है।

इस तरह ब्रह्मदेव वसुनन्दि (वि० सं० ११५०) से उत्तरवर्ती और जयसेन (वि० सं० १२१७) तथा प० आशाधर (वि० सं० १२९६) से पूर्ववर्ती अर्थात् वि० सं० ११५० से वि० सं० १२०० के विद्वान् प्रतीत होते हैं।

प० परमानन्दजी शास्त्रीने ब्रह्मदेव, द्रव्यसंग्रहकार मुनि नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और राजा भोजदेव इन तीनोंको समकालीन बतलाया है^१। परन्तु हम ऊपर देख चुके हैं कि ब्रह्मदेव वसुनन्दि (वि० सं० ११५०) से पूर्ववर्ती नहीं है और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव वसुनन्दिके साक्षात् गुरु होनेसे उन्हें उनसे २५ वर्ष पूर्व तो होना ही चाहिए अर्थात् नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका समय वि० सं० ११२५ के लगभग है। राजा भोजदेव नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवके गुरु नयनन्दि (वि० सं० ११००) द्वारा अपने समयमें उनके राज्यका उल्लेख होनेसे उनके समकालीन हैं। अतः इन तीनोंका समय एक प्रतीत नहीं होता। राजा भोजका वि० सं० ११०० (वि० १०७४-१११७), नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवका वि० सं० ११२५ और ब्रह्मदेवका वि० सं० ११७५ अस्तित्व-समय सिद्ध होता है।

कारणेन पुण्यास्रवपरिणामसहितत्वात्तद्भवे निर्वाणं न लभते भवान्तरे पुनर्देवेन्द्रादिपदं लभते। तत्र विमानपरीवारादिविभूति तृणवद्गणयन् सन् पञ्चमहाविदेहेषु गत्वा समवसरणे वीतरागसर्वज्ञान् पश्यति। निर्दोषपरमात्मारोधकगणधरदेवादीनां च तदनन्तरं विशेषेण दृढधर्मो भूत्वा चतुर्थगुणस्थानयोग्यात्मात्म-भावनामपरित्यजन सन् देवलोके कालं गमयति। ततोऽपि जीवितान्ते स्वर्गादागत्य मनुष्यभवे चक्रवर्त्यादि-विभूतिं लब्ध्वापि पूर्वभवभावितशुद्धात्मभावनाञ्जलेन मोहं न करोति, ततश्च विषयसुखं परिहृत्य जिन-दीक्षां गृहीत्वा निजशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं गच्छतीति।—पंचास्तिकायतातपर्यं वृ०, पृ० २४३-४४।

१. 'द्रव्यसंग्रहके कर्ता और टीकाकारके समयपर विचार' शीर्षक लेख, अनेकान्त (छोटेलाज जैन स्मृति अंक) पृ० १४५।

वचनिकाकार पं० जयचंदजी :

अब वचनिकाकार पं० जयचन्दजीके सम्बन्धमें विचार किया जाता है ।

(१) परिचय :

पं० जयचन्दजीने स्वयं अपना कुछ परिचय सर्वार्थसिद्धि-वचनिकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें दिया है । उसमें ज्ञात है कि वे राजस्थान प्रदेशके अन्तर्गत जयपुरसे तीस मीलकी दूरीपर डिग्गीमालपुरा रोडपर स्थित 'फागई' (फागी) ग्राममें पैदा हुए थे । इनके पिताका नाम मोतीराम था, जो 'पटवारी'का कार्य करते थे । इनकी जाति खण्डेलवाल और गोत्र छावड़ा था । श्रावक (जैन) धर्मके अनुयायी थे । परिवारमें शुभ क्रियाओंका पालन होता था । परन्तु स्वयं ग्यारह वर्षकी अवस्था तक जिनमार्गको भूले रहे और जब ग्यारह वर्षके पूरे हुए, तो जिनमार्गको जाननेका ध्यान आया । इसे उन्होंने अपना इष्ट और शुभोदय समझा । उसी ग्राममें एक दूसरा जिनमन्दिर था, जिसमें तेरापंथकी शैली थी और लोग देव, धर्म तथा गुप्तकी श्रद्धा-उत्पादक कथा (वचनिका—तत्त्वचर्चा) किया करते थे । पं० जयचन्दजी भी अपना हित जानकर वहाँ जाने लगे और चर्चा-वार्तामें रस लेने लगे । इससे वहाँ उनकी श्रद्धा दृढ़ हो गई और सब मिथ्या बुद्धि छूट गई । कुछ समय बाद वे निमित्त पाकर फागईसे जयपुर आ गये । वहाँ तत्त्व-चर्चा करनेवालोंकी उन्होंने बहुत बड़ी शैली देखी, जो उन्हें अधिक रुचिकर लगी । उस समय वहाँ गुणियों, साधर्मिजनों और ज्ञानी पण्डितोंका अच्छा

१. काल अनादि भ्रमत संसार, पायो नरभव मैं मुखकार ।
जन्म फागई लयी सुधानि, मोतीराम पिताके आनि ॥११॥
पायी नाम तहाँ जयचन्द, यह परजायतणूँ मकरन्द ।
द्रव्यदृष्टि मैं देखूँ जबै, मेरा नाम आतमा कबै ॥१२॥
गोत छावड़ा श्रावक धर्म, जामें भली क्रिया शुभ कर्म ।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिनमारगकी सुधि लही ॥१३॥
आन इष्टकी ध्यान अयोगि, अपने इष्ट चलन शुभ जोगि ।
तहाँ दूजौ मन्दिर जिनराज, तेरापंथ पंथ तहाँ साज ॥१४॥
देव-धर्म-गुह सरथा कथा, होय जहाँ जन भाषै यथा ।
तब मो मन उमग्यो तहाँ चलो, जो अपनो करनो है भलो ॥१५॥
जाय तहाँ श्रद्धा दृढ़ करी, मिथ्याबुद्धि सबै परिहरी ।
निमित्त पाय जयपुरमें आय, बड़ी जु शैली देखी भाय ॥१६॥
गुणीलोक साधर्मि भले, ज्ञानी पंडित बहुते मिले ।
पहले थे वंशीधर नाम, धरै प्रभाव भाव शुभ ठाम ॥१७॥
टोडरमल पंडित मति खरी, गोमटसार वचनिका करी ।
ताकी महिमा सब जन करै, वाचै पढै बुद्धि विस्तरै ॥१८॥
दौलतराम गुणी अधिकाय, पंडितराय राजमें जाय ।
ताकी बुद्धि लसे सब खरी, तीन पुराण वचनिका करी ॥१९॥
राधमल्ल त्यागी गृहवास, महाराम व्रतशील-निवास ।
मैं हूँ इनकी संगति ठानि, बुधिसारू जिनवाणी जानि ॥२०॥

—सर्वार्थसिद्धिवचनिका, अन्तिम प्रशस्ति ।

समुदाय था। उसमें पंडित बंशीधरजी उनसे पहले हो चुके थे, जो बड़े प्रभावशाली तथा अच्छे विचारवाद् थे। पंडित टोडरमलजी उनके समयमें थे और जो बड़े तीक्ष्ण-बुद्धि थे। उनकी गोम्मटसार-वचनिकाकी प्रशंसा सभी करते थे। उसीका वाचन, पठन-पाठन और मनन चलता था तथा लोग अपनी बुद्धि बढ़ाते थे। पं० दौलतरामजी कासलीवाल बड़े गुणी थे और 'पंडितराय' कहे जाते थे। राजपरिवारमें वे आते-जाते थे। उन्होंने तीन पुराणोंकी वचनिकाएँ की थीं। उनकी सूक्ष्म बुद्धिकी सर्वत्र संस्तुति होती थी। ब्रह्म रायमलजी और शीलव्रती महारामजी भी उस शैलीमें थे। पं० जयचन्दजी इन्हीं गुणी-जनों तथा विद्वानोंकी संगतिमें रहने लगे थे। और अपनी बुद्धि अनुसार जिनवाणी (शास्त्रों) के स्वाध्यायमें प्रवृत्त हो गये थे। उन्होंने जिन ग्रन्थोंका मुख्यतया स्वाध्याय किया था, उनका नामोल्लेख उन्होंने इसी प्रशस्तिमें स्वयं किया है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंके स्वाध्यायके अतिरिक्त न्याय-ग्रन्थों तथा अन्य दर्शनोंके ग्रन्थोंका भी उन्होंने अभ्यास किया था। उनकी वचनिकाओंसे भी उनको बहुश्रुतता प्रकट होती है। लगता है कि पंडित टोडरमलजी जैसे अलौकिक प्रतिभाके धनी विद्वानोंके सम्पर्कसे ही उनकी प्रतिभा जागृत हुई और उन्हें अनेक ग्रन्थोंकी वचनिकाएँ लिखनेकी प्रेरणा मिली।

उक्त प्रशस्तिके आरम्भमें राज-सम्बन्धका भी वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रके आर्यखण्डके मध्यमें 'दुंढाहड' देश है। उसकी राजधानी 'जयपुर' नगर है। वहाँका राजा 'जगतेश' (जगतसिंह) है, जो अनुपम है और जिसके राज्यमें सर्वत्र सुख-चैन है तथा प्रजामें परस्पर प्रेम है। सब अपने-अपने मतानुसार प्रवृत्ति करते हैं, आपसमें कोई विरोध-भाव नहीं है। राजाके कई मंत्री हैं। सभी बुद्धिमान और राजनीतिमें निपुण हैं। तथा सब ही राजाका हित चाहनेवाले एवं योग्य प्रशासक हैं। इन्हींमें एक रायचन्द है, जो बड़े गुणी हैं और जिनपर राजाकी विशेष कृपा है। यहाँ 'विशेष कृपा' के उल्लेखसे जयचन्दजीका भाव राजाद्वारा उन्हें 'दीवान' पदपर प्रतिष्ठित करनेका जान पड़ता है।

इसके आगे इसी प्रशस्तिमें रायचन्दजीके धर्म-प्रेम, साधर्मि-वात्सल्य आदि गुणोंकी चर्चा करते हुए उन्होंने उनके द्वारा की गई उस चन्द्रप्रभजिनमन्दिरकी प्रसिद्ध प्रतिष्ठा (वि० सं० १८६१) का भी उल्लेख किया है, जिनके द्वारा रायचन्दजीके यज्ञ एवं पुण्यकी वृद्धि हुई थी और समस्त जैनसंघको बड़ा हर्ष हुआ था^२।

१. जम्बूद्वीप भरत सुनिवेश, आरिज मध्य दुंढाहड देश ।
पुर जयपुर तहाँ सूबस वसै, नृप जगतेश अनुपम लसै ॥१॥
ताके राजमाहि सुखचैन, धरै लोक कहूँ नाहीं कैन ।
अपने-अपने मत सब चलै, शंका नाहि धारै शुभ फलै ॥२॥
नृपके मन्त्री सब मतिमान्, राजनीतिमें निपुण पुरान ।
सर्व ही नृपके हितको चहै, ईति-भीति टारै सुख लहै ॥३॥
तिनमें रायचन्द गुण धरै, तापरि कृपा भूप अति करै ।
ताकै जैन धर्मकी लाग, सब जैनिसूँ अति अनुराग ॥—सर्वार्थसिद्धि वचनिका, अ० प्रशस्ति ।
२. करी प्रतिष्ठा मंदिर नयो, चंद्रप्रभ जिन थापन थयो ।
ताकरि पुण्य बढ़ी यश भयो, सर्व जैनिको मन हरखयो ॥६॥—सर्वार्थसिद्धि-वचनिका, अ० प्रश० ६ ।

प्रशस्तिमें पं० जयचन्दजीने उनके साथ अपने विशेष सम्बन्धका भी संकेत किया है^१। उनके इस संकेतसे ज्ञात होता है कि रायचन्दजीने निश्चित एवं नियमित आर्थिक सहायता देकर उन्हें आर्थिक चिन्तासे मुक्त कर दिया था और तभी वे एकाग्रचित्त हो सर्वार्थसिद्धि-वचनिका लिख सके थे, जिसके लिखनेके लिए उन्हें अन्य सभी साधर्मिजनोंने प्रेरणा की थी^२ और उनके पुत्र नन्दलालने भी अनुरोध किया था^३। पं० जयचन्दजीने नन्दलालके सम्बन्धमें लिखा है^४ कि वह वचनसे विद्याको पढ़ता-सुनता था। फलतः वह अनेक शास्त्रोंमें प्रवीण पंडित हो गया था।

पंडितजी द्वारा दिये गये अपने इस परिचयसे उनकी तत्त्व-बुद्धि, जैनधर्ममें अदृष्ट श्रद्धा, तत्त्वज्ञानका आदान-प्रदान, जिनशासनके प्रसारका उद्यम, कषायकी मन्दता आदि गुणविशेष लक्षित होते हैं।

पंडितजीके उल्लेखानुसार उनके पुत्र पं० नन्दलालजी भी गुणी और प्रवीण विद्वान् थे। मूलाचार-वचनिकाकी प्रशस्तिमें भी, जो पं० नन्दलालजीके सहपाठी शिष्य ऋषभदासजी निगोत्याद्वारा लिखी गई है, पं० नन्दलालजीको 'पं० जयचन्दजी जैसा बहुज्ञानी' बताया गया है^५। प्रमेयरत्नमाला-वचनिकाकी प्रशस्ति (पृष्ठ १६) से यह भी मालूम होता है कि पं० नन्दलालजीने अपने पिता पं० जयचन्दजीकी इस वचनिकाका संशोधन किया था^६। इससे पं० नन्दलालजीकी सूक्ष्म बुद्धि और शास्त्रज्ञताका पता चलता है। पं० नन्दलालजी दीवान अमरचन्दजीकी प्रेरणा पाकर मूलाचारकी पाँच-सौ सोलह गाथाओंकी वचनिका कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया था। बादमें उस वचनिकाको ऋषभदासजी निगोत्याने पूरा किया था^७। निगोत्याजीने नन्दलालजीके तीन शिष्योंका भी उल्लेख किया है^८। वे हैं—मन्नालाल, उदयचन्द और माणिकचन्द।

पं० जयचन्दजीके एक और पुत्रका, जिनका घासीराम नाम था, निर्देश पं० परमानन्दजी शास्त्रीने किया है^९। पर उनका कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं है।

यहाँपर एक बात और ज्ञातव्य है। वह यह कि पं० जयचन्दजीकी वचनिकाओंसे सर्व साधारणको तो लाभ पहुँचा ही है, पं० भागचन्दजी (वि० सं० १९१३) जैसे विद्वानोंके लिए भी वे पथ-प्रदर्शिका हुई हैं।

१. ताके डिग हम धिरता पाय, करी वचनिका यह मन लाय ।—वही, प्रश्न० ७।
२. भयो बोध तब कछु चित्तधी, करन वचनिका मन उमगयी ।
सब साधरमी प्रेरण करी, ऐसैं मैं यह विधि उच्चरी ॥—वही, प्रश्न० पृष्ठ १०।
- ३, ४. नन्दलाल मेरा सुत गुनी, बालपने तैं विद्या सुनी ।
पंडित भयो बहूँ परवीन, ताहूने प्रेरण यह कीन ॥—वही, प्रश्न० पृष्ठ ३१।
५. तिन सम तिनके सुत भये, बहुज्ञानी नन्दलाल ।
गाय-वत्स जिम प्रेमकी, बहुत पढ़ाये बाल ॥—मूला० वच० प्रश्न०।
६. लिखी यहै जयचन्दने, सोधी सुत नन्दलाल ।
बुध लखि भूलि जु शुद्ध करि, बाँची सिखैवो बाल ॥—प्रमेयर० वच० प्र० पृष्ठ १६।
७. मूलाचारवचनिका प्रशस्ति ।
८. तव उद्यम भाषातणों, करन लगे नन्दलाल ।
मन्नालाल अर उदयचन्द, माणिकचन्द जु बाल ॥—मूलाचारवचनिका प्रश्न०।
९. 'पं० जयचन्द और उनकी साहित्य-सेवा' शीर्षक लेख, अनेकान्त वर्ष १३; कि० ७, पृ० १७१।

प्रमाणपरीक्षाकी अपनी वचनिका-प्रशस्तिमें वे पं० जयचन्दजीके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि उनकी वचनिकाओंको देखकर मेरी भी ऐसी बुद्धि हुई, जिससे मैं प्रमाण-शास्त्रका उत्कट रसास्वादन कर सका और अन्य दर्शन मुझे नीरस जान पड़े।

२. समय

पं० जयचन्दजीका समय सुनिश्चित है। इनकी प्रायः सभी कृतियों (वचनिकाओं)में उनका रचना-काल दिया हुआ है। जन्म वि० सं० १७९५ और मृत्यु वि० सं० १८८१-८२ के लगभग मानी जाती है^२। रचनाओंके निर्माणका आरम्भ वि० सं० १८५९ से होता है और वि० सं० १८७४ तक वह चलता है। प्राप्त रचनाएँ इन सोलह वर्षोंकी ही रची उपलब्ध होती हैं। इससे मालूम होता है कि ग्यारह वर्षकी अवस्थासे लेकर चौंसठ वर्षकी अवस्था तक अर्थात् तिरपन वर्ष उन्होंने शास्त्रोंके गहरे पठन-पाठन एवं मनन-में व्यतीत किये थे। और तदुपरान्त ही परिणत वयमें साहित्य-सृजन किया था। अतः जयचन्दजीका अस्तित्व-समय विक्रम सं० १७९५-१८८२ है।

३. साहित्यिक कार्य

इनकी मौलिक रचनाएँ और वचनिकाएँ दोनों प्रकारकी कृतियाँ उपलब्ध हैं। पर अपेक्षाकृत वचनिकाएँ अधिक हैं। मौलिक रचनाओंमें उनके संस्कृत और हिन्दीमें रचे गये भजन ही उपलब्ध होते हैं, जो विभिन्न राग-रागिनियोंमें लिखे गये हैं और 'नयन' उपनामसे प्राप्त हैं। उनकी वे रचनाएँ निम्न प्रकार हैं :—

१. तत्त्वार्थसूत्र-वचनिका	वि० सं० १८५९
२. सर्वार्थसिद्धि-वचनिका*	चैत्रशुक्ला ५ सं० १८६१
३. प्रमेयरत्नमाला-वचनिका*	आषाढ शु० ४ सं० १८६३
४. स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा-वचनिका*	श्रावण कृ० ३ सं० १८६३
५. द्रव्यसंग्रह-वचनिका*	श्रावण कृ० १४ सं० १८६३
६. समयसार-वचनिका*	कार्तिक कृ० १० सं० १८६४
(आत्मख्याति संस्कृत-टीका सहित की)	
७. देवागम (आप्तमीमांसा)-वचनिका	चैत्र कृ० १४ वि० सं० १८६६
८. अष्टपाहुड-वचनिका*	भाद्र शु० १२ सं० १८६७
९. ज्ञानार्णव-वचनिका*	माघ कृ० ५ सं० १८६९
१०. भवतामरस्तोत्र-वचनिका	कार्तिक कृ० १२ सं० १८७०

१. जयचन्द इति ख्यातो जयपुर्यामभूत्सुधीः ।

दृष्ट्वा यस्याक्षरन्यासं मादृशोऽपीदृशी मतिः ॥१॥

यया प्रमाणशास्त्रस्य संस्वाद्य रसमुल्लवणम् ।

नैयायिकादिसमया भासन्ते मुग्धु नीरसाः ॥२॥—प्रमाणपरीक्षा-वचनिका, अन्तिम प्रश० ।

२. वीरवाणी (स्मारिका) वर्ष १७, अंक १३ पृ० ५० तथा ९५ ।

* स्वयंके हाथसे लिखीं चिह्नान्वित ग्रन्थ-प्रतियाँ दि० जैन बड़ा मन्दिर, जयपुरमें उपलब्ध हैं।—वीर वाणी (स्मारिका) पृ० ९५ ।

११. पदोंकी पुस्तक [मौलिक]

(२४६ पदोंका संग्रह) आषाढ शु० १० सं० १८७४

१२. सामायिकपाठ-वचनिका

१३. पत्रपरीक्षा-वचनिका

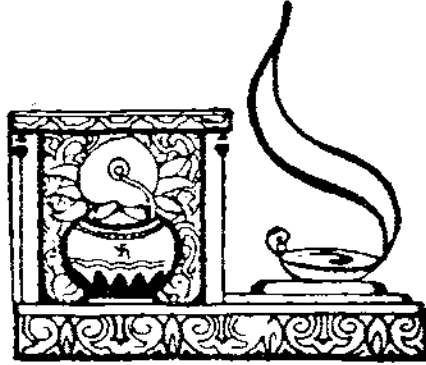
१४. चन्द्रप्रभचरित-द्वितीयसर्ग-वचनिका

१५. मतसमुच्चय-वचनिका

१६. धन्यकुमारचरित-वचनिका

इन रचनाओंका परिचय उनके ही नामसे विदित हो जाता है। अतः वह छोड़ा जाता है।

उपर्युक्त विवेचनसे प्रकट होता है कि पण्डित जयचन्दजी छावड़ा विशिष्ट शास्त्राम्यासी, बहुज्ञानी, संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी भाषाओंके ज्ञाता, हिन्दीगद्य-पद्यसाहित्यकार, प्रवक्ता, चारित्रवान्, भद्रपरिणामी और आध्यात्मिक विद्वान् थे। वे जैनदर्शनके साथ ही अन्य भारतीय दर्शनोके भी मर्मज्ञ थे। उनकी शासन-सेवा एवं साहित्यिक कृतियाँ उन्हें चिरस्मरणीय रखेंगी।



शासन-चतुस्त्रिंशिका और मदनकीर्ति

१. शासन-चतुस्त्रिंशिका

१. प्रति-परिचय

'शासन-चतुस्त्रिंशिका' की यही एक प्रति जैन साहित्यमें उपलब्ध जान पड़ती है। यह हमें श्रद्धेय पं० नाथूरामजी प्रेमी बम्बईके अनुग्रहसे प्राप्त हुई।

इसके अलावा प्रयत्न करनेपर भी अन्यत्रसे कोई प्रति प्राप्त नहीं हो सकी। इसकी लम्बाई चौड़ाई १० × ६ इंच है। दायीं और बायीं दोनों ओर एक-एक इंचका हाशिया लूटा हुआ है। इसमें कुल पाँच पत्र हैं और अन्तिम पत्रको छोड़कर प्रत्येक पत्रमें १८.१८ पंक्तियाँ तथा प्रत्येक पंक्तिमें प्रायः ३२, ३२ अक्षर हैं। अन्तिम पत्रमें (९ + ३ =) १२ पंक्तियाँ और हरेक पंक्तिमें उपर्युक्त (३२, ३२) जितने अक्षर हैं। कुछ टिप्पण भी साथमें कहीं-कहीं लगे हुए हैं जो मूलको समझनेमें कुछ मदद पहुँचाते हैं। यह प्रति काफी (सम्भवतः चार-पाँचसौ वर्षकी) प्राचीन प्रतीत होती है और बहुत जीर्ण-शीर्ण दशामें है। लगभग चालीस-पैंतालिस स्थानोंपर तो इसके अक्षर अथवा पद-बाक्यादि, पत्रोंके परस्पर चिपक जाने आदिके कारण प्रायः मिटसे गये हैं और जिनके पढ़नेमें बड़ी कठिनाई महसूस होती है। इस कठिनाईका प्रेमीजीने भी अनुभव किया है और अपने 'जैन साहित्य और इतिहास' (पृ० २३९ के फुटनोट) में प्रतिका कुछ परिचय देते हुए लिखा है—“इस प्रतिमें लिखनेका समय नहीं दिया है परन्तु वह दो-तीनसौ वर्षसे कम पुरानी नहीं मालूम होती। जगह-जगह अक्षर उड़ गये हैं जिससे बहुतसे पद्य पूरे नहीं पढ़े जाते।” हमने सन्दर्भ, अर्थ-संगति, अक्षर-विस्तारकयन्त्र आदिसे परिश्रमपूर्वक सब जगहके अक्षरोंको पढ़ कर पद्योंको पूरा करनेका प्रयत्न किया है—सिर्फ एक जगहके अक्षर नहीं पढ़े गये और इसलिये वहाँपर... ऐसे विन्दु बना दिये गये हैं। जान पड़ता है कि अबतक इसके प्रकाशमें न आसकनेका यही कारण रहा है।

यदि यह जीर्ण-शीर्ण प्रति भी न मिली होती तो-जैन साहित्यकी एक-अनमोल कृति और उसके रचयिता एवं अपने समयके विख्यात विद्वान्के सम्बन्धमें कुछ भी लिखनेका अवसर न मिलता। न मालूम ऐसी-ऐसी कितनी साहित्यिक कृतियाँ जैन-साहित्य-भण्डारमें सड़-गल गई होंगी और जिनके नामशेष भी नहीं हैं। आचार्य विद्यानन्दका विद्यानन्दमहोदय, अनन्तकीर्यका प्रमाणसंग्रहभाष्य आदि बहुमूल्य ग्रन्थरत्न हमारे प्रमाद और लापरवाहीसे जैन-वाङ्मय-भण्डारोंमें नहीं पाये जाते। वे या तो नष्ट हो गये या अन्यत्र चले गये। ऐसी हालतमें इस उत्तम और जीर्ण-शीर्ण कृतिको प्रकाशमें लानेकी कितनी जरूरत थी, यह स्वयं प्रकट है।

ग्रन्थ-परिचय

'शासनचतुस्त्रिंशिका' एक छोटी-सी किन्तु सुन्दर एवं मौलिक रचना है। इसके रचयिता विक्रमकी १३वीं शताब्दीके सुविख्यात विद्वान् मुनि मदनकीर्ति हैं। इसमें कोई २६ तीर्थस्थानों—८ सिद्धतीर्थक्षेत्रों और १८ अतिशय तीर्थक्षेत्रोंका परम्परा अथवा अनुश्रुतिसे यथाज्ञात इतिहास एक-एक पद्यमें अतिसंक्षेप एवं संकेत

रूपमें निबद्ध है। साथ ही उनके प्रभावोल्लेखपूर्वक दिगम्बरशासनका महत्त्व स्थापित करते हुए प्रत्येक पद्यमें उसका जयघोष किया गया है।

जैनतीर्थोंके ऐतिहासिक परिचयमें जिन रचनाओं आदिसे विशेष मदद मिल सकती है उनमें यह रचना भी प्राचीनता आदिकी दृष्टिसे अपना विशिष्ट स्थान रखती है।

विक्रम संवत् १३३४में रचे हुए चन्द्रप्रभसूरिके प्रभावकचरित्र, विक्रम संवत् १३६१ में निर्मित मेरु-तुङ्गाचार्यके प्रबन्धचिन्तामणि, विक्रम संवत् १३८९में पूर्ण हुए जिनप्रभसूरिके विविधतीर्थकल्प और विक्रम संवत् १४०५ में निर्मित राजशेखरसूरिके प्रबन्धकोश (चतुर्विंशतिप्रबन्ध) में भी जैनतीर्थोंके इतिहासकी सामग्री पायी जाती है। मुनि मदनकीर्तिकी, जिन्हें 'महाप्रामाणिकचूडामणि'का विरुद प्राप्त था और जिसका उल्लेख राजशेखरसूरिने अपने उक्त प्रबन्धकोश (पृष्ठ ६४) में किया है और उनके सम्बन्धका एक स्वतन्त्र 'मदनकीर्तिप्रबन्ध' नामका प्रबन्ध भी लिखा है, यह कृति इन चारों रचनाओंसे प्राचीन (विक्रम संवत् १२८५ के लगभगकी रची) है। अतः यह रचना जैनतीर्थोंके इतिहासके परिचयमें विशेष उल्लेखनीय है।

इसमें कुल ३६ पद्य हैं, जो अनुष्टुप् छन्दमें प्रायः ८४ श्लोक जितने हैं। इनमें नंबरहीन पहला पद्य अगले ३२ पद्योंके प्रथमाक्षरोंसे रचा गया है और जो अनुष्टुप्-वृत्तमें है। अन्तिम (३५वां) पद्य प्रशस्ति-पद्य है, जिसमें रचयिताने अपने नामोल्लेखके साथ अपनी कुछ आत्मचर्या दी है और जो मालिनी छन्दमें है। शेष ३४ पद्य ग्रन्थ-विषयसे सम्बद्ध हैं, जिनकी रचना शार्दूलविक्रीडित वृत्तमें हुई है। इन चौतीस पद्योंमें दिगम्बर शासनके प्रभाव और विजयका प्रतिपादन होनेसे यह रचना 'शासनचतुस्त्रिंशि (शति)का' अथवा 'शासनचौतीसी' जैसे नामोंसे दि० जैनसाहित्यमें प्रसिद्ध है।

विषय-परिचय

इसमें विभिन्न तीर्थस्थानों और वहाँके दिगम्बर जिनबिम्बोंके अतिशयों, माहात्म्यों और प्रभावोंके प्रदर्शनद्वारा यह बतलाया गया है कि दिगम्बरशासन अपनी अहिंसा, अपरिग्रह (निर्ग्रन्थता), स्याद्वाद आदि विशेषताओंके कारण सब प्रकारसे जयकारकी क्षमता रखता है और उसके लोकमें बड़े प्रभाव तथा अतिशय रहे हैं। कैलासका ऋषभदेवका जिनबिम्ब, पोदनपुरके बाहुबलि, श्रीपुरके पार्श्वनाथ, हुलगिरि अथवा होलागिरिके शङ्खजिन, धाराके पार्श्वनाथ, बृहत्पुरके बृहद्देव, जैनपुर (जैनबिंद्री) के दक्षिण-गोममटदेव, पूर्वदिशाके पार्श्वजिनेश्वर, विश्वसेनद्वारा समुद्रसे निकाले शान्तिजिन, उत्तरदिशाके जिनबिम्ब, सम्मेदशिखरके बीस तीर्थङ्कर, पुष्पपुरके श्री पुष्पवन्त, नागद्रहके नागहृद्देश्वरजिन, सम्मेदशिखरकी अमृतवापिका, पश्चिमसमुद्रतटके श्रीचन्द्रप्रभजिन, छायापार्श्वप्रभु, श्रीआदिजिनेश्वर, पावापुरके श्रीवीरजिन, गिरनारके श्रीनेमिनाथ, चम्पापुरके श्रीवासुपूज्य, नर्मदाके जलसे अभिषिक्त श्रीशान्तिजिनेश्वर, आश्रम^१ या आशारम्यके श्रीमुनिमुद्रतजिन, विपुलगिरिका जिनबिम्ब, विन्ध्यागिरिके जिनचैत्यालय, मेदपाट (मेवाड़) देशस्थ नागफणी ग्रामके श्रीमल्लजिनेश्वर और मालवादेशके मङ्गलपुरके श्री अभिनन्दनजिन इन २६के लोक-विश्रुत अतिशयोंका इसमें समुल्लेख हुआ है। इसके अलावा यह भी प्रतिपादन किया गया है कि स्मृतिपाठक, वेदान्ती, वैशेषिक, सायावी, योग, सांख्य, चार्वाक और बौद्ध इन दूसरे शासनोंद्वारा भी दिगम्बरशासन कई बातोंमें समाश्रित हुआ है।

१. उदयकीर्तिमुनिकृत अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिमें आश्रम और प्राकृत निर्वाणकाण्ड गाथा २० में आशारम्यनगरका उल्लेख है।

इस तरह यह रचना जहाँ दिगम्बरशासनके प्रभावकी प्रकाशिका है वहाँ इतिहास प्रेमियोंके लिए इतिहासानुसन्धानकी इसमें महत्त्वपूर्ण सामग्री भी है। अतः इसकी उपादेयता तथा उपयोगिता स्पष्ट है। इसका एक-एक पद्य एक-एक स्वतन्त्र निबन्धका विषय है।

२. मुनि मदनकीर्ति

अब विचारणीय है कि इसके रचयिता मुनि मदनकीर्ति कब हुए हैं, उनका निश्चित समय क्या है और वे किस विशेष अथवा सामान्य परिचयको लिये हुए हैं? अतः इन बातोंपर यहाँ कुछ विचार किया जाता है—

समय-विचार

(क) जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, कि श्वेताम्बर विद्वान् राजशेखरसूरिने विक्रम सं० १४०५ में प्रबन्धकोष लिखा है जिसका दूसरा नाम चतुर्विंशतिप्रबन्ध भी है। इसमें २४ प्रसिद्ध पुरुषों— १० आचार्यों, ४ संस्कृतभाषाके सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितों, ७ प्रसिद्ध राजाओं और ३ राजमान्य सद्गृहस्वर्णोंके प्रबन्ध (चरित) निबद्ध हैं। संस्कृतभाषाके जिन ४ सुप्रसिद्ध कवि-पण्डितोंके प्रबन्ध इसमें निबद्ध हैं उनमें एक प्रबन्ध दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्तिके प्रख्यात शिष्य मदनकीर्तिका भी है और जिसका नाम 'मदनकीर्ति-प्रबन्ध' है। इस प्रबन्धमें मदनकीर्तिका परिचय देते हुए राजशेखरसूरिने लिखा है कि "उज्जयिनीमें दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्ति रहते थे। उनके मदनकीर्तिनामका एक शिष्य था। वह इतना बड़ा विद्वान् था कि उसने पूर्व, पश्चिम और उत्तरके समस्त वादियोंको जीत कर 'महाप्रामाणिकचूडामणि'के विरुद्धको प्राप्त किया था। कुछ दिनोंके बाद उसके मनमें यह इच्छा पैदा हुई कि दक्षिणके वादियोंको भी जीता जाय और इसके लिए उन्होंने गुरुसे आज्ञा मांगी। परन्तु गुरुने दक्षिणको 'भोगनिधि' देश बतलाकर वहाँ जानेकी आज्ञा नहीं दी। किन्तु मदनकीर्ति गुरुकी आज्ञाको उलंघन करके दक्षिणको चले गये। मार्गमें महाराष्ट्र आदि देशोंके वादियोंको पद-दलित करते हुए कर्णाट देश पहुँचे। कर्णाटदेशमें विजयपुरमें जाकर वहाँके नरेश कुन्तिभोजको अपनी विद्वत्ता और काव्यप्रतिभासे चमत्कृत किया और उनके अनुरोध करनेपर उनके पूर्वजोंके सम्बन्धमें एक ग्रन्थ लिखना स्वीकार किया। मदनकीर्ति एक दिनमें पाँचसौ श्लोक बना लेते थे, परन्तु स्वयं उन्हें लिख नहीं सकते थे। अतएव उन्होंने राजासे सुयोग्य लेखककी मांग की। राजाने अपनी सुयोग्य विद्वृषी पुत्री मदनमंजरीको उन्हें लेखिका दी। वह पदोंके भीतरसे लिखती जाती थी और मदनकीर्ति धाराप्रवाहसे बोलते जाते थे। कालान्तरमें इन दोनोंमें अनुराग होगया जब गुरु विशालकीर्तिको यह मालूम हुआ तो उन्होंने समझानेके लिये पत्र लिखे और शिष्योंको भेजा। परन्तु मदनकीर्तिपर उनका कोई असर न हुआ।"

इस प्रबन्धके कुछ आदिभागको यहाँ दिया जाता है—

"उज्जयिन्यां विशालकीर्तिदिगम्बरः। तच्छिष्यो मदनकीर्तिः। स पूर्वपश्चिमोत्तरासु तिसृषु दिक्षु वादिनः सर्वान् विजित्य 'महाप्रामाणिकचूडामणिः' इति विरुदमुपाज्यं स्वगुर्वलंकृता-मुज्जयिनीमागात्। गुरुनवन्दिष्ट। पूर्वमपि जनपरम्पराश्रुततत्कीर्तिः स मदनकीर्तिः भूयिष्ठमश्ला-धिष्ठ। सोऽपि प्रामोदिष्ट। दिनकतिपयानन्तरं च गुरुं न्यगदीत—भगवन् ! दाक्षिणात्यान् वादिनो विजेतुमोहे। तत्र गच्छामि। अनुज्ञा दीयताम् ! गुरुणोक्तम्—वत्स ! दक्षिणां मा गाः। स हि भोग-निधिर्देशः। को नाम तत्र गतो दर्शन्यपि न तपसो भ्रश्येत्। एतद्गुरुवचनं विलङ्घ्य विद्यामदाधमातो जालकुहालिःश्रेण्यादिभिः प्रभूतैश्च शिष्यैः परिकरितो महाराष्ट्रादिवादिनो मृद्ग्रन् कर्णाटदेशमाप।

तत्र विजयपुरे कुन्तिभोजं नाम राजानं स्वयं त्रैविद्याविदं विद्वत्प्रियं सदसि निषण्णं स द्वास्थनिवेदितो ददर्श। तमुपश्लोकयामास....." इत्यादि।

इस प्रबन्धसे दो बातें स्पष्ट हैं। एक तो यह कि मदनकीर्ति निश्चय ही एक ऐतिहासिक सुप्रसिद्ध विद्वान् है और वे दिगम्बर विद्वान् विशालकीर्तिके सुविख्यात एव 'मद्राप्रामाणिकञ्जूडामणि' की पदवी प्राप्त वादिविजेता शिष्य थे तथा इन प्रबन्धकोशकार राजशेखरसूरि अर्थात् विक्रम सं० १४०५ से पहले हो गये हैं। दूसरी बात यह कि वे विजयपुरनरेश कुन्तिभोजके समकालीन हैं। और उनके द्वारा सम्मानित हुए थे।

अब देखना यह है कि कुन्तिभोजका समय क्या है? जैन-साहित्य और इतिहासके प्रसिद्ध विद्वान् पं० नाथुरामजी प्रेमीका अनुमान है कि प्रबन्धकोषवर्णित विजयपुरनरेश कुन्तिभोज और सोमदेव (शब्दार्णव-चन्द्रिकाकार) वर्णित वीरभोजदेव एक ही हैं। सोमदेवमुनिने अपनी शब्दार्णवचन्द्रिका कोल्हापुर प्रान्तके अर्जुरिका ग्राममें वादीभवच्छास्त्रेश विशालकीर्ति पण्डितदेवके वैयावृत्यसे वि० सं० १२६२ में बनाकर समाप्त की थी^२ और उस समय वहाँ वीर-भोजदेवका राज्य था। सम्भव है विशालकीर्ति अपने शिष्य मदनकीर्तिको समझानेके लिये उधर कोल्हापुरकी तरफ गये हों और तभी उन्होंने सोमदेवकी वैयावृत्य की हो। प्रेमीजीकी मान्यतानुसार कुन्तिभोजका समय विक्रम सं० १२६२के लगभग जान पड़ता है और इस लिये विशालकीर्तिके शिष्य मदनकीर्तिका समय भी यही विक्रम सं० १२६२ होना चाहिये।

(ख) पण्डित आशाधरजीने अपने जिनयज्ञकल्पमें^३, जिसे प्रतिष्ठासारोद्धार भी कहते हैं और जो विक्रम संवत् १२८५ में बनकर समाप्त हुआ है, अपनी एक प्रशस्ति^४ दी है। इस प्रशस्ति में अपना विशिष्ट परिचय देते हुए एक पद्यमें उन्होंने उल्लेखित किया है कि वे मदनकीर्तियतिपतिके द्वारा 'प्रज्ञापुञ्ज' के नामसे अभिहित हुए थे अर्थात् मदनकीर्तियतिपतिने उन्हें 'प्रज्ञापुञ्ज' कहा था। मदनकीर्तियतिपतिके उल्लेखवाला उनका वह प्रशस्तिगत पद्य निम्न प्रकार है :—

इत्थुदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ।

प्रज्ञापुञ्जोऽसीति च योऽभिहि (म) तो मदनकीर्तियतिपतिना ॥

इस उल्लेखपरसे यह मालूम हो जाता है कि मदनकीर्तियतिपति, पण्डित आशाधरजीके समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती विद्वान् थे और विक्रम संवत् १२८५के पहले वे सुविख्यात हो चुके थे तथा साधारण विद्वानों एवं मुनियोंमें विशिष्ट व्यक्तित्वको भी प्राप्त कर चुके थे और इसलिये यतिपति-मुनियोंके आचार्य माने जाते थे। अतः इस उल्लेखसे मदनकीर्ति विक्रम संवत् १२८५ के निकटवर्ती विद्वान् सिद्ध होते हैं।

(ग) मदनकीर्तिने शासनचतुस्त्रिशकामें एक जगह (३४वें पद्यमें) यह उल्लेख किया है कि आततायी म्लेच्छोंने भारतभूमिको रौंधते हुए मालवदेशके मङ्गलपुर नगरमें जाकर वहाँके श्रीअभिनन्दन-जिनेन्द्रकी मूर्तिको भग्न कर दिया और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये, परन्तु वह जुड़ गयी और सम्पूर्णावयव बन गई और उसका एक बड़ा अतिशय प्रकटित हुआ। जिनप्रभसूरिने अपने विविधतीर्थकल्प अथवा कल्पप्रदीपमें, जिसकी

१. जैनसाहित्य और इतिहास पृ० १३९।

२. उक्त ग्रन्थके पृ० १३८के फुटनोटमें उद्धृत शब्दार्णवचन्द्रिकाकी अन्तिम प्रशस्ति।

३. विक्रमवर्षसप्तचाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु।

आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराक्षस्य ॥१९॥

४. यही प्रशस्ति कुछ हेर-फेरके साथ उनके सागारधमामृत भावि दूसरे कुछ ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है।

रचना उन्होंने विक्रम सं० १३६४ से लगाकर विक्रम सं० १३८९ तक २५ वर्षोंमें की है, एक 'अवन्ति-देशस्थ-अभिनन्दनदेवकल्प' नामका कल्प निबद्ध किया है। इसमें उन्होंने भी म्लेच्छसेनाके द्वारा अभिनन्दन-जिनकी मूर्तिके भग्न होनेका उल्लेख किया है और उसके जुड़ने तथा अतिशय प्रकट होनेका वृत्त दिया है और बतलाया है कि यह घटना मालवाधिपति जयसिंहदेव के राज्यकालसे कुछ वर्ष पूर्व ही ली थी और जब उसे अभिनन्दनजिनका आश्चर्यकारी अतिशय सुननेमें आया तो वह उनकी पूजाके लिये गया और पूजा करके अभिनन्दनजिनकी देखभाल करने वाले अभयकीर्ति आदि मठपति आचार्यों (भट्टारकों) के लिये देवपूजार्थ २४ हलकी खेती योग्य जमीन दी तथा १२ हलकी जमीन देवपूजकोंके वास्ते प्रदान की। यथा—

“तमतिशयमतिशायिनं निशम्य श्रीजयसिंहदेवो मालवेश्वरः स्फुरद्भक्तिप्राग्भारभास्व-
रान्तःकरणः स्वामिनं स्वयमपूजयत् । देवपूजार्थं च चतुर्विंशतिहलकृष्णैः भूमिमदत्त मठ-
पतिभ्यः । द्वादशहलबाह्यां चावनी देवार्चकेभ्यः प्रददाववन्तिपतिः । अद्यापि दिग्मण्डलव्यापिप्रभा-
ववैभवो भगवानभिनन्दनदेवस्तत्र तथैव पूज्यमानोऽस्ति ।” —विविधतीर्थ० पृ० ५८।

जिनप्रभसूरिद्वारा उल्लिखित यह मालवाधिपति जयसिंहदेव द्वितीय जयसिंहदेव जान पड़ता है, जिसे जैतुगिदेव भी कहते हैं और जिसका राज्यसमय विक्रम सं० १२९० के बाद और विक्रम सं० १३१४ तक बतलाया जाता है^२। पण्डित आशाधरजीने त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, सागारधर्माभूतटीका और अनगारधर्माभूतटीका ये तीन ग्रन्थ क्रमशः वि० सं० १२९२, १२९६ और १३०० में इसी (जयसिंहदेव द्वितीय अथवा जैतुगिदेव)के राज्यकालमें बनाये हैं^३। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्ति (पृ० ५) में पण्डित आशाधरजीने यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात यह लिखी है^४ कि ‘म्लेच्छपति साहिवुदीनने जब सपादलक्ष (सवालाख) देश (नागौर-जोधपुरके आस-पासके प्रदेश) को ससैन्य आक्रान्त किया तो वे अपने सदाचारकी हानिके भयसे वहाँसे चले आये और मालवाकी घारा नगरीमें आ बसे। इस समय वहाँ विन्ध्यनरेश (विक्रम सं० १२१७ से विक्रम सं० १२४९) का राज्य था।’ यहाँ पण्डित आशाधरजीने जिस मुस्लिम बादशाह साहिवुदीनका उल्लेख किया है वह शहा-बुद्दीनगोरी है। इसने विक्रम सं० १२४९ (ई० सन् ११९२) में गजनीसे आकर भारतपर हमला करके दिल्लीको हस्तगत किया था और उसका १४ वर्ष तक राज्य रहा। और इसलिये असम्भव नहीं इसी आत-तायी बादशाह अथवा उसके सरदारोंने ससैन्य उक्त १४ वर्षोंमें किसी समय मालवाके उल्लिखित धन-धान्या-दिसे भरपूर मङ्गलपुर नगरपर धावा मारा हो और हीरा-जवाहरातादिके मिलनेके दुर्लभ अथवा धार्मिक विद्वेषसे वहाँ के लोकविश्रुत श्रीअभिनन्दनजिनके चैत्यालय और विम्बको तोड़ा हो और उसीका उल्लेख मदनकीर्तिने “म्लेच्छैः प्रतापागतैः” शब्दों द्वारा किया हो। यदि यह ठीक हो तो यह कहा जा सकता है कि

१. मुनिजिनत्रिजयजी द्वारा सम्पादित विविधतीर्थकल्पकी प्रस्तावना पृ० २।
२. जैनसाहित्य और इतिहास, पृ० १३४।
३. इन ग्रन्थोंकी अन्तिम प्रशस्तियाँ।
४. म्लेच्छसेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जस्त्रिवर्गीजसि ।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरोवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठजिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥५॥
‘म्लेच्छसेन साहिवुदीन तुरुष्कराजेन’ —सागारधर्मा० टीका पृ० २४३।

मदनकीर्तिने इस शासनचतुस्त्रिंशिकाको विक्रम सं० १२४९ और वि० सं० १२६३ या वि० सं० १३१४ के भीतर किसी समय रचा है और इसलिए उनका समय इन संवत्तोका मध्यकाल होना चाहिये ।

इस ऊहापोहसे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि मदनकीर्तिका वि० सं० १२८५ के पं० आशाधरजी-कृत जिनयज्ञकल्पमें उल्लेख होनेसे वे उनके कुछ पूर्ववर्ती विद्वान् निश्चितरूपमें हैं, और इसलिये उनका वि० सं० १२८५ के आसपासका समय सुनिश्चित है ।

स्थानादि-विचार

समयका विचार करनेके बाद अब मदनकीर्तिके स्थान, गुप्तपरम्परा, योग्यता और प्रभावादिपर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए । मदनकीर्ति वादीन्द्र विशालकीर्तिके शिष्य थे और वादीन्द्र विशालकीर्तिने पं० आशाधरजीसे न्यायशास्त्रका अभ्यास किया था । पं० आशाधरजीने धारामें रहते हुए ही उन्हें न्याय-शास्त्र पढ़ाया था और इसलिये उक्त दोनों विद्वान् (विशालकीर्ति तथा मदनकीर्ति) भी धारामें ही रहते थे । राजशेखरसूरिने भी उन्हें उज्जयिनीके रहनेवाले बतलाया है । अतः मदनकीर्तिका मुख्यतः स्थान उज्जयिनी (धारा) है । ये वाद-विद्यामें बड़े निपुण थे । चतुर्दिशाओंके वादियोंको जीतकर उन्होंने 'महाप्रामाणिक-बूड़ा-मणि' की महुनीय पदवी प्राप्त की थी । ये उच्च तथा आशु कवि भी थे । कविता करनेका इन्हें इतना उत्तम अभ्यास था कि एक दिनमें ५०० श्लोक रच डालते थे । विजयपुरके नरेश कुन्तिभोजको इन्होंने अपनी काव्य-प्रतिभासे आश्चर्यान्वित किया था और इससे वह बड़ा प्रभावित हुआ था । पण्डित आशाधरजीने इन्हें 'यतिपति' जैसे विशेषणके साथ उल्लेखित किया है । इन सब बातोंसे इनकी योग्यता और प्रभावका अच्छा आभास मिलता है ।

संभव है राजाकी विदुषी पुत्री और इनका आपसमें अनुराग हो गया हो और ये अपने पदसे च्युत हो गये हों; पर वे पीछे सम्हल गये थे और अपने कृत्यपर घृणा भी करने लगे थे । इस बातका कुछ स्पष्ट आभास उनकी इसी शासनचतुस्त्रिंशिकाके "यत्पापवासाद्दालोय" इत्यादि प्रथम पद्य और "इति हि मदन-कीर्तिश्चिन्तयन्नाऽऽत्मचित्ते" इत्यादि ३५वें पद्यसे होता है और जिसपरसे मालूम होता है कि वे कठोर तपका आचरण करते तथा अकेले विहार करते हुए इन्द्रियों और कथायोंकी उद्दाम प्रवृत्तियोंको कठोरतासे रोकनेमें उद्यत रहते थे और जीवमात्रके प्रति बन्धुत्वकी भावना रखते थे । तात्पर्य यह कि मदनकीर्ति अपने अन्तिम जीवनमें प्रायश्चित्तादि लेकर यथावत् मुनिपदमें स्थित हो गये थे और दंगम्बरी वृत्ति तथा भावनासे अपना समय यापन करते थे, ऐसा उक्त पद्योंसे मालूम होता है । उनका स्वर्गवास कब, कहाँ और किस अवस्थामें हुआ, इसको जाननेके लिये कोई साधन प्राप्त नहीं है । पर इतना जरूर कहा जा सकता है कि वे मुनि-अवस्थामें ही स्वर्गवासी हुए होंगे, गृहस्थ अवस्थामें नहीं; क्योंकि अपने कृत्यपर पश्चात्ताप करनेके बाद पूर्व-वत् मुनि होगये थे और उसी समय यह शासनचतुस्त्रिंशिका रची, ऐसा उसके अन्तःपरोक्षणपरसे प्रकट होता है ।

राजशेखरसूरिने कुछ घटा-बढ़ाकर उनका चरित्र चित्रण किया जान पड़ता है । प्रेमीजीने^१ भी उनके इस चित्रणपर अविश्वास प्रकट किया है और मदनकीर्तिसे सौ वर्ष बाद लिखा होनेसे 'घटनाको गहरा रंग देने' या 'तोड़े मरोड़े जाने' तथा 'कुछ तथ्य' होनेका सूचन किया है । जो हो, फिर भी उसके ऐतिहासिक तथ्यका मूल्यांकन होना चाहिए ।

१. जैनसाहित्य और इतिहास प० १३९ ।

इस रचनाके अलावा मदनकीर्तिकी ओर भी रचनाएँ हैं या नहीं, यह अज्ञात है। वर विजयपुर नरेश कुन्तिभोजके पूर्वजोंके सम्बन्धमें लिखा गया उनका परिचयग्रन्थ रहा है, जिसका उल्लेख राजशेखरने मदनकीर्ति-प्रबन्धमें किया है।

शासनचतुस्त्रिशिकामें उल्लिखित तीर्थ और उनका कुछ परिचय

इस शासनचतुस्त्रिशिकामें जिन तीर्थों एवं सात्तिशय दिगम्बर जिनविम्बोंका उल्लेख हुआ है वे २६ हैं। उनमें ८ तो सिद्ध-तीर्थ हैं और १८ अतिशयतीर्थ हैं। उनका यहाँ कुछ परिचय दिया जाता है।

सिद्ध-तीर्थ

जहाँसे कोई पवित्र आत्मा मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करता है उसे जैनधर्ममें सिद्धतीर्थ कहा गया है। इसमें यतिपति मदनकीर्तिने ऐसे ८ सिद्धतीर्थोंका सूचन किया है। वे ये हैं :—

१ कैलासगिरि, २ षोदनपुर, ३ सम्मेदशिखर (पार्श्वनाथहिल), ४ पावापुर, ५ गिरनार (ऊर्जयन्त-गिरि), ६ चम्पापुरी, ७ विपुलगिरि और ८ विन्ध्यागिरि।

१. कैलासगिरि

भारतीय धर्मोंमें विशेषतः जैनधर्ममें कैलासगिरिका बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। युगके आदिमें प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव (आदिनाथ)ने यहाँसे मुक्ति-लाभ प्राप्त किया था। उनके बादमें नागकुमार, बालि और महाबालि आदि मुनिवरोंने भी यहाँसे सिद्ध पद पाया था। जैसाकि विक्रमकी छठी शताब्दीके सुप्रसिद्ध विद्वानाचार्य पूज्यपाद (देवनान्द) की संस्कृत निर्वाणभक्तिसे और अज्ञातकर्तृक प्राकृत निर्वाणकाण्डसे प्रकट है:—

(क) कैलासशैलशिखरे परिनिर्वृतोऽसौ

शैलेसिभावमुपपद्य वृषो महात्मा ।—नि० भ०, श्लो० २२।

(ख) अट्टावयम्मि उसहो ।—नि० का० गा० नं० १।

गागकुमारमुण्डो बालि महाबालि चैव अज्जेया ।

अट्टावय-गिरिसिहरे णिब्वाणगया णमो तेसि ॥—नि० का०, १५।

मुनि उदयकीर्तिने भी अपनी 'अपभ्रंश निर्वाणभक्ति' में कैलासगिरिका और वहाँसे भगवान् ऋषभदेवके निर्वाणका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

(ग) कइलास-सिहरि सिहरि-रिसहनाहु,

जो सिद्धउ पयडमि धम्मलाहु।

यह ध्यान रहे कि अष्टापद इसी कैलासगिरिका दूसरा नाम है। जैनेतर इसे 'गौरीशङ्कर पहाड़' भी कहते हैं। भगवज्जिनसेनाचार्यके आदिपुराण तथा दूसरे दिगम्बर ग्रन्थोंमें इसकी बड़ी महिमा भाई गई है। श्वेताम्बर और जैनेतर सभी इसे अपना तीर्थ मानते हैं। इससे इसकी व्यापकता और महानता स्पष्ट है। किसी समय यहाँ भगवान् ऋषभदेवकी बड़ी ही मनोज्ञ और आकर्षक सात्तिशय सुवर्णमय दिगम्बर जिनमूर्ति

१. इसके रचयिता कौन हैं और यह कितनी प्राचीन रचना है? यह अभी अनिश्चित है फिर भी वह सात आठ-सौ वर्षसे कम प्राचीन नहीं मालूम होती।

प्रतिष्ठित थी, जिसका उल्लेख मदनकीर्तिने इस रचनाके प्रथम पद्यमें सबसे पहले और बड़े गौरवके साथ किया है और 'अद्य' शब्दका प्रयोग करके अपने समयमें उसका होना तथा देवोंद्वारा भी उसकी वन्दना किया जाना खासतौरसे सूचित किया है। मालूम नहीं, अब यह मूर्ति अथवा उसके चिह्नादि वहाँ मौजूद हैं या नहीं? पुरातत्वप्रेमियोंको इसकी खोज करनी चाहिए।

२. पोदनपुर

पोदनपुरकी स्थितिके सम्बन्धमें अनेक विद्वानोंने विचार किया है। डाक्टर जैकोबी विमलसूरिकृत 'पउमचरिय'के आधारसे पश्चिमोत्तरसीमाप्रान्तमें स्थित 'तक्षशिला'को पोदनपुर बतलाते हैं और डाक्टर गोविन्द पं हैदराबाद-बरारमें निजामाबाद जिलेके 'बोधन' नामक एक ग्रामको पोदनपुर कहते हैं। बा० कामताप्रसादजी जैनने इन दोनों मतोंकी समीक्षा करते हुए जैन और जैनेतर साहित्यकी साक्षी द्वारा प्रमाणित किया है^१ कि तक्षशिला पोदनपुरसे भिन्न पश्चिमोत्तरसीमाप्रान्तमें अवस्थित थी और पोदनपुर दक्षिणभारतमें गोदावरीके तटपर कहीं बसा हुआ था। भगवज्जिनसेनके परमशिष्य और विक्रमकी ९वीं शताब्दीके विद्वानाचार्य गुणभद्रने अपने उत्तरपुराणमें स्पष्ट लिखा है^२ कि 'भारतके दक्षिणमें सुरम्य (अश्मक) नामका एक बड़ा (महान्) देश है उसमें पोदनपुर नामक विशाल नगर है जो उस देशकी राजधानी है'। श्रीकामताप्रसादजीने यह भी बतलाया है कि जैन पुराणोंमें पोदनपुरको पोदन, पोदनापुर, पौदन और पौदन्य तथा बौद्धग्रन्थोंमें दक्षिणापथके अश्मक देशकी राजधानी पोतन या पोतलि एवं हिन्दूग्रन्थ भागवत-पुराणमें इक्ष्वाकुवंशीय राजाओंकी अश्मक देशकी राजधानी पौदन्य कहा गया है और वह प्राचीन समयमें एक विख्यात नगर रहा है।

जैन इतिहासमें पोदनपुरका उल्लेखनीय स्थान है। आदिपुराण आदि जैनग्रन्थों और अनेक शिलालेखोंमें^३ वर्णित है कि आदितीर्थङ्कर ऋषभदेवके दो पुत्र थे—भरत और बाहुबलि। ऋषभदेव जब संसारसे विरक्त हो दीक्षित हुए तो उन्होंने भरतको अयोध्याका और बाहुबलिको पोदनपुरका राज्य दिया और इस तरह भरत अयोध्याके और बाहुबलि पोदनपुरके राजा हुए। कालान्तरमें इन दोनों भाइयोंका युद्ध हुआ। युद्धमें बाहुबलिकी विजय हुई। परन्तु बाहुबलि संसारकी दशा देखकर राज्यको त्याग तपस्वी हो गये और कठोर तपकर पोदनपुरमें उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त करके निर्वाण-लाभ किया। बादकी सम्राट् भरतने अपने विजयी, अद्भुत त्यागी तथा अद्वितीय तपस्वी और इस युगमें सर्वप्रथम परमात्मपद एवं परिनिर्वृत्ति प्राप्त करनेवाले अपने इन आदर्श भाईकी यादगारमें पोदनपुरमें ५२५ धनुषप्रमाण उनकी शरीराकृतिके अनुरूप अनुपम मूर्ति स्थापित कराई, जो बड़ी ही मनोज्ञ और लोकविश्रुत हुई। तबसे पोदनपुर सिद्धतीर्थ और अतिशयतीर्थके रूपमें जैनसाहित्यमें विश्रुत है। आचार्य पूज्यपादने अपनी निर्वाणभक्तिमें उसका सिद्धतीर्थके रूपमें समुल्लेख किया है। यथा—

१. 'पोदनपुर और तक्षशिला' शीर्षक लेख, 'जैन एन्टीक्वेरी' भा० ४ कि० ३।

२. जम्बूविभूषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान् ।

सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरम् ॥

३. शिलालेख नं० ८५ आदि, जो विन्ध्यगिरिपर उत्कीर्ण हैं।—(शिल० सं० पृ० १६९)।

४. वह यह कि राज्य जैसे जघन्य स्वार्थके लिए भाई-भाई भी लड़ते हैं और एक दूसरेकी जानके दुश्मन बन जाते हैं।

(क) विन्ध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च ॥२९॥

X X X

ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः ।

स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन् ॥३०॥

‘निर्वाणकाण्ड’ और मुनि उदयकीतिकृत ‘अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति’में भी पौदनपुरके बाहुबली स्वामीकी अतिशय श्रद्धाके साथ वन्दना की गई है । यथा—

(ख) बाहुबलि तह वंदमि पौदनपुर हत्थिनापुरे वंदे ।

संतो कुंथु व अरिहो वाराणसीए सुपास पासं च ॥—गा० नं० २१ ।

(ग) बाहुबलिदेउ पोयणपुरंमि, हंडं वंदमि माहसु जम्मि जम्मि ।

ऐसा जान पड़ता है कि कितने ही समयके बाद बाहुबलिस्वामीकी उक्त मूर्तिके जीर्ण होजानेपर उसका उद्धारकार्य और उस जैसी उनकी नयी मूर्तियां वहाँ और भी प्रतिष्ठित होती रहीं हैं । मदनकीर्तिके समयमें भी पौदनपुरमें उनकी अतिशयपूर्ण विशाल मूर्ति विद्यमान थी, जिसकी सूचना उन्होंने पद्य दोमें ‘अद्यापि प्रतिभाति पौदनपुरे यो वन्द्यवन्द्यः स वै’ शब्दोंद्वारा की है और जिसका यह अतिशय था कि भव्योंको उनके चरणनखोंकी कान्तिमें अपने कितने ही आगे-पीछेके भव प्रतिभासित होते थे । मदनकीर्तिके प्रायः समकालीन अथवा कुछ पूर्ववर्ती कन्नडकवि पं० बोप्पणद्वारा लिखित एक शिलालेख नं० ८५ (२३४)में, जो ३२ पद्यात्मक कन्नड रचना है और जो विक्रम संवत् १२३७ (शक सं० ११०२)के लगभगका उत्कीर्ण है, चामुण्डरायद्वारा निर्मित दक्षिण गोमटेश्वरकी मूर्तिके निर्माणका इतिहास देते हुए बतलाया है कि चामुण्डरायको उक्त पौदनपुरके बाहुबलीकी मूर्तिके दर्शन करनेकी अभिलाषा हुई थी और उनके मरुने उसे कुक्कुड सपोंसे व्याप्त और धीहड़ बनसे आच्छादित होजानेसे उसका दर्शन होना अशक्य तथा अगम्य बतलाया था और तब उन्होंने जैनबिद्री (श्रवणबेलगोल)में उसी तरहकी उनकी मूर्ति बनवाकर अपनी दर्शनाभिलाषा पूर्ण की थी । अतः मदनकीर्तिकी उक्त सूचना विचारणीय है और विद्वानोंको इस विषयमें खोज करनी चाहिये ।

उपर्युक्त उल्लेखोंपरसे प्रकट है कि प्राचीन कालमें पौदनपुरके बाहुबलीका बड़ा माहात्म्य रहा है और इसलिये वह तीर्थक्षेत्रके रूपमें जैनसाहित्यमें खासकर दिगम्बर साहित्यमें उल्लिखित एवं मान्य है ।

३. सम्मेदशिखर

सम्मेदशिखर जैनोका सबसे बड़ा तीर्थ है और इसलिये उसे ‘तीर्थराज’ कहा जाता है । यहाँसे चार तीर्थङ्करों (ऋषभदेव, वामुपूज्य, अरिष्टनेमि और महावीर)को छोड़कर शेष २० तीर्थङ्करों और अगणित मुनियोंने सिद्ध-पद प्राप्त किया है । इसे जैनोंके दोनों सम्प्रदाय (दिगम्बर और श्वेताम्बर) समानरूपसे अपना पूज्य तीर्थ मानते हैं । पूज्यपाद देवन्दिने अपनी ‘संस्कृतनिर्वाणभक्ति’में लिखा है कि बीस तीर्थङ्करोंने यहाँसे परिनिर्वाणपद पाया है । यथा—

(क) शेषास्तु ते जिनवरा जित-मोहमल्ला ज्ञानार्क-भूरिकिरणैरवभास्य लोकान् ।

स्थानं परं निरवधारितसौख्यनिष्ठं सम्मेदपर्वतले समवापुरीशाः ॥२५॥

इसी तरह ‘प्राकृतनिर्वाणकाण्ड’ और मुनि उदयकीतिकृत ‘अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति’में भी सम्मेदपर्वतसे बीस जिनेन्द्रोंने निर्वाण प्राप्त करनेका उल्लेख है और जो निम्न प्रकार है—

(ख) वीसं तु जिणवरिदा अमरासुर-वंदिदा धुद-किलेसा ।

सम्मदे गिरिसिहरे निव्वाणगया णमो तेसिं ॥२॥—नि० का० ।

(ग) सम्मदे-महागिरि सिद्ध जे वि, हुं वंदउं वीस-जिणिद ते वि ।—अ० नि० भ० ।

इस तरह इस तीर्थका जैनधर्ममे बड़ा गौरवपूर्ण स्थान है। प्रतिवर्ष सहस्रों जैनी भाई इस सिद्ध-तीर्थकी वन्दनाके लिये जाते हैं। यह विहारप्रान्तके हजारीबाग जिलेमें ईसरी स्टेशनके, जिसका अब पारसनाथ नाम हो गया है, निकट है। इसे 'पारसनाथ हिल' (पार्श्वनाथका पहाड़) भी कहते हैं, जिसका कारण यह है कि पर्वतपर २३वें तीर्थकर भगवान् पार्श्वनाथका सबसे बड़ा और प्रमुख जिनमन्दिर बना हुआ है। और इसके कारण ही उक्त स्टेशनका नाम भी 'पारसनाथ' हो गया है। मदनकीर्तिने इस सिद्धक्षेत्रका उल्लेख पद्य ११ में किया है।

४. पावापुर

यहाँसे अन्तिम तीर्थकर वर्द्धमान-महावीरने निर्वाण प्राप्त किया है। अतएव पावापुर जैनसाहित्यमें सिद्धक्षेत्र माना जाता है। आचार्य पूज्यपादने लिखा है—

पावापुरस्य बहिरुन्नतभूमिदेशे पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये ।

श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूतपाप्मा ॥

—निर्वा० भ० २४ ।

निर्वाणकाण्ड और अपभ्रंश-निर्वाणभक्तिमें भी यही बतलाया है। यथा—

(क) पावाए णिव्बुदो महावीरो—नि० का० गा० १ ।

(ख) पावापुर वंदउं वड्डमाणु, जिणि महियलि पयडिउ विमलमाणु ।—अ० नि० भ० ।

यह पावापुर परम्परासे विहारप्रान्तमें माना जाता है जो पटनाके निकट है। गुणावासे १३ मीलकी दूरीपर है और वहाँ मोटर, ताँगे आदिसे जाते हैं। यहाँ कातिक बंदी अमावस्याको भगवान् महावीरके निर्वाण-दिवसोपलक्ष्यमें एक बड़ा मेला भरता है। यहाँ वीरजिनेन्द्रकी सातिक्षय मूर्ति रही है, जिसका मदनकीर्तिने पद्य १९में उल्लेख किया है। अब तो वहाँ चरणपादुका शेष रही है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि पुरातत्त्वविद् और ऐतिहासिक विद्वानोंने उत्तर प्रदेशमें कुशीनगरके पास पावानगर (फ़ाजिल नगर)को भगवान् महावीरकी निर्वाणभूमि माना एवं सिद्ध किया है^१। निर्वाण-दिवसपर यहाँ जनसमुदाय एकत्रित होता और निर्वाण दिवस मनाता है।

५. गिरनार (ऊर्जयन्तगिरि)

यहाँसे २२वें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमिने निर्वाण प्राप्त किया है और असंख्य ऋषि-मुनियोंने भी यहाँ तप करके सिद्धपद पाया है। अतएव यह सिद्धतीर्थ है। आचार्य पूज्यपादने कहा है कि जिन 'अरिष्टनेमिकी इन्द्रादि और जैनेतर साधुजन भी अपने कल्याणके लिये उपासना करते हैं उन अरिष्टनेमिने अष्टकर्मोंको वाशकर महान् ऊर्जयन्तगिरि—गिरनारसे मुक्तिपद प्राप्त किया।' यथा—

यत्प्राथर्यते शिवमयं त्रिबुधेश्वराद्यैः पाखण्डिभिश्च परमार्थ-गवेष-शीलैः ।

नष्टाऽष्ट-कर्म-समये तदरिष्टनेमिः सम्प्राप्तवान् क्षितिधरे बृहद्ऊर्जयन्ते ॥२३॥

१. 'पावा समीक्षा', 'प्राचीन पावा', 'पावाकी झाँकी' आदि पुस्तकें ।

निर्वाणकाण्डकार और अपभ्रंश निर्वाणभक्तिकारका भी यही कहना है—

(क) उज्जंते णेमिजिणो'—प्रा० नि० का० गा० १ ।

(ख) 'उज्जंतिमहागिरि सिद्धिपत्तु, सिरिनेमिनाहु जादवपवित्तु ।

इसके सिवाय इन दोनों ग्रन्थकारोंने यह भी लिखा है कि प्रद्युम्नकुमार, शम्भुकुमार, अनिरुद्धकुमार और सात सौ बहतर कोटि मुनियोंने भी इसी ऊर्जयन्तगिरि—गिरनारसे सिद्ध-पद प्राप्त किया है । यथा—

(क) णमसामि पज्जुण्णो संबुकुमारो तहेव अणिरुद्धो ।

बाहत्तरकोडीओ उज्जंते सत्तसया सिद्धा ॥—नि० का० ५ ।

(ख) अण्णे पुणु सामपज्जुण्णवेवि, अणिरुद्धसहिय हउं नवमि ते वि ।

अवरे पुणु सत्तसयाइ तित्थु, बाहत्तरिकोडिउ सिद्धपत्तु ॥—अप० नि० भ० ।

यह ऊर्जयन्तगिरि पाँच पहाड़ोंमें विभक्त है । पहले पहाड़की एक गुफामें राजुलकी मूर्ति है । राजुलने इसी पर्वतपर दीक्षा ली थी और तप किया था । राजुल तीर्थकर नेमिनाथकी पत्नी बननेवाली थी, पर नेमिनाथके एक निमित्तको लेकर दीक्षित होजानेपर उन्होंने भी दीक्षा ले ली थी और विवाह नहीं कराया था । दूसरे पहाड़से अनिरुद्धकुमार, तीसरेसे शम्भुकुमार, चौथेसे श्रीकृष्णजीके पुत्र प्रद्युम्नकुमार और पाँचवेंसे तीर्थकर नेमिनाथने निर्वाण प्राप्त किया था । इस सिद्धतीर्थकी जैनसमाजमें वही प्रतिष्ठा है जो सम्मदशिखरकी है । यह सौराष्ट्र (गुजरात)में जूनागढ़के निकट अवस्थित है । तलहटीमें धर्मशालाएँ भी बनी हुई हैं । मदनकीर्तिके पद्य २०के उल्लेखानुसार यहाँ श्रीनेमिनाथकी बड़ी मनोज्ञ और निराभरण मूर्ति रही, जो खास प्रभाव एवं अतिशयको लिये हुए थी । मालूम नहीं वह मूर्ति अब कहाँ गई, या खण्डित हो चुकी है, क्योंकि अब वहाँ चरणचिह्न ही पाये जाते हैं ।

६. चम्पापुर

बारहवें तीर्थकर वासुपूज्यका यह गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्षका स्थान है । अतएव यह सिद्धतीर्थ और अतिशय तीर्थ दोनों हैं । स्वामी पूज्यपादने लिखा है कि चम्पापुरमें वसुपूज्यसुत भगवान् वासुपूज्यने रागादि कर्मबन्धकी नाशकर सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त की है । यथा—

चम्पापुरे च वसुपूज्यसुतः सुधीमान् ।

सिद्धि परामुपगतो गतरागबन्धः ॥—सं० नि० भ० २२ ।

यही निर्वाणकाण्ड और अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिसमें कहा है—

(क) 'चंपाए वासुपुज्जजिणणाहो'—नि० का० १ ।

(ख) पुणु चपनयारि जिणु वासुपुज्ज, णिव्वाणपत्तु छंडेवि रज्जु ।—अ० नि० भ० ।

इस तरह चम्पापुरको जैनसाहित्यमें एक पूज्य तीर्थ माना गया है । इसके सिवाय, जैनग्रन्थोंमें चम्पापुरकी प्राचीन दस राजधानियोंमें भी गिनती की गई है और उसे एक समृद्ध नगर बतलाया गया है ।

यह चम्पापुर वर्तमानमें एक गाँवके रूपमें मौजूद है और भागलपुरसे ६ मीलकी दूरीपर है । मदनकीर्तिके उल्लेखानुसार यहाँ १२वें तीर्थकर वासुपूज्यकी अतिशयपूर्ण मूर्ति रही है, जिसकी देव-मनुष्यादि पुष्प-निचयसे बड़ी भक्ति पूजा करते थे । प्रतीत होता है कि चम्पापुरके पास जो मन्दरगिरि है उससे सटा हुआ

१. डा० जगदीशचन्द्रकृत 'जैनग्रन्थोंमें भौगोलिक सामग्री और भारतवर्षमें जैनधर्मका प्रचार' शीर्षक लेख, प्रेमी-अभिनन्दनग्रन्थ पृष्ठ २५४ ।

एक तालाब है। इस तालाबके कमल ही मदनकीतिको पद्य २१ में उल्लिखित पुष्पनिचय विवक्षित हुए हैं—
उनसे भक्तजन उनकी पूजा करते होंगे।

७. विपुलगिरि

राजसूहके निकट विपुलगिरि, वैभागिरि, कुण्डलगिरि अथवा पाण्डुकगिरि; ऋषिगिरि और बलाहक-गिरि ये पाँच पहाड़ स्थित हैं। बौद्ध-ग्रन्थोंमें इनके वेपुल्ल, वेभार, पाण्डव, इसिगिलि और गिज्जकूट ये नाम पाये जाते हैं। इन पाँच पहाड़ोंका जैनग्रन्थोंमें विशेष महत्त्व वर्णित है। इनपर अनेक ऋषि-मुनियोंने तपश्चर्या कर मोक्ष-साधन किया है। आचार्य पूज्यपादने इन्हें सिद्धक्षेत्र बतलाया है और लिखा है कि इन पहाड़ोंसे अनेक साधुओंने कर्म-मल नशाकर सुगति प्राप्त की है। यथा—

द्रोणीमति प्रवरकुण्डल-मेढ्रके च

वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।

ऋष्यद्रिके च विपलाद्रि-बलाहके च

* * *

ये साधवो हृतमलाः सुगतिं प्रयाताः

स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन्।—नि० भ० २९, ३०।

इन पाँचोंमें 'विपुलगिरि'का तो और भी ज्यादा महत्त्व है; क्योंकि उसपर अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान-महावीरका अनेकवार समवशरण भी आया है और वहाँसे उन्होंने मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गका उपदेश किया है। मदनकीतिने पद्य ३०में यहाँके प्रभावपूर्ण जिनबिम्बका उल्लेख किया है। जान पड़ता है उसका अतिशय लोकविश्रुत था। सम्भव है जो विपुलगिरिपर प्राचीन जिनमन्दिर बना हुआ है और जो आज खण्डहरके रूपमें वहाँ मौजूद है उसीमें उल्लिखित जिनबिम्ब रहा होगा। अब यह खण्डहर स्वैताम्बरसमाजके अधिकार-में है। इसकी खुदाई होनेपर जैन पुरातत्त्वकी पर्याप्त सामग्री मिलनेकी सम्भावना है।

८. विन्ध्यगिरि

आचार्य पूज्यपादने 'विन्ध्यगिरि'को सिद्धक्षेत्र कहा है और वहाँसे अनेक साधुओंके मोक्ष प्राप्त करनेका समुल्लेख किया है। यह विन्ध्यगिरि विन्ध्याचल जान पड़ता है जो मध्यप्रान्तमें रेवा (नर्मदा) के किनारे-किनारे बहुत दूर तक पाया जाता है और जिसकी कुछ छोटी-छोटी पहाड़ियाँ आस-पास अवस्थित हैं। मदनकीतिने पद्य ३२ में इसी विन्ध्यगिरि अथवा विन्ध्याचलके जिनमन्दिरोंका, निर्देश किया प्रतीत होता है। झाँसीके पास एक देवगढ़ नामक स्थान है जो एक सुन्दर पहाड़ीपर स्थित है। वहाँ विक्रमकी १०वीं शताब्दीके आस-पास बहुत मन्दिर बने हैं।^२ ये मन्दिर शिल्पकला तथा प्राचीन कारीगरीकी दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं। भारत सरकारके पुरातत्त्वविभागको यहाँसे २०० के लगभग शिलालेख प्राप्त हुए हैं। उनमें ६० पर तो समय भी अङ्कित है। सबसे पुराना लेख वि० सं० ९१९ का है और अर्वाचीन सं० १८७६ का है। यह भी हो सकता है कि पूज्यपाद और मदनकीतिने जिस विन्ध्यगिरिकी सूचना की है वह मैसूर प्रान्तके हासन जिलेके वेन्नरायपाटन तालुकेमें पायी जानेवाली विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि नामकी दो सुन्दर पहाड़ियोंसे पहली पहाड़ी विन्ध्यगिरि हो।^३ यह पहाड़ी 'दोड्डबेट्ट' अर्थात् बड़ी पहाड़ीके नामसे प्रसिद्ध है। इसपर

१. 'विन्ध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च'—नि० भ०।

२. कल्याणकुमार शशिकृत 'देवगढ़' नामक पुस्तककी प्रस्तावना।

३. जैनशिलालेखसंग्रह प्रस्तावना पृ० २।

आठ जिनमन्दिर बने हुए हैं। गोम्मटेश्वरकी संसारप्रसिद्ध विशाल मूर्ति इसीपर उत्कीर्ण है, जिसे चामुण्डराय-ने विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीमें निर्मित कराया था। अतएव इस प्रसिद्ध मूर्तिके कारण पर्वतपर और भी कितने ही जिनमन्दिर बनवाये गये होंगे और इसलिए उनका भी प्रस्तुत रचनामें उल्लेख सम्भव है। यह पहाड़ी अनेक साधु-महात्माओंकी तपःभूमि रही है। अतः विन्ध्यगिरि सिद्धतीर्थ तथा अतिशयतीर्थ दोनों हैं।

अतिशयतीर्थ

मदनकीर्तिद्वारा उल्लिखित १८ अतिशयतीर्थों अथवा सातिसय जिनबिम्बोंका भी यहाँ कुछ परिचय दिया जाता है।

श्रीपुर-पार्श्वनाथ

जैन साहित्यमें श्रीपुरके श्रीपार्श्वनाथका बड़ा माहात्म्य और अतिशय बतलाया गया है और उस स्थानको एक पवित्र तथा प्रसिद्ध अतिशयतीर्थके रूपमें उल्लेखित किया गया है। निर्वाणकाण्डमें जिन अतिशय-तीर्थोंका उल्लेख है उनमें 'श्रीपुर' का भी निर्देश है और वहाँके पार्श्वनाथकी वन्दना की गई है।^१ मुनि उदयकीर्तिने भी अपनी अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिमें श्रीपुरके पार्श्वनाथका अतिशय प्रदर्शित करते हुए उनकी वन्दना की है।^२ मदनकीर्तिसे कोई सौ-वर्ष बाद होनेवाले स्वैताम्बर विद्वान् जिनप्रभसूरिने भी अपने 'विविध तीर्थकल्प'में एक 'श्रीपुर-अन्तरिक्ष पार्श्वनाथकल्प' दिया है और उसमें इस अतिशयतीर्थका वर्णन करते हुए उसके सम्बन्धमें एक कथाको भी निबद्ध किया है।^३ कथाका सारांश यह है कि 'लङ्काधीश दशग्रीवने माली सुमाली नामके अपने दो सेवकोंको कहीं भेजा। वे विमानमें बैठे हुए आकाशमार्गसे जा रहे थे कि जाते-जाते भोजनका समय हो गया। सुमालीको ध्यान आया कि जिनेन्द्र प्रतिमाको घर भूल आये और बिना देवपूजाके भोजन नहीं कर सकते। उन्होंने विद्याबलसे पवित्र बालूद्वारा भाविजिन श्रीपार्श्वनाथकी नवीन प्रतिमा बनाई। दोनोंने उसकी पूजा की और फिर भोजन किया। पश्चात् उस प्रतिमाको निकटवर्ती तालाबमें विराजमानकर आकाशमार्गसे चले गये। वह प्रतिमा शासनदेवताके प्रभावसे तालाबमें अखण्डितरूपमें बनी रही। कालान्तरमें उस तालाबका पानी कम हो गया और सिर्फ उसी गड्ढेमें रह गया जहाँ वह प्रतिमा स्थित थी। किसी समय एक श्रीपाल नामका राजा, जिसे भारी कोढ़ था, चूमता हुआ वहाँ पहुँचा और पहुँचकर उस पानीसे अपना हाथ मुँह धोकर अपनी पिपासा शान्त की। जब वह घर लौटा, तो उसकी रानीने उसके हाथ-मुँहको कोढ़रहित देखकर पुनः उसी पानीसे स्नान करनेके लिए राजासे कहा। राजाने वैसा किया और उसका सर्व कोढ़ दूर हो गया। रानीको देवताद्वारा स्वप्नमें इसका कारण मालूम हुआ कि वहाँ पार्श्वजिनकी प्रतिमा विराजमान है और उसको प्रभावसे यह सब हुआ है। फिर वह प्रतिमा अन्तरिक्षमें स्थित हो गई। राजाने वहाँ अपने नामाङ्कित श्रीपुरनगरको बसाया। अनेक महोत्सवोंके साथ उस प्रतिमाकी वहाँ प्रतिष्ठा की गई। तीनों काल उसकी पूजा हुई। आज भी वह प्रतिमा उसी तरह अन्तरिक्षमें स्थित है। पहले वह प्रतिमा इतने अधर थी कि उसके नीचेसे शिरपर घड़ा रखे हुए स्त्री निकल जाती थी, परन्तु कालवश अथवा भूमिरचनावश या मिथ्यात्वादिसे दूषित कालके प्रभावसे अब वह प्रतिमा इतने नीचे

१. यथा—'पासं सिरपुरि वंदमि'.....'—निर्वाणका०।

२. यथा—'अरु वंदउं सिरपुरि पासनाहु,
जो अंतरिक्षि छइ पाणलाहु।

३. सिंधी ग्रन्थमालासे प्रकाशित 'विविधतीर्थकल्प' पृ० १०२।

हो गई कि एक चादर (धागा ?)का अन्तर रह गया है । इस प्रतिमाके अभिषेक जलसे दाद, खाज, कोढ़ आदि रोग शान्त होते हैं ।” लगभग यही कथा मुनि श्रीशीलविजयजीने अपनी ‘तीर्थमाला’में दी है और श्रीपुरके पार्श्वनाथका लोकविश्रुत प्रभाव प्रदर्शित किया है । मुनिजीने विक्रम सं० १७३१-३२ में दक्षिणके प्रायः समस्त तीर्थोंकी वन्दना की थी, उसीका उक्त पुस्तकमें वर्णन निबद्ध है ।^१ यद्यपि उक्त कथाओंका ऐतिहासिक आधार तथ्यभूत है अथवा नहीं, इसका निर्णय करना कठिन है फिर भी इतना अवश्य है कि उक्त कथाएँ एक अनुश्रुति हैं और काफी पुरानी हैं । कोई आश्चर्य नहीं कि उक्त प्रतिमाके अभिषेकजलको शरीरमें लगानेसे दाद, खाज और कोढ़ जैसे रोग अवश्य नष्ट होते होंगे और इसी कारण उक्त प्रतिमाका अतिशय लोकमें दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गया होगा । विक्रमकी नवमी शताब्दीके प्रखर तार्किक आचार्य विद्यानन्द जैसे विद्वानाचार्य भी श्रीपुरके पार्श्वनाथकी महिमासे प्रभावित हुए हैं और उनका स्तवन करनेमें प्रवृत्त हुए हैं । अर्थात् श्रीपुरके पार्श्वनाथको लक्ष्यकर उन्होंने भक्तिपूर्ण ‘श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र’की रचना की है । गङ्गनरेश श्रीपुरुषके द्वारा श्रीपुरके जैनमन्दिरके लिए दान दिये जानेका उल्लेख करनेवाला ई० सन् ७७६ का एक ताम्रपत्र भी मिला है ।^२ इन सब बातोंसे श्रीपुरके पार्श्वनाथका ऐतिहासिक महत्त्व और प्रभाव स्पष्टतया जान पड़ता है ।

अब विचारणीय यह है कि यह श्रीपुर कहाँ है—उसका अवस्थान किस प्रान्तमें है ?

प्रेमीजीका अनुमान है^३ कि धारवाड़ जिलेका जो शिरूर गाँव है और जहाँसे शक सं० ७८७का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है तथा जो इण्डियन ए. भाग १२ पृ० २१६में प्रकाशित हो चुका है, वही प्रस्तुत श्री-पुर है । कुछ पाश्चात्य विद्वान् लेखकोंने वेसिङ्ग जिलेके ‘सिरपुर’ स्थानको एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ बतलाया है और वहाँ प्राचीन पार्श्वनाथका मन्दिर होनेकी सूचनाएँ की हैं । गङ्गनरेश श्रीपुरुष (ई० ७७६) और आचार्य विद्यानन्द (ई० ७७५-८४०)को^४ इष्ट श्रीपुर ही प्रस्तुत श्रीपुर जान पड़ता है और जो मंसूर प्रान्तमें कहीं होना चाहिए, ऐसा भी हमारा अनुमान है ।^५ विद्वानोंको उसकी पूरी खोज करके ठीक स्थितिपर पूरा प्रकाश डालना चाहिये ।

मदनकीर्तिने इस तीर्थका उल्लेख पद्य ३ में किया है और उसका विशेष अतिशय ख्यापित किया है ।

हुलगिरि-शङ्खजिन

श्रीपुरके पार्श्वनाथकी तरह हुलगिरिके शङ्खजिनका भी अतिशय जैनसाहित्यमें प्रदर्शित किया गया है ।

इस तीर्थके सम्बन्धमें जो परिचय-ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें मदनकीर्तिकी प्रस्तुत शासनचतुस्त्रिशिका सबसे प्राचीन और प्रथम रचना है । इसके पद्य ४ में लिखा है कि—“प्राचीन समयमें एक धर्मात्मा व्यापारी गौनमें शङ्खोंको भरकर कहीं जा रहा था । रास्तेमें उसे हुलगिरिपर रात हो गई । वह वहीं बस गया । सुबह उठकर जब चलने लगा तो उसकी वह शङ्खोंकी गौन अचल हो गई—चल नहीं सकी । जब उससेसे

१. ‘जैनसाहित्य और इतिहास’ पृ० २२७ ।
२. जैनसि० भा०, भा० ४ किरण ३, पृ० १५८ ।
३. जैनसाहित्य और इतिहास पृ० २३७ ।
४. थाप्तपरीक्षा, प्रस्तावना, वीरसेवामन्दिर-संस्करण ।
५. डा० दरबारीलाल कोठिया, श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र, प्रस्तावना, वीरसेवामन्दिर-संस्करण ।

शङ्खजिन (पार्श्वनाथ) का आविर्भाव हुआ तो वह चल सकी । इस अतिशयके कारण हुलगिरि शङ्खजिनेन्द्रका तीर्थ माना जाने लगा । अर्थात् तबसे शङ्खजिनतीर्थ प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ ।” मदनकीर्तिसे एक शताब्दी बाद होनेवाले जिनप्रभसूरि अपने ‘विविधतीर्थकल्प’ गत ‘शङ्खपुर-पार्श्वनाथ’ नामक कल्पमें शङ्खजिनका परिचय देते हुए लिखते हैं कि “प्राचीन समयकी बात है कि नवमे प्रतिनारायण जरासन्ध अपनी सेनाको लेकर राजगृहसे नवमे नारायण कृष्णसे युद्ध करनेके लिये पश्चिम दिशाकी ओर गये । कृष्ण भी अपनी सेना लेकर द्वारकासे निकलकर उसके सम्मुख अपने देशकी सीमापर जा पहुँचे । वहाँ भगवान् अरिष्टनेमिने शङ्ख बजाया और शंखेश्वर नामका नगर बसाया । शङ्खकी आवाजकी सुनकर जरासन्ध क्षोभित हो गया और जरा नामकी कुलदेवताकी आराधना करके उसे कृष्णकी सेनामें भेज दिया । जराने कृष्णकी सारी सेनाको श्वास रोगसे पीड़ित कर दिया । जब कृष्णने अपनी सेनाका यह हाल देखा तो चिन्तातुर होकर अरिष्टनेमिसे पूछा कि ‘भगवन् ! मेरी यह सेना कैसे निरुपद्रव (रोगरहित) होगी और कैसे विजयश्री प्राप्त होगी ।’ तब भगवान्ने अवधिज्ञानसे जानकर कहा कि ‘भूमर्भमें नागजातिके देवोंद्वारा पूजित भाविजिन पार्श्वकी प्रतिमा स्थित है । यदि तुम उसकी पूजा-आराधना करो तो उससे तुम्हारी सारी सेना निरुपद्रव हो जायगी और विजयश्री भी मिलेगी ।’ इस बातको सुनकर कृष्णने सात मास और तीन दिन तक निराहार विधिसे नागेन्द्रकी उपासना की । नागेन्द्र प्रकट हुआ और उससे सबहुमान पार्श्वजिनेन्द्रकी प्रतिमा प्राप्त की । बड़े उत्सवके साथ उसकी अपने देवताके स्थानमें स्थापनाकर त्रिकाल पूजा की । उसके अभिषेकजलको सेनापर छिड़कते ही उसका वह सब श्वासरोगादि उपद्रव दूर हो गया और सेना लड़नेके समर्थ हो गई । जरासन्ध और कृष्ण दोनोंका युद्ध हुआ, युद्धमें जरासन्ध हार गया और कृष्णको विजयश्री प्राप्त हुई । इसके बाद वह प्रतिमा समस्त विघ्नोंको नाश करने और ऋद्धि-सिद्धियोंको पैदा करनेवाली हो गई । और उसे वहीं शङ्खपुरमें स्थापित कर दिया । कालान्तरमें वह प्रतिमा अन्तर्धान हो गई । फिर वह एक शङ्खकूपमें प्रकट हुई । वहाँ वह आज तक पूजी जाती है और लोगोंके विघ्नादिको दूर करती है । यवन राजा भी उसकी महिमा (अतिशय) का वर्णन करते हैं ।” मुनि शीलविजयजीने भी तीर्थमालामें एक कथा दी है जिसका आशय यह है कि ‘किसी यज्ञने श्रावकोंसे कहा कि नौ दिन तक एक शङ्खको फूलोंमें रखो और फिर दसवें दिन दर्शन करो । इसपर श्रावकोंने नौ दिन ऐसा ही किया और नवें दिन ही उसे देख लिया और तब उन्होंने शङ्खको प्रतिमारूपमें परिवर्तित पाया, परन्तु प्रतिमाके पैर शङ्खरूप ही रह गये, अर्थात् यह दशवें दिनकी निशानी रह गई । शङ्खमेंसे नेमिनाथ प्रभु प्रकट हुए और इस प्रकार वे ‘शङ्खपरमेश्वर’ कहलाये ।’ निर्वाणकाण्ड और अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिके रचयिताओंने भी होलागिरिके शङ्खदेवका उल्लेख करके उनकी वन्दना की है ।

यथा—

(क) ‘.....वंदमि होलागिरी संखदेवं पि ।’—नि० का० २४ ।

(ख) ‘होलागिरि संखुजिणेंदु देउ,

विज्ञणणरिंदु ण वि लद्ध छेउ ।’—अ० नि० भ० ।

यद्यपि अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिकारने विज्ञण (विन्ध्य ?) नरेन्द्रके द्वारा उनकी महिमाका पार न पा सकनेका भी उल्लेख किया है, पर उससे विशेष परिचय नहीं मिलता । ऊपरके परिचयोंमें भी प्रायः कुछ विभिन्नता है फिर भी इन सब उल्लेखों और परिचयोंसे इतना स्पष्ट है कि शङ्खजिन तीर्थ रहा है और जो

१. ‘विविधतीर्थकल्प’ पृ० ५२ ।

२. प्रेमोजी कृत ‘जैनसाहित्य और इतिहास’ (पृ० २३७) से उद्धृत ।

काफी प्रसिद्ध रहा है तथा जिनप्रभसूरिके उल्लेखानुसार वह यवन राजाओं द्वारा प्रशंसित और वर्णित भी रहा है। श्रीभानुकीर्तिने शङ्खदेवाण्डक^१, श्रीजयन्तविजयने शंखेश्वर महातीर्थ^२ और श्रीमणिलाल लालचन्दने शंखेश्वरपार्ष्वनाथ^३ जैसी स्वतन्त्र रचनाएँ भी शङ्खजिनपर लिखी हैं।

शङ्खजिनतीर्थकी अवस्थितिपर विचार करते हुए प्रेमीजीने लिखा है^४—

‘अतिशयक्षेत्रकाण्डमें “होलगिरि संखदेव पि” पाठ है, जिससे मालूम होता है कि होलगिरि नामक पर्वतपर शङ्खदेव या शंखेश्वर पार्ष्वनाथ नामका कोई तीर्थ है। मालूम नहीं, इस समय वह ज्ञात है या नहीं।’—

जैनसाहित्य और इतिहासको प्रस्तुत करते हुए अब उन्होंने उसमें लिखा है^५—

‘लक्ष्मेश्वर धारवाड़ जिलेमें मिरजके पटवर्धनकी जागीरका एक गाँव है। इसका प्राचीन नाम ‘पुलगेरे’ है। यहाँ ‘शङ्ख-वस्ति’ नामका एक विशाल जैनमन्दिर है जिसकी छत ३६ खम्भोंपर थमी हुई है। यात्री (मुनि शीलविजय) ने इसीको ‘शङ्ख-परमेश्वर’ कहा जान पड़ता है। इस शङ्ख-वस्तिमें छह शिलालेख प्राप्त हुए हैं। शक संवत् ६५६ के लेखके अनुसार चालुक्य-नरेश विक्रमादित्य (द्वितीय) ने पुलगेरेकी शंखतीर्थ-वस्तीका जीर्णोद्धार कराया और जिनपूजाके लिये भूमि दान की। इससे मालूम होता है कि उक्त वस्ति इससे भी प्राचीन है। हपारा (प्रेमीजीका) अनुमान है कि अतिशयक्षेत्रकाण्डमें कहे गये शंखदेवका स्थान यही है। जान पड़ता है कि लेखकोंकी अज्ञानतासे ‘पुलगेरे’ ही किसी तरह ‘होलगिरि’ हो गया है।’

मुनि शीलविजयजीने दक्षिणके तीर्थक्षेत्रोंकी पैदल वन्दना की थी और जिसका वर्णन उन्होंने ‘तीर्थ-माला’में किया है। वे धारवाड़ जिलेके बङ्कापुरको, जिसे राष्ट्रकूट महाराज अमोघवर्ष (८५१-६९) के सामन्त ‘बंकेय्येरस’ ने अपने नामसे बसाया था^६, देखते हुए इसी जिलेके लक्ष्मेश्वरपुर तीर्थ पहुँचे थे और वहाँके ‘शंखपरमेश्वर’की वन्दना की थी, जिनके बारेमें उन्होंने पूर्वोल्लिखित एक अनुश्रुति दी है। प्रेमीजीने इनके द्वारा वर्णित उक्त ‘लक्ष्मेश्वरपुर तीर्थ’ पर टिप्पण देते हुए ही अपना उक्त विचार उपस्थित किया है और पुलगेरेको शंखदेवका तीर्थ अनुमानित किया है तथा होलगिरिको पुलगेरेका लेखकोंद्वारा किया गया भ्रान्त उल्लेख बतलाया है।

पुलगेरेका होलगिरि या हुलगिरि अथवा होलगिरि हो जाना कोई असम्भव नहीं है। देशभेद और कालभेद तथा अपरिचितिके कारण उक्त प्रकारके प्रयोग बहुधा हो जाते हैं। मुनिसुवतनाथकी प्रतिमा जहाँ प्रकट हुई उस स्थानका तीन लेखकोंने तीन तरहसे उल्लेख किया है। निर्वाणकाण्डकार ‘अस्सारम्मे पट्टणि’ कहकर ‘आशारम्भ’ नामक नगरमें उसका प्रकट होना बतलाते हैं और अपभ्रंशनिर्वाणभक्तिकार मुनि उदयकीर्ति ‘आसरंमि’ लिखकर ‘आश्रम’में उसका आविर्भाव कहते हैं। मदनकीर्ति उसे ‘आश्रम’ वर्णित करते हैं और जिनप्रभसूरि आदि विद्वान् प्रतिष्ठानपुर मानते हैं। अतएव देशादि भेदसे यदि

१. माणिकचन्द्र ग्रन्थमालामें प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें सङ्कलित।

२. विजयवर्मसूरि-ग्रन्थमाला, उज्जैनसे प्रकाशित।

३. सस्तीवाचनमाला अहमदाबादसे मुद्रित।

४. सिद्धान्तसारादिसंग्रहकी प्रस्तावना पृ० २८ का फुटनोट।

५. ‘जैनसाहित्य और इतिहास’ पृ० २३६-२३७ का फुटनोट।

६. प्रेमीजी कृत ‘जैनसाहित्य और इतिहास’ पृ० २३६ का फुटनोट।

पुलगेरेका हुलगिरि या होलागिरि आदि बन गया हो तो आश्चर्यकी बात नहीं है। अतः जब तक कोई दूसरे स्पष्ट प्रमाण हुलगिरि या होलागिरिके अस्तित्वके साधक नहीं मिलते तब तक प्रेमीजीके उक्त विचार और अनुमानको ही मान्य करना उचित जान पड़ता है।

धारा-पार्वनाथ

धाराके पार्वनाथके सम्बन्धमें मदनकीर्तिके पद्य ५ के उल्लेखके सिवाय और कोई परिचायक उल्लेख अभी तक नहीं मिले और इस लिये उसके बारेमें इस समय विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

बृहत्पुर-बृहद्देव

मदनकीर्तिके पद्य ६ में बृहत्पुरके बृहद्देवकी ५७ हाथकी विशाल प्रस्तर मूर्तिका उल्लेख किया है, जिसे अर्ककीर्ति नामके राजाने बनवाया था। जान पड़ता है यह 'बृहत्पुर' बड़वानीजी है, जो उसीका अपभ्रंश (बिगड़ा हुआ) प्रयोग है और 'बृहद्देव' वहाँके मूलनायक आदिनाथका सूचक है। बड़वानीमें श्रीआदिनाथकी ५७ हाथकी विशाल प्रस्तर मूर्ति प्रसिद्ध है और जो बावनगजाके नामसे विख्यात है। बृहद्देव पुरुदेवका पर्यायवाची है और पुरुदेव आदिनाथका नामान्तर है। अतएव बृहत्पुरके बृहद्देवसे मदनकीर्तिको बड़वानीके श्रीआदिनाथके अतिशयका वर्णन करना विवक्षित मालूम होता है। इस तीर्थके बारेमें संक्षिप्त परिचय देते श्रीयुक्त पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने अपनी 'जैनधर्म' नामक पुस्तकके 'तीर्थक्षेत्र' प्रकरण (पृ० ३३५) में लिखा है :—

'बड़वानीसे ५ मील पहाड़पर जानेसे बड़वानी क्षेत्र मिलता है।.....क्षेत्रकी बन्दनाको जाते हुए सबसे पहले एक विशालकाय मूर्तिके दर्शन होते हैं। यह खड़ी हुई मूर्ति भगवान ऋषभदेवकी है, इसकी ऊँचाई ८४ फीट है। इसे बावनगजाजो भी कहते हैं। सं० १२२३ में इसके जीर्णोद्धार होनेका उल्लेख मिलता है। पहाड़पर २२ मन्दिर हैं। प्रतिवर्ष पौष सुदी ८ से १५ तक मेला होता है।'

बड़वानी मालवा प्रान्तका एक प्राचीन प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र है और जो इन्दौरके पास है। निर्वाणकाण्ड^१ और अपभ्रंश निर्वाणभक्ति^२के रचयिताओंने भी इस तीर्थका उल्लेख किया है।

जैनपुरके दक्षिण गोम्मटदेव

'जैनपुर' जैनबित्री व श्रवणवेलगोलाका प्राचीन नाम है। गङ्गनरेश राचमल्ल (ई० ९७४-९८४) के सेनापति और मन्त्री चामुण्डरायने वहाँ बाहुबलि स्वामीकी ५७ फीट ऊँची खड्गासन विशाल पाषाणमूर्ति बनवाई थी। यह मूर्ति एक हजार वर्षसे जाड़े, गर्मी और बरसातकी चोटोंको सहती हुई उसी तरह लाज भी वहाँ विद्यमान है और संसारकी प्रसिद्ध वस्तुओंमेंसे एक है। इस मूर्तिकी प्रशंसा करते हुए काका कालेलकरने अपने एक लेखमें लिखा है^३:—

'मूर्तिका सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कान्तिमान है। एक ही पत्थरसे निर्मित इतनी सुन्दर मूर्ति संसारमें और कहीं नहीं। इतनी बड़ी मूर्ति इतनी अधिक स्निग्ध है कि भक्तिके साथ कुछ प्रेमकी भी यह अधिकारिणी बनती है। धूप, हवा और पानीके प्रभावसे पीछेकी ओर ऊपरकी पपड़ी खिर पड़नेपर भी इस मूर्तिका लावण्य खण्डित नहीं हुआ है।'

१. नि० का० गाथा नं० १२।

२. अ० नि० भ० गाथा नं० ११।

३. जैनधर्म पृ० ३४२ से उद्धृत।

डाक्टर हीरालाल जैन लिखते हैं—‘यह नग्न, उत्तरमुख खड्गभासन मूर्ति समस्त संसारकी आश्चर्यकारी वस्तुओंमेंसे है ।.....एशिया खण्ड ही नहीं, समस्त भूतलका विचरण कर आइये, गोम्मटेश्वरकी तुलना करनेवाली मूर्ति आपको क्वचित् ही दृष्टिगोचर होगी । बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानोंके मस्तिष्क इस मूर्तिकी कारीगरीपर चक्कर खा गये हैं । इतने भारी और प्रबल पाषाणपर सिद्धहस्त कारीगरने जिस कौशलसे अपनी छैनी चलाई है उससे भारतके मूर्तिकारोंका मस्तक सदैव गर्वसे ऊँचा उठा रहेगा । यह सम्भव नहीं जान पड़ता कि ५७ फुटकी मूर्ति खोद निकालनेके योग्य पाषाण कहीं अन्यत्रसे लाकर इस ऊँची पहाड़ीपर प्रतिष्ठित किया जा सका होगा । इससे यही ठीक अनुमान होता है कि उसी स्थानपर किसी प्रकृतिदत्त स्तम्भाकार चट्टानको काटकर इस मूर्तिका आविष्कार किया गया है । कम-से-कम एक हजार वर्षसे यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृतिदेवीकी अमोघ शक्तियोंसे वार्ते कर रही है । पर अब तक उसमें किसी प्रकारकी थोड़ी भी क्षति नहीं हुई । मानो मूर्तिकारने उसे आज ही उद्धटित की हो ।’

इस मूर्तिके बारेमें मदनकीर्तिके पद्य ७ में लिखा है कि ‘पाँचसौ आदमियोंके द्वारा इस विशाल मूर्तिका निर्माण हुआ था और आज भी देवगण उसकी सर्वशेष पूजा करते हैं ।’ प्राकृत निर्वाणकाण्ड^३ और अपभ्रंश निर्वाणभक्ति^४में भी देवोंद्वारा उसकी पूजा होने तथा पुष्पवृष्टि (केशरकी वर्षा) करनेका उल्लेख है । इन सब वर्णनोंसे जैनपुरके दक्षिण गोम्मटदेवकी महिमा और प्रभावका अच्छा परिचय मिलता है ।

विश्वसेन नृपद्वारा निष्कासित शान्तिजिन

मदनकीर्ति और उदयकीर्तिके उल्लेखोंसे मालूम होता है कि विश्वसेन नामके किसी राजा द्वारा समुद्रसे श्रोशान्ति जिनेश्वरकी प्रतिमा निकाली गई थी, जिसका यह अतिशय था कि उसके प्रभावसे लोगोंके क्षुद्र उपद्रव दूर होते थे और लोगोंको बड़ा सुख मिलता था । यद्यपि मदनकीर्तिके पद्य ९के उल्लेखसे यह ज्ञात नहीं होता कि शान्तिजिनेश्वरकी उक्त प्रतिमा कहां प्रकट हुई ? पर उदयकीर्तिके निर्देशसे^५ विदित होता है कि वह प्रतिमा मालवतीमें प्रकट हुई थी । मालवती सम्भवतः मालवाका ही नाम है । अस्तु ।

पुष्पपुर-पुष्पदन्त

पुष्पपुर पटना (बिहार) का प्राचीन नाम है । संस्कृत साहित्यमें पटनाको पाटलिपुत्रके सिवाय कुसुमपुरके नामसे भी उल्लेखित किया गया है^६ । अतएव पुष्पपुर पटनाका ही नामान्तर जान पड़ता है । मदनकीर्तिके पद्य १२ के उल्लेखानुसार वहाँ श्रीपुष्पदन्त प्रभुकी सातिशय प्रतिमा भूगर्भसे निकली थी, जिसकी व्यन्तरदेवी द्वारा बड़ी भक्तिसे पूजा की जाती थी । मदनकीर्तिके इस सामान्य परिचयोत्प्रेषणके अलावा पुष्पपुरके श्रीपुष्पदन्तप्रभुके बारेमें अभीतक और कोई उल्लेख या परिचयादि प्राप्त नहीं हुआ ।

१. शिलालेखसंग्रह, प्रस्तावना पृ० १७-१८ ।
२. गोम्मटदेव वंदनि पंचसयं धणुह-देह-उच्चतं ।
देवा कुणति बुद्धी केसर-कुसुमाण तस्स उवरिम्मि ॥२५॥
३. बंदिज्जइ गोम्मटदेउ तित्थु, जमु अणु-दिण षणवई सुरहं सत्थु ।
४. मालव संति वंदउ पवित्तु, विससेणराय कड्डिउ निरुत्तु ॥
५. ‘विविधतीर्थकल्प’ गत ‘पाटलिपुत्रनगरकल्प’ पृ० ६८ ।

नागद्रह-नागहृदयेश्वर

विविधतीर्थकल्पमें चौरासी तीर्थोंके नामोंको गिनाते हुए उसके कर्ता जिनप्रभसूरिने नागद्रह अथवा नागहृदयमें श्रीनागहृदयेश्वर (पार्श्वनाथ) तीर्थका निर्देश किया है^१। प्राकृतनिर्वाणकाण्डकार^२ तथा उदयकीर्तिने भी नागद्रहमें श्रीपार्श्वस्वयम्सुदेवकी वन्दना की है^३। इस तीर्थके उपलब्ध उल्लेखोंमें मदनकीर्तिका पद्य १३ गत उल्लेख प्राचीन है और कुछ सामान्य परिचयको भी लिये हुए है। इस परिचयमें उन्होंने लिखा है कि श्रीनागहृदयेश्वर जिन कोढ़ आदि अनेक प्रकारके रोगों तथा अनिष्टोंको दूर करनेसे लोगोंके विशेष उपास्य थे और उनका यह अतिशय लोकमें प्रसिद्धिको प्राप्त था। इससे प्रकट है कि यह तीर्थ आजसे आठसौ वर्ष पहलेका है। 'नागद्रह' नागदाका प्राचीन नाम मालूम होता है। जो हो।

पश्चिमसमुद्रतटस्थ चन्द्रप्रभ

मदनकीर्तिने पद्य १६ में पश्चिम समुद्रतटके जिन चन्द्रप्रभ प्रभुका अतिशय एवं प्रभाव वर्णित किया है उनका स्थान कहाँ है? उदयकीर्तिने उन्हें पश्चिम समुद्रपर स्थित तिलकापुरीमें बतलाया है^४। यह तिलकापुरी सम्भवतः सिन्ध और कच्छके आस-पास कहीं रही होगी। अपने समयमें यह तीर्थ काफी प्रसिद्ध रहा प्रतीत होता है।

छाया-पार्श्वप्रभु

इस तीर्थका मुनि मदनकीर्ति, जिनप्रभसूरि और मानवसंहिताकार शान्तिविजय इन तीन विद्वानोंने उल्लेख किया है। मदनकीर्तिने पद्य १७ के द्वारा उसे सिद्धशिलापर और जिनप्रभसूरि^५ तथा शान्तिविजयने^६ माहेन्द्र पर्वत और हिमालय पर्वतपर बतलाया है। आश्चर्य नहीं मदनकीर्तिको सिद्धशिलासे माहेन्द्रपर्वत अथवा हिमालय ही विवक्षित हो। यदि ऐसा हो तो कहना होगा कि माहेन्द्रपर्वत अथवा हिमालयपर कहीं यह तीर्थ रहा है और वह छायापार्श्वनाथतीर्थके नामसे प्रसिद्ध था। मालूम नहीं, अब उसका कोई अस्तित्व है अथवा नहीं?

आश्रम-नगर-मुनिसुव्रतजिन

मुनि मदनकीर्तिके पद्य २८ गत उल्लेखानुसार आश्रममें, प्राकृतनिर्वाणकाण्डकारके^७ कथनानुसार आशारम्यनगरमें, मुनि उदयकीर्तिके^८ उल्लेखानुसार आश्रममें और जिनप्रभसूरि^९, मुनि शीलविजय^{१०} तथा शान्तिविजयके^{११} वर्णनानुसार प्रतिष्ठानपुर^{१२}में गोदावरी (बाणगङ्गा) के किनारे एक शिलापर प्राचीन समयमें

१. 'कलिकुण्डे नागहृदे च श्रीपार्श्वनाथः।'—विविधतीर्थकल्प पृ० ८६।
२. प्रा० नि० का० गाथा २०।
३. 'नायद्दह पासु सयंभुदेउ, हउं वंदउं जसु गुण णत्थि छेव।'।
४. 'पश्चिमसमुद्रससि-संख-वण्णु, तिलयापुरि चंदप्पहवण्णु।'।
५. 'माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथः।'—हिमाचले छायापार्श्वी मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिगः।—विविधतीर्थकल्प पृ० ८६।
६. 'माहेन्द्रपर्वतमें छायापार्श्वनाथका तीर्थ है। हिमालय पर्वतमें छाया पार्श्वनाथ मन्त्राधिराज और स्फुलिग पार्श्वनाथका तीर्थ है।'—मानवधर्मसंहिता पृ० ५९९-६०० (वि० सं० १९५५ में प्रकाशित संस्करण)।
७. प्रा० नि० का० गाथा २०। ८ अपभ्रंशनिर्वाणभक्ति गा० ६। ९ विविधतीर्थकल्प पृ० ५९। १० तीर्थमाला। ११ मानवधर्मसंहिता, पृ० ५९९। १२ प्रेमोजीने लिखा है कि इसका वर्तमान नाम पैठण है, जो हैदराबादके औरंगाबाद जिलेकी एक तहसील है—(जैन सा० और इति० पृ० २३८ का फुटनोट)।

श्रीमुनिमुद्रतस्वामीकी प्रतिमा प्रकट हुई, जिसका अतिशय लोकमें खूब फैला और तबसे यह तीर्थ प्रसिद्धिमें आया। उक्त विद्वानोंके लेखों और वर्णनोंसे स्पष्ट है कि विक्रमकी १३वीं, १४वीं शताब्दीमें यह एक बड़ा तीर्थ माना जाता था। और वि० की १८वीं शताब्दी तक प्रसिद्ध रहा तथा यात्री उसकी वन्दनाके लिये जाते रहे हैं। विशेषके लिए इसी ग्रन्थमें प्रकाशित द्रव्यसंग्रहकी प्रस्तावना दृष्टव्य है।

मेवाड़देशस्थ नागफणी-मल्लिजिनेश्वर

मदनकीर्तिके पद्य ३३ के उल्लेखसे मालूम होता है कि मेवाड़के नागफणी गाँवमें खेतको जोतते हुए एक आदमीको शिला मिली। उस शिलापर श्रीमल्लिजिनेश्वरकी प्रतिमा प्रकट हुई और वहाँ जितमन्दिर बनवाया गया। जान पड़ता है कि उसी समयसे यह स्थान एक पवित्र क्षेत्रके रूपमें प्रसिद्धिमें आया और तीर्थ माना जाने लगा। यद्यपि यह तीर्थ कबसे प्रारम्भ हुआ, यह बतलाना कठिन है फिर भी यह कहा जा सकता है कि वह सातसौ-साढ़े सातसौ वर्ष प्राचीन तो अवश्य है।

मालवदेशस्थ मङ्गलपुर-अभिनन्दनजिन

मालवाके मङ्गलपुरके श्रीअभिनन्दनजिनके जिस अतिशय और प्रभावका उल्लेख मदनकीर्तिने पद्य ३४ में किया है उसका जिनप्रभसूरिने भी अपने 'विविधतीर्थकल्प' गत 'अवन्तिदेशस्थ-अभिनन्दनदेवकल्प' नामके कल्प (पृ० ५७) में निर्देश किया है और साथमें एक कथा भी दी है। उस कथाका सार यह है कि भ्लेच्छोंने अभिनन्दनदेवकी मूर्तिको तोड़ दिया लेकिन वह जुड़ गई और एक बड़ा अतिशय प्रगट हुआ। सम्भवतः इसी अतिशयके कारण प्राकृतनिर्वाणकाण्ड^१ और अपभ्रंश निर्वाणभवित^२में उसकी वन्दना की गई है। अतएव इन सब उल्लेखादिकोंसे ज्ञात होता है कि मालवाके मङ्गलपुरके अभिनन्दनदेवकी महिमा लोक-विश्रुत रही है और वह एक पवित्र अतिशयतीर्थ रहा है। यह तीर्थ भी आठ-सौ वर्षसे कम प्राचीन नहीं है।

इस तरह इस संक्षिप्त स्थानपर हमने कुछ ज्ञात अतिशय तीर्थों और सातिशय जिनबिम्बोंका कुछ परिचय देनेका प्रयत्न किया है। जिन अतिशय तीर्थों अथवा सातिशय जिनबिम्बोंका हमें परिचय मालूम नहीं हो सका उन्हें यहाँ छोड़ दिया गया है। आशा है पुरातत्त्वप्रेमी उन्हें खोजकर उनके स्थानादिका परिचय देंगे।



१. 'पासं तद् अहिणंदण णापद्दहि मंगलाउरे वंदे ।'—गाथा २० ।

२. 'मंगलवृरि वंदउं जगपयासु, अहिणंदणु ज्जिणु गुणगणणिवासु ।'

‘संजद’ पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत

‘संजद’ पदका विवाद

षट्खण्डागमके ९३वें सूत्रमें ‘संजद’ पद होना चाहिये या नहीं, इस विषयमें काफी समयसे चर्चा चल रही है। कुछ विद्वानोंका मत है कि ‘यहाँ द्रव्यस्त्रीका प्रकरण है और ग्रन्थके पूर्वापर सम्बन्धको लेकर बराबर विचार किया जाता है तो उसकी (‘संजद’ पदकी) यहाँ स्थिति नहीं ठहरती।’ अतः षट्खण्डागमके ९३वें सूत्रमें ‘संजद’ पद नहीं होना चाहिये। इसके विपरीत दूसरे कुछ विद्वानोंका कहना है कि यहाँ (सूत्रमें) सामान्यस्त्रीका ग्रहण है और ग्रन्थके पूर्वापर सन्दर्भ तथा वीरसेनस्वामीकी टीकाका सूक्ष्म समीक्षण किया जाता है तो उक्त सूत्रमें ‘संजद’ पदकी स्थिति आवश्यक प्रतीत होती है। अतः यहाँ भाववेदकी अपेक्षासे ‘संजद’ पदका ग्रहण समझना चाहिये। प्रथम पक्षके समर्थक पं० मन्मथलालजी मोरेना, पं० रामप्रसादजी शास्त्री बम्बई, श्री १०५ क्षुल्लक सूरिसिंहजी और पं० तनसुखलालजी काला आदि विद्वान् हैं। दूसरे पक्षके समर्थक पं० बंशीधरजी इन्दौर, पं० खूबचन्दजी शास्त्री बम्बई, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री बनारस, पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री बनारस और पं० पन्नालालजी सोनी व्यावर आदि विद्वान् हैं। ये सभी विद्वान् जैन-समाजके प्रतिनिधि विद्वान् हैं। अतएव उक्त पदके निर्णयार्थ अभी हालमें बम्बई पंचायतकी ओरसे इन विद्वानोंको निर्मात्रित किया गया था। परन्तु अभी तक कोई एक निर्णयात्मक नतीजा सामने नहीं आया। दोनों ही पक्षके विद्वान् युक्तिबल, ग्रन्थसन्दर्भ और वीरसेनस्वामीकी टीकाको ही अपने अपने पक्षके समर्थनार्थ प्रस्तुत करते हैं।

पर जहाँ तक मुझे मालूम है षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रोंके भावको बतलाने वाला वीरसेनस्वामीसे पूर्ववर्ती कोई शास्त्रीय प्रमाणोल्लेख किसीकी ओरसे प्रस्तुत नहीं किया गया है। यदि वीरसेनस्वामीसे पहले षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी सूत्रोंका स्पष्ट अर्थ बतलानेवाला कोई शास्त्रीय प्रमाणोल्लेख मिल जाता है तो उक्त सूत्रमें ‘संजद’ पदकी स्थिति या अस्थितिका पता चल जावेगा और फिर विद्वानोंके सामने एक निर्णय आ जाएगा।

अकलंकदेवका अभिमत

अकलङ्कदेवका तत्त्वार्थवार्तिक वस्तुतः एक महान् सद्रत्नाकर है। जैनदर्शन और जैनागम विषयका बहुविध और प्रामाणिक अभ्यास करनेके लिये केवल उसीका अध्ययन पर्याप्त है। अभी मैं एक विशेष प्रश्नका उत्तर ढूँढनेके लिए उसे देख रहा था। देखते हुए मुझे वहाँ ‘संजद’ पदके सम्बन्धमें बहुत ही स्पष्ट और महत्त्वपूर्ण खुलासा मिला है। अकलङ्कदेवने षट्खण्डागमके इस प्रकरण-सम्बन्धी समग्र सूत्रोंका वहाँ प्रायः अविकल अनुवाद दिया है। इसे देख लेनेपर किसी भी पाठकको षट्खण्डागमके इस प्रकरणके सूत्रोंके अर्थमें जरा भी सन्देह नहीं रह सकता। यह सर्वविदित है कि अकलङ्कदेव वीरसेन स्वामीसे पूर्ववर्ती हैं और उन्होंने अपनी धवला तथा जयधवला दोनों टीकाओंमें अकलङ्कदेवके तत्त्वार्थवार्तिकके प्रमाणोल्लेखोंसे अपने

वर्णित विषयोंको कई जगह प्रमाणित किया है। अतः तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमके इस प्रकरण-संबन्धी सूत्रोंका जो खुलासा किया गया है वह सर्वके द्वारा मान्य होगा ही।

तत्त्वार्थवार्तिकके उद्धरण

मनुष्यगतौ मनुष्येषु पर्याप्तिकेषु चतुर्दशापि गुणस्थानानि भवन्ति, अपर्याप्तिकेषु त्रीणि मिथ्यादृष्टि-सासादनसम्पद्दृष्टश्चसंयतसम्पद्दृष्ट्याख्यानि । मानुषोपर्याप्तिकासु चतुर्दशापि गुणस्थानानि सन्ति भावल्लिङ्गापेक्षया, द्रव्यलिङ्गापेक्षेण तु पंचाद्यानि । अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्पदत्वेन सह स्त्रीजननाभावात् ।—तत्त्वार्थवार्तिक, पृ० ३३१, अ० ९, सू० ७ ।

इसे षट्खण्डागमके निम्न सूत्रोंके साथ पढ़ें—

षट्खण्डागमके सूत्र

मणुस्सा मिच्छाइद्वि-सासणसम्माइद्वि असंजदसम्माइद्वि-ट्टाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥ ८९ ॥

सम्मामिच्छाइद्वि-संजदासजद-संजद-ट्टाणे णियमा पज्जत्ता ॥ ९० ॥

एवं मणुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥

मणुसिणोसु मिच्छाइद्वि-सासणसम्माइद्वि-ट्टाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥

सम्मामिच्छाइद्वि-असंजदसम्माइद्वि-संजदासंजद-संजदट्टाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥

षट्खण्डागम और तत्त्वार्थवार्तिकके इन दोनों उद्धरणोंपरसे पाठक यह सहजमें समझ जावेंगे कि तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमका ही भावानुवाद दिया हुआ है और सूत्रोंमें जहाँ कुछ भ्रान्ति हो सकती थी उसे दूर करते हुए सूत्रोंके हार्दका सुस्पष्ट शब्दों द्वारा खुलासा कर दिया गया है। राजवार्तिकके उपर्युक्त उल्लेखमें यह स्पष्टतया बतला दिया गया है कि पर्याप्त मनुष्यणियोंके १४ गुणस्थान होते हैं किन्तु वे भार्वाल्लिङ्गकी अपेक्षासे हैं, द्रव्यलिङ्गकी अपेक्षासे तो उनके आदिके पाँच ही गुणस्थान होते हैं। इससे प्रकट है कि वीरसेनस्वामीने जो भावस्त्रीकी अपेक्षा १४ गुणस्थान और द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षा ५ गुणस्थान षट्खण्डागमके ९३ वें सूत्रकी टीकामें व्याख्यात किये हैं और जिन्हें ऊपर अकलंकदेवने भी बतलाये हैं वह बहुत प्राचीन मान्यता है और वह सूत्रकारके लिये भी इष्ट है। अतएव सूत्र ९२ वें में उन्होंने अपर्याप्त स्त्रियोंमें सिर्फ दो ही गुणस्थानोंका प्रतिपादन किया है और जिसका उपपादन 'अपर्याप्तिकासु द्वे आद्ये, सम्पदत्वेन सह स्त्रीजननाभावात्' कहकर अकलङ्कदेवने किया है। अकलङ्कदेवके इस स्फुट प्रकाशमें सूत्र ८९ और ९२ से महत्वपूर्ण तीन निष्कर्ष और निकलते हुए हम देखते हैं। एक तो यह कि सम्पद्दृष्टि स्त्रियोंमें पैदा नहीं होता। अतएव अपर्याप्त अवस्था में स्त्रियोंके प्रथमके दो ही गुणस्थान कहे गये हैं जब कि पुरुषोंमें इन दो गुणस्थानोंके अलावा चौथा असंयत-सम्पद्दृष्टि गुणस्थान भी बतलाया गया है और इस तरह उनके पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान कहे गये हैं। इसी प्राचीन मान्यताका अनुसरण और समर्थन स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लोक ३५) में किया है। इससे प्रकट है कि यह मान्यता कुन्दकुन्द या स्वामी समन्तभद्र आदि द्वारा पीछेसे नहीं गढ़ी गई है। अपितु उक्त सूत्रकालके पूर्वसे ही चली आ रही है।

दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि अपर्याप्त अवस्थामें स्त्रियोंके आदिके दो गुणस्थान और पुरुषोंके पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान ही संभव होते हैं और इसलिये इन गुणस्थानोंको छोड़कर अपर्याप्त

अवस्थामें भाववेद या भावलिङ्ग नहीं होता, जिससे पर्याप्त मनुष्यनियोंकी तरह अपर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थान भी कहे जाते और इस लिये वहाँ भाववेद या भावलिङ्गकी विवक्षा-अविवक्षाका प्रश्न नहीं उठता। हां, पर्याप्त अवस्थामें सभी गुणस्थानोंमें भाववेद होता है, इसलिये उनकी विवक्षा-अविवक्षाका प्रश्न जरूर उठता है। अतः वहाँ भावलिङ्गकी विवक्षासे १४ और द्रव्यालिंगकी अपेक्षासे प्रथमके पाँच ही गुणस्थान बतलाये गये हैं। इन दो निष्कर्षोंपरसे स्त्रीमुक्ति-निषेधकी मान्यतापर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है और यह मालूम हो जाता है कि स्त्रीमुक्ति-निषेधकी मान्यता कुन्दकुन्दकी अपनी चीज नहीं है किन्तु वह भ० महावीरकी ही परम्पराकी चीज है और जो उन्हें उक्त सूत्रों—भूतबलि और पुष्पदन्तके प्रवचनोंके पूर्वसे चली आती हुई प्राप्त हुई है।

तीसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि यहाँ सामान्य मनुष्यणीका ग्रहण है—द्रव्यमनुष्यणी या द्रव्यस्त्रीका नहीं, क्योंकि अकलङ्कदेव भी पर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थानोंका उपपादन भावलिङ्गकी अपेक्षासे करते हैं और द्रव्यालिंगकी अपेक्षासे पाँच ही गुणस्थान बतलाते हैं। यदि सूत्रमें द्रव्यमनुष्यणी या द्रव्यस्त्रीमात्रका ग्रहण होता तो वे सिर्फ पाँच ही गुणस्थानोंका उपपादन करते, भावलिङ्गकी अपेक्षासे १४ का नहीं। इसलिये जिन विद्वानोंका यह कहना है कि 'सूत्र' में पर्याप्त शब्द पड़ा है वह अच्छी तरह सिद्ध करता है कि द्रव्यस्त्रीका यहाँ ग्रहण है क्यों कि पर्याप्तियाँ सब पुद्गल द्रव्य ही हैं '.....'पर्याप्तस्त्रीका ही द्रव्यस्त्री अर्थ है' वह संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अकलङ्कदेवके विवेचनसे प्रकट है कि यहाँ 'पर्याप्तस्त्री' का अर्थ द्रव्यस्त्री नहीं है और न द्रव्यस्त्रीका प्रकरण है किन्तु सामान्यस्त्री उसका अर्थ है और उसीका प्रकरण है और भावलिङ्गकी अपेक्षा उनके १४ गुणस्थान हैं। दूसरे, यद्यपि पर्याप्तियाँ पुद्गल हैं लेकिन पर्याप्तकर्म तो जीव-विपाकी है, जिसके उदय होनेपर ही 'पर्याप्तक' कहा जाता है। अतः 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ केवल द्रव्य नहीं है—भाव भी है।

निष्कर्ष :

अतः तत्त्वार्थवात्तिकके इस उल्लेखसे स्पष्ट है कि षट्खंडागमके ९३ सूत्रमें 'संजद' पद आवश्यक एवं अनिवार्य है। यदि 'संजव' पद सूत्रमें न हो तो पर्याप्त मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंका अकलङ्कदेवका उक्त प्रतिपादन सर्वथा असंगत ठहरता है और जो उन्होंने भावलिङ्गकी अपेक्षा उसकी उपपत्ति बेटाई है तथा द्रव्यालिंगकी अपेक्षा ५ गुणस्थान ही वर्णित किये हैं वह सब अनावश्यक और अयुक्त ठहरता। अतएव अकलङ्कदेव उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका होना मानते हैं और उसका सयुक्तक समर्थन करते हैं। वीरसेनस्वामी भी अकलङ्कदेवके द्वारा प्रदर्शित इसी मार्ग पर चले हैं। अतः यह निर्विवाद है कि उक्त सूत्रमें 'संजद' पद है। और इसलिये ताम्रपत्रोंपर उत्कीर्ण सूत्रोंमें भी इस पदको रखना चाहिये तथा भ्रान्तिनिवारण एवं स्पष्टीकरणके लिये उक्त सूत्र ९३ के फुटनोटमें तत्त्वार्थराजवात्तिकका उपयुक्त उद्धरण दे देना चाहिये।

हमारा उन विद्वानोंसे, जो उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं, नम्र अनुरोध है कि वे तत्त्वार्थवात्तिकके इस दिनकर-प्रकाशको तरह स्फुट प्रमाणोल्लेखके प्रकाशमें उस पदको देखें। यदि उन्होंने ऐसा किया तो मुझे आशा है कि वे भी भावलिङ्गकी अपेक्षा उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका होना मान लेंगे। श्री १०८ आचार्य शान्तिसागरजी महाराजसे भी प्रार्थना है कि वे ताम्रपत्रमें उक्त सूत्रमें 'संजद' पद अवश्य रखें—उसे हटाये नहीं।

१. पं० रामप्रसादजी शास्त्रीके विभिन्न लेख और 'दि० जैनसिद्धान्तदर्पण' द्वितीयभाग, पृ० ८ और पृ० ४५।

९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका सद्भाव

सूत्रमें 'संजद' पद नहीं है : पूर्व पक्षकी युक्तियाँ

'षट्खण्डागम' के उल्लिखित ९३वें सूत्रमें 'संसद' पद है या नहीं ? इस विषयको लेकर काफी अरसे से चर्चा चल रही है । कुछ विद्वान् उक्त सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थिति बतलाते हैं और उसके समर्थनमें कहते हैं कि प्रथम तो यहाँ द्रव्यका प्रकरण है, अतएव वहाँ द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका ही निरूपण है । दूसरे, षट्खण्डागममें और कहीं आगे-पीछे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका कथन उपलब्ध नहीं होता । तीसरे, वहाँ सूत्रमें 'पर्याप्त' शब्दका प्रयोग है जो द्रव्यस्त्रीका ही बोधक है । चौथे वीरसेन स्वामीकी टीका उक्तसूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन नहीं करती, अन्यथा टीकामें उक्त पदका उल्लेख अवश्य होता । पाँचवें, यदि प्रस्तुत सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका प्ररूपक—विधायक न माना जाय और चूँकि षट्खण्डागममें ऐसा और कोई स्वतन्त्र सूत्र है नहीं, जो द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधान करता हो, तो दिगम्बर परम्पराके इस प्राचीनतम सिद्धान्तग्रन्थ षट्खण्डागमसे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थान सिद्ध नहीं हो सकेंगे और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे हैं उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा । अतः प्रस्तुत ९३वें सूत्रको 'संजद' पदमें रहित मानना चाहिये और उसे द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधायक प्रमञ्जना चाहिये ।

उक्त युक्तियोंपर विचार

१. षट्खण्डागमके इस प्रकरणको जब हम गौरसे देखते हैं तो वह द्रव्यका प्रकरण प्रतीत नहीं होता मूलग्रन्थ और उसकी टीकामें ऐसा कोई उल्लेख अथवा संकेत उपलब्ध नहीं है जो वहाँ द्रव्यका प्रकरण सूचित करता हो । विद्वद्द्वय पं० मवलनलालजी शास्त्रीने हालमें 'जैन बोधक' वर्ष ६२, अंक १७ और १९में अपने दो लेखों द्वारा द्रव्यका प्रकरण सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है । उन्होंने मनुष्यगति सम्बन्धी उन पाँचों ही ८९, ९०, ९१, ९२, ९३—सूत्रोंको द्रव्य प्ररूपक बतलाया है । परन्तु हमें ऐसा जरा भी कोई स्रोत नहीं मिलता, जिससे उसे 'द्रव्यका ही प्रकरण' समझा जा सके । हम उन पाँचों सूत्रोंको उत्थानिका वाक्य सहित नीचे देते हैं :—

“मनुष्यगतिप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा मिच्छाइट्ठि—सासणसम्माइट्ठि—असंजद—सम्माइट्ठि—ट्ठाणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ॥८९॥

तत्र शेषगुणस्थानसत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्मामिच्छाइट्ठि—संजदासंजद—संजद—ट्ठाणे णियमा पज्जत्ता ॥९०॥

मनुष्यविकोषस्य निरूपणार्थमाह—

एवं मणुस्सपज्जत्ता ॥९१॥

मानुषीषु निरूपणार्थमाह—

मणुसिणीसु मिच्छाइट्ठि—सासणसम्माइट्ठि—ट्ठाणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्ति-याओ ॥९२॥

तत्रैव शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह—

सम्मामिच्छाद्वि—असंजदसम्माद्वि—संजदासंजद—संजद—ट्टाणे णियमा पजजत्तियाओ

॥९३॥

—धवला १, १, ८९-९३ पृ० ३२९-३३२

ऊपर उद्धृत हुए मूलसूत्रों और उनके उत्थानिकावाक्योंसे यह जाना जाता है कि पहला (८९) और दूसरा (९०) ये दो सूत्र तो सामान्यतः मनुष्यगति-पर्याप्तकादिक भेदसे रहित (अविशेषरूपसे) सामान्य मनुष्यके प्रतिपादक हैं और प्रधानताको लिए हुए वर्णन करते हैं। आचार्य वीरसेन स्वामी भी यही स्वीकार करते हैं और इसलिये वे 'मनुष्यगति प्रतिपादनार्थमाह' (८९) तथा 'तत्र (मनुष्यगतौ) शेषगुणस्थान-सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह' (९०)। इस प्रकार सामान्यतया ही इन सूत्रोंके मनुष्यगति सम्बन्धी उत्थानिका वाक्य रचते हैं। इसके अतिरिक्त अगले सूत्रोंके उत्थानिकावाक्योंमें वे 'मनुष्यविशेष' पदका प्रयोग करते हैं, जो खास तौरसे ध्यान देने योग्य है और जिससे विदित हो जाता है कि पहले दो सूत्र तो सामान्य-मनुष्यके प्ररूपक हैं और उनसे अगले तीनों सूत्र मनुष्यविशेषके प्ररूपक हैं। अतएव ये दो (८९, ९०) सूत्र सामान्यतया मनुष्य गतिके ही प्रतिपादक हैं, यह निर्विवाद है और यह कहनेकी जरूरत नहीं कि सामान्य कथन भी इष्टविशेषमें निहित होता है—सामान्यके सभी विशेषोंमें या जिस किसी विशेषमें नहीं। तात्पर्य यह कि उक्त सूत्रोंका निरूपण सम्भवताकी प्रधानताको लेकर है।

तीसरा (९१), चौथा (९२) और पांचवां (९३) ये तीन सूत्र अवश्य मनुष्यविशेषके निरूपक हैं—मनुष्योंके चार भेदों (सामान्यमनुष्य, मनुष्यपर्याप्त, मनुष्यनी और अपर्याप्त मनुष्य) मेंसे दो भेदों—मनुष्य पर्याप्त और मनुष्यनी—के निरूपक हैं। और जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वीरसेन स्वामीके 'मनुष्य विशेषस्य निरूपणार्थमाह', 'मानुषीषु निरूपणार्थमाह' और 'तत्रैव (मानुषीष्वेव) शेषगुणविषयाऽऽरेकापोहनार्थमाह' इन उत्थानिकावाक्योंसे भी प्रकट है। पर द्रव्य और भावका भेद यहाँ भी नहीं है—द्रव्य और भाव का भेद किये बिना ही मनुष्यपर्याप्त और मनुष्यनीका निरूपण है। यदि उक्त सूत्रों या उत्थानिकावाक्योंमें 'द्रव्यपर्याप्तमनुष्य' और 'द्रव्यमनुष्यनी' जैसा पद प्रयोग होता अथवा टीकामें ही वैसा कुछ कथन होता, तो निश्चय ही 'द्रव्यप्रकरण' स्वीकार कर लिया जाता। परन्तु हम देखते हैं कि वहाँ वैसा कुछ नहीं है। अतः यह मानना होगा कि उक्त सूत्रोंमें द्रव्यप्रकरण इष्ट नहीं है और इसलिए ९३वें सूत्रमें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका वहाँ विधान नहीं है, बल्कि सामान्यतः निरूपण है और पारिशेष्यन्यायसे भावापेक्षया निरूपण वहाँ सूत्रकार और टीकाकार दोनोंको इष्ट है और इसलिए भावलङ्गको लेकर मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंका विवेचन समझना चाहिये। अतएव ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका प्रयोग न तो विरुद्ध है और न अनुचित है। सूत्रकार और टीकाकारकी प्ररूपणशैली उसके अस्तित्वको स्वीकार करती है।

यहाँ हम यह आवश्यक समझते हैं कि पं० मन्मथलाल जी शास्त्रीने जो यहाँ द्रव्यप्रकरण होनेपर जोर दिया है और उसके न माननेमें जो कुछ आक्षेप एवं आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनपर भी विचार कर लिया जाय। अतः नीचे 'आक्षेप-परिहार' उपशोर्षकके साथ विचार किया जाता है।

आक्षेप-परिहार

(१) आक्षेप—यदि ९२वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक माना जाय—द्रव्यस्त्रीका नहीं, तो पहला, दूसरा और चौथा ये तीन गुणस्थान होना आवश्यक है क्योंकि भावस्त्री माननेपर द्रव्यमनुष्य मानना होगा। और

द्रव्यमनुष्यके चौथा गुणस्थान भी अपर्याप्त अवस्थामें हो सकता है। परन्तु इस सूत्रमें चौथा गुणस्थान नहीं बताया है, केवल दो ही (पहला और दूसरा) गुणस्थान बताये गये हैं। इससे बहुत स्पष्ट हो जाता है कि यह १२वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रीका ही निरूपक है ?

(१) परिहार—पं० जीकी मान्यता ऐसी प्रतीत होती है कि भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्यके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव मरकर भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्य हो सकता है और इसलिए १२वें सूत्रकी तरह १२वें सूत्रकी भावस्त्रीका निरूपण करनेवाला माननेपर सूत्रमें पहला, दूसरा और चौथा इन तीन गुणस्थानोंको बताना चाहिये था। केवल पहले व दूसरे इन दो ही गुणस्थानोंको नहीं ? इसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव, जो द्रव्य और भाव दोनोंसे मनुष्य होगा उसमें पैदा होता है—भावसे स्त्री और द्रव्यसे मनुष्यमें नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा नहीं होता। जैसा पण्डितजीने समझा है, अधिकांश लोग भी यही समझते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्यस्त्रियों—देव, तिर्यञ्च और मनुष्य द्रव्यस्त्रियोंमें ही पैदा नहीं होता, भावस्त्रियोंमें तो पैदा हो सकता है। लेकिन यह बात नहीं है, वह न द्रव्यस्त्रियोंमें पैदा होता है और न भावस्त्रियोंमें। सम्यग्दृष्टिको समस्त प्रकारकी स्त्रियोंमें पैदा न होनेका ही प्रतिपादन शास्त्रोंमें है। स्वामी समन्तभद्रने 'सम्यग्दर्शनशुद्धा नारक-नपुंसकस्त्रीत्वानि' रत्नकरणद्वाराकाचारके इस श्लोकमें 'स्त्रीत्व' सामान्य (जाति) पदका प्रयोग किया है, जिसके द्वारा उन्होंने यावत् स्त्रियों (स्त्रीत्वावच्छिन्न द्रव्य और भावस्त्रियों)में पैदा न होनेका स्पष्ट उल्लेख किया है। पण्डितवर दौलतरामजीने 'प्रथम नरक विन षट्भ् ज्योतिष वान भवन सब नारी' इस पद्यमें 'सब' शब्द दिया है जो समस्त प्रकारकी स्त्रियोंका बोधक है। यह पद्य भी जिस पंचसंग्रहादिगत प्राचीन गाथाका भावानुवाद है उस गाथामें भी 'सब-इत्थीमु' पाठ दिया हुआ है। इसके अलावा, स्वामी वीरसेनने षट्खण्डा-गमके सूत्र ८८की टोकामें सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्तिको लेकर एक महत्त्वपूर्ण शंका और समाधान प्रस्तुत किया है, जो खास ध्यान देने योग्य है और जो निम्नप्रकार है—

“बद्धायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारिकेषु नपुंसकवेद इवात्र स्त्रीवेदे किन्नोत्पद्यते इति चेत्, न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात् । यत्र क्वचन समुत्पद्यमानः सम्यग्दृष्टिस्तत्र विशिष्टवेदादिषु समुत्पद्यते इति गृह्यताम् ।”

शंका—आयुका जिसने बन्ध कर लिया है ऐसा क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव जिसप्रकार नारकियोंमें नपुंसक वेदमें उत्पन्न होता है उसीप्रकार यहाँ तिर्यच्चोंमें स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता ?

समाधान—नहीं, क्योंकि नारकियोंमें वही एक नपुंसकवेद होता है, अन्य नहीं, अतएव अगत्या उसीमें पैदा होना पड़ता है। यदि वहाँ नपुंसकवेदसे विशिष्ट—ऊँचा (बढ़कर) कोई दूसरा वेद होता तो उसीमें वह पैदा होता, लेकिन वहाँ नपुंसक वेदको छोड़कर अन्य कोई विशिष्ट वेद नहीं है। अतएव विवश उसीमें उत्पन्न होता है। परन्तु तिर्यच्चोंमें तो स्त्रीवेदसे विशिष्ट—ऊँचा दूसरा वेद पुरुषवेद है, अतएव बद्धायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि पुरुषवेदी तिर्यच्चोंमें ही उत्पन्न होता है। यह आम नियम है कि सम्यग्दृष्टि जहाँ कहीं (जिस किसी गतिमें) पैदा होता है वहाँ विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदादिकोंमें ही पैदा होता है—उससे जघन्यमें नहीं।

वीरसेन स्वामीके इस महत्त्वपूर्ण समाधानसे प्रकट है कि मनुष्यगतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि-जीव द्रव्य और भाव दोनोंसे विशिष्ट पुरुषवेदमें ही उत्पन्न होगा—भावसे स्त्रीवेद और द्रव्यसे पुरुषवेदमें नहीं, क्योंकि जो द्रव्य और भाव दोनोंसे पुरुषवेदी है उसकी अपेक्षा जो भावसे स्त्रीवेदी और द्रव्यसे पुरुषवेदी है वह हीन एवं जघन्य है—विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला नहीं है। द्रव्य और भाव दोनोंसे जो पुरुषवेदी है

वही वहाँ विशिष्ट (सर्वोच्च) वेदवाला है। अतएव सम्यग्दृष्टि भावस्त्रीविशिष्ट द्रव्यमनुष्य नहीं हो सकता है और इसलिए उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानकी कदापि सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि कर्मसिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थोंमें अपर्याप्त अवस्थामें अर्थात् विग्रहगतिसमें चातुर्थ गुणस्थानमें स्त्रीवेदका उदय नहीं बतलाया गया है। सासादन गुणस्थानमें ही उसकी व्युच्छिति बतला दी गई है, (कर्मकाण्ड गा० ३१२-३१३-३१९)। तात्पर्य यह कि अपर्याप्त अवस्थामें द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीके भी चौथा गुणस्थान नहीं होता है। इसीसे सूत्रकारने द्रव्य और भाव दोनों तरहकी मनुष्यनियोंके अपर्याप्त अवस्थामें पहला, दूसरा ये दो ही गुणस्थान बतलाये हैं उनमें चौथा गुणस्थान बतलाना सिद्धान्तविरुद्ध होनेके कारण उन्हें इष्ट नहीं था। अतः ९२वें सूत्रकी वर्तमान स्थितिमें कोई भी आपत्ति नहीं है। पण्डितजीने अपनी उपर्युक्त मान्यताको जैनबोधकके ९१वें अंकमें भी दुहराते हुए लिखा है—“यदि यह ९२वां सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो अपर्याप्त अवस्थामें भी तीन गुणस्थान होने चाहिये, क्योंकि भावस्त्री (द्रव्यमनुष्य)के असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है।” परन्तु उपरोक्त विवेचनसे प्रकट है कि पण्डितजीकी यह मान्यता आपत्ति एवं भ्रमपूर्ण है। द्रव्यस्त्रीकी तरह भावस्त्रीके भी अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नहीं होता, यह ऊपर बतला दिया गया है। और गोमटसार जीवकाण्डकी िमन गाथासे भी स्पष्टतः प्रकट है—

हेट्टिमच्छप्पुढवीणं जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीणं ।

पुण्णिदरे ण हि सम्मो ण सासणे णारयापुण्णे ॥—गा० १२७ ।

अर्थात् 'द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देव तथा सम्पूर्ण स्त्रियाँ इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता। भावार्थ—सम्यक्त्व सहित जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक, ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देवों और समग्र स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता।' आपने 'भावस्त्रीके असंयत सम्यग्दृष्टि चौथा गुणस्थान भी होता है और हो सकता है।' इस अनिश्चित बातको सिद्ध करनेके लिए कोई भी आगमप्रमाण प्रस्तुत नहीं किया। यदि हो, तो बतलाना चाहिये, परन्तु अपर्याप्त अवस्थामें भावस्त्रीके चौथा गुणस्थान बतलानेवाला कोई भी आगमप्रमाण उपलब्ध नहीं हो सकता, यह निश्चित है।

(२) आक्षेप—जब ९२वां सूत्र द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका निरूपक है तब उससे आगेका ९३वां सूत्र भी द्रव्यस्त्रीका निरूपक है। पहला ९२वां सूत्र उसकी अपर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, दूसरा ९३वां पर्याप्त अवस्थाका निरूपक है, इतना ही भेद है। बाकी दोनों सूत्र द्रव्यस्त्रीके विधायक हैं। ऐसा नहीं हो सकता कि अपर्याप्त अवस्थाका विधायक ९२वां सूत्र तो द्रव्यस्त्रीका विधायक हो और उससे लगा हुआ ९३वां सूत्र पर्याप्त अवस्थाका भावस्त्रीका मान लिया जाय ?

(२) परिहार—ऊपर बतलाया जा चुका है कि ९२वां सूत्र 'पारिशेष्य' न्यायसे स्त्रीवेदां भावस्त्रीकी अपेक्षासे है और ९३वां सूत्र भावस्त्रीकी अपेक्षासे है ही। अतएव उक्त आक्षेप पैदा नहीं हो सकता है।

(३) आक्षेप—जैसे ९३वें सूत्रकी भावस्त्रीका विधायक मानकर उसमें 'संजद' पद जोड़ते हो, उसी प्रकार ९२वें सूत्रमें भी भावस्त्रीका प्रकरण मानकर उसमें भी असंयत (असंजद-ट्टाणे) यह पद जोड़ना पड़ेगा। बिना उसके जोड़े भावस्त्रीका प्रकरण सिद्ध नहीं हो सकता ?

(३) परिहार—यह आक्षेप सर्वथा असंगत है। हम ऊपर कह आये हैं कि सम्यग्दृष्टि भावस्त्रियोंमें भी पैदा नहीं होता, तब वहाँ सूत्रमें 'असंजद-ट्टाणे' पदके जोड़ने व होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। स्त्रीवेद-कर्मको लेकर वर्णन होनेसे भावस्त्रीका प्रकरण तो सुतरां सिद्ध हो जाता है।

(४) आक्षेप—यदि ८९, ९०, ९१ सूत्रोंको भाववेदी पुरुषके मानोगे तो वैसी अवस्थामें ८९ वें सूत्रमें 'असंजद-सम्माइट्टि-ट्टाणे' यह पद है उसे हटा देना होगा; क्योंकि भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्री भी हो सकता है उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान नहीं बन सकता है। इसी प्रकार ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्टाणे' पद है उसे भी हटा देना होगा। कारण, भाववेदी पुरुष और द्रव्यस्त्रीके संयत गुणस्थान नहीं हो सकता है। इसलिए यह मानना होगा कि उक्त तीनों सूत्र द्रव्यमनुष्यके ही विधायक हैं, भावमनुष्यके नहीं ?

(४) परिहार—पण्डितजीने इस आक्षेप द्वारा जो आपत्तियाँ बतलाई हैं वे यदि गम्भीर विचारके साथ प्रस्तुत की गई होतीं तो पण्डितजी उक्त परिणामपर न पहुँचते। मान लीजिये कि ८९वें सूत्रमें जो 'असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे' पद निहित है वह उसमें नहीं है तो जो भाव और द्रव्य दोनोंसे मनुष्य (पुरुष) है उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथा गुणस्थान कौनसे सूत्रसे प्रतिपादित होगा ? इसी प्रकार मान लीजिये कि ९० वें सूत्रमें जो 'संजद-ट्टाणे' पद है वह उसमें नहीं है तो जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे ही पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्थामें १४ गुणस्थानोंका उपपादन कौनसे सूत्रसे करेंगे ? अतएव यह मानना होगा कि ८९वाँ सूत्र उत्कृष्टतासे जो भाव और द्रव्य दोनोंसे ही मनुष्य (पुरुष) है, उसके अपर्याप्त अवस्थामें चौथे गुणस्थानका प्रतिपादक है और ९० वाँ सूत्र, जो भाववेद और द्रव्यवेद दोनोंसे पुरुष है अथवा केवल द्रव्यवेदसे पुरुष है उसके पर्याप्त अवस्थामें १४ गुणस्थानोंका प्रतिपादक है। ये दोनों सूत्र विषयकी उत्कृष्ट मर्यादा अथवा प्रधानताके प्रतिपादक हैं, यह नहीं भूलना चाहिये और इसलिए प्रस्तुत सूत्रोंको भावप्रकरणके माननेमें जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं ठीक नहीं हैं। सर्वत्र 'इष्ट-सम्प्रत्यय' न्यायसे विवेचन एवं प्रतिपादन किया जाता है। साथमें जो विषयकी प्रधानताको लेकर वर्णन हो उसे सब जगह सम्बन्धित नहीं करना चाहिए। तात्पर्य यह कि ८९ वाँ सूत्र भाववेदी मनुष्य द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नहीं है, किन्तु भाव और द्रव्य मनुष्यकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार ९० वाँ सूत्र भाववेदी पुरुष और द्रव्यवेदी पुरुष तथा गौणरूपसे केवल द्रव्यवेदी पुरुषकी अपेक्षासे है और चूँकि यह सूत्र पर्याप्त अवस्थाका है इसलिए जिस प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्य और भाव पुरुषों तथा स्त्रियोंके चौथा गुणस्थान संभव है उसी प्रकार पर्याप्त अवस्थामें द्रव्यवेदसे तथा भाववेदसे पुरुष और केवल द्रव्यवेदी पुरुषके १४ गुणस्थान इस सूत्रमें वर्णित किये गये हैं।

इस तरह पण्डितजीने द्रव्यप्रकरण सिद्ध करनेके लिए जो भावप्रकरण-मान्यतामें आपत्तियाँ उपस्थित की हैं उनका समुचित परिहार हो जाता है। अतः पहली युक्ति द्रव्य-प्रकरणको नहीं साधती। और इसलिए ९३वाँ सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका विधायक न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधायक है। अतएव ९३वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध नहीं है।

ऊपर यह स्पष्ट हो चुका है कि षट्खण्डागमका प्रस्तुत प्रकरण द्रव्यप्रकरण नहीं है, भावप्रकरण है। अब दूसरी आदि शेष युक्तियोंपर विचार किया जाता है।

२. यद्यपि षट्खण्डागममें अन्यत्र कहीं द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका कथन उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इस कारण प्रस्तुत ९३ वाँ सूत्र ही द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधायक एवं प्रतिपादक है : क्योंकि उसके लिए स्वतन्त्र ही हेतु और प्रमाणोंकी जरूरत है, जो अब तक प्राप्त नहीं हैं और जो प्राप्त हैं वे निराबाध और सोपपन्न नहीं हैं और विचार कोटिमें हैं—उन्हींपर यहाँ विचार चल रहा है। अतः प्रस्तुत दूसरी युक्ति ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदकी अस्थितिकी स्वतन्त्र साधक प्रमाण नहीं है।

हाँ, विद्वानोंके लिए यह विचारणीय अवश्य है कि षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थानोंका

प्रतिपादन क्यों उपलब्ध नहीं होता ? मेरे विचारसे इसके दो समाधान हो सकते हैं और जो बहुत कुछ संगत और ठीक प्रतीत होते हैं । वे निम्न प्रकार हैं :—

(क) जिस कालमें षट्खण्डागमकी रचना हुई है उस कालकी अर्थात्—करीब दो हजार वर्ष पूर्वकी अन्तः साम्प्रदायिक स्थितिको देखना चाहिए । जहाँ तक ऐतिहासिक पर्यवेक्षण किया जाता है उससे प्रतीत होता है कि उस समय अन्तः साम्प्रदायिक स्थितिका यद्यपि जन्म हो चुका था, परन्तु उसमें पक्ष और तीव्रता नहीं आई थी । कहा जाता है कि भगवान् महावीरके निर्वाणके कुछ ही काल बाद अनुयायी साधुओंमें थोड़ा-थोड़ा मतभेद आरम्भ हो गया था और संघभेद होना प्रारम्भ हो गया था, लेकिन वीर-निर्वाणकी सातवीं सदी तक अर्थात् ईसवीकी पहली शताब्दीके प्रारम्भ तक मतभेद और संघभेदमें कट्टरता नहीं आयी थी। अतः कुछ विचार-भेदको छोड़कर प्रायः जैन परम्पराकी एक ही धारा (अचेल) उस वक्त तक बहती चली आ रही थी और इसलिए उस समय षट्खण्डागमके रचयिताको षट्खण्डागममें यह निबद्ध करना या जुड़े परके बतलाना आवश्यक न था कि द्रव्यस्त्रियोंके पाँच गुणस्थान होते हैं, उनके छठे आदि नहीं । क्योंकि प्रकट था कि मुक्ति अचेल अवस्थासे होती है और द्रव्यमनुष्यनियं अचेल नहीं होती—वे सचेल ही रहती हैं । अतएव सुतरां उनके सचेल रहनेके कारण पाँच ही गुणस्थान सुप्रसिद्ध हैं । यही कारण है कि टीकाकार वीरसेन स्वामीने भी यही नतीजा और हेतु-प्रतिपादन उक्त १३ वें सूत्रकी टीकामें प्रस्तुत किये हैं तथा तत्त्वार्थवार्तिककार अकलङ्कदेव (वि० ८ वीं शती) ने भी बतलाये हैं ।

ज्ञात होता है कि वीर-निर्वाणकी सातवीं शताब्दीके पश्चात् कुछ साधुओं द्वारा कालके दुष्प्रभाव आदिसे वस्त्रग्रहणपर जोर दिया जाने लगा था, लेकिन उन्हें इसका समर्थन आगम-वाक्योंसे करना आवश्यक था, क्योंकि उसके बिना बहुजन सम्मत प्रचार असम्भव था । इसके लिये उन्हें एक आगम-वाक्यका संकेत मिल गया वह था साधुओंकी २२ परिषद्में आया हुआ 'अचेल' शब्द । इस शब्दके आधारसे अनुदरा कन्या की तरह 'ईषद् चेलः—अचेलः' अल्पचेल अर्थ करके वस्त्रग्रहणका समर्थन किया और उसे आगमसे भी विहित बतलाया । इस समयसे ही वस्तुतः स्पष्ट रूपमें भगवान् महावीरकी अचेल परम्पराकी सर्वथा चेल रहित—दिगम्बर और अल्पचेल—श्वेताम्बर ये दो धारार्ये बन गयीं प्रतीत होती हैं । यह इस बातसे भी सिद्ध है कि इसी समयके लगभग हुए आचार्य उमास्वामीने भगवान् महावीरकी परम्पराकी सर्वथा चेलरहित ही बतलानेके लिए यह जोरदार और स्पष्ट प्रयत्न किया कि 'अचेल' शब्दका अर्थ अल्पचेल नहीं किया जाना चाहिए—उसका तो नग्नता—सर्वथा चेल रहितता ही सीधा-सादा अर्थ करना चाहिए और यह ही भगवान् महावीरकी परम्परा है । इस बातका उन्होंने केवल मौखिक ही कथन नहीं किया, किन्तु अपनी महत्वपूर्ण उभय-परम्परा सम्मत सुप्रसिद्ध रचना 'तत्त्वार्थसूत्र' में बाईस परिषद्में अंतर्गत अचेलपरिषद्को, जो अब तक दोनों परम्पराओंके शास्त्रोंमें इसी नामसे ख्यात चली आयी, 'नाग्न्य-परोषद्' के नामसे ही उल्लेखित करके लिखित भी कथन किया और अचेल शब्दको भ्रान्तिकारक जानकर छोड़ दिया, क्योंकि उस शब्दकी खींचतान दोनों तरफ होने लगी और उसपरसे अपना इष्ट अर्थ फलित किया जाने लगा । हमारा विचार है कि इस विवाद और भ्रान्तिको मिटानेके लिए ही उन्होंने स्पष्टार्थक और अभ्रान्त अचेलस्थानीय 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया । अन्यथा, कोई कारण नहीं कि 'अचेल' शब्दके स्थानमें 'नाग्न्य' शब्दका परिवर्तन किया जाता, जो अब तक नहीं था । अतएव आ० उमास्वामीका यह विशुद्ध प्रयत्न ऐतिहासिकोंके लिए भी इतिहासकी दृष्टिसे बड़े महत्वका है । इससे प्रकट है कि आरम्भिक मूल परम्परा अचेल—दिगम्बर रही और सूत्रीके अचेल न होनेके कारण उसके पाँच ही गुणस्थान संभव हैं, इससे आगेके छठे आदि नहीं ।

जान पड़ता है कि साधुओंमें जब वस्त्रग्रहण चल पड़ा तो स्त्रीमुक्तिका भी समर्थन किया जाने लगा, क्योंकि उनकी सचेलता उनकी मुक्तिमें बाधक थी। वस्त्रग्रहणके बाद पुरुष अथवा स्त्री किसीके लिए भी सचेलता बाधक नहीं रही। यही कारण है कि आद्य जैन साहित्यमें स्त्रीमुक्तिका समर्थन अथवा निषेध प्राप्त नहीं होता। अतः सिद्ध है कि सूत्रकारको द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका बतलाना उस समय आवश्यक ही न था और इसलिए षट्खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान अनुपलब्ध है।

(ख) यह पहले कहा जा चुका है कि षट्खण्डागमका समस्त वर्णन भावकी अपेक्षासे है। अतएव उसमें द्रव्यवेद विषयक वर्णन अनुपलब्ध है। अभी हालमें इस लेखको लिखते समय विद्वद्वय पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीका 'जैन बोधक' में प्रकाशित लेख पढ़नेको मिला। उसमें उन्होंने 'खुदाबांध' के उल्लेखके आधारपर यह बतलाया है कि 'षट्खण्डागम' भरमें समस्त कथन भाववेदकी प्रधानतासे किया गया है। अतएव वहाँ यह प्रश्न उठना ही नहीं चाहिए कि 'षट्खण्डागम' में द्रव्यस्त्रियोंके लिए गुणस्थान-विधायक सूत्र क्यों नहीं आया? उन्होंने बतलाया है कि "षट्खण्डागमकी रचनाके समय द्रव्यवेद और भाववेद ये वेदके दो भेद ही नहीं थे उस समय तो सिर्फ भाववेद वर्णनमें लिया जाता था। षट्खण्डागमको तो जाने बीजिये जीवकाण्डमें भी द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नहीं होता और इसलिये यह मानना चाहिये कि मूल ग्रंथोंमें भाववेदकी अपेक्षासे ही विवेचन किया जाता रहा, इसलिये मूलग्रंथों अथवा सूत्रग्रंथोंमें द्रव्यवेदकी अपेक्षा विवेचन नहीं मिलता है। हाँ, चारित्रग्रंथोंमें मिलता है तो वह ठीक ही है। जिन प्रश्नोंका सम्बन्ध मुख्यतया चरभानुयोगसे है उनका समाधान वहाँ मिलेगा, करणानुयोगमें नहीं।" पंडितजोका यह सप्रमाण प्रतिपादन युक्तियुक्त है। दूसरी बात यह है कि केवल षट्खण्डागमपरसे ही स्त्रीमुक्ति-निषेधकी दिग्म्बर मान्यताको कण्ठतः प्रतिपादित होना आवश्यक हो तो सर्वथा वस्त्रत्याग और कवलहार-निषेधकी दिग्म्बर मान्यताओंको भी उससे कण्ठतः प्रतिपादित होना चाहिए। इसके अलावा, सूत्रोंमें २२ परिषद्द्वारा वर्णन भी दिखाना चाहिए। क्या कारण है कि तत्त्वार्थसूत्रकारकी तरह षट्खण्डागमसूत्रकारने भी उक्त परिषद्द्वारा प्रतिपादक सूत्र क्यों नहीं रचे? इससे जान पड़ता है कि विषय-निरूपणका संकोच-विस्तार सूत्रकारकी दृष्टि या विवेचन शैलीपर निर्भर है। अतः षट्खण्डागममें भाववेद विवक्षित होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान उपलब्ध नहीं होता।

३. तीसरी युक्तिका उत्तर यह है कि 'पर्याप्त' शब्दके प्रयोगसे वहाँ उसका द्रव्य अर्थ बतलाना सर्वथा भूल है। पर्याप्तकर्म जीवविषाकी प्रकृति है और उसके उदय होनेपर जीव पर्याप्तक कहा जाता है। अतः उसका भाव भी अर्थ है। दूसरे, वीरसेन स्वामीके विभिन्न विवेचनों और अकलंकदेवके तत्त्वार्थवातिकगत प्रतिपादनसे पर्याप्त मनुष्यनियोंके १४ गुणस्थानोंका निरूपण होनेसे वहाँ 'पर्याप्त' शब्दका अर्थ द्रव्य नहीं लिया जा सकता है और इसलिये 'पञ्जतमणुस्सिणी' से द्रव्यस्त्रीका बोध करना महान् सैद्धान्तिक भूल है। मैं इस सम्बन्धमें अपने "संजदपदके सम्बन्धमें अकलंकदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत" शीर्षक लेखमें पर्याप्त प्रकाश डाल चुका हूँ।

४. हमें बड़ा आश्चर्य होता है कि 'संजद' पदके विरोधमें यह कैसे कहा जाता है कि "वीरसेनस्वामी की टीका उक्त सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन नहीं करती, अन्यथा टीकामें उक्त पदका उल्लेख अवश्य होता।" क्योंकि टीका दिनकर-प्रकाशकी तरह 'संजद' पदका समर्थन करती है। यदि सूत्रमें 'संजद' पद न हो तो टीकागत समस्त शंका-समाधान निराधार प्रतीत होगा। मैं टीकागत उन पद-वाक्यादिकोंको उपस्थित करता हूँ जिनसे 'संजद' पदका अभाव प्रतीत नहीं होता, बल्कि उसका समर्थन स्पष्टतः जाना जाता है। यथा—

‘हुण्डावसर्पिण्यां स्त्रीषु सम्यग्दृष्ट्यः किन्नोत्पद्यन्ते, इति चेत्, नोत्पद्यन्ते । कुतोऽव-
सीयते ? अस्मादेवार्थात् । अस्मादेवार्थात् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृतिः सिद्धयेत्, इति चेत्, न, सवासत्त्वा-
दप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः । भावसंयमस्तासां सवाससामप्यविरुद्धः, इति चेत्, न
तासां भावसंयमोऽस्ति, भावासंयमाविनाभावविक्षाद्युपादानान्यथानुपपत्तेः । कथं पुनस्तासु चतुर्दश
गुणस्थानानीति चेत्, न, भावस्त्रीविक्षिप्तमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात् । भाववेदो वादरकषा-
यान्तोपर्यस्तीति न तत्र चतुर्दशगुणस्थानानां सम्भव इति चेत्, न, अत्र वेदस्य प्राधान्याभावात् ।
गतिस्तु प्रधाना न साऽराद्विनश्यति । वेदविशेषणायाम् गतौ न तानि सम्भवन्ति, इति चेत्, न,
विनष्टेऽपि विशेषणे उपचारेण तद्वधपदेशमादधानमनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात् ।’—ध्वला, १।१।
९३, प्रथम पुस्तक, पृ० ३३२-३३३ ।

यहाँ सबसे पहले यह शंका उपस्थित की गयी है कि यद्यपि स्त्रियों (द्रव्य और भाव दोनों) में
सम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं । लेकिन हुण्डावसर्पिणी (आपवादिक काल) में स्त्रियोंमें
सम्यग्दृष्टि क्यों नहीं उत्पन्न होते ? (इस शंकासे यह प्रतीत होता है कि वीरसेन स्वामीके सामने कुछ
लोगोंकी हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होनेकी मान्यता रही और इसलिए इस शंका
द्वारा उनका मत उपस्थित करके उसका उन्होंने निराकरण किया है । इसी प्रकारसे उन्होंने आगे द्रव्यस्त्री-
मुक्तिकी मान्यताको भी उपस्थित किया है, जो सूत्रकारके सामने नहीं थी और वीरसनके सामने वह
प्रचलित हो चुकी थी और जिसका उन्होंने निराकरण किया है । हुण्डावसर्पिणी कालका स्वरूप ही यह है कि
जिसमें अनहोनी बातें हो जायें, जैसे तीर्थङ्करके पुत्रीका होना, चक्रवर्तीका अपमान होना आदि । और
इसलिये उक्त शंकाका उपस्थित होना असम्भव नहीं है ।) वीरसेन स्वामी इस शंकाका उत्तर देते हैं कि
हुण्डावसर्पिणी कालमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते । इसपर प्रश्न हुआ कि इसमें प्रमाण क्या है ?
अर्थात् यह कैसे जाना कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते ? इसका उत्तर यह दिया
गया है कि इसी आगम सूत्रवाक्यसे उक्त बात जानी जाती है । अर्थात् प्रस्तुत ९२, ९३वें सूत्रोंमें पर्याप्त
मनुष्यनीके ही चौथा गुणस्थान प्रतिपादित किया है, अपर्याप्त मनुष्यनीके नहीं, इससे साफ जाहिर है कि
सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी कालमें द्रव्य और भाव दोनों ही तरहकी स्त्रियोंमें पैदा नहीं होते । अतएव सुतरां
सिद्ध है कि हुण्डावसर्पिणीमें भी स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि पैदा नहीं होते ।

यहाँ हम यह उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि पं० मकलनलालजी शास्त्रीने टीकोक्त
‘स्त्रीषु’ पदका द्रव्यस्त्री अर्थ करके एक और मोटो भूल की है । ‘स्त्रीषु’ पदका बिलकुल सीधा सादा अर्थ है
और वह है ‘स्त्रियोंमें’ । वहाँ द्रव्य और भाव दोनों हो प्रकाशकी स्त्रियोंका ग्रहण है । यदि केवल द्रव्यस्त्रियों-
का ग्रहण इष्ट होता हो वीरसेन स्वामी अगले ‘द्रव्यस्त्रीणां’ पदकी तरह यहाँ भी ‘द्रव्यस्त्रीषु’ पदका प्रयोग
करते और जिससे सिद्धान्त-विरोध अनिवार्य था, क्योंकि उससे द्रव्यस्त्रियोंमें ही सम्यग्दृष्टियोंके उत्पन्न न
होनेकी बात सिद्ध होती, भावस्त्रियोंमें नहीं । किंतु वे ऐसा सिद्धान्त-विरुद्ध असंगत कथन कदापि नहीं कर
सकते थे और इसीलिए उन्होंने ‘द्रव्यस्त्रीषु’ पदका प्रयोग न करके ‘स्त्रीषु’ पदका प्रयोग किया है जो सर्वथा
सिद्धान्तविरुद्ध और संगत है । यह स्मरण रहे कि सिद्धान्तमें भावस्त्रीमुक्ति तो इष्ट है, द्रव्यस्त्रीमुक्ति
इष्ट नहीं है । किन्तु सम्यग्दृष्टि-उत्पत्ति-निषेध द्रव्य और भावस्त्री दोनोंमें ही इष्ट है । अतः पंडितजीका
यह लिखना कि ‘‘९३वें सूत्रमें पर्याप्त अवस्थामें ही जब द्रव्यस्त्रीके चौथा गुणस्थान सूत्रकारने बताया है तब
टीकाकारने यह शंका उठाई है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमें सम्यग्दृष्टि क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ? उत्तरमें कहा गया
है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होते हैं । क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ? इसके लिये आर्ष-

प्रमाण बतलाया गया है। अर्थात् आगममें ऐसा ही बताया है कि द्रव्यस्त्री पर्यायमें सम्यग्दृष्टि नहीं जाता है। “यदि ९३वाँ सूत्र भावस्त्रीका विधायक होता तो फिर सम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता, यह शंका उठायी ही नहीं जा सकती, क्योंकि भावस्त्रीके तो सम्यग्दर्शन होता ही है। परन्तु द्रव्यस्त्रीके लिए शंका उठाई है। अतः द्रव्यस्त्रीका ही विधायक ९३वाँ सूत्र है, यह बात स्पष्ट हो जाती है।” बहुत ही स्खलित और भूलोंसे भरा हुआ है। ‘संजद’ पदके विरोधी क्या उक्त विवेचनसे सहमत है? यदि नहीं, तो उन्होंने अन्य लेखकोंकी तरह उक्त विवेचनका प्रतिवाद क्यों नहीं किया? हमें आश्चर्य है कि श्री पं० वर्धमानजी जैसे विचारक तटस्थ विद्वान् पक्षमें कैसे बह मये और उनका पोषण करने लगे? पं० मन्मथनलालजीकी भूलोंका आधार भावस्त्रीमें सम्यक् दृष्टिकी उत्पत्तिको मानना है जो सर्वथा सिद्धान्तके विरुद्ध है। सम्यग्दृष्टि न द्रव्यस्त्रीमें पैदा होता है और न भावस्त्रीमें, यह हम पहले विस्तारसे सप्रमाण बतला आये हैं। आशा है पंडितजी अपनी भूलका संशोधन कर लेंगे। और तब वे प्रस्तुत ९३वें सूत्रको भावस्त्रीविधायक ही समझेंगे।

दूसरी शंका यह उपस्थित की गयी है कि यदि इसी आर्ष (प्रस्तुत आगमसूत्र) से यह जाना जाता है कि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते तो इसी आर्ष (प्रस्तुत आगम सूत्र) से द्रव्यस्त्रियोंकी मुक्ति सिद्ध हो जाय, यह तो जाना जाता है? (शंकाकारके सामने ९३वाँ सूत्र ‘संजद’ पदसे युक्त है और उसमें द्रव्य अथवा भावका स्पष्ट उल्लेख न होनेसे उसे प्रस्तुत शंका उत्पन्न हुई है। वह समझ रहा है कि ९३वें सूत्रमें ‘संजद’ पदके होनेसे द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष सिद्ध होता है। यदि सूत्रमें ‘संजद’ पद न हो, पाँच ही गुणस्थान प्रतिपादित हों तो यह द्रव्यस्त्री मुक्तिविषयक इस प्रकारकी शंका, जो इसी सूत्रपरसे हुई है, कदापि नहीं हो सकती)। इस शंकाका वीरसेन स्वामी उत्तर देते हैं कि यदि ऐसी शंका करो तो वह ठीक नहीं है क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सबस्त्र होनेसे पंचम अप्रत्याख्यान (संयमासंयम) गुणस्थानमें स्थित हैं और इसलिये उनके संयम नहीं बन सकता है। इस उत्तरसे भी स्पष्ट जाना जाता है कि सूत्रमें यदि पाँच ही गुणस्थानोंका विधान होता तो वीरसेन स्वामी द्रव्यस्त्रीमुक्तिका प्रस्तुत सबस्त्र हेतु द्वारा निराकरण न करते, उसी सूत्रको ही उपस्थित करते तथा उत्तर देते कि द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष नहीं सिद्ध होता, क्योंकि इसी आगमसूत्रसे उसका निषेध है। अर्थात् प्रस्तुत ९३वें सूत्रमें आदिके पाँच ही गुणस्थान द्रव्यस्त्रियोंके बतलाये हैं, छठे आदि नहीं। वीरसेन स्वामीकी यह विशेषता है कि जब तक किसी बातका साधक आगम प्रमाण रहता है, तो पहले वे उसे ही उपस्थित करते हैं, हेतुको नहीं, अथवा उसे पीछे आगमके समर्थनमें करते हैं।

शंकाकार फिर कहता है कि द्रव्यस्त्रियोंके भले ही द्रव्यसंयम न बने, भावसंयम तो उनके सबस्त्र रहनेपर भी बन सकता है, उसका कोई विरोध नहीं है? इसका वे पुनः उत्तर देते हैं कि नहीं, द्रव्यस्त्रियोंके भावासंयम है, भावसंयम नहीं, क्योंकि भावासंयमका अविनाभावी वस्त्रादिका ग्रहण भावासंयमके बिना नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह कि द्रव्यस्त्रियोंके वस्त्रादि ग्रहण होनेसे ही यह प्रतीत होता है कि उनके भावसंयम भी नहीं है, भावासंयम ही है क्योंकि वह उसका कारण है। वह फिर शंका करता है ‘फिर उनमें चउदह गुणस्थान कैसे प्रतिपादित किये हैं? अर्थात् प्रस्तुत सूत्रमें ‘संजद’ शब्दका प्रयोग क्यों किया है? इसका वीरसेन स्वामी समाधान करते हैं कि नहीं, भावस्त्रीविशिष्ट मनुष्यगतिमें उक्त चउदह गुणस्थानोंका सत्त्व प्रतिपादित किया है। अर्थात् ९३वें सूत्रमें जो ‘संजद’ शब्द है वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है, द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं। इस शंका-समाधानसे तो बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत ९३वें सूत्रमें ‘संजद’ पद है और वह छठेसे चौदह तकके गुणस्थानोंका बोधक है। और इसलिए वीरसेन स्वामीने उसकी उपपत्ति एवं संगति भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे बैठाई है, जैसीकि तत्त्वार्थवार्तिककार अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें बैठाई है। यदि उक्त सूत्रमें ‘संजद’ पद न हो, तो ऐसी न तो शंका उठती और न

उक्त प्रकारसे उसका समाधान होता । दोनोंका रूप भिन्न ही होता । अर्थात् प्रस्तुत सूत्र द्रव्यस्त्रियोंके ही ५ गुणस्थानोंका विधायक ही और उनकी मुक्तिका निषेधक ही तो “अस्मादेव आर्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्” ऐसी शंका कदापि न उठती । बल्कि “द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः कथं न भवति” इस प्रकारसे शंका उठती और उस दशमें “अस्मादेव आर्षाद्” और “निर्वृत्तिः सिद्धयेत्” ये शब्द भूल करके भी प्रयुक्त न किये जाते । अतः इन शब्दोंके प्रयोगसे भी स्पष्ट है कि ९३वें सूत्रमें द्रव्यस्त्रियोंके ५ गुणस्थानोंका विधान न होकर भावस्त्रियोंके १४ गुणस्थानोंका विधान है और वह ‘संजद’ पदके प्रयोग द्वारा अभिहित है । और यह तो माना ही नहीं जा सकता है कि उपर्युक्त टीकामें चउदह गुणस्थानोंका जो उल्लेख है वह किसी दूसरे प्रकरणके सूत्रसे सम्बद्ध है क्योंकि “अस्मादेव आर्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत्” शब्दों द्वारा उसका संबंध प्रकृत सूत्रसे ही है, यह सुदृढ़ है ।

शंकाकार फिर शंका उठाता है कि भाववेद तो वादरकषाय (नौवें गुणस्थान) से आगे नहीं है और इसलिये भावस्त्री मनुष्यगतिमें चउदह गुणस्थान सम्भव नहीं हैं ? इसका वे उत्तर देते हैं कि ‘नहीं, यहाँ योगमार्गणा सम्बन्धी गतिप्रकरणमें वेदकी प्रधानता नहीं है किन्तु गतिकी प्रधानता है और वह शीघ्र नष्ट नहीं होती । मनुष्यगतिकर्मका उदय तथा सत्त्व चउदहवें गुणस्थान तक रहता है और इसलिये उसकी अपेक्षा भावस्त्रीके चउदहगुणस्थान उपपन्न है । इसपर पुनः शंका उठी कि, ‘वेदविशिष्ट मनुष्यगतिमें वे चउदह गुणस्थान सम्भव नहीं हैं ? इसका समाधान किया कि नहीं, वेदरूप विशेषण यद्यपि (नौवें गुणस्थानमें) नष्ट हो जाता है फिर भी उपचारसे उक्त व्यपदेशको धारण करने वाली मनुष्यगतिमें, जो चउदहवें गुणस्थान तक रहती है, चउदह गुणस्थानोंका सत्त्व विरुद्ध नहीं है ।’ इस सब शंका-समाधानसे स्पष्ट हो जाता है कि टीका द्वारा ९३वें सूत्रमें ‘संजद’ पदका निःसंदेह समर्थन है और वह भावस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे है द्रव्यस्त्री मनुष्यकी अपेक्षासे नहीं ।

पं० मदनलालजी शास्त्रीने टीकागत उल्लिखित स्थलका कुछ आशय और दिया है लेकिन वे यहाँ भी स्वलिप्त हुए हैं । आप लिखते हैं—“अब आगेको टीकाका आशय समझ लीजिए, आगे यह शंका उठाई है कि इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या ? उत्तरमें टीकाकार आचार्य वीरसेन कहते हैं कि नहीं, इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है ।” यहाँ पंडितजी ने “इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या ? और इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है ।” लिखा है वह “अस्मादेव आर्षाद् द्रव्यस्त्रीणां निर्वृत्तिः सिद्धयेत् इति चेत् न, सवासस्त्वावप्रत्याख्यानगुणस्थितानां संयमानुपपत्तेः ।” इन वाक्योंका आशय कैसे निकला ? इनका सीधा आशय तो यह है कि इसी आगमसूत्रसे द्रव्यस्त्रियोंके मोक्ष सिद्ध हो जाये ? इसका उत्तर दिया गया कि ‘नहीं, क्योंकि द्रव्यस्त्रियाँ सबस्त्र होनेके कारण पंचम अप्रत्याख्यान गुणस्थानमें स्थित हैं और इसलिये उनके संयम नहीं बन सकता है । परन्तु पंडितजीने ‘क्या’ तथा ‘इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है ।’ शब्दोंको जोड़कर शंका और उसका उत्तर दोनों ही सर्वथा बदल दिये हैं । टीकाके उन दोनों वाक्योंमें न तो ऐसी शंका है कि इसी आगमसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष सिद्ध होती है क्या ? और न उसका ऐसा उत्तर है कि ‘इसी आगमसे यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं हो सकती है ।’ यदि इसी आगमसूत्रसे द्रव्यस्त्रीके मोक्षका निषेध प्रतिपादित होता तो वीरसेन स्वामी ‘सवासस्त्वात्’ हेतु नहीं देते, उसी आगमसूत्रको ही प्रस्तुत करते, जैसाकि सम्यग्दृष्टिकी स्त्रियोंमें उत्पत्तिनिषेधमें उन्होंने आगमको ही प्रस्तुत किया है, हेतुका नहीं । अतएव पंडितजीका यह लिखना भी सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि ‘यदि ९३वें सूत्रमें ‘संजद’ पद होता तो आचार्य वीरसेन इस प्रकार टीका नहीं करते

कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होती है।' क्योंकि वीरसेन स्वामीने यह कहीं भी नहीं लिखा कि इसी आर्षसे द्रव्यस्त्रीके मोक्ष नहीं सिद्ध होता है।' पंडितजीसे अनुरोध करूंगा कि वे ऐसे गलत आशय कदापि निकालनेकी कृपा न करें।

पंडितजीका यह लिखना भी संगत नहीं है कि वीरसेन स्वामीने 'संयम' पदका अपनी टीकामें थोड़ा भी जिकर नहीं किया। यदि सूत्रमें 'संयम' पद होता तो यहाँ 'संयम' पद दिया गया है वह किस अपेक्षासे है? इससे द्रव्यस्त्रीके संयम सिद्ध हो सकेगा क्या? आदि शंका भी वे अवश्य उठाते और समाधान करते।'

हम पंडितजीसे पूछते हैं कि 'संयम' पदका क्या अर्थ है? यदि छठेसे चउदह तकके गुणस्थानोंका ग्रहण उसका अर्थ है तो उनका टीकामें स्पष्ट तो उल्लेख है। यदि द्रव्यस्त्रियोंके द्रव्यसंयम और भावसंयम दोनों ही नहीं बनते हैं तब उनमें चउदह गुणस्थान कैसे बतलाये? नहीं, भावस्त्री विशिष्ट मनुष्यगतिकी अपेक्षासे इनका सत्त्व बतलाया गया है—“कथं पुनस्तासु चतुर्दशगुणस्थानानीति चेत्, न भावस्त्रीविशिष्ट-मनुष्यगतौ तत्सत्त्वाविरोधात्”—यह क्या है? आपकी उपर्युक्त शंका और समाधान ही तो है। शंकाकार समझ रहा है कि प्रस्तुत सूत्रमें जो 'संजद' पद है वह द्रव्यस्त्रियोंके लिये आया है और उसके द्वारा छठेसे चउदह तकके गुणस्थान उनके बतलाए गये हैं। वीरसेन स्वामी उसकी इस शंकाका उत्तर देते हैं कि चउदह गुणस्थान भावस्त्रीकी अपेक्षासे बताये गए हैं, द्रव्यस्त्रीकी अपेक्षासे नहीं। इससे साफ है कि सूत्रमें 'संजद' पद दिया हुआ है और वह भावस्त्रीकी अपेक्षासे है।

पण्डितजीने आगे चलकर एक बात और विचित्र लिखी है कि 'प्रस्तुत सूत्रकी टीकामें जो चउदह गुणस्थानों और भाववेद आदिका उल्लेख किया गया है उसका सम्बन्ध इस सूत्रसे नहीं है—अन्य सूत्रोंसे है—इसी सिद्धान्तशास्त्रमें जगह-जगह ९ और १४ गुणस्थान बतलाये गये हैं, किन्तु पण्डितजी यदि गंभीर-तासे “अस्मादेव आर्षाद्” इत्यादि वाक्यों पर गौर करते तो वे उक्त बात न लिखते। यह एक साधारण विवेकी भी जान सकता है कि यदि दूसरी जगहोंमें उल्लिखित गुणस्थानोंकी संगति यहाँ बैठाई गयी होती तो “अस्मादेव आर्षाद्” वाक्य कदापि न लिखा जाता, क्योंकि आपके मतसे प्रस्तुत सूत्रमें उक्त १४ गुणस्थानों या 'संजद' पदका उल्लेख नहीं है। जब सूत्रमें 'संजद' पद है और उसके द्वारा चउदह गुणस्थानोंका संकेत (निर्देश) है तभी यहाँ द्रव्यस्त्री-मुक्तिविषयक शंका पैदा हुई है और उसका समाधान किया गया है। यद्यपि आलापाधिकार आदिमें पर्याप्त मनुष्यनियोंके चउदह गुणस्थान बतलाये हैं तथापि वहाँ गतिका प्रकरण नहीं है। यहाँ गतिका प्रकरण है और इसलिये उक्त शंका-समाधानका यहीं होना सर्वथा संगत है। अतः ९ और १४ गुणस्थानोंके उल्लेखका संबंध प्रकृत सूत्रसे ही है, अन्य सूत्रोंसे नहीं। अतएव स्पष्ट है कि टीकासे भी ९३ वे सूत्रमें 'संजद' पदका समर्थन होता है और उसकी उसमें चर्चा भी खुले तौर से की गयी है।

(५) अब केवल पाँचवीं युक्ति रह जाती है सो उसके सम्बन्धमें बहुत कुछ पहली और दूसरी युक्ति की चर्चामें कथन कर आये हैं। हमारा यह भय कि—“इस सूत्रको द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका विधायक न माना जायगा तो इस सिद्धान्तग्रन्थसे उनके पाँच गुणस्थानोंके कथनकी दिग्गम्बर मान्यता सिद्ध न हो सकेगी और जो प्रो० हीरालालजी कह रहे हैं उसका तथा श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग आवेगा।” सर्वथा व्यर्थ है, क्योंकि विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, हेतुओं, संगतियों, पुरातत्त्वके अवशेषों, ऐतिहासिक तथ्यों आदिसे सिद्ध है कि द्रव्यस्त्रीका मोक्ष नहीं होता और इसलिये श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग नहीं आ सकता। आज तो दिग्गम्बर मान्यताके पोषक और समर्थक इतने दिगुलरूपमें प्राचीनतम प्रमाण मिल रहे हैं जो शायद

पिछली शताब्दियोंमें भी न मिले होंगे। पुरातत्त्वका अबतक जितना अन्वेषण हो सका है और भूगर्भसे उसकी खुदाई हुई है, उन सबमें प्राचीनसे प्राचीन दिग्म्बर नग्न पुरुषमूर्तियाँ ही उपलब्ध हुई हैं और जो दो हजार वर्षसे भी पूर्वकी हैं। परन्तु सचेल मूर्ति या स्त्रीमूर्ति, जो जैन निर्ग्रन्थ हो, कहींसे भी प्राप्त नहीं हुई। हाँ, दशवीं शताब्दीके बादकी जरूर कुछ सचेल पुरुषमूर्तियाँ मिलती बतलाई जाती हैं सो उस समय दोनों ही परम्पराओंमें काफ़ी मतभेद हो चुका था तथा खण्डन-मण्डन भी आपसमें चलने लगा था। सच पूछा जाये तो उस समय दोनों ही परम्पराएँ अपनी अपनी प्रगति करनेमें अग्रसर थीं। अतः उस समय यदि सचेल पुरुष-मूर्तियाँ भी निर्मित कराई गई हों तो आश्चर्य ही नहीं है। दुर्भाग्यसे आज भी हम अलग हैं और अपनेमें अधिकतम दूरी ला रहे हैं और लाते जा रहे हैं। समय आये और हम इस तथ्यको स्वीकार करें, यही अपनी भावना है। और यदि संभव हो तो हम पुनः आपसमें एक हो जावें तथा भगवान् महावीरके अहिंसा और स्याद्वादमय शासनको विश्वव्यापी बनायें।

उपसंहार

उपरोक्त विवेचनके प्रकाशमें निम्न परिणाम सामने आते हैं—

१. षट्खण्डागममें समस्त कथन भावकी अपेक्षासे किया गया है और इसलिये उसमें द्रव्यस्त्रीके गुण-स्थानोंकी चर्चा नहीं आयी।

२. ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका होना न आगमसे विरुद्ध है और न युक्तिसे। बल्कि न होनेमें इस योगमार्गणा सम्बन्धी मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंके कथनके अभावका प्रसंग, वीरसेन स्वामीके टीकागत 'संजद' पदके समर्थनकी असंगति और तत्त्वार्थवार्तिककार अकलंकदेवके पर्याप्त मनुष्यनियोंमें १४ गुणस्थानोंको बतलानेकी असंगति आदि कितने ही अनिवार्य दोष सम्प्राप्त होते हैं।

३. "पर्याप्त" शब्दका द्रव्य अर्थ विवक्षित नहीं है, उसका भाव अर्थ विवक्षित है। पर्याप्तकर्म जीव-विषाकी प्रकृति है और उसके उदय होनेपर ही जीव पर्याप्तक कहा जाता है।

४. पं० मखनलालजी शास्त्रीने भावस्त्रीमें सम्यग्दृष्टिके उत्पन्न होनेकी मान्यता प्रकट की है वह स्वल्पित और सिद्धान्तविरुद्ध है। स्त्रीवेदकी उदय व्युत्पत्ति दूसरे ही गुणस्थानमें हो जाती है और इसलिये अपर्याप्त अवस्थामें भावस्त्रीके चौथा गुणस्थान कदापि संभव नहीं है।

५. वीरसेन स्वामीके "अस्मादेवापदि" इत्यादि कथनसे सूत्रमें 'संजद' पदका टीकाद्वारा समर्थन होता है।

६. द्रव्यस्त्रीके गुणस्थानोंका कथन मुख्यतया चरणानुयोगसे सम्बन्ध रखता है और षट्खण्डागम चरणानुयोग है, इसलिए उसमें उनके गुणस्थानोंका प्रतिपादन नहीं किया गया है। द्रव्यस्त्रीके भोक्षका निषेध विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, हेंतुओं, पुरातत्त्वके अवशेषों, ऐतिहासिक तथ्यों आदिसे सिद्ध है और इसलिये षट्-खण्डागममें द्रव्यस्त्रियोंके गुणस्थानोंका विधान न मिलनेसे श्वेताम्बर मान्यताका अनुषंग नहीं आ सकता।

नियमसारकी ५३वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन

प्राथमिक वृत्त

आ० कुन्दकुन्दका नियमसार जैन परम्परामें उसी प्रकार विश्रुत एवं प्रसिद्ध प्राकृत ग्रन्थ है जिस प्रकार उनका समयसार है। दोनों ग्रन्थोंका पठन-पाठन और स्वाध्याय सर्वाधिक है। ये दोनों ग्रन्थ मूलतः आध्यात्मिक हैं। हाँ, समयसार जहाँ पूर्णतया आध्यात्मिक है वहाँ नियमसार आध्यात्मिकके साथ तत्त्वज्ञान प्ररूपक भी है।

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय इन तीनपर आ० अमृतचन्द्रकी संस्कृत-टीकाएँ हैं, जो बहुत ही दुरूह एवं दुरवगाह हैं। किन्तु तत्त्वस्पर्शी और मूलकार आ० कुन्दकुन्दके अभिप्रायको पूर्णतया अभिव्यक्त करनेवाली तथा विद्वज्जनानन्दिनी है। नियमसारपर उनकी संस्कृत-टीका नहीं है। मेरा विचार है कि उसपर भी उनकी संस्कृत-टीका होनी चाहिए, क्योंकि यह ग्रन्थ भी उनकी प्रकृति एवं रुचिके अनुरूप है।

इसपर श्री पद्मप्रभमलधारिदेवकी संस्कृत-व्याख्या उपलब्ध है, जिसमें उन्होंने उसकी गाथाओंकी संस्कृत-व्याख्या तो दी है। साथमें अपने और दूसरे ग्रन्थकारोंके प्रचुर संस्कृत-पद्योंको भी इसमें दिया है। उनकी यह व्याख्या अमृतचन्द्रकी व्याख्याओं जैसी गहन तो नहीं है, किन्तु अभिप्रेतके समर्थनमें उपयुक्त है ही।

प्रसंगवश हम नियमसार और उसकी इस व्याख्याको देख रहे थे। जब हमारी दृष्टि नियमसारकी ५३वीं गाथा और उसकी संस्कृत-व्याख्यापर गयी, तो हमें प्रतीत हुआ कि उक्त गाथाकी व्याख्या करनेमें श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवसे बहुत बड़ी सैद्धान्तिक भूल हो गयी है। श्रीकानजी स्वामी भी उनकी इस भूलको नहीं जान पाये और उनकी व्याख्याके अनुसार उक्त गाथाके उन्होंने प्रवचन किये। सोनगढ़ और अब जयपुर से प्रकाशित आत्मधर्ममें प्रकट हुए उनके वे प्रवचन उसी भूलके साथ प्रकाशित किये गये हैं। सम्पादक डॉ० पं० हुकमचन्द्रजो भारिल्लने भी उनका संशोधन नहीं किया। सोनगढ़से ही प्रकाशित नियमसार एवं उसकी संस्कृत-व्याख्याका हिन्दी अनुवाद भी अनुवादक श्री मगनलाल जैनने उसी भूलसे भरा हुआ प्रस्तुत किया है।

ऐसी स्थितिमें हमें मूल गाथा, उसकी संस्कृत व्याख्या, प्रवचन और हिन्दी अर्थपर विचार करना आवश्यक जान पड़ा। प्रथमतः हम यहाँ नियमसारकी वह ५३ वीं गाथा और उसकी संस्कृत-व्याख्या दे रहे हैं—

सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणमुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेळु भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥

‘अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञ-मुखकमलविनिर्गतसमस्त-वस्तुप्रतिपादनसमर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानामिति । ये मुमुक्षवः तेष्युपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अन्तरङ्गहेतव इत्युक्ता दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशादिति ।’—

—नियमसा० टी०, पृ० १०९, सोनगढ़ सं० ।

अनुवादक द्वारा किया गया दोनोंका हिन्दी अनुवाद

गाथा व उसकी इस संस्कृत-व्याख्याका हिन्दी अनुवाद, जो पं० हिम्मतलाल जेठालालशाहके गुजराती अनुवादका अक्षरशः रूपान्तर है, श्री मगनलाल जैनने इस प्रकार दिया है—

‘सम्यक्त्वका निमित्त जिनसूत्र है । जिनसूत्रके जाननेवाले पुरुषोंको (सम्यक्त्वके) अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक है ।’ (गाथार्थ) । ‘इस सम्यक्त्व परिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतराग सर्वज्ञके मुखकमलसे निकला हुआ समस्त वस्तुके प्रतिपादनमें समर्थ द्रव्यश्रुतरूप तत्त्वज्ञान ही है । जो मुमुक्षु हैं उन्हें भी उपचारसे पदार्थनिर्णयके हेतुपनेके कारण (सम्यक्त्व परिणामके) अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उन्हें दर्शनमोहनीयकर्मके क्षयादिक है ।’—बही, पृ० १०९ ।

इस गाथा (५३)के गुजराती पद्यानुवादका हिन्दी पद्यानुवाद भी श्री मगनलाल जैनने दिया है, जो इस प्रकार है—

‘जिनसूत्र समकित हेतु है, अरु सूत्रज्ञाता पुरुष जो ।

वह जान अन्तर्हेतु जिसके दर्शमोहक्षयादि हो ॥५३॥’

उक्त गाथाकी संस्कृत-व्याख्या, प्रवचन, गुजराती और हिन्दी अनुवादोंपर विचार

किन्तु उक्त गाथाके संस्कृत-व्याख्याकार श्री पद्मप्रभमलवारिदेव द्वारा की गयी संस्कृत-व्याख्या, गाथा तथा व्याख्यापर किये गये श्री कानजी स्वामीके प्रवचन, दोनोंके गुजराती और हिन्दी अनुवाद न मूलकार आचार्य कुन्दकुन्दके आशयानुसार हैं और न सिद्धान्तके अनुकूल हैं । यद्यार्थमें इस गाथामें आचार्य कुन्दकुन्दने सम्यग्दर्शनके बाह्य और अन्तरंग दो निमित्त कारणोंका प्रतिपादन किया है । उन्होंने कहा है कि ‘सम्यक्त्वका निमित्त (बाह्य सहकारी कारण) जिनसूत्र और जिनसूत्रज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरंग हेतु (अभ्यन्तर निमित्त) दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि हैं ।’

यहाँ गाथाके उत्तरार्धमें जो ‘पहुदी’ शब्दका प्रयोग किया गया है वह प्रथमा विभक्तिके बहुवचनका रूप है । संस्कृतमें उसका ‘प्रभृतयः’ रूप होता है । वह पंचमी विभक्ति—‘प्रभृतेः’ का रूप नहीं है, जैसा कि संस्कृत-व्याख्याकारने समझ लिया है और तदनुसार उनके अनुसर्ताओं—श्री कानजी स्वामी, गुजराती अनुवादक पं० हिम्मतलाल जेठालाल शाह तथा हिन्दी अनुवादक श्री मगनलाल जैन आदिने भी उसका अनुसरण किया है । ‘पहुदी’ शब्दसे आ० कुन्दकुन्दको दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयोपशम और उपशम इन दोका संग्रह अभिप्रेत है, क्योंकि कण्ठतः उक्त दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयके साथ उन दोनोंका सम्बन्ध है । और इस प्रकार क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक इन तीन सम्यक्त्वोंका अन्तरंग निमित्त क्रमशः दर्शनमोहनीय-कर्मके क्षय, क्षयोपशम तथा उपशमको बताना उन्हें इष्ट है । अतएव ‘पहुदी’ शब्द प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त रूप है, पंचमी विभक्तिका नहीं ।

अन्तरंग निमित्त बाह्य वस्तु नहीं होती : सिद्धान्त प्रमाण

आचार्य पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१-७) में तत्त्वार्थसूत्रके ‘निर्देश स्वामित्वसाधन.....’ आदि सूत्र (१-७) की व्याख्या करते हुए सम्यग्दर्शनके बाह्य और अभ्यन्तर दो साधन बतलाकर बाह्य साधन तो चारों

गतियोंमें विभिन्न प्रतिपादन किये हैं। किन्तु अम्यन्तर साधन सभी (चारों) गतियोंमें दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय और क्षयोपशमको ही बतलाया है। यथा—

‘साधनं द्विविधं अम्यन्तरं बाह्यं च । अम्यन्तरं दर्शनमोहस्योपशमः क्षयः क्षयोपशमो वा । बाह्यं नारकाणां प्राक्चतुर्ध्याः सम्यग्दर्शनस्य साधनं केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिद्वेदनाभिभवः । चतुर्थीमारम्य आ सप्तम्या नारकाणां जातिस्मरणं वेदनाभिभवश्च । तिरश्चां केषाञ्चिज्जातिस्मरणं केषाञ्चिद्धर्मश्रवणं केषाञ्चिज्जिनबिम्बदर्शनम् । मनुष्याणामपि तथैव ।—स० सि० पृ० २६, भा० ज्ञा० पी० संस्क० ।

आचार्य अकलङ्कदेवने भी तत्त्वार्थवार्तिक (१-७) में लिखा है कि ‘दर्शनमोहोपशमादि साधनं बाह्यं चोपदेशादि स्वात्मा वा ।’ अर्थात् सम्यक्त्वका अम्यन्तर साधन दर्शनमोहनीय कर्मका उपशम, क्षय और क्षयोपशम है तथा बाह्य साधन उपदेशादि है और उपादानकारण स्वात्मा है ।

इन दो आचार्योंके निरूपणोंसे प्रकट है कि सम्यक्त्वका अम्यन्तर (अन्तरंग) निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय, क्षयोपशम और उपशम है। जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुष सम्यक्त्वके अम्यन्तर निमित्त (हेतु) नहीं है। वास्तवमें जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुष जिनसूत्रकी तरह एकदम पर (भिन्न) है। वे अन्तरंग हेतु उपचारसे भी कदापि नहीं हो सकते। धार्मिक सम्यग्दर्शनकी आवारक दर्शनमोहनीय कर्मकी क्षयणाका प्रारम्भ केवलीट्टिक (केवली या श्रुतकेवली) के पादसान्निध्यमें होनेका जो सिद्धान्तशास्त्रमें कथन है उसीको लक्ष्यमें रखकर गाथामें जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुषोंको भी सम्यक्त्वका बाह्य निमित्तकारण कहा गया है। उन्हें अन्तरंग कारण बताना सिद्धान्त-विरुद्ध है। तथा उनके साथ दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयादिका हेतु रूपमें सम्बन्ध जोड़ना तो एकदम गलत और अनुपयुक्त है। वस्तुतः सम्यक्त्वके उन्मुख जीवोंमें ही होनेवाला दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय, क्षयोपशम या उपशम उनके सम्यक्त्वका अन्तरंग हेतु है और जिनसूत्रश्रवण या उसके ज्ञाता पुरुषोंका सान्निध्य बाह्यनिमित्त है।

कुन्दकुन्द-भारतीके सम्पादक द्वारा सम्पुष्टि

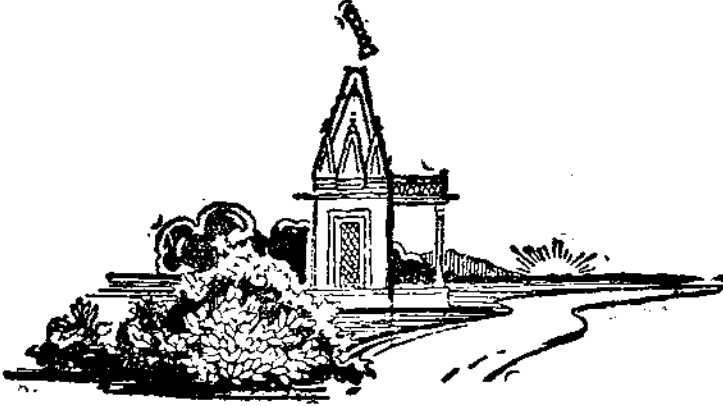
कुन्दकुन्द-भारतीके सम्पादक डॉ० पं० पन्नालालजी साहित्याचार्यने भी उक्त गाथा (५३) का वही अर्थ किया है जो हमने ऊपर प्रदर्शित किया है। उन्होंने लिखा है—

‘सम्यक्त्वका बाह्य निमित्त जिनसूत्र—जिनागम और उसके ज्ञायक पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय आदि कहा गया है।’ इसका भावार्थ भी उन्होंने दिया है। वह भी द्रष्टव्य है। उसमें लिखा है कि ‘निमित्तकारणके दो भेद हैं—१ बहिरंग निमित्त और २ अन्तरंगनिमित्त। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका बहिरंग निमित्त जिनागम और उसके ज्ञाता पुरुष हैं तथा अन्तरंग निमित्त दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यत्व, सम्यङ्मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वप्रकृति एवं अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन प्रकृतियोंका उपशम, क्षय और क्षयोपशमका होना है। बहिरंग निमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि होती भी है और नहीं भी होती। परन्तु अन्तरंगनिमित्तके मिलनेपर कार्यकी सिद्धि नियमसे होती है ॥५३॥’—वही, पृ० २०७।

उपसंहार

इस विवेचनसे स्पष्ट है कि नियमसारके संस्कृत-टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेवने उल्लिखित गाथाकी व्याख्यामें जिनसूत्रके ज्ञाता पुरुषोंको सम्यक्त्वका उपचारसे अन्तरंग हेतु बतला कर तथा उनसे दर्शनमोहनीय कर्मके क्षयादिकका सम्बन्ध जोड़ कर महान् सैद्धान्तिक भूल की है। उसी भूलका अनुसरण सोनगढने किया है। श्रीकानजी स्वामीने श्री पद्मप्रभमलधारिदेवकी इस गाथा (५३) की संस्कृत व्याख्यापर सूक्ष्म ध्यान नहीं दिया। फलतः उनको ही व्याख्याके अनुसार उन्होंने गाथा और व्याख्याके प्रवचन किये, जो बहुत बड़ी भूल है। गुजराती और हिन्दी अनुवादकोंने भी दोनोंके अनुवाद उसी भूलसे भरे हुए किये।

इन भूलोंका परिमार्जन होना आवश्यक है, ताकि गलत परम्परा आगे न चले।



अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक : कुछ प्रश्न और समाधान

प्राग्वृत्त

'श्रमण' के सम्पादकने 'जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन' की समीक्षामें कुछ ऐसी बातें कही हैं, जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है। यद्यपि समीक्षकको समीक्षा करनेकी पूरी स्वतन्त्रता होती है, किन्तु उसे यह भी अनिवार्य है कि वह पूर्वाग्रहसे मुक्त रहकर समीक्षके गुण-दोषोंका पर्यालोचन करे। यही समीक्षाकी मर्यादा है।

ज्ञातव्य है कि समीक्षित ग्रन्थके शोध-निबन्ध और अनुसन्धानपूर्ण प्रस्तावनाएँ आजसे लगभग ३९ वर्ष पूर्व (सन् १९४२ से १९७७ तक) 'अनेकान्त', 'जैनसिद्धान्त-भास्कर' आदि पत्रों तथा न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा आदि ग्रन्थोंमें प्रकाशित हैं। किन्तु विगत वर्षोंमें 'श्रमण' के सम्पादक या अन्य किसी विद्वान्ने उनपर कोई प्रतिक्रिया प्रकट नहीं की। अब उन्होंने उक्त समीक्षामें ग्रन्थके कुछ लेखोंके विषयोंपर प्रतिक्रिया व्यक्त की है। परन्तु उसमें अनुसन्धान और गहराईका नितान्त अभाव है। हमें प्रसन्नता होती, यदि वे पूर्वाग्रहसे मुक्त होकर शोध और गम्भीरताके साथ उसे प्रस्तुत करते। यहाँ उनके उठाये प्रश्नों अथवा मुद्दोंपर विचार करूँगा।

१. प्रश्न १ और उसका समाधान :

सम्पादकका प्रथम प्रश्न है कि 'समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा आदि कृतियोंमें कुमारिल, धर्मकीर्ति आदिकी मान्यताओंका खण्डन होनेसे उसके आधारपर समन्तभद्रको ही उनका परवर्ती क्यों न माना जाये ?'

स्मरण रहे कि हमने 'कुमारिल और समन्तभद्र' शीर्षक^१ शोध निबन्धमें सप्रमाण यह प्रकट किया है कि समन्तभद्रकी कृतियों (विशेषतया आप्तमीमांसा) का खण्डन कुमारिल और धर्मकीर्तिके ग्रन्थोंमें पाया जाता है। अतएव समन्तभद्र उक्त दोनों ग्रन्थकारोंसे पूर्ववर्ती हैं, परवर्ती नहीं। यहाँ हम पुनः उसीका विचार करेंगे।

हम प्रश्नकर्तासे पूछते हैं कि वे बतायें, कुमारिल और धर्मकीर्तिकी स्वयंकी वे कौन-सी मान्यताएँ हैं जिनका समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा आदि कृतियोंमें खण्डन है ? इसके समर्थनमें प्रश्नकारने एक भी उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। इसके विपरीत दोनों ग्रन्थकारोंने समन्तभद्रकी ही आप्तमीमांसागत मान्यताओंका खण्डन किया है। यहाँ हम दोनों ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे कुछ उदाहरण उपस्थित करते हैं।

समन्तभद्र द्वारा अनुमानसे सर्वज्ञ-सिद्धि :

(१) जैनगमों^२ तथा कुन्दकुन्दके प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंमें^३ सर्वज्ञका स्वरूप तो दिया गया है परंतु

१. अनेकान्त, वर्ष ५, किरण १२, ई० १९४५, जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परि०, पृ० ५३८, बीरसेवा-मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी-५, जून १९८०।
२. (क) सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि''''—षट्खं० ५।५।९८।
(ख) से भगवं अरिहं जिणो केवलो सव्वन्नु सव्वभावदरिसी''''सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वं भावाइं जाणमाणो पासमाणो''''—आचारां० सू० २ श्रु० ३
३. प्रवच० सा०, १।४७, ४८, ४९, कुन्दकुन्द-भारती, फ्लटन, १९७०।

अनुमानसे उसकी सिद्धि उनमें उपलब्ध नहीं होती। जैन दार्शनिकोंमें ही नहीं, भारतीय दार्शनिकोंमें भी समन्तभद्र ही ऐसे प्रथम दार्शनिक एवं तार्किक हैं, जिन्होंने आप्तमीमांसा (का० ३, ४, ५, ६, ७) में अनुमानसे सामान्य तथा विशेष सर्वज्ञकी सिद्धि की है।

समन्तभद्रने सर्वप्रथम कहा कि 'सभी तीर्थ-प्रवर्तकों (सर्वज्ञों) और उनके समयों (आगमों-उपदेशोंमें) परस्पर विरोध होनेसे सब सर्वज्ञ नहीं हैं, 'कश्चिदेव'—कोई ही (एक) गुरु (सर्वज्ञ) होना चाहिए।' 'उस एककी सिद्धि ही भूमिका बाँधते हुए उन्होंने आगे (का० ४ में) कहा कि 'किमी व्यक्तिमें दोषों और आवरणोंका विशेष अभाव (ध्वंस) हो जाता है क्योंकि उनकी तरतमता (न्यूनाधिकता) पायी जाती है, जैसे सुवर्णमें तापन, कूटन आदि साधनोंसे उसके बाह्य (कालिमा) और आभ्यन्तर (कीट) दोनों प्रकारके मलोंका अभाव हो जाता है।' इसके पश्चात् वे (का. ५ में) कहते हैं कि 'सूक्ष्मादि पदार्थ किसीके प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि।' इस अनुमानसे सामान्य सर्वज्ञकी सिद्धि की गयी है। वे विशेष सर्वज्ञकी भी सिद्धि करते हुए (का० ६ व ७ में) कहते हैं कि 'हे वीर जिन ! अर्हन् ! वह सर्वज्ञ आप ही हैं, क्योंकि आप निर्दोष हैं और निर्दोष इस कारण हैं, क्योंकि आपके वचनों (उपदेश) में युक्ति तथा आगमका विरोध नहीं है, जबकि दूसरों (एकान्तवादी आप्तों) के उपदेशोंमें युक्ति एवं आगम दोनोंका विरोध है, तब वे सर्वज्ञ कैसे कहे जा सकते हैं ?' इस प्रकार समन्तभद्रने अनुमानसे सामान्य और विशेष सर्वज्ञ की सिद्धि की है। और इसलिए अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करना आप्तमीमांसागत समन्तभद्रकी मान्यता है।

वादिराज और शुभचन्द्रद्वारा उसका समर्थन

आज से एक हजार वर्ष पूर्व (ई० १०२५) के प्रसिद्ध तर्कग्रन्थकार वादिराजसूनि^२ भी उसे (अनुमानद्वारा सर्वज्ञ सिद्ध करनेको) समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) की मान्यता प्रकट की है। पार्श्वनाथ-चरितमें समन्तभद्रके विस्मयावह व्यक्तित्वका उल्लेख करते हुए उन्होंने उनके देवागम द्वारा सर्वज्ञके प्रदर्शन का स्पष्ट निर्देश किया है। इसी प्रकार आ० शुभचन्द्र^३ ने भी देवागम द्वारा देव (सर्वज्ञ) के आगम (सिद्धि) को बतलाया है।

इन असन्दिग्ध प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि करना समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी

१. तीर्थकृतसमयानां च परस्परविरोधतः ।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवद्गुरुः ॥३॥

दोषावरणयोर्हीनिनिश्शेषास्त्यतिशयनात् ।

वचचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।

आप्ताभिमानदग्धानां स्वेषु दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

—समन्तभद्र, आप्तमी०, ३, ४, ५, ६, ७ ।

२. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्वनाथचरि० १।१७

३. देवागमेन येनात्र व्यक्तो देवाऽऽगमः कृतः

—पाण्डवपु० ।

निःसन्देह अपनी मान्यता है। और उत्तरवर्ती अनेक ग्रन्थकार भी उसे शताब्दियोंसे उनकी ही मान्यता मानते चले आ रहे हैं।

कुमारिल द्वारा खण्डन :

अब कुमारिलकी ओर दृष्टिपात करें। कुमारिलने^१ सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारके सर्वज्ञका निषेध किया है। यह निषेध और किसीका नहीं, समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाका है। कुमारिल बड़े आवेगके साथ प्रथमतः सामान्यसर्वज्ञका खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'सभी सर्वज्ञ (तीर्थ-प्रवर्तक) परस्पर विरोधी अर्थ (वस्तुतत्त्व) के जब उपदेश करने वाले हैं और जिनके साधक हेतु समान (एक-से) हैं, तो उन सबोंमें उस एकका निर्धारण कैसे करोगे कि अमुक सर्वज्ञ है और अमुक सर्वज्ञ नहीं है?' कुमारिल उस परस्पर-विरोधको भी दिखाते हुए कहते हैं कि 'यदि सुगत सर्वज्ञ है, कपिल नहीं, तो इसमें क्या प्रमाण है और यदि दोनों सर्वज्ञ हैं, तो उनमें मतभेद कैसा।' इसके अलावा वे और कहते हैं कि 'प्रमेयत्व आदि हेतु जिस (सर्वज्ञ) के निषेधक हैं, उन हेतुओंसे कौन उस (सर्वज्ञ) की कल्पना (सिद्धि) करेगा।'

यहाँ ध्यातव्य है कि समन्तभद्रके 'परस्पर-विरोधतः' पदके स्थानमें 'विरुद्धार्थोपदेशिषु', 'सर्वेषां' की जगह 'सर्वेषु' और 'कश्चिदेव' के स्थानमें 'को नामैकः' पदोंका कुमारिलने प्रयोग किया है और जिस परस्पर विरोधकी सामान्य सूचना समन्तभद्रने की थी, उसे कुमारिलने सुगत, कपिल आदि विरोधी तत्त्वोपदेष्टाओंके नाम लेकर विशेष उल्लेखित किया है। समन्तभद्रने जो सभी तीर्थप्रवर्तकों (सुगत आदि) में परस्पर विरोध होनेके कारण 'कश्चिदेव भवेद् गुरुः' शब्दों द्वारा कोई (एक) को ही गुरु—सर्वज्ञ होनेका प्रतिपादन किया था, उस पर कुमारिलने प्रश्न करते हुए कहा कि 'जब सभी सर्वज्ञ हैं और विरुद्धार्थोपदेशी हैं तथा सबके साधन हेतु एकसे हैं, तो उन सबमेंसे 'को नामैकोऽवधार्यताम्—किस एकका अवधारण (निश्चय) करते हो?' कुमारिल का यह प्रश्न समन्तभद्रके उक्त प्रतिपादनपर ही हुआ है। और उन्होंने उस अनवधारण (सर्वज्ञके निर्णयके अभाव) को 'सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेतिका प्रमा' आदि कथन द्वारा प्रकट भी किया है। यह सब आकस्मिक नहीं है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्रने अपने उक्त प्रतिपादनमें किसीके प्रश्न करनेके पूर्व ही अपनी उक्त प्रतिज्ञा (कश्चिदेव भवेद्गुरुः) को आप्तमीमांसा (का० ४ और ५) में अनुमान-प्रयोगपूर्वक सिद्ध किया है^२। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। अनुमानप्रयोगमें उन्होंने 'अनुमेयत्व' हेतु दिया है जो सर्वज्ञ सामान्य-

१. सर्वज्ञेषु च भूयस्सु विरुद्धार्थोपदेशिषु ।
तुल्यहेतुषु सर्वेषु को नामैकोऽवधार्यताम् ॥
सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।
अथावुभावपि सर्वज्ञा मतभेदः कथं तयोः ॥
प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य च ।
सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ॥

बौद्ध विद्वान् शान्तरक्षितने इन कारिकाओंमें प्रथमकी दो कारिकाएँ अपने तत्त्वसंग्रह (का० ३१४८-४९) में कुमारिलके नामसे दी हैं। दूसरी कारिका विद्यानन्दने अष्टस० पृ० ५ में 'तदुक्तम्' के साथ उद्धृत की है। तीसरी कारिका मीमांसाश्लोकवार्तिक (चोदनासू०) १३२ है।

२. आप्तमी०, का० ४, ५।

का साधक है और जो किसी एकका निर्णायक नहीं है। इसीसे कुमारिलने 'तुल्यहेतुषु सर्वेषु' कह कर उसे अथवा उस जैसे प्रमेयत्व आदि हेतुओंको सर्वज्ञका अनवधारक (अनिश्चायक) कहा है। इतना ही नहीं, उन्होंने एक अन्य कारिकाके द्वारा समन्तभद्रके इस 'अनुमेयत्व' हेतुकी तीव्र आलोचना भी की है और कहा है कि जो प्रमेयत्व आदि हेतु सर्वज्ञके निषेधक हैं, उनसे सर्वज्ञकी सिद्धि कैसे की जा सकती है ?

अकलंक द्वारा उत्तर :

इसका सबल उत्तर समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाके विवृतिकार अकलंकदेवने^३ दिया है। अकलंक कहते हैं कि प्रमेयत्व आदि तो अनुमेयत्व हेतुके पोषक है^३—अनुमेयत्व हेतुकी तरह प्रमेयत्व आदि सर्वज्ञके सद्भावके साधक हैं, तब कौन समझदार उन हेतुओंसे सर्वज्ञका निषेध या उसके सद्भावमें सन्देह कर सकता है।'

यह सारी स्थिति बतलाती है कि कुमारिलने समन्तभद्रका खण्डन किया है, समन्तभद्रने कुमारिलका नहीं। यदि समन्तभद्र कुमारिलके परवर्ती होते तो कुमारिलके खण्डनका उत्तर स्वयं समन्तभद्र देते अकलंकको उनका जवाब देनेका अवसर नहीं आता तथा समन्तभद्रके 'अनुमेयत्व' हेतुका समर्थन करनेका भी उन्हें मौका नहीं मिलता।

(२) अनुमानसे सर्वज्ञ-सामान्यकी सिद्धि करनेके उपरान्त समन्तभद्रने अनुमानसे ही सर्वज्ञ-विशेषकी सिद्धिका भी उपन्यास करके उसे 'अर्हन्त' में पर्यवसित किया है^४। जैसा कि हम ऊपर आप्तमीमांसा कारिका ६ और ७ के द्वारा देख चुके हैं। कुमारिलने समन्तभद्रकी इस विशेष सर्वज्ञताकी सिद्धिका भी खण्डन किया है^५। अर्हन्तका नाम लिए बिना वे कहते हैं कि 'जो लोग जीव (अर्हन्त) के इन्द्रियादि निरपेक्ष एवं सूक्ष्मादि विषयके केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की कल्पना करते हैं वह भी युक्त नहीं है, क्योंकि वह आगमके बिना और आगम केवलज्ञानके बिना सम्भव नहीं है और इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होनेके कारण अरहन्तमें भी सर्वज्ञता सिद्ध नहीं होती।'

जातव्य है कि जैन अथवा जैनेतर परम्परामें समन्तभद्रसे पूर्व किसी दार्शनिकने अनुमानसे उक्त प्रकार विशेष सर्वज्ञकी सिद्धि की हो, ऐसा एक भी उदाहरण उपलब्ध नहीं होता। हाँ, आगमोंमें केवलज्ञानका स्वरूप अवश्य विस्तारपूर्वक मिलता है, जो आगमिक है, आनुमानिक नहीं है। समन्तभद्र ही ऐसे दार्शनिक हैं,

१. मी० श्लो० चो० सू० का० १३२।

२. 'तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुंजाति तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धमर्हति संशयितुं वा।'

—अष्टश० का० ५।

३. अकलंकके उत्तरवर्ती बौद्ध विद्वान् शान्तिरक्षितने भी कुमारिलके खण्डनका जवाब दिया है। उन्होंने लिखा है—

एवं यस्य प्रमेयत्ववस्तुसत्त्वादिलक्षणाः।

निहन्तु हेतवोऽशक्ताः को न तं कल्पयिष्यति ॥

—तत्त्वर्षि० का० ८८५।

४. आप्तमी०, का० ६, ७, वीरसेनामन्दिर-ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी, द्वि० सं० १९७८।

५. एवं यैः केवलज्ञानमिन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।

सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम् ॥

नर्ते तदागमात्सिद्धचेत् न च तेनागमो विना।

—मीमांसा श्लो० ८७।

जिन्होंने अरहन्तमें अनुमानसे सर्वज्ञता (केवलज्ञान) की सिद्धि की है और उसे दोषावरणोंसे रहित, इन्द्रियादि निरपेक्ष तथा सूक्ष्मादिविषयक बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि कुमारिलने समन्तभद्रकी ही उक्त मान्यता का खण्डन किया है।

अकलंक द्वारा इसका भी सबल जवाब

इसका सबल प्रमाण यह है कि कुमारिलके उक्त खण्डनका भी जवाब अकलंकदेवने दिया है^१। उन्होंने बड़े सन्तुलित ढंगसे कहा है कि 'अनुमान द्वारा सुप्रसिद्ध केवलज्ञान (सर्वज्ञता) आगमके बिना और आगम केवलज्ञानके बिना सिद्ध नहीं होता, यह सत्य है, तथापि दोनोंमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं है, क्योंकि पुरुषातिशय (केवलज्ञान) प्रतीतिवशसे माना गया है। इन (केवलज्ञान और आगम) दोनोंमें बीज और अंकुरकी तरह अनादि प्रबन्ध (प्रवाह—सन्तान) है।'

अकलंकके इस उत्तरसे बिलकुल स्पष्ट है कि समन्तभद्रने जो अनुमानसे अरहन्तके केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की सिद्धि की थी, उसीका खण्डन कुमारिलने किया है और जिसका सयुक्तिक उत्तर अकलंकने उक्त प्रकारसे दिया है। केवलज्ञानके साथ 'अनुमानविजृम्भितम्'—'अनुमानसे सिद्ध' विशेषण लगाकर तो अकलंक (वि० सं० ७वीं शती) ने रहा-सहा सन्देह भी निराकृत कर दिया है, क्योंकि अनुमानसे सर्वज्ञविशेष (अरहन्तमें केवलज्ञान) की सिद्धि समन्तभद्रने की है। इस उल्लेख-प्रमाणसे भी प्रकट है कि कुमारिलने समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाका खण्डन किया और जिसका उत्तर समन्तभद्रसे कई शताब्दी बाद हुए अकलंकने दिया है। समन्तभद्रको कुमारिलका परवर्ती माननेपर उनका जवाब वे ही देते, अकलंकको उसका अवसर ही नहीं आता।

कुमारिल द्वारा समन्तभद्रका अनुसरण

(३) कुमारिलने समन्तभद्रका जहाँ खण्डन किया है वहाँ उनका अनुगमन भी किया है^२। विदित है जैन दर्शनमें वस्तुको उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इन तीन रूप माना गया है^३। समन्तभद्रने लौकिक और आध्यात्मिक दो उदाहरणों द्वारा उसकी समर्थ पुष्टि की है^४। इन दोनों उदाहरणोंके लिए उन्होंने एक-एक

१. एवं यत्केवलज्ञानमनुमानविजृम्भितम् ।

नर्ते तदागमात्सिद्धयत् न च तेन विनाऽऽगमः ॥

सत्यमर्थबलादेव पुरुषातिशयो मतः ।

प्रभवः पौरुषेयोऽस्य प्रबन्धोऽनादिरिष्यते ॥—न्या० वि० का० ४१२-१३

२. मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९ ।

३. दध्वं सल्लक्षणयं उत्पादव्ययधुवत्तसंजुतं ।

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णति सव्वण्हू ॥—कुन्दकुन्द, पंचास्ति०, गा० १०

अथवा—'सद्द्रव्यलक्षणम्', उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।—उमास्वाति (गृह्यपिच्छ), त० सू० ५-२९, ३० ।

४. घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिद्वयम् ।

शोकप्रमोद-साध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

पयोन्नतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिन्नतः ।

अगोरसन्नतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥—आ० मी०, का०, ५९, ६० ।

कारिकाका सृजन किया है। पहली (५९वीं) कारिकाके द्वारा उन्होंने प्रकट किया है कि जिस प्रकार घट, मुकुट और स्वर्णके इच्छुकोंको उनके नाश, उत्पाद और स्थितिमें क्रमशः शोक, हर्ष और माध्यस्थ्य भाव होता है और इसलिए स्वर्णवस्तु व्यय, उत्पाद और स्थिति इन तीन रूप है, उसी प्रकार विश्वकी सभी वस्तुएँ त्रयात्मक हैं। दूसरी (६० वीं) कारिकाके द्वारा बतलाया है कि जैसे दुग्धवती, दूध ही ग्रहण करता है, दही नहीं लेता और दहीका व्रत रखनेवाला दही ही लेता है, दूध नहीं लेता है तथा दूध और दही दोनोंका त्यागी दोनोंको ही ग्रहण नहीं करता और इस तरह गोरस उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तीनोंसे युक्त है, उसी तरह अखिल विश्व (तत्त्व) त्रयात्मक है।

कुमारिलने भी समन्तभद्रकी लौकिक उदाहरण वाली कारिका (५९) के आधारपर अपनी नयी ढाई कारिकाएँ रची हैं और समन्तभद्रकी ही तरह उनके द्वारा वस्तुको त्रयात्मक सिद्ध किया है। उनकी इन कारिकाओंमें समन्तभद्रकी कारिका ५९ का केवल बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव ही नहीं है, अपितु उनकी शब्दावली, शैली और विचारसरणि भी उनमें समाहित है। समन्तभद्रने जिस बातको अतिसंक्षेपमें एक कारिका (५९) में कहा है, उसीको कुमारिलने ढाई कारिकाओंमें प्रतिपादन किया है। वस्तुतः विकासका भी यही सिद्धान्त है कि वह उत्तरकालमें विस्तृत होता है। इस उल्लेखसे भी स्पष्ट जाना जाता है कि समन्तभद्र पूर्ववर्ती हैं और कुमारिल परवर्ती।

वादिराज द्वारा सम्पूष्टि

इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि ई० १०२५ के प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित और प्रामाणिक तर्कग्रन्थकार वादिराजसूरि^३ ने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (भाग १, पृ० ४३९) में समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी उल्लिखित कारिका ५९ को और कुमारिल भट्टकी उपरि चर्चित ढाई कारिकाओंमेंसे डेढ़ कारिकाको भी 'उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि' शब्दोंद्वारा उद्धृत करके कुमारिल भट्टको समन्तभद्रका उपजीवी—अनुगामी प्रकट किया है। इससे स्पष्ट है कि एक हजार वर्ष पहले भी दार्शनिक एवं साहित्यकार समन्तभद्रको पूर्ववर्ती और कुमारिल भट्टको उनका परवर्ती विद्वान् मानते थे।

समन्तभद्रका धर्मकीर्ति द्वारा खण्डन

(४) (क) अब धर्मकीर्तिको लीजिए। धर्मकीर्ति (ई० ६३५) ने भी समन्तभद्रको आप्तमीमांसाका खण्डन किया है^३। विदित है कि आप्तमीमांसा (कारिका १०४) में समन्तभद्रने स्याद्वादका लक्षण दिया

१. वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदि ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम् ॥
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं तेन सामान्यनित्यता ॥—मी० श्लो० वा०, पृ० ६१९।
२. "उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि"—शब्दोंके साथ समन्तभद्रकी पूर्वोल्लिखित कारिका ५९ और कुमारिल भट्टकी उपर्युक्त कारिकाओंमेंसे आरम्भकी डेढ़ कारिका उद्धृत है।—न्या० वि० वि०, भाग १, पृ० ४३९।
३. एतेनैव यत्किञ्चिदयुक्तमश्लीलमाकुलम् ।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसंभवात् ॥—प्रमाणवा० १-१८२

है और लिखा है कि 'सर्वथा एकान्तके त्यागसे जो 'किञ्चित्' (कथञ्चित्) का विधान है वह स्याद्वाद है ।'

(क) धर्मकीर्तिने समन्तभद्रके इस स्याद्वाद-लक्षणकी बड़े आवेगके साथ समीक्षा की है । उनके 'किञ्चित्के विधान—स्याद्वादको अयुक्त, अश्लील और आकुल 'प्रलाप' कहा है ।'

ज्ञातव्य है कि आगमोंमें^२ 'सिया पञ्जत्ता, सिया अपञ्जत्ता', 'गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया' जैसे निरूपणोंमें दो भंगों तथा कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायमें^३ 'सिय अत्थि णत्थि उहयं—' इस गाय्या (१४) के द्वारा गिनाये गये सात भंगोंके नाम तो पाये जाते हैं । पर स्याद्वादकी उनमें कोई परिभाषा नहीं मिलती । समन्तभद्रकी आप्तमीमांसामें ही प्रथमतः उसकी परिभाषा और विस्तृत विवेचन मिलते हैं । धर्मकीर्तिने उक्त खण्डन समन्तभद्रका ही किया है, यह स्पष्ट ज्ञात होता है । धर्मकीर्तिके 'तदप्येकान्तसम्भवात्' पद भी आकस्मिक नहीं है, जिसके द्वारा उन्होंने सर्वथा एकान्तके त्यागसे होनेवाले किञ्चित् (कथञ्चित्) के विधान—स्याद्वाद (अनेकान्त) में भी एकान्तकी सम्भावना करके उसका—अनेकान्तका खण्डन किया है ।

(ख) इसके सिवाय धर्मकीर्तिने समन्तभद्रकी उस मान्यताका भी खण्डन किया है^४, जिसे उन्होंने 'सदेव सर्वं को नेच्छेत्' (का० १५) आदि कथन द्वारा स्थापित किया है^५ । वह सान्यता है सभी वस्तुओंको सद्-असद्, एक-अनेक आदि रूपसे उभयात्मक (अनेकान्तात्मक) प्रतिपादन करना । धर्मकीर्ति इसका भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि 'स'को उभयरूप माननेपर उनमें कोई भेद नहीं रहेगा । फलतः जिसे 'दही खा' कहा, वह ऊँटको खानेके लिए क्यों नहीं दौड़ता ? जब सभी पदार्थ सभी रूप हैं तो उनके वाचक शब्द और बोधक ज्ञान भी भिन्न-भिन्न नहीं हो सकते ।'

अकलंक द्वारा जवाब

धर्मकीर्तिके द्वारा किया गया अपने पूर्वज समन्तभद्रका यह खण्डन भी अकलंकको सह्य नहीं हुआ और उनके उपर्युक्त दोनों आक्षेपोंका जवाब बड़ी तेजस्विताके साथ उन्होंने दिया है ।^६ प्रथम आक्षेपका उत्तर

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किञ्चित्त्वित्तिद्विधिः ।

सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥—आप्तमी०, का० १०५ ।

२. भूतबली-पुष्पदन्त, षट् खं० १।१।७९ ।

३. सिय अत्थि णत्थि उहयं अक्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।

दव्वं खु सप्तभंगं भादेसवसेण संभवदि ॥—पञ्चास्ति०, गा० १४ ।

४. सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।

चोदितो दधि खादेति किमुष्टं नाभिधावति ॥—प्रमाण वा० १-१८३ ।

५. कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।

तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।

असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥—देवागम, का० १४, १५ ।

६. (क) ज्ञात्वा विज्ञप्तिमात्रं परमपि च बहिर्भासि भावप्रवादम् ।

चक्रे लोकानुरोधत् पुनरपि सकलं नेति तत्त्वं प्रपेदे ॥

न ज्ञाता तस्य तस्मिन् न च फलमपरं ज्ञायते नापि किञ्चित् ।

इत्यश्लीलं प्रमत्तः प्रलपति जडधीराकुलं व्याकुलाप्तः ॥—न्या० वि० १-१६१ ।

देते हुए वे कहते हैं कि 'जो विज्ञप्ति मात्रको जानता है और लोकानुरोधसे बाह्य—परको भी स्वीकार करता है और फिर भी सबको शून्य कहता है तथा प्रतिपादन करता है कि न ज्ञाता है, न उसमें फल है और न कुछ अन्य जाना जाता है, ऐसा अश्लील, आकुल और अयुक्त प्रलाप करता है, उसे प्रमत्त (पागल), जड़बुद्धि और और विविध आकुलताओंसे घिरा हुआ समझना चाहिए।' समन्तभद्रपर किये गये धर्मकीतिके प्रथम आक्षेपका यह जवाब 'जैसेको तैसा' नीतिका पूर्णतया परिचायक है।

धर्मकीतिके दूसरे आक्षेपका भी उत्तर अकलंक उपहासपूर्वक देते हुए कहते हैं कि 'जो दही और ऊँटमें अभेदका प्रसंग देकर सभी पदार्थोंको एक हो जानेकी आपत्ति प्रकट करता है और इस तरह स्याद्वाद—अनेकान्तवादका खण्डन करता है वह पूर्वपक्ष (अनेकान्तवाद—स्याद्वाद) को न समझकर दूषक (दूषण देने-वाला) होकर भी विदूषक—दूषक नहीं है, जोकर है—उपहासका पात्र है। सुगत भी कभी मृग था और मृग भी सुगत हुआ माना जाता है तथापि सुगतको वन्दनीय और मृगको भक्षणिय कहा गया है और इस तरह पर्यायभेदसे सुगत और मृगमें वन्दनीय एवं भक्षणियकी भेदव्यवस्था तथा चित्तसन्तानकी अपेक्षासे उनमें अभेद व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार प्रतीति बलसे—पर्याय और द्रव्यकी प्रतीतिसे सभी पदार्थोंमें भेद और अभेद दोनोंकी व्यवस्था है। अतः 'दही खा' कहे जानेपर कोई ऊँटको खानेके लिए क्यों दौड़ेगा, क्योंकि सत्—द्रव्यकी अपेक्षासे उनमें अभेद होनेपर भी पर्यायकी दृष्टिसे उनमें उसी प्रकार भेद है, जिस प्रकार सुगत और मृगमें है। अतएव 'दही खा' कहनेपर कोई दही खानेके लिए ही दौड़ेगा, क्योंकि वह भक्षणिय है और ऊँट खानेके लिए वह नहीं दौड़ेगा, क्योंकि वह अभक्षणिय है। इस तरह विश्वकी सभी वस्तुओंको उभयात्मक—अनेकान्तात्मक माननेमें कौन-सी आपत्ति या विपत्ति है अर्थात् कोई आपत्ति या विपत्ति नहीं है।

अकलंकके इन सन्तुलित एवं सबल जवाबोंसे बिलकुल असन्दिग्ध है कि समन्तभद्रकी आप्तमीमांसागत स्याद्वाद और अनेकान्तवादकी मान्यताओंका ही धर्मकीतिने खण्डन किया है और जिसका भूँतुड़, किन्तु शालीन एवं करारा उत्तर अकलंकने दिया है। यदि समन्तभद्र धर्मकीतिके परवर्ती होते तो वे स्वयं उनका जवाब देते और उस स्थितिमें अकलंकको धर्मकीतिके उपर्युक्त आक्षेपोंका उत्तर देनेका मौका ही नहीं आता।

चालीस-पचास वर्ष पूर्व स्व० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, स्व० पं० सुखलाल संघवी आदि कुछ विद्वानोंने समन्तभद्रको धर्मकीतिका परवर्ती होनेकी सम्भावना की थी।^१ किन्तु अब ऐसे प्रचुर प्रमाण सामने आ गये हैं, जिनके आधारपर धर्मकीति समन्तभद्रसे काफी उत्तरवर्ती (३००-४०० वर्ष पश्चात्) सिद्ध हो चुके हैं। इस विषयमें डाक्टर ए०एन० उपाध्ये एवं डा० हीरालाल जैनका शाकटायन व्याकरण पर लिखा

(ख) दध्युष्ट्रादेरभेदत्वप्रसंगादैकचोदनम् ।

पूर्वपक्षमविज्ञाय दूषकोऽपि विदूषकः ॥

सुगतोऽपि मृगो जातो मृगोऽपि सुगतः स्मृतः ।

तथापि सुगतो बन्धो मृगः खाद्यो यथेष्यते ॥

तथा वस्तुबलादेव भेदाभेदव्यवस्थितैः ।

चोदितो दधि खादेति विमुष्टमभिधावति ?—न्या० वि० ३-३७३, ३७४ ।

१. न्यायकु०, द्वि० भा०, प्रस्ता०, पृ० २७, अवल० ग्रन्थत्रय०; प्राक्कथ०, पृ० ९, स्यादकु०, द्वि० भा०, पृ० १८-२०।

प्रधान सम्पादकीय द्रष्टव्य है। 'धर्मकीर्ति और समन्तभद्र' शीर्षक हमारा शोधपूर्ण लेख भी अवलोकनीय है, जिसमें उक्त विद्वानोंके हेतुओंपर विमर्श करनेके साथ ही पर्याप्त नया अनुसन्धान प्रस्तुत किया गया है। ऐसे विषयोंपर हमें उन्मुक्त दिमागसे विचार करना चाहिए और सत्यके ग्रहणमें हिचकिचाना नहीं चाहिए।

प्रश्न २ और उसका समाधान

सम्पादकने दूसरा प्रश्न उठाया है कि 'सिद्धसेनके न्यायावतार और समन्तभद्रके श्रावकाचारमें किसी पद्य (पद्य) को समान रूपसे पाये जानेपर समन्तभद्रको ही पूर्ववर्ती क्यों माना जाय ? यह भी सम्भव है कि समन्तभद्रने स्वयं उसे सिद्धसेनसे लिया हो और वह उससे परवर्ती हो ?'

सम्पादककी प्रस्तुत सम्भावना इतनी कच्ची, शिथिल और निर्जीव है कि उसे पुष्ट करने वाला एक भी प्रमाण नहीं दिया जा सकता और न स्वयं सम्पादकने ही उसे दिया है। अनुसन्धानके क्षेत्रमें यह आवश्यक है कि सम्भावनाके पोषक प्रमाण दिये जायें, तभी उसका मूल्यांकन होता है और तभी वह विद्वानों द्वारा आदृत होती है।

न्यायावतारमें समन्तभद्रके रत्नकरण्डका ही पद्य

यहाँ उसीपर विमर्श किया जाता है। ऊपर जिन समन्तभद्रकी बहुत चर्चा की गयी है, उन्हींका रचित एक श्रावकाचार है, जो सबसे प्राचीन, महत्त्वपूर्ण और व्यवस्थित श्रावकाचारका प्रतिपादक ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें धर्मकी व्याख्याका उद्देश्य बतलाते हुए उसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य इन तीन रूप प्रकट किया गया है। सम्यग्दर्शनका स्वरूप उन्होंने परमार्थदेव, शास्त्र और गुरुका दृढ़ एवं अमूढ़ श्रद्धान कहा है। अतएव उन्हें इन तीनोंका लक्षण बतलाना भी आवश्यक था। देवका लक्षण प्रतिपादन करनेके उपरान्त समन्तभद्रने ९वें पद्यके^२ द्वारा शास्त्रका लक्षण निरूपित किया है। यह पद्य सिद्धसेनके न्यायावतारमें भी उसके ९वें पद्यके ही रूपमें पाया जाता है।

उसपर सयुक्तिक विमर्श

अब विचारणीय है कि यह पद्य रत्नकरण्ड श्रावकाचारका मूल पद्य है या न्यायावतारका मूल पद्य है। श्रावकाचारमें यह जहाँ स्थित है वहाँ उसका होना आवश्यक और अनिवार्य है। किन्तु न्यायावतारमें जहाँ वह है वहाँ उसका होना आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है, क्योंकि वह पूर्वोक्त शब्द-लक्षण (का० ८)^३ के समर्थनमें अभिहित है। उसे वहाँसे हटा देनेपर ग्रन्थका अंग-भंग नहीं होता। किन्तु समन्तभद्रके श्रावकाचारसे उसे अलग कर देनेपर उसका अंग भंग हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि उक्त ९वां पद्य, जिसमें शास्त्रका लक्षण दिया गया है, श्रावकाचारका मूल है और न्यायावतारमें अपने विषय (८वें पद्यमें कथित

१. जैनदर्शन और प्रमाणशास्त्र परिक्षीलन, १२६ से १३३।

२. आप्तोपज्ञपनुल्लंघमदृष्टेष्टविरोधकम्।

तत्त्वोपदेशकृत्सार्ब शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥ —रत्न० इलो० ९।

३. दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः।

तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम् ॥

शब्दलक्षण) के समर्थनके लिए उसे वहाँसे ग्रन्थकारने स्वयं लिया है या किसी उत्तरवर्तीने लिया है और जो बादको उक्त ग्रन्थका भी अंग बन गया। ध्यातव्य है कि श्रावकाचारमें आप्तके लक्षणके बाद आवश्यक तौरपर प्रतिपादनीय शाब्दलक्षणका प्रतिपादक अन्य कोई पद्य नहीं है, जबकि न्यायावतारमें शाब्दलक्षणका प्रतिपादक ८वां पद्य है। इस कारण भी उक्त ९वां पद्य (आप्तोपज्ञमनु०) श्रावकाचारका मूल पद्य है, जिसका वहाँ मूल रूपसे होना नितान्त आवश्यक और अनिवार्य है तथा न्यायावतारमें उसका ८वें पद्यके समझ, मूल रूपमें होना अनावश्यक, व्यर्थ और पुनरुक्त है। अतः यही मानने योग्य एवं न्यायसंगत है कि न्यायावतारमें वह समन्तभद्रके श्रावकाचारसे लिया गया है न कि श्रावकाचारमें न्यायावतारसे उसे लिया है। अतः न्यायावतारसे श्रावकाचारमें उसे (९वें पद्यको) लेनेकी सम्भावना बिल्कुल निर्मूल एवं बेदम है।

इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखनेपर न्यायावतारमें धर्मकीर्ति^१ (ई० ६३५), कुमारिल (ई० ६५०)^२ और पात्रस्वामी (ई० ६ठी, ७वीं शती)^३ इन ग्रंथकारोंका अनुसरण पाया जाता है और ये तीनों ग्रन्थकार समन्तभद्रके उत्तरवर्ती हैं। तब समन्तभद्रको न्यायावतारकार सिद्धसेनका परवर्ती बतलाना केवल पक्षग्रह है। उसमें युक्ति या प्रमाण (आधार) कुछ भी नहीं है।

प्रश्न ३ और उसका समाधान

समीक्षकका तीसरा प्रश्न है कि 'न्यायशास्त्रके समग्र विकासकी प्रक्रियामें ऐसा नहीं हुआ है कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणोंने उसका अनुकरण किया हो।' हमें लगता है कि समीक्षकने हमारे लेखको आपाततः देखा है—उसे ध्यानसे पढ़ा ही नहीं है। उसे यदि ध्यानसे पढ़ा होता, तो वे ऐसा स्वल्पित और भड़काने वाला प्रश्न न उठाते। हम पुनः उनसे उसे पढ़नेका अनुरोध करेंगे। हमने 'जैन न्यायका विकास'^४ लेखमें यह लिखा है कि 'जैन न्यायका उद्गम उक्त (बौद्ध और ब्राह्मण) न्यायोंसे नहीं हुआ, अपितु दुर्दिट्वाद श्रुतसे हुआ है। यह सम्भव है कि उक्त न्यायोंके साथ जैन न्याय भी फला-फूला हो। अर्थात् जैन न्यायके विकासमें ब्राह्मण न्याय और बौद्ध न्यायका विकास प्रेरक हुआ हो और उनकी विविध क्रमिक शास्त्र-रचना जैन न्यायकी क्रमिक शास्त्र-रचनामें सहायक हुई हो। समकालीनोंमें ऐसा आदान-प्रदान होना या प्रेरणा लेना स्वाभाविक है।' यहाँ हमने कहाँ लिखा कि पहले जैन न्याय विकसित हुआ और फिर बौद्ध एवं ब्राह्मणोंने उसका अनुकरण किया। हमें खेद और आश्चर्य है कि समीक्षक एक शोध-संस्थानके

१. (क) न प्रत्यक्षपरोक्षाभ्यां मेयस्यान्यस्य संभवः ।

तस्मात्प्रमेयद्वित्वेन प्रमाणद्वित्वमिष्यते ॥—प्र० वा० ३-६३ ।

प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्विधामेयविनिश्चयात् ।—न्यायाव०, श्लो० १ ।

(ख) कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम् । न्या० बि०, पृ० ११ ।

अनुमानं तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् । —न्यायाव० श्लो० ५ ।

२. कुमारिलके प्रसिद्ध प्रमाणलक्षण (तत्रापूर्वार्थविज्ञानं निश्चितं बाधवर्जितम् । अदुष्टाकारणारब्धं प्रमाणं लोकसम्मतम् ॥) का 'बाधवर्जितम्' विशेषण न्यायावतारके प्रमाणलक्षणमें भी 'बाधवर्जितम्' के रूपमें अनुसृत है।

३. पात्रस्वामिका 'अन्यथानुपपन्नत्वं' आदि प्रसिद्धहेतुलक्षण न्यायावतारमें 'अन्यथानुपपन्नत्वं हेतौर्लक्षणमीरितम्' इस हेतुलक्षणप्रतिपादक कारिकाके द्वारा अपनाया गया है और 'ईरितम्' पदका प्रयोग कर उसकी प्रसिद्धि भी प्रतिपादित की गयी है।

४. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ७ ।

निदेशक होकर भी तथ्यहीन और भड़काने वाली शब्दावलीका आरोप हमपर लगा रहे हैं। जहाँ तक जैन न्यायके विकासका प्रश्न है उसमें हमने स्पष्टतया बौद्ध और ब्राह्मण न्यायके विकासको प्रेरक बतलाया है और उनकी शास्त्र-रचनाको जैन न्यायकी शास्त्र-रचनामें सहायक स्वीकार किया है। हाँ, जैन न्यायका उद्गम उनसे नहीं हुआ, अपितु दृष्टिवाद नामक बारहवें अंगश्रुतसे हुआ। अपने इस कथनको सिद्धसेन (द्वित्रिंशिकाकार)^१, अकलङ्क^२, विद्यानन्द^३ और यशोविजय^४ के प्रतिपादनोंसे पुष्ट एवं प्रमाणित किया है। हम पाठकों, खासकर समीक्षकसे अनुरोध करेंगे कि वे उस निबन्धको गौरसे पढ़नेकी कृपा करें और सही स्थिति एवं तथ्यको अवगत करें।

प्रश्न ४ और उसका समाधान

सम्पादकने चौथे और अन्तिम मुद्देमें मेरे 'तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा' निबन्धको लेकर लिखा है कि 'अनेक ऐसे प्रश्न हैं, जिनमें तत्त्वार्थसूत्रकार और दिगम्बर आचार्योंमें भी मतभेद है। अतः कुछ बातोंमें तत्त्वार्थसूत्रकार और अन्य श्वेताम्बर आचार्योंमें मतभेद होना इस बातका प्रमाण नहीं है कि तत्त्वार्थसूत्रकार श्वेताम्बर परम्पराके नहीं हो सकते।' अपने इस कथनके समर्थनमें कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्रकारके नयों और गृहस्थके १२ व्रतों सम्बन्धी मतभेदको दिया है। इसी मुद्देमें हमारे लेखमें आयी कुछ बातोंका और उल्लेख किया है।

तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परापर गहरा विमर्श

इस मुद्देपर भी हम विचार करते हैं। प्रतीत होता है कि सम्पादक महोदय मतभेद और परम्पराभेद दोगोंमें कोई अन्तर नहीं मान रहे हैं, जब कि उनमें बहुत अन्तर है। वे यह तो जानते हैं कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके बाद जैन संघ दो परम्पराओंमें विभक्त हो गया—एक दिगम्बर और दूसरी श्वेताम्बर। ये दोनों भी उप-परम्पराओंमें विभाजित हैं। किन्तु मूलतः दिगम्बर और श्वेताम्बर ये दो ही परम्पराएँ हैं। जो आचार्य दिगम्बरत्वका और जो श्वेताम्बरका समर्थन करते हैं वे क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्य कहे जाते हैं तथा उनके द्वारा निर्मित साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्य माना जाता है।

अब देखना है कि तत्त्वार्थसूत्रमें दिगम्बरत्वका समर्थन है या श्वेताम्बरत्वका। हमने उक्त निबन्धमें इसी दिशामें विचार किया है। इस निबन्धकी भूमिका बांधते हुए उसमें प्राग्वृत्तके रूपमें हमने लिखा है कि जहाँ तक हमारा ख्याल है, सबसे पहले पण्डित सुखलालजी 'प्रज्ञाचक्षु' ने तत्त्वार्थसूत्र और उसकी व्याख्याओं तथा कर्तृत्व विषयमें दो लेख लिखे थे और उनके द्वारा तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको तटस्थ परम्परा (न दिगम्बर, न श्वेताम्बर) का सिद्ध किया था। इसके कोई चार वर्ष बाद सन् १९३४ में उपाध्याय श्री आत्मारामजीने कतिपय श्वेताम्बर आगमोंके सूत्रोंके साथ तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका तथोक्त समन्वय करके 'तत्त्वार्थसूत्रजैनागम-समन्वय' नामसे एक ग्रन्थ लिखा और उसमें तत्त्वार्थसूत्रको श्वेताम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रसिद्ध किया। जब यह ग्रन्थ पण्डित सुखलाल जीको प्राप्त हुआ, तो अपने पूर्व (तटस्थ परम्परा) के विचार-

१. द्वित्रिंशिका, १-३०, ४-१५।
२. तत्त्वार्थवा० ८।१, पृ० २९५।
३. अष्टस० पृ० २३८।
४. अष्टसह० वि० टी०, पृ० १।
५. जैन दर्शन और प्रमाणशा०, पृ० ७६।

को छोड़कर उन्हें तो उसे मात्र श्वेताम्बर परम्पराका प्रकट किया तथा यह कहते हुए कि 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके श्रे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है।'—'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं।' निःसंकोच तत्त्वार्थसूत्र और उसके कर्ताको श्वेताम्बर होनेका अपना निर्णय भी दे दिया है।'

इसके बाद पं० परमानन्दजी शास्त्री,¹ पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री² पं० नाथूरामजी प्रेमी³ जैसे कुछ दिगम्बर विद्वानोंने भी तत्त्वार्थसूत्रकी जांच की। इनमें प्रथमके दो विद्वानोंने उसे दिगम्बर और प्रेमीजीने यापनीय ग्रंथ प्रकट किया। हमने भी उसपर विचार करना उचित एवं आवश्यक समझा और उसीके फल-स्वरूप तत्त्वार्थसूत्रकी मूल परम्परा खोजनेके लिए उक्त निबन्ध लिखा। अनुसन्धान करने और साधक प्रमाणोंके मिलनेपर हमने उसकी मूल परम्परा दिगम्बर बतलायी। समीक्षकने उन्हें निरस्त न कर मात्र व्याख्यान दिया है। किन्तु व्याख्यान समीक्षा नहीं कहा जा सकता, अपितु वह अपने पक्षका समर्थक कहा जायेगा।

परम्पराभेदका सूचक अन्तर

तत्त्वार्थसूत्र और कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें प्रतिपादित नयों और गृहस्थके १२ व्रतोंमें वैचारिक या विवेचन पद्धतिका अन्तर है। ऐसा मतभेद परम्पराकी भिन्नताको प्रकट नहीं करता। समन्तभद्र, जिनसेन और सोमदेवके अष्टमूलगुण भिन्न होनेपर भी वे एक ही (दिगम्बर) परम्पराके हैं। पात्रभेद एवं कालभेदसे उनमें ऐसा विचार-भेद होना सम्भव है। विद्यानन्दने अपने ग्रन्थोंमें प्रत्यभिज्ञानके दो भेद माने हैं और अकलंक, माणिक्यनन्दि आदिने उसके अनेक (दोसे ज्यादा) भेद बतलाये हैं। और ये सभी दिगम्बर आचार्य हैं। पर तत्त्वार्थसूत्र और सचेलश्रुतमें ऐसा अन्तर नहीं है। उनमें मौलिक अन्तर है, जो परम्परा भेदका सूचक है। ऐसे मौलिक अन्तरको ही हमने उक्त निबन्धमें दिखाया है। संक्षेपमें उसे यहां दिया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्र

१. अदर्शनपरीषह, ९-९-१४
२. एक साथ १९ परीषह, ९-१७
३. तीर्थकर प्रकृतिके १६ बंधकारण, ६-२४
४. विविक्तशय्यासन तप, ९-१९
५. नाम्न्यपरीषह, ९-९
६. लौकान्तिक देवोंके ८ भेद ४-४२

सचेल श्रुत

- ६सणपरीसह, सम्मतपरीसह (उत्तरा० सू० पृ० ८)
- एक साथ बीस परीषह, उत्तरा० त०, जैना० पृ २०८
- तीर्थकर प्रकृतिके २० बंधकारण (ज्ञात० सू० ८-६४)
- संलीनता तप, (व्याख्या प्र० सू० २५।७-८)
- अचेलपरीषह (उत्तरा० सू०, पृ० ८२)
- लौकान्तिक देवोंके ९ भेद (ज्ञात०, भगवती०)

यह ऐसा मौलिक अन्तर है, जिसे श्वे० आचार्योंका मतभेद नहीं कहा जा सकता। वह तो स्पष्टतया परम्पराभेदका प्रकाशक है। नियुक्तिकार भद्रबाहु या अन्य श्वेता० आचार्योंने सचेल श्रुतका पूरा अनु-भवन किया है, पर तत्त्वार्थसूत्रकारने उसका अनुगमन नहीं किया। अन्यथा सचेलश्रुत विरुद्ध उक्त प्रकारका कथन तत्त्वार्थसूत्रमें न मिलता।

१. अनेकन्त, वर्ष, ४ कि० १।
२. वही, वर्ष ४ कि० ११-१२ तथा वर्ष ५ कि० १-२।
३. जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ५३३, द्वि. सं., १९५६।

तत्त्वार्थसूत्रमें नाग्न्यपरीषह

तत्त्वार्थसूत्रमें 'अचेलपरीषह'के स्थानपर 'नाग्न्यपरीषह' रखनेपर विचार करते हुए हमने उक्त निबंध में लिखा था कि 'अचेल' शब्द जब भ्रष्ट हो गया और उसके अर्थमें भ्रान्ति होने लगी तो आ० उमास्वातिने उसके स्थानमें नग्नता—सर्वथा वस्त्ररहितता अर्थको स्पष्टतः ग्रहण करनेके लिए 'नाग्न्य' शब्दका प्रयोग किया। इसका तर्कसंगत समाधान न करके सम्पादकजी लिखते हैं कि 'डा० साहबने श्वे० आगमोंको देखा ही नहीं है। श्वे० आगमोंमें नग्नके प्राकृत रूप नग्ग या णगिणके अनेक प्रयोग देखे जाते हैं।' पर प्रश्न यह नहीं है कि आगमोंमें नग्नके प्राकृत रूप नग्ग या णगिणके प्रयोग मिलते हैं। प्रश्न यह है कि श्वे० आगमोंमें क्या 'अचेल परीषह' की स्थानापन्न 'नाग्न्य परीषह' उपलब्ध है? इस प्रश्नका उत्तर न देकर केवल उनमें 'नाग्न्य' शब्दके प्राकृत रूपों (नग्ग, णगिण) के प्रयोगोंकी बात करना और हमें श्वे० आगमोंसे अनभिज्ञ बताना न समाधान है और न शालीनता है। वस्तुतः उन्हें यह बताना चाहिए कि उनमें नाग्न्य परीषह है। किन्तु यह तथ्य है कि उनमें 'नाग्न्य परीषह' नहीं है। तत्त्वार्थसूत्रकारने ही उसे 'अचेलपरीषह'के स्थान में सर्वप्रथम अपने तत्त्वार्थसूत्रमें दिया है।

तत्त्वार्थसूत्रमें विविक्तशय्यासन तप

उक्त निबन्धमें परम्पराभेदकी सूचक तत्त्वार्थसूत्रगत एक बात कही है^१ कि तत्त्वार्थसूत्रमें श्वे० श्रुत-सम्मत संलीनता तपका ग्रहण नहीं किया, इसके विपरीत उसमें विविक्तशय्यासन तपका ग्रहण है, जो श्वे० श्रुतमें नहीं है। हरिभद्रसूरिके^३ अनुसार संलीनता तपके चार भेदोंमें परिगणित विविक्तचर्या द्वारा भी तत्त्वार्थसूत्रकारके विविक्तशय्यासनका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि विविक्तचर्या दूसरी चीज है और विविक्तशय्यासन अलग चीज है।

सम्पादकजीने हमारे इस कथनका भी अन्धाधुन्ध समीक्षण करते हुए लिखा है कि 'डा० साहबने विविक्तचर्यामें और विविक्तशय्यासनमें भी अन्तर मान लिया है, किन्तु किस आधारपर वे इनमें अन्तर करते हैं, इसका कोई स्पष्टीकरण नहीं दे पाये हैं, वस्तुतः दोनोंमें कोई अर्थभेद है ही नहीं।'

उनके इस समीक्षणपर बहुत आश्चर्य है कि जो अपनेको श्वे० आगमोंका पारंगत मानता है वह विविक्तचर्या और विविक्तशय्यासनके अर्थमें कोई भेद नहीं बतलाता है तथा दोनोंको एक ही कहता है। जैन धर्मका साधारण ज्ञाता भी यह जानता है कि चर्या गमन (चलने) को कहा गया है और शय्यासन सोने एवं बैठनेको कहते हैं। दोनोंमें दो भिन्न दिशाओंकी तरह भेद है। साधु जब ईर्यासमितिसे चलता है—चर्या करता है तब वह सोता-बैठता नहीं है और जब सोता-बैठता है तब वह चलता नहीं है। वस्तुतः उनमें पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। पर सम्पादकजी अपने पक्षके समर्थनको धुनमें उस अन्तरको नहीं देख पा रहे हैं। यहाँ विशेष ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्रकारने २२ परीषहोंमें चर्या, निषद्या और शय्या इन तीनोंको परीषहके रूपमें गिनाया है। किन्तु तपोंका विवेचन करते समय उन्होंने चर्याको तप नहीं कहा, केवल शय्या और आसन दोनोंको एक बाह्य तप बतलाया है,^४ जो उनकी सूक्ष्म सिद्धान्तज्ञताको प्रकट करता है। वास्तवमें

१. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० ८३।

२. वही, पृ० ८१।

३. व्याख्याप्र० श० २५, उ० ७, सू० ८ की हरिभद्र सूरिकृत वृत्ति। तथा वही पृ० ८१।

४. त० सू०, ९-१९।

चर्या विविक्तमें नहीं हो सकती। मार्गमें जब साधु गमन करता है तो उसमें उसे मार्गजन्म कष्ट तो हो सकता है और उसे सहन करनेसे उसे परीषहजय कहा जा सकता है। किन्तु उसमें विविक्तपना नहीं हो सकता और इसलिए उन्होंने विविक्तचर्या तप नहीं बतलाया। शय्या और आसन दोनों एकान्तमें हो सकते हैं। अतएव उन्हें विविक्तशय्यासन नामसे एक तपके रूपमें बाह्य तपोंमें भी परिगणित किया गया है। सम्पादकजी सूक्ष्म विचार करेंगे, तो उनमें स्पष्टतया अर्थभेद उन्हें ज्ञात हो जायेगा। पं० सुखलालजीने चर्या और शय्यासनमें अर्थभेद स्वीकार किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'स्वीकार किये धर्मजीवनको पुष्ट रखनेके लिए असंग होकर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें विहार और किसी भी एक स्थानमें नियत वास स्वीकार न करना चर्या परीषह है।' '.....आसन लगाकर बैठे हुए ऊपर यदि भयका प्रसंग आ पड़े तो उसे अकम्पित भावसे जीतना किंवा आसनसे च्युत न होना निषद्या परीषह है।' '.....जगहमें समभावपूर्वक शयन करना शय्या-परीषह है।' आशा है सम्पादकजी चर्या, शय्या और आसनके पण्डितजी द्वारा प्रदर्शित अर्थभेदको नहीं नकारेंगे और उनके भेदको स्वीकारेंगे।

तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थंकर प्रकृतिके १६ बन्धकारण

तत्त्वार्थसूत्रमें परम्पराभेदकी एक और महत्त्वपूर्ण बातको उसी निबन्धमें प्रदर्शित किया है।^२ हमने लिखा है कि श्वेताम्बर श्रुतमें तीर्थंकर प्रकृतिके २० बन्धकारण बतलाये हैं और इसमें ज्ञातृधर्मकथासूत्र (८-६४) तथा निर्युक्तिकार भद्रबाहुकी आवश्यकनिर्युक्तिकी चार गाथाएँ प्रमाणरूपमें दी हैं। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें तीर्थंकर प्रकृतिके १६ ही कारण निर्दिष्ट हैं, जो दिगम्बर परम्पराके प्रसिद्ध आगम 'षट्-खण्डागम (३-१४) के अनुसार हैं और उनका वही क्रम तथा वे ही नाम हैं।'

इसकी भी उन्होंने समीक्षा की है। लिखा है कि 'प्रथम तो यह कि तत्त्वार्थ एक सूत्रग्रन्थ है, उसकी शैली संक्षिप्त है। दूसरे, तत्त्वार्थसूत्रकारने १६ की संख्याका निर्देश नहीं किया है, यह लिखनेके बाद तत्त्वार्थसूत्रमें सचेत श्रुतपना सिद्ध करनेके लिए पुनः लिखा है कि 'आवश्यकनिर्युक्त और ज्ञातृधर्मकथामें जिन बीस बोलोंका उल्लेख है उनमें जो ४ बातें अधिक हैं वे हैं—धर्मकथा, सिद्धभक्ति, स्थविरभक्ति (वात्सल्य), तपस्वी-वात्सल्य और अपूर्वज्ञानग्रहण। इनमेंसे कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो दिगम्बर परम्पराको अस्वीकृत रही हो, इसलिए छोड़ दिया हो, यह तो मात्र उसकी संक्षिप्त शैलीका परिणाम है।'

इस सम्बन्धमें हम समीक्षकसे पूछते हैं कि ज्ञातृधर्मकथासूत्र भी सूत्रग्रन्थ है, उसमें बीस कारण क्यों गिनाये, तत्त्वार्थसूत्रकी तरह उसमें १६ ही क्यों नहीं गिनाये, क्योंकि सूत्रग्रन्थ है और सूत्रग्रन्थ होनेसे उसकी भी शैली संक्षिप्त है। तत्त्वार्थसूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश न होनेकी तरह ज्ञातृधर्मकथासूत्रमें भी २० की संख्याका निर्देश न होनेसे क्या उसमें २० के सिवाय और भी कारणोंका समावेश है? इसका उत्तर समीक्षकके पास नहीं है। वस्तुतः तत्त्वार्थसूत्रमें सचेतश्रुतके आधारपर तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धकारण नहीं बतलाये, अन्यथा आवश्यकनिर्युक्तिकी तरह उसमें ज्ञातृधर्मकथासूत्रके अनुसार वे ही नाम और वे ही २० संख्यक कारण प्रतिपादित होते। किन्तु उसमें दिगम्बर परम्पराके षट्खण्डागम^३ के अनुसार वे ही नाम और उतनी ही १६ की संख्याको लिए हुए बन्धकारण निरूपित हैं। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र दिगम्बर

१. त० सू०, विवेचन सहित, ९-९, पृ० ३४८।

२. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परि०, पृ० ७९-८०।

३. षट्खं०, ३-४०, ४१ पुस्तक ८, पृ० ७८-७९।

श्रुतके आधारपर रचा गया है और इसलिए वह दिगम्बर परम्पराका ग्रन्थ है और उसके कर्ता दिगम्बराचार्य हैं। उत्सूत्र और उत्सूत्र लेखक श्वेताम्बर परम्पराका अनुसारी नहीं हो सकता, यह समीक्षकके लिए अवश्य चिन्त्य है।

अब रही तत्त्वार्थसूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश न होनेकी बात। सो प्रथम तो वह कोई महत्व नहीं रखती, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्रमें जिसके भी भेद प्रतिपादित हैं, उसकी संख्याका कहीं भी निर्देश नहीं है। चाहे तपोंके भेद हों, चाहे परीषहों आदिके भेद हों। सूत्रकारकी यह पद्धति है, जिसे सर्वत्र अपनाया गया है। अतः तत्त्वार्थसूत्रकारको तीर्थकर-प्रकृतिके बन्धकारणोंको गिनानेके बाद संख्यावाची १६ (सोलह)के पदका निर्देश अनावश्यक है। तत्संख्यक कारणोंको गिना देनेसे ही वह संख्या सुतरां फलित हो जाती है। १६ की संख्या न देनेका यह अर्थ निकालना सर्वथा गलत है कि उसके न देनेसे तत्त्वार्थसूत्रकारको २० कारण अभिप्रेत हैं और उन्होंने सिद्धभक्ति आदि उन चार बन्धकारणोंका संग्रह किया है, जिन्हें आवश्यकनिर्युक्ति और ज्ञातृधर्मकथामें २० कारणों (बोलों)के अन्तर्गत बतलाया गया है। सम्पादकजीका उससे ऐसा अर्थ निकालना नितान्त भ्रम है। उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकी शैलीका सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि तीर्थकर प्रकृतिके १६ बन्धकारणोंका प्ररूपक सूत्र (त० सू० ६-२४) जिस दिगम्बर श्रुत षट्खण्डागमके आधारसे रचा गया है उसमें स्पष्टतया 'दंसणविमुञ्जदाए—इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति।'—(३-४१, पुस्तक ८) इस सूत्रमें^१ तथा उसके पूर्ववर्ती सूत्र^२ (३-४०)में भी १६ की संख्याका निर्देश है। अतः षट्खण्डागमके इन दो सूत्रोंके आधारसे रचे तत्त्वार्थसूत्रके उल्लिखित (६-२४) सूत्रमें १६ की संख्याका निर्देश अनावश्यक है। उसकी अनुवृत्ति वहाँसे सुतरां हो जाती है।

सिद्धभक्ति आदि अधिक ४ बातें दिगम्बर परम्परामें स्वीकृत हैं या नहीं, यह अलग प्रश्न है। किंतु यह सत्य है कि वे तीर्थकर प्रकृतिकी अलग बन्धकारण नहीं मानी गयीं। सिद्धभक्ति कर्मबन्धका कारण है तब वह कर्मबन्धका कारण कैसे हो सकती है। इसीसे उसे तीर्थकर प्रकृतिके बन्धकारणोंमें सम्मिलित नहीं किया। अन्य तीन बातोंमें स्थविरभक्ति और तपस्विवात्सल्यका आचार्यभक्ति एवं साधु-समाधिमें तथा अपूर्वज्ञानग्रहणका अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगमें समावेश कर लेनेसे उन्हें पृथक् ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं है। समीक्षकको गम्भीरता और सूक्ष्म अनुसन्धानके साथ ही समीक्षा करनी चाहिए, ताकि नीर-भीर न्यायका अनुसरण किया जा सके और एक पक्षमें प्रवाहित होनेसे बचा जा सके।

तत्त्वार्थसूत्रमें स्त्रीपरीषह और दंश-मशकपरीषह

हमने अपने उक्त निबन्धमें दिगम्बरत्वकी समर्थक एक बात यह भी कही है कि तत्त्वार्थसूत्रमें स्त्रीपरीषह और दंशमशक इन दो परीषहोंका प्रतिपादन है, जो अचेलश्रुतके अनुकूल हैं। उसकी सचेल श्रुतके आधारसे रचना माननेपर इन दो परीषहोंकी तरह पुरुषपरीषहका भी उसमें प्रतिपादन होता, क्योंकि सचेल

१. दंसणविमुञ्जदाए विणयसंपण्णदाए सोलव्वदेसु णिरदिचारदाए आवासएसु अपरिहीणदाए खणलव्वञ्जणदाए लद्धिसंवेगसंपण्णदाए जघायामे तथा तवे साहूणं पासुअपरिचागदाए साहूणं समाहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्च जोगजुत्तदाए अरहंतभत्तीए बहुमुदभत्तीए पवयणभत्तीए पवयणवच्छलदाए पवयणप्पभावणदाए अभिवखणं अभिवखणं णाणोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥४९॥

२. तत्थ इमेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थकरणामगोदकम्मं बंधंति ॥४०॥

इन दोनों सूत्रोंमें १६ की संख्याका स्पष्ट निर्देश है।

श्रुतमें स्त्री और पुरुष दोनोंको मोक्ष स्वीकार किया गया है तथा दोनों एक-दूसरेके मोक्षमें उपद्रवकारी हैं । कोई कारण नहीं कि स्त्रीपरीषह तो अभिहित हो और पुरुषपरीषह अभिहित न हो, क्योंकि सचेल श्रुतके अनुसार उन दोनोंमें मुक्तिके प्रति कोई वैषम्य नहीं । किन्तु दिग्म्बर श्रुतके अनुसार पुरुषमें वज्रवृषभनाराचसंहनत्रय है, जो मुक्तिके सहकारी कारण हैं । परन्तु स्त्रियोंके उनका अभाव होनेसे उसे मुक्ति संभव नहीं है और इसीसे तत्त्वार्थसूत्रमें मात्र स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन है, पुरुषपरीषहका नहीं । इसी प्रकार दंशमशक परीषह सचेलसाधुको नहीं हो सकती—नभन—दिग्म्बर—पूर्णतया अचेल साधुको ही संभव है ।

समीक्षकने इन दोनों बातोंकी भी समीक्षा करते हुए हमसे प्रश्न किया है कि 'जो ग्रन्थ इन दो परीषहोंका उल्लेख करता हो, वह दिग्म्बर परम्पराका होगा, यह कहना भी उचित नहीं है । फिर तो उन्हें श्वे० आचार्यों एवं ग्रन्थोंको दिग्म्बर परम्पराका मान लेना होगा, क्योंकि उक्त दोनों परीषहोंका उल्लेख तो सभी श्वे० आचार्योंने एवं श्वे० आगमोंमें किया गया और किसी श्वे० ग्रन्थमें पुरुषपरीषहका उल्लेख नहीं है ।'

समीक्षकका यह आपादन उस समय बिल्कुल निरर्थक सिद्ध होता है जब जैन संघ एक अविभक्त संघ था और तीर्थंकर महावीरकी तरह पूर्णतया अचेल (सर्वथा वस्त्र रहित) रहता था । उसमें न एक, दो आदि वस्त्रोंका ग्रहण था और न स्त्रीमोक्षका समर्थन था । गिरि-कन्दराओं, वृक्षकोटरों, गुफाओं, पर्वतों और वनोंमें ही उसका वास था । सभी साधु अचेलपरीषहको सहते थे । आ० समन्तभद्र (२ रो-३ री शती) के अनुसार उनके कालमें भी ऋषिगण पर्वतों और उनकी गुफाओंमें रहते थे । स्वयम्भूस्तोत्रमें २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमिके तपोगिरि एवं निर्वाणगिरि ऊर्जयन्त पर्वतको 'तीर्थ-संज्ञाको वहन करनेवाला बतलाते हुए उन्होंने उसे ऋषिगणोंसे परिव्याप्त कहा है । और उनके कालमें भी वह वैसा था ।

भद्रबाहुके बाद जब संघ विभक्त हुआ तो उसमें पार्थक्यके बीज आरम्भ हो गये औ वे उत्तरोत्तर बढ़ते गये । इन बीजोंमें मुख्य वस्त्रग्रहण था । वस्त्रको स्वीकार कर लेनेपर उसकी अचेल परीषहके साथ संगति बिठानेके लिए उसके अर्थमें परिवर्तनकर उसे अल्पचेलका बोधक मान लिया गया । तथा सबस्त्र साधुकी मुक्ति मान ली गयी । फलतः सबस्त्र स्त्रीकी मुक्ति भी स्वीकार कर ली गयी । साधुओंके लिए स्त्रियों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंको सहन करनेकी आवश्यकतापर बल देने हेतु संवरके साधनोंमें स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन तो ज्यों-का-त्यों बरकरार रखा गया । किन्तु स्त्रियोंके लिए पुरुषों द्वारा किये जानेवाले उपद्रवोंको सहन करने हेतु संवरके साधनोंमें पुरुषपरीषहका प्रतिपादन सचेल श्रुतमें क्यों छोड़ दिया गया, यह वस्तुतः अनुसन्धेय एवं चिन्त्य है । अचेल श्रुतमें ऐसा कोई विकल्प नहीं है । अतः तत्त्वार्थसूत्रमें मात्र स्त्रीपरीषहका प्रतिपादन होनेसे वह अचेल श्रुतका अनुसारी है । स्त्रीमुक्ति को स्वीकार न करनेसे उसमें पुरुषपरीषहके प्रतिपादनका प्रसंग ही नहीं आता । स्त्रीपरीषह और दंशमशकपरीषह इन दो परीषहोंके उल्लेखमात्रसे ही तत्त्वार्थ सूत्र दिग्म्बर ग्रन्थ नहीं है, जिससे उनका उल्लेख करने वाले सभी श्वे० आचार्यों और ग्रन्थ दिग्म्बर परम्पराके ही जाने या माननेका प्रसंग आता, किन्तु उपरिनिर्दिष्ट वे अनेक बातें हैं, जो सचेल श्रुतसे विरुद्ध हैं और अचेल श्रुतके अनुकूल हैं । ये अन्य सब बातें श्वे० आचार्यों और उनके ग्रन्थोंमें नहीं हैं । इन्हीं सब बातोंसे दो परंपराओंका जन्म हुआ और महावीर तीर्थंकरसे भद्रबाहु श्रुतकेवली तक एक रूपमें चला आया जैन संघ टुकड़ोंमें बँट गया । तीव्र एवं मूलके उच्छेदक विचार-भेदके ऐसे ही परिणाम निकलते हैं ।

दंशमशकपरीषह वस्तुतः निर्वस्त्र (नग्न) साधुको ही होना सम्भव है, सबस्त्र साधुको नहीं, यह साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है । जो साधु एकाधिक कपड़ों सहित हो, उसे बांस-मच्छर कहाँसे

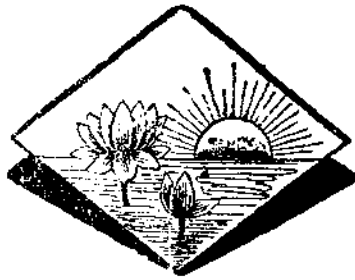
काटेंगे, तब उस परीषद्के सहन करनेका उसके लिए प्रश्न ही नहीं उठता । सचेल श्रुतमें उसका निर्देश मात्र पूर्वपरम्पराका स्मारक भर है । उसकी सार्थकता तो अचेल श्रुतमें ही संभव है ।

अतः ये (नागन्यपरीषद्, दंशमशकपरीषद् और स्त्री-परीषद्) तीनों परीषद् तत्त्वार्थसूत्रमें पूर्ण निर्ग्रन्थ (नग्न) साधुकी दृष्टिसे अभिहित हुए हैं । अतः 'तत्त्वार्थसूत्रकी परंपरा' निबन्धमें जो तथ्य दिये गये हैं वे निर्बाध हैं और वे उसे दिगम्बर परम्पराका ग्रन्थ प्रकट करते हैं । उसमें समीक्षक द्वारा उठायी गयी आपत्तियोंमेंसे एक भी आपत्ति बाधक नहीं है, प्रत्युत वे सारहीन सिद्ध होती हैं ।

समीक्षाके अन्तमें हमें कहा गया है कि 'अपने धर्म और संप्रदायका गौरव होना अच्छी बात है, किन्तु एक विद्वान्में यह भी अपेक्षित है कि वह नीर-क्षीर विवेकसे बौद्धिक ईमानदारी पूर्वक सत्यको सत्यके रूपमें प्रकट करे । कै अच्छा होता, समीक्षक समीक्ष्य ग्रन्थकी समीक्षाके समय स्वयं भी उसका पालन करते और 'उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें थे और उनका सभाष्य तत्त्वार्थ सचेल पक्षके श्रुतके आधारपर ही बना है ।' 'वाचक उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परामें हुए, दिगम्बरमें नहीं ।' ऐसा कहनेवालोंके सम्बन्धमें भी कुछ लिखते और उनके सत्यकी जाँच कर दिखाते कि उसमें कहीं तक सच्चाई, नीर-क्षीर विवेक एवं बौद्धिक ईमानदारी है ।

उपसंहार

वास्तवमें अनुसन्धानमें पूर्वाग्रहकी मुक्ति आवश्यक है । हमने उक्त निबन्धमें वे तथ्य प्रस्तुत किये हैं जो अनुसन्धान करनेपर उपलब्ध हुए हैं ।



गुणचन्द्रमुनि कौन हैं ?

आचार्य वादिराज (ई० सन् १०२५) ने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (२।१०३) में अकलङ्कदेवके न्यायविनिश्चयकी कारिका १०२, १०३ की व्याख्या करते हुए 'अथवा' शब्दके साथ निम्न पद्य दिया है—

देवस्य शासनमतीवगम्भीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः ।

विद्वान्न चेत् स गुणचन्द्रमुनिर्न विद्यानन्दोऽनवद्यचरणः सदनन्तवीर्यः ॥१०४०॥

अर्थात् 'यदि गुणचन्द्रमुनि, अनवद्यचरण विद्यानन्द और सज्जन अनन्तवीर्य (रविभद्रशिष्य-सिद्धि-विनिश्चय-टीकाकार एवं प्रमाणसंग्रह-भाष्यकार अनन्तवीर्य) ये तीन विद्वान् देव (अकलङ्कदेव) के गम्भीर शासन-वाङ्मय) के तात्पर्यका व्याख्यान न करते तो उसे कौन समझनेमें समर्थ था ।'

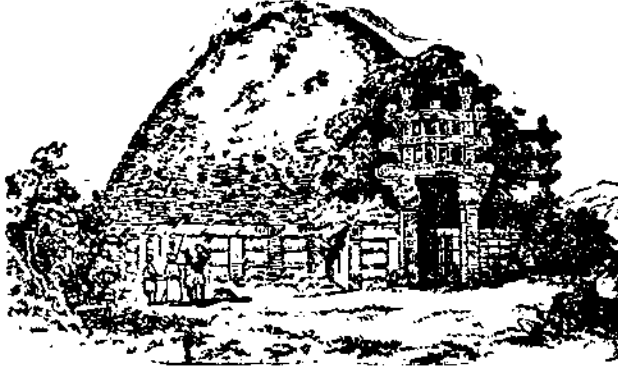
यहाँ वादिराजसूरिने विद्यानन्द और अनन्तवीर्यसे पहले जिन गुणचन्द्र मुनिका उल्लेख किया है वे कौन हैं और उन्होंने अकलङ्कदेवके कौन-से ग्रन्थकी व्याख्यादि की है ? आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्री (देवागमालङ्कार) में उनकी अष्टशतीका विशद व्याख्यान किया है और रविभद्र-शिष्य अनन्तवीर्यने उनके प्रमाणसंग्रहपर प्रमाणसंग्रहभाष्य तथा सिद्धिविनिश्चयपर विस्तृत टीका लिखी है, यह सभी विद्वान् जानते हैं । किन्तु गुणचन्द्रमुनिने उनके कौन-से ग्रन्थपर व्याख्या लिखी है, यह कोई भी विद्वान् नहीं जानता और न ऐसी उनकी कोई व्याख्या ही उपलब्ध है, न ही वह अनुपलब्धके रूपमें ही ज्ञात है । फिर भी वादिराजके इस स्पष्ट उल्लेखसे इतना जरूर ज्ञात होता है कि अकलङ्कके शासन (वाङ्मय) के व्याख्यातारूपमें उन्हें एक जुदा व्यक्ति अवश्य होना चाहिए । प्रभाचन्द्रने अकलङ्कके लघीयस्त्रयपर लघीयस्त्रयालंकार नामकी टीका लिखी है, जिसका दूसरा नाम न्यायकुमुदचन्द्र है । ये प्रभाचन्द्र वादिराजके समकालीन अथवा कुछ उत्तरवर्ती हैं । इसलिए 'गुणचन्द्रमुनि' पदसे प्रभाचन्द्रका उल्लेख उन्होंने किया हो, यह सम्भव प्रतीत नहीं होता । अतः उक्त पदसे वादिराजको अपनेसे पूर्ववर्ती अकलंकका व्याख्याकार अभिप्रेत होना चाहिए, जो विद्यानन्द और अनन्तवीर्य जैसे व्याख्याकारोंसे पूर्ववर्ती एवं प्रभावशाली भी हों । परन्तु अब तक उपलब्ध जैन साहित्यमें विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रभाचन्द्र इन चार विद्वानाचार्योंके सिवाय अकलंकका अन्य कोई व्याख्याकार दृष्टिगोचर नहीं होता । अतः स्वभावतः प्रश्न उठता है कि वादिराज द्वारा उल्लिखित गुणचन्द्र मुनि कौन हैं और वे कब हुए तथा उनकी रचनाएँ कौन-सी हैं ?

यदि वस्तुतः 'गुणचन्द्रमुनि' पदसे वादिराजको गुणचन्द्रमुनि नामके विद्वान्का उल्लेख करना अभीष्ट है, जो अकलंकके किसी ग्रन्थका प्रभावशाली व्याख्याकार रहा हो तो विद्वानोंको इसपर अवश्य विचार करना चाहिए तथा उनका अनुसंधान करके परिचय प्रस्तुत करना चाहिए ।

यहाँ ध्यातव्य है कि प्रसिद्ध जैन साहित्य अनुसन्धाता पं० जुगलकिशोरजी मुस्तारका विचार है कि 'गुण' शब्द प्रभाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और इसलिए 'गुणचन्द्र' पदसे आचार्य वादिराजके द्वारा उन्हीं प्रभाचन्द्रका उल्लेख किया गया है जिनका उल्लेख जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें किया है और जिन्हें 'कृत्वा चन्द्रोदय' पदके द्वारा 'चन्द्र'के उदय (उत्पत्ति) का कर्त्ता अर्थात् न्यायकुमुदचन्द्र नामक जैन न्यायग्रन्थका जो अकलंकदेवके लघीयस्त्रयकी टीका है, रचयिता बतलाया है । उनका मत है कि प्रमैयकमलमार्त्तण्डके कर्त्ता

प्रभाचन्द्र और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्र भिन्न हैं—दोनोंको अभिन्न मानना तब तक ठीक नहीं है जब तक उनकी अभिन्नताके समर्थक प्रमाण सामने न आजायें ।

मुस्तारसाहबका यह मत विचारणीय है । हमारा विचार है कि प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके कर्ता एक ही प्रभाचन्द्र हैं और वे ११ वीं शताब्दीमें राजा भोज और उसके उत्तराधिकारी जयसिंहके राज्यकालमें हुए हैं । वादिराज सूरि भी ११वीं शतीके विद्वान् हैं । यह पूरी संभावना है कि वे प्रभाचन्द्रकी कृतियोंसे सुपरिचित हो चुके होंगे । वादिराजने न्यायविनिश्चयविवरण, पार्श्वनाथचरित (ई० १०२५) के बाद ही लिखा है तब तक न्यायकुमुद (लघीयस्त्रयालंकार) के कर्ता प्रभाचन्द्र वृद्ध ग्रन्थकारके रूपमें प्रसिद्ध हो चुके हों तो कोई आश्चर्य नहीं और तब वादिराजने 'गुणचन्द्रमुनि' पदके द्वारा उन्हींका उल्लेख किया हो । फिर भी यह सब अनुसन्धेय है ।



कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ?

आचार्य यतिवृषभने अपनी 'तिलोयपण्णत्ती' (४-१४७९) में 'कुण्डलगिरि' से श्री अन्तिम केवली श्रीधरके सिद्ध (मुक्त) होनेका उल्लेख किया है। जैसा कि निम्न गाथा-वाक्यसे प्रकट है—

'कुण्डलगिरिम्मि चरिमो केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो ।'

'केवलज्ञानियोंमें अन्तिम केवलज्ञानी श्रीधरने कुण्डलगिरिमें सिद्ध पद प्राप्त किया ।'

इसके आधारसे कुछ लोगोंका विचार है कि आचार्य यतिवृषभने यहाँ (उक्त गाथामें) उसी 'कुण्डलगिरि' का उल्लेख किया है, जो मध्यप्रदेशके दमोह जिलान्तर्गत पटेरा ग्रामके पास स्थित कुण्डलगिरि है, जिसे आजकल कुण्डलपुर कहते हैं और जो अतिशयक्षेत्र माना जाता है। अतएव इस प्रमाणोल्लेखके आधार-पर अब उसे सिद्धक्षेत्र मानना चाहिए और यह घोषित कर देना चाहिए।

गत वर्ष सन् १९४५ में जब अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्का अधिवेशन कटनी (म० प्र०) में हुआ, तो इसके निर्णयके लिए तीन विद्वानोंकी एक उपसमिति बनाई गई। उसमें एक नाम मेरा भी था। अतएव यह अनुसन्धेय था कि तिलोयपण्णत्तीके उपर्युक्त उल्लेखमें कौन-से कुण्डलगिरिसे अन्तिम केवली श्रीधरके निर्वाणका प्रतिपादन किया गया है? आज हम उसीपर विचार करेंगे।

प्राप्त जैन साहित्यमें 'कुण्डलगिरि' के सिद्धक्षेत्रके रूपमें दो उल्लेख मिलते हैं। एक तो उपर्युक्त 'तिलोयपण्णत्ती' का है और दूसरा उल्लेख पूज्यपाद (देवनन्दि) की निर्वाण-भक्तिका है, जो इस प्रकार है।

द्रोणीमति प्रवरकुण्डल-मेढूके च वैभारपर्वततले वरसिद्धकूटे।

ऋष्यद्रिके च विपुलाद्रि-बलाहके च विन्ध्ये च पौदनपुरे वृषदीपके च ॥

—दशभक्त्या० पृ० २३३।

इस उल्लेखमें 'कुण्डल' पदका स्पष्ट प्रयोग है और आगे-पीछेके सभी अद्रि (गिरि) हैं और इसलिए 'कुण्डल' पदसे 'कुण्डलगिरि' स्पष्टतया पूज्यपादको अभोष्ट है। कुण्डलगिरिके इस प्रकार ये दो उल्लेख हैं। इन दोके अतिरिक्त अभी तक हमें अन्य उल्लेख नहीं मिला। यदि पूज्यपाद यतिवृषभके पूर्ववर्ती हैं तो कुण्डलगिरिका उनका उल्लेख उनसे प्राचीन समझना चाहिए।

अब देखना है कि जिस कुण्डलगिरिका उल्लेख पूज्यपादने किया है वह कौन-सा है और कहाँ है? क्या उसके दूसरे भी नाम हैं? तिलोयपण्णत्तीमें उन पाँच पर्वतोंके नाम और अवस्थान दिये हैं, जिन्हें 'पंच शैल' या 'पंच पहाड़ी' कहा जाता है और जो राजगिरि (राजगृही) के पास हैं। वे इस प्रकार हैं—

चउरस्सो पुव्वाए रिसिसेलो दाहिणाए वैभारो।

णईरिदिदिस्ताए विउलो दोण्णि तिकोणटिठदायारा ॥

चावसरिच्छो छिण्णो वरुणाणिलसोमदिसविभागेसु।

ईसाणाए पंडू वण्णा सब्बे कुसग्गपरियरणा ॥१-६६, ६७॥

‘राजगृहनगरके पूर्वमें चतुष्कोण ऋषिशैल (ऋष्यद्रि), दक्षिणमें वैभार और नैऋत्यदिशामें विपुलाचल पर्वत हैं । ये दोनों वैभार और विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृतिसे युक्त हैं ।

पश्चिम, वायव्य और सोम (उत्तर) दिशामें फौला हुआ धनुषके आकार छिन्न नामका पर्वत है और ईशान दिशामें पाण्डु नामका पर्वत है । उपर्युक्त पाँचों ही पर्वत कुशासमूहसे आच्छादित हैं ।

हरिवंशपुराणमें इन पाँचों पर्वतोंका निम्न प्रकार उल्लेख है—

ऋषिपूर्वो गिरिस्तत्र चतुरस्रः सनिर्झरः ।
दिग्गजेन्द्र इवेन्द्रस्य ककुभं भूषयत्यलम् ॥
वैभारो दक्षिणामाशां त्रिकोणाकृतिराश्रितः ।
दक्षिणापरदिङ्मध्यं विपुलश्च तदाकृतिः ॥
सज्जचापाकृतिस्त्रिस्रो दिशो व्याप्य बलाहकः ।
शोभते पांडुको वृत्तः पूर्वोत्तरदिगन्तरे ॥३५३ से ३-५५॥

इन पद्यों द्वारा हरिवंशपुराणकारने ‘तिलोयपष्णती’ की तरह उक्त पाँचों पर्वतोंके नाम और उनकी अवस्थिति बतलायी है ।

वीरसेनस्वामीने भी धवला और जयधवलामें उनका निम्न प्रकार कथन किया है—

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः ।
विपुलगिरिर्नैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र ॥
धनुराकारश्छिन्नो वारुण-वायव्य-सोमदिक्षु ततः ।
वृत्ताकृतिरोशाने पांडुसर्वे कुशाग्रवृताः ॥

—धवला (मु०), पृ० १२, जयधवला (मु०), पृ० ७३ ।

इन तीनों-चारों स्थानोंमें ऋषिगिरि (ऋष्यद्रिक), वैभार, विपुलगिरि, बलाहक (छिन्न) और पाण्डु-गिरि इन पाँच पर्वतोंका समुल्लेख किया गया है और उनकी स्थिति बतलायी गयी है । यहाँ ध्यातव्य है कि बलाहकको छिन्न भी कहा गया है । अतः ये एक ही पर्वतके दो नाम हैं और ग्रन्थकारोंने उसका छिन्न अथवा बलाहक नामसे उल्लेख किया है । जिन्होंने बलाहक नाम दिया है उन्होंने ‘छिन्न’ नाम नहीं दिया और जिन्होंने ‘छिन्न’ नाम दिया है उन्होंने ‘बलाहक’ नाम नहीं दिया और उसका अवस्थान सभीने एक-सा बतलाया है तथा उसकी गिनती पंच पहाड़ोंमें की है, जो राजगृहके निकट हैं । अतः बलाहक और छिन्न ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं । इसी तरह ऋष्यद्रिक, ऋषिगिरि और ऋषिशैल ये भी एक ही पर्वतके तीन पर्यायनाम हैं ।

इसी प्रकार यह भी ध्यातव्य है कि जिन वीरसेन और जिनसेन स्वामीने पाण्डुगिरिका नामोल्लेख किया है उन्होंने कुण्डलगिरिका उल्लेख नहीं किया । तथा पूज्यपादने जहाँ सभी निर्वाणक्षेत्रोंको गिनाते हुए कुण्डलगिरिका नाम दिया है वहाँ उन्होंने पाण्डुगिरिका उल्लेख नहीं किया । यतिबुधभने अवश्य दोनों नामोंका प्रयोग किया है । पर उन्होंने विभिन्न स्थानोंपर किया है । जहाँ (प्रथम अधिकार, गा० ६७ में) पाण्डुगिरिका उल्लेख हुआ है वहाँ कुण्डलगिरिका नहीं और जहाँ (४-१४७९) कुण्डलगिरिका उल्लेख है वहाँ फिर पाण्डुगिरिका नहीं । इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि उन्हें दो स्वतन्त्र पहाड़ माननेकी नहीं है, अपितु वे एक ही पर्वतके उन्हे दो पर्यायनाम मानते हैं । वास्तवमें पाण्डुगिरिको वृत्ताकार (गोलाकार) कहा गया है और कुण्डलगिरि कुण्डलाकार—वृत्ताकार होता है । अतएव एक ही पर्वतके ये दो पर्यायनाम हैं और

इसलिए वे दो भिन्न स्थानोंपर भिन्न-भिन्न पर्यायनामसे उसका उल्लेख कर सकते हैं। दूसरे यतिवृषभने पूज्यपादकी निर्वाणभक्तिमें उनके द्वारा पाण्डुगिरिके लिए नामान्तर रूपसे प्रयुक्त कुण्डलगिरि नामको पाकर कुण्डलगिरिका भी नामोल्लेख किया है, यह सरलतासे कहा जा सकता है। पूज्यपादके उल्लेखसे ज्ञात होता है कि उनके समयमें पाण्डुगिरिको जो वृत्त (गोल) है, कुण्डलगिरि भी कहा जाता था। अतएव उन्होंने पाण्डुगिरिके स्थानमें कुण्डलगिरि नाम दिया है। इसमें लेश भी आश्चर्य नहीं है कि पाण्डुगिरि और कुण्डलगिरि एक ही पर्वतके दो नाम हैं, क्योंकि कुण्डलका आकार गोल होता है और पाण्डुगिरिको वृत्ताकार (गोलाकार) सभी आचार्योंने बतलाया है। जैसा कि ऊपरके उद्धरणोंसे प्रकट है। दूसरे, पूज्यपादने पांच पहाड़ोंमें पाण्डुगिरिका उल्लेख नहीं किया—जिसका उल्लेख करना अनिवार्य था, क्योंकि वह पांच सिद्धक्षेत्र-शैलोंमें परिगणित है। किन्तु कुण्डलगिरिका उल्लेख किया है। तीसरे, एक पर्वतके एकसे अधिक नाम देखे जाते हैं। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं।

अतः इस संक्षिप्त अनुसन्धानसे यही तथ्य निकलता है कि जैन साहित्यमें पाण्डुगिरि और कुण्डलगिरि एक हैं—पृथक्-पृथक् नहीं—एक ही पर्वतके दो नाम हैं।

ऐसी वस्तुस्थितिमें मह कहना अयुक्त न होगा कि यतिवृषभने पाण्डुगिरिको ही कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र बतलाया है एवं उल्लेखित किया है। और यह कुण्डलगिरि राजगृहके निकटवर्ती पांच पहाड़ोंके अन्तर्गत है। इसलिए मध्यप्रदेशके दमोहजिलान्तर्गत पटेरा ग्रामके पासका कुण्डलपुर या कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र नहीं जान पड़ता है और न उसे शास्त्रोंमें सिद्धक्षेत्र बतलाया गया है। जिस कुण्डलगिरि या पाण्डुगिरिको सिद्धक्षेत्र कहा गया है वह विहार प्रदेशके पंचशैलोंमें परिगणित पाण्डुगिरि या कुण्डलगिरि है।

अतः मेरे विचार और खोजसे दमोहके कुण्डलपुर या कुण्डलगिरिको सिद्धक्षेत्र घोषित करना जल्दबाजी होगी और एक भ्रान्त परम्परा चल उठेगी।

परिशिष्ट

उक्त लेखके लिखे जानेके बाद हमें कुछ सामग्री और मिली है—

दमोहके कुण्डलगिरि या कुण्डलपुरकी ऐतिहासिकता नहीं

जब हम दमोहके पार्श्ववर्ती कुण्डलगिरि या कुण्डलपुरकी ऐतिहासिकतापर विचार करते हैं तो उसके कोई पृष्ठ प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। केवल विक्रम संवत्की अठारहवीं शताब्दीका उत्कीर्ण हुआ एक शिलालेख प्राप्त होता है, जिसे महाराजा छत्रसालने वहाँ चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराते समय खुदावाया था। कहा जाता है कि कुण्डलपुरमें भट्टारकी गद्दी थी। इस गद्दीपर छत्रसालके समकालमें एक प्रभावशाली एवं मन्त्रविद्याके ज्ञाता भट्टारक जब प्रतिष्ठित थे तब उनके प्रभाव एवं आशीर्वादसे छत्रसालने एक बड़ी भारी यवनसेनापर विजय प्राप्त की थी। इससे प्रभावित होकर छत्रसालने कुण्डलपुरके चैत्यालयका जीर्णोद्धार कराया था और जिनमन्दिरके लिए अनेक उपकरणोंके साथ दो मनके करीबका एक बृहद् घंटा (पीतलका) प्रदान किया था, जो बादमें चोरीमें चला गया था और अब वह पन्ना स्टेट (म० प्र०) में पकड़ा गया है^१।

उक्त शिलालेख विक्रम सं० १७५७ भाद्र सुदी १५ सोमवारको उत्कीर्ण हुआ है और वहीँके चैत्या-

१, यह मुझे मित्रवर पं० परमानन्दजी शास्त्रीसे मालूम हुआ है।

लयमें खुदा हुआ है । यह लेख इस समय मेरे पास भी है । यह अशुद्ध अधिक है । कुन्दकुन्दाचार्यकी आम्नामयमें यशःकीर्ति, ललितकीर्ति, धर्मकीर्ति (रामदेवपुराणके कर्ता), पद्मकीर्ति, सुरेन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य ब्रह्म हुए । सुरेन्द्रकीर्तिके शिष्य इन ब्रह्मने वहाँकी मनोज महावीर स्वामीकी जीर्ण मूर्तिको देखकर द्रव्य माँग माँग (चन्दा) करके उसका जीर्णोद्धार कराया तथा चैत्यालयका उद्धार छत्रसालने कराया । इन सब बातोंका शिलालेखमें उल्लेख है । साथमें छत्रसालको बड़ा धर्मात्मा प्रकट किया गया है । अस्तु ।

इससे यही विदित होता है कि वहाँ १५वीं से १७वीं शताब्दी तक रहे भट्टारकी प्रभुत्वमें कोई महावीर स्वामीका मन्दिर निर्माण कराया होगा । उसके जीर्ण होनेपर करीब १०० वर्ष बाद वि० सं० १७५७ में उसका उद्धार किया गया । चूँकि छत्रसालको वहाँके भट्टारकी कृपा और उनके मन्त्रविद्याके प्रभावसे यवन-सेनापर विजय प्राप्त हुई थी । इसलिए वह स्थान तबसे अतिशय क्षेत्र कहा जाने लगा होगा ।

प्रभाचन्द्र (११वीं शती) और श्रुतसागर (१५वीं-१६वीं शती) के मध्यमें बने प्राकृत निर्वाणकाण्डके आधारसे रचे गये भैया भगवती दास (सं० १७४१) के भाषा-निर्वाणकाण्डमें जिन सिद्ध व अतिशय क्षेत्रोंकी परिगणना की गयी है उनमें भी कुंडलपुरको सिद्ध क्षेत्र या अतिशय क्षेत्रके रूपमें परिगणित नहीं किया गया । इससे यही प्रतीत होता है कि वह सिद्ध क्षेत्र तो नहीं है—अतिशय क्षेत्र भी १५वीं १६वीं शताब्दीके बाद प्रसिद्ध होना चाहिए ।



१. यह शिलालेख भी पं० परमानन्द जो शास्त्रीसे प्राप्त हुआ है, जिसके लिए उनका आभारी हूँ ।

गजपन्थ तीर्थ क्षेत्रका एक अति प्राचीन उल्लेख

‘अनेकान्त’ वर्ष ७, किरण ७-८ में प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पं० नाथूराम प्रेमीका ‘गजपन्थ क्षेत्रके पुराने उल्लेख’ शीर्षकसे एक संक्षिप्त किन्तु बोधात्मक लेख प्रकट हुआ है। इसमें आपने गजपन्थ क्षेत्रके अस्तित्व-विषयक दो पुराने उल्लेख प्रस्तुत किये हैं और अपने उस विचारमें संशोधन किया है, जिसमें आपने गजपन्थ क्षेत्रको आधुनिक बतलाया था। आपने अपनी उस समयकी खोजके आधारपर उसे विक्रम सं० १७४६ के पहलेका स्वीकार नहीं किया था। अब जो उन्हें दो उल्लेख उस विषयके प्राप्त हुए हैं वे वि० सं० १७४६ से पूर्ववर्ती हैं। उनमें एक तो श्रुतसागर सूरिका है, जो १६वीं शताब्दीके बहुश्रुत विद्वान् एवं ग्रन्थकार माने जाते हैं। दूसरा उल्लेख ‘शान्तिनाथचरित’ के कर्ता असग कविका है, जिनका समय उनके ‘महावीरचरित’ परसे शक सं० ९१०, वि० सं० १०४५ सर्व सम्मत है। असग कविने अपने ‘शान्तिनाथचरित’ में गजपन्थ क्षेत्रका उसके ७ वें सर्गके ९८ वें पद्यमें उल्लेख किया है। ‘शान्तिनाथचरित’ ‘महावीरचरित’ के उपरान्त लिखा गया है। अतः वि० सं० १०४५ के लगभग गजपन्थ क्षेत्र एक निर्वाण क्षेत्रके रूपमें प्रसिद्ध था और वह नासिक नगरके निकटवर्ती माना जाता था। इन दो उल्लेखोंके आधारसे अनुसन्धानप्रिय श्री प्रेमीजीने गजपन्थ क्षेत्रकी प्रामाणिकता स्वतः स्वीकार कर ली है और उसे ११ वीं शताब्दीमें प्रसिद्ध सिद्ध-क्षेत्र मान लिया है।

डॉ० हीरालालजी जैनके साथ चल रही ‘रत्नकरण्डकध्वजकाचार’ की चर्चाके प्रसंगमें हम पूज्यपादकी ‘नन्दीश्वर-भक्ति’ को देख रहे थे। उसी समय ‘दशभक्त्याविसंग्रह’ के पन्ने पलटते हुए उनकी ‘निर्वाण-भक्ति’ के उस पद्यपर हमारी दृष्टि गयी, जिसमें पूज्यपादने भी अन्य निर्वाण-क्षेत्रोंका उल्लेख करते एहू ‘गजपन्थ’ क्षेत्रका भी उल्लेख किया है और उसे निर्वाण-क्षेत्र प्रकट किया है। वह पद्य इस प्रकार है—

सह्याचले च हिमवत्यधि सुप्रतिष्ठे दण्डात्मके गजपथे पृथुसारयष्टी।

ये साधवो हतमलाः सुगतिं प्रयाताः स्थानानि तानि जगति प्रथितान्यभूवन् ॥३०॥

यहाँ पूज्यपादने ‘गजपथे’ पदके द्वारा गजपन्थागिरिका निर्वाणक्षेत्रके रूपमें स्पष्ट उल्लेख किया है। ‘गजपथ’ शब्द संस्कृतका है और ‘गजपथ’ प्राकृत तथा अपभ्रंशका है और यही शब्द हिन्दी भाषामें भी प्रयुक्त किया जाता है। अतएव ‘गजपथ’ और ‘गजपन्थ’ दोनों एक ही हैं और एक ही अर्थ ‘गजपथ’ के वाचक एवं बोधक हैं। पूज्यपादका समय ईसाकी ५वीं और वि० सं० की ६वीं शताब्दी है। प्रेमीजी भी उनका यही समय मानते हैं।^१ अतः गजपन्थ क्षेत्र वि० सं० की ६वीं शताब्दीमें निर्वाणक्षेत्रके रूपमें प्रसिद्ध था और माना जाता था। अर्थात् असग कवि (११वीं शताब्दी) से भी वह ५०० वर्ष पूर्व निर्वाणक्षेत्रके रूपमें दिग्म्बर परम्परामें मान्य था।

१. जैन साहित्य और इतिहास, ‘हमारे तीर्थ क्षेत्र’ शीर्षक लेख पृ० १८५, १९४२ प्रथम संस्करण।

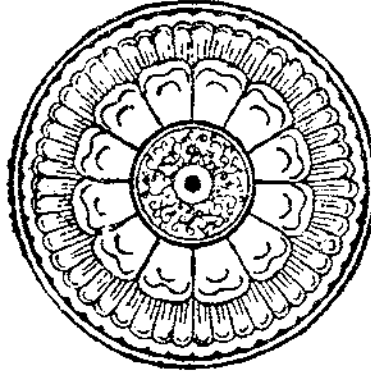
२. जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ११९, ई० १९४२।

यह सभी विद्वान् मानते हैं कि निर्वाण-भक्ति, सिद्धभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति आदि सभी (दशों) संस्कृत-भक्तियों प्रभाचन्द्रके 'क्रियाकलाप' गत उल्लेखानुसार पूज्यपादकृत हैं। जैसा कि 'क्रियाकलाप' के निम्न उल्लेखसे प्रकट है—

'संस्कृताः सर्वभक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः प्राकृतास्तु कुन्दकुन्दाचार्यकृताः',—दश-भक्त्यादि सं० टी० पृ० ६१।

प्रेमीजी भी प्रभाचन्द्रके इस उल्लेखके अनुसार दशों भक्तियोंको, जिनमें निर्वाण-भक्ति भी है, पूज्यपादकृत स्वीकार करते हैं और अपनी स्वीकृतिमें वह हेतु भी देते हैं कि इन सिद्धभक्ति आदि संस्कृत भक्तियोंका अप्रतिहत प्रवाह और गम्भीर शैली है, जो उनमें पूज्यपादकृतत्व प्रकट करता है, साथ ही प्रभाचन्द्रके उक्त कथनमें सन्देह करनेका भी कोई कारण नहीं है।

अतः प्रकट है कि असग कविसे ५०० वर्ष पूर्वसे भी 'गजपन्थ' निर्वाण क्षेत्रमें विश्रुत था।



१. जैन सा० और इति०, पृ० १२१।

अनुसन्धान-विषयक महत्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

कितने ही पाठकों व इतर सज्जनोंको अनुसन्धानादि-विषयक शंकाएँ उत्पन्न होती हैं और वे इधर-उधर पूछते हैं। कितनोंको उत्तर ही नहीं मिलता और कितनोंको उनके पूछनेका अवसर नहीं मिल पाता। इससे उनकी शंकाएँ उनके हृदयमें ही विलीन हो जाती हैं और इस तरह उनकी जिज्ञासा अतृप्त ही बनी रहती है। अतएव उनके लाभकी दृष्टिसे यहाँ एक 'शंका-समाधान' प्रस्तुत है।

१. शंका—कहा जाता है कि विद्यानन्द स्वामीने 'विद्यानन्दमहोदय' नामक एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखा है, जिसके उल्लेख उन्होंने स्वयं अपने श्लोकवार्त्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंमें किये हैं। परन्तु उनके बाद होनेवाले माणिक्यनन्दि, वादिराज, प्रभाचन्द्र आदि बड़े-बड़े आचार्योंमेंसे किसीने भी अपने ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख नहीं किया, इससे क्या वह विद्यानन्दके जीवनकाल तक ही रहा है—उसके बाद नष्ट हो गया ?

१. समाधान—नहीं, विद्यानन्दके जीवनकालके बाद भी उसका अस्तित्व मिलता है। विक्रमकी बारहवीं तेरहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान् बादी देवसूरिने अपने 'स्याद्वादरत्नाकर' (द्वि० भा०, पृ० ३४९) में 'विद्यानन्दमहोदय' ग्रन्थकी एक पंक्ति उद्धृत करके नामोल्लेखपूर्वक उसका समालोचन किया है। यथा—

'यत्तु विद्यानन्दः...महोदये च 'कालान्तराविस्मरणकारणं हि धारणाभिधानं ज्ञानं संस्कारः प्रतीयते' इति वदन् संस्कारधारणयोरैकार्थ्यमचकथत्'।

इससे स्पष्ट जाना जाता है कि 'विद्यानन्दमहोदय' विद्यानन्द स्वामीके जीवनकालसे तीनसौ-चारसौ वर्ष बाद तक भी विद्वानोंकी ज्ञानचर्चा और अध्ययनका विषय रहा है। आश्चर्य नहीं कि उसकी सैकड़ों कापियां न हो पानेसे वह सब विद्वानोंको शायद प्राप्त नहीं हो सका अथवा प्राप्त भी रहा हो तो अष्टसहस्री आदिकी तरह वादिराज आदिने अपने ग्रन्थोंमें उसके उद्धरण ग्रहण न किये हों। जो हो, पर उक्त प्रमाणसे निश्चित है कि वह बननेके कई सौ वर्ष बाद तक विद्यमान रहा है। सम्भव है वह अब भी किसी लायब्रेरी या सरस्वती-भण्डारमें दीमकोंका भक्ष्य बना पड़ा हो। अन्वेषण करनेपर अकलङ्कदेवके प्रमाणसंग्रह तथा अनन्तवीर्यकी सिद्धिविनिश्चयटीकाकी तरह किसी श्वेताम्बर शास्त्रभंडारमें मिल जाय; क्योंकि उनके यहाँ शास्त्रोंकी सुरक्षा और सुव्यवस्था यति-मुनियोंके हाथोंमें रही है और अब भी वह कितने ही स्थानों पर चलती है। हालमें हमें मुनि पुण्यविजयजीके अनुग्रहसे वि० सं० १४५४ की लिखी अर्थात् साढ़े पांचसौ वर्ष पुरानी अधिक शुद्ध अष्टसहस्रीकी प्रति प्राप्त हुई है, जो मुद्रित अष्टसहस्रीमें सैकड़ों सूक्ष्म तथा स्थूल अशुद्धियों और त्रुटित पाठोंको प्रदर्शित करती है। यह भी प्राचीन प्रतिषोंकी सुरक्षाका एक अच्छा उदाहरण है। इससे 'विद्यानन्दमहोदय' के भी श्वेताम्बर शास्त्रभंडारोंमें मिलनेकी अधिक आशा है। अन्वेषकोंको उसकी खोजका प्रयत्न करते रहना चाहिये।

२. शंका—विद्वानोंसे सुना जाता है कि बड़े अनन्तवीर्य अर्थात् सिद्धिविनिश्चयटीकाकारने अकलंक देवके 'प्रमाणसंग्रह' पर 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' या 'प्रमाणसंग्रहालंकार' नामका बृहद् टीका-ग्रन्थ लिखा है परन्तु आज वह उपलब्ध नहीं हो रहा। क्या उसके अस्तित्व-प्रतिपादक कोई उल्लेख है जिनसे विद्वानोंकी उक्त अनुश्रुतिको पोषण मिले ?

२. समाधान—हाँ, प्रमाणसंग्रहभाष्य अथवा प्रमाणसंग्रहालंकारके उल्लेख मिलते हैं। स्वयं सिद्धि-विनिश्चयटीकाकारने सिद्धिविनिश्चयटीकामें उसके अनेक जगह उल्लेख किये हैं और उसमें विशेष जानने तथा कथन करनेकी सूचनाएँ की हैं। यथा—

१. 'इति चर्चितं प्रमाणसंग्रहभाष्ये'—सि० वि० टी० लि० प० १२।
२. 'इत्युक्तं प्रमाणसंग्रहालंकारे'—सि० लि० प० १९।
३. 'शेषमत्र प्रमाणसंग्रहभाष्यात्प्रत्येयम्'—सि० प० ३९२।
४. 'प्रपंचस्तु नेहोक्तो ग्रंथगौरवात् प्रमाणसंग्रहभाष्याज्ज्ञेयः'—सि० लि० प० ९२१।
५. 'प्रमाणसंग्रहभाष्ये निरस्तम्'—सि० लि० प० ११०३।
६. 'दोषो रागादिर्व्याख्यातः प्रमाणसंग्रहभाष्ये'—सि० लि० प० १२२२।

इन असंदिग्ध उल्लेखोंसे 'प्रमाणसंग्रहभाष्य' अथवा 'प्रमाणसंग्रहालंकार' की अस्तित्वविषयक विद्वद्-अनुश्रुतिको जहाँ पोषण मिलता है वहाँ उसकी महत्ता, अपूर्वता और बृहत्ता भी प्रकट होती है। ऐसा अपूर्व-ग्रन्थ, मालूम नहीं इस समय मौजूद है अथवा नष्ट हो गया है? यदि नष्ट नहीं हुआ और किसी लायन्नेरीमें मौजूद है तो उसका अनुसन्धान होना चाहिये। कितने खेदकी बात है कि हमारी लापरवाहीसे हमारे विशाल साहित्योद्यानमेंसे ऐसे-ऐसे सुन्दर और सुगन्धित ग्रन्थ-प्रसून हमारी नजारोंसे ओझल हो गये। यदि हम मालियों-ने अपने इस विशाल बागकी जागरूक होकर रक्षा की होती तो वह आज कितना हरा-भरा दिखता और लोग उसे देखकर जैन-साहित्योद्यानपर कितने मुग्ध और प्रसन्न होते। विद्वानोंको ऐसे ग्रन्थोंका पता लगानेका पूरा उद्योग करना चाहिये।

३. शंका—नीमटसार जीवकाण्ड और भवलामें जो नित्यनिगोद और इतर निगोदके लक्षण पाये जाते हैं क्या उनसे भी प्राचीन उनके लक्षण मिलते हैं?

३. समाधान—हाँ, मिलते हैं। तत्त्वार्थवातिकमें अकलङ्कदेवने उनके निम्न प्रकार लक्षण दिये हैं—
'त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोताः, त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये तेऽनित्यनिगोताः'।—त० वा० पृ० १००।

अर्थात् जो तीनों कालोंमें भी त्रसभावके योग्य नहीं हैं वे नित्यनिगोत हैं और जो त्रसभावको प्राप्त हुए हैं तथा प्राप्त होंगे वे अनित्यनिगोत हैं।

४. शंका—'संजद' पदकी चर्चके समय आपने 'संजद पदके सम्बन्धमें अकलङ्कदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत' लेखमें यह बतलाया था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवातिकके इस प्रकरणमें षट्खण्डागमके सूत्रोंका प्रायः अनुवाद दिया है। इसपर कुछ विद्वानोंका कहना था कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवातिकमें षट्खण्डागमका उपयोग किया ही नहीं। क्या उनका यह कहना ठीक है? यदि है तब आपने तत्त्वार्थवातिकमें षट्खण्डागमके सूत्रोंका अनुवाद कैसे बतलाया?

४. समाधान—हम आपको ऐसे अनेक प्रमाण नीचे देते हैं जिनसे आप और वे विद्वान् यह मानने-को बाध्य होंगे कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवातिकमें षट्खण्डागमका खूब उपयोग किया है। यथा—

(१) 'एवं हि समयोऽवस्थितः सत्प्ररूपणायां कायानुवादे—'त्रसा द्वीन्द्रियादारभ्य आ अयोग-केवलिन इति'।—तत्त्वा० पृ० ८८।

१. वीर-सेवामन्दिरमें जो सिद्धिविनिश्चयटीकाकी लिखित प्रति मौजूद है उसीके आधारसे पत्रों की संख्या डाली गई है।

यह षट्खण्डागमके निम्न सूत्रका संस्कृतानुवाद है—

“तसकाइया बीईदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति” ।—षट्ख० १-१-४४ ।

(२) ‘आगमे हि जीवस्थानादिष्वनुयोगद्वारेणादेशवचने नारकाणामेवादौ सदादिप्ररूपणा कृता ।’—तत्त्वा० पृ० ५५ ।

इसमें सत्प्ररूपणाके २५वें सूत्रकी ओर स्पष्ट संकेत है ।

(३) ‘एवं हि उक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने नोआगमद्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्त्रिसिकबन्ध-निर्देशः प्रोक्तः विषम स्निग्धतायां विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां च भेदः इति तदनुसारेण च सूत्रमुक्तम्’—तत्त्वा० ५-३७, पृ० २४२ ।

यहाँ पांचवें वर्गणा खण्डका स्पष्ट उल्लेख है ।

(४) ‘स्यादेतदेवभागमः प्रवृत्तः । पंचेन्द्रिया असंज्ञिपंचेन्द्रियादारभ्य आ अयोगिकेवलिनः’
—त० वा० पृ० ६३ ।

यह षट्खण्डागमके इस सूत्रका अक्षरशः संस्कृतानुवाद है—

“पंचिदिया असणिणपंचिदिय—प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति”—षट्० १-१-३७ ।

इन प्रमाणोंसे असंदिग्ध है कि अकलङ्कदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें षट्खण्डागमका अनुवादादिरूपसे उप-योग किया है ।

५—शंका—मनुष्यगतिमें आठ वर्षकी अवस्थामें भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाता है, ऐसा कहा जाता है, इसमें क्या कोई आगम प्रमाण है ?

५—समाधान—हाँ, उसमें आगम प्रमाण है । तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलङ्कदेवने लिखा है कि पर्याप्तक मनुष्य ही सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है, अपर्याप्तक मनुष्य नहीं और पर्याप्तक मनुष्य आठ वर्षकी अवस्थासे ऊपर उसको उत्पन्न करते हैं, इससे कममें नहीं । यथा—

‘मनुष्या उत्पादयन्तः पर्याप्तका उत्पादयन्ति नापर्याप्तकाः । पर्याप्तकाश्चाऽष्टवर्षस्थिते-
रुपर्युत्पादयन्ति नाधस्तात् ।—पृ० ७२, अ० २, सू० ३ ।

६—शंका—दिगम्बर मुनि जब विहार कर रहे हों और रास्तेमें सूर्य अस्त हो जाय तथा आस-पास कोई गाँव या शहर भी न हो तो क्या विहार बन्द करके वे वहीं ठहर जायेंगे अथवा क्या करेंगे ?

६—समाधान—जहाँ सूर्य अस्त हो जायगा वहीं ठहर जायेंगे, उससे आगे नहीं जायेंगे । भले ही वहाँ गाँव या शहर न हो, क्योंकि मुनिराज ईर्यासमितिके पालक होते हैं और सूर्यास्त होनेपर ईर्यासमितिका पालन बन नहीं सकता और इसीलिए सूर्य जहाँ उदय होता है वहाँसे तब नगर या गाँवके लिए बिहार करते हैं । कि जैसा आचार्य जटासिंहनन्दिने वराङ्गचरितमें कहा है—

यस्मिंस्तु देशे ऽस्तमुपैति सूर्यस्तत्रैव संवासमुखा बभूवुः ।

यत्रोदयं प्राप सहस्ररश्मिर्यातास्ततोऽथा पुरि वाऽप्रसंगाः ॥—३०-४७

इसी बातको मुनियोंके आचार-प्रतिपादक प्रधान ग्रन्थ मूलाचार (गाथा ७८४) में निम्न रूपसे बतलाया है—

ते णिमममा सरीरे जत्थत्थमिदा वसंति अणिएदा ।

सवणा अप्पडिवद्धा विज्जू तह दिट्ठणट्ठा या ॥

अर्थात् 'वे साधु शरीरमें निर्मम हुए जहाँ सूर्य अस्त हो जाता है वहाँ ठहर जाते हैं। कुछ भी अपेक्षा नहीं करते। और वे किसीसे बन्धे हुए नहीं, स्वतन्त्र हैं, बिजलीके समान दृष्टान्त हैं, इसलिये अपरिग्रह हैं।

७—शंका—लोग कहते हैं कि दिगम्बर जैन मुनि वर्षावास (चातुर्मास) के अतिरिक्त एक जगह एक दिन रात या ज्यादासे ज्यादा पाँच दिन-रात तक ठहर सकते हैं। पीछे वे वहाँसे दूसरी जगहको जरूर बिहार कर जाते हैं, इसे ये सिद्धान्त और शास्त्रोंका कथन बतलाते हैं। फिर आचार्य शांतिसागरजी महाराज अपने संघ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमें क्यों ठहरे? क्या कोई ऐसा अपवाद है?

७—समाधान—लोगोंका कहा ठीक है। दिगम्बर जैन मुनि गाँवमें एक रात और शहरमें पाँच रात तक ठहरते हैं। ऐसा सिद्धान्त है और उसे शास्त्रोंमें बतलाया गया है। मूलाचारमें और जटासिंहनन्दिके वरांगचरितमें यही कहा है। यथा—

गामेयरादिवासी णयरे पंचाहवासिणो धीरा ।

सवणा फामुविहारी विवित्तएंगंतवासी य ॥—मूला० ७८५

ग्रामैकरात्रं नगरे च पञ्च समुषुरव्यग्रमनःप्रचाराः ।

न किञ्चिदध्यप्रतिबाधमाना विहारकाले समितो विजिह्वः ॥—वरांग ३०-४५

परन्तु गाँव या शहरमें वर्षों रहना मुनियोंके लिए न उत्सर्ग बतलाया और न अपवाद।

भगवती आराधनामें मुनियोंके एक जगह कितने काल तक ठहरने और बादमें न ठहरनेके सम्बन्धमें विस्तृत विचार किया गया है। लेकिन वहाँ भी एक जगह वर्षों ठहरना मुनियोंके लिये विहित नहीं बतलाया। नौवें और दशवें स्थितिकल्पोंकी विवेचना करते हुए विजयोदया और मूलाराधना दोनों टीकाओंमें सिर्फ इतना ही प्रतिपादन किया है कि नौवें कल्पमें मुनि एक एक ऋतुमें एक एक मास एक जगह ठहरते हैं। यदि ज्यादा दिन ठहरें तो 'उद्गमादि दोषोंका परिहार नहीं होता, वसतिकापर प्रेम उत्पन्न होता है, मुखमें लम्पटपना उत्पन्न होता है, आलस्य आता है, सुकुमारताकी भावना उत्पन्न होती है, जिन श्रावकोंके यहाँ आहार पूर्वमें हुआ था वहाँ ही पुनरपि आहार लेना पड़ता है, ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये मुनि एक ही स्थानमें चिरकाल तक रहते नहीं हैं।' दशवें स्थितिकल्पमें चतुर्मासमें एक ही स्थानपर रहने का विधान किया है और १२० दिन एक स्थानपर रह सकनेका उत्सर्ग नियम बतलाया है। कमती बढ़ती दिन ठहरनेका अपवाद नियम भी इस प्रकार बतलाया है कि श्रुतग्रहण (अभ्यास), वृष्टिकी बहुलता, शक्तिका अभाव, वैयावृत्य करना आदि प्रयोजन हों तो ३६ दिन और अधिक ठहर सकते हैं अर्थात् आषाढशुक्ला दशमीसे प्रारम्भ कर कार्तिक पौर्णमासीके आगे तीस दिन तक एक स्थानमें और अधिक रह सकते हैं। कम दिन ठहरनेके कारण ये बतलाये हैं कि मरी रोग, दुग्धिक्ष, ग्राम अथवा देशके लोगोंको राज्य-क्रान्ति आदिसे अपना स्थान छोड़कर अन्य ग्रामादिकोंमें जाना पड़े, संवके नाशका निमित्त उपस्थित हो जाय आदि, तो मुनि चतुर्मासमें भी अन्य स्थानको विहार कर जाते हैं। विहार न करनेपर रत्नत्रयके नाशकी सम्भावना होती है। इसलिये आषाढ पूर्णिमा बीत जानेपर प्रतिपदा आदि तिथियोंमें दूसरे स्थानको जा सकते हैं और इस तरह एकसौ बीस दिनोंमें बीस दिन कम हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त वर्षों ठहरनेका वहाँ कोई अपवाद नहीं है। यथा—

“ऋतुषु षट्सु एकैकमेव वासमेकत्र वसतिरन्यदा विहरति इत्ययं नवमः स्थितिकल्पः ।

एकत्र चिरकालवस्थाने नित्यमुद्गमदोषं च न परिहर्तुं क्षमः । क्षेत्रप्रतिबद्धता, सातगुहता, अलसता, सौकुमार्यभावना, ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषाः । पञ्चो सभ्रणकण्यो नाम दशमः । वर्षा-

कालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः । स्थावरजङ्गमजीवाकुलो हि तदा धितिः तदा भ्रमणे महानसंयमः, वृष्ट्या शीतवातपातेन वातमविराधना । पतेद् वाप्यादिषु स्थाणुकण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्द्मेन बाध्यत इति विश्वत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः । कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वासस्थानं, संयतानां आषाढशुद्धदशम्यां स्थितानां उपरिष्ठाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्विवावस्थानम् । वृष्टिबहुलता, श्रुतग्रहणं, शक्त्यभाववैयावृत्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्टकालः । मार्या, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति । अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति । पौर्णमास्यामाषाढघामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति । यावच्च त्यक्ता विशति-दिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष दशकः स्थितिकल्पः ।” —विजयोदया टी० पृ० ९१६ ।

आचार्य शान्तिसागर महाराज संघ सहित वर्षभर शोलापुर शहरमें किस दृष्टि अथवा किस शास्त्रके आधारसे ठहरे रहे । इस सम्बन्धमें संघको अपनी दृष्टि स्पष्ट कर देना चाहिए, जिससे भविष्यमें दिग्म्बर मुनिराजोंमें शिथिलाचारिता और न बढ़ जाय ।

८—शंका—अरिहंत और अरहंत इन दोनों पदोंमें कौन पद शुद्ध है और कौन अशुद्ध ?

८—समाधान—दोनों पद शुद्ध हैं । आर्ष-ग्रन्थोंमें दोनों पदोंका व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ दिया गया है और दोनोंको शुद्ध स्वीकार किया गया है । श्रीषट्खण्डागमकी धवला टीकाकी पहली पुस्तकमें आचार्य वीरसेमस्वामीने देवतानमस्कारसूत्र (णमोकारमंत्र) का अर्थ देते हुए अरिहंत और अरहंत दोनोंका व्युत्पत्ति-अर्थ दिया है और लिखा है कि अरिका अर्थ मोहशत्रु है उसको जो हनन (नाश) करते हैं उन्हें 'अरिहंत' कहते हैं । अथवा अरि नाम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मोंका है उनको जो हनन (नाश) करते हैं उन्हें अरिहंत कहते हैं । उक्त कर्मोंके नाश हो जानेपर शेष अघाति कर्म भी ऋष्ट (सड़े) बीजके समान निःशक्तिक होजाते हैं और इस तरह समस्त कर्मरूप अरिको नाश करनेसे 'अरिहंत' ऐसी संज्ञा प्राप्त होती है । और अतिशय पूजाके अर्ह—योग्य होनेसे उन्हें अरहंत या अर्हन्त ऐसी भी पदवी प्राप्त होती है, क्यों कि जन्मकल्याणादि अवसरोंपर इन्द्रादिकों द्वारा वे पूजे जाते हैं । अतः अरिहंत और अरहंत दोनों शुद्ध हैं । फिर भी णमोकारमन्त्रके स्मरणमें 'अरिहंत' शब्दका उच्चारण ही अधिक उपयुक्त है, क्योंकि षट्खण्डागममें मूल पाठ यही उपलब्ध होता है और सर्वप्रथम व्याख्या भी इसी पाठकी पाई जाती है । इसके सिवाय जिन, जिनेन्द्र, वीतराग जैसे शब्दोंका भी यही पाठ सीधा बोधक है । भद्रबाहुकृत आवश्यक निर्युक्तिमें भी दोनों शब्दोंका व्युत्पत्ति अर्थ देते हुए प्रथमतः 'अरिहंत' शब्दकी ही व्याख्या की गई है । यथा—

अट्ठविहं पि य कम्मं अरिभूयं होइ सव्वजीवाणं ।

तं कम्ममरि हंता अरिहंता तेण वुच्चंति ॥९२०॥

अरिहंति वंदण-णमंसणाइं अरिहंति पूयसवकार ।

सिद्धिगमणं च अरिहा अरहंता तेण वुच्चंति ॥९२१॥

९—शंका—कहा जाता है कि भगवान् आदिनाथसे मरीचि (भरतपुत्र) ने जब यह सुना कि उसे अन्तिम तीर्थकर होना है तो उसको अभिमान आगया, जिससे वह स्वच्छन्द प्रवृत्ति करके नाना कुयोनियोंमें गया । क्या उसके इस अभिमानका उल्लेख प्राचीन शास्त्रोंमें आया है ?

९—समाधान—हाँ, आया है । जिनसेनाचार्यकृत आदिपुराणके अतिरिक्त भद्रबाहुकृत आवश्यक-निर्युक्तिमें भी मरीचिके अभिमानका उल्लेख मिलता है और वह निम्न प्रकार है—

सव्वयणं सोऊणं तिवइं आप्फोडिऊण तिवखुत्तो ।
 अब्भहियजायहरिसो तस्स मरीई इमं भणई ॥४३०॥
 जइ वासुदेवु पढमो भूआइ विदेहि चक्कवट्टित्तं ।
 चरमो तित्थयराणं होऊं अलं इत्तिअं मज्झ ॥४३१॥

१०. शंका—पूजा और अर्चामें क्या भेद है ? क्या दोनों एक हैं ?

१०. समाधान—यद्यपि सामान्यतः दोनोंमें कोई भेद नहीं है, पर्यायशब्दोंके रूपमें दोनोंका प्रयोग रूढ़ है तथापि दोनोंमें कुछ सूक्ष्म भेद जरूर है। इस भेदको श्रीवीरसेनस्वामीने बटखण्डागमके 'बन्धस्वामित्व' नामके दूसरे खण्डकी धवला-टीका पुस्तक आठमें इस प्रकार बतलाया है—

“चरु-बलि-पुष्प-फल-गंध-धूप-दीवादीहि समभक्तिपयासो अचचण णाम । एदाहि सह
 अइदधय-कप्पस्सक-महामह-सव्वदोभदादिमहिमाविहाणं पूजा णाम ।” पृ० ९२ ।

अर्थात् चरु, बलि (अक्षत), पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप इत्यादिसे अपनी भक्ति प्रकाशित करना अर्चना (अर्चा) है और इन पदार्थोंके साथ ऐन्द्रध्वज, कल्पवृक्ष, महामह, सर्वतोभद्र आदि महिमा (धर्मप्रभावना) का करना पूजा है ।

तात्पर्य यह कि फलादि द्रव्योंको चढ़ा कर (स्वाहापूर्वक समर्पण कर) संक्षेपमें लघु भक्तिको प्रकट करना अर्चा है और उक्त द्रव्यों सहित समारोहपूर्वक विशाल भक्ति प्रकट करना पूजा है ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इन्द्रध्वज आदि पूजामहोत्सवोंका विधान वीरसेनस्वामीसे बहुत पहलेसे विहित है और जैन शासनकी प्रभावनामें उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

११. शंका—निम्न पद्य किस ग्रन्थका मूल पद्य है ? उसका मूल स्थान बतलायें ?

सुखमालाहादनाकारं विज्ञानं मेयबोधन्तम् ।
 शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥

११. समाधान—उक्त पद्य अनेक ग्रन्थोंमें उद्धृत पाया जाता है। आचार्य विद्यानन्दने अष्ट-सहस्री (पृ० ७८) में इसे 'इति वचनात्' शब्दोंके साथ दिया है। आचार्य अभयदेवने सन्मतिसूत्र-टीका (पृ० ४७८) में इस पद्यको उद्धृत करते हुए लिखा है—

“न च सीगतमतमेतत्, न जैनमतमिति वक्तव्यम्, 'सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः
 पर्यायाः' [] इति जैनैरभिधानात् । तथा च सहभावित्वं गुणानां प्रतिपादयता
 दृष्टान्तार्थमुक्तम्—”

इसके बाद उक्त पद्य दिया है। सिद्धिविनिश्चयटीकाकार बड़े अनन्तवीर्यने इसी पद्यका निम्न प्रकार उल्लेख किया है—

“कथमन्यथा न्यायविनिश्चये 'सहभुवो गुणाः' इत्यस्य 'सुखमालाहादनाकारं....' इति
 निदर्शनं स्यात् ।” —(टी० लि० पृ० ७६ ।)

अभयदेव और अनन्तवीर्यके इन उल्लेखोंसे प्रतीत होता है कि गुणोंके सहभावीपना प्रतिपादन करनेके लिए दृष्टान्तके तौरपर उसे अकलङ्कदेवने न्यायविनिश्चयमें कहा है। परन्तु न्यायविनिश्चय मूलमें यह पद्य उपलब्ध नहीं होता। हो सकता है उसकी स्वोपज्ञवृत्तिमें उसे कहा हो। मूलमें तो सिर्फ ११वीं कारिकामें इतना ही कहा है कि 'गुणपर्ययवद्वरणं ते सहक्रमवृत्तयः' । यदि वस्तुतः यह पद्य न्यायविनिश्चयवृत्तिमें कहा

है तो यह प्रश्न उठता है कि वहाँ वृत्तिकारने उसे उद्धृत किया है या स्वयं रचकर उपस्थित किया है? यदि उद्धृत किया है तो मालूम होता है कि वह अकलङ्कदेवसे भी प्राचीन है। और यदि स्वयं रचा है तो उसे उनके न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिका समझना चाहिए। वादिराजसूरिने न्यायविनिश्चयविवरण (प० २४० पूर्वा०) में 'यथोक्तं स्याद्वादमहार्णव' शब्दोंके उल्लेख-पूर्वक उक्त पद्यको प्रस्तुत किया है, जिससे वह स्याद्वादमहार्णव नामक किसी जैन दार्शनिक ग्रन्थका जाना जाता है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है और इससे यह नहीं कहा जासकता कि इसके रचयिता अमुक आचार्य हैं। हो सकता है कि अकलङ्कदेवने भी इसी स्याद्वादमहार्णवपरसे उक्त पद्य उदाहरणके बतौर न्यायविनिश्चयकी स्वोपज्ञवृत्तिमें, जो आज अनुपलब्ध है, उल्लेखित किया हो और इससे प्रकट है कि यह पद्य काफी प्रसिद्ध और पुराना है।

१२. शंका—आधुनिक कितने ही विद्वान् यह कहते हुए पाये जाते हैं कि प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्टने अपने मीमांसा-श्लोकवार्तिककी निम्न कारिकाओंको समन्तभद्रस्वामीकी आप्तमीमांसागत 'घट-मौलिसुवर्णार्थी' आदि कारिकाके आधारपर रचा है और इसलिए समन्तभद्रस्वामी कुमारिलभट्टसे बड़े पूर्ववर्ती विद्वान् हैं। क्या उनके इस कथनको पुष्ट करनेवाला कोई प्राचीन पुष्ट प्रमाण भी है? कुमारिलकी कारिकाएँ ये हैं—

नद्धमानकभंगेन रुचक्रः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् ।

१२. समाधान—उक्त विद्वानोंके कथनको पुष्ट करने वाला प्रमाण भी मिलता है। ई० सन् १०२५ के प्रख्यात विद्वान् आचार्य वादिराजसूरिने अपने न्यायविनिश्चयविवरण (लि० प० २४५) में एक असन्दिग्ध स्पष्ट उल्लेख किया है और जो निम्न प्रकार है—

“उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तदुपजीविना भट्टेनापि—
घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥
वद्धमानकभंगेन रुचक्रः क्रियते यदा ।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम् । इति च ॥”

इस उल्लेखमें वादिराजने जो 'सुवर्णजीविना' पदका प्रयोग किया है उससे स्पष्ट है कि आजसे नौ सौ वर्ष पूर्व भी कुमारिलको समन्तभद्रस्वामीका उक्त विषयमें अनुगामी अथवा अनुसर्ता माना जाता था। जो विद्वान् समन्तभद्रस्वामीको कुमारिल और उसके समालोचक धर्मकीर्तिके उत्तरवर्ती बतलाते हैं उन्हें वादिराजका यह उल्लेख अभूतपूर्व और प्रामाणिक समाधान उपस्थित करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द

भारतीय चिन्तकों और ग्रन्थकारोंमें आचार्य कुन्दकुन्दका अग्रपंक्तिमें स्थान है। उन्होंने अपने विपुल वाङ्मयके द्वारा भारतीय संस्कृतिको तत्त्वज्ञान और अध्यात्म प्रधान विचार तथा आचार प्रदान किया है। भारतीय साहित्यमें प्राकृत-भाषाके महापण्डित और इस भाषामें निबद्ध सिद्धान्त-साहित्यके रचयिताके रूपमें इनका नाम दूर अतीतकालसे विश्रुत है। मङ्गलकार्यके आरम्भमें बड़े आदरके साथ इनका स्मरण किया जाता है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूतिके पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्दका मङ्गलरूपमें उल्लेख किया गया है। जैसा कि निम्न पद्यसे प्रकट है—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी ।

मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

इससे अवगत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द एक महान् प्रभावशाली हुए हैं, जो पिछले दो हजार वर्षोंमें हुए हजारों आचार्योंमें प्रथम एवं असाधारण आचार्य हैं। उनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारोंने अपने ग्रन्थोंमें उन्हें सश्रद्ध स्मरण किया है। इतना ही नहीं, शिलालेखोंमें भी उनकी असाधारण विद्वत्ता, अनुपम संयम, अद्भुत इन्द्रिय-विजय, उन्हें प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियों आदिका विशेष उल्लेख किया गया है। पट्टावलियोंसे विदित है कि उन्होंने आठ वर्षकी अवस्थामें ही साधु-दीक्षा ले ली थी और समग्र जीवन संयम और तपोनुष्ठान पूर्वक व्यतीत किया था। वे चौरासी वर्ष तक जिये थे और इस लम्बे जीवनमें उन्होंने दीर्घ चिन्तन, मनन एवं ग्रन्थ-सृजन किया था।

इनके समयपर अनेक विद्वानोंने ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार किया है। स्वर्गीय पं० जुमलकिशोर 'मुख्तार' ने अनेक प्रमाणोंसे विक्रमकी पहली शताब्दी समय निर्धारित किया है। मूल संघकी उपलब्ध पट्टावलीके अनुसार भी यही समय (वि० सं० ४९) माना गया है। डॉ० ए० एन० उपाध्येने^२ सभीके मान्य समयपर गहरा ऊहापोह किया है और ईस्वी सन्का प्रारम्भ उनका अस्तित्व-समय निर्णीत किया है।

ग्रन्थ-रचना

कुन्दकुन्दने अपनी ग्रन्थ-रचनाके लिए प्राकृत, पाली और संस्कृत इन तीन प्राचीन भारतीय भाषाओंमेंसे प्राकृतको चुना। प्राकृत उस समय जन-भाषाके रूपमें प्रसिद्ध थी और वे जन-साधारण तक अपने चिन्तनको पहुँचाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम, कषायपाहुड जैसे आर्ष ग्रन्थ प्राकृतमें ही निबद्ध होनेसे प्राकृतकी दीर्घकालीन प्राचीन परम्परा उन्हें प्राप्त थी। अतएव उन्होंने अपने सभी ग्रन्थोंकी रचना प्राकृत भाषामें ही की। उनकी यह प्राकृत शौरसेनी प्राकृत है। इसी शौरसेनी प्राकृतमें दिगम्बर परम्पराके उत्तरवर्ती आचार्योंने भी अपने ग्रन्थ रचे हैं। प्राकृत-साहित्यके निर्माताओंमें आचार्य कुन्दकुन्दका मूर्धन्य स्थान है। इन्होंने जितना प्राकृत-वाङ्मय रचा है उतना अन्य मनीषीने नहीं लिखा। कहा जाता है कि

१. पुरातन-वाक्य-सूची, प्रस्तावना, पृ० १२, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, १९५० ई०।

२. प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृ० १०-२५, परमश्रुत प्रभाकर मण्डल, बम्बई, १९३५ ई०।

कुन्दकुन्दने ८४ पाहुडों (प्राभृतों-प्रकरणग्रन्थों) तथा आचार्य पुष्पदन्त-भूतबली द्वारा रचित 'षट्खण्डागम' आर्ष ग्रन्थकी विशाल टीकाकी भी रचना की थी। पर आज वह सब ग्रन्थ-राशि उपलब्ध नहीं है। फिर भी जो ग्रन्थ प्राप्त हैं उनसे जैन वाङ्मय समृद्ध एवं देदीप्यमान है। उनकी इन उपलब्ध कृतियोंका संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

१. प्रवचनसार—इसमें तीन अधिकार हैं—(१) ज्ञानाधिकार, (२) ज्ञेयाधिकार और (३) चारित्र्याधिकार। इन अधिकारोंमें विषयोंके वर्णनका अवगम उनके नामोंसे ज्ञात हो जाता है। अर्थात् पहले अधिकारमें ज्ञानका, दूसरेमें ज्ञेयका और तीसरेमें चारित्र्य (साधु-चारित्र्य) का प्रतिपादन है। इस एक ग्रन्थके अध्ययनसे जैन तत्त्वज्ञान अच्छी तरह अवगत हो जाता है। इसपर दो व्याख्याएँ उपलब्ध हैं—एक आचार्य अमृतचन्द्रकी और दूसरी आचार्य जयसेनकी। अमृतचन्द्रकी व्याख्यानुसार इसमें २७५ (९२ + १०८ + ७५) गाथाएँ हैं और जयसेनकी व्याख्याके अनुसार इसमें ३१७ गाथाएँ हैं। यह गाथाओंकी संख्याकी भिन्नता व्याख्याकारोंको प्राप्त न्यूनाधिक संख्यक प्रतियोंके कारण हो सकती है। यदि कोई अन्य कारण रहा हो तो उसकी गहराईसे छानबीन की जानी चाहिए। ये दोनों व्याख्याएँ संस्कृतमें निबद्ध हैं और दोनों ही मूलको स्पष्ट करती हैं। उनमें अन्तर यही है कि अमृतचन्द्रकी व्याख्या मद्य-पद्यात्मक है और दुरूह एवं जटिल है। पर जयसेनकी व्याख्या सरल एवं सुखसाध्य है। तथा केवल गद्यात्मक है। हाँ, उसमें पूर्वाचार्योंके उद्धरण प्राप्त हैं।

२. पंचास्तिकाय—इसमें दो श्रुतस्कन्ध (अधिकार) हैं—१ षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय और २ नव-पदार्थ। दोनोंके विषयका वर्णन उनके नामोंसे स्पष्ट विदित है। इसपर भी उक्त दोनों आचार्योंकी संस्कृतमें टीकाएँ हैं और दोनों मूलको स्पष्ट करती हैं। पहले श्रुतस्कन्धमें १०४ और दूसरेमें आचार्य अमृतचन्द्रके अनुसार ६८ तथा जयसेनाचार्यके अनुसार ६९ कुल १७२ या १७३ गाथाएँ हैं। 'सगण्यभावणदु' यह (१७३ संख्यक) गाथा अमृतचन्द्रकी व्याख्यामें नहीं है किन्तु जयसेनकी व्याख्यामें है। यह गाथा-संख्याकी न्यूनाधिकता भी व्याख्याकारोंको प्राप्त न्यूनाधिकसंख्यक प्रतियोंका परिणाम जान पड़ता है।

३. समयसार—इसमें दश अधिकार हैं—१ जीवाजीवाधिकार, २ कर्तृकर्माधिकार, ३ पुण्यपापाधिकार, ४ आल्लावाधिकार, ५ संवराधिकार, ६ निर्जराधिकार, ७ बन्धाधिकार, ८ मोक्षाधिकार, ९ सर्व-विशुद्धज्ञानाधिकार और १० स्याद्वादाधिकार। इन अधिकारोंके नामसे ही उनके विषयोंका ज्ञान हो जाता है। अन्तिम अधिकार व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्रद्वारा अभिहित है, मूलकार आचार्य कुन्दकुन्दद्वारा रचित नहीं है। अमृतचन्द्रको इस अधिकारको रचनेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि समयसारका अध्येता पूर्वं अधिकारोंमें वर्णित निश्चय और व्यवहारनयोंकी प्रधान एवं गौण दृष्टिसे समयसारके अभिधेय आत्मतत्त्वको समझे और निरूपित करे। इसीसे उन्होंने स्याद्वादाधिकारमें स्याद्वादके वाच्य—अनेकान्तका समर्थन करनेके लिए तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयों (दृष्टियों) से आत्मतत्त्वका विवेचन किया है। अन्तमें कलश काव्योंमें इसी तथ्यको स्पष्टतया व्यक्त किया है। समयसारपर भी उक्त दोनों आचार्योंकी संस्कृत-व्याख्याएँ हैं, जो मूलके हार्दको बहुत उत्तम ढंगसे स्पष्ट करती हैं। अमृतचन्द्रने प्रत्येक गाथापर बहुत सुन्दर एवं प्रौढ़ कलशकाव्य भी रचे हैं, जो आचार्य कुन्दकुन्दके गाथा-मन्दिरके शिखरपर चढ़े कलशकी भाँति सुशोभित होते हैं। अनेक विद्वानोंने इन समस्त कलशकाव्योंको 'समयसार-कलश'के नामसे पुस्तकारूढ़ करके प्रकाशित भी किया है। समयसार और समयसार-कलशके हिन्दी आदि भाषाओंमें अनुवाद भी हुए हैं, जो इनकी लोकप्रियताको प्रकट करते हैं। इसमें ४१५ गाथाएँ हैं। यह समयसार (समयप्राभृत) तत्त्वज्ञानप्रपूर्ण है।

४. नियमसार—इसमें १२ अधिकार और १८७ गाथाएँ हैं। इसपर पद्मप्रभमलधारीदेवकी संस्कृत-टीका है, जो मूलको तो स्पष्ट करती ही है, सम्बद्ध एवं प्रसंगोपात्त स्वरचित एवं अन्य ग्रन्थकारोंके श्लोकोका भी आकर है। इस ग्रन्थमें भी समयसारकी तरह आत्मतत्त्वका प्रतिपादन है। मुमुक्षुके लिये यह उतना ही उपयोगी और उपादेय है जितना उक्त समयसार।

५. दंसण-पाहुड—इसमें सम्यग्दर्शनका २६ गाथाओं में विवेचन है। इसकी कई गाथाएँ तो सदा स्मरणीय हैं। यहाँ निम्न तीन गाथाओंको देनेका लोभ संवरण नहीं कर सकता—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥
समत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥४॥
सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंताणं ।
ण ल्हंति बोहिवाहं अवि वाससहस्सकोडीहि ॥५॥

इन गाथाओंमें कहा गया है कि 'जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वे वस्तुतः भ्रष्ट (पतित) हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट मनुष्यको मोक्ष प्राप्त नहीं होता। किन्तु जो सम्यग्दर्शनसे सहित हैं और चारित्र्यसे भ्रष्ट हैं उन्हें मोक्ष प्राप्त हो जाता है। पर सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट सिद्ध नहीं होते। जो अनेक शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, किन्तु सम्यक्त्व-रत्नसे च्युत हैं वे भी आराधनाओंसे रहित होनेसे वहीं वहीं संसारमें चक्कर काटते हैं। जो करोड़ों वर्षों तक उग्र तप करते हैं किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित हैं वे भी बोधिलाभ (मोक्ष) को प्राप्त नहीं होते।'

कुन्दकुन्दने 'दंसण-पाहुड' में सम्यग्दर्शनका महत्त्व निरूपित कर उसको प्राप्तिपर ज्ञानी और साधु दोनोंके लिए बल दिया है।

६. चारित्तपाहुड—इसमें ४४ गाथाओंके द्वारा मनुष्य जीवनको उज्ज्वल बनाने वाले एवं मोक्ष-मार्गके तीसरे पाये सम्यक्चारित्र्यका अच्छा निरूपण है।

७. सुत्तपाहुड—इसमें २७ गाथाएँ हैं। उनमें सूत्र (निर्दोषवाणी) का महत्त्व और तदनुसार प्रवृत्ति करनेपर बल दिया गया है।

८. बोधपाहुड—इसमें ६२ गाथाएँ हैं; जिनमें उन ११ बातोंका निरूपण किया गया है, जिनका बोध मुनितके लिए आवश्यक है।

९. भावपाहुड—इसमें १६३ गाथाओं द्वारा भावों—आत्मपरिणामोंकी निर्मलताका विशद निरूपण किया गया है।

१०. मोक्खपाहुड—इसमें १०६ गाथाएँ निबद्ध हैं। उनके द्वारा आनार्यने मोक्षका स्वरूप बतलाते हुए बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन आत्मभेदोंका प्रतिपादन किया है।

११. लिगपाहुड—इसमें २२ गाथाएँ हैं। इन गाथाओंमें मुनितके लिए आवश्यक लिग (वेष), जो द्रव्य और भाव दो प्रकार का है, विवेचित है।

१२. सीलपाहुड—४० गाथाओं द्वारा इसमें विषयतृष्णा आदि अशीलको बन्ध एवं दुःखका कारण बतलाते हुए जीवदया, इन्द्रिय-दमन, संयम आदि शीलों (सम्प्रवृत्तियों) का निरूपण किया गया है।

इम उपर्युक्त आठ पाहुडोंको 'अष्टपाहुड' कहा जाता है और आरम्भके ६ पाहुडोंपर श्रुतसागर सुरिकी संस्कृत-व्याख्याएँ हैं ।

१३. बारस अणुवेक्खा—इसमें वैराभ्योत्पादक १२ अनुप्रेक्षाओं (भावनाओं) का ९१ गाथाओंमें प्रतिपादन है ।

१४. सिद्धभक्ति—इसमें १२ गाथाओं द्वारा सिद्धोंका स्वरूप व उनकी भक्ति वर्णित है ।

१५. सुदभक्ति—इसमें ११ गाथाएँ हैं । उनमें श्रुतकी भक्ति प्रतिपादित है ।

१६. चारित्तभक्ति—इसमें १० अनुष्टुप् गाथाओं द्वारा पाँच प्रकारके चारित्रिका दिग्दर्शन है ।

१७. योगिभक्ति—२३ गाथाओं द्वारा इसमें योगियोंकी विभिन्न अवस्थाओंका विवेचन है ।

१८. आयरियभक्ति—इसमें १० गाथाओं द्वारा आचार्यके गुणोंकी संस्तुति की गयी है ।

१९. णिव्वाणभक्ति—इसमें २७ गाथाएँ हैं और उनमें निर्वाणका स्वरूप एवं निर्वाणप्राप्त तीर्थ-करोंकी स्तुति की गयी है ।

२०. पंचगुरुभक्ति—यह सात गाथाओंकी लघु कृति है और पाँच परमेष्ठियोंकी भक्ति इसमें निबद्ध है ।

२१. थोस्सामिथुदि—इसमें ८ गाथाओं द्वारा ऋषभादि चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है ।

इन रचनाओंके सिवाय कुछ विद्वान् 'रयणसार' और 'मूलाचार' को भी कुन्दकुन्दकी रचना बतलाते हैं ।

कुन्दकुन्दकी देन

कुन्दकुन्दके इस विशाल वाङ्मयका सूक्ष्म और गहरा अध्ययन करनेपर उनकी हमें अनेक उपलब्धियाँ अवगत होती हैं । उनका यहाँ अंकन करके उनपर संक्षिप्त विचार करेंगे । वे ये हैं—

१ साहित्यिक उद्भावनाएँ, २ दार्शनिक चिन्तन, ३ तात्त्विक विचारणा और ४ लोककल्याणी दृष्टि ।

१. साहित्यिक उद्भावनाएँ—हम पहले कह आये हैं कि कुन्दकुन्दकी उपलब्ध समग्र ग्रन्थ-रचना प्राकृत-भाषामें निबद्ध है । प्राकृत-साहित्य पद्यसूत्रों और पद्यसूत्रों दोनोंमें उपनिबद्ध हुआ है । कुन्दकुन्दने अपने समग्र ग्रन्थ, जो उपलब्ध हैं, पद्यसूत्रों—गाथाओंमें ही रचे हैं । प्राकृतका पद्य-साहित्य यद्यपि एकमात्र गाथा-छन्दमें, जो आर्याछन्दके नामसे प्रसिद्ध है, प्राप्त है । किन्तु कुन्दकुन्दके प्राकृत पद्य-वाङ्मयकी विशेषता यह है कि उसमें गाथा-छन्दके अतिरिक्त अनुष्टुप् और उपजाति छन्दोंका भी उपयोग किया गया है और इस छन्दवैविध्यसे उसमें सौन्दर्यके साथ आनन्द भी अध्येताको प्राप्त होता है । अनुष्टुप् छन्दके लिए भाव-पाहुड गाथा ५९, नियमसार गाथा १२६ और उपजाति छन्दके लिए प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारकी 'णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिण्ण' गाथाएँ द्रष्टव्य हैं । यद्यपि षट्खण्डागमके पंचम वर्गशाखण्डके ३६ वें 'णिद्धस्स णिद्धेण' सूत्रको ही अपने ग्रन्थका अंग बना लिया है । फिर भी छन्दोंकी विविधतामें क्षति नहीं आती ।

इसी प्रकार अलंकार-विविधता भी उनके ग्रन्थोंमें उपलब्ध होती है, जो काव्यकी दृष्टिसे उसका होना अच्छा है । अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकारके लिए भावपाहुडकी 'ण मुयइ पयडि अभग्गो' (१३७ संख्यक) गाथा, उपमालंकारके लिए इसी ग्रन्थकी 'जह तारयाण चंद्रो' (१४३ संख्यक) गाथा और रूपकालंकारके लिए उसी-की 'जिणवरवरणंबुहं' (१५२) गाथा देखिए । इस प्रकार कुन्दकुन्दके प्राकृत वाङ्मयमें अनेक साहित्यिक उद्भावनाएँ परिलक्षित होती हैं, जिससे अवगत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द केवल सिद्धान्तवेत्ता मनीषी

ही नहीं थे, वे प्राकृत और संस्कृत भाषाओंके प्रौढ़ कवि भी थे और इन भाषाओंमें विविध छन्दों तथा अलंकारोंमें कविता करनेको विशिष्ट प्रतिभा उन्हें प्राप्त थी ।

दार्शनिक चिन्तन

कुन्दकुन्दका दार्शनिक चिन्तन आगम, अनुभव और तर्कपर विशेष आधृत है । जब वे किसी वस्तुका विचार करते हैं तो उसमें सिद्धान्तके अलावा दर्शनका आधार अवश्य रहता है । पंचास्तिकायमें कुन्दकुन्दने द्रव्यके लक्षण किये हैं । एक यह कि जो सत् है वह द्रव्य है तथा सत् उसे कहते हैं जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य दो पाये जायें । जगत्की सभी वस्तुएँ सत्स्वरूप हैं और इसीसे उनमें प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पाया जाता है । दूसरा लक्षण यह है कि जो गुणों और पर्यायोंका आश्रय है । अर्थात् गुण-पर्याय वाला है । पहला लक्षण जहाँ द्रव्यकी त्रयात्मक शक्तिको प्रकट करता है वहाँ दूसरा लक्षण द्रव्यको गुणों और पर्यायोंका पुञ्ज सिद्ध करता है तथा उसमें सहानेकान्त और क्रमानेकान्त दो अनेकान्तोंको सिद्ध कर सभी वस्तुओंको अनेकान्तात्मक बतलाता है । कुन्दकुन्दके इन दोनों लक्षणोंको उत्तरवर्ती मृद्धपिच्छ जैसे सभी आचार्योंने अपनाया है ।

कुन्दकुन्दका दूसरा नया चिन्तन यह है कि आगमोंमें जो 'सिया अस्थि' (स्याद् अस्ति—कथंचित् है) और 'सिया णस्थि' (स्यान्नास्ति—कथंचित् नहीं है) इन दो भंगों (प्रकारों)से वस्तुनिरूपण है । कुन्दकुन्दने उसे सात भंगों (प्रकारों) से प्रतिपादित किया है तथा द्रव्यमात्रको सात भंग (सात प्रकार) रूप बतलाया है । उनका यह चिन्तन एवं प्रतिपादन समन्तभद्र जैसे आचार्योंके लिए मार्गदर्शक सिद्ध हुआ । समन्तभद्रने उनकी इस 'सप्तभंगी' को आप्तमीमांसा, स्वयम्भूस्तोत्र आदिमें विकसित किया एवं विशदतया निरूपित किया है ।

तात्त्विक चिन्तन

कुन्दकुन्दकी उपलब्ध सभी रचनाएँ तात्त्विक चिन्तनसे ओतप्रोत हैं । समयसार और नियमसारमें जो शुद्ध आत्माका विशद और विस्तृत विवेचन है वह अन्यत्र अलभ्य है । आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदोंका (मोक्षपाहुड ४ से ७) कथन उनसे पहले किसी ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं है । सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका निरूपण (सं. सां. २२९-२३६), अणुमात्र राग रखने वाला सर्वशास्त्रज्ञ भी स्वसमयका ज्ञाता नहीं (पंचां. १६७), जीवको सर्वथा कर्मबद्ध अथवा कर्म-अबद्ध बतलाना नय पक्ष (एकान्तवाद) है और दोनोंका ग्रहण करना समयसार है (सं. सां. १४१-१४३), तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हो तो सिद्ध नहीं हो सकता (दं. पां. २३) आदि तात्त्विक विवेचन कुन्दकुन्दकी देन है ।

लोक कल्याणी दृष्टि

कुन्दकुन्दकी दृष्टिमें गुण कल्याणकारी हैं, देह, जाति, कुल आदि नहीं । (दं. पां. २७) आदि निरूपण भी उनकी प्रशस्त देन है । इस प्रकार मनुष्यमात्रके हितका मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया है ।

आचार्य गृद्धपिच्छ

संस्कृत-भाषा में जैन सिद्धान्तोंको गद्य-सूत्रोंमें निबद्ध करने वाले प्रथम आचार्य गृद्धपिच्छ हैं। इन्हें उमास्वामी और उमास्वाति भी कहा जाता है। पुरातनाचार्य वीरसेन और आचार्य विद्यानन्दने 'गृद्धपिच्छाचार्य' नामसे ही इनका उल्लेख किया है। इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थमें उनके उमास्वामी और उमास्वति-नामोंका उल्लेख नहीं किया। अभयचन्द्रने भी उनका गृद्धपिच्छके नामसे ही उल्लेख किया है।

निर्विवादरूपमें इनकी एक ही कृति मानी जाती है। वह है 'तत्त्वार्थसूत्र'। यह जैन परम्पराका विश्रुत और अधिक मान्य ग्रन्थ-रत्न है। यह समग्र श्रुतका आलोडन कर निकाला गया श्रुतामृत है। जैन साहित्य और शिलालेखोंमें इसका उल्लेख तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र, मोक्षशास्त्र, निःश्रेयसशास्त्र, तत्त्वार्थधिगम जैसे नामोंसे किया गया है।

इसके सूत्र तपे-तुले, अर्थगर्भ, गम्भीर और विशद हैं। इस पर दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओंके आचार्योंने टीकाएँ, व्याख्याएँ, टिप्पण, भाष्य, वार्तिक आदि लिखे हैं और इसे बहु मान दिया है। इन टीकादिमें कई तो इतनी विशाल और गम्भीर हैं कि वे स्वतंत्र ग्रन्थकी योग्यता रखती हैं। इनमें आचार्य अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक और वार्तिकोपर लिखा उनका भाष्य तथा आचार्य विद्यानन्दका तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक और उसपर लिखा गया उन्हींका स्वोपज्ञ भाष्य ऐसी टीकाएँ हैं, जिनमें अनेकों विषयोंका विशद एवं विस्तृत विवेचन है।

आचार्य गृद्धपिच्छको उनके अकेले इस तत्त्वार्थसूत्रने अमर एवं यशस्वी बना दिया है। तत्त्वार्थसूत्रके सूक्ष्म और गहरे अध्ययनसे उनके व्यक्तित्वका उसके अध्येतापर अमिट प्रभाव पड़ता है। वे सिद्धान्तनिरूपणमें तो कुशल हैं ही, दर्शन और तर्कशास्त्रके भी महापण्डित हैं। तत्त्वार्थसूत्रका आठवां, नवां और दशवां ये तीन अध्याय सिद्धान्तके निरूपक हैं। शेष अध्यायोंमें सिद्धान्त, दर्शन और न्यायशास्त्रका मिश्रित विवेचन है। यद्यपि दर्शन और न्यायका विवेचन इन अध्यायोंमें भी कम ही है किन्तु जहाँ जितना उनका प्रतिपादन आवश्यक समझा, उन्हींने वह विशदताके साथ किया है। वह युग मुख्यतया सिद्धान्तोंके प्रतिपादनका था। उनके समर्थनके लिए दर्शन और न्यायकी जितनी आवश्यकता प्रतीत हुई उतना उनका आलम्बन लिया गया है। उदाहरणके लिए कणादका वैशेषिकसूत्र और जैमिनिका भोमांसासूत्र ले सकते हैं। इनमें अपने सिद्धान्तोंका मुख्यतया प्रतिपादन है और दर्शन एवं न्यायका निरूपण आवश्यकतानुसार हुआ है। आचार्य गृद्धपिच्छने इस तत्त्वार्थसूत्रमें भी वही शैली अपनायी है।

तत्त्वार्थसूत्रके पहले अध्यायके ५, ७, व ८ संख्यक सूत्रोंमें आगमानुसार सिद्धान्तका और इसी अध्यायके ६, १०, ११, १२ संख्यक सूत्रोंमें दर्शनका तथा इसी अध्यायके ३१ व ३२ सूत्रों एवं दशवें अध्यायके ५, ६, ७, ८ सूत्रोंमें न्याय (तर्क) का विवेचन इस बातको बतलाता है कि तत्त्वार्थसूत्रमें सिद्धान्तोंके प्रतिपादनके साथ दर्शन और न्यायका भी प्रतिपादन उपलब्ध है, जो अध्येताओंके लिए समयानुसार आवश्यक रहा है।

तत्त्वार्थसूत्रकारको इस संस्कृत गद्य-सूत्ररचनाके समय अनेक स्थितियोंका सामना करना पड़ा होगा, क्योंकि उनके पूर्व श्रमणपरम्परामें प्राकृत-भाषामें ही गद्य या पद्य ग्रन्थोंके रचनेकी अपनी परम्परा थी । सम्भव है उनके इस प्रयत्नका आरम्भमें विरोध भी किया गया हो और इसीसे इस गद्यसूत्र संस्कृतग्रन्थ तत्त्वार्थ-सूत्रको कई शताब्दियों तक किसी आचार्यने छुआ नहीं—उस पर किसीने कोई वृत्ति, टीका, वार्तिक, भाष्य आदिके रूपमें कुछ नहीं लिखा । देवनन्द-पूज्यपाद (छठी शताब्दी) ही एक ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने उसपर तत्त्वार्थवृत्ति—सर्वार्थसिद्धि लिखी और उसके छिपे महत्त्वको प्रकट किया । फिर तो आगे अकलंकदेव, विद्यानन्द, सिद्धसेन गणी आदिके लिए मार्ग प्रशस्त हो गया ।

इस सूत्र-ग्रन्थमें वैशेषिकसूत्रकी तरह १० अध्याय हैं और आदि तथा अन्तमें एक-एक पद्य है । आदि-का पद्य मङ्गलाचरणके रूपमें है और अन्तका पद्य ग्रन्थसमाप्ति एवं लघुता सूचक है । वे ये हैं—

आदि पद्य—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।

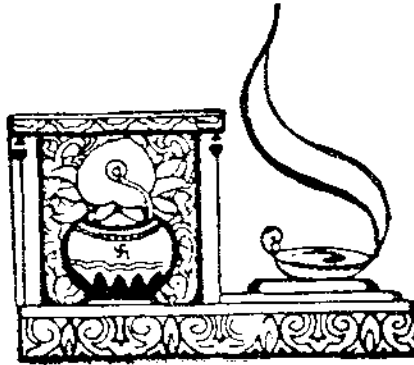
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

अन्तिम पद्य

अक्षर-मात्र-पद-स्वरहीनं व्यंजन-संघि-निर्वर्जितरेफम् ।

साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे ॥

वस्तुतः आचार्य गृद्धपिच्छ और उनके तत्त्वार्थसूत्रका समग्र जैन वाङ्मयमें सम्मानपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है ।



आचार्य समन्तभद्र

आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य गूढपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयकी जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावना की और उसपर आये आघातोंकी दूर कर यशोभाजन हुआ वह हैं स्वामी समन्तभद्राचार्य । शिलालेखों तथा परवर्ती ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें इनका प्रचुर यशोमान किया गया है । अकलंकदेवने इन्हे स्याद्वादतैर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्गका परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गगिणी, वादिराजने सर्वज्ञप्रदर्शक, मलयगिरि-ने आद्य स्तुतिकार तथा शिलालेखोंमें वीर-शासनकी सहस्रगुणी वृद्धि करने वाला, श्रुतकेवलिसन्तानोन्नायक, समस्तविद्यानिधि, शास्त्रकार एवं कलिकालगणधर जैसे विशेषणों द्वारा उल्लेखित किया है ।

समन्तभद्रका समय वस्तुतः दार्शनिक चर्चाओं, शास्त्रार्थों और खण्डन-मण्डनके ज्वारभाटेका समय था । तत्त्वव्यवस्था ऐकान्तिक की जाने लगी और प्रत्येक दर्शन एकान्त पक्षका आग्रही हो गया । जैन दर्शनके अनेकान्तसिद्धान्तपर भी घात-प्रतिघात होने लगे । फलतः आर्हत-परम्परा ऋषभादि महावीरान्त तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादको भूलने लगी, ऐसे समयपर स्वामी समन्तभद्रने ही स्याद्वादको उजागर किया और स्याद्वादन्यायसे उन एकान्तोंका समन्वय करके अनेकान्ततत्त्वकी व्यवस्था की ।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामी समन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थमें दिया है । वह इतना प्रमाणपूर्ण, अविकल और शोधत्मक है कि उसमें संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धनकी गुञ्जाइश प्रतीत नहीं होती । वह आज भी बिलकुल नया और चिन्तन-पूर्ण है । विशेष यह है कि समन्तभद्र उस समय हुए, जब दिगम्बर परम्परामें मुनियोंमें वनवास ही प्रचलित था, चैत्यवास नहीं । जैसा कि उनके स्वयंभूस्तोत्रगत श्लोक १२८ तथा रत्नकरण्डश्रावकाचारके पद्य १४७ से प्रकट है^१ । इसके सिवाय कुमारिल (ई० ६५०) और धर्मकीर्ति (६३५) ने समन्तभद्रका खण्डन किया है^२, अतः वे उनसे पूर्ववर्ती हैं । आचार्य वादिराज^३ (१०२५ ई०) के न्यायविनिश्चयविवरण (भाग १, पृ० ४३९) गत उल्लेख ('उक्तं स्वामिसमन्तभद्रैस्तुद्रुपञ्जीविना भट्टैर्नाऽपि') से स्पष्ट है कि कुमारिलसे समन्तभद्र पूर्ववर्ती हैं । शोधके आधारपर इनका समय दूसरी-तीसरी शताब्दी अनुमानित होता है ।

समन्तभद्र द्वारा प्रतिपादित तत्त्व-व्यवस्था

आचार्य समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व (वस्तु) अनेकान्तरूप है—एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि) के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्च विराट अनेकान्तात्मक तत्त्वसागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभङ्गियाँ) भरी पड़ी हैं । हाँ, दृष्टाको सजग और समदृष्टि होकर उसे देखना-जानना चाहिए । उसे यह ध्यातव्य है कि वक्ता या ज्ञाता वस्तुको जब अमुक एक कोटिसे कहता या जानता है तो वस्तुमें वह धर्म

१. जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन, पृ० १८० से १८७ ।

२. ३. यही ग्रन्थ, 'अनूसंधानमें पूर्वाग्रहमुक्ति आवश्यक : कुछ प्रश्न और समाधान शीर्षक लेख ।

अमुक अपेक्षासे रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश या अभिप्रायवश मुख्य और अन्य धर्म गौण हैं। इसे समझनेके लिए उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग-वचनप्रकार)के साथ 'स्यात्' निपात-पद लगाने की सिफारिश की और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'—किसी एक दृष्टि—किसी एक अपेक्षा बतलाया। साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकताको प्रकट करनेके लिए प्रत्येक उत्तरवाक्यके साथ 'एवकार' पदका प्रयोग भी निर्दिष्ट किया, जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांस्कृतिकता नहीं। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियों (वचन प्रकारों)को उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है भङ्गिनी प्रक्रिया—सप्तभङ्गी अथवा सप्तभङ्ग नय। समन्तभद्रकी वह परिष्कृत सप्तभङ्गी इस प्रकार प्रस्तुत हुई—

- (१) स्यात् सत् रूप ही तत्त्व (वस्तु) है।
- (२) स्यात् असत् रूप ही तत्त्व है।
- (३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।
- (४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।
- (५) स्यात् सद् और अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।
- (६) स्यात् असत् और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।
- (७) स्यात् और असत् तथा अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।

इस सप्तभङ्गीमें प्रथम भङ्ग स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, दूसरा परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे, तीसरा दोनोंकी सम्मिलित अपेक्षासे, चौथा दोनों (सत्त्व-असत्त्व)को एक साथ कह न सकनेसे, पाँचवाँ प्रथम-चतुर्थके संयोगसे, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम तृतीय-चतुर्थके मिश्ररूपसे विवक्षित है। और प्रत्येक भङ्गका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। उनका यह समस्त प्रतिपादन आप्तमीमांसामें^१ द्रष्टव्य है।

समन्तभद्रने सदसद्वादकी तरह अद्वैत-द्वैतवाद, नित्य-अनित्यवाद, आदिमें भी इस सप्तभङ्गीको समा-योजित करके दिखाया है तथा स्याद्वादकी प्रतिष्ठा की है।

इस तरह तत्त्व-व्यवस्थाके लिए उन्होंने विचारकोंको एक स्वस्थ एवं नयी दृष्टि (स्याद्वाद शैली) प्रदानकर तत्कालीन विचार-संघर्षको मिटानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया। दर्शन सम्बन्धी उपादानों—प्रमाण-का स्वरूप, प्रमाणके भेद, प्रमाणका विषय, प्रमाणका फल, नयका स्वरूप, हेतुका स्वरूप, वाच्य-वाचकका स्वरूप आदिका उन्होंने विशद प्रतिपादन किया। इसके लिए उनकी आप्तमीमांसा (देवागम)का अवलोकन एवं आलोडन करना चाहिए। आप्तमीमांसके अतिरिक्त स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन भी उनकी ऐसी रचनाएँ हैं, जिनमें जैन दर्शनके अनेक अनुद्घाटित विषयोंका उद्घाटन हुआ है और उनपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।



१. समन्तभद्र, आप्तमी० का० १४, १५, १६, २१।

आचार्य सामन्तभद्रका प्रभाव

कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि ।
यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्निचूडामणीयते ॥



अवटु-तटमटति झटिति स्फुट-पटु-वाचाट-भूर्जटैर्जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितिवति का कथाऽन्येषाम् ॥



पूर्वं पाटलिपुत्र-मध्यनगरे भेरी मया ताडिता पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये कांचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥



वन्द्यो भस्मक-भस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवतादत्तोदात्तपद-स्वमन्त्र-वचन-व्याहृत-चन्द्रप्रभः ।
आचार्यस्स समन्तभद्र-गणभृद् येनेह काले कलौ जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः ॥



कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः पुण्ड्रोद्धे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुरागस्तपस्वी राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैन-निर्ग्रन्थवादी ॥



भाचार्योहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोहं देवज्ञोहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोहं ।
राजन्नस्यां जलधिबलयाभेसलायामिलायामाज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहं ॥



पंचम खण्ड

विविध

विविध



१. विहारकी महान् देन : तीर्थंकर महावीर और इन्द्रभूति
२. विद्वान् और समाज
३. हमारे सांस्कृतिक गौरवका प्रतीक : अहार
४. आचार्य शान्तिसागरजीका समाधिमरण
५. आदर्श तपस्वी आचार्य नमिसागर
६. पूज्य वर्णी जी : महत्त्वपूर्ण संस्मरण
७. प्रतिभा मूर्ति पं० टोडरमल
८. श्रुत-पञ्चमी
९. जम्बू-जिनाष्टकम्
१०. दशलक्षण पर्व
११. क्षमावणी : क्षमा पर्व
१२. वीरनिर्वाण पर्व : दीपावली
१३. महावीर-जयन्ती
१४. श्री पपौराजी : जिनमन्दिरोंका अद्भुत समुच्चय
१५. पावापुर
१६. श्रवणबेलगोला और गोमटेश्वरका महामस्तकाभिषेक
१७. राजगृहकी यात्रा और अनुभव
१८. काश्मीरकी यात्रा और अनुभव
१९. बम्बईका प्रवास

विहारकी महान् देन : तीर्थंकर महावीर और इन्द्रभूति

विहारकी महत्ता

विहारकी माटी बड़ी पावन है। उसने संस्कृतिके निर्माताओंको जन्म देकर अपना और सारे भारतका उज्ज्वल इतिहास निमित्त किया है। सांस्कृतिक चेतनाको उसने जगाया है। राजनैतिक दृष्टिसे भी भारतके शासकीय इतिहासमें विहारका नाम शीर्ष और स्मरणीय रहेगा। विहारने ही सर्वप्रथम गणतन्त्र (लोकतन्त्र)को जन्म दिया और राजनीतिक क्रान्ति की। यद्यपि वैशालीका वह लिच्छवियोंका गणतन्त्र आजके भारतीय गणतन्त्रकी तुलनामें बहुत छोटा था। किन्तु चिरकालसे चले आये राजतन्त्रके मुकाबलेमें वैशाली गणतन्त्रकी परिकल्पना और उसकी स्थापना निश्चय ही बहुत बड़े साहसपूर्ण जनवादी कदम और विहारियोंकी असाधारण सूक्ष्मज्ञकी बात है। सांस्कृतिक चेतनामें जो कुण्ठा, विकृति और जड़ता आ गयी थी, उसे दूरकर उसमें नये प्राणोंका संचार करते हुए उसे सर्वजनोपयोगी बनानेका कार्य भी विहारने ही किया, जिसका प्रभाव सारे भारतपर पड़ा। बुद्ध कपिलवस्तु (उत्तर प्रदेश)में जन्मे। पर उनका कार्यक्षेत्र विहार खासकर वैशाली, राजगृह आदि ही रहा, जहाँ तीर्थंकर महावीर व अन्य धर्मप्रचारकोंकी घूम थी। महावीर और गौतम इन्द्रभूति तो विहारकी ही देन हैं, जिन्होंने संस्कृतिमें आयी कुण्ठा एवं जड़ताको दूर किया, उसे सँवारा, निखारा और सर्वोदयी बनाया। प्रस्तुत निबन्धमें हम इन दोनोंके महान् व्यक्तित्वोंके विषयमें ही विचार करेंगे और उनकी महान् देनोंका दिशा-निर्देश करेंगे।

तीर्थंकर महावीर

तीर्थंकर महावीर जैनधर्मके चौबीस तीर्थंकरोंमें अन्तिम और चौबीसवें तीर्थंकर हैं। आजसे २५७३ वर्ष पूर्व वैशालीके निकटवर्ती क्षत्रियकुण्डमें राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला, जिनका दूसरा नाम प्रियकारिणी था, की कुक्षिसे चैत्र शुक्ल १३ को इनका जन्म हुआ था। राजा सिद्धार्थ जातुवंशी क्षत्रिय थे और क्षत्रियकुण्डके शासक थे। वैशाली गणतन्त्रके अध्यक्ष (नायक) राजा चेटकके साथ इनका घनिष्ठ एवं आत्मीय सम्बन्ध था। उनकी पुत्री त्रिशला इन्हें विवाही थी।

उस समय विहार और भारतकी धार्मिक स्थिति बहुत ही दयनीय थी। धर्मके नामपर अन्धश्रद्धा, मूढ़ता और हिंसाका सर्वत्र बोलबाला था। पशुबलि और नरबलिकी पराकाष्ठा थी। और यह सब होता था उसे धर्म मानकर। महावीर वचनसे ही विवेकी, प्रज्ञावान् और विरक्त स्वभावी थे। उनसे समाजकी यह स्थिति नहीं देखी गयी। उसे सुधारा जाय, यह सोचकर भरी जवानीमें ३० वर्षकी वयमें ही घर, राज्य और संसारसे विरक्त होकर संन्यास ले लिया—निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ली। १२ वर्ष तक जंगलोंमें, पर्वतगुफाओंमें और वृक्षकोटरोंमें समाधि लगाकर आत्म-चिन्तन किया तथा कठोर-से-कठोर अनशनदि तपोंका आचरण किया। यह सब मौनपूर्वक किया। कभी किसीके कुछ पूछने और उत्तर न मिलनेपर उन्हें पागल समझा गया। किन्तु वे तो निरन्तर आत्म-चिन्तनमें लीन रहते थे। फलतः उन्हें लोगों द्वारा पहुँचाये गये बहुत कष्ट भी सहने पड़े। उन्हें जब केवलज्ञान हो गया और योग्य शिष्य इन्द्रभूति गौतम पहुँच गये, तब उनका मौन टूटा और लगातार तीस वर्ष तक उनके उपदेशोंकी धारा प्रवाहित हुई। उनके पवित्र उपदेशों और

आचार-सम्पन्न उच्च जीवनका तत्कालीन वातावरण एवं उस वातावरणमें रहनेवाले लोगोंपर ऐसा असाधारण प्रभाव पड़ा, जो भारतके धार्मिक इतिहासमें उल्लेखनीय रहेगा। भारतीय संस्कृतिमें आगत कुण्डा और जड़ताको दूर करनेके लिए उन्हें भागीरथी प्रयत्न करना पड़ा। पशुबलिका बड़ा जोर था। स्थान-स्थानपर यज्ञोंकी महिमा (अम्युदय, स्वर्गफल, स्त्री-पुत्र-धनविका लाभ) बतलाकर उनका आयोजन किया जाता था। यज्ञमें मृत पशुको स्वर्गलाभ होता है और जो ऐसे यज्ञ कराते हैं उन्हें भी स्वर्ग मिलता है। ऐसी विडम्बना सर्वत्र थी। महावीरने इन सबका विरोधकर हिम्मतका कार्य किया। उन्होंने अहिंसाका संखनाद फूँका, जिसे प्रबुद्धवर्गने ही नहीं, कट्टर विरोधियोंने भी सुना और उसका लोहा माना। इन्द्रभूति और उनके सहस्रों अनुगामी अपने विरोधभावको भूलकर अहिंसाके पुजारी हो गये और पशुबलिका उन्होंने स्वयं विरोध किया। वैदिक यज्ञोंमें होनेवाली अपार हिंसापर महावीरकी अहिंसक विचार-धाराका अद्भुत, जादू जैसा, असर हुआ। महावीरने मनुष्यकी भी बलिका निषेध किया तथा मांसभक्षणको निन्द्य एवं निषिद्ध बतलाया। मांस-भक्षण करनेपर अहिंसाका पालन सम्भव नहीं है। प्रतीत होता है कि उस समय यज्ञोंमें हुत पशुओं या मनुष्यकी बलिसे उत्पन्न मांसको धर्म-विहित एवं शास्त्रानुमोदित मानकर भक्षण किया जाता था और वेद-वाक्योंसे उसका समर्थन किया जाता था। महावीरने इसे दृढ़तापूर्वक भूल और अज्ञानता बतलायी। दूसरे जीवोंको दुःख देकर एवं उन्हें मारकर उनके मांसको खानेसे धर्म कदापि नहीं हो सकता। धर्म तो आत्म-विकारों (काम-क्रोधादि) का जीतना, इन्द्रियोंको वशमें करना, जीवों पर दया करना, दान देना और आत्म-चिन्तन करना है। धर्म वह प्रकाश है, जो अपने आत्माके भीतरसे ही प्रकट होता है तथा भीतर और बाहरके अन्धेरेको मिटाता हुआ अभय प्रदान करता है। हिंसा अन्धकार है और वह अन्धेरेसे होती है। विचार और आचारमें लोभ जितने अधिक अप्रमत्त-सावधान-विवेकवान् होंगे उतनी ही अधिक अहिंसा, निर्भयता और सम्यक् बुद्धि आवेगी।

महावीरने पूर्ण अहिंसाकी प्राप्ति तभी बतलायी, जब मन, वाणी और क्रिया इन तीनोंको अप्रमत्त रखा जाये। इसीसे उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा' (त० सू० ६-११) अर्थात् कषायके कारण अपने या दूसरे जीवोंके प्राणोंको घात करना हिंसा है।

इससे प्रतीत होता है कि महावीरकी दृष्टि बहुत विशाल और गम्भीर थी। वे सृष्टिके प्रत्येक प्राणी को अपने समान मानते थे और इसी से वे 'समभाव' का सदैव उपदेश देते थे। उन्होंने सबसे पहले जो आत्मकल्याणकी ओर कदम उठाया और उसके लिए निरन्तर साधना की, उसीका परिणाम था कि उन्हें पूर्ण ज्ञान, पूर्ण दर्शन, पूर्ण बल और पूर्ण सुख प्राप्त हो गया था। तत्पश्चात् उन्होंने ३० वर्ष तक विहार करके जनकल्याण किया। इस अवधिमें उन्होंने जो उपदेश दिये वे प्राणी मात्रके कल्याणकारी थे। उनके उपदेशोंका चरम लक्ष्य जीवकी मुक्ति—कर्मबन्धनसे छुटकारा पाना था और समस्त दुःखोंसे मुक्त होना था। अपने आचरणको स्वच्छ एवं उच्च बनाने के लिए अहिंसाका पालन तथा अपने मन एवं विचारोंको शुद्ध और निर्मल बनानेके लिए सर्व समभावरूप 'अनेकान्तात्मक' दृष्टिकोणके अपनातेपर उन्होंने बल दिया। साथ ही हित मित वाणीके प्रयोगके लिए 'स्याद्वाच' पर भी जोर दिया। महावीरके इन उपदेशोंका स्थायी प्रभाव पड़ा, जिनकी सशक्त एवं जीवन्त परम्परा आज भी विद्यमान है। उनके उपदेशोंका विशाल वाङ्मय प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तमिल, तेलुगु, महा राष्ट्रीय, गुजराती आदि भाषाओंमें निबद्ध देशके विभिन्न शास्त्र-भंडारोंमें समुपलब्ध है। राजकुमार विद्युच्चर, चीर्यकार्यमें अत्यन्त कुशल, अंजम चोर जैसे सहस्रों व्यक्तियोंने

उनके उपदेशोंसे आत्मोद्धार किया, चन्दना जैसी सैकड़ों नारियोंने, जो समाजसे च्युत एवं बहिष्कृत थीं, महावीरकी शीतल छाया पाकर श्रेष्ठता एवं पूज्यता को प्राप्त किया। कुत्ते जैसी निन्द्य पर्यायमें जन्मे पशुयोनिके जीवोंने भी उनकी देशनासे लाभ लिया। प्रथमानुयोग और श्रावकाचारके ग्रन्थोंमें ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जिनसे स्पष्टतया महावीरके धर्मकी उदारता एवं विशालता अवगत होती है। तात्पर्य यह कि तत्कालीन बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे सभीको अधिकार था कि वे महावीरके उपदेशोंको सुनें, ग्रहण करें और उनपर चलकर आत्मकल्याण करें।

चतुर्विध संघका गठन

महावीरने समाजका गठन विलकुल नये ढंगसे किया। उन्होंने उसे चार वर्गोंमें गठित किया। वे चार वर्ग हैं—१ श्रावक, २ श्राविका, ३ साधु (मुनि) और ४ साध्वी (आर्थिका)। प्रत्येक वर्गका संचालन करनेके लिए एक एक वर्गप्रमुख भी बनाया, जिसका दायित्व उस वर्गकी अभिवृद्धि, समुन्नति और उसका संचालन था। फलतः उनकी संघव्यवस्था बड़ी सुगठित ढंगसे चलती थी और आजतक वह चली आ रही है। तत्कालीन अन्य धर्म-प्रचारकोंने भी उनकी इस संघ-व्यवस्थासे लाभ लिया था। बुद्धने आरम्भमें स्त्रियोंको दीक्षा देना निषिद्ध कर दिया था। किन्तु गिर्गंधनातपुत्र महावीर की संघव्यवस्थाका आनन्दने जब बुद्धके समक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया और स्त्रियोंको भी दीक्षा देनेपर जोर दिया तो बुद्धने उन्हें भी दीक्षित करना आरम्भ कर दिया था तथा उनके संघकी संघटना की थी।

अन्तमें महावीरने मध्यमा पावासे मुक्ति-लाभ लिया।

गौतम इन्द्रभूति

इन्द्रभूति उस समयके महान् पंडित और वैदिक विद्वान् थे। जैन साहित्यमें जो और जैसा उल्लेख इनके विषयमें किया गया है उससे इनके महान् व्यक्तित्वका परिचय मिलता है।

आचार्य यतिवृषभ (विक्रमकी ५वीं शती) के उल्लेखानुसार इन्द्रभूति निर्मल गौतम गोत्रमें पैदा हुए थे और वे चारों वेदोंके पारगामी तथा विशुद्ध शीलके धारक थे। धवला और जयधवला टीकाओंके रचयिता आचार्य वीरसेन (विक्रमकी ९वीं शती) के^२ अनुसार इन्द्रभूति क्षायोपशमिक चार निर्मल ज्ञानोंसे सम्पन्न थे। वर्णसे ब्राह्मण थे, गौतमगोत्री थे, सम्पूर्ण दुःश्रुतियोंके पारंगत थे और जीव-अजीव विषयक सन्देह को लेकर वर्धमान तीर्थंकरके पादमूलमें पहुँचे थे।

वीरसेनने^३ इन्द्रभूतिके परिचय-विषयक एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत की है। गाथामें पूर्वोक्त परिचय ही निबद्ध है। इतना उसमें विशेष कहा गया है कि वे ब्राह्मणोत्तम थे।

१. त्रिमले गोदमगोत्ते जादेणं इंदभूदिणामेणं ।

चउवेदपारगेणं सिस्सेण विमुद्धसीलेण ॥ —ति० प० १-७८

२. “.....खओवसम-जणिद-चउरमल-बुद्धि-संपण्णेण बह्णेण गोदमगोत्तेण सयल-दुस्सुदि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेह-विणासणट्ठमुवगय-वड्ढमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणावहारिवो ।

—धव० पु० १, पृ० ६४

३. गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेय-सडंग वि ।

णामेण इंदभूति ति सोलवं बह्णुत्तमो ॥ —वही, पु० १, पृ० ६५

वीरसेनके शिष्य और आदिपुराणके कर्त्ता आचार्य जिनसेन^१ (विक्रम की ९वीं शती) ने 'इन्द्रभूति' और 'गौतम' पदोंकी व्युत्पत्ति भी दिखाई है। बतलाया है कि इन्द्रने आकर उनकी पूजा की थी, इससे वे 'इन्द्रभूति' और गौ—सर्वज्ञभारतीको उन्होंने जाना-पड़ा, इससे वे गौतम कहे गये।

जैन साहित्यके अन्य स्रोतोंसे^२ भी अवगत होता है कि आर्य सोमिलने मध्यमा पावामें जो महन् यज्ञ आयोजित किया था, उसका नेतृत्व इन्द्रभूति गौतमके हाथमें था। इस यज्ञमें बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् शिष्य-परिवार सहित आमंत्रित थे। इससे यह प्रकट है कि इन्द्रभूति निःसन्देह प्रकाण्ड वैदिक विद्वान् थे और उनका अप्रतिम प्रभाव था।

किन्तु आश्चर्य है कि इतने महान् प्रभावशाली वैदिक विद्वान्का वैदिक साहित्यमें न उल्लेख मिलता है और न परिचय। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति तीर्थंकर महावीरके शिष्य हो गये थे और वैदिक विचार-धाराका उन्होंने परित्याग कर दिया था। ऐसी स्थितिमें उनका वैदिक साहित्यमें कोई उल्लेख एवं परिचय न मिले, तो कोई आश्चर्य नहीं है।

महावीरका शिष्यत्व

जैन साहित्यके उल्लेखोंसे विदित है कि तीर्थंकर महावीरको कवलय प्राप्त हो जानेपर भी ६५ दिन तक उनका उपदेश नहीं हुआ। इसका कारण था उनके अव्यर्थ उपदेशोंको संकलन—अवधारण करनेकी योग्यता रखनेवाले असामान्य व्यक्तिका अभाव। इन्द्रने अपने विशिष्ट ज्ञानसे ज्ञात किया कि तीर्थंकर महावीरकी वाणीको अवधारण करनेकी क्षमता इन्द्रभूतिमें है। पर वह वैदिक है और महाभिमानी है। इन्द्रने विप्र-वटुका स्वयं वेश बनाया और इन्द्रभूतिके चरण-सान्निध्यमें पहुँचा। उस समय इन्द्रभूति अपने ५०० शिष्योंसे घिरे हुए थे और वेदाध्ययनाध्यापनमें रत थे। विप्रवटु बेशधारी इन्द्र प्रणाम करके इन्द्रभूतिसे बोला—गुरुदेव, मैं बहुत बड़ी जिज्ञासा लेकर आपके पादमूलमें आया हूँ। आशा है आप मेरी जिज्ञासा पूरी करेंगे और मुझे निराश नहीं लौटना पड़ेगा। इन्द्रके वितम्र निवेदन पर इन्द्रभूतिने त्वरित ध्यान दिया और कहा कि बटो! अपनी जिज्ञासा व्यक्त करो। मैं उसकी पूर्ति करूँगा। इन्द्रने निम्न गाथा पढ़कर उसका अर्थ स्पष्ट करनेका अनुरोध किया—

पंचेव अस्थिकाया छज्जोव-णियाया मह्व्वया पंच ।

अट्ट य पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

—धक्का, पु० ९, पृ० १२९ में उद्धृत।

इन्द्रभूति इस गाथाका अर्थ और उसमें निरूपित पारिभाषिक विषयोंको बहुत सोचनेपर भी समझ न सके। तब वे वटुसे बोले—कि यह गाथा तुमने किससे पढ़ी और किस ग्रन्थकी है? ब्राह्मण वटुबेषधारी इन्द्रने कहा गुरुदेव! उक्त गाथा जिनसे पढ़ी है वे विपुलगिरिपर मोनावस्थित हैं और कब तक मौन रहेंगे, कहा नहीं जा सकता। अतएव श्रीचरणोंमें उसका अर्थ अवगत करनेके लिए उपस्थित हुआ हूँ।

१. (क) इन्द्रेण प्राप्तपूजद्धिरिन्द्रभूतिस्त्वमिष्यते ।

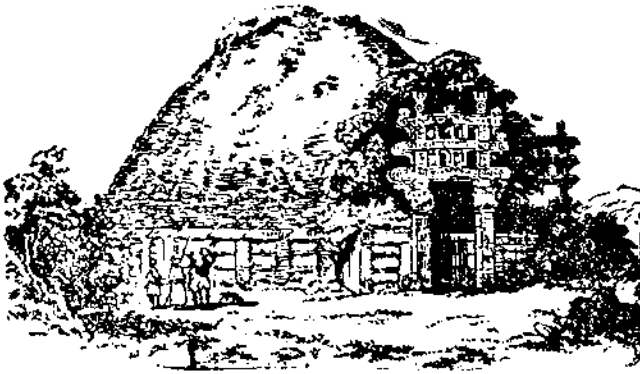
(ख) गौतमा गौः प्रकृष्टा स्यात् सा च सर्वज्ञभारती ।

तां वेत्ति तामधीष्टे च त्वमतो गौतमो मतः ॥

—आ० पु० २।५२-५४

२. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड १, परि० ७, पृ० १८५

पर इन्द्रभूति उसका अर्थ बतानेमें असमर्थ थे। इस असमर्थताको प्रकट करना भी उनके स्वाभिमान और प्रकाण्ड विद्वत्ताके प्रतिकूल था। फलतः वे ब्राह्मणवटुवेशधारी इन्द्रके साथ उनके गुरुसे शास्त्रार्थ करने की इच्छासे चल दिये और पीछे-पीछे उनके शिष्य भी चल पड़े। महावीर विषुलगिरिपर एक सभा स्थलमें ऊँचे आसनपर विराजमान थे। सभास्थल (समवसरण)के समक्ष मानस्तम्भ था। इन्द्रभूतिने ज्यों ही सभास्थलमें प्रवेश किया त्यों ही मानस्तम्भके देखते ही उनका अहंकार दूर हो गया और सारा ज्ञान निर्मल हो गया। उनके अहंकार-जन्य सारे विचार बदल गये और निर्मल-चित्त हो गये। सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेमें उन्हें देर न लगी। महावीरके पादमूलमें उनका शिष्यत्व ग्रहणकर निर्ग्रन्थ-दीक्षा ले ली और उनके प्रथम गणघर (पट्ट शिष्य) हो गये तथा चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय) एवं उत्कृष्ट संयमके धारक वे कुछ क्षणोंमें बन गये। इसे परिणामोंकी विचित्रता ही समझना चाहिए। इस तरह इन्द्रभूति महावीरके ऐसे महान् प्रभावशाली प्रथम शिष्य हैं, जिनके द्वारा उनके ३० वर्ष व्यापी उपदेश द्वादशांग श्रुतके रूपमें निबद्ध किये गये। अन्तमें इन्द्रभूतिने अपना समग्र श्रुत—महावीरके दूसरे शिष्य एवं अपने उत्तराधि-कारी सुधर्म स्वामीको देकर १२ वर्ष तक केवली रहकर निर्वाण-लाभ लिया।



विद्वान् और समाज

विद्वान् समाजका एक विशिष्ट अङ्ग है। शरीरमें जो स्थान शिर (उत्तमाङ्ग) का है वही समाजमें विद्वान् (ज्ञानवान्) का है। यदि शरीरमें शिर न हो या रुग्ण हो तो शरीर शरीर न रहकर धड़ हो जायेगा या उससे सार्थक जीवन-क्रिया नहीं हो सकेगी। सारे शरीरकी शोभा भी शिरसे ही है। अतः शिर और उसके उपाङ्गों—आँख, कान, नाक आदिकी रक्षा एवं चिन्ता सदा की जाती है। विद्वान् समाजके धर्म, दर्शन, इतिहास और श्रुतका निर्माण एवं संरक्षण करके उसे तथा उसकी संस्कृतिकी संप्राण रखता है। यदि विद्वान् न हो या वह चिन्ताग्रस्त हो तो स्वस्थ समाज और उसकी उच्च संस्कृतिकी कल्पना ही नहीं की जा सकती है। पर दुर्भाग्यसे इस तथ्यको समझा नहीं जाता। यही कारण है कि समाजमें विद्वान्की स्थिति चिन्तनीय और दयनीय है। किसी विद्यालय या पाठशालाके लिए विद्वान्की आवश्यकता होनेपर उससे व्यवसायकी मनोवृत्तिसे बात की जाती है। संस्था-संचालक उसे कम-से-कम देकर अधिक-से-अधिक काम लेना चाहता है। कुछ महीने पूर्व एक संस्था-संचालक महानुभावने हमें विद्वान्के लिए उसकी वांछनीय योग्यताओंका उल्लेख करते हुए लिखा। हमने उन्हें उत्तर दिया कि यदि उक्त योग्यतासम्पन्न विद्वान्के लिये कम-से-कम तीनसौ रुपए मासिक दिया जा सके तो विद्वान् भेज देंगे। परन्तु उन्होंने तीनसौ रुपए मासिक देना स्वीकार नहीं किया। फलतः वही विद्वान् छहसौ रुपए मासिकपर अन्यत्र चला गया। कहा जाता है कि विद्वान् नहीं मिलते। विचारणीय है कि जो किसी धार्मिक शिक्षणसंस्थामें दश वर्ष धर्म-दर्शनका शिक्षण लेकर विद्वान् बने और बादमें उसे उसकी श्रुत-सेवाके उपलक्ष्यमें सौ-बेड़सौ रुपए मासिक सेवा-पारिश्रमिक दिया जाय तो वह आजके समयमें उससे कैसे निर्वाह करेगा। काश! वह सद्गृहस्थ हो और दो-चार बाल-बच्चे हों, तो वह श्रुत-सेवा कर सकेगा या आर्थिक चिन्तामें ही घुलता रहेगा! अतः आज हमें इस महत्त्वपूर्ण प्रश्नपर गम्भीरतासे विचारकर श्रुत-सेवकोंकी परम्पराको हर प्रयत्नसे जीवित रखना है। यदि हमने इसकी उपेक्षा की तो अगले दश वर्षमें ये टिमटिमाते दीपक भी बुझ जावेंगे और इस दिशामें कोई भी आना पसन्द नहीं करेगा, जबकि लौकिक विद्याके क्षेत्रमें विविध मार्गोंमें प्रवेशकर भरपूर आर्थिक लाभ होगा। इससे संस्कृतिकी जो क्षति होगी उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

विद्वान्का दायित्व

विद्वान्को यह सदा ध्यान रखना आवश्यक है कि वह समाजसे अलग नहीं है—वह उसका ही अभिन्न अङ्ग है। बिना शिरके जैसे शरीर संज्ञाहीन धड़ कहा जाता है उसी प्रकार बिना धड़के शिर भी चेतनाशून्य होकर अपना अस्तित्व खो देता है। अतः दोनोंका अभिन्नत्व ही जीवन-क्रियाका सम्पादक है। ठीक इसी प्रकार बिना विद्वान्के समाज और बिना समाजके विद्वान् भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकते हैं। फिर समाजमें उसने जन्म लिया है उसके प्रति उसका कृतज्ञभावसे बहुत बड़ा कर्तव्य है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और न उसे भुलाया ही जा सकता है। संस्कृति, धर्म, दर्शन और साहित्यके संरक्षणका जिस तरह समाजका परमावश्यक कर्तव्य है उसी तरह विद्वान्का भी उनके संरक्षणका परम दायित्व है। इस सत्यको हमें नहीं भूलना है। हमपर उस श्रेष्ठ परम्पराको आगे बढ़ानेका उत्तरदायित्व है, जिस परम्परा-

को आचार्योंके बाद आचार्यकल्प पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी, पण्डित जयचन्दजी, गुरु गोपालदासजी, वर्णी गणेशप्रसादजी जैसे विद्वद्वर्तोंने जीवनव्यापी कष्टोंको सहते हुए त्यागवृत्तिके साथ हम तक पहुँचाया है। बिना त्यागके श्रुतसेवा की ही नहीं जा सकती है। हमारा विश्वास है कि श्रुतसेवाका लक्ष्य और उसकी ओर प्रवृत्ति रहनेपर विद्वान् धनी न बन सके, तो भूखा भी नहीं रह सकता। जो श्रुत केवलज्ञान-प्रदाता और परमात्मपद-दाता है उसके उपासक आर्थिक कष्टसे सदा ग्रस्त नहीं रह सकते। सारस्वतका ध्येय स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें 'लोकमें व्याप्त जड़ता और मूढ़ताको दूरकर जिनशासनका प्रकाश करना' है। भौतिक उपलब्धियाँ तो उसे अनायास प्राप्त होंगी। सरस्वतीका उपासक यों अपरिग्रहमें ही सरस्वतीकी अधिक सेवा करता और आनन्द उपलब्ध करता है।

समस्याएँ

यों तो जीवन ही समस्याओंसे घिरा हुआ है। कोई-न-कोई समस्या जीवनमें खड़ी मिलती है। किन्तु धीरे धीरे वृद्धिमान् उन समस्याओंपर काबू पा लेता है। आज देशके सामने कितनी समस्याएँ हैं। पर राष्ट्रनेता उन्हें देर-सबेर हल कर लेते हैं। हमारी समाजमें भी अनेक समस्याएँ हैं। उनमें तीर्थक्षेत्रोंकी समस्या प्रमुख है। यदि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों समाजों, जो भगवान् महावीर और उनसे पूर्ववर्तों ऋषभादि तीर्थक्षेत्रोंकी उपासिका हैं, आगामी भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाणोत्सवके उपलक्ष्यमें समानताके आधारपर तीर्थक्षेत्रोंकी समस्याको सुलझा लें, तो दोनोंमें घृणा और भयका भाव दूर होकर पारस्परिक सौहार्द सम्भव है और उस दशामें तीर्थोंका विकास तथा समृद्धिकी भी सम्भावना है, जहाँ विश्वके लोग भारत-भ्रमणपर आनेपर जा सकते हैं और विश्वको उनका परिचय दे सकते हैं।

यहाँ हमें मुख्यतया विद्वानोंकी समस्याओंका उल्लेख अभीष्ट है। उनकी समस्याएँ साम्प्रतिक या आधिकारिक नहीं हैं। वे केवल वैचारिक हैं। तीन दशक पूर्व दस्सा-पूजाधिकार, अन्तर्जातीय-विजातीय-विवाह जैसी समस्याएँ थीं, जो समयके साथ हल होती गयी हैं। दस्साओंको समानरूपसे मन्दिरोंमें पूजाका अधिकार मिल गया है। अन्तर्जातीय और विजातीय विवाह भी, जो शास्त्र-सम्मत हैं और अनार्यप्रवृत्ति नहीं हैं, होने लगे हैं और जिनपर अब कोई रोक नहीं रही। स्वामी सत्यभक्त (पं० दरबारीलालजी) वर्धा द्वारा की गयी जैनधर्मके सर्वज्ञतादि सिद्धान्तोंकी मीमांसा भी दि० जैनसंघ द्वारा प्रकाशित 'विरोध-परिहार' जैसे ग्रन्थोंके द्वारा उत्तरित हो चुकी है। डाक्टर हीरालालजी द्वारा उठाये गये प्रश्न भी 'अनेकान्त' (मासिक) आदि द्वारा समाहित किये गये हैं।

हमें स्वर्गीय पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सुनाये गये उस युगकी याद आती है जब गुरु गोपालदासजीको समाजके भीतर और बाहर जानलेबा जबर्दस्त टक्कर लेना पड़ती थी, जिसे वे बड़ी निर्भयता और ज्ञानवैभवसे लेते थे। उस समय संकीर्णता और अज्ञानने समाजको तथा घृणा और असहनशीलताने आर्यसमाजको बलात् जकड़ रखा था। गुरुजीने दोनों मोर्चोंपर शानदार विजय प्राप्त की थी। शास्त्रार्थ-संघ अम्बालाका, जो अब दि० जैन संघ मथुराके नामसे प्रसिद्ध है, उदय संकीर्णता, अज्ञान, घृणा, असहनशीलता जैसी कुण्ठाओंके साथ संघर्ष करनेके लिए ही हुआ था और इस दिशामें उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वेदविद्या-विशारद पं० मंगलसेनजी अम्बाला, विचक्षण-मेधावी पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ जैसे समर्थ

विद्वान्-भेनानिग्रोने आर्यसमाजके साथ शास्त्रार्थ करके जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी रक्षा ही नहीं की, स्वामी कर्मानन्दजी जैसे आर्यसमाजी महाशास्त्रार्थी विद्वान्की आस्थाको जैनधर्ममें परिणत भी किया था ।

आज भी कुछ सैद्धान्तिक मतभेदकी समस्याएँ हैं, जिनका होना अस्वाभाविक नहीं है । आचार्योत्कर्म सैद्धान्तिक मतभेद रहा है । आचार्य वीरसेनने ऐसे अनेक आचार्य-मतभेदोंका ध्वलामें सम्मूलेख किया है । किन्तु दुर्भाग्यसे आज कुछ खिचाव पाया जाता है । वह नहीं होना चाहिए । वाणी और लेखनी दोनोंमें संयम बाँधनीय है । वीतरागकथामें असंयमका स्थान तो है ही नहीं । जब हम अपनी शास्त्र-सम्मत बातको दूसरेके गलेमें उतारनेका प्रयास करें तो आग्रह और आग्रहसे चिपटे रोष, अहंकार एवं असद्भावसे मुक्त होकर ही उसको चर्चा करें । दोनों पक्ष स्याद्वादी हैं । उन्हें निरपेक्ष आग्रह तो होना ही नहीं चाहिए । यह गौरव और प्रसन्नताकी बात है कि ये दोनों पक्ष विद्वत्परिषद्में समाहित हैं और दोनों ही उसका समादर करते हैं । हमारा उनसे नम्र निवेदन है कि वे विद्वत्परिषद्का जिसप्रकार गौरव रखकर आदर करते हैं उसी प्रकार वे समग्र श्रुतकी उपादेयताका भी गौरवके साथ सम्मान करें । श्रुत चार अनुयोगों—प्रथमानुयोग, द्रव्यानुयोग, करणानुयोग और चरणानुयोग—में विभक्त है । समन्तभद्रस्वामीने इनका समानरूपमें विवेचन किया है और चारोंकी आस्था—भक्तिको सम्यग्ज्ञानका तथा सम्यग्ज्ञानको मुक्तिका कारण बतलाया है । ऐसी स्थितिमें अनुयोगविशेषपर बल देकर दूसरे अनुयोगोंकी उपेक्षा या अनादेयता नहीं ही होनी चाहिए । यह बात अलग है कि अमुक अनुयोगकी अपेक्षासे विवेचन करनेपर उसकी प्रधानता हो जाय और अन्यकी अप्रधानता । पर उनकी उपेक्षा न की जाय—विवेचनमें उन्हें भी स्थान मिलना चाहिए । इसीलिए ज्ञेयतत्त्वको समझनेके लिए प्रमाणके अतिरिक्त द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों और निक्षेपोंका तथा उपादेयको ग्रहण करनेके लिए व्यवहार और निश्चय नयोंका आगममें प्रतिपादन है । प्रथमको दर्शन-शास्त्रका और दूसरेको अध्यात्म-शास्त्रका प्रतिपादन कहा गया है । महर्षि कुन्दकुन्दने इन दोनों शास्त्रोंका निरूपण किया है । उनके पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड और प्रवचनसार मुख्यतः दर्शनशास्त्रके ग्रन्थ हैं तथा नियमसार एवं समयसार अध्यात्म-शास्त्रके । द्वादशांग श्रुत इन दोनोंका समुच्चय है । दर्शनशास्त्र जहाँ साधन है वहाँ अध्यात्मशास्त्र साध्य है और साध्यकी उपलब्धि बिना साधनके सम्भव नहीं । हाँ, साध्यके उपलब्ध हो जानेपर साधनका परित्याग या गौणता हो जाय, यह अलग बात है । अग्निज्ञान हो जानेपर धूमज्ञान अनावश्यक हो ही जाता है । पर अग्निज्ञानके लिए धूमज्ञानकी अनिवार्यता अपरिहार्य है ।

जैनधर्म वीतराग-विज्ञान धर्म है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं । किन्तु वह अपने इस नामसे लक्ष्य-निर्देशभरकी अभिव्यक्ति करता है । उसमें लक्ष्य-प्राप्तिके उपकरणोंका समावेश नहीं है, ऐसा न कहा जा सकता है और न माना जा सकता है । किसी ग्रन्थका नाम 'मोक्षशास्त्र' है । वह केवल मोक्षका ही प्रतिपादक नहीं होता । उसमें उसके विरोधी-अविरोधी सभी आवश्यक ज्ञेय और उपादेय तत्त्वोंका विवेचन होता है । स्वयं 'समयसार' में शुद्ध आत्माका प्रतिपादन करनेके लिए ग्रन्थकार कुन्दकुन्दमहाराजने बन्ध, आलस, संबर, निर्जरा आदिका भी निरूपण किया है । इन्हीं बन्धादिका विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन 'षट्खण्डागम' में आचार्य भूतबली-पुष्पदन्तने और 'कषायप्राभृत' में आचार्य गुणधरने किया है । तथा इन्हींके आधारसे गोम्मट-सारादि ग्रन्थ रचे गये हैं ।

धर्मका आधार मुमुक्षु और सद्गृहस्थ दोनों हैं तथा सद्गृहस्थोंके लिए संस्कृति और तत्त्वज्ञान आवश्यक हैं । और इन दोनोंकी स्थितिके लिए वाङ्मय, तीर्थ, मन्दिर, मूर्तियाँ, कला, पुरातत्त्व और इतिहास अनिवार्य हैं । इनके बिना समाजको कलना और समाजके बिना धर्मकी स्थिति सम्भव ही नहीं । मुमुक्षुधर्म भी गृहस्थधर्मपर उसी प्रकार आधारित है जिस प्रकार खम्भों पर प्रासाद निर्भर है । मुमुक्षुको मुमुक्षुतक

पहुँचानेके लिए आरम्भमें दर्शन-शास्त्रका विमर्श आवश्यक है। उसके बिना उसकी नींव मजबूत नहीं हो सकती। यह भी हमें नहीं भूलना है कि लक्ष्यको समझने और पानेके लिए उसकी ओर ध्यान और प्रवृत्ति रखना नितान्त आवश्यक है। दर्शन-शास्त्रको तो सहस्रोंबार ही नहीं, कोठि-कोठि बार भी पढ़ा-सुना है फिर भी लक्ष्यको नहीं पा पाये। तात्पर्य यह कि दर्शन-शास्त्र और अध्यात्म-शास्त्र दोनोंका चिन्तन जीवन-शुद्धिके लिए परमाश्वक है। इनमेंसे एकको भी उपेक्षा करनेपर हमारी वही क्षति होगी, जिसे आचार्य अमृतचन्द्रने निम्न गाथाके उद्धरणपूर्वक बतलाया है—

जइ जिणमयं पवज्जह तो मा व्यवहार-णिच्छए मुयह ।

एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

—आत्मख्याति, स० सा०, गा० १२ ।

‘यदि जिन-शासनकी स्थिति चाहते हो, तो व्यवहार और निश्चय दोनोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारके छोड़ देनेपर धर्मतीर्थका और निश्चयके छोड़नेसे तत्त्व (अध्यात्म) का विनाश हो जायेगा ।’

यह सार्थ चेतवनी ध्यातव्य है ।

स्वामी अमृतचन्द्रने उभयनयके अविरोधमें ही समयसारकी उपलब्धिका निर्देश किया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के

जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-

रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

‘उभयनयके विरोधको दूर करनेवाले ‘स्यात्’ पदसे अंकित जिन-शासनमें जो ज्ञानी स्वयं निष्ठ हैं वे अनव—नवीन नहीं, एकान्त पक्षसे अखण्डित और अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप समयसारको शीघ्र देख (पा) ही लेते हैं ।’

अमृतचन्द्रसे तीनसौ वर्ष पूर्व भट्ट भकलङ्कदेवने ऋषभको आदि लेकर महावीर पर्यन्त चौबीसों तीर्थ-करोंको धर्मतीर्थकर्ता और स्वाद्धादी कहकर उन्हें विनम्रभावसे नमस्कार किया तथा उससे स्वात्मोपलब्धिकी अभिलाषा की है। जैसाकि भाषणके आरम्भमें किये गये मञ्जुलाचरणसे, जो उन्हींके लघीयस्त्रयका मञ्जुल-श्लोक है, स्पष्ट है। इससे हम सहज ही जान सकते हैं कि स्याद्वाद तीर्थकर-वाणी है—उन्हींकी वह देन है। वह किसी आचार्य या विद्वान्का आविष्कार नहीं है। वह एक तथ्य और सत्य है, जिसे इंकारा नहीं जा सकता। निश्चयनयसे आत्माका प्रतिपादन करते समय उस परद्रव्यका भी विश्लेषण करना आवश्यक है, जिससे उसे मुक्त करना है। यदि बद्ध परद्रव्यका विवेचन, जो षट्खण्डागमादि आगमग्रन्थोंमें उपलब्ध है, न किया जाय और केवल आत्माका ही कथन किया जाय, तो जैन-दर्शनके आत्म-प्रतिपादनमें और उपनिषदोंके आत्मप्रतिपादनमें कोई अन्तर नहीं रहेगा।

एक बार न्यायालङ्कार पं० वंशोधरजीने कहा था कि एक वेदान्ती विद्वान्ने गुरुजीसे प्रश्न किया था कि आपके अध्यात्ममें और वेदान्तके अध्यात्ममें कोई अन्तर नहीं है? गुरुजीने उत्तर दिया था कि जैन दर्शनमें आत्माको सदा शुद्ध नहीं माना, संसारावस्थामें अशुद्ध और मुक्तावस्थामें शुद्ध दोनों माना गया है। पर वेदान्तमें उसे सदा शुद्ध स्वीकार किया है। जिस मायाकी उसपर छाया है वह मिथ्या है। लेकिन जैन दर्शनमें आत्मा जिस पुद्गलसे बद्ध, एतावता अशुद्ध है वह एक वास्तविक द्रव्य है। इससे संयुक्त होनेसे आत्मामें विजातीय परिणमन होता है। यह विजातीय परिणमन ही उसकी अशुद्धि है। इस अशुद्धिका जैन दर्शनमें

विस्तारसे विवेचन है। उससे मुक्त होनेके लिए ही संवर, निर्जरा आदि तत्त्वोंका विवेचन है। तात्पर्य यह कि जिन-शासन जब स्वयं स्याद्वादमय हैं, तो उसमें प्रतिपादित आत्मस्वरूप स्याद्वादात्मक होना ही चाहिए। इस तरह दोनों नर्थोंसे तत्त्वको समझने और प्रतिपादन करनेसे ही तत्त्वोपलब्धि एवं स्वात्मोपलब्धि प्राप्य है।

साहित्यिक प्रवृत्तियाँ और उपलब्धियाँ

आजसे पचास वर्ष पूर्व जैन साहित्य सबको सुलभ नहीं था। इसका कारण जो भी रहा हो। यहाँ साम्प्रदायिकताके उन्मादने कम उत्पात नहीं किया। उसने बहुमूल्य सहस्रों ग्रन्थोंकी होली खेली है। उन्हें जलाकर पानी गरम किया गया है और समुद्रों एवं तालाबोंमें उन्हें डुबा दिया गया है। सम्भव है उक्त भयसे हमारे पूर्वजोंने बचे-खुचे वाङ्मयको निधिकी तरह छिपाया हो या दूसरोंके हाथ पड़नेपर अविनयका उन्हें भय रहा हो। प्रकाशनके साधन उपलब्ध होनेपर सम्भवतः उसी भयके कारण उन्होंने छापेका भी विरोध किया जान पड़ता है। परन्तु युगके साथ चलना भी आवश्यक होता है। अतएव कितने ही दूरदर्शी समाज-सेवकोंने उस विरोधका सामना करके भी ग्रन्थ-प्रकाशनका कार्य किया। फलतः आज जैन वाङ्मयके हजारों ग्रन्थ प्रकाशमें आ गये हैं। षट्खण्डागम, कषायप्राभृत, धवला-जयधवलवादि टीकाएँ जैसे सिद्धान्त-ग्रन्थ भी छप गये हैं और जनसामान्य भी उनसे ज्ञानलाभ ले रहा है। इस दिशामें श्रीमन्तसेठ शितावराय लक्ष्मीचन्द्र जैन-साहित्योद्धारक-फण्डद्वारा डाक्टर हीरालालजी, उनके सहयोगी पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, पं० हीरालालजी शास्त्री और पं० बालचन्द्रजी शास्त्रीके सम्पादन-अनुवादादिके साथ षट्खण्डागमके १६ भागोंका प्रकाशन उल्लेखनीय है। सेठ माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमालासे स्वर्गीय पं० नाथूरामजी प्रेमीने कितने ही वाङ्मयका प्रकाशन कर उद्धार किया है। जीवराज-ग्रन्थमालासे डाक्टर ए० एन० उपाध्ये एवं पं० बालचन्द्रजी शास्त्रीने तिलोय-पण्णत्ती आदि अनेक ग्रन्थोंको प्रकाशित कराया है। स्व० पं० जुगलकिशोर मुख्तारके वीर-सेवा-मन्दिर दिल्ली और वीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट वाराणसीसे कई महत्त्वके ग्रन्थ प्रकट हुए हैं। श्री गणेशप्रसादवर्णी-ग्रन्थमालाका योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस प्रकाशन-संस्थासे सर्वाधिक जैन वाङ्मयका प्रकाशन हुआ, वह है भारतीय ज्ञानपीठकीमूर्तिदेवी ग्रन्थमाला। इस ग्रन्थमालासे सिद्धिविनिश्चय जैसे अनेक दुर्लभ ग्रन्थ सामने आये हैं और आ रहे हैं। इसका श्रेय जहाँ स्व० पं० महेन्द्रकुमारजी, पं० कैलाशचन्द्रजी, पं० फूलचन्द्रजी, पं० हीरालालजी आदि उच्च विद्वानोंको प्राप्त है वहाँ ज्ञानपीठके संस्थापक साहू शान्तिप्रसादजी और अध्यक्ष श्रीमती रमारानीजीको भी है। उल्लेख्य है कि श्रीजिनेन्द्रवर्णोद्धार संकलित-सम्पादित जैनेन्द्र-सिद्धान्त कोष (२ भाग) का प्रकाशन भी स्वागतयोग्य है। इस प्रकार पिछले पचास वर्षोंमें साहित्यिक प्रवृत्तियाँ उत्तरोत्तर बढ़ती गयी हैं, जिसके फलस्वरूप बहुत-सा जैन वाङ्मय सुलभ एवं उपलब्ध हो सका है।

स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीने विद्यादान और साहित्य-सृजनमें जो असाधारण योगदान किया है वह मुक्तकण्ठसे स्तुत्य है। लगभग डेढ़ दर्जन शोधार्थी विद्वान् आपके निर्देशनमें जैन विद्याके विभिन्न अङ्गों-पर पी-एच० डी० कर चुके हैं और लगातार क्रम जारी है। भारतीय ज्योतिष, लोकविजय-यन्त्र आदिपुराण-में प्रतिपादित भारत, संस्कृत-काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान जैसे अनेक ग्रन्थ-रत्न आपकी रत्न-गर्भा सरस्वतीने प्रसूत किये हैं। पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्यकी भारतोंने तो भारतके प्रथम नागरिक सर्वोच्च पदासीन राष्ट्रपति श्री वराह वैकटगिरि तकको प्रभावित कर उन्हें राष्ट्रपति-सम्मान दिलाया और भारतीय वाङ्मयको समृद्ध बनाया है। आदिपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धरचम्पू, पुरुदेवचम्पू, तत्त्वार्थसार, समयसार, रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि अर्धशती ग्रन्थ-राशि आपके द्वारा अनूदित एवं सम्पादित हुई है। डा० देवेन्द्रकुमारजी रायपुरका 'अपभ्रंश भाषा और साहित्यकी शोधप्रवृत्तियाँ', डा० हीरालालजी जैनका 'गायकुमारचरित', डा० ए० एन० उपाध्येका गीतवीतराग, पं०

कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीका 'नयचक्र', पं० अमृतलालजी शास्त्रीका 'चन्द्रप्रभचरित', डा० कस्तूरचन्द्रजी कासली-वालका 'राजस्थानके जैन सन्त : कृतित्व और व्यक्तित्व', श्री श्रीचन्द्रजी जैन उज्जैनका 'जैन कथानकोंका सांस्कृतिक अध्ययन' आदि नव्य-भव्य रचनाओंने जैनवाङ्मयके भण्डारकी अभिवृद्धि की है ।

जैन शिक्षण-संस्थाएँ

आजसे पचास वर्ष पूर्व एकाध ही शिक्षण-संस्था थी । गुरु गोपालदासजी वरैया और पूज्य श्रीगणेश-प्रसादजी वर्षोंके धारावाही प्रयत्नोंसे सौ-से भी अधिक शिक्षण-संस्थाओंकी स्थापना हुई । मोरेना विद्यालय और काशीका स्याद्वाद-महाविद्यालय उन्हींमेंसे हैं । मोरेनासे जहाँ आरम्भमें सिद्धान्तके उच्च विद्वान् तैयार हुए वहाँ काशीसे न्याय, साहित्य, धर्म और व्याकरणके ज्ञाता तो हुए ही, अंग्रेजीके भी विद्वान् निकले हैं । यह गर्वकी बात है कि आज समाजमें जो बहुसंख्यक उच्च विद्वान् हैं वे इसी विद्यालयकी देन हैं । वस्तुतः इसका श्रेय प्राचार्य गुरुवर्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीको है, जो विद्यालयके पर्यायवाची माने जाते हैं । सागरके गणेशविद्यालयकी भी समाजको कम देन नहीं है । इसने सैकड़ों बुझते दीपकोंमें तेल और बत्ती देकर उन्हें प्रज्वलित किया है ।

पर आज ये शिक्षण-संस्थाएँ प्राणहीन-सी हो रही हैं । इसका कारण मुख्यतया आर्थिक है । यहाँसे निकले विद्वानोंकी खपत समाजमें अब नहीं-के-बराबर है और है भी तो उन्हें श्रुतसेवाका पुरस्कार अल्प दिया जाता है । अतः छात्र, अब समाजके बाजारमें उनकी खपत कम होनेसे, दूसरे बाजारोंको टटोलने लगे हैं और उनमें उनका माल ऊँचे दामोंपर उठने लगा है । इससे विद्वानोंका ह्रास होमे लगा है । फलतः समाज और संस्कृतिको जो क्षति पहुँचेगी, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती । अतः समाजके नेताओंको इस दिशामें गम्भीरतासे विचार करना चाहिए । यदि तत्परतासे तुरन्त विचार न हुआ तो निश्चय ही हमारी हजारों वर्षोंकी संस्कृति और तत्त्वज्ञानकी रक्षाके लिए संकटकी स्थिति आ सकती है ।

विद्वत्परिषद्का भावी कार्यक्रम

विद्वत्परिषद्के साधन सीमित हैं और उसके चालक अपने-अपने स्थानोंपर रहकर दूसरी सेवाओंमें संलग्न हैं । उन आवश्यक सेवाओंसे बचे समय और शक्तिका ही उत्सर्ग वे समाज, साहित्य और संगठनमें करते हैं । अतः हमें अपनी परिषद्के भीतर आगामी कार्यक्रम तय करना चाहिए ।

हमारा विचार है कि परिषद्को तिमन तीन कार्य हाथमें लेकर उन्हें सफल बनाना चाहिए ।

१. जैन विद्या-फण्डकी स्थापना ।
२. भगवान् महावीरकी २५००वीं निर्वाणशतीपर सेमिनार ।
३. ग्रन्थ-प्रकाशन ।

१. पूज्य वर्षाजीके साभापत्यमें सन् १९४८ में परिषद्ने एक केन्द्रीय छात्रवृत्ति-फण्ड स्थापित करनेका प्रस्ताव किया था, जहाँ तक हमें ज्ञात है, इस प्रस्तावको क्रियात्मक रूप नहीं मिल सका है । आज इस प्रकारके फण्डकी आवश्यकता है । प्रस्तावित फण्डको 'जैन विद्या-फण्ड' जैसा नाम देकर उसे चालू किया जाय । यह फण्ड कम-से-कम एक लाख रुपएका होना चाहिए । इस फण्डसे (क) आर्थिक स्थितिसे कमजोर विद्वानोंके बच्चोंको सम्भव वृत्ति दी जाय । (ख) उन योग्य शोधार्थियोंको भी वृत्ति दी जाय, जो जैन-विद्याके किसी अङ्गपर किसी विश्वविद्यालयमें शोधकार्य करें । (ग) शोधार्थीके शोध-प्रबन्धके टङ्कन या शुल्क या दोनोंके लिए सम्भव मात्रामें आर्थिक साहाय्य किया जाय ।

२. भगवान् महावीरकी २५००वीं निर्वाण-शती सारे भारतवर्षमें व्यापक पैमानेपर मनायी जायगी । उसमें विद्वत्परिषद्के सदस्य व्यक्तिशः योगदान करेंगे ही, परिषद् भी एक साथ अनेक स्थानोंपर अथवा भिन्न-भिन्न समयोंमें अनेक विश्वविद्यालयोंमें सेमिनारों (संगोष्ठियों) का आयोजन करे । इन सेमिनारोंमें जैन एवं जैनेतर विद्वानों द्वारा जैन विद्याकी एक निर्णीत विषयावलिपर शोधपूर्ण निबन्ध-पाठ कराये जायें । इन सेमिनारोंका आज अपना महत्त्व है और उनमें विद्वान् हचिपूर्वक भाग लेंगे ।

३. आगामी तीन वर्षोंकी अवधिके लिए एक ग्रन्थ-प्रकाशनकी योजना बनायी जाय । इस योजनाके अन्तर्गत 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा' ग्रन्थका तो प्रकाशन हो ही, उसके अतिरिक्त तीन अप्रकाशित संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशके ग्रन्थों या भगवान् महावीर-सम्बन्धी नयी मौलिक रचनाओंका प्रकाशन किया जाय ।

यदि अगले तीन वर्षोंमें परिषद् ये तीन कार्य कर लेती है तो वह संस्कृतिकी एक बहुत बड़ी सेवा कही जावेगी ।



हमारे सांस्कृतिक गौरवका प्रतीक : अहार

क्षेत्रकी पावनता और अतीत गौरव

आजसे एक हजार वर्ष पूर्व यह वन-खण्ड (क्षेत्र) कितना समृद्ध था, कितनी जातियाँ यहाँ रहती थीं, कितने धनकुबेरोंकी यहाँ गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ थीं और कितने धर्मपिपासु साधक और श्रावकजन यहाँ द्रव्यका व्यय कराकर और करके अपनेको धन्य मानते थे। आप क्या कह सकते हैं कि यह सब समृद्धि— विभिन्न अनेक जातियोंका निवास, अनगिनत जिनमन्दिरोंका निर्माण और उनकी तथा असंख्य मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाएँ जादूकी छड़ीकी तरह एक दिनमें हो गई होंगी? मेरा विश्वास है कि इस अद्भुत समृद्धिके लिए, दस-बीस वर्ष ही नहीं, शताब्दियाँ लगी होंगी। यहाँकी चप्पे-चप्पे भूमिके गर्भमें सहस्रों मूर्तियों, मन्दिरों और अट्टालिकाओंके भग्नावशेष भरे पड़े हैं। क्षेत्रकी भूमि तथा उसके आस-पासके स्थानोंकी खुदाईसे जो अभी तक खण्डित-अखण्ड मूर्तियाँ और महत्वपूर्ण भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं, वे तथा उनपर अङ्कित प्रचुर लेख यहाँके वैभव और गौरवपूर्ण इतिहासकी परम्पराको प्रकट करते हैं। सत्तरह-अठारह वर्ष पहले पं० गोविन्ददासजी न्यायतीर्थने, जो यहाँके निवासी हैं, बड़े श्रमसे यहाँके ११७ मूर्तिलेखों व अन्य लेखोंका संग्रह करके उन्हें अनेकान्त (वर्ष ९, १०, सन् १९४८-४९) में प्रकाशित किया था। बा० यशपालजी जैन दिल्लीके प्रयाससे एक संग्रहालयकी भी यहाँ स्थापना हो गई है, जिसमें कितनी ही मूर्तियोंके अवशेष संगृहीत हैं। ब्र० रिषभ-चन्द्रजी जैन प्रतापगढ़ने भी इस क्षेत्रकी कुछ ज्ञातव्य सामग्रीपर प्रकाश डाला है। स्व० क्षेत्र-मंत्री पं० बारेलालजीका तो आरम्भसे ही इस दिशामें स्तुत्य प्रयास रहा है। आपने पं० धर्मदासजी द्वारा रचित हिन्दीके 'चौबीसकामदेव-पुराण' के, जिसे लेखकने श्रीनामक आचार्यके 'प्राकृत चौबीस कामदेव पुराण' का अनुवाद बताया है, आधारसे उसमें बर्णित यहाँके स्थानोंकी पुष्टि उपलब्ध वर्तमान स्थलोंसे करते हुए कुछ निष्कर्ष ऐसे निकाले हैं जो विचारणीय हैं। उदाहरणके लिए उनके कुछ निष्कर्ष इस प्रकार हैं :—

१. कोटो नामक भाटो वर्तमान क्षेत्रसे अत्यन्त निकट है, जो एक फलाँग ही है। इस भाटेमें गगन-चुम्बी पर्वत हैं, जिनपर मन्दिरोंके भग्नावशेष अब भी पाये जाते हैं।
२. मदनसागर तालाब, काममदनसागर और मदनशसागर ये तीनों तालाब पर्वतोंके नीचे तल-हटीमें हैं।
३. हथनपुर (हन्तिपुर) नामक स्थान पहाड़के नीचे हाथीपडावके नामसे प्रसिद्ध है।
४. सिद्धान्तश्री सागरसेन, आर्यिका जयश्री और चेल्लिका रत्नश्रीके नाम यहाँके मूर्तिलेखोंमें अङ्कित हैं।
५. गगनपुर नामक स्थान आज गोलपुरके नामसे प्रसिद्ध है, जो क्षेत्रके समीप ही है।
६. टांडेकी टोरिया, टांडेका खंदा और पड़ाव ये तीनों स्थान क्षेत्रके अत्यन्त निकट हैं।
७. सिद्धोंकी गुफा, सिद्धोंकी टोरिया नामक स्थान भी पासमें ही हैं।

८. एक पहाड़ खनवारा पहाड़ कहा जाता है, जिसपर पत्थरके बड़े खनवारे हैं। सम्भवतः यहाँसे मूर्तियोंके लिए पत्थर निकाला जाता होगा।

९. मदनेशसागरसरोवरके तटकी पहाड़ीपर एक विशाल कामेश्वर(मदनेश्वर) का मन्दिर था, जिसके विशाल पत्थरोंके अवशेष आज भी वहाँ देखे जा सकते हैं और वह स्थान अब भी मदनेश्वरके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है।

इन निष्कर्षोंमें कितना तथ्य है, इसकी सूक्ष्म छानबीन होना चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि उल्लिखित हिन्दी और प्राकृत दोनों 'चीबीस कामदेव-पुराण' प्रकाशमें आये और उनका गवेषणाके साथ अध्ययन किया जाय। 'सिद्धोंकी गुफा' और 'सिद्धोंकी टोरिया' नामक स्थान अवश्य महत्त्व रखते हैं और जो बतलाते हैं कि इस भूमिपर साधकोंने तपश्चर्या करके 'सिद्ध' पद प्राप्त किया होगा और इसीसे वे स्थान 'सिद्धोंकी गुफा', 'सिद्धोंकी टोरिया' जैसे नामोंसे लोकमें विश्रुत हुए हैं। इस निष्कर्षमें काफी बल है। यदि इसकी पुष्ट साक्षियाँ मिल जायें तो निश्चय ही यह प्रमाणित हो सकेगा कि यह पावन क्षेत्र जहाँ काफी प्राचीन है वहाँ अतीतमें सिद्धक्षेत्र भी रहा है और साधक यहाँ आकर 'सिद्धि' (मुक्ति) के लिए तपस्या करते थे। भले ही उस समय इसका नाम अहार न होकर दूसरा रहा हो। विक्रमकी ११वीं-१२वीं शतीके मूर्तिलेखोंमें इसका एक नाम 'मदनेशसागरपुर' मिलता है। जो हो, यह सब अनुसन्धेय है।

मूर्तिलेखोंका अध्ययन

यहाँके उपलब्ध मूर्तिलेखोंका अध्ययन करनेपर कई बातोंपर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। उन्हींका यहाँ कुछ विचार किया जाता है।

१. पहली बात तो यह है कि ये मूर्तिलेख वि० सं० ११२३ से लेकर वि० सं० १८८१ तकके हैं। इनके आधारपर कहा जा सकता है कि यहाँ मन्दिरों और मूर्तियों की प्रतिष्ठाएँ वि० सं० ११२३ से आरम्भ होकर वि० सं० १८८१ तक ७५८ वर्षों तक लगातार होती रही हैं।

२. दूसरी बात यह कि ये प्रतिष्ठाएँ एक जाति द्वारा नहीं, अपितु अनेक जातियों द्वारा कराई गई हैं। उनके नाम इस प्रकार उपलब्ध होते हैं :—

खडिलवालान्वय (खंडेलवाल—ले० ७०), गर्गराटान्वय (ले० ७१), देउवालान्वय (ले० ६९), गृहपत्थनवय (गहोई—ले० ८७), गोलापूर्वान्वय (ले० ६०), जैसवालान्वय (ले० ५९), पौरपाटान्वय (ले० ४२), मेडवालान्वय (लेख ४१), वैश्यान्वय (ले० ३९), मेडतवालवंश (ले० ३३), कुटकान्वय (ले० ३५), लभेचुकान्वय (ले० २८), अवधपुरान्वय (ले० २३), मोलाराडान्वय (ले० १२), श्रीमाधुन्वय (ले० ७), मडडित्तवालान्वय (ले० २७, यह लेख ३३ में उल्लिखित मेडतवालवंश ही जान पड़ता है), पुग्वाडान्वय (ले० १००), पौरवालान्वय (ले० १०२), माथुरान्वय (ले० ५६)। ध्यान रहे कि ब्रकेटमें जो लेख-नम्बर दिये गये हैं वे मात्र उदाहरणके लिए हैं। यों तो एक-एक जातिका उल्लेख कई-कई लेखोंमें हुआ है।

इस प्रकार इन लेखोंमें १९ जातियोंका स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इनमें कईके उल्लेख तो ऐसे हैं, जिनका आज अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। जैसे गर्गराटान्वय, देउवालान्वय आदि। इनकी खोज होनी चाहिए। यह भी सम्भव है कि कुछ नाम भट्टारकों या ग्रामोंके नामपर ख्यात हों।

३. तीसरी बात यह कि इनमें अनेक भट्टारकोंके भी नामोल्लेख हैं और जिनसे जान पड़ता है कि इस प्रदेशमें उनकी जगह-जगह गढ़ियाँ थी—प्रतिष्ठाओंका संचालन तथा जातियोंका मार्गदर्शन वे ही करते थे।

सबसे पुराने वि० सं० १२१३ के लेख (७३) में भट्टारक श्रीमाणिक्यदेव और गुण्यदेवका, मध्यकालीन वि० सं० १५४८ के लेख (९७) में भ० श्रीजिनचन्द्रदेवका और अन्तिम वि० सं० १६४२, वि० सं० १६८८ के लेखों (११४, ९५) में क्रमशः भ० धर्मकीर्तिदेव, भ० शीलसूत्रदेव, ज्ञानसूत्रदेव तथा भ० जगन्मूर्धन्यके नामोल्लेख हैं। अन्य और भी कितने ही भट्टारकोंके इनमें नाम दिये हुए हैं।

४. चौथी बात यह कि कुन्दकुन्दान्वय, मूलसंघ, बलात्कारगण, सरस्वतीगच्छ, काष्ठासंघ आदि संघ-गण-गच्छादिका उल्लेख है, जिनसे भट्टारकोंकी यहाँ कई परम्पराओंका होना ज्ञात होता है।

५. पाँचवीं बात यह कि इन लेखोंमें कई नगरों और ग्रामोंका भी उल्लेख है। जैसे वाणपुर (ले० १, ८७, ८९), महिषणपुर (ले० १००), मदनेशसागरपुर (ले० १), आनन्दपुर (ले० १), वसुहाटिका (ले० १), ग्राम अहारमेंथे (अहार—ले० ९१) आदि। इससे मालूम पड़ता है कि ये सभी स्थान इस क्षेत्रसे प्रभावित थे और वहाँके भाई यहाँ आकर प्रतिष्ठाएँ कराते थे।

६. छठी बात यह कि वि० सं० १२०७ और वि० सं० १२१३ के लेखों (नं० ८७, ८९) में गृहपत्यन्वय (गहोई जाति) के एक ऐसे गोत्रका उल्लेख है जो आजकल परिवार जातिमें है और वह है कोच्छल्ल गोत्र। इस गोत्र वाले वाणपुर (वानपुर) में रहते थे। क्या यह गोत्र दोनों जातियोंमें है? यह विचारणीय है। यह भी विद्वानोंके लिए विचारयोग्य है कि इन समस्त उपलब्ध लेखोंमें इस प्रान्तकी शताब्दियोंसे सम्पन्न, शिक्षित, धार्मिक और प्रभावशाली परिवार जातिका उल्लेख अवश्य होना चाहिए था, जिसका इनमें अभाव मनको कौच रहा है। मेरा विचार है कि इन लेखोंमें उसका उल्लेख है और उसके द्वारा कई मन्दिरों एवं मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाएँ हुई हैं। वह है 'पौरपाटान्वय', जो इसी जातिका मूल नाम जान पड़ता है और उक्त नाम उसीका अपभ्रंश प्रतीत होता है। जैसे गृहपत्यन्वयका नाम गहोई हो गया है। यह 'पौरपाटान्वय' पद्मावती पुरवाल जातिका भी सूचक नहीं है, क्योंकि उसका सूचक 'पुरवाडान्वय' है जो अलगसे इन लेखोंमें विद्यमान है। इस सम्बन्धमें विशेषज्ञोंको अवश्य प्रकाश डालना चाहिए।

७. सातवीं बात यह है कि इन लेखोंमें प्रतिष्ठा कराने वाली अनेक धार्मिक महिआओंके भी नाम उल्लिखित हैं। आर्यिका जयश्री, रतनश्री आदि तृती महिलाओंके अतिरिक्त सिवदे, साधनी, मालती, पदमा, मदना, प्रभा आदि कितनी ही श्राविकाओंके भी नाम उपलब्ध हैं।

और भी कितनी ही बातें हैं जो इन लेखोंका सूक्ष्म अध्ययन किये जानेपर प्रकाशमें आ सकती हैं।

हमारा वर्तमान और भावी

आप अपने पूर्वजोंके गौरवपूर्ण और यशस्वी कार्योंसे अपने शानदार अतीतको जान चुके हैं और उनपर गर्व भी कर सकते हैं। परन्तु हमें यह भी देखना है कि हम उनकी इस बहुमूल्य सम्पत्तिकी कितनी सुरक्षा और अभिवृद्धि कर सके और कर रहे हैं? सुयोग्य पुत्र वही कहलाता है जो अपनी पैतृक सम्पत्तिकी न केवल रक्षा करता है अपितु उसे बढ़ाता भी है। आज हमारे सामने प्रश्न है कि हम अपनी सांस्कृतिक सम्पत्तिकी सुरक्षा किस प्रकार करें और उसे कैसे बढ़ायें, ताकि वह सर्वका कल्याण करे? कोई भी समाज या देश अपने शानदार अतीतपर चिरकाल तक निर्भर एवं जीवित नहीं रह सकता। यदि केवल अतीतकी गुण-गाथा ही गायी जाती रहे और अपने वर्तमानको न सम्हाला जाय तथा भावीके लिए पुरुषार्थ न किया जाय तो समय आनेपर हमारे ही उत्तराधिकारी हमें अयोग्य और नालायक बतायेंगे। सांस्कृतिक भण्डार भी रिक्त हो जायेगा। अतः उल्लिखित प्रश्नपर हमें गम्भीरतासे विचार करना चाहिए। हमारे प्रदेशमें सांस्कृतिक सम्पत्ति प्रायः सर्वत्र विखरी पड़ी है। पपीरा, देवगढ़, खजुराहा आदि दर्जनों स्थान उसके उदाहरण हैं।

प्रातःस्मरणीय पूज्य श्रीगणेशप्रसादजी वर्णीने इस प्रान्तमें कई वर्षों तक पैदल यात्रा करके भ्रमण किया और समाजमें फैली रूढ़ियों तथा अज्ञानताको दूर करनेका अदम्य प्रयास किया था। उन्होंने अनुभव किया था कि ये दोनों ऐसे धुन हैं जो अनाजको भूसा बना देते हैं—समाज उनसे खोखला हो जाता है। 'मेरी जीवन-गाथामें' उन्होंने ऐसी बोंसियों रूढ़ियों और अज्ञानताका उल्लेख किया है, जिनसे समाजमें पार्थक्य और अनैक्यका साम्राज्य जड़ जमा लेता है और उसे शून्य बना देता है। जैन धर्म तीर्थकरोंका धर्म है और तीर्थकर समस्त जगत्का कल्याण करने वाले होते हैं। इसीसे जैनधर्मके सिद्धान्तोंमें विश्व-कल्याणकी क्षमता है। जैन धर्म किसीका भी अहित नहीं चाहता। और इसी लिए प्रतिदिन जिन-पूजाके अन्तमें यह भावना की जाती है—

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः
काले काले सम्यग् वर्षतु मघवा व्याधयो यान्तु नाशम् ।
दुर्मिक्षं चौरमारी क्षणमपि जगतां मास्म भूज्जीवलोके
जेनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वसौख्यप्रदायि ॥

अर्थात् समस्त देशोंकी प्रजाथोंका भला हो, उनका पालक राजा बलवान् और धार्मिक हो, यथासमय उचित वर्षा हो, कोई किसी प्रकारकी व्याधि (शारीरिक कष्ट) न हो, देशमें कहीं अकाल न पड़े, कहीं भी चोरियाँ-डकैतियाँ न हों और न एक क्षणके लिए भो कहीं हैजा, प्लेग जैसी दैवी विपत्तियाँ आयें। सभीको सुख देनेवाला वीतराग सन्तोंका धर्म निरन्तर प्रवृत्त रहे।

यह है जैनधर्मके अनुयायी प्रत्येक जैनकी कामना। 'जियो और जीने बो', 'रहो और रहने बो' जैसे अहिंसक सिद्धान्तोंके प्रवर्तक तथा अनुपालक हम जैन अपनेको निश्चय ही भाग्यशाली मान सकते हैं। लेकिन जहाँ अहिंसा दूसरोंके हितोंका घात न करनेको शिक्षा देती है वहाँ वह अपने हितोंकी रक्षाका भी ध्यान दिलाती है। हममें इतना बल, साहस, विवेक और ज्ञान हो, जिससे हम अपने कर्तव्योंका बोध कर सकें और अपने अधिकारोंको सुरक्षित रख सकें। इसके लिए मेरे निम्न सुझाव हैं :

१. बालकोंको स्वस्थ और बलिष्ठ बनाया जाये। माता-पिताको इस ओर आरम्भसे ध्यान रखना आवश्यक है। इसके लिए प्रत्येक जगह खेल-कूद और व्यायामके सामूहिक साधनोंकी व्यवस्था की जाय। आज जैन लोग कमजोर और डरपोक समझे जाते हैं और इससे उनके साथ अन्याय होता रहता है।

२. प्रत्येक बालकको आरम्भसे धार्मिक शिक्षा दी जाये और इसके लिए हर जगह सम्मिलित धर्म-शिक्षाकी व्यवस्था की जाय।

३. बालकोंकी तरह बालिकाओंको भी शुरूसे शिक्षा दी जाय, ताकि समाजका एक अज्ञ शिक्षा-हीन न रहे।

४. प्रतिसप्ताह या प्रतिपक्ष बालकोंकी एक सभाका आयोजन किया जाय, जिसमें उन्हें उनके सामाजिक और धार्मिक कर्तव्योंके साथ देशसेवाका बोध कराया जाय।

५. जो बालक-बालिकाएँ तीव्र बुद्धि और हीनहार हों, उन्हें ऊँची शिक्षाके लिए बाहर भेजा जाय तथा ऐसे बालकोंकी आर्थिक सहायता की जाय।

६. प्रौढ़ोंमें यदि कोई साक्षर न हों तो उन्हें साक्षर बनाया जाय और आजके प्रकाशमें उन्हें उच्च उद्योगों, व्यवसायों और धंधोंके करनेकी प्रेरणा की जाये।

७. समाजमें कोई भाई गरीबीके अविज्ञापके पीड़ित हों तो सम्पन्न भाई उन्हें मदद करें और इसे वे परोपकार या साधर्मि-वात्सल्य जैसा ही पुण्य-कार्य समझें।

८. यदि किसी भाईसे कभी कोई गलती हो गई हो तो उसे सुधारकर उनका स्थितीकरण करें और उन्हें अपना वात्सल्य प्रदान करें ।

९. मन्दिरों, तीर्थों, पाठशालाओं और शास्त्रभण्डारोंकी रक्षा, वृद्धि और प्रभावनाका सदा ध्यान रखा जाय ।

१०. ग्राम-सेवा, नगर-सेवा, प्रान्त-सेवा और राष्ट्र-सेवा जैसे यशस्वी एवं जनप्रिय लोक-कार्योंमें भी हमें पीछे नहीं रहना चाहिए । पूरे उत्साह और शक्तिसे उनमें भाग लेना चाहिए ।

इन दशसूत्री प्रवृत्तियोंसे हम जहाँ अपने वर्तमानको सम्हाल सकेंगे वहाँ अपने भावीको भी श्रेष्ठ बना सकेंगे । जो आज बालक और कुमार हैं वे हमारी इन प्रवृत्तियोंके बलपर गौरवशाली भावी समाजका निर्माण करेंगे ।

शिक्षाका महत्त्व : शान्तिनाथ दि० जैन संस्कृत-विद्यालयकी स्थापना

यहाँ शिक्षाके सम्बन्धमें भी कुछ कहना आवश्यक है । आचार्य वादीभाँसिहने लिखा है कि 'अनवद्या हि विद्या स्याल्लोकद्वयसुखावहा'—अर्थात् निर्दोष विद्या निश्चय ही इस लोक और परलोक दोनों ही जगह सुखदायी है । पूज्य वर्षीजीके हम बहुत कृतज्ञ हैं । वे यदि इस प्रान्तमें शिक्षाका प्रचार न करते, जगह-जगह पाठशालाओं और विद्यालयोंकी स्थापना न करते, तो आज जो प्रकाण्ड विद्वान् समाजमें दिखाई दे रहे हैं वे न दिखाई देते । उनसे पूर्व इस प्रान्तमें ही नहीं, सारे भारतमें भी तत्त्वार्थसूत्रका शुद्ध पाठ करनेवाला विद्वान् दुर्लभ था । यह उनका और गुरु गोपालदासजी वरैयाका ही परम उपकार है कि षट्खण्डागम, धवला, जय-धवला, समयसार, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, न्यायविनिश्चय जैसे महान् ग्रन्थोंके निष्णात विद्वान् आज उपलब्ध हैं । अब तो छात्र जैनधर्मके ज्ञाता होनेके साथ लौकिक विद्याओं (कला, व्यापार, विज्ञान, इन्जिनियरिंग, टैक्नालॉजी आदि) के भी विशेषज्ञ होने लगे हैं और अपनी उभय-शिक्षाओंके बलपर ऊँचे-ऊँचे पदोंपर कार्य करते हुए देखे जाते हैं । आपके स्थानीय शान्तिनाथ दि० जैन संस्कृत विद्यालयसे शिक्षा प्राप्तकर कई छात्र वाराणसीमें स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय और वाराणसेय संस्कृत-विश्वविद्यालयमें उच्च शिक्षा पा रहे हैं । ये पूज्य वर्षीजी द्वारा लगाये इस विद्यालय-रूपी पीथेके ही सुफल हैं । इस विद्यालयका उल्लेख करते पूज्य वर्षीजीने 'मेरी जीवनगाथा' (पृ० ४४२ प्रथम संस्करण) में लिखा है कि 'मैंने यहाँपर क्षेत्रकी उन्नतिके लिए एक छोटे विद्यालयकी आवश्यकता समझी, लोगोंसे कहा, लोगोंने उत्साहके साथ चन्दा देकर श्रीशान्तिनाथ विद्यालय स्थापित कर दिया । पं० प्रमचन्द्रजी शास्त्री तेंदु-खेड़ावाले उसमें अध्यापक हैं, एक छात्रालय भी साथमें है । परन्तु धनकी त्रुटिसे विद्यालय विशेष उन्नति न कर सका ।'

ये शब्द हैं उस महान् सन्तके, जिसने निरन्तर ज्ञानकी ज्योति जलायी और प्रकाश किया । वे ज्ञानके महत्त्वको समझते थे, इसीसे उनके द्वारा संस्थापित स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसी, गणेश संस्कृत महा-विद्यालय सागर जैसे दर्जनों शिक्षण-संस्थान चारों ओर ज्ञानका आलोक विकीर्ण कर रहे हैं । वर्षीजीके ये शब्द कि 'धनकी त्रुटिसे विद्यालय विशेष उन्नति नहीं कर सका'—हम सबके लिये एक गम्भीर चेतावनी है । क्या हम उनके द्वारा लगाये इस पीथेको हरा-भरा नहीं कर सकते और उनकी चिन्ता (धनकी त्रुटिकी) दूर नहीं कर सकते ? मेरा विश्वास है कि उस निस्पृह सन्तने जिस किसी भी संस्थाको स्थापित किया है, उसे आशीर्वाद दिया है वह संस्था निरन्तर बढ़ी है । उदाहरणार्थ स्याद्वाद महाविद्यालयको लीजिए, इसके लिए

वर्णीजीको आरम्भमें सिर्फ एक रुपया दानमें मिला था, जिसके ६४ पोस्टकार्ड खरीदकर उन्होंने ६४ जगह पत्र लिखे थे, फिर क्या था, वर्णीजीका आत्मा निर्मल एवं निस्पृह था और चाराणसी जैसे विद्याकेन्द्रमें एक जैन विद्यालयके लिए छटपटा रहा था, फलतः चारों ओरसे दानकी वर्षा हुई। आज इस विद्यालयको ५६ वर्ष हो गये और उसका ध्रौव्यकोष भी कई लाख है। यह एक निरीह सन्तका आशीर्वाद था। शान्तिनाथ दि० जैन विद्यालयको भी उनका आशीर्वाद ही नहीं, उनके करकमलीसे स्थापित होनेका सौभाग्य प्राप्त है। मेरा विश्वास है कि इस विद्यालयका भी ध्रौव्यकोष आप लोग एक लाख अवश्य कर देंगे। तब वर्णीजीका स्वर्गमें विराजमान आत्मा अपने इस विद्यालयको हरा-भरा जानकर कितना प्रसन्न एवं आह्लादित न होगा।



आचार्य शान्तिसागरका ऐतिहासिक समाधिमरण

प्राग्वृत्त

१८ अगस्त १९५५ का दिन था। श्रीसमन्तभद्र संस्कृत-विद्यालय आरम्भ हो चुका था। चा० च० आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके द्वारा १४ अगस्त ५५ को श्रीकुंथलगिरि सिद्धक्षेत्रपर ली गई 'सल्लेखना' के प्राप्त समाचारसे समस्त अध्यापकों तथा छात्रोंको एक छोटेसे वक्तव्यके साथ अवगत कराया। सबने मौन-पूर्वक खड़े-खड़े नौवार 'जमोकारमंत्र' का जाप्य किया और महाराजकी निर्विघ्न सल्लेखना (समाधिमरण)के लिये सश्रद्ध शुभकामनाएँ कीं।

विद्यालयकी पढ़ाई चालू ही हुई थी कि महासभाके आफिसमें शीघ्र ही आनेके लिये फोन आया। हम वहाँ पहुँचे। वहाँ स्थानीय समाजके ४-६ प्रतिष्ठित महातुभाव भी थे। सबको बताया गया कि 'पं० वर्धमानजी शास्त्री शोलापुरका आज तार आया है, जिसमें उन्होंने सूचित किया है कि आचार्य महाराजने १७ अगस्त ५५ को ३॥ बजे मध्याह्नमें 'यम-सल्लेखना' ले ली है। अर्थात् जलका भी त्याग कर दिया है—यदि बाधा हुई और आवश्यकता पड़ी तो उसे लेंगे।' यह वे बता ही रहे थे कि इतनेमें शोलापुरसे सेठ रावजी देवचंदका फोन आया। उसमें उन्होंने भी यही कहा। निश्चय हुआ कि सुबह और शाम प्रत्येक मन्दिरजीमें जप, ध्यान, शान्तिधारा, पूजा, पाठ आदि सत्कार्य किये जायें। दान, एकाशन आदि भी, जो कर सकें, करें। हमने महाराजके अन्तिम उपदेशोंको रिकार्डिङ्ग मशीन (ध्वनिग्राहकयंत्र) द्वारा रिकार्ड (ध्वनिग्रहण) कराने तथा फिल्म (महाराजकी समग्र क्रियाओंका छायाचित्र) लेनेका विचार रखा, जिसपर हम लोग कोई निश्चय नहीं कर सके और इस चिन्ताके साथ लौटे कि 'जो विभूति आज हमारे सामने है और जिसने हमारा असधारण उपकार किया है उसके कुछ दिन बाद दर्शन नहीं हो सकेंगे।'।

१९ अगस्तको बड़ौत (मेरठ) में आचार्य श्री १०८ नमिसागरजी महाराजका, जो आचार्यश्रीके प्रमुख शिष्य थे, केशलौंच था। विद्यालयके संस्थापक ला० मुन्शीलालजी जैन कपड़ेवाले तथा हम वहाँ गये। वहाँ महाराज नमिसागरजी भी आचार्यश्रीके सल्लेखनाग्रहणसे सचिन्त थे। २० अगस्तको हम बड़ौतसे दिल्ली वापिस आगये।

२१ अगस्त रविवार १९५५ को आ० नमिसागरका पत्र लेकर श्री कुंथलगिरि जानेका निश्चय हुआ। तदनुसार दूसरे ही दिन २२ अगस्तको देहरा-बम्बई एक्सप्रेससे १०-२० बजे रातको श्री कुंथलगिरिके लिये रवाना हुए। गाड़ी दिल्लीसे ठीक समयपर छूटी; किन्तु नई दिल्ली और होडलके बीच एक स्टेशनपर गाड़ी ७ घंटे पड़ी रही। मालूम करनेपर ज्ञात हुआ कि राष्ट्रपतिजीकी स्पेशल गाड़ी उधरसे दिल्ली आ रही है।

२३ अगस्तका दिन गाड़ीमें ही सफर करते हुए व्यतीत हुआ। कोटा, रतलाम, बड़ौदा, भंडौंच, अकलकेश्वर, सूरत आदि स्टेशनोंपरसे गुजरते हुए २४ अगस्तको दिनमें १॥ बजे बम्बई पहुँचे। तुरन्त घोड़ा-

१. जैन प्रचारक, सल्लेखनांक, अगस्त १९५५ ।

- ४४१ -

गाड़ी करके हीराबागकी धर्मशाला आये। वहाँ स्नान, देवदर्शन, पूजन और भोजन आदि दैनिक क्रियाओंसे निवृत्त हुए। वहाँ श्री १०८ मुनि नेमिसागरजीका चतुर्मास हो रहा था। उनके दर्शन किये। शामको उसी दिन कुंथलगिरि जानेके लिये स्टेशनपर आये। मद्रास एक्सप्रेससे सवार होकर ता० २५ अगस्तको प्रातः ७ बजे कुर्दुवाड़ी पहुँचे। वहाँ पहुँचनेपर पता चला कि एडसी-कुंथलगिरि जानेवाली गाड़ी डेढ़ घंटे पूर्व छूट चुकी है। अतः कुर्दुवाड़ीमें स्नान, देवदर्शन, पूजन आदि करके मोटर बस द्वारा वार्सी होते हुए उसी दिन मध्याह्नमें ३।२० पर श्रीकुंथलगिरि पहुँचे। कुंथलगिरिका सुन्दर पहाड़ २-३ मील पहलेसे दिखने लगता है। यहाँसे देशभूषण और कुलभूषणने घोर उपसर्ग सहकर सिद्धपद प्राप्त किया था।

मोटरसे उतरते ही मालूम हुआ कि महाराज दर्शन दे रहे हैं और प्रतिदिन मध्याह्नमें ३ से ३। बजे तक दर्शन देकर गुफामें चले जाते हैं। अतः सामानको वहीं छोड़ तीव्र वेगसे महाराजके दर्शनोंके लिये पहाड़पर पहुँचे। उस दिन महाराजने ३-४५ बजे तक जनता को दर्शन दिये। महाराज सबको अपने दाहिने हाथ और पिछीको उठाकर आशीर्वाद दे रहे थे। उस समयका दृश्य बड़ा द्रावक एवं अनुपम था। अब मनमें यह अभिलाषा हुई कि महाराजके निकट पहुँचकर निकटसे दर्शन व वार्ता करें तथा महाराज नमिसागरजीका लिखा पत्र उनके चरणोंमें अर्पित करें।

सुयोगसे पं० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर सिवनीने हमें तत्क्षण देखकर निकट बुला लिया और सेठ रावजी पंढारकर सोलापुर तथा श्री १०५ लक्ष्मीसेन भट्टारक कोल्हापुरसे हमारा परिचय कराया एवं आचार्य महाराजके चरणोंमें पहुँचानेके लिए उनसे कहा। ये दोनों महानुभाव महाराजकी परिचर्यामें सदा रहनेवालोंमें प्रमुख थे। एक घंटे बाद पौने पाँच बजे माननीय भट्टारकजी हमें महाराजके पास गुफामें ले गये।

सौम्यमुद्रामें स्थित महाराजको त्रिवार नमोऽस्तु करते हुए निवेदन किया कि 'महाराज! आपके सल्लेखनात्रत तथा परिचर्यामें दिल्लीकी ओरसे, जहाँ आपने सन् १९३० में संसंध चतुर्मास किया था, महाराज नमिसागरजीने हमें भेजा है। महाराज नमिसागरजीने आपके चरणोंमें एक पत्र भी दिया है।' आचार्यश्रीने कहा—'ठीक है, तुम अच्छे आये।' और पत्रको पढ़नेके लिये इज्जित किया। हमने १० मिनट तक पत्र पढ़कर सुनाया। महाराजने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया। महाराजकी शान्त मुद्राके दर्शनकर प्रमुदित होते हुए गुफासे बाहर आये। बादमें पहाड़से नीचे आकर डेरा तलाश करते हुए दिल्लीके अनेक सज्जनोंसे भेंट हुई। उनसे मालूम हुआ कि वे उसी दिन वापिस जा रहे हैं। अतः हम उनके डेरेमें ठहर गये।

यहाँ उल्लेख योग्य है कि वर्षाका समय, स्थानकी असुविधा और खाद्य-सामग्रीका अभाव होते हुए भी भक्तजन प्रतिदिन आ रहे थे और सब कष्टोंको सह रहे थे।

२९ अगस्त तक हम महाराजके पादमूलमें रहे और भाषण, तत्त्वचर्चा, विचार-गोष्ठी आदि दैनिक कार्यक्रमोंमें शामिल होते रहे। तथा सल्लेखना-महोत्सवके प्रमुख संयोजक सेठ बालचन्द्र देवचन्द्रजी शहा सोलापुर—बम्बईके आग्रह एवं प्रेरणासे 'सल्लेखनाके महत्त्व' तथा 'आचार्यश्रीके आदर्श-मार्ग' जैसे सामयिक विषयोंपर भाषण भी देते रहे। स्थान और भोजनके कष्टने इच्छा न होते हुए भी कुंथलगिरि और आचार्यश्रीका पादमूल हमें छोड़नेके लिए बाध्य किया और इस लिये दिल्ली लौट जानेका हमने दुःखपूर्वक निश्चय किया। अतः महाराजके दर्शनकर और उनकी आज्ञा लेकर मोटर-बसपर आ गये।

उल्लेखनीय है कि हमें दिवाकरजीके प्रेरणा की थी कि शोडवाल (जि० वेलगांव)में आचार्य महाराजके बड़े भाई और १७ वर्ष पहले आचार्यश्रीसे दीक्षित, जिनकी ९४ वर्षकी अवस्था है, मुनि वर्धमानसागरजी तथा

कुम्भोजबाहुबलीमें मुनि समन्तभद्रजी, जो वर्धमानसागरजीसे दीक्षित, अनेक गुरुकुलोंके संस्थापक एवं आजन्म ब्रह्मचारी, बी० ए०, न्यायतीर्थ हैं, विराजमान हैं, उनके दर्शन अवश्य करना और आचार्यश्रीके बारेमें उनसे विशेष जानकारी प्राप्त करना। अतएव २९ अगस्तको श्रीकुंथलगिरिसे चलकर हम मिरज होते हुए ३० अगस्तको शोडवाल पहुँचे। वहाँ सौम्यमुद्राङ्कित एवं तेजस्वितापूर्ण मुनि वर्धमानसागरजीके दर्शन और आचार्य महाराज के बारेमें उनसे विशेष जानकारी प्राप्तकर बड़ा आनन्द हुआ। आचार्य महाराजके सदुपदेशसे यहाँ निर्मापित-भव्य एवं मनोहर तीस चौबीसी विशेष आकर्षणकी वस्तु है। यहाँका श्री शान्तिसागर दि० जैन अनाथाश्रम भी उल्लेखनीय है।

शोडवालसे ३१ अगस्तको चलकर उसी दिन कुम्भोज-बाहुबली पहुँचे। मुनि समन्तभद्रजी महाराजके, जो अभीक्षणज्ञानोपयोगमें निरत रहते हैं, दर्शन किये और उनके साथ चर्चा-वार्ताकर अतीव प्रमुदित हुए। यहाँका गुरुकुल, समवसरणमन्दिर, स्वाध्यायमन्दिर, बाहुबली मन्दिर, सन्मतिमुद्रणालय आदि संस्थाएँ द्रष्टव्य हैं। इन सब संस्थाओंके संस्थापक एवं प्राण महाराज समन्तभद्र हैं। महाराज पहाड़पर श्री १००८ बाहुबलीकी २८ फुट उन्नत विशाल मूर्तिकी भी स्थापना कर रहे हैं। आप जैसा धर्मानुराग हमें अबतक अन्यत्र देखनेमें नहीं मिला। श्रमणसंस्कृतिके आप सच्चे और मूक प्रसारक एवं सेवक हैं।

यहाँसे श्रमणवेलगोल—जैनबिंद्री ज्यादा दूर नहीं है; अतः वहाँकी विश्वविख्यात गोम्मटेश्वरकी मूर्तिकी वन्दनाका लोभ हम संवरण नहीं कर सके। श्री समन्तभद्र महाराजने भी हमें प्रेरणा की। अतएव कुम्भोज बाहुबलीसे १ सितम्बरको चलकर २ सितम्बरको ६।। बजे शामको श्रमणवेलगोल पहुँचे। पहुँचते ही उसी दिन रातको तथा दूसरे दिन ३ सितम्बरको गोम्मटेश्वरकी उस महान् अद्वितीय, ५८ फुट उत्तुङ्ग, अद्भुत, सौम्य मूर्तिकी वन्दनाकर चित्त सातिशय आह्लादित हुआ। यह मूर्ति एक हजार वर्षसे गर्मी, बरसात और सर्दीकी चोटोंको सहन करती हुई विद्यमान है और आज भी अपने निर्माताकी उज्ज्वल कीर्तिको विश्व-विख्यात कर रही है। इतनी विशाल और उत्तुङ्ग भव्य मूर्ति विश्वमें अन्यत्र नहीं है। यह वीतराग मूर्ति दूरसे ही दर्शकको अपनी ओर खींच लेती है और अपनेमें उसे लीन कर लेती है।

कुंथलगिरिसे यहाँ वापिस हुए यात्रियोंसे ज्ञात हुआ कि महाराजकी स्थिति चिन्ताजनक है और २९ अगस्तसे १ सितम्बर तक जल नहीं लिया। इस समाचारसे मेरे मनमें महाराजके चरणोंमें पुनः और शीघ्र कुंथलगिरि जानेके लिए ऊथल-पुथल एवं बेचैनी पैदा हो गई। फलतः ३ सितम्बर को ही श्रमणवेलगोलसे मोटरसे हम कुंथलगिरिके लिए पुनः चल दिये और ४ सितम्बरको ९ बजे रात्रिमें मिरज आगये। आनेपर मालूम हुआ कि एडसी-कुंथलगिरि जाने वाली गाड़ी आधा घण्टा पूर्व चली गई है और अब दूसरे दिन ११-४५ बजे जावेगी। फलस्वरूप उस दिन हम वहीं मिरज स्टेशन पर रहे। प्रातः ५ सितम्बरको मिरज शहरमें श्रीजिनमन्दिरके दर्शनोके लिए गये। वहाँ भी देवेन्द्रकीर्ति भट्टारकजीसे भेंट हो गई। आप बहुत सज्जन भद्र भद्र हैं। मिरजसे ११-४५ बजेकी गाड़ीसे रवाना होकर ६ सितम्बरको एडसी होते हुए कुंथलगिरि पहुँचे। यहाँ आते ही ज्ञात हुआ कि महाराजकी प्रकृति उत्तम है। २ सितम्बरसे ४ सितम्बर तक उन्होंने जल ग्रहण किया। कल ५ सितम्बरको जल नहीं लिया है।

उसके बाद फिर आचार्यश्रीने जल ग्रहण नहीं किया। आचार्यश्रीसे दो एक बार जल ग्रहण करनेके लिए प्रार्थना भी की गई, किन्तु आचार्यश्रीने दृढ़ताके साथ कहा कि 'जब शरीर आलम्बन लिए बिना खड़ा नहीं रह सकता तो हम पवित्र दिगम्बर चर्याको सर्वोप नहीं बनावेंगे।' ७ सितम्बरको बम्बईसे रिकार्डिंग मशीनके आजानेसे ८ सितम्बरको महाराजसे अन्तिम उपदेशके लिए प्रार्थना की गई। महाराजने सबकी

प्रार्थना स्वीकार कर अपना अन्तिम भाषण दिया, जो मराठीमें २२ मिनट तक हुआ और जिसे रिकार्ड करा लिया गया ।

आचार्यश्रीने समाजका लगभग अर्ध-शताब्दी तक मार्गदर्शन किया, देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक पाद-विहार करके उसे जागृत किया और शतब्दियोंसे ज्योतिहीन हुए दि० मुनिधर्म-प्रदीपको प्रदीप्त किया। इस दुषमाकालमें उन्होंने अपने पवित्र एवं यशस्वी चारित्र्य, तप और त्यागको भी निरपवाद रखते हुए निर्ग्रन्थ-रूपको जैसा प्रस्तुत किया वैसा गत कई शताब्दियोंमें भी नहीं हुआ होगा। उनके इस उपकारको कृतज्ञ समाज चिरकाल तक स्मरण रखेगी ।

हमें आचार्यश्रीके सल्लेखना-महोत्सवमें २५ अगस्तसे २९ अगस्त तक और ६ सितम्बरसे १९ सितम्बर तक उनके देहत्याग तथा भस्मोत्थानक्रिया तक १९ दिन श्री कुंथलगिरिमें रहनेका सौभाग्य मिला। एक महान् क्षपकके समाधिमरणोत्सवमें सम्मिलित होना आनन्दवर्षक ही नहीं, अपितु निर्मल परिणामोत्पादक एवं पुण्यवर्षक माना गया है। महाराजने ३५ दिन जितने दीर्घकाल तक सल्लेखनाव्रत धारणकर उसके अचिन्त्य महत्त्व और मार्गको प्रशस्त किया तथा जैन इतिहासमें अमर स्थान प्राप्त किया ।

आचार्यश्रीकी नेत्रज्योति-मन्दता

चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराजकी आंखोंकी ज्योति पिछले कई वर्षोंसे मन्द होने लगी थी और वह मन्दसे मन्दतर एवं मन्दतम होती गई। आचार्य महाराज नश्वर शरीरके प्रति परम निस्पृही और विवेकवान् होते हुए भी इस ओरसे कभी उदासीन नहीं रहे और न शरीरकी उपयोगिताके तत्त्वको वे कभी भूले। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—शरीर धर्मका प्रथम साधन है, इसे उन्होंने सदा ध्यानमें रखा और आंखोंकी ज्योति-मन्दताको दूर करनेके लिए भक्तजनोंद्वारा किये गये उपचार-प्रयत्नोंको सदैव अपनाया। महाराज स्वयं कहा करते थे कि 'भाई! आंखोंकी ज्योति संयम वालन में सहायक है और इस लिए हमें उसका ध्यान रक्षना आवश्यक है परन्तु यदि वह हमें जवाब देदे तो हमें भी उसे जवाब देना पड़ेगा।' यथार्थमें आत्माके अमरत्वमें आस्था रखने वाले मुमुक्षु साधुका यही विवेक होता है। अत एव आचार्यश्रीने समय-समय पर उचित और मार्गाविरोधी उपचारोंको अपनाया तथा पर्याप्त औषधियोंका प्रयोग किया। किन्तु आंखोंकी ज्योतिमें अन्तर नहीं पड़ा, प्रत्युत वह मन्द ही होती गई। धार्मिक भक्तजनों द्वारा सुयोग्य डाक्टरों के लिए भी महाराजकी आंखें दिखाई गईं। परन्तु उन्हें भी सफलता नहीं मिली।

समाधिमरण-धारणका निश्चय

ऐसी स्थितिमें आचार्यश्रीके सामने दो ही मार्ग थे, जिनमेंसे उन्हें एक मार्गको चुनना था। वे मार्ग थे—शरीररक्षा या आत्मरक्षा। दोनोंकी रक्षा अब सम्भव नहीं थी। जबतक दोनोंकी रक्षा सम्भव थी तबतक उन्होंने दोनोंका ध्यान रखा। उन्होंने अन्तर्दृष्टिसे देखा कि 'अब मुझे एककी रक्षाका मोह छोड़ना पड़ेगा। शरीर ८४ वर्षका हो चुका, वह जाने वाला है, नाशशील है, अब वह अधिक दिन नहीं टिक सकेगा। एक-न-एक दिन उससे मोह अवश्य छोड़ना पड़ेगा। इन्द्रियां जवाब दे रही हैं। आंखोंने जवाब दे ही दिया है। बिना आंखोंकी ज्योतिके यह सिद्धसम आत्मा पराश्रित हो जायेगा। ईर्ष्यासमिति और एषणासमिति नहीं पल सकतीं। क्या इन आत्मगुणोंको नाशकर अवश्य जाने-वाले जीर्ण-शीर्ण शरीरकी रक्षाके लिए मैं अन्न-पान ग्रहण करता रहूँ? क्या आत्मा और शरीरके भेदकी समझनेवाले तथा आत्माके अमरत्वमें आस्था रखने वाले साधुके लिए यह उचित है? जिन ईर्ष्यासमिति (जोवदया), एषणासमिति (भोजनशुद्धि) आदि आत्ममूलगुणोंके विकास, वृद्धि एवं रक्षाके लिए अन्नशानादि तप किये, उपसर्ग सहन

किये और घोर परीषह सहे, क्या उनका नाश होने दूँ? नखर शरीर नष्ट होता है तो हो, जीवनभर पालित-पोषित आत्मगुणोंको नाश नहीं होने दूंगा। अतः शरीरसे मोह छोड़कर आत्माकी रक्षा करूँगा; क्योंकि शरीररक्षाकी अपेक्षा आत्मरक्षा अधिक लाभदायक और श्रेयान् है। मैं सिद्धसम हूँ और इसलिये निर्विकल्पक समाधि द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर शुद्ध-बुद्ध-सिद्ध बूँगा।' यह विचारकर आचार्य महाराजने सल्लेखनात्रत धारण करनेका निश्चय किया और भगवान् श्री १००८ देशभूषण-कुलभूषणके पावन सिद्धिस्थान श्री कुंभलगिरिपर पहुँचकर अपने उस सुविचारित एवं विवेकपूर्ण निश्चयको क्रियात्मक रूप दिया। अर्थात् १४ अगस्त १९५५ रविवारको बादामका पानी लेकर उसी दिन समस्त प्रकारके आहार-पानीका आमरण त्याग-कर दिया। १७ अगस्त तक उनका यह त्याग नियम-सल्लेखनाके रूपमें रहा और उसके बाद उसे उन्होंने यमसल्लेखनाके रूपमें ले लिया। इतना विचार रखा कि बाधा होनेपर यदि कभी आवश्यकता पड़ी तो जल ले लूँगा।

समाधिमरण क्यों और उसकी क्या आवश्यकता ?

विक्रमकी छठी शताब्दीके विद्वान् आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि सल्लेखनाका महत्त्व और आवश्यकता बतलाते हुए लिखते हैं।

'मरणस्यानिष्टत्वाद्यथा वणिजो विविधपण्यदानादानसञ्चयपरस्य स्वगृहविनाशोऽनिष्टः । तद्विनाशकारणे च कुतश्चिदुपस्थिते यथाशक्ति परिहरति, दुःपरिहारे च पण्यविनाशो यथा न भवति तथा यतते एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपण्यसञ्चये प्रवर्तमानस्तदाश्रयस्य न पातमभिवाञ्छति तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेन परिहरति । दुःपरिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति तथा प्रयतते इति ।'—स० सि०, अ० ७ सू० २२ ।

अर्थात् मरण किसीको इष्ट नहीं है। जिस प्रकार अनेक तरहके जवाहरातोंका लेन-देन करनेवाले व्यापारीको अपने घरका नाश इष्ट नहीं है। यदि कदाचित् उसके नाशका कोई (अग्नि, बाढ़, विप्लव आदि) कारण उपस्थित होजाय तो वह उसके परिहारका यथाशक्ति उपाय करता है। और यदि परिहारका उपाय सम्भव नहीं होता तो घरमें रखे हुए जवाहरातोंकी जैसे बने वैसे रक्षा करनेका यत्न करता है—अपने बहुमूल्य जवाहरातको नष्ट नहीं होने देता है उसीप्रकार जीवनभर व्रत-शीलरूप जवाहरातका सञ्चय करने वाला श्रावक अथवा साधु भी उसके आधारभूत अपने शरीरका नाश नहीं चाहता—उसकी सदा रक्षा करता है। और शरीरके नाशकारणों—रोग, उपसर्ग आदिके उपस्थित होनेपर उनका पूर्ण प्रयत्नसे परिहार करता है तथा असाध्य रोग, अशक्य उपसर्ग आदि के होनेपर जब देखता है कि शरीरका रक्षण अब सम्भव नहीं है तो आत्मगुणोंका नाश न हो वैसे प्रयत्न करता है। अर्थात् शरीररक्षाकी अपेक्षा वह आत्मरक्षाको सर्वोपरि मानता है।

इसी बातको पं० आशाधरजी भी कहते हैं—

कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात् प्रतिकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥
देहादिवैकृतैः सम्यक्निमित्तैस्तु सुनिश्चिते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदम् ॥

'स्वस्थ शरीर, पथ्य आहार और विहार द्वारा पोषण करने योग्य है। और रोगी शरीर योग्य औषधियों द्वारा उपचारके योग्य है। परन्तु योग्य आहार-विहार और औषधोपचार करते हुए भी शरीरपर

उनका कोई असर न हो, प्रत्युत व्याधिकी वृद्धि ही हो, तो ऐसी स्थितिमें उस शरीरको दुष्टके समान छोड़ देना ही श्रेयस्कर है । अर्थात् समाधिमरण लेकर आत्मगुणोंकी रक्षा करनी चाहिये ।’

‘शीघ्र मरण सूचक शरीरादिके विकारोंद्वारा और ज्योतिषशास्त्र, एवं शकुनविद्या आदि निमित्तोंद्वारा मृत्युको सन्निकट जानकर समाधिमरणमें लीन होना बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य है । उन्हें निर्वाणका प्राप्त होना दूर नहीं रहता ।’

इन उद्धरणोंसे सल्लेखनाका महत्व और आवश्यकता समझमें आ जाती है । एक बात और है वह यह कि कोई व्यक्ति रोते-विलपते नहीं मरना चाहता । यह तभी सम्भव है जब मृत्युका अकषायभावसे सामना करे । नश्वर शरीरसे मोह त्यागे । पिता, पुत्रादि बाह्य पदार्थोंसे राग-द्वेष दूर करे । आनन्द और ज्ञानपूर्ण आत्माके निजत्वमें विश्वास करे । इतना विवेक जागृत होनेपर मुमुक्षु श्रावक अथवा साधु सल्लेखनामरण, समाधिमरण या पंडितमरण या बोरमरण पूर्वक शरीर त्याग करता है । समाधिमरणपूर्वक शरीरत्याग करने-पर विशेष जोर देते हुए कहा है :-

यत्फलं प्राप्यते सद्भिर्ब्रतायासविडम्बनात् ।
तत्फलं सुखसाध्यं स्यान्मृत्युकाले समाधिना ॥
तप्तस्य तपसश्चापि, पालितस्य व्रतस्य च ।
पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥

‘जो फल बड़े-बड़े व्रती पुरुषोंको कायकलेश आदि तप, अहिंसादि व्रत धारण करनेपर प्राप्त होता है वह फल अन्त समग्रमें सावधानी पूर्वक किये हुए समाधिमरणसे जीवोंको सहजमें ही प्राप्त हो जाता है । अर्थात् जो आत्मविशुद्धि अनेक प्रकारके तपादिसे होती है वह अन्त समयमें समाधिपूर्वक शरीर त्यागनेपर प्राप्त हो जाती है ।’

‘बहुत काल तक किये गये उग्र तपोंका, पाले हुए व्रतोंका और निरन्तर अभ्यास किये हुए शास्त्र-ज्ञानका एक मात्र फल शान्तिपूर्वक आत्मानुभव करते हुए समाधिमरण करना है । इसके बिना उनका कोई फल प्राप्त नहीं होता—केवल शरीरको सुखाना या ख्यातिलाभ करना है ।’

इससे स्पष्ट है कि सल्लेखनाका कितना महत्व है । जैन लेखकोंने इसपर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । ‘भगवतो आराधना’ इसी विषयका एक प्राचीन ग्रन्थ है, जो प्राकृत भाषामें लिखा गया है और जिसका रचनाकाल डेढ़-दो हजार वर्षसे ऊपर है । इसी प्रकार ‘मृत्युमहोत्सव’ नामका संस्कृत भाषामें निबद्ध ग्रंथ है, जो बहुत ही विशद और सुन्दर है । आचार्य समन्तभद्रने लिखा है—

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।
धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः ॥

‘जिसका कुछ उपाय शक्य न हो, ऐसे किसी भयङ्कर सिंह आदि द्वारा खाये जाने आदिके उपसर्ग आ जानेपर, जिसमें शुद्ध भोजन-सामग्री न मिल सके, ऐसे दुष्कालके पड़नेपर, जिसमें धार्मिक व शारीरिक क्रियाएँ यथोचित रीतिसे न चल सकें, ऐसे बुढ़ापेके आ जानेपर तथा किसी असाध्य रोगके हो जानेपर धर्मकी रक्षाके लिये शरीरके त्याग करनेको सल्लेखना (समाधिमरण—साम्यभावपूर्वक शरीरका त्याग करना) कहा गया है ।’

इसी बातको एक दूसरी जगह भी इस प्रकार बतलाया गया है :—

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।

देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥

‘नियमसे नाश होनेवाले शरीरके लिये अभीष्ट फलदायी धर्मका नाश नहीं करना चाहिये; क्योंकि शरीरके नाश हो जानेपर तो दूसरा शरीर पुनः मिल सकता है । परन्तु नष्ट धर्मका पुनः मिलना दुर्लभ है ।’

सल्लेखना धारण करनेवाले जीवका किसी वस्तुके प्रति राग अथवा द्वेष नहीं होता । उसकी एक ही भावना होती है और वह है विवेकमुक्ति । समन्तभद्रस्वामोने लिखा है—

स्नेहं वैरं सङ्गं परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।
स्वजनं परिजनमपि च क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥
आलोच्य सर्वमेनः कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।
आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ॥
शोकं भयमवसादं क्लेदं कालुष्यमरतिमपि हित्वा ।
सत्त्वोत्स्माहमुदीर्य च मनः प्रसाद्यं श्रुतैरमृतैः ॥
आहारं परिहाप्य क्रमशः स्निग्धं विवर्द्धयेत्पानम् ।
स्निग्धं च हापयित्वा खरपानं पूरयेत्क्रमशः ॥
खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या ।
पञ्चनमस्कारभनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन ॥

‘क्षपक इष्ट वस्तुसे राग, अनिष्ट वस्तुसे द्वेष, स्त्री-पुत्रादिसे ममत्व और धनादिसे स्वामीपनेकी बुद्धिको छोड़कर पवित्र मन होता हुआ अपने परिवारके लोगों तथा पुरा-पड़ोसी जनोंसे जीवनमें हुए अपराधोंको क्षमा करावे और स्वयं भी उन्हें प्रियवचन बोलकर क्षमा करे और इस तरह अपने चित्तको निष्कषाय बनावे ।’

‘इसके पश्चात् वह जीवनमें किये, कराये और अनुमोदना किये समस्त हिंसादि पापोंकी निश्छल भावसे आलोचना (खेद-प्रकाशन) करे तथा मृत्युपर्यन्त समस्त महाव्रतों (हिंसादि पाँच पापोंके त्याग) को धारण करे ।

‘इसके साथ ही शोक, भय, खेद, ग्लानि (घृणा), कलुषता और आकुलताको भी छोड़ दे तथा बल एवं उत्साहको प्रकट करके अमृतोपम शास्त्रवचनोंसे मनको प्रसन्न रखे ।’

‘इसके बाद सल्लेखनाधारी सल्लेखनामें सर्वप्रथम आहार (भक्ष्य पदार्थों) का त्याग करे और दूध, छाछ आदि पेय पदार्थोंका अभ्यास करे । इसके अनन्तर उसे भी छोड़कर कांजी या गर्म जल पीनेका अभ्यास करे ।’

‘बादमें उनको भी छोड़कर शक्तिपूर्वक उपवास करे और इस तरह उपवास करते एवं पंचपरमेष्ठीका ध्यान करते हुए पूर्ण जागृत एवं सावधानीसे शरीरका त्याग करे ।

इस विधिसे साधक अपने आनन्द-ज्ञान-धन आत्माका साधन करता है और भावी पर्यायकी वर्तमान जीर्ण-शीर्ण नश्वर पर्यायसे भी ज्यादा सुखी, शान्त, निर्विकार, नित्य-शाश्वत एवं उच्च बनानेका सफल पुरुषार्थ करता है । नश्वरसे यदि अनश्वरका लाभ हो, तो उसे कौन विवेकी छोड़नेको तैयार होगा ?

सल्लेखनाधारी उन पाँच दोषोंसे भी अपनेको बचाता है जो उसकी पवित्र सल्लेखनाको कलङ्कित करते हैं। वे पाँच दोष निम्न प्रकार हैं :—

जीवित-मरणाऽऽशंसे भय-मित्रस्मृति-निदान-नामानः ।

सल्लेखनाऽतिचाराः पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टाः ॥

‘सल्लेखना धारण करनेके बाद जीवित बने रहनेकी आकांक्षा करना, जल्दी मरनेकी आकांक्षा करना, भयभीत होना, स्नेहियोंका स्मरण करना और अगली पर्यायके इन्द्रियसुखोंकी इच्छा करना ये पाँच बातें सल्लेखनाको दूषित करनेवाली कही गई हैं।’

उत्तम समाधिमरणका फल

स्वामी समन्तभद्रने लिखा है कि—

निःश्रेयसमभ्युदयं निस्तोरं दुस्तरं सुखाम्बुनिधिम् ।

निःपिवति पीतधर्मा सर्वैर्दुःखैरनालीढः ॥

‘उत्तम समाधिमरणको करनेवाला धर्मरूपी अमृतको पान करनेके कारण समस्त दुःखोंसे रहित होता हुआ निःश्रेयस और अभ्युदयके अपरिमित सुखोंको प्राप्त करता है।’

क्षपककी सल्लेखनामें सहायक और उनका महत्त्वपूर्ण कर्तव्य

इस तरह ऊपरके विवेचनसे सल्लेखनाका महत्त्व स्पष्ट है और इसलिये आराधक उसे बड़े आदर, प्रेम तथा श्रद्धाके साथ धारण करता है और उत्तरोत्तर पूर्ण सावधानीके साथ आत्म-साधनामें तत्पर रहता है। उसके इस पुण्यकार्यमें, जिसे एक ‘महान् यज्ञ’ कहा गया है, पूर्ण सफलता मिले और अपने पवित्र पथसे विचलित न होने पाये, अनुभवो मुनि (निर्यापक) सम्पूर्ण शक्ति एवं आदरके साथ सहायता करते हैं और आराधकको समाधिमरणमें सुस्थिर रखते हैं। वे उसे सदैव तत्त्वज्ञानपूर्ण मधुर उपदेशों द्वारा शरीर और संसारकी असारता एवं नश्वरता बतलाते हैं, जिससे वह उनमें मोहित न होवे।^१

समाधिमरणकी श्रेष्ठता

आचार्य शिवार्यने ‘भगवती आराधना’ में सतरह प्रकारके मरणोंका उल्लेख करके पाँच तरहके^२ मरणोंका वर्णन करते हुए तीन मरणोंको उत्तम बतलाया है। लिखा है कि—

पंडितपंडितमरणं च पंडितं बालपंडितं चैव ।

एदाणि त्रिणि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति ॥२७॥

‘पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण और बालपण्डितमरण ये तीन मरण सदा प्रशंसायोग्य हैं।’

१. भ० आ० गा० ६५०-६७६ ।

२. पंडितपंडितमरणं पंडितयं बालपंडितं चैव ।

बालमरणं चउत्थं पंचमयं बालबालं च ॥

‘पण्डितपण्डितमरण, पण्डितमरण, बालपण्डितमरण, बालमरण और बालबालमरण ये पाँच मरण हैं।

भ० आ० गा० २५ ।

आगे लिखा है :—

पंडितपंडितमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो ।
विरदाविरदा जीवा मरंति तदिण्ण मरणेण ॥२८॥
पाओपगमणमरणं भत्तप्पण्णा य इंगिणी चैव ।
तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तच्चरियस्स ॥२९॥
अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि ।
मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि ॥३०॥

अर्थात् चउदहर्वे गुणस्थानवर्ती वीतराग-केवली भगवान्के निर्वाण-गमनको पण्डितपण्डितमरण, देश-व्रती श्रावकके मरणको बालपण्डितमरण, आचारांगशास्त्रानुसार चारित्रिके धारक साधु-मुनियोंके मरणको पण्डितमरण, अविरतमध्यमृष्टिके मरणको बालमरण और मिथ्यादृष्टिके मरणको बालबालमरण कहा गया है। भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनी और प्रायोपगमन ये तीन पण्डितमरणके भेद हैं। इन्हीं तीन भेदोंका ऊपर संक्षेपमें वर्णन किया गया है।

आचार्य शान्तिसागर द्वारा इंगिनीमरण संन्यासका ग्रहण

आचार्य शान्तिसागरजीने समाधिमरणके इस महत्त्वको अवगत कर उपर्युक्त पण्डितमरणके दूसरे भेद इङ्गिनीमरण व्रतको ग्रहण किया। यद्यपि महाराज ५ वर्षसे पण्डितमरणके पहले भेद भक्तप्रत्याख्यानके अन्तर्गत सविचारभक्तप्रत्याख्यानका, जिसकी उत्कृष्ट अवधि १२ वर्ष है, अभ्यास कर रहे थे। किन्तु शरीरकी जर्जरता व नेत्रज्योतिकी अत्यन्त मन्दतासे जब उन्हें अपना आयुकाल निकट जान पड़ा तो उन्होंने उसे इङ्गिनीमरणके रूपमें परिवर्तित कर दिया, जिसे उन्होंने ३५ दिन तक धारण किया। महाराजने स्वयं दिनांक १७-८-५९ को मध्याह्नमें २॥ बजे सेठ बालचन्द्र देवचन्द्रजी शहा, सेठ रावजी देवचन्द्रजी निम्बर-गोकर, संधपति सेठ गेंदनमलजी, सेठ चन्द्रूलालजी ज्योतिचन्द्रजी, श्री बण्डोवा रत्तोवा, श्री बाबूराव मारले, सेठ गुलाबचन्द्र सखाराम और रावजी बापूचन्द्रजी पंढारकरको आदेश करते हुए कहा था कि 'हम इङ्गिनी-मरण संन्यास ले रहे हैं, उसमें आप लोग हमारी सेवा न करें और न किसीसे करावें।' महाराजने यह भी कहा था कि 'पंचम काल होनेसे हमारा संहनन प्रायोपगमन (पण्डितमरणके तीसरे भेद) को लेनेके योग्य नहीं है, नहीं तो उसे धारण करते।' यद्यपि किन्हीं आचार्योंके मतानुसार इङ्गिनीमरण संन्यास भी आदिके तीन संहननके धारक ही पूर्ण रूपसे धारण कर सकते हैं तथापि आचार्य महाराजने आदिके तीन संहननोंके अभावमें भी इसे धारण किया और ३५ दिन तक उसका निर्वाह किया, जिसका अवलोकन उनके सल्लेखना-महोत्सवमें उपस्थित सहस्रों व्यक्तियोंने किया, वह 'अचिन्त्यमोहितं महात्मनाम्' महात्माओंकी चेष्टाएँ अचिन्त्य होती हैं, के अनुसार विचारके परे है।

समाधिमरणमें आचार्यश्रीके ३५ दिन

समाधिमरणके ३५ दिवसोंमें आचार्यश्रीकी जैसी प्रकृति, चेष्टा एवं चर्या रही उससे आचार्य महाराजके धैर्य, विवेक, जागृति आदिकी जानकारी प्राप्त होती है। १९ दिन तो हम स्वयं उनके पादमूलमें कुंथलगिरि रहे और प्रतिदिन नियमित दैनंदिनी (डायरी) लिखते रहे तथा शेष १६ दिवसोंकी उनकी चर्या-दिकी अन्य सूत्रोंसे ज्ञात किया।

१८ सितम्बर ५५, रविवारको—प्रातः ६-४५ बजे श्री लक्ष्मीसेनजी भट्टारकने अभिषेकजल ले जाकर कहा—'महाराज ! अभिषेकजल है।' महाराजने उत्तर दिया 'हूँ' और उसे उत्तमांगमें लगा लिया। इसके ५ मिनट बाद ही ६-५० बजे उन्होंने शरीर त्याग दिया। शरीरत्यागके समय महाराज पूर्णतः जागृत और

सावधान रहे। अन्तिम समयकी उनके शरीरकी शास्त्रानुसार विधि करके उसे पद्यासन रूपमें चौकीपर विराजमान किया गया और प्रतिदिनकी तरह मंचपर ले जाकर जनताके लिए उनके दर्शन कराये। २ घंटे तक दशभक्ति आदिका पाठ हुआ। इसके बाद एक सुसज्जित पालकीमें महाराजके पौद्गलिक शरीरको विराजमान करके उस स्थानपर पहाड़के नीचे ले गये, जहाँ दाह-संस्कार किया जाना था। पहाड़पर ही मान-स्तम्भके निकटके मैदानमें बड़े सम्मानके साथ डेढ़ बजे प्रभावपूर्ण दाह-संस्कार हुआ। लगभग ३० मन चन्दन, ३ बोरे कपूरकी टिकिया तथा खुला कपूर, हजारों कच्चे नारियल व हजारों गोले चितामें डाले गये। दाहसंस्कार महाराजके भतीजे, रावजी देवचन्द, माणिकचन्द वीरचन्द आदि प्रमुख लोगोंने किया। आगने धू-धुकर महाराजके शरीरको जला दिया। 'ओं सिद्धाय नमः' प्रातः ६-५० से १॥ बजे तक जनताने बोला। इसी समय महाराजके आत्माके प्रति पं० वट्टमानजी, हमने, पं० तनमुखलालजी काला आदिने श्रद्धाञ्जलि-भाषण दिये। दाह-संस्कारके समय सर्पराजके आनेकी बात सुनी गई। ज्योतिषशास्त्रानुसार महाराजका शरीरत्याग अच्छे मुहूर्त, योग और अच्छे दिन हुआ। रातको अनेक लोग दाहस्थानपर बैठे-खड़े रहे।

१९ सितम्बर ५५, को भस्मीके लिए हम ५ बजे प्रातः दाहस्थानपर पहुँचे और देखा कि भस्मीके विशाल ढेरको भक्तजनोंने समाप्त कर दिया और अब बीचमें आग मात्र रह गई।

भक्तजनोंकी उपस्थिति

इस प्रकार यह महाराजका समाधिमरण ३५ दिवस तक चला, जो वस्तुतः ऐतिहासिक है। इस अवसरपर निम्न व्रतीजन विद्यमान रहे :—

(१) मुनि श्री पिहिताम्ब, (२) ऐलक सुबल, (३) ऐ० यशोधर, (४) क्षु० विमलसागर, (५) क्षु० सूरिसिंह, (६) क्षु० सुमतिसागर, (७) क्षु० महाबल, (८) क्षु० अतिबल, (९) क्षु० आदिसागर, (१०) क्षु० जयसेन, (११) क्षु० विजयसेन, (१२) क्षु० पार्श्वकीर्ति, (१३) क्षु० ऋषभकीर्ति, (१४) क्षु० सिद्धसागर, (१५) भट्टारक श्री लक्ष्मीसेन, (१६) भट्टारक श्री जिनसेन, (१७) भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति (प्रारम्भमें रहे), (१८) क्षुल्लिका पार्श्वमती, (१९) क्षु० अजितमति, (२०) क्षु० विशालमती, (२१) क्षु० अनन्तमती (२२) क्षु० जिनमती, (२३) क्षु० बीरमती, ब्र० जीबराज, ब्र० दीपचन्द, ब्र० चान्दमल, ब्र० सूरजमल, ब्र० श्रीलाल आदि। समाजके अनेक प्रतिष्ठित श्रीमान् तथा विद्वान् भी वहाँ उपस्थित रहे। ३५ दिवसोंमें लगभग ५० हजार जनता पहुँची। इतने जन-समूहके होते हुए भी कोई विशेष घटना नहीं हुई। ३५ दिन जितना बड़ा मेला न सुना और न देखा। वह महाराजके जीवनव्यापी तप और आत्मत्यागका प्रभाव था।

आदर्श तपस्वी आचार्य नमिसागर : एक परिचय

आचार्य : नमिसागरका जन्म सन् १८८८ में दक्षिण कर्णाटक प्रान्तके शिवपुर गाँव (जिला बेलगाँव) में हुआ। आपका जन्मनाम 'म्होणप्पाहोणप्पा' है। आपके पिताका नाम यादवराव और माताका नाम काला-देवी है। दो वर्षकी अवस्थामें पिताका और १२ वर्षकी अवस्थामें माताका वियोग हो गया था।

प्रारम्भिक शिक्षा

बचपनमें आपको पढ़नेमें रुचि नहीं थी। अपने अध्यापकोंको चकमा देकर स्कूलसे भाग जाते थे और तीन-तीन दिन तक जंगलमें वृक्षोंपर पेटसे कपड़ा बाँधकर चिपके रहते थे तथा भूख-प्यास भी भूल जाते थे। अतएव आपने प्रारम्भिक शिक्षा कर्णाटकीकी पहली दो पुस्तकों भरकी ली।

विवाह और गृहत्याग

सन् १९१४ में २६ वर्षकी अवस्थामें आपका विवाह हुआ, ४ वर्ष बाद गौना हुआ और एक वर्ष तक धर्मपत्नीका संयोग रहा। पीछे उससे एक शिशुका जन्म हुआ, किन्तु तीन माह बाद उसकी मृत्यु हो गई और उसके तीन माह बाद शिशुकी माँका भी स्वर्गवास हो गया।

आप दस-दस, बीस-बीस बेलगाड़ियों द्वारा कपास, मिर्च, बर्तन आदिका व्यापार करते थे। एक दिन आप कपास खरीदनेके लिए जाम्बयी नामके गाँवमें, जो तेरदाड़ राज्यमें है, गये। वहाँ रातको भोजन करते समय भोजनमें दो मरे झिगरा (एक प्रकारके लाल कोड़े) दीख गये। उसी समय आपको संसारसे वैराग्य हो गया और मनमें यह विचार करते हुए कि "मैं कितना अधम पापी और धर्म-कर्म हीन हूँ कि इस आरम्भ-परिग्रहके कारण दो जीवोंका घात कर दिया।" धर-बार छोड़कर संवेगी श्रावक हो गये। तीन वर्ष तक आप इसी श्रावक वेषमें घूमते रहे। बोरगाँवमें पहुँचकर श्रीआदिसागरजी नामके मुनिराजसे क्षुल्लक-दीक्षा ले ली और फिर दो वर्ष बाद ऐलक-दीक्षा भी ले ली। पाँच वर्ष तक आप इस अवस्थामें रहे।

साधु-दीक्षा

सन् १९२९ में श्री सोमागिरजी (मध्यप्रदेश) में चारित्र्यचक्रवर्ती तपोनिधि आचार्य शान्तिसागरजी महाराजके निकट साधु-दीक्षा ग्रहण की और उन्हें अपना दीक्षा-गुरु बनाया। क्षुल्लकावस्थासे लेकर आपने जैनविद्वी, जयपुर, कटनी, ललितपुर, मथुरा, देहली, लाडनू टांकाटूका (गुजरात), जयपुर, अजमेर, व्यावर, हाँसी आदि अनेक स्थानों—नगरों तथा गाँवोंमें ३० चातुर्मास किये और भारतके दक्षिणसे उत्तर और पश्चिमसे पूर्व समस्त भागोंमें विहार किया। इस विहारमें आपने लगभग दस हजार भोलकी पैदल यात्रा की और जगह-जगहकी जनताको आत्म-कल्याणका आध्यात्मिक एवं नैतिक उपदेश देकर उनका बड़ा उपकार किया।

आचार्य-पद

सन् १९४४ में आप तारंगामें आचार्य कुन्धुसागरजीके संघमें सम्मिलित हो गये। संघ जब विहार करता हुआ धरियावाद (बागड़) पहुँचा तो आचार्य कुन्धुसागरजीका वहाँ अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। संघने पश्चात् आपको तपादि विशेषताओंसे 'आचार्य' पदपर प्रतष्ठित किया।

तपस्या और त्याग

आपकी तपस्या और त्याग अद्वितीय रहे। सन् १९२४ में आपने जयपुरमें वहाँके अनाजोंकी भाषाका ज्ञान न हो सकनेसे ८ माह तक लगातार केवल कढ़ीका आहार लिया। सन् १९३१ में देहलीमें प्रथम चातु-मासमें २१ दिन तक उपवास और बादमें डेढ़ माह तक केवल छाछ ग्रहण की। सन् १९३३ में सरधना (मेरठ) के चातुर्मासमें ३६ दिन तक सिर्फ नीवूका रस लिया। मेरठमें दो माह तक लगातार केवल गन्नेका रस ग्रहण किया। सन् १९४० में जेर (गुजरात) के चौमासेमें साढ़े छह महीनोंमें सिर्फ २९ दिन आहार और शेष दिनों-में १६४ उपवास किये। यह सिंह-विक्रीडत व्रत है। सन् १९४१ में टांकाटूका (गुजरात) में चौमासेमें सर्वतो-भद्र व्रत किया, जिसमें एक उपवाससे सात उपवास तक चढ़ना और फिर सातसे क्रमशः एक उपवास तक आना और इस तरह साढ़े आठ महीनेमें केवल ४९ आहार और २४५ उपवास किये। सन् १९४७ में अज-मेरमें ढाई माह तक जलका त्याग और केवल छाछका ग्रहण किया। सन् १९४८ में व्यावरमें केवल अन्न (दाल-रोटी) का ग्रहण और जलका त्याग किया। सन् १९३५ में देहलीमें दूसरे चातुर्मासमें लगातार चार-चार उपवास किये और इस तरह कई उपवास किये। सन् १९५२ में भी तीसरे चातुर्मासके आरम्भमें देहलीमें आपने २० दिन तक अन्न और जलका त्याग किया तथा सिर्फ फल ग्रहण किये। महीनों आपने सिर्फ एक पंरके बलपर रहकर तपस्या की।

नमस्का त्याग तो आपने कोई २७, २८ वर्षकी अवस्थामें ही कर दिया था और छह रसका त्याग भी आपने पौने दो वर्ष तक किया। इस तरह आपका तमाम साधुजीवन त्याग और तपस्यासे ओत-प्रोत रहा।

ध्यान और ज्ञान

बागपत (मेरठ) में जब आप एक डेढ़ माह रहे तो वहाँ जमनाके किनारे चार-चार घंटे ध्यानमें लीन रहते थे। बड़ेगाँव (मेरठ) में जाड़ोंमें अनेक रात्रियाँ छतपर बैठकर ध्यानमें बितायीं। पावागढ़ (बड़ोदा), तारंगा आदिके पहाड़ोंपर जाकर वहाँ चार-चार घंटे समाधिस्थ रहते थे।

तपोबलका प्रभाव और महानता

आपके जीवनकी अनेक उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। जोधपुरमें आपके नेत्रोंकी ज्योति चली गई और इससे जनतामें सर्वत्र चिन्ताकी लहर फैल गई। किन्तु आप इस दैविक विपत्तिसे लेशमात्र भी नहीं घबराये और आहार-जलका त्यागकर समाधिमें स्थित हो गये। अन्तमें सातवें दिन आपको अपने तपोबल और आत्म-निर्मलताके प्रभावसे आँखोंकी ज्योति पुनः पूर्ववत् प्राप्त हो गई। उस मरुभूमिमें ग्रीष्मऋतुमें, जहाँ दर्शकोंके पैरोंमें फोले पड़ जाते थे, बालूमें तीन-तीन घंटे आप ध्यान करते थे।

पीपाड़ (जोधपुर) में ५००० हजार हरिजनोंको वैयावृत्य तथा दर्शन करनेका आपने अवसर दिया तथा उनकी इच्छाको तृप्त करके धर्मपूर्वक अपना जीवन बितानेका उन्हें सन्देश दिया।

१५ दिसम्बर १९५० में जब आपको आहारके लिये जाते समय मालूम हुआ कि संयुक्त भारतके महान् निर्माता स्व० उपप्रधानमंत्री सरदार बल्लभभाई पटेलका बम्बईमें देहावसान हो गया तो आपने आहार त्याग दिया और उपवास किया।

आप कितने गुणग्राही, निस्पृही और विनयशील रहे, यह आपके द्वारा चारित्र्यचक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी महाराज और श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी न्यायाचार्यको लिखे गये पत्रोंसे विदित होता है और जिनमें उनकी गुणग्राहकता और विनयशीलताका अच्छा परिचय मिलता है।

उनका निधन

२२ अक्टूबर १९५६ का दुःखद दिन चिरकाल तक याद रहेगा। इस दिन १२ बजे श्री सिद्धक्षेत्र सम्मेलनशिखरजीकी पावन भूमि (ईशरी-पारसनाथ) में जहाँ २० तीर्थंकरों और अगणित ऋषियोंने तप व निर्वाण प्राप्त किया, इस युगके इस अद्वितीय तपस्वीने समाधिपूर्वक देह त्याग किया। ढाई घण्टे पूर्व साढ़े नौ बजे उन्होंने आहारमें जल ग्रहण किया। दो दिन पूर्वसे ही अपने देहत्यागका भी संकेत कर दिया। क्षु० श्री गणेश प्रसादजी वर्णी, भगत प्यारेलालजी आदि त्यागीगणने उनसे पूछा कि 'महाराज, सिद्धपरमेष्ठीका स्मरण है?' महाराजने 'हूँ' कहकर अपनी जागृत अवस्थाका उन्हें बोध करा दिया। ऐसा उत्तम सावधान पूर्ण समाधिभरण सातिशय पुण्यजीवोंका ही होता है। आचार्य नमिसागरजीने घोर तपश्चर्या द्वारा अपनेको अवश्य सातिशय पुण्यजीव बना लिया था।

एक संस्मरण

जब वे बड़ौतमें थे, मैं कुंथलगिरिसे आकर उनके चरणोंमें पहुँचा और आचार्य शान्तिसागरजी महाराजकी उत्तम समाधिके समाचार उन्हें सुनाये तथा जैन कालेज भवनमें आयोजित सभामें भाषण दिया तो महाराज गद्गद होकर रोने लगे और बोले—'गृह चले गये और मैं अधम शिष्य रह गया।' मैंने महाराजको धैर्य बंधाते हुए कहा—'महाराज आप विवेकी दोतराग ऋषिवर हैं। आप अधीर न हों। आप भी प्रयत्न करें कि गुरुकी तरह आपकी भी उत्तम समाधि हो और वह श्री सिद्धक्षेत्र सम्मेलन शिखरपर हो। वहाँ वर्णीजीका समागम भी प्राप्त होगा।' महाराज धैर्यको बटोरकर तुरन्त बोले कि—'पंडितजी, ठीक कहा, अब मैं चातुर्मास समाप्त होते ही तुरन्त श्री सम्मेलन शिखरजीके लिये चल दूँगा और वर्णीजीके समागमसे लाभ उठाऊँगा।'

उल्लेखनीय है कि चातुर्मास समाप्त होते ही महाराजने बड़ौतसे विहार कर दिया। जब मैं उनसे खुर्जामें दिसम्बर-जनवरीमें मिला तो देखा कि महाराजके पैरोंमें छाले पड़ गये हैं। मैंने महाराजसे प्रार्थना की कि—'महाराज जाड़ोंके दिन हैं। १० मीलसे ज्यादा न चलिए।' तो महाराजने कहा कि—'पंडितजी, हमे फाल्गुनकी अष्टान्हिकासे पूर्व शिखरजी पहुँचना है। यदि ज्यादा न चलेंगे तो उस समय तक नहीं पहुँच पायेंगे।' महाराजकी शरीरके प्रति निस्पृहता, वर्णीजीसे ज्ञानोपार्जनकी तीव्र अभिलाषा और श्रीसम्मेलनशिखरजीकी ओर शीघ्र गमनोत्सुकता देखकर अनुभव हुआ कि आचार्यश्री अपने संकल्पकी पूर्तिके प्रति कितने सुदृढ़ हैं। उनके देहत्यागपर श्री दि० जैन लालमन्दिरजीमें आयोजित श्रद्धाञ्जलि-सभामें महाराजके अध्यक्षतायकी प्रशंसा करते हुए ला० परसादीलाल पाटनीने कहा था कि 'बड़े महाराजको अन्न त्याग किये २॥ वर्ष हो गया और हम सब लोग असफल हो गये तो आ. नमिसागरजी महाराजने अजमेरसे आकर दिल्लीमें चौमासा किया और हरिजन मन्दिर-प्रवेश समस्याको अपने हाथमें लेकर ६ माहमें ही हल करके दिखा दिया।' यथार्थमें उक्त समस्याको हल करनेवाले आचार्य नमिसागरजी महाराज ही हैं। आचार्य महाराजने अपनी कार्यकुशलता और बुद्धिमत्तासे ऐसी-ऐसी अनेक समस्याओंको हल किया, किन्तु उनके श्रेयसे वे सदैव अलिप्त रहे और उसे कभी नहीं चाहा। उनमें बचन-शक्ति तो ऐसी थी कि जो बात कहते थे वह सत्य सावित होती थी।

देहत्यागसे ठीक एक मास पूर्व २३ सितम्बर '५६ को जब मैं संस्था (समन्तभद्र संस्कृत विद्यालय, देहली) की ओरसे वर्णी-जयन्तीपर उनके चरणोंमें पहुँचा, तो महाराज बोले—'पंडितजी, आपको मेरे समाधिभरणके समय आना है।' महाराजके इन शब्दोंको सुनकर मैं चौंक गया और निवेदन किया कि 'महाराज

यह क्या कहते हैं। चातुर्मास बाद तो आपको दिल्ली चलना है। दिल्लीकी समाज और जैन अनायाश्रम आप-को लानेके लिये उत्सुक हैं। महाराज चुप रह गये। पर उनका संकेत उनकी सौम्य मुखाकृतिसे मुझे उनकी समाधिके अवसरपर आनेके लिये ही था। महाराजकी आज्ञा शिरोधार्य करते हुए चिन्ताके साथ कहा— 'महाराज, चरणोंमें अवश्य उपस्थित होऊँगा।'

उसी समय एक पत्र ला० सरदारीमलजी गोटेवालों और एक पत्र आश्रम-मंत्री ला० रघुवीरसिंह कोठीवालोंको लिखा और उसमें महाराजके चिन्ताजनक स्वास्थ्यका उल्लेख करते हुए वैद्यराज कन्हैयालाल जी आयुर्वेदाचार्य प्रधान चिकित्सक जैन औषधालय, देहलीको शीघ्र भेजनेके लिए प्रेरणा की। वैद्यजी महाराजके चरणोंमें पहुँच गये और उन्होंने २२ दिन तक महाराजको पूरी वैयावृत्य की।

किन्तु हम जाते-जाते रह गये। हमलोग यही सोचते रहे कि महाराज अपनी असाधारण तपःशक्ति-के प्रभावसे अभी हमलोगोंके मध्यमें अवश्य रहेंगे। किन्तु जिनके चरण-सान्निध्यमें पिछले छह वर्षोंमें सैकड़ों बार आया, गया और स्वाध्याय कराया। उनके तपसे प्रभावित होकर उनका भक्त बना और मेरे ही परामर्शसे वर्णाजीके समागममें सम्पेदशिखर सिद्ध क्षेत्रपर जानेका उन्होंने निश्चय किया। पर समाधिमरणके समय न पहुँच सका।

ऐसे महान् तपस्वीको शत-शत वन्दन है।



पूज्य वर्णीजी : महत्त्वपूर्ण संस्मरण

पूज्य बाबा भागीरथजीके सम्बन्धमें हमने आप्तजनोसे सुना था कि वे एक बार अपने भक्तोंके साथ पद-यात्रा कर रहे थे। एक जगह उन्हें पैरके अंगूठेमें पत्थरकी चोट लग गयी और अंगूठेसे खूनकी धारा बह निकली। उन्हें पता भी नहीं, वे बराबर चलते रहे। पीछे चल रहे एक भक्तकी निगाह उनके अंगूठेकी ओर गयी और उसने देखा कि बाबाजीके अंगूठेसे खून बह रहा है। भक्तसे न रहा गया और बाबाजीसे वह बोला—‘बाबाजी ! आपके अंगूठेसे खून बह रहा है, रुकिए, उसपर कुछ लगाकर पट्टी बाँध दी जाय।’ बाबाजी बोले—‘पुग्गल-पुग्गल’की लड़ाई हो गयी, हमारा क्या गया।’ भक्त बोला—‘महाराज ! शरीर धर्मका आद्य साधन है, उसकी रक्षा न की जाय तो धर्मकी साधना कैसे हो सकेगी ?’

बाबाजीने उत्तर दिया कि ‘शरीरकी रक्षाके लिए ही तो हम उसे रोज दाना-पानी देते हैं। किन्तु सावधानी रखते हुए भी उसमें असाताके उदयसे यदि विकार आ जाये, तो उसके लिए हमें घबड़ाना नहीं चाहिए।’

भक्त बाबाजीके इस निस्पृहतापूर्ण उत्तरको सुनकर सोचने लगा कि एक हम हैं जो शरीर-मोही हैं और दूसरे बाबाजी हैं, जो उसके मोही नहीं हैं। इसीलिए वे शरीरके एक हिस्सेमें आयी चोटको चोट नहीं समझ रहे, अपितु पुद्गल-पुद्गलकी लड़ाई बता रहे हैं। वास्तवमें ऐसे विवेकी आत्माओंको बहिरात्मा तो नहीं कहा जा सकता। कहते हैं कि बाबाजीने अपना भोजन अन्तमें क्रमशः कम करते-करते एक तोला मूँगकी दालका कर दिया था। पूरी सावधानी और विवेकावस्थामें उन्होंने शरीरका त्याग किया था। धन्य है उन्हें।

पूज्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी (मुनि गणेशकीर्ति महाराज) उन्हीं बाबा भागीरथजीको साथी ही नहीं, अपना गुरु भी मानते थे। समाजमें इन दोनों वर्णियोंके प्रति अपूर्व श्रद्धा एवं निष्ठा थी और दीप-चन्दजी वर्णी सहित तीनों ‘वर्णीत्रय’के रूपमें मान्य और पूज्य थे।

पर ‘वर्णी’ नाम जितना गणेशप्रसादजीके साथ अभिन्न हो गया था उतना उन दोनों वर्णियोंके साथ नहीं। यही कारण है कि ‘वर्णीजी’ कहनेपर गणेशप्रसादजीका ही बोध होता है। वास्तवमें ‘वर्णीजी’ यह उपनाम न रहकर उनका नाम ही हो गया था। यह तभी होता है, जब व्यक्ति अपने असाधारण त्याग, ज्ञान, चारित्र्य, लोकोपकार आदि लोकातिशायी गुणोंसे असाधारण प्रतिष्ठा और महानता पा लेता है, तब लोग उसके छोटे नामसे ही उसे सम्बोधित करके अपना आदरभाव व्यक्त करते हैं। ‘मालवीय’ कहनेसे मदनमोहन मालवीयका और ‘गाँधीजी’ या ‘महात्माजी’ कहनेपर मोहनदास कर्मचन्द गाँधीका बोध लोग करते हैं। यही बात ‘वर्णीजी’ इस नामके सम्बन्धमें है।

वर्णीजी कितने निर्मोही थे, यहाँ हम कुछ घटनाओं द्वारा बताना चाहते हैं।

भयानक कारवँकर फोड़ा

ललितपुर (उत्तर प्रदेश) के क्षेत्रपालकी बात है। वहाँ उनका चातुर्मास हो रहा था। उनके दायें पैरकी जंघामें उन्हें एक भयानक कारवँकर फोड़ा हो गया था। बहुत देशी उपचार हुए, पर कोई लाभ

नहीं हुआ। यह समाचार दिल्ली पहुँचा। वहाँसे ला० राजकृष्णजी, हम आदि कई लोग ललितपुर आये। वर्षाजीके दर्शन किये। उनके उस भयानक फोड़ेको भी देखा। किन्तु वर्षाजीके चेहरेपर जरा भी सिकुड़न न थी और न उनके चेहरेसे उसकी पीड़ा ही ज्ञात होती थी। ला० राजकृष्णजी एक सर्जन डाक्टरको शहरसे ले आये। डाक्टरने फोड़ाको देखा और कहा कि इसका आपरेशन होगा, अन्य कोई चारा नहीं है। वर्षाजीने कहा, तो कर दीजिए। डा० बोला 'आपरेशनके लिए अस्पताल चलना होगा।' वर्षाजीने दृढ़तापूर्वक कहा कि हम 'अस्पताल तो नहीं जायेंगे, यहीं कर सकते हैं तो कर दीजिए, अन्यथा छोड़ दीजिए।' ला० राजकृष्णजीने डॉक्टरसे कहा कि ये त्यागी महात्मा हैं, अस्पताल नहीं जायेंगे, आपरेशनका मन्त्र सामान हम यहीं ले आते हैं। डॉक्टर वहीं (अत्रपालमें) आपरेशन करनेको तैयार हो गया। जब डॉक्टरने पुनः वर्षाजीसे बेहोश करनेकी बात कही तो वर्षाजीने कहा कि 'बेहोश करनेकी आवश्यकता नहीं' और अपना पैर आगे बढ़ा दिया। पौन घंटेमें आपरेशन हुआ। पर वर्षाजीके चेहरेपर कोई सिकुड़न या पीड़ाका आभास नहीं हुआ। रोजमर्राकी भाँति हम लोगोंसे चर्चा-वार्ता करते रहे। यह थी उनकी शरीरके प्रति निर्माह वृत्ति और जागृत विवेक। हम लोग यह देखकर दंग रह गये।

१०५ डिग्री बुखार

दूसरी घटना इटावाकी है। वर्षाजीका यहाँ भी एक चातुर्मास था। यहाँ उन्हें मलेरिया हो गया और १०४, १०५ डिग्री तक बुखार रहने लगा। पैरोंमें शोथ भी हो गया। उनकी इस चिन्ताजनक अस्वस्थताका समाचार ज्ञात होनेपर दिल्लीसे ला० राजकृष्णजी, ला० फीरोजीलालजी, ला० हरिश्चन्द्रजी, हम आदि इटावा पहुँचे।

जिस गाड़ीसे गये थे, वह गाड़ी इटावा रातमें ३-३॥ बजे पहुँचती है। स्टेशनसे ताँगा करके गाड़ीपुराकी जैनधर्मशालामें पहुँचे, जहाँ वर्षाजी ठहरे हुए थे। सब ओर अँधेरा और सभी सोत्रे हुए थे। एक कमरेसे रोशनी आ रही थी। हम उसी ओर बढ़े और जाकर देखा कि वर्षाजी समयसारके स्वाध्यायमें लीन हैं। सबको वहीं बुला लिया। ला० फीरोजीलालजीने थर्मामीटर लगाकर वर्षाजीका तापमान लिया। तापमान १०५ डिग्री था और रातके ३॥ बजे थे। उनकी इस अद्भुत शरीर-निर्माह वृत्तिको देखकर हम सभी चकित हो गये और चिन्ताकी लहरमें डूब गये। पैरोंकी सूजन तो एकदम चिन्ताजनक थी। किन्तु वर्षाजीपर कोई असर नहीं दिखा।

अन्तिम समयकी असह्य पीड़ा

तीसरी घटना उनके अन्त समयकी इसरीकी है। वे अन्तिम दिनोंमें काफी अशक्त हो गये थे। उन्हें उठने, बैठने और करवट बदलनेमें सहायता करनेके लिए एक महावीर नामका कुशल परिचारक था। अन्य कितने ही भक्त उनके निकट हर समय रहते थे। किन्तु महावीर बड़ी कुशलता एवं सावधानीसे उनकी परिचर्या करता था। इस अशक्त अवस्थामें भी वर्षाजीकी किसी चेष्टासे उनकी पीड़ाका आभास नहीं होता था। मुँहसे कभी ओफ तक नहीं निकलती थी। उस असह्य पीड़ाको वे अद्भुत सहनशीलतासे सहते थे, वे वेदनासे विचलित नहीं हुए। ऐसी थी उनकी शरीरके प्रति विवेकपूर्ण निर्माह वृत्ति, जो उनके अन्तरात्मा होनेकी सूचक थी, बहिरात्मा तो वे जीवनमें प्रायः कभी नहीं रहे होंगे। प्राथमिक १८ वर्षोंसे वे यद्यपि वैष्णवमतमें रहे, किन्तु उनके मनमें अन्तर्द्वन्द्व और वैराग्य एवं विवेक तब भी रहा। इसीसे वे पत्नी, माता आदिको मोहको छोड़ सकें और अत्यन्त ज्ञानवती, धर्मवत्सला, धर्ममाता चिरंजीवाईके अनायास सम्पर्कमें आ गये थे।

इन तीन घटनाओंसे स्पष्टतया उनकी निर्मोहवृत्तिका परिचय मिलता है ।

वे परमोही भी न थे । उनके दर्शनों एवं उपदेश सुननेके लिए रोज परिचित-अपरिचित सैकड़ों व्यक्ति आते-जाते रहते थे और वे अनुभव करते थे कि वर्णीजीकी हमपर कृपा है और हमसे स्नेह करते हैं । पर वास्तवमें उनका न किसी भी व्यक्तिके प्रति राग था और न किसी संस्था या स्थान विशेषसे अनुराग था ।

कभी कुछ लोग उनके सामने किसीकी आलोचना भी करने लगते थे, पर वर्णीजी एकदम मौन-तटस्थ । कभी भी वे ऐसी चर्चामें रस नहीं लेते थे । हरिजन-मन्दिर-प्रवेशपर अपना मत प्रकट करनेपर आवाज आयी कि वर्णीजीकी पीछी-कमण्डलु छीन ली जाय । इसपर उनका सहज उत्तर था कि 'छीन लो पीछी-कमण्डलु, हमारा आत्म-धर्म तो कोई नहीं छीन सकता ।' ऐसी उनमें अपार सहनशीलता थी ।

उनके निकट कोई सहायतायोग्य श्रावक, छात्र या विद्वान् पहुँच जाये, तो तुरन्त उसकी सहायताके लिए उनका हृदय उमड़ पड़ता था और उनका संकेत मिलते ही उनके भक्तगण उसकी पूर्ति कर देते थे—उनके लिए उनकी धैर्य्या खुली रहती थीं । वस्तुतः वे एक महान् सन्त थे, महात्मा थे और महात्माके सभी गुण उनमें थे ।

लोकापवादपर विजय

भारविने कहा है कि 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।'—विकारका निमित्त मिलनेपर भी जिनका चित्त विकृत (विकार युक्त) नहीं होता वे ही धीर पुरुष हैं । सेठ .सुदर्शन, सती सीता जैसे अनेक पवन मनुष्योंके लिए कितने विकारके निमित्त मिले, पर वे अडिग रहे—उनके मन विकृत नहीं हुए, गांधीजीको क्या कम विकारके निमित्त मिले ? किन्तु वे भी अविकृत रहे और लोकमें अभिवन्दनीय सिद्ध हुए ।

बहुत वर्ष बीत गये । वर्णीजी तब समाज-सेवाके क्षेत्रमें आये ही थे । उन्होंने समय-सुधारका बीड़ा उठाया । विवाहोंमें बारातों और फैनारोंमें औरतोंके जानेकी प्रथा थी । यह प्रथा फिजूलखर्ची और अपव्ययकी जनक तो थी ही, परेशानी भी बहुत होती थी । वर्णीजीने इस प्रथाको बन्द करनेके लिए समाजको प्रेरित किया । किन्तु जब उसका कोई असर नहीं हुआ, तो वे स्वयं आगे आये । वे चाहते थे कि बारातमें तथा फैनारोंमें औरतें न जायें, क्योंकि पुरुषोंके लिए काफी परेशानियाँ उठाना पड़ती हैं तथा उनकी सुरक्षाका विशेष खयाल रखना पड़ता है । अतः उनका जाना बन्द किया जाय । परन्तु औरतें यह कब मानने वाली थीं । नीमटोरिया (ललितपुर, उत्तर प्रदेश) में एक बारात गयी । उसमें औरतें भी गयीं । वर्णीजीको जब पता चला तो वे वहाँ पहुँचे और सभी औरतोंको वापिस करा दिया । औरतोंपर उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई । उन्होंने विवेक छोकर वर्णीजीको अनेक प्रकारकी गालियाँ दीं, बुरा-भला कहा और खूब कोसा । किन्तु वर्णीजीपर उनकी गालियोंका कोई असर नहीं हुआ । उनके मनमें जरा भी रोष या क्रोध नहीं आया । फलतः धीरे-धीरे उक्त प्रथा बन्द हो गयी । अब तो सारे बुन्देलखण्डमें बारातमें औरतोंका जाना प्रायः बन्द ही हो गया है । यह थी वर्णीजीकी सहिष्णुता और संकल्प शक्तिकी दृढ़ता ।

दिल्लीमें चातुर्मास हो रहा था । उसी समयकी बात है । कुछ गुमराह भाइयोंने वर्णीजीके विरोधमें एक परचा निकाला और उसमें उन्हें पूंजीपतियोंका समर्थक बतलाया । जब यह चर्चा उन तक पहुँची, तो वे हंसकर बोले—'भइया ! मैं तो त्यागी हूँ और त्यागका ही उपदेश देता हूँ तथा सभीसे—पूंजीपतियों और अपूंजीपतियोंसे त्याग कराता हूँ और त्यागी बनाना चाहता हूँ । इसमें कौन-सी बुराई है ।' वर्णीजीका यह

उत्तर कितना सात्त्विक, मधुर और सहिष्णुताका द्योतक था। वर्णीजी सबके थे, गरीबके भी, अमीरके भी, विद्वान्के भी, अनपढ़के भी, और वृद्ध तथा बच्चोके भी। उनका वात्सल्य सभी पर था। गांधीजीके लिए बिड़ला जैसे कुबेर स्नेहपात्र थे तो उससे कम उनका स्नेह गरीबों या हरिजनोंसे न था। वे उनके लिए ही जिए और मरे। वर्णीजी जैन समाजके गांधी थे। उनकी रग-रग में सबके प्रति समान स्नेह और वात्सल्य था।

हमें बुन्देलखण्डका स्वयं अनुभव है। वह एक प्रकारसे गरीब प्रदेश है। वहाँ वर्णीजीने जितना हित और सेवा गरीबोंकी की है, उतनी अन्यकी नहीं। विद्यार्थी हो, विद्वान् हो। उद्योगहीन हो और चाहे कोई गरीबनी विधवा हो उन सबपर उनकी कातर दृष्टि रहती थी। वे इन सभीके मसीहा थे।

सत्यानुसरण

वर्णीजी वैष्णव कुलमें उत्पन्न हुए। किन्तु उन्होंने अमूढ दृष्टि एवं परीक्षाबुद्धिसे जैनधर्मको आत्म-धर्म मानकर उसे अपनाया। उनका विवेक और श्रद्धा कितनी दृढ़ एवं जागृत रही, यह बात निम्न घटनासे स्पष्ट मालूम हो जाती है। वर्णीजी जब सहारनपुर पहुंचे और वहाँ आयोजित विशाल सार्वजनिक सभामें उपदेशके समय एक अजैन भाईने उनसे प्रश्न किया कि 'आपने हिन्दू धर्म छोड़कर जो जैनधर्म ग्रहण किया तो क्या वे विशेषताएँ आपको हिन्दूधर्ममें नहीं मिलीं?' इसका उत्तर वर्णीजीने बड़े सन्तुलित शब्दोंमें देते हुए कहा कि 'जितना सूक्ष्म और विशद विचार तथा आचार हमें जैन धर्ममें मिला है उतना षड्दर्शनोंमें किसीमें भी नहीं मिला। यदि हो तो बतलायें, मैं आज ही उस धर्मको स्वीकार कर लूँ। मैंने सब दर्शनोंके आचार-विचारोंको गहराईसे देखा और जाना है। मुझे तो एक भी दर्शनमें जैनधर्ममें वर्णित अहिंसा और अपरिग्रहका अद्वितीय एवं सूक्ष्म आचार-विचार नहीं मिला। इसीसे मैंने जैनधर्म स्वीकार किया है। यदि सारी दुनिया जैनधर्म स्वीकार कर ले तो एक भी लड़ाई-झगडा न हो। जितने भी लड़ाई-झगडे होते हैं वे हिंसा और परिग्रहको लेकर ही होते हैं। संसारमें सुख-शान्ति तभी हो सकती है जब अहिंसा और अपरिग्रहका आचार-विचार सर्वत्र हो जाय।' यह है वर्णीजीका विवेक और श्रद्धापूर्वक किया गया सत्यानुसरण। आचार्य अकलङ्कदेवने परीक्षक होने के लिए दो गुण आवश्यक माने हैं—१ श्रद्धा और २ गुणज्ञता (विवेक)। इनमेंसे एकका भी अभाव हो, तो परीक्षक नहीं हो सकता। पूण्य वर्णीजीमें हम दोनों गुण देखते हैं, और इस लिए उन्हें सत्यानुयायी पाते हैं।

अपार करुणा

वर्णीजी कितने कारुणिक और परदुःखकातर थे, यह उनकी जीवन-व्यापी अनेक घटनाओंसे प्रकट हैं। उनकी करुणाकी न सीमा थी और न अन्त था। जो अहिंसक और सन्मार्गगामी थे उनपर तो उनका वात्सल्य रहता ही था, किन्तु जो अहिंसक और सन्मार्गगामी नहीं थे—हिंसक एवं कुमार्गगामी थे, उन पर भी उनकी करुणाका प्रवाह बहा करता था। वे किसी भी व्यक्तिको दुःखी देखकर दुःखकातर हो जाते थे। गत विश्वयुद्धोंकी विनाशलीलाकी खबरें सुनकर उन्हें मर्मन्तिक दुःख होता था। सन् १९४५ में जब आजाद हिन्द फौजके सैनिकोंके विरुद्ध राजद्रोहका अभियोग लगाया गया और उन्हें फाँसीके तख्ते पर चढ़ाया जाने वाला था, उस समय सारे देशमें अंग्रेज सरकारके इस कार्यका विरोध हो रहा था और उनकी रक्षाके लिए धन इकट्ठा किया जा रहा था। उस समय वर्णीजी जवलपुरमें थे। एक सार्वजनिक सभामें, जो धन एकत्रित करनेके लिए की गयी थी, वर्णीजी भी उपस्थित थे। उनका हृदय करुणासे द्रवित हो गया और बोले— 'जिनकी रक्षाके लिए ४० करोड़ मानव प्रयत्नशील हैं उन्हें कोई शक्ति फाँसीके तख्तेपर नहीं चढ़ा सकती। आप विश्वास रखिए, मेरा अन्तःकरण कहता है कि आजाद हिन्द फौजके सैनिकोंका बाल भी बाँका नहीं हो सकता है।' इतना कहा और अपनी चद्दर (ओढ़नेकी) उनकी सहायताके लिए दे डाली। उसे नीलाम

करने पर एक उनके भक्तने २९००) में ले ली । इसका उपस्थित जनता और अध्यक्ष मध्यप्रदेशके तत्कालीन गृहमंत्री पं० द्वारकाप्रसाद मिश्रपर बड़ा प्रभाव पड़ा । वर्णीजीकी करुणाके ऐसे-ऐसे अनेक उदाहरण हैं ।

जगत्कल्याणकी सतत भावना

वर्णीजीमें जो सबसे बड़ी विशेषता थी वह है जगत्के कल्याणकी सतत भावना । विहारसे मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश और दिल्लीकी पदयात्रामें उन्होंने लाखों लोगोंको शराब न पीने, मांस न खाने और हिंसा न करनेका मर्मस्पर्शी उपदेश दिया और उन्होंने उनके इस उपदेशको श्रद्धापूर्वक ग्रहण किया । उनकी इस पदयात्रामें लोगोंने उन्हें बड़ा आदर दिया और उनके प्रति अपूर्व श्रद्धा व्यक्त की । अनेक जगह उनका श्रद्धापूर्वक उन्होंने आतिथ्य किया । आजके विश्वको नस्त देखकर वे हमेशा कहते थे कि 'एक हवाई जहाज लो और साथमें १०/१५ मर्मज्ञ विद्वानोंको लो और यूरोपमें जाकर अहिंसा और अपरिग्रह धर्मका प्रचार करो । साथमें हम भी चलनेको तैयार हैं । जहाँ शराब और मांसकी दुकानें हैं और नाचघर बने हुए हैं वहाँ जाकर सदाचार और अहिंसाका उपदेश करो । आज लोगोंका कितना भारी पतन हो रहा है । देशके लाखों मानवोंका चरित्र इन सिनेमाघरोंसे बिगड़ रहा है, उन्हें बन्द कराओ और भारतीय पुरातन महापुरुषोंके सदाचारपूर्ण चरित्र दिखाओ ।' यह थी वर्णीजीकी विश्वकल्याणकी भावना ।

पूज्य वर्णीजीमें ऐसे-ऐसे अनेकों गुण थे, जिनका यहाँ उल्लेख करना शक्य नहीं । वास्तवमें उनका जीवन-चरित्र महापुरुषका जीवन-चरित्र है । इसी लिए उन्हें करोड़ों नर-नारी श्रद्धापूर्वक नमन करते हैं । उनके गुण हम जैसे पापियोंको भी प्राप्त हों, यह भावना करते हुए उन्हें मस्तक झुकाते हैं ।



प्रतिभामूर्ति पण्डित टोडरमलजी

महामना आचार्य भूतबलि तथा पुष्पदन्तने अट्खण्डागम सिद्धान्त और आचार्य गुणधरने कसाय-पाहुड सिद्धान्त-ग्रन्थोंका प्रणयन करके भगवान् महावीरके अवशिष्ट तत्त्वज्ञान सौर सद्धर्मका विस्तार किया था। यह समय लगभग विक्रमकी पहली शताब्दीका है। कुछ शताब्दियों तक इन सिद्धान्त-ग्रन्थोंका पर्याप्त पठन-पाठन बना रहा—इनपर कई टीकाएँ, निबन्ध और रचनाएँ लिखी गईं। परन्तु कुछ काल बाद इनका पठन-पाठन विरल हो गया और टीकादि ग्रन्थ लुप्त अथवा अनुपलब्ध हो गये। विक्रमकी नवमी शतीमें जैन वाङ्मयके नभमें एक दीप्तिमान् प्रतिभा-प्रकाशपुञ्ज विद्वन्मन्त्रका आविर्भाव हुआ, जिसका नाम आचार्य वीरसेन स्वामी है। वीरसेन स्वामीने उक्त सिद्धान्त-ग्रन्थोंपर विद्वत्ता एवं पाण्डित्यपूर्ण विशाल और महान् धबला तथा जयधवला टीकाएँ लिखीं, जो लगभग नब्बे हजार श्लोक प्रमाण है। जयधवलाके दो तिहाई भागको जिनसेन स्वामीने लिखा, जो वीरसेन स्वामीके बुद्धिमान प्रधान शिष्य थे। इन टीकाओंके आधारसे विक्रम सं० की ग्यारहवीं शताब्दीमें नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तिने गोम्मटसार सिद्धान्तग्रन्थकी रचना की। गोम्मटसार जैन समाजको इतना प्रिय हुआ कि इसके बननेके बाद विद्वानोंमें प्रायः उसीका पठन-पाठन रहा और केशववर्णी, द्वितीय नेमिचन्द्र, अभयचन्द्र आदि विद्वानाचार्यों द्वारा विस्तृत एवं सरल कनड़ी तथा संस्कृत टीकाएँ इसपर लिखी गईं। इस तरह वीरसेन स्वामी द्वारा पुनः प्रवर्तित सिद्धान्तज्ञान-परम्परा तेरहवीं शताब्दी तक अनवच्छिन्न रूपसे चली आई। परन्तु तेरहवीं शताब्दीके बाद अठारहवीं शताब्दी पर्यन्त उसका पठन-पाठन, लिखना-लिखाना प्रायः बन्द हो गया और उनके ज्ञाताओंका अभाव हो गया।

विक्रमकी अठारहवीं शताब्दीके अन्तमें जयपुरकी पवित्र उर्वरा भूमिपर एक दूसरे बहु प्रकाशमान तेजस्वी नक्षत्रका उदय हुआ, जिसका प्रकाश चारों तरफ फैला और जो 'पण्डित टोडरमल' इस नामसे विख्यात एवं विश्रुत हुआ। हम इन्हें इनकी असाधारण विद्वत्ता और असाधारण कार्यसे दूसरे वीरसेन स्वामी कह सकते हैं। वीरसेनस्वामीने जैसा धवलादि टीकाओंके निर्माणका कार्य किया, प्रायः वैसा ही इन महाविद्वान् पण्डित टोडरमलजीने किया। जब गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि गहन सिद्धान्तग्रन्थोंके जानकार दुर्लभ थे—उनका प्रायः अभाव था और तत्त्वज्ञानपरम्परा विच्छिन्न हो गयी थी, उस समय इन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा और अद्भुत क्षयोपशमसे गोम्मटसारादि सिद्धान्तग्रन्थोंके गहन एवं सूक्ष्म तत्त्वों व रहस्योंको ज्ञातकर उनपर पैंसठ हजार श्लोक प्रमाण 'सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका' नामकी विशाल भाषा-टीका रची और अनेकों तत्त्वज्ञान-सुओंको उसके मर्मसे परिचित कराया। गुरुमुखसे पढ़कर पढ़े विषयको दूसरोंके लिये समझाना अथवा उसपर कुछ लेखादि लिखना सर्वथा सरल है। परन्तु जिस गहन तथा सूक्ष्म विषयका उस पर्यायमें किसीसे परिचय अथवा ज्ञान नहीं हुआ उस विषयको दूसरोंके लिये बड़ी सरलतासे समझाना अथवा उसपर विस्तृत टीकादि लिखना बिना असाधारण प्रतिभा और पूर्वजन्मोय श्लक्षण क्षयोपशमके असम्भव है। उनका बनाया मोक्ष-मार्गप्रकाशक हिन्दी भाषाका बेजोड़ गद्यग्रन्थ है। भारतीय समय हिन्दीगद्य-साहित्यमें इसकी तुलनाका एक भी ग्रन्थ दृष्टिमाचर नहीं होता। क्या भाषा, क्या भाव, क्या पदलालित्य और क्या सरलता सबसे भरपूर है। इस ग्रन्थने जैन परम्परामें थोड़ेसे ही समयमें वह महत्त्व प्राप्त कर लिया है जो हिन्दुओंके यहाँ गीताने, मुसलमानोंके यहाँ कुरानने और ईसाइयोंके यहाँ वाईबिलने प्राप्त किया है। काश ! यदि यह ग्रन्थ अधूरा न

रहता, पण्डितजी उसे पूरा कर जाते, तो वह अकेला ही हजार ग्रन्थोंकी पढ़नेकी जरूरतकी पूरा कर देता । फिर भी वह जितना है उतना भी गीतादि जैसा महत्त्व रखता है । पण्डितजीने इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त पुरुषार्थ-सिद्धचुपाय आदि ग्रन्थोंपर भी टीकाएँ लिखी हैं और इस तरह वीरसेनस्वामीकी तरह इनकी समग्र रचनाओंका प्रमाण लगभग एक लाख श्लोक जितना है । ऐसे असाधारण विद्वान्को प्रतिभामूर्ति एवं दूसरे वीरसेन-स्वामी कहना कोई अत्युक्ति नहीं है । सिर्फ अन्तर यही है कि एक आचार्य हैं तो दूसरे गृहस्थ । एकने स्वतंत्र संस्कृत व प्राकृतमें टीकाएँ लिखीं तो दूसरेने पूर्वाधारसे राष्ट्रभाषा हिन्दीमें । लेखनका विस्तार, समालोचकता, शंकासमाधानकारिता, दार्शनिक-विज्ञता, सिद्धान्त-मर्मज्ञता, वीतरागधर्मकी अनन्य-उपासकता तथा परोपकारभावना दोनों विद्वानोंमें निहित हैं । दोनोंका साहित्य ज्ञाननिधि है और दोनों ही अपने-अपने समयके खास युगप्रवर्तक हैं । अतएव पण्डित टोडरमलजीको आचार्य अथवा ऋषि तहीं तो आचार्यकल्प अथवा ऋषिकल्प तो हम कह ही सकते हैं ।

पण्डितजी इतने प्रतिभावान् होते हुए भी जब अपनी लघुता प्रकट करते हैं और अपनेको 'मन्द बुद्धि' लिखते हैं तो उनकी सात्त्विकता, प्रामाणिकता और निरभिमानताका मूर्तिमान चित्र सामने आ जाता है । उनकी इन पंक्तियोंको पढ़िये—

“जातें गोम्मटसारादि ग्रन्थनि विषैं संदृष्टिनि करि जो अर्थ प्रकट किया है सो संदृष्टिनिका स्वरूप जानै विना अर्थ जाननेमें न आवे तातैं मेरी मति अनुसारि किंचिन्मात्र अर्थ संदृष्टिनिका स्वरूप कहीं हौं तहाँ जो किछू चूक होइ सो मेरि मंद बुद्धिकी भूलि जानि बुद्धिबंत कृपा करि शुद्ध करियो” —अर्थसंदृष्टिअधिकार ।

यही कारण है कि साधर्मी भाई रायमलके^१, जो पण्डितजीके गोम्मटसारादिकी टीका लिखनेमें प्रेरक थे और जैन शासनके सार्वत्रिक प्रचारको उत्कट भावनाको लिये हुए एक विवेकवान धार्मिक सत्पुरुष थे, लिखे अनुसार पण्डितजीके पास देश-देशके प्रश्न आते थे और वे उनका समाधान करके उनके पास भेजते थे । इनकी इस परिणतिका ही यह प्रभाव था कि उस समय जयपुरमें जो जैनधर्मकी महिमा प्रवृत्त हो रही थी वह रायमल साधर्मीके शब्दोंमें 'चतुर्थ कालवत्' थी ।

यदि इस प्रतिभामूर्ति विद्वान्का उदय न हुआ होता तो आज जो गोम्मटसारादि ग्रन्थोंके अभ्यासी विद्वान् व स्वाध्यायप्रेमी दिख रहे हैं वे शायद एक भी न दिखते और जयपुर बादको पं० जयचन्दजी, सदा-सुखजी आदि विद्वन्मणियोंको पैदा न कर पाता । इस सबका श्रेय जयपुरके इसी महाविद्वान्को है । साधर्मी भाई रायमलने यह ठीक ही लिखा है^२ कि—“अबारके अनिष्ट काल विषैं टोडरमलजीके ज्ञानका क्षयोपशम विशेष भया । ए गोम्मटसार ग्रन्थका बंचना पाँच सै बरस पहली था । ता पीछे बुद्धिकी मंदता करि भाव सहित बंचना रहि गया । अब फेरि याका उद्योत भया । बहुदि वर्तमान काल विषैं यहाँ धर्मका निमित्त है तिसा अन्यत्र नाहीं ।”

पण्डित टोडरमलजी भारतीय साहित्य और जैन वाङ्मयके इतिहासमें एक महाविद्वान् और महा-साहित्यकारके रूपमें सदा अमर रहेंगे । उनके सिद्धान्तमर्मज्ञता, समालोचकता और दार्शनिक अभिज्ञता आदि कितने ही ऐसे गुण हैं, जिनपर विस्तृत प्रकाश डालना चाहता था; परन्तु समयाभाव और शीघ्रताके कारण उसे इस समय छोड़ना पड़ रहा है । वस्तुतः पं० टोडरमलजीपर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जाना चाहिए, जैसी तुलसीदासजी आदिपर लिखी गई हैं ।

१-२. देखो, 'साधर्मी भाई रायमल' लेखगत उनका आत्मपरिचयात्मक लेखपत्र, वीर-वाणी वर्ष १, अंक २ ।

श्रुत-पञ्चमी

श्रीवृषभादिवीरान्तं रागद्वेषविवर्जितम् ।
जिनं नत्वा गुरुं चेति श्रुतं नौमि जिनोद्भवम् ॥

दिगम्बरजैनपरम्परायां महावीर-जन्यत्युत्सववदेव श्रुत-पञ्चम्युत्सवोऽपि महताऽऽदरेण प्रतिवर्षं सोल्लासं सम्पद्यते । तद्विषये स्वे स्वे स्थाने सर्वे जैनाः सम्भूय श्रुतपूजां प्रकुर्वते । श्रुतोत्पत्तेश्चैतिह्यमाकर्णयन्ति । तन्माहात्म्यं चावधारयन्ति । प्रसीदन्ति च मुहुर्मुहुः स्वमनस्सु । धन्योऽयं दिवसः । धन्यास्ते महाभागाः यैस्मिन् दिवसेऽस्मत्कृते स्वहितप्रदर्शकः श्रुतालोकः प्रदत्तः । यदालोकेनाद्यावधि पश्यामो वयं स्वहितस्य पन्थानम् । यदि नाम न स्याच्छ्रुतालोकोऽयं न जाने पथभ्रष्टाः सन्तः क्व गच्छेम वयम् । 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' इति सतां वचनमनुस्मृत्यास्माभिः श्रुतदेवताजनमदातुः स्मरणार्थं स्वस्य कृतज्ञता-प्रकाशनार्थं चेदं श्रुतपञ्चमीतिपर्वं सर्वैशिशिष्टं सम्पादनीयम् । सततं श्रुताभ्यास-पठन-पाठनदत्तचेतोभिरव भाव्यम् । सर्वत्र च श्रुतप्रचारः कार्यः । केवलमेकत्र स्थाने शास्त्राध्येकीकृत्य तेभ्य अर्घ्यप्रदानं न श्रुतपूजा श्रुतोपासना वा, अपितु नित्यं प्रसन्नेन मनसा शास्त्राध्ययनं गृहे गृहे शास्त्रप्रवेशः शास्त्रदानं शास्त्रप्रकाशनं चेत्येवं श्रुतप्रचारः श्रुतप्रसारो वा श्रुतपूजा विज्ञेया । श्रावकस्य षडावश्यकेषु 'देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः ।' इत्यादिना स्वाध्यायस्यावश्यककर्तव्यत्वेन निर्देशः कृतः । श्रावकाचार-साध्वाचारमर्मज्ञेन विदुषा श्रीमदाशाधरेण श्रुतपूजा देवपूजातुल्यैवाभिहिता—

ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते यजन्ते जिनमञ्जसा ।

न किञ्चिदन्नरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः ॥

—सागारधर्मांते २-४४ ।

स्वामिसमन्तभद्राचार्येणाप्युक्तं देवागमे—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्व-प्रकाशने ।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

अतएव पूजा-भक्त्यादिषु श्रुतस्यैव भक्तिः प्रार्थिता, न मत्यादिषुष्टयस्य, संसारवारकत्वाभावात् मोक्षकारणत्वाभावाच्च । श्रुतस्य तु तदुभयकार्यकारित्वात् । तथा हि—

श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः श्रुते भक्तिः सदाऽतु मे ।

संज्ञानमेव संसारवारणं मोक्षकारणम् ॥

इत्थं श्रुतस्य माहात्म्यं विदितमेव ।

साम्प्रतं श्रुतोत्पत्तेः किञ्चिदैतिह्यं विलिख्यते । यद्यपि श्रुतावतारादिग्रन्थेषु श्रुतोत्पत्तैरैतिह्यं निबद्धमेव तथापि सर्वजनावबोधार्थमत्र संक्षेपतः तन्निगद्यते । तथा हि—

षट्खण्डागमस्य टीकायां धवलायां वीरसेनाचार्येण कर्तुं धिवेचनप्रसङ्गेन कर्ता द्विविधः प्रोक्तः—अर्थकर्ता ग्रन्थकर्ता च । तत्रार्थकर्ता द्रव्यादिचतुष्टयापेक्षया चतुर्विधो निरूपितः—द्रव्यकर्ता क्षेत्रकर्ता कालकर्ता भावकर्ता च । अष्टादशदोषविमुक्तश्चतुर्विधोपसंगं द्वाविंशतिपरीषद्वाहतिरक्रान्तो योजनान्तरद्वारसमीपस्थाष्टादशभाषासप्तशत-

क्षुल्लकभाषासमन्विततिर्यग्देवमनुष्यभाषाकारन्यूनधिकभावातीतमधुरमनोहरगम्भीरविशदवागतिशयसम्पन्नः
 शतेन्द्रप्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्ता । क्षेत्रतोऽर्थकर्ता पञ्चशैलपुरे (राजगृहनगरसमीपे) रम्ये पर्वतोत्तमे
 विपुलाचले भव्यलोकानां हितार्थं महावीरेणार्थः कथितः । इत्थं स एव विपुलाचलस्थो भव्यजीवानामर्थोपदेशको
 महावीरः क्षेत्रकर्ता विज्ञेयः । कालतोऽर्थकर्ताऽभिधीयते—

इम्मस्से वसप्पिणोए चउत्थ-सममस्स पच्छिमे भाए ।
 चोतीस-वास-सेसे किञ्चि वि सेसुणए संते ॥
 वासस्स पढममासे पक्खम्मि सावणे बहुले ।
 पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजम्मि ॥

आभ्यां गाथाभ्यामिदमुक्तम्—अस्यामवसपिण्यां चतुर्यकालस्य दुःषमासुषमानामकस्यान्तिमे भागे
 किञ्चिन्न्यूनचतुस्त्रिंशद्वर्षावशेषे वर्षस्य प्रथममासे श्रावणोऽसितपक्षे प्रतिपदिवसे पूर्वाह्णेऽभिजिन्नक्षत्रे धर्मतीर्थो-
 त्पत्तिः (वीरशासनोत्पत्तिः) जाता । तात्पर्यामिदं यच्छ्रावणकृष्णप्रतिपदिवसे भगवता तीर्थकरेण महावीरेण
 स्वदिव्यध्वनिना भव्यलोकस्य हितमुपदिष्टमिति । अतएव श्रावणकृष्णप्रतिपदिवसः समग्रजैनसंसारे 'वीर-
 शासन-जयन्ति' इति नाम्ना पर्वं प्रख्यातमवाप । वीरजयन्तिवद्वीरशासनजयन्त्यपि सम्प्रति क्वचित्क्वचित्
 समायुज्यते जैनैः । इदानीं भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते—कर्मचतुष्टयमुक्तोऽनन्तचतुष्टयसम्पन्नो नवकेवललब्धि-
 संयुतो महावीरो भावश्रुतमुपदिशतीति भावतोऽर्थकर्ता समभिधीयते । तेन महावीरेण केवलज्ञानिना कथितार्थ-
 स्तस्मिन्नेव काले तत्रैव क्षेत्रे क्षायोपशमिकमत्यादिज्ञानचतुष्टयसम्पन्नेन जीवाजीवविषयसन्देहविनाशनाथ-
 मुपगतवद्धर्मान-पादमूलेन गौतमेन्द्रभूतिनाऽवधारितः । इत्थं श्रुतपर्यायेण परिणतो गौतमो द्रव्यश्रुतस्य
 कर्ता । तस्माद् गौतमाद् ग्रन्थरचना जाता इति । तेन गौतमेन द्विविधमपि श्रुतं लोहार्यस्य संचारितम् ।
 तेनापि जम्बूस्वामिनः । एवं परिपाटीक्रमेण एते त्रयोऽपि महाभागाः सकलश्रुतधारका भणिताः । परिपाटी-
 क्रममनवेक्ष्य च संख्यातसहस्राः सकलश्रुतधारका बभूवुः । गौतमदेवो लोहार्यो जम्बूस्वामी चैते त्रयोऽपि सप्त-
 विधलब्धिसम्पन्नाः सकलश्रुतपारंगता भूत्वा केवलज्ञानमवाप्य निर्वृति (मुक्ति)ं प्रापुः । ततो विष्णुनन्दि-
 मित्रादयः पञ्चापि चतुर्दशपूर्वधारका जाताः । तदनन्तरं विशाखाचार्यादय एकादशाचार्या एकादशाना-
 मङ्गानामुत्पादपूर्वादिदशपूर्वाणां च पारंगताः संजाताः । शेषोपरिमच्चतुर्णां पूर्वाणामेकदेशधाराश्च । ततो नक्षत्रा-
 चार्यादयः पञ्चाचार्या एकादशानामङ्गानां पारंगताश्चतुर्दशानां च पूर्वाणामेकदेशज्ञातारः सम्भूताः । ततः सुभद्रा-
 दयश्चात्वार आचार्याः सामस्त्येनाचाराङ्गधारकाः शेषाङ्गपूर्वाणामेकदेशधारकाः सम्भवन् । एतेषां सर्वेषां
 कालः ६८३ वर्षपरिमितः । वीरनिर्वाणात् ६८३ वर्षाणि यावदङ्गश्रुतज्ञानमवस्थितम् ।

ततः सर्वेषामङ्गानां निखिलपूर्वाणां चैकदेशः श्रुतबोध आचार्यपरम्परया धरसेनाचार्यं सम्प्राप्त इति ।
 तेन धरसेनाचार्येण श्रुतवत्सलेनाष्टाङ्गमहानिमित्तपारतेन ग्रन्थविच्छेदो भविष्यतीति जातश्रुतविच्छेदभयेन
 महिमानगर्यां समायोजिते विशिष्टधर्मोत्सवे सम्मिलितानां दक्षिणापथाचार्याणां समीपे एको लेखः (पत्रात्मकः)
 प्रेषितः । तल्लेखात् धरसेनाचार्यस्य श्रुतरक्षणाभिप्रायं विज्ञाय तैराचार्यैर्विद्याग्रहण-धारणसमर्थो धवलामल-
 बहुविधविनयविभूषिताङ्गो सुशीलो देश-कुल-जातिशुद्धी सकलकलापारंगतौ द्वौ साधू धरसेनाचार्यसमीपे सौराष्ट्र-
 देशस्थे गिरिनगरे प्रेषितौ । निशायाः पश्चिमे प्रहरे धरसेनाचार्येणातिविनयसम्पन्नो धवलवर्णो शुभो द्वौ वृषभौ
 स्वप्ने दृष्टौ । एवंविधं सुस्वप्नं दृष्ट्वा प्रसन्नेन चेतसा धरसेनाचार्येण 'जयउ सुयदेवदा'—जयतु श्रुतदेव-
 तेति संलपितम् । तस्मिन्नेव दिवसे प्रातः तौ द्वावपि साधू समागतौ । ताभ्यां धरसेनाचार्यस्य पूर्णतया विनया-
 चारो विहितः । तथापि तयोः परीक्षणार्थं सुपरीक्षा हि हृदयसन्तोषकरेति सञ्चिन्त्य हीनाधिकवर्णयुक्ते द्वे
 विद्ये साधयितुं प्रदत्ते । तौ प्रत्युक्तं चैते विद्ये षष्ठोपवासेन साधनीये । तदनन्तरं तयोर्द्वे विकृताङ्गे विद्यादेवते

दृष्टिपथमाजगमतुः । तयोर्मध्ये एकोद्गतदन्ता अपरैकनेत्रा । न चैषो देवतानां स्वभाव इति विचिन्त्य मंत्रव्याकरण-
शास्त्रकुशालाभ्यां ताम्यां ते विद्ये शुद्धीकृत्य पुनः साधिते । ततश्च ते विद्यादेवते स्वस्वभावस्थिते दृष्टे । पुन-
स्ताभ्यां सर्वमेतद्वृत्तं धरसेनाचार्यं प्रति निवेदितम् । धरसेनाचार्येण ज्ञातश्रुतग्रहणयोग्यताविशिष्टपात्रेण सन्तु-
ष्टेन शुभतिथौ शुभनक्षत्रे शुभदिवसे ताम्यां सिद्धान्तग्रन्थः प्रारब्धः । पुनः क्रमेण व्याचक्षमाणेन तेन धरसेना-
चार्येणाषाढमासशुक्लपक्षैकादशम्यां पूर्वाह्ने ग्रन्थः समाप्तिं नीतः । तेन सन्तुष्टैर्भूतविशेषैर्देवैस्तदा तयोर्मध्ये
एकस्य बलि (नेवेद्य) पुष्पादिभिः महती पूजा कृता । तेनाचार्येण धरसेनेनैकस्य भूतबलीति नाम कृतम् ।
अपरस्य भूतविशेषैर्देवैरेव पूजितस्य समीकृतास्तव्यस्तदन्तस्य पुष्पदन्त इति संज्ञा कृता । एताभ्यामेवाचार्या-
भ्यां षट्खण्डागमस्य धरसेनाचार्यतः पठितस्य ग्रन्थ-रचना कृता । यद्यपि अल्पायुक्तेण पुष्पदन्ताचार्येण विंशति-
प्ररूपणासमन्वितसत्प्ररूपणाया एव सूत्राणि रचितानि, भूतबल्याचार्यस्य सविधे जिनपालितद्वारा प्रेषितानि
च, भगवता भूतबलिभट्टारकेण महाकर्मप्रकृतिप्रामृतस्य विच्छेदो भविष्यतीति विचार्य द्रव्यप्रमाणानुगमादि-
निखिलषट्खण्डागमश्रुतस्य निवन्धनं कृतम्, तथापि खण्डसिद्धान्तापेक्षया तावुभावाचार्यौ श्रुतस्य (षट्खण्डा-
गमस्य) कर्तारवभिधीयते ।

एवं मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमानभट्टारकः, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी, उपग्रन्थकर्तारो भूतबलि-पुष्पदन्तादयो
वीतराग-द्वेष-मोहा मुनिवरा इत्यवचेयम् । श्रुतनिवन्धनविषयकमेतावन्मात्रमेव वृत्तं वीरसेनाचार्येण धवला-
टीकायां निबद्धमस्ति । अतस्तदुक्तवचनात् श्रुतारम्भतिथिर्न विज्ञायते । तस्मात्तु केवलमिदमेवावगम्यते यच्छुभ-
तिथौ शुभनक्षत्रे शुभवारे ताम्यां श्रुताभ्यासः समारब्धः । आषाढमासशुक्लपक्षैकादशम्यां च समाप्तिं नीतः ।

किन्तु श्रीमदिन्द्रनन्दिकृते श्रुतावतारे पुस्तकाकारेण निबद्धस्य श्रुतस्य (षट्खण्डागमस्य) तिथेः स्पष्ट-
तयोल्लेखः कृतः । तथा हि—

ज्येष्ठसितपक्षपञ्चम्यां चातुर्वर्ण्यसंघसमवेतः ।
तत्पुस्तकोपकरणैर्व्यधात् क्रियापूर्वकं पूजाम् ॥
श्रुतपञ्चमीति तेन प्रख्यातिं तिथिरियं परामाप ।
अद्यापि येन तस्यां श्रुतपूजां कुर्वते जैनाः ॥

अत एतदप्रमाणाज्येष्ठशुक्ला पञ्चमी समुपलब्धस्य निबद्धश्रुतस्य तिथिरिति निश्चीयते । अत्र
सन्देहस्य किमपि कारणं नास्ति; तद्वचनस्य प्रामाण्याङ्गीकारात् ततोऽस्यां तिथौ श्रुतपञ्चमीसमारोहः सर्व-
जनैः समुल्लासपूर्वकं समायुज्यते ।



जम्बूजिनाष्टकम्^१

यदीयबोधे सकलाः पदार्थाः समस्तपर्याययुता विभान्ति ।
 जितारिकर्माष्टकपापपुञ्जो जिनोऽस्तु जम्बूमम मार्गदर्शी ॥१॥
 अभूत्कलावन्तिमकेवली यो निरस्तसंसारसमस्तमायः ।
 समुज्ज्वलत्केवलबोधदीपो जिनोऽस्तु जम्बूमममार्गदर्शी ॥२॥
 विहाय यो बाल्यवयस्यसीमान्भुञ्जभोगान्करुणान्तरात्मा ।
 प्रपन्न-निर्वेद-दिगम्बरत्वो जिनोऽस्तु जम्बूमम मार्गदर्शी ॥३॥
 कृते विवाहेऽपि घृतो न कामो अणोरणीयानपि भोगवर्गे ।
 निजात्महितभावनया प्रबुद्धो जिनोऽस्तु जम्बूमम मार्गदर्शी ॥४॥
 वार्ता यदीयां विनिशम्य नक्तं चौरोऽपि^२ चौरत्वमपास्य यस्य ।
 सम्पर्कमासाद्य मुनिर्बभूव जिनोऽस्तु जम्बूमम मार्गदर्शी ॥५॥
 जिनेन्द्रदीक्षां सुखदां गृहीत्वा निहत्य यः कर्मचतुष्टयं च ।
 यः केवली भव्यहितोऽन्तिमोऽसौ जिनोऽस्तु जम्बूमम मार्गदर्शी ॥६॥
 हितोपदेशं कुर्वन् हितैषी समानयद्धर्मपथे सुलोकात् ।
 समन्ततो यो विजहार लोके जिनोऽस्तु जम्बूमम मार्गदर्शी ॥७॥
 स्वयंवृतो मुक्तिरमाविलासैः सद्यो विमुक्तो मथुरापुरीतः ।
 स विश्वचक्षुर्विबुधेन्द्रवन्द्यो जिनोऽस्तु जम्बूमम मार्गदर्शी ॥८॥



१. जब मैं सन् १९४०-४२ में मथुराके ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम (जैन गुरुकुल) में दो वर्ष प्राचार्य रहा, तभी यह 'जम्बू-जिनाष्टक' रचा था। आश्रमके छात्र इसे प्रार्थनाके रूपमें शामको मन्दिरजीमें बोलते थे। यद्यपि जम्बूस्वामीका मोक्ष विपुलगिरि (राजगृह, विहार) से हुआ है, तथापि चौरासी, मथुरासे उनके मोक्ष होनेकी अनुश्रुति होनेसे उसी आधारपर यह रचा गया था।

२. विद्युच्चरः।

दशलक्षण धर्म

अग्निके संयोगसे पानी गर्म हो जाता है और उसके असंयोगमें वह ठण्डा रहता है। ठण्डापन पानी-का निज स्वभाव है, उसका अपना धर्म है और गर्मपना उसका स्वभाव नहीं है, विभाव है, अधर्म है। वस्तु-का अपनी प्राकृतिक (स्वाभाविक) अवस्थामें रहना उसका अपना स्वरूप है, धर्म है। पानीको अग्निका निमित्त न मिले तो पानी हमेशा ठण्डा ही रहेगा, वह कभी गर्म न होगा।

इसी तरह कर्मके निमित्तसे आत्मामें क्रोध, मान, माया और लोभ आदि विकार (विभाव) उत्पन्न होते हैं। यदि आत्माके साथ कर्मका संयोग न रहे तो उसमें न क्रोध, न मान, न माया और न लोभादि उत्पन्न होंगे। इससे जान पड़ता है कि आत्मामें उत्पन्न होनेवाले ये संयोगज विकार हैं। अतएव ये उसके स्वभाव नहीं हैं, विभाव हैं, अधर्म हैं। कर्मकी प्रागभाव और प्रव्वसाभावरूप अवस्थामें वे विकार नहीं रहते। उस समय वह अपने क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच आदि निज स्वभावमें स्थित होता है। यथार्थमें वस्तुका असली स्वभाव उसका धर्म है और नकली—औपाधिक स्वभाव अर्थात् विभाव उसका अधर्म है। आचार्य कुन्दकुन्दने स्पष्ट कहा है कि 'वस्तु-सहायोधर्मो' वस्तुका स्वभाव धर्म है और विभाव अधर्म। आत्माका असली स्वभाव क्षमादि है, इसलिए वह उसका धर्म है और क्रोधादि उसका नकली स्वभाव अर्थात् विभाव है, अतः वह उसका अधर्म है।

इस सामान्य आधारपर जीवोंको अपने स्वभावमें स्थित रहनेका और कर्मजन्य विभावोंसे दूर रहने अथवा उनका सर्वथा त्याग कर देनेका उपदेश दिया गया है।

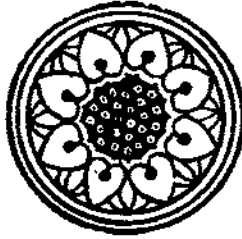
आत्मामें कर्मके निमित्तसे यों तो अनगिनत विकार प्रादुर्भूत होते हैं। पर उन्हें दश वर्गों (भागों)में विभक्त किया जा सकता है। वे दश वर्ग ये हैं :

- | | |
|---------------|------------------|
| १. क्रोध वर्ग | ६. हिंसा वर्ग |
| २. मान वर्ग | ७. काम वर्ग |
| ३. माया वर्ग | ८. चोरी वर्ग |
| ४. लोभ वर्ग | ९. परिग्रह वर्ग |
| ५. झूठ वर्ग | १०. अन्नह्य वर्ग |

मुमुक्षु (गृहस्थ या साधु) जब आत्म-स्वभावको प्राप्त करनेके लिए तैयार होता है तो वह उक्त क्रोधादिको अहितकारी और क्षमादिको हितकारी जानकर क्रोधादिसे निवृत्ति तथा क्षमादिकमें प्रवृत्ति करता है। सर्वप्रथम वह क्षमाको धारण करता है और क्रोधके त्यागका केवल अभ्यास ही नहीं करता, अपितु उसमें प्रगाढ़ता भी प्राप्त करता है। इसी तरह मार्दवके पालन द्वारा अभिमानका, आर्जवके आचरण द्वारा माया-का, शौचके अनुपालन द्वारा लोभका, सत्यके धारण द्वारा झूठका, संयमको अपनाकर हिंसाका, तपोमय वृत्तिके द्वारा काम (इच्छाओं) का, त्यागधर्मके द्वारा चोरीका, आर्किचन्यको उपासना द्वारा परिग्रहका और ब्रह्मचर्य पालन द्वारा अन्नह्यका निरोध करता है और इस प्रकार वह क्षमा आदि दश धर्मोंके आचरण द्वारा क्रोध आदि दश आत्म-विकारोंको दूर करनेमें सतत संलग्न रहता है। ज्यों-ज्यों उसके क्षमादि गुणोंकी वृद्धि होती

जाती है त्यों-त्यों उसके वै क्रोधादि विकार भी अल्पसे अल्पतर और अल्पतम होते हुए पूर्णतः अभावको प्राप्त हो जाते हैं। जब उक्त गुण सतत अभ्याससे पूर्णरूपमें विकसित हो जाते हैं तो उस समय आत्मामें कोई विकार शेष नहीं रहता और आत्मा, परमात्मा बन जाता है। जब तक इन विकारोंका कुछ भी अंश विद्यमान रहता है तब तक वह परमात्माके पदको प्राप्त नहीं कर सकता।

जैन दर्शनमें प्रत्येक आत्माको परमात्मा होनेका अधिकार दिया गया है और उसका मार्ग यही 'दश धर्मका पालन' बतलाया गया है। इस दश धर्मका पालन यों तो सदैव बताया गया है और साधुजन पूर्णरूपसे तथा गृहस्थ आंशिक रूपसे उसे पालते भी हैं। किन्तु पर्युषण पर्व या दशलक्षण पर्वमें उसकी विशेष आराधना की जाती है। गृहस्थ इन दश धर्मोंकी इन दिनों भक्ति-भावसे पूजा करते हैं, जाप देते हैं और विद्वानोंसे उनका प्रवचन सुनते हैं। जैनमात्रकी इस पर्वके प्रति असाधारण श्रद्धा एवं निष्ठा-भाव है। जैन धर्ममें इन दश धर्मोंके पालनपर बहुत बल दिया गया है।



क्षमावणी : क्षमापर्व

भारतवर्षमें प्राचीनकालसे दो संस्कृतियोंकी अविराम-धारा बहती चली आ रही है। वे दो संस्कृतियाँ हैं—१ वैदिक और २. श्रमण। 'संस्कृति' शब्दका सामान्यतया अर्थ आचार-विचार और रहन-सहन है। जिनका आचार-विचार और रहन-सहन वेदानुसारी है उनकी संस्कृति तो वैदिक संस्कृति है तथा जिनका आचार-विचार और रहन-सहन श्रमण-परम्पराके अनुसार है उनकी संस्कृति श्रमण-संस्कृति है। 'श्रमण' शब्द प्राकृत भाषाके 'समण' शब्दका संस्कृतरूप है। और यह 'समण' शब्द दो पदोंसे बना है—एक 'सम' और दूसरा 'अण', जिनका अर्थ है सम—इन्द्रियों और मनपर विजयकर समस्त जीवोंके प्रति समता भावका 'अण'—उपदेश करनेवाला महापुरुष (महात्मा-सन्त-साधु)। ऐसे आत्मजयी एवं आत्मनिर्भर महात्माओं द्वारा प्रवर्तित आचार-विचार एवं रहन-सहन ही श्रमण-संस्कृति है। इन श्रमणोंका प्रत्येक प्रयत्न और भावना यह होती है कि हमारे द्वारा किसी भी प्राणीको कष्ट न पहुँचे, हमारे मुखसे कोई असत्य वचन न निकले, हमारे द्वारा स्वप्नमें भी परद्रव्यका ग्रहण न हो, हम सदैव ब्रह्मास्वरूप आत्मामें ही रमण करें, दया, दम, त्याग और समाधि ही हमारा धर्म (कर्त्तव्य) है, परपदार्थ हमसे भिन्न है और हम उनके स्वामी नहीं हैं। वास्तवमें इन श्रमणोंका प्रधान लक्ष्य आत्म-शोधन होता है और इसलिए वे इन्द्रिय, मन और शरीरको भी आत्मीय नहीं मानते—उन्हें भौतिक मानते हैं। अतः जिन बातोंसे इन्द्रिय, मन और शरीरका पोषण होता है या उनमें विकार आता है, उन बातोंका श्रमण त्याग कर देता है और सदैव आत्मिक चरम विकासके करनेमें प्रवृत्त रहता है। यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति एवं चर्या साधारण लोगोंको कुछ कठिन जान पड़ेगी। किन्तु वह असाधारण पुरुषोंके लिए कोई कठिन नहीं है।

संसारमें रहते हुए परस्पर व्यवहार करनेमें चूक होना सम्भव है और प्रमाद तथा कषाय (क्रोध, अहंकार, छल और लोभ) की सम्भावना अधिक है। किन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि न प्रमाद अच्छा है और न कषाय। दोनोंसे आत्माका अहित ही होता है—हित नहीं होता। यहाँ तक कि उनसे परका भी अहित हो सकता है—दूसरोंको कष्ट पहुँच सकता है और उनसे उनके दिल दुःखी हो सकते हैं तथा उनके हृदयको आघात पहुँच सकता है।

अतएव इन श्रमणोंने अनुभव किया कि दैवसिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक ऐसे आयोजन किये जायें, जिनमें व्यक्ति अपनी भूलोंके लिए दूसरोंसे क्षमा मांगे और अपनेको कर्मबन्धनसे हलका करे। साधु तो दैवसिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण (क्षमायाचना) करते हैं। पर गृहस्थोंके लिए वह कठिन है। अतएव वे ऐसा वार्षिक आयोजन करते हैं जिसमें वे अपनी भूल-चूकके लिए परस्परमें क्षमा-याचना करते हैं। यह आयोजन उनके द्वारा सालमें एक बार उस समय किया जाता है, जब वे भाद्रपद शुक्ला ५मीसे भाद्रपद शुक्ला १४ तक दश दिन क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आर्किचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मके अंगोंकी सभक्ति पूजा, उपासना और आराधना कर अपनेको सरल और द्रवित बना लेते हैं। साथ ही प्रमाद और कषायको दुःखदायी समझकर उन्हें मन्द कर लेते हैं तथा रत्नत्रय (सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचार)को आत्माकी उपादेय निधि मानते हैं। फलतः वे कषाय या प्रमादसे हुई अपनी भूलोंके लिए एक-दूसरेसे क्षमा मांगते और स्वयं उन्हें

क्षमा करते हैं। ऐसे आयोजनको 'क्षमापर्व' कहते हैं और वह भाद्र मासकी समाप्तिपर आश्विन कृष्ण १ को मनाया जाता है। इस दिन सभी श्रमणोपासक—गृहस्थ और श्रमणोपासिका—गृहस्थनी एक-दूसरेसे अपनी एक सालकी भूलोंके लिए क्षमा-याचना करते हैं और उस समय निम्न मार्मिक भाव-व्यक्त करते हैं—

खम्मामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।

मिस्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केणचिद ॥

'मैं समस्त जीवोंको क्षमा करता हूँ और वे मुझे क्षमा करें। समस्त जीवोंपर मेरा मैत्रीभाव है, किसीके साथ मेरा वैर नहीं है।'

इस प्रकारसे क्षमाके वचन—बाणीका परस्परमें व्यवहार होनेसे इस 'क्षमा पर्व'को 'क्षमावाणी' पर्व तथा उस दिन क्षमाकी अवनी—भूमि स्वयं बनने-बनानेसे 'क्षमावनी' या 'क्षमावणी' पर्व भी कहते हैं। निःसन्देह यह पर्व वर्षोंसे या एक वर्षके भरे हुए मनके कालुष्य—मलको धो देता है और मित्रता एवं बन्तुत्वभावको स्थापित करता है।



वीरनिर्वाण पर्व : दीपावली

भारतीय संस्कृति अध्यात्मप्रधान होनेके कारण यहाँ प्रत्येक पर्वकी अपनी-अपनी कुछ विशेषता है और उन पर्वोंका सम्बन्ध किसी-न-किसी महापुरुषसे है, जो विश्वको कुछ देता है। तात्पर्य यह कि भारतीय पर्व प्रायः महापुरुषोंसे सम्बन्धित हैं और वे उनकी स्मृतिमें स्थापित हुए हैं।

यहाँ पर्वोंसे हमारा अभिप्राय विशेषतया नैतिक एवं धार्मिक पर्वोंसे है। यों तो रीतिक और सामाजिक पर्वोंकी भारतवर्षमें और प्रत्येक जातिमें कमी नहीं है। इनमें कितने ही परम्परागत हैं और जिन्हें जनसमुदाय आज भी अपनाये हुए है। पर उनमें कितना तथ्यांश है, यह कह सकना कठिन है। एक परीक्षक बुद्धि अवश्य उनकी सचाई या असचाईको आंक सकती है। यह अवश्य है कि इन पर्वोंसे लोगोंको मनोविनोद और इन्द्रियपोषणकी सामग्री सहजरूपमें मिल जाती है। किन्तु उनसे न विवेक जागृत होता है और न आध्यात्मिकता जगती है, जो जीवनको उन्नत और वास्तविक सुखी बनानेके लिए आवश्यक है।

पर जिन पर्वोंके बारेमें हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं वे हैं धार्मिक और नैतिक पर्व। इन पर्वोंसे अवश्य हमारा विवेक जागृत होता है, चेतना जागती है और हम गलत मार्गसे सही मार्गपर आ जाते हैं। इन पर्वोंसे अध्यात्मप्रेमियोंको नीति, धर्म और अध्यात्मकी शिक्षा मिलती है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि कितने लोग इस सांचेमें ढलते हैं और निश्चल भावसे अपनेको आध्यात्मिक बनाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि इन धार्मिक एवं नैतिक पर्वोंके अवसर पर, जब उनसे पूरी धार्मिकता सीखनी चाहिए, मनो-विनोद और अप्रत्यक्षतः इन्द्रियपोषणके आयोजन किये जाते हैं। लगता है कि हमारी मनोदशा उत्तरोत्तर ऐसी होती जा रही कि भोगोंका त्याग भी न करना पड़े और धर्म एवं नीतिका पालन भी हो जाये। इस प्रसंगमें पाहुड़दोहाकारका निम्न वचन याद आ जाता है—

वेपथेहि ण गम्मई वेमुहसूई ण सिज्जए कंथा ।
विणिण ण हुंति अयाणा इंदियसोक्खं च मोक्खं च ॥

—पा० दो० २१३ ।

‘दो रास्तोंसे जाना नहीं होता, दो मुखोंसे सुई कथरी नहीं सीती। हे अजान ! इसी तरह ये दो कार्य नहीं हो सकते कि इन्द्रियसुख भी प्राप्त हो और मोक्ष भी मिल जाय। इनमेंसे प्रथम मार्गपर चलनेसे संसार होगा और दूसरे मार्ग (भोगत्याग) से मोक्ष प्राप्त होगा।’

हिन्दीके एक विद्वान् कविने भी यही कहा है—

दो-मुख सुई न सीवे कंथा, दो-मुख पंथी चले न पंथा ।
यों दो काज न होंय सयाने, विषय-भोग अरु मोक्ष पयाने ॥

धार्मिक एवं नैतिक पर्वोंका सम्बन्ध जिन महापुरुषोंसे है, वास्तवमें उनके सन्देशों, उपदेशों और जीवन-चरितोंको अपने जीवनमें लाना चाहिए, तभी व्यक्ति अपनी उन्नति, अपने कल्याण और वास्तविक मोक्ष-सुखको प्राप्त कर सकता है।

प्रकृतमें हमें 'वीर-निर्वाण' पर्वपर प्रकाश डालना है। अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीरने कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रि और अमावस्याके प्रत्यूषकाल (ब्राह्ममूहूर्त—प्रातः) में स्वातिनक्षत्रमें पावानगरीसे निर्वाण प्राप्त किया था। अत एव इस महान् एवं पावन दिवसको जैन परम्परामें 'वीर-निर्वाण' पर्वके रूपमें मनाया जाता है। आचार्य यतिवृषभ (ई० सन्० ५ वीं शती) ने अपनी 'तिलोपपण्णत्ती' (४-१२०८) में स्पष्ट लिखा है—

कत्तिय-किण्हे चोद्दसि-पच्चूसे सादिणामणवत्ते ।
पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥

इस गाथामें कहा गया है कि भगवान् धीरनाथ कार्तिकवदी १४ के प्रत्यूषकालमें स्वातिनामक नक्षत्रमें पावापुरीसे अकेले सिद्ध (मुक्त) हुए ।

इपके सिवाय आचार्य वीरसेन (ई० ८३९) ने अपनी 'षट्खण्डागम' की विशाल टीका 'धवला' में 'वीर-निर्वाण' का प्रतिपादन करने वाली एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है। उसमें भी यही कहा गया है। वह गाथा निम्न प्रकार है—

पच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्ह-चोद्दसिए ।
सादीए रत्तीए सेसरयं हत्तु णिब्बाओ ॥

'पश्चात् वीरनाथ पावानगरमें पहुँचे और वहाँसे कार्तिकवदी चउदसकी रात्रिमें स्वातिनक्षत्रमें शेष रज (अघातिया कर्म) को भी नाश करके निर्वाणको प्राप्त हुए ।'

यहाँ एक असंगति और विरोध दिखाई दे सकता है कि उपर्युक्त 'तिलोपपण्णत्ती' के उल्लेखमें 'चतुर्दशीका प्रत्यूषकाल' बतलाया गया है और यहाँ (धवलामें उद्धृत गाथामें) 'चतुर्दशीकी रात' बतलायी गयी है ? इसका समाधान स्वयं आचार्य वीरसेनने टीकामें 'रत्तीए' पदके विशेषणके रूपमें 'पच्छिमभाए'— 'पिछले पहरमें' पदका प्रयोग अव्याहृत करके कर दिया है और तब कोई असंगति या विरोध नहीं रहता। इससे स्पष्ट होता है कि चतुर्दशीकी रातके पिछले पहरमें अर्थात् अमावस्याके प्रत्यूषकाल (प्रातः) में भ० वीरनाथका निर्वाण हुआ। 'तिलोपपण्णत्ती' की उक्त गाथामें भी यही अभिप्रेत है। अतः आम तौरपर निर्वाणकी तिथि कार्तिकवदी अमावस्या मानी जाती है, क्योंकि धवलाकारके उल्लेखानुसार इसी दिन निर्वाणका समस्त कार्य—निर्वाणपूजा आदि सकल देवेन्द्रों द्वारा किया गया था। धवलाकारका वह उल्लेख इस प्रकार है—

'अमावसीए परिणिव्वाणपूजा सयलदेवेदेहि कयात्ति ।'

उत्तरपुराणमें आचार्य गुणभद्रने भी 'कार्तिककृष्णपक्षस्य चतुर्दश्यां निशासयये ।' इस पद्यवाक्यके द्वारा कार्तिकवदी चतुर्दशीकी रातके अन्तमें भ० महावीरका निर्वाण बतलाया है।

हरिवंशपुराणकार जिनसेनके हरिवंशपुराणगत उल्लेखसे भी यही प्रकट है। उनका वह उल्लेख इस प्रकार है—

जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम् ।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहारोद्यानवने तदीयके ॥
चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकैर्विहीनताभिश्चतुरब्दशेषके ।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूतसुप्रभातसन्ध्यासमये स्वभावतः ॥

अघातिकर्माणि निरुद्धयोगको विधूय घातिघनवद्विबन्धनः ।
विबन्धनस्थानमवाप शङ्करो निरन्तरायोरुसुखानुबन्धनम् ॥

—हरिवं० ६६ । १५, १६, १७ ।

‘वीर जिनेन्द्र समस्त भव्यसमुदायको सतत संबोधित करके अन्तमें पावानगरी पहुँचे और उसके सुन्दर उद्यानवनमें कार्तिकवदी चउदसकी रात और अमावस्याके सुप्रभात समयमें, जब कि चौथे कालके साढ़े तीन मास कम चार वर्ष अवशेष थे, स्वातिनक्षत्रमें योग निरोध कर अघातियाकर्माँको घातियाकर्माँकी तरह नष्ट कर बन्धनरहित होकर बन्धनहीन (स्वतंत्र) और निरन्तराय महान् सुखके स्थान मोक्षको प्राप्त हुए ।’

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि (ई० ५ वीं शती) का ‘निर्वाणभक्ति’ गत निम्न उल्लेख भी यही बतलाता है—

पावानगरोद्याने व्युत्सर्गेण स्थितः स मुनिः ।

कार्तिककृष्णस्थान्ते स्वातावृक्षे निहत्य कर्मरजः ॥

इस प्रकार इन शास्त्रीय प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि भ० महावीरका कार्तिक वदी चउदसकी रात और अमावस्याके सुबह, जब कुछ अंधेरा था, निर्वाण हुआ था और उसी समय उनका निर्वाणोत्सव मनाया गया था । इस तरह ‘वीर-निर्वाण’ पर्व प्रचलित हुआ और जो आज भी सर्वत्र मनाया जाता है ।

भ० महावीरके निर्वाणके समयका पता जनसमुदायको पूर्वदिनसे ही विदित हो चुका था और इस-लिए वे सब वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थे । इनमें अठारह गणराज्योंके अध्यक्ष, विशिष्टजन, देवेन्द्रों, साधारण देवों और मनुष्योंके समूह मौजूद थे । समस्त (११) भणधर, मुनिगण, आर्यिकाएँ, श्रावक और श्राविकाएँ आदि भी विद्यमान थे । जो नहीं थे, वे भी भगवान्‌के निर्वाणका समाचार सुनते ही पहुँच गये थे । बिजली-की भाँति यह खबर सर्वत्र फैल गयी थी । भगवान् बुद्धके प्रमुख शिष्यने उन्हें भी यह अवगत कराया था कि पावामें अभी-अभी गिम्गथनातपुत्त (महावीर) का निर्वाण हुआ ।

प्रदीपोंका प्रज्वलन

उस समय प्रत्यक्षकाल होनेसे कुछ अंधेरा था और इसलिए प्रकाश करनेके लिए रत्नों और घृतादिके हजारों प्रदीप प्रज्वलित किये गये । आचार्य जिनसेनके हरिवंशपुराणमें स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय ऐसा प्रकाश किया गया, जिससे पावानगरी चारों ओरसे आलोकित हो गयी । यहाँ तक कि आकाशतल भी प्रकाशमय-ही-प्रकाशमय दिखाई पड़ रहा था । यथा—

ज्वलत्पदीपावलिकया प्रवृद्धया सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया ।

तदा स्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥

तथैव च श्रेणिकपूर्वभूभृतः प्रकृत्य कल्याणमदं सहप्रजाः ।

प्रजज्मुरिन्द्राश्च सुरैर्यथा पथं प्रयाचमाना जिनबोधिमर्थिनः ॥

—हरिवं० ६६।१९,२० ।

वीर-निर्वाण और दीपावली

हरिवंशपुराणकार (९वीं शती) ने यह भी स्पष्ट उल्लेख किया है कि इसके पश्चात् भगवान् महा-वीरके निर्वाण-लक्ष्मीको प्राप्त करनेसे इस पावन निर्वाण-दिवसको स्मृतिके रूपमें सदा मनानेके लिए भक्त जनताने ‘दीपावली’ के नामसे एक पवित्र सार्वजनिक पर्व ही संस्थापित एवं सुनियत कर दिया—अर्थात्

जनसमूह प्रतिवर्ष बड़े आदरके साथ इस निर्वाण-पर्वको प्रसिद्ध 'दीपावली'के नामसे इस भारतवर्षमें मनाने लगा । उनका वह उल्लेख इस प्रकार है—

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात्प्रसिद्धदीपावलिकयाऽत्र भारते ।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ।

वही, ६६।२१ ।

'इसके बाद तो समस्त भारतवर्षमें लोग प्रतिवर्ष बड़े आदरके साथ वीर जिनेन्द्रके निर्वाणोत्सवकी अपनी अनन्यभक्ति एवं श्रद्धाको 'दीपावली'के रूपमें प्रकट करने लगे और तभीसे यह 'दीपावली' पर्व प्रचलित हुआ ।'

इस तरह भारतवर्षमें दीपावली पर्वकी मान्यता भगवान् महावीरके निर्वाण-पर्वसे सम्बन्ध रखती है और यह एक सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय पर्व स्पष्ट अवगत होता है । मेरे अनुसन्धानसे इससे पूर्वका इतना और ऐसा उल्लेख अबतक नहीं मिला । यतः भगवान्का निर्वाण कार्तिक वदी १४की रात और अमावस्याके प्रातः हुआ था, अतः उसके आसपासके कुछ दिनोंको भी इस पर्वमें और शामिल कर लिया गया, ताकि पर्वकी विशेष समारोह और आयोजनके साथ मनाया जा सके । इसीसे दीपावली पर्व कार्तिक वदी तेरससे आरम्भ होकर कार्तिक शुक्ला द्वाज तक मनाया जाता है । इन दिनों घरोंकी दीवारों और द्वारोंपर जो चित्र बनाये जाते हैं वे भ० महावीरके सभास्थल—समोशरण (समवसरण) की प्रतिकृति हैं, ऐसा ज्ञात होता है । गणेश-संस्थापन और लक्ष्मीपूजन भ० महावीरके प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूतिको, जिन्हें जैनवाङ्मयमें 'गणेश' भी कहा है, उनका उत्तराधिकारी बनने तथा केवलज्ञानलक्ष्मीकी प्राप्ति करनेके मूर्तरूप प्रतीत होते हैं । इन जैसी और भी कितनी ही बातें इन दिनोंमें सामान्य जनता द्वारा की जाती हैं । उनका भी सम्बन्ध भ० महावीरसे स्पष्ट मालूम होता है । इन तथ्योंकी प्रचलित मान्यताओं और निर्वाणकालिक घटित घटनाओंके सामञ्जस्यके आधारपर खोज की जाय तो पूरा सत्य सामने आ सकता है और तथ्योंका उद्घाटन हो सकता है । फिर भी उपलब्ध प्रमाणों और घटनाओंपरसे यह निःसंकोच और असन्दिग्धरूपमें कहा जा सकता है कि वीर-निर्वाण पर्व और दीपावली पर्वका घनिष्ठ सम्बन्ध है अथवा वे एक दूसरेके रूपान्तर हैं ।



महावीर-जयन्ती

चैत्र सुदी १३ का सुहावना दिवस भगवान् महावीरका जन्म-दिन है। आजसे २५५४ वर्ष पूर्व इस दिन उन्होंने जन्म लिया था। वे एक मानव थे और मानवसे भगवान् बने थे। उनमें इतनी विशेषता थी कि उनका ज्ञान और बल असाधारण था। संजय और विजय मुनिराजोंके लिए उन्हें देखकर अभिलषित ज्ञान होना, भयंकर सर्पको अपने वशमें करना, विषय-वासनाओंसे अलिप्त रहना, आदि सैकड़ों घटनाएँ हैं, जो उनकी अलौकिकताको प्रकट करती हैं।

पर महावीरका महावीरत्व इन चमत्कारोंसे नहीं है। उनका महावीरत्व है—आत्मविकारोंपर विजय पानेसे। सबसे पहले उन्होंने दूसरोंपर शासन करनेकी अपेक्षा अपनेपर शासन किया। मानवसुलभ जितनी कमजोरियाँ और विकार हो सकते हैं उन सबपर उन्होंने काबू पाया। प्रायः यह प्रत्येकके अनुभवगम्य है कि दूसरोंको उपदेश देना बड़ा सरल होता है, पर उसपर स्वयं चलना उतना ही कठिन होता है। महावीरने लोकके इस अनुभवसे विपरीत किया। उन्होंने सबसे पहले महावीरत्व प्राप्त करनेके लिये स्वयं अपनेको उस ढाँचेमें ढाला और जब वे उसमें उत्तीर्ण हो गये—आत्म-विश्वास, आत्मज्ञान और आत्मसंयमको पूर्ण रूपमें स्वयं प्राप्त कर लिया तब दूसरोंको भी उस मार्गपर चलनेके लिये कहा।

महावीरने एक दिन नहीं, एक माह नहीं, एक वर्ष नहीं, अपितु पूरे १२ वर्ष तक कठोर साधना की। उनका एक लक्ष्य साधनामें रहा। वह यह कि 'शरीरं वा पातयामि कार्यं वा साधयामि।' और इसीसे वे अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें पूर्णतः सफल हुए। उन्होंने पार्श्वनाथ आदि अन्य तीर्थकरोंकी तरह तीर्थकरत्व प्राप्त किया। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उन्हें अपने समयकी अनगिनत विषमताओं और संघर्षोंका सामना करना पड़ा। लेकिन उन सबको उन्होंने समुद्रकी तरह गम्भीर, मेरुकी तरह निश्चल, आकाशकी तरह निर्लेप और सूर्यकी तरह निरपेक्ष प्रकाशक बनकर शान्त किया। परिणाम यह हुआ कि समकालीन अन्य तीर्थिक—धर्मप्रवर्तक उनके सामने अधिक समय तक न टिक सके और न अपना प्रभाव लोक-मानसपर स्थायी बनानेमें समर्थ हो सके। मन्वलि गोशालक, अजितकेश कबलि, संजय वेलट्टिपुत्त आदि धर्मप्रवर्तक इसके उदाहरण हैं।

मज्झिम निकायमें आनन्द और बुद्धके अनेक जगह संवाद मिलते हैं। उनमें बुद्धने आनन्दसे महावीरके सम्बन्धमें अनेक जिज्ञासाएँ प्रकट की हैं। आनन्दने महावीरकी सभाओंमें जा-जा कर जानकारी प्राप्तकर बुद्धकी जिज्ञासाओंको शान्त किया है। उनमेंसे दो-एकको हम यहाँ देते हैं। एक बार बुद्धने आनन्दसे कहा—'आनन्द ! जाओ, देखो तो, निगंठनातपुत्त इस समय कहाँ हैं और क्या कर रहे हैं ? आनन्द जाता है और महावीरको देखता है कि वे एक विशाल पाषाण जैसे ऊँचे निरावरण स्थानपर बैठे हुए हैं और ध्यानमग्न हैं। उनकी इस कठोर तपस्याको देखकर आनन्द बुद्धसे जाकर कहता है। बुद्ध महावीरकी तपस्यासे प्रभावित होकर कहते हैं कि वे दोष तपस्वी हैं। एक बार महावीर जब विपुलगिरिपर विराजमान थे और सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी हो गये थे एवं मानव, देव, तिर्यञ्च सभीको आत्मज्ञानकी घारा बहा रहे थे, उसी समय बुद्ध भी विपुलगिरिके निकटवर्ती गृद्धकूट पर्वतपर विराजमान थे। वे आनन्दसे कहते हैं, आनन्द !

जाओ, देखो, निर्गंठनातपुत्तकी सभामें स्त्रियाँ भी रहती हैं ? आनन्द जाता है और देखता है कि महावीर-की सभामें पुरुषोंसे कहीं अधिक स्त्रियाँ भी हैं और वे न केवल श्राविकाएँ ही हैं, भिक्षुणियाँ भी हैं और महावीरके निकट बैठकर उनका सदा उपदेश सुनती हैं व विहारके समय उनके साथ चलती हैं। इस सबको देखकर आनन्द बुद्धसे जाकर कहता है—भन्ते ! निर्गंठनातपुत्तकी विशाल सभामें अनेकों स्त्रियाँ, श्राविकाएँ और भिक्षुणियाँ हैं। बुद्ध कुछ क्षणों तक विस्मित होकर स्तब्ध हो जाते हैं और तुरन्त कह उठते हैं कि निर्गंठनातपुत्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं। हमें भी स्त्रियोंको अपने संघमें लेना चाहिए। इसके बाद बुद्ध स्त्रियोंको भी दीक्षा देने लगे।

बुद्धकी इन दोनों बातोंसे स्पष्ट मालूम होता है कि महावीर अपने समकालीन बुद्ध जैसे प्रभावशाली धर्मप्रवर्तकपर भी अपना अप्रतिम प्रभाव डाल चुके थे। वास्तवमें बाह्य शत्रुविजेताकी अपेक्षा आत्मविकार-विजेताका स्थान सर्वोपरि है। उसके आत्मामें अचिन्त्य शक्ति, अचिन्त्य ज्ञान और अचिन्त्य आनन्दका स्रोत निकल आता है। महावीरको भी यही स्रोत प्राप्त हो गया था।

भ० महावीरने इसके लिये अनेक सिद्धान्त रचे और उन सबको जनताके लिए बताया। इन सिद्धान्तोंमें उनके दो मुख्य सिद्धान्त हैं—एक अहिंसा और दूसरा स्याद्वाद। अहिंसासे आचारकी शुद्धि और स्याद्वादसे विचारकी शुद्धि बतलाई। आचार-विचार जिसका जितना अधिक शुद्ध होगा—अनात्मासे आत्माकी ओर बढ़ेगा वह उतना ही अधिक परमात्माके निकट पहुँचेगा। एक समय वह आयेगा जब वह स्वयं परमात्मा बन जायगा।

महावीरने यह भी कहा कि जो इतने ऊँचे नहीं चढ़ सकते वह श्रावक रहकर न्याय-नीतिके साथ अपने कर्तव्योंका पालन कर स्वयं सुखी रहें तथा दूसरोंको भी सुखी बनानेका सदैव प्रयत्न करें।



श्रीपपौराजी : जिनमन्दिरोंका अद्भुत समुच्चय

भारतीय जन-मनकी सुदृढ़ धार्मिक रुचिका साकार रूप देखना हो, तो इन पवित्र भूमियोंको देखिए, जहाँ पहुँचकर हम अपनी मानस-कालिमाको धोकर शान्तिके सुखद प्रवाहमें गोता लगाने लग जाते हैं। ये पुण्य-भूमियाँ भारतीय संस्कृतिकी प्रतीक हैं। दृश्य काव्यके समान ये पवित्र तीर्थक्षेत्र भी आह्लादजनक होते हैं और अध्यात्मकी ओर अग्रसर करते हैं। इन तीर्थक्षेत्रोंपर निर्मित देवालयों आदिकी कलामय कारीगरी भी तत्कालीन स्थापत्य कलाके गौरव और गरिमाको प्रकट करती हुई दर्शकके मनपर अमिट प्रभाव डालती है। देशके अस्सी प्रतिशत उत्सव, सभाएँ और मेले इन्हीं तीर्थक्षेत्रोंपर सम्पन्न होते हैं। भारतीय समाजको ये तीर्थक्षेत्र जीवन प्रदान करते तथा उसकी गरिमाय संस्कृतिका प्रतिनिधित्व करते हैं, इनका समाजसे बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीसे भारतके कोने-कोनेमें इनका अस्तित्व पाया जाता है। एक तरफ पुरी है तो दूसरी तरफ द्वारिका, एक ओर सम्मेदाचल है तो दूसरी ओर गिरनार।

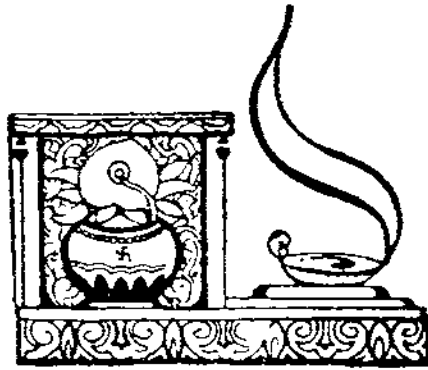
बुन्देलखण्ड भारतका मध्यक्षेत्र हृदय है। यह आचारमें उन्नत और विचारमें कोमल तो है ही, धार्मिक श्रद्धा भी अपूर्व है। वीरत्व भी इसकी भूमिमें समाया हुआ है। यहाँ अनगिनत तीर्थ क्षेत्र हैं। उनकी आभासे यह सहस्रों वर्षोंसे अलोकित है। जिस ओर जाइये उसी ओर यहाँ तीर्थ भूमियाँ मिलेंगी। द्रोणगिर, रेशिन्दीगिर और सीनागिर जैसे जहाँ सिद्धक्षेत्र हैं वहाँ देवगढ़, पपौरा, अहार, खजुराहो जैसे अतिशय क्षेत्र भी हैं। देवगढ़ और खजुराहोकी कला इसके निवासियोंके मानसकी आस्था और निष्ठाको व्यक्त करती है तो द्रोणगिर और रेशिन्दीगिरकी प्राकृतिक रमणीयता दर्शकको अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। अहार क्षेत्रकी विशाल और भव्य शान्तिनाथमूर्ति हमारी निष्ठा और आकर्षणको द्विगुणित कर देती है।

श्रीपपौराजीके उत्तुंग एवं विशाल शिखरबन्द भव्य जिनालय दूरसे ही हमें आह्वान करते हैं। टीकमगढ़ (म० प्र०) से तीन मील दूर दक्षिण-पूर्वमें यह पुण्य तीर्थ अवस्थित है। इसकी पश्चिम दिशामें विशाल सिंहद्वार है जो सीम्य आकृतिसे हमारी भावनाओंको पहलेसे ही परिवर्तित करने लगता है। तीर्थके चारों ओर विस्तृत प्राकार है, जिसके भीतर समतल मैदानमें १०७ विशाल जिनालय निर्मित हैं। इनमें अनेक जिनालय शताब्दियों पूर्वके हैं। यहाँकी चौबीसी उल्लेखनीय है। प्रत्येककी परिक्रमा पृथक्-पृथक् और सबकी एक संयुक्त है। छोटी-छोटी वाटिकाओं, कुओं और धर्मशालाओंसे यह क्षेत्र बहुत ही मनोरम एवं सुशोभित है। वातावरण एकदम शान्त और साधनायोग्य है। आकाशसे बातें करते हुए १०७ शिखरबन्द जिनमन्दिरोंकी शोभा जनसाधारणकी भावनाओं और भक्तिको विराट् बना देती है। जिनप्रतिमाएँ अपनी मूकोपदेशों द्वारा स्निग्ध एवं शीतल शान्तरसकी धारा उड़ेलती हैं। उस समय दर्शकका मन आनन्द-विभोर होकर घंटों भक्तिमें तल्लीन हो जाता है।

यद्यपि प्रदेश आर्थिक और शैक्षणिक दृष्टिसे पिछड़ा हुआ है, किन्तु उसकी धार्मिक भावनाएँ प्रोन्नत हैं, जिनका परिचय यहाँके कार्योंसे मिल जाता है। क्षेत्रके वार्षिक मेलेपर एकत्र होकर समाज अपनी दिशाको पहचानने और समस्याओंको सुलझानेका यहाँ अवसर प्राप्त करती है।

क्षेत्रपर श्रीवीर दि० जैन विद्यालय स्थित है, जिसके द्वारा इस प्रान्तकी धार्मिक शिक्षाकी पूर्ति होती है और जो उल्लेखनीय है। सैकड़ों विद्यार्थी यहाँसे शिक्षा ग्रहण कर विद्वान् बने हैं। इस विद्यालयकी स्थापना स्वर्गीय पं० मोतीलालजी वर्णिके प्रयत्नोंसे हुई थी। इसकी उन्नति और संचालनमें वर्णीजीका पूरा एवं बरद हस्त रहा है। बा० ठाकुरदासजीने मंत्रित्वका दायित्व बहन करके उसके विकासमें अथक श्रम किया है। क्षेत्र और विद्यालय दोनोंकी उन्नति तथा विकासमें दोनों महानुभावोंकी सेवayें सदा स्मरणीय रहेंगी।

पपीराजी एक ऐसा दर्शनीय और बन्दनीय क्षेत्र है जहाँ बड़ी शान्ति मिलती है। हमें उक्त विद्यालयमें तीन वर्ष तक अध्यापन करानेका सुअवसर मिला। इस कालमें क्षेत्रपर जो शान्ति मिली और धर्मभावना वृद्धिगत हुई उसे हम क्षेत्रका प्रभाव मानते हैं। इस पुण्य तीर्थक्षेत्रका एक बार अवश्य दर्शन-बन्दन करना चाहिए।



पावापुर : महावीरकी निर्वाणभूमि

महात्माओंने जहाँ जन्म लिया, तप किया, ज्ञान प्राप्त किया, उपदेश दिए, जीवनमें अनेकों बार आये गये, शरीरका त्याग किया, उन स्थानोंको लोकमें तीर्थ (पवित्र जगह) कहा गया है। पावापुर भी एक ऐसा ही पावन तीर्थ स्थान है जहाँसे भगवान् महावीरने शरीरका त्याग कर निर्वाण-लाभ किया था।

महत्त्व

विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य यतिवृषभने 'तिलोयपण्णत्ति' में कहा है—

पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥४—१२०८ ॥

पावापुरसे भ० वीरने सिद्ध पद प्राप्त किया।

इसी प्रकार विरुमकी छठी शतीके आचार्य पूज्यपादने भी अपनी 'निर्वाणभक्ति'में लिखा है—

पावापुरस्य बहिरुन्नत-भूमिदेशे, पद्मोत्पलाकुलवतां सरसां हि मध्ये।

श्रीवर्द्धमानजिनदेव इति प्रतीतो, निर्वाणमाप भगवान्प्रविधूत-पाप्मा ॥२४॥

अर्थात् पावापुरके बाहर ऊँचे स्थानपर, जिसके चारों ओर विविध कमलोंसे व्याप्त तालाब हैं, धाति अधातिरूप पापमलको सर्वथा नाश कर भगवान् वर्द्धमान जिनेन्द्रने निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य जिनसेन (विक्रमकी ९वीं शती) ने भी अपने 'हरिवंशपुराण'में पावापुरसे निर्वाण प्राप्त करनेका विस्तृत वर्णन किया है। वे कहते हैं कि भ० वीरनाथ चारों ओरके भव्योंको प्रबुद्ध करके समृद्धि-सम्पन्न पवित्र पावा नगरीमें पहुँचे और वहाँ उसके मनोहर उद्यानमें स्थित होकर कर्मबन्धनको तोड़ मुक्तिको प्राप्त हुए।

इसी तरह 'निर्वाणकाण्ड' तथा अपभ्रंश 'निर्वाणभक्ति'में भी कहा है—

(क) पावाए णिव्वुदो महावीरो ॥१॥

(ख) पावापुर वंदउ वड्ढमाणु, जिणि महियलि पयडिउ विमल णाणु ॥

अर्थात् हम उस पवित्र तीर्थ पावापुरकी वन्दना करते हैं जहाँसे वर्द्धमान जिनेन्द्रने निर्वाण लाभ किया और पृथ्वीपर विमल ज्ञानकी धारा बहाई।

विक्रमकी १३वीं शताब्दीके विद्वान् यतिपति मदनकीर्तिने भी अपनी रचना 'शासन चतुस्त्रिशिका' में वहाँ वीर जिनेन्द्रकी सातिशयमूर्ति होने और लोगों द्वारा उसकी भारी भक्ति किये जानेका उल्लेख करते हुए लिखा है—

तिर्यञ्चोऽपि नमन्ति यं निज-गिरा गायन्ति भक्त्याशयाः

द्रष्टे यस्य पदद्वये शुभदृशो गच्छन्ति नो दुर्गतिम्।

देवेन्द्रार्चित-पाद-पंकज-युगः पावापुरे पापहा

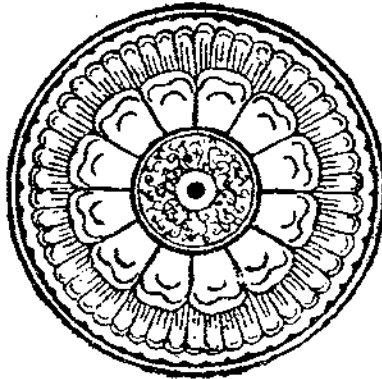
श्रीमद्वीरजिनः स रक्षतु सदा दिग्वाससां शासनम् ॥१८॥

अर्थात् जिन्हें तिर्यञ्च भी अतिशय भक्तिके साथ नमस्कार करते हैं और अपनी अव्यक्त वाणी द्वारा गुणगान करते हैं। जिनके चरणोंके दर्शन करनेपर भव्यजीव दुर्गतिको प्राप्त नहीं होते तथा जो पावापुरमें इन्द्र द्वारा अर्चित हैं और लोकके पाषाणके नाशक हैं वह श्री वीरजिनेन्द्र दिग्म्बर शासनकी सदा रक्षा करें-लोकमें उसके प्रभावको प्रख्यापित करते रहें।

इन समस्त उल्लेखों एवं कथनोंसे पावापुरकी पावनता और उसका सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्त्व लोकके लिये स्पृहणीय हो तो कोई आश्चर्य नहीं है।

स्थिति

यह पावापुर विहार प्रान्तमें पटनाके पास है और गुणावा अतिशय क्षेत्रसे १३ मील है। भारतवर्षके समस्त जैन बन्धु वन्दनार्थ वहाँ हर वर्ष जाते हैं। कार्तिकवदी अमावस्याका वहाँ वीर निर्वाणोपलक्ष्यमें प्रति वर्ष एक बड़ा मेला भरता है, जिसमें सहस्रों जैन व अजैन भाई शामिल होते हैं और बड़ी भक्ति करते हैं। ऐसे पवित्र स्थानकी वन्दना करना, दर्शन करना और पूजा करना निश्चय ही हमारी कुतज्ञता और श्रद्धाका द्योतक है और पुण्य संचयका कारण है। भगवान् महावीरके निर्वाण-दिवसके उपलक्ष्यमें प्रचलित वीपावलीपर उसकी विशेष स्मृति होना और भी स्वाभाविक है। भ० महावीर अन्तिम तोर्यङ्कर होनेसे उनकी इस पावन निर्वाणभूमि पावापुरका समग्र जैन साहित्यमें अनुपम एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। और इसलिए वह भारतीय जनताके लिए सदैव अभिवन्दनीय है।



श्रमणवेलगोला और श्रीगोम्मटेश्वर

श्रमणवेलगोला दक्षिण भारतमें कर्नाटक प्रदेशमें हासन जिलेका एक गौरवशाली और ऐतिहासिक स्थान रहा है। यह जैन परम्पराके दि० जैनोंका एक अत्यन्त प्राचीन और सुप्रसिद्ध तीर्थ है। इसे जैन-ग्रन्थकारोंने जैनपुर, जैनविद्रो और गोम्मटपुर भी कहा है। यह बेंगलूरसे १०० मील, मैसूरसे ६२ मील, आर्सीकेरीसे ४२ मील, हासनसे ३१ मील और चिनार्यपट्टनसे ८ मील है। यह हासनसे पश्चिमकी ओर अवस्थित है और मोटरसे २-३ घण्टोंका रास्ता है। यह विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि नामकी दो पहाड़ियोंकी तलहटीमें एक सुन्दर और मनोज्ञ चौकोर तालाबपर, जो प्राकृतिक झीलनुमा है, बसा हुआ है। यह है तो एक छोटा-सा गाँव, पर ऐतिहासिक पुरातत्त्व और धार्मिक दृष्टिसे इसका बड़ा महत्त्व है।

दुष्काल

जैन अनुश्रुतिके अनुसार ई० ३०० सौ वर्ष पूर्व सम्राट चन्द्रगुप्तके राज्यकालमें उत्तर भारतमें जब बारह वर्षका दुष्काल पड़ा तो अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहुके नायकत्वमें १२ हजार श्रमणों (जैन साधुओं)के संघने उत्तर भारतसे आकर इस स्थानकी मनोज्ञता और एकान्तता देखी तथा यहीं रहकर तप और ध्यान किया। आचार्य भद्रबाहुने अपनी आयुका अन्त जानकर यहीं समाधिपूर्वक देहोत्सर्ग किया। सम्राट् चन्द्रगुप्तने भी, जो संघके साथ आया था, अपना शेष जीवन संघ व गुरु भद्रबाहुकी सेवामें व्यतीत किया था।

इस स्थानको श्रमणवेलगोला इसलिए कहा गया कि उक्त श्रमणों (जैन साधुओं) ने यहाँके वेलगोल (सफेद तालाब) पर तप, ध्यानादि किया तथा आवास किया था। तब कोई गाँव नहीं था, केवल सुरम्य पहाड़ी प्रदेश था।

यहाँ प्राप्त सैकड़ों शिलालेख, अनेक गुफाएँ, कलापूर्ण मन्दिर और कितनी ही विशाल एवं भव्य जैन मूर्तियाँ भारतके प्राचीन गौरव और इतिहासको अपनेमें छिपाये हुए हैं। इसी स्थानके विन्ध्यगिरिपर गंगवंशके राजा राचमल्ल (ई० ९७५-९८४) के प्रधान सेनापति और प्रधान मन्त्री वीर-मार्तण्ड चामुण्डराय द्वारा एक ही पाषाणमें उत्कीर्ण करायी गई श्री गोमटेश्वर बाहुबलिकी वह विश्वविख्यात ५७ फुट ऊँची विशाल मूर्ति है, जिसे विश्वके दर्शक देखकर आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। दूसरी पहाड़ी चन्द्रगिरिपर भी अनेक मन्दिर व बसतियाँ बनी हुई हैं। इसी पहाड़ीपर सम्राट् चन्द्रगुप्तने भी चन्द्रगुप्त (प्रभाचन्द्र) मुनि होकर समाधिपूर्वक शरीर त्यागा था और इसके कारण ही इस पहाड़ीका नाम चन्द्रगिरि पड़ा। इन सब बातोंसे 'श्रमणवेलगोला' का जैन परम्परामें बड़ा महत्त्व है। एक बार मैसूर राज्यके एक दीवानने कहा था कि "सम्पूर्ण सुन्दर मैसूर राज्यमें श्रमणवेलगोला सदृश अन्य स्थान नहीं है, जहाँ सुन्दरता और भव्यता दोनोंका सम्मिश्रण पाया जाता हो।" यह स्थान तभीसे पावन तीर्थके रूपमें प्रसिद्ध है।

परिचय

यहाँ गोमटेश्वर और उनकी महामूर्तिका परिचय वहीके प्राप्त शिलालेखों द्वारा दे रहे हैं। शिलालेख नं० २३४ (८५) में लिखा है कि—“गोमटेश्वर ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकरके पुत्र थे। इनका नाम बाहु-

बली या भुजबली था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेवके दीक्षित होनेके पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों भाइयोंमें साम्राज्यके लिए युद्ध हुआ। युद्धमें बाहुबलिकी विजय हुई। पर संसारकी गति (राज्य जैसी तुच्छ चीजके लिए भाइयोंका परस्परमें लड़ना) देखकर बाहुबलि विरक्त हो गये और राज्य अपने ज्येष्ठ भ्राता भरतकी देकर तपस्या करनेके लिए वनमें चले गये। एक वर्षकी कठोर तपस्याके उपरान्त उन्हें केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ। भरतने, जो सम्राट् हो गये थे, बाहुबलीके चरणोंमें पहुँचकर उनकी पूजा एवं भक्ति की। बाहुबलीके मुक्त होनेके पश्चात् उन्होंने उनकी स्मृतिमें उनकी शरीराकृतिके अनुरूप ५२५ धनुषप्रमाणकी एक प्रस्तर मूर्ति स्थापित कराई। कुछ काल पश्चात् मूर्तिके आस-पासका प्रदेश कुक्कुट सर्पोंसे व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्तिका नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे वह मूर्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन अगम्य एवं दुर्लभ हो गये। गंगनरेश राघमल्लके मन्त्री चामुण्डरायने इस मूर्तिका वृत्तान्त सुना और उन्हें उसके दर्शन करनेकी अभिलाषा हुई, पर उस स्थान (पोदनपुर) की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसीके समान एक सौम्य मूर्ति स्थापित करनेका विचार किया और तदनुसार इस मूर्तिका निर्माण कराया।”

कवि बोप्पण (११८० ई०) ने इस मूर्तिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि “यदि कोई मूर्ति अत्युन्नत (विशाल) हो, तो यह आवश्यक नहीं कि वह सुन्दर भी हो। यदि विशालता और सुन्दरता दोनों भी हों, तो यह आवश्यक नहीं कि उसमें अलौकिक वैभव (भव्यता) भी हो। गोम्मटेश्वरकी मूर्तिमें विशालता, सुन्दरता और अलौकिक वैभव तीनोंका सम्मिश्रण है। गोम्मटेश्वरकी मूर्तिसे बढ़कर संसारमें उपासनाके योग्य अन्य क्या वस्तु हो सकती है ?”

पाश्चात्य विद्वान् फर्गुसनने अपने एक लेखमें लिखा है कि “मिन्न देशके सिवाय संसार भरमें अन्यत्र इस मूर्तिसे विशाल और प्रभावशाली मूर्ति नहीं है।”

पुरातत्त्वविद् डा० कृष्ण लिखते हैं कि “शिल्पीने जैनधर्मके सम्पूर्ण त्यागकी भावना इस मूर्तिके अंग-अंगमें अपनी छैनीसे भर दी है। मूर्तिकी नग्नता जैनधर्मके सर्व त्यागकी भावनाका प्रतीक है। एकदम सीधे और मस्तक उन्नत किये खड़े इस प्रतिबिम्बका अंग-विन्यास पूर्ण आत्म-निग्रहको सूचित करता है। हीठोंकी दयामयी मुद्रासे स्वानुभूत आनन्द और दुःखी दुनियाके साथ मूक सहानुभूतिकी भावना व्यवत होती है।”

हिन्दी जन्तुके प्रसिद्ध विद्वान् काका कालेलकरने एक लेखमें लिखा है—“मूर्तिका सारा शरीर भरावदार, यौवनपूर्ण, नाजुक और कान्तिमय है। एक ही पत्थरसे निर्मित इतनी सुन्दर मूर्ति संसारमें और कहीं नहीं। इतनी बड़ी मूर्ति इतनी अधिक स्निग्ध है कि भक्तिके साथ कुछ प्रेमकी भी यह अधिकारिणी है। धूप, हवा और पानीके प्रभावसे पीछेकी ओर ऊपरकी पपड़ी रिपर पड़नेपर भी इसका लावण्य खण्डित नहीं हुआ है।”

प्राच्यविद्यामहार्णव डॉ० हीरालाल जैनने लिखा है कि—“एशिया खण्ड ही नहीं, समस्त भूतलका विचरण कर आइये, गोम्मटेश्वरकी तुलना करनेवाली मूर्ति आपको क्वचित् ही दृष्टिगोचर होगी। बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानोंके मस्तिष्क इस मूर्तिकी कारोगरूपर चक्कर खा गये हैं। कम-से-कम एक हजार वर्षसे यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृतिदेवीकी अमोघ शक्तियोंसे बातें कर रही है, पर अब तक उसमें किसी प्रकारकी थोड़ी-सी भी अति नहीं हुई है, मानो मूर्तिकारने उसे आज ही उद्घाटित किया हो।”

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि इस संसारकी अद्भुत मूर्तिके प्रतिष्ठाता गंगवशी राजा राघमल्लके प्रधान आमात्य और सेनापति चामुण्डराय हैं। चामुण्डरायको शिलालेखोंमें समरधुरन्धर, रणरंगसिंह, वैरिकुलकालदण्ड, असहायपराक्रम, समरपरशुराम, वीरमार्त्तण्ड, भटशिरोमणि आदि उपाधियोंसे विभू-

षित किया गया है। चामुण्डराय अपनी सत्यप्रियता और धर्मनिष्ठाके कारण “सत्य युधिष्ठिर” भी कहे जाते थे। इनकी जैनधर्ममें अनुपमेय निष्ठा होनेके कारण जैन ग्रन्थकारोंने भी इन्हें सम्यक्त्वरत्नाकर, गुणरत्न-भूषण, शीचाभरण आदि विशेषणों (उपाधियों) द्वारा उल्लेखित किया है। इन्हीं चामुण्डरायने गोम्मटेश्वरकी महामूर्तिकी प्रतिष्ठा २३ मार्च ई० सन् १०२८ में कराई थी, जैसाकि इस मूर्तिपर उत्कीर्ण लेखसे विदित है।

महामस्तकाभिषेक

इस मूर्त्तिका महामस्तकाभिषेक बड़े समारोहके साथ सम्पन्न होता है। ऐतिहासिक दृष्टिसे इसके महामस्तकाभिषेकोंका वर्णन ई० सन् १५००, १५९८, १६१२, १६७७, १८२५ और १८२७ के उत्कीर्ण शिलालेखोंमें मिलता है, जिनमें अभिषेक करानेवाले आचार्य, गृहस्थ, शिल्पकार, बड़ई, दूध, दही आदिका व्यौरा मिलता है। इनमें कई मस्तकाभिषेक मैसूर-नरेशों और उनके मन्त्रियोंने स्वयं कराये हैं। सन् १९०९ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था, उसके बाद मार्च १९२५ में भी वह हुआ, जिसे मैसूर नरेश महाराज कृष्णराज बहादुरने अपनी तरफसे कराया था और अभिषेकके लिए पाँच हजार रुपये प्रदान किये थे तथा स्वयं पूजा भी की थी। इसके अनन्तर सन् १९४० में भी गोम्मटेश्वरकी इस मूर्त्तिका महामस्तकाभिषेक हुआ था। उसके पश्चात् ५ मार्च १९५३ में महामस्तकाभिषेक किया गया था, उस समय भारतके कोने-कोनेसे लाखों जैन इस अभिषेकमें सम्मिलित हुए थे। इस अवसरपर वहाँ दर्जनों पत्रकार, फोटोग्राफर और रेडियोवाक्त्रे भी पहुँचे थे। विश्वके अनेक विद्वान् दर्शक भी उसमें शामिल हुए थे।

समारोह २१ फरवरी १९८१ में जो महामस्तकाभिषेक हुआ, वह सहस्राब्धि-महामस्तकाभिषेक महोत्सव था। इस महोत्सवका महत्व पिछले महोत्सवोंसे बहुत अधिक रहा। कर्नाटक राज्यके माननीय मुख्यमन्त्री गुंडुराव और उनके सहयोगी अनेक मन्त्रियोंने इस महोत्सवको राज्यीय महोत्सव माना और राज्यकी ओरसे उसकी सारी तैयारियाँ की गयीं। प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरागांधी और अनेक केन्द्रीय मन्त्रिमण भी उक्त अवसर पर पहुँचे थे। लाखों जैनोंके सिवाय लाखों अन्य भाई और बहनें भी इस उत्सवमें सम्मिलित हुए। विश्वधर्मके प्रेरक एलाचार्य मुनि विद्यानन्दके प्रभावक तत्त्वावधानमें यह सम्पन्न हुआ, जिसके मार्गदर्शनमें भगवान् महावीरका २५०० वाँ निर्वाण महोत्सव सारे राष्ट्रने व्यापक तौरपर १९७४ में मनाया।

भारतीय प्राचीन संस्कृति एवं त्याग और तपस्याकी महान् स्मारक यह गोम्मटेश्वरकी महामूर्ति युग-युगों तक विश्वको अहिंसा और त्यागकी शिक्षा देती रहेगी।

राजगृहकी मेरी यात्रा और अनुभव

इतिहासमें राजगृहका स्थान

श्रद्धेय पं० जुगलकिशोर मुस्तारका अरसेसे यह विचार चल रहा था कि राजगृह चला जाय और वहाँ कुछ दिन ठहरा जाय तथा वहाँकी स्थिति, स्थानों, भग्नावशेषों और इतिहास तथा पुरातत्त्व सम्बन्धी तथ्योंका अवलोकन किया जाय ।

राजगृहका इतिहासमें महत्त्वपूर्ण स्थान है । सम्राट् विम्बसारके, जो जैनपरम्पराके दिगम्बर और श्वेताम्बर तथा बौद्ध साहित्यमें राजा श्रेणिकके नामसे अनुश्रुत हैं और मगधसाम्राज्यके अधीश्वर एवं भगवान् महावीरकी धर्म-सभाके प्रधान श्रोता माने गये हैं, मगधसाम्राज्यकी राजधानी इसी राजगृहमें थी । यहाँ उनका किला अब भी पुरातत्त्वविभागके संरक्षणमें है और जिसकी खुदायी होने वाली है । एक पुराना किला और है जो कृष्णके समकालीन जरासन्धका कहा जाता है । वैभार पर्वतके नीचे उभर तलहटीमें पर्वतकी शिला काट कर एक आस्थान बना है और उसके आगे एक लंबा चौड़ा मैदान है । ये दोनों स्थान राजा श्रेणिकके खजाने और बैठकके नामसे प्रसिद्ध हैं । तीसरे-चौथे पहाड़के मध्यवर्ती मैदानमें एक बहुत विशाल प्राचीन कुआँ भूगर्भसे निकाला गया है और जिसे मिट्टीसे पूर भी दिया गया है । इसके ऊपर टोन की छतरी लगा दी गई है । यह भी पुरातत्त्व-विभागके संरक्षणमें है । इसके आसपास कई पुराने कुएँ और वेदिकाएँ भी खुदाईमें निकली हैं । किंवदन्ती है कि रानी चेलना प्रतिदिन नये वस्त्रालंकारोंको पहिनकर पुराने वस्त्रालंकारोंको इस कुएँमें डाला करती थीं । दूसरे और तीसरे पहाड़के मध्यमें मृदकूट पर्वत है, जो द्वितीय पहाड़का ही अंश है और जहाँ महात्मा बुद्धकी बैठकें बनी हुई हैं और जो बौद्धोंका तीर्थस्थान माना जाता है । इसे भी हम लोगोंने गौरसे देखा । पुराने मन्दिरोंके अवशेष भी पड़े हुए हैं । विपुलाचल कुछ चौड़ा है और वैभारगिरि चौड़ा तो कम है पर लम्बा अधिक है । सबसे पुरानी एक चौबीसी भी इसी पहाड़ पर बनी हुई है जो प्रायः खंडहरके रूपमें स्थित है और पुरातत्त्वविभागके संरक्षणमें है । अन्य पहाड़ोंके प्राचीन मन्दिर और खंडहर भी उसीके अधिकारमें कहे जाते हैं । इसी वैभारगिरिके उत्तरमें सप्तपर्णी दो गुफाएँ हैं जिनमें ऋषि लोग रहते बतलाये जाते हैं । गुफाएँ लम्बी दूर तक चली गई हैं । वास्तवमें ये गुफाएँ सन्तोंके रहनेके योग्य हैं । ज्ञान और ध्यानकी साधना इनमें की जा सकती है । परन्तु आजकल इनमें चमगीदड़ोंका वास है और उसके कारण इतनी बदबू है कि खड़ा नहीं हुआ जाता ।

भगवान् महावीरका सैंकड़ों बार यहाँ राजगृहमें समवसरण आया है और विपुलगिरि तथा वैभारगिरि पर ठहरा है । और वहींसे धर्मोपदेशकी गङ्गा बहाई है । महात्मा बुद्ध भी अपने संघ सहित यहाँ राजगृहमें अनेक बार आये हैं और उनके उपदेश हुए हैं । राजा श्रेणिकके अलावा कई बौद्ध और हिन्दू सम्राटोंकी भी राजगृहमें राजधानी रही है । इस तरह राजगृह जैन, बौद्ध और हिन्दू तीनों संस्कृतियोंके सङ्गम एवं समन्वयका पवित्र और प्राचीन ऐतिहासिक तीर्थ स्थान है, जो अपने अंचलमें अतीतके विपुल वैभव और गौरवको छिपाये हुए है और वर्तमानमें उसकी महत्ताको प्रकट कर रहा है ।

यहाँके कुण्ड और उनका महत्त्व

यहाँके लगभग २६ कुण्डोंने राजगृहकी महत्ताको और बढ़ा दिया है। दूर-दूरसे यात्री और चर्मरोगादिके रोगी इनमें स्नान करनेके लिये रोजाना हजारोंकी तादादमें आते रहते हैं। सूर्यकुण्ड, ब्रह्मकुण्ड और सप्तधाराओंका जल हमेशा गर्म रहता है और बारह महीना चालू रहते हैं। इनमें स्नान करनेसे वस्तुतः थकान, शारीरिक क्लान्ति और चर्मरोग दूर होते हुए देखे गये हैं। लकवासे ग्रस्त एक रोगीका लकवा दो तीन महीना इनमें स्नान करनेसे दूर हो गया। कलकत्ताके सेठ प्रेमसुख जी को एक अङ्गमें लकवा ही गया। वे भी वहाँ ठहरे हैं और उनमें स्नान करते हैं। पूछनेसे मालूम हुआ कि उन्हें कुछ आराम है। हम लोगोंने भी कई दिन स्नान किया और प्रत्यक्ष फल यह मिला कि थकान नहीं रहती थी—शरीरमें फुरती आजाती थी।

राजगृहके उपाध्याय—पण्डे

कुण्डोंपर जब हमने वहाँके सैकड़ों उपाध्यायों और पण्डोंका परिचय प्राप्त किया तो हमें ब्राह्मण-कुलोत्पन्न इन्द्रभूति और उनके विद्वान् पाँचसौ शिष्योंकी स्मृति हो आई और प्राचीन जैन साहित्यमें उल्लिखित उस घटनामें विश्वासको दृढ़ता प्राप्त हुई, जिसमें बतलाया है कि वैदिक महाविद्वान् गौतम इन्द्रभूति अपने पाँचसौ शिष्योंके साथ भगवान् महावीरके उपदेशसे प्रभावित होकर जैनधर्ममें दीक्षित हो गया था और उनका प्रधान गणधर हुआ था। आज भी वहाँ सैकड़ों ब्राह्मण 'उपाध्याय' नामसे व्यवहृत होते हैं। परन्तु आज वे नाममात्रके उपाध्याय हैं और यह देख कर तो बड़ा दुःख हुआ कि उन्होंने कुण्डोंपर या अन्यत्र यात्रियोंसे दो-दो, चार-चार पैसे माँगना ही अपनी वृत्ति—आजीविका बना रखी है। इससे उनका बहुत ही नैतिक पतन जान पड़ा। यहाँके उपाध्यायोंको चाहिए कि वे अपने पूर्वजोंकी कृतियों और कीर्तिको ध्यानमें लायें और अपनेको नैतिक पतनसे बचायें।

श्वेताम्बर जैनधर्मशाला और मन्दिर

यहाँ श्वेताम्बरोंकी ओरसे एक विशाल धर्मशाला बनी हुई है, जिसमें दिग्म्बर धर्मशालाकी अपेक्षा यात्रियोंको अधिक आराम है। स्वच्छता और सफाई प्रायः अच्छी है। पाखानोंकी व्यवस्था अच्छी है—यंत्र-द्वारा मल-मूत्रको बहा दिया जाता है, इससे बदबू या गन्दगी नहीं होती। यात्रियोंके लिये भोजनके वास्ते कच्ची और पक्की रसोईका एक ढाबा खोल रखा है, जिसमें पाँच बक्कत तकका भोजन फ्री है और शेष समयके लिये यात्री आठ आने प्रति बेला शुल्क देकर भोजन कर सकता है और आटे, दाल, लकड़ीकी चितासे मुक्त रहकर अपना धर्मसाधन कर सकता है। भोजन ताजा और स्वच्छ मिलता है। मैनेजर बा० कन्हैयालालजी मिलनसार सज्जन व्यक्ति हैं। इन्हींने हमें धर्मशाला आदिकी सब व्यवस्थासे परिचय कराया। श्वेताम्बरोंके अधिकारमें जो मन्दिर है वह पहले दिग्म्बर और श्वेताम्बर दोनोंका था। अब वह पारस्परिक समझौतेके द्वारा उनके अधिकारमें चला गया है। चार जगह दर्शन है। देखने योग्य है।

बा० छोटेलालजीके साथ १३ दिन

बई बातोंपर विचार-विमर्श करनेके लिये बा० छोटेलालजी कलकत्ता ता० ५ मार्चको राजगृह आ गये थे और वे ता० १८ तक साथ रहे। आप काफी समयसे अस्वस्थ चले आ रहे हैं—इलाज भी काफी करा चुके हैं, लेकिन कोई स्थायी आराम नहीं हुआ। यद्यपि मेरी आपसे दो-तीन बार पहले भेंट हो चुकी थी; परन्तु न तो उन भेंटोंसे आपका परिचय मिल पाया था और न अन्य प्रकारसे मिला था। परन्तु अबकी बार उनके निकट सम्पर्कमें रह कर उनके व्यक्तित्व, कर्मण्यता, प्रभाव और विचारकताका आश्चर्यजनक परिचय

मिला। बाबू साहबको मैं एक सफल व्यापारी और रईसके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था, पर मैंने उन्हें व्यक्तिवशाली, चिन्ताशील और कर्मण्य पहले पाया—पीछे व्यापारी और रईस। आप अपनी तारीफसे बहुत दूर रहते हैं और चुपचाप काम करना प्रसन्न करते हैं। आप जिस उत्तरदायित्वको लेते हैं उसे पूर्णतया निभाते हैं। आपको इससे बड़ी घृणा है जो अपने उत्तरदायित्वको पूरा नहीं करते। आपके हृदयमें जैन संस्कृतिके प्रचारकी बड़ी तीव्र लगन है। आप आधुनिक ढंगसे उसका अधिकाधिक प्रचार करनेके लिए उत्सुक हैं। जिन बड़े-बड़े व्यक्तियोंसे, विद्वानोंसे और शासकोंसे अच्छे-अच्छोंकी मित्रता नहीं हो पाती उन सबके साथ आपकी मित्रता-दोस्ताना और परिचय जान कर मैं बहुत आश्चर्यान्वित हुआ। सेठ पद्मराजजी रानीवाले और अर्जुनलालजी सेठीके सम्बन्धकी कई ऐसी बातें आपने बतलाई, जो जैन इतिहासकी दृष्टिसे संकलनीय हैं। आपके एकहरे दुर्बल शरीरको देख कर सहसा आपका व्यक्तित्व और चिन्ताशीलता मालूम नहीं होती, ज्यों-ज्यों आपके सम्पर्कमें आया जाये त्यों-त्यों वे मालूम होते जाते हैं। वस्तुतः समाजको उनका कम परिचय मिला है। यदि वे सचमुचमें प्रकट रूपमें समाजके सामने आते और अपने नामको अप्रकट न रखते तो वे सबसे अधिक प्रसिद्ध और यशस्वी बनते। अपनी भावना यही है कि वे शीघ्र स्वस्थ हों और उनका संकल्पित वीरशासनसंघका कार्य यथाशीघ्र प्रारम्भ हो।

राजगृहके कुछ शेष स्थान

बर्मी बौद्धोंका भी यहाँ एक विशाल मन्दिर बना हुआ है। आज कल एक वर्मा पुज़ी महाराज उसमें मौजूद हैं और उन्हींकी देखरेखमें यह मन्दिर है। जापानियोंकी ओरसे भी बौद्धोंका एक मन्दिर बन रहा था, किन्तु जापानसे लड़ाई छिड़ जानेके कारण उसे रोक दिया गया था और अब तक रुका पड़ा है। मुसलमानोंने भी राजगृहमें अपना तीर्थ बना रखा है। विपुलाचलसे निकले हुए दो कुण्डोंपर उनका अधिकार है। एक मस्जिद भी बनी हुई है। मुस्लिम यात्रियोंके ठहरनेके लिये भी वहीं स्थान बना हुआ है और कई मुस्लिम वासिदाके रूपमें यहाँ रहते हुए देखे जाते हैं। कुछ मुस्लिम दुकानदार भी यहाँ रहा करते हैं। सिक्कोंके भी मन्दिर और पुस्तकालय आदि यहाँ हैं। कुंडोंके पास उनका एक विस्तृत चबूतरा भी है। ब्रह्मकुंडके पास एक कुंड ऐसा बतलाया गया जो हर तीसरे वर्ष पड़ने वाले लौंडके महीनेमें ही चालू रहता है और फिर बन्द हो जाता है। परन्तु उसका सम्बन्ध मनुष्य कृत कलासे जान पड़ता है। राजगृहकी जमींदारी प्रायः मुस्लिम नवाबके पास है, जिसमेंसे रुपयार्थ प्रायः चार आना (एक चौथाई) जमींदारी सेठ साहू शान्तिप्रसादजी डालमियानगरने नवाबसे खरीद ली है। यह जानकर खुशी हुई कि जमींदारीके इस हिस्सेको आपने दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र राजगृहके लिये ही खरीदा है। उनके हिस्सेकी जमीनमें सर्वत्र S. P. Jain के नामसे चिन्ह लगे हुए हैं, जिससे आपकी जमीनका पार्थक्य मालूम हो जाता है। और भी कुछ लोगोंने नवाबसे छोटे-छोटे हिस्से खरीद लिए हैं। राजगृहमें खाद्यसामग्री तेज तो मिलती है। किन्तु बेईमानी बहुत चलती है। गेहूँओंको अलगसे खरीद कर पिसानेपर भी उसमें चौकर बहुत मिला हुआ रहता था। आटा हमें तो कभी अच्छा मिलकर नहीं दिया। बा० छोटेलालजीने तो उसे छोड़ ही दिया था। क्षेत्रके मुनीम और आदमियोंसे हमें यद्यपि अच्छी मदद मिली, लेकिन दूसरे यात्रियोंके लिये उनका हमे प्रमाद जान पड़ा है। यदि वे जिस कार्यके लिये नियुक्त हैं उसे आत्मीयताके साथ करें तो यात्रियोंको उनसे पूरी सद्द और सहानुभूति मिल सकती है। आशा है वे अपने कर्तव्यको समझ निष्प्रमाद होकर अपने उत्तरदायित्वको पूरा करेंगे।

आरा और बनारस

राजगृहमें २० दिन रह कर ता० १८ मार्चको वहाँ से आरा आये। वहाँ जैन सिद्धान्तभवनके अध्यक्ष पं० नेमिचन्द्रजी ज्योतिषाचार्यके मेहमान रहे। स्टेशनपर आपने प्रिय पं० गुलाबचन्द्रजी जैन, मैनेजर

जैन बाला विश्रामको हमें लेनेके लिये भेज दिया था। आराममें स्व० वा० देवकुमारजी रईस द्वारा स्थापित जैन-सिद्धान्त-भवन और श्रीमती विदुषी पण्डिता चन्दाबाईजी द्वारा संस्थापित जैन बाला विश्राम तथा वहाँ प्रतिष्ठित श्री १००८ बाहुबलिस्वामीकी विशाल खड्गासन मूर्ति वस्तुतः जैन भारतकी आदर्श वस्तुएँ हैं। आरा आने-वालोंको जैनमन्दिरोंके अलावा इन्हें अवश्य ही देखना चाहिये। भवन और विश्राम दोनों ही समाजकी अच्छी विभूति हैं। यहाँ स्व० श्रीहरिप्रसादजी जैन रईसकी ओरसे कालेज, लायब्रेरी आदि कई संस्थाएँ चल रही हैं। आरासे चलकर बनारस आये और अपने चिरपरिचित स्याद्वादमहाविद्यालयमें ठहरे। संयोगसे विद्यालयके सुयोग्य मंत्री सौजन्यमूर्ति वा० सुमति लालजीसे भेंट हो गई। आपके मन्त्रित्वकालमें विद्यालयने बहुत उन्नति की है। कई वर्षसे आप गवर्नमेंट सविस्से रिटायर्ड हैं और समाजसेवा एवं धर्मोपासनामें ही अपना समय व्यतीत करते हैं। आपका धार्मिक प्रेम प्रशंसनीय है। यहाँ अपने गुरुजनों और मित्रोंके सम्पर्कमें दो दिन रहकर बड़े आनन्दका अभूभव किया। स्याद्वादमहाविद्यालयके अतिरिक्त यहाँकी विद्वत्परिषद्, जय-धवला कार्यालय और भारतीय ज्ञानपीठ प्रभृति ज्ञानगोष्ठियाँ जैनसमाज और साहित्यके लिए क्रियाशीलताका सन्देश देती हैं। इनके द्वारा जो कार्य हो रहा है वह वस्तुतः समाजके लिये शुभ चिह्न है। मैं तो समझता हूँ कि समाजमें जो कुछ हरा-भरा दिख रहा है वह मुख्यतया स्याद्वादमहाविद्यालयकी ही देन है और जो उसमें क्रियाशीलता दिख रही है वह उक्त संस्थाओंके संचालकोंकी चीज है। आशा है इन संस्थाओंसे समाज और साहित्यके लिए उत्तरोत्तर अच्छी गति मिलती रहेगी।

इस प्रकार राजगृहकी यात्राके साथ आरा और बनारसकी भी यात्रा हो गई और ता० २४ मार्चको सुबह साढ़े दस बजे यहाँ घरसावा हमलोग सानन्द सकुशल वापिस आ गये।



काश्मीरकी मेरी यात्रा और अनुभव

यात्राका कारण और विचार

कितने ही दिनोंसे मेरी यह इच्छा बनी चली आ रही थी कि भारतके मुकुट और गौन्दर्यकी क्रीडा-भूमि काश्मीरकी यात्रा एक बार अवश्य की जाय। सौभाग्य कहिए या दुर्भाग्य, अप्रैलके मध्यमें तपोनिधि श्री १०८ आचार्य नमिसागरजी महाराजके मेरठमें दर्शन कर देहली वापिस आते ही मैं अस्वस्थ पड़ गया और लगभग सवा माह तक 'लो ब्लड प्रेशर' का शिकार रहा। मित्रों, हितैषियों व संस्थाधिकारियोंने मुझे स्वास्थ्य-सुधारके लिए काश्मीर जानेकी प्रेरणा की। उनकी सद्भावनापूर्ण प्रेरणा पा मेरी इच्छा और बलवती हो गई। अन्तमें काश्मीर जानेका पूर्ण निश्चय किया और भारत सरकारके काश्मीर विभागसे तीन माहके पास बनवा कर २२ मई १९५४ को देहलीसे श्रीनगर तक के ४९६० के वापिसी इन्टर-टिकट लेकर हमने सपरत्तीक ला० मन्खनलालजी जैन ठेकेदार देहलीके साथ काश्मीर मेलमें प्रस्थान किया। दूसरे दिन प्रातः पठानकोट पहुँचे और उसी समय रेलवेकी आउट एजेन्सी लेने वाली N. D. राधाकृष्ण बस कम्पनीकी १३ सीटी बससे, जो हर समय तैयार रहती है, हम लोग श्रीनगरके लिए रवाना हो गये। १२ बजे दिनमें जम्मू पहुँचे और वहाँ खाना-पीना खाकर एक घण्टे बाद चल दिये। यहाँ उक्त बस-सर्विसका स्टेशन है। अनेक घाटियोंको पार करते हुए रातको ८।। बजे बनिहाल पहुँचे और वहाँ रात बिताई। यहाँ ठहरनेके लिये किरायेपर कमरे मिल जाते हैं। जम्मू और उसके कुछ आगे तक तो ब्र गर्मी रहती है किन्तु बनिहालसे चित्ता-कर्षक ठंडी हवायुक्त सर्दी शुरू हो जाती है और कुछ गर्म कपड़े पहनने पड़ते हैं। वाणी यहाँसे गर्मीके कण्ट-को मूलकर ठंडका सुखद अनुभव करने लगता है।

काश्मीरकी उत्तुंग घाटियों और प्राकृतिक दृश्योंको देखकर दर्शकका चित्त बड़ा प्रसन्न होता है। जब हम नौ हजार फुटकी ऊँचाईपर टेनिल पहुँचे और एक जगह रास्तेमें बर्फकी शिलाओंपर चले-फिरे तथा बर्फको उठाया तो अपार आनन्द आया। काश्मीरमें सबसे ऊँची जगह यही टेनिल है। यहाँसे फिर उतार शुरू हो जाता है। हमारी बस पहाड़ोंके किनारे-किनारे गोल चक्कर जैसे मार्गको तय करती हुई २४ मईको प्रातः ७ बजे खन्नाबल पहुँच गयी। यहाँसे श्रीनगर सिर्फ ३० मील रह जाता है। पहले श्रीनगर न जाकर यहीं उतर कर मटन, पहलगॉव, अच्छाबल, कुकरनाग आदि स्थानोंको देख आना चाहिये और बादमें श्रीनगर जाना चाहिये। इसमें काश्मीर-पर्यटकको समय, शक्ति और अर्थकी बचत हो जाती है। अतः हम लोग यहीं उतर गये और ताँगे करके ११ बजे दिनमें मटन पहुँचे।

मटन—में पं० शिवराम नीलकण्ठ षण्डेके मकानमें ठहरे। पं० शिवराम नीलकण्ठ सेनाभावी और सज्जन हैं। यहाँ तीन-सौ के लगभग षण्डे रहते हैं। यह हिन्दुओंका प्रमुख तीर्थ स्थान है। यहाँ पानीकी खूब बहार है। चारों ओर पानी ही पानी है। तीन कुण्ड हैं, जिनमें एक वृहद् चश्मेसे पानी आता है। पास ही लम्बोदरी नदी अपना लम्बा उदर किये बहती है, जिसपर सवा लाख रुपयेके ठेकेपर एक नया पुल बन रहा है। इसी लम्बोदरी नदीसे महाराजा प्रतापसिंहके राज्य-समयमें गण्डासिंह नामके साधारण सिखने अपने बुद्धिचातुर्यसे पहाड़ी खेतीकी सिंचाईके लिए पहाड़ोंके ऊपरसे एक नहर निकाली थी, जो आश्चर्यजनक है

और जिसपर महाराजाने उसे अपनी रियासतका चीफ इंजीनियर बना दिया था। यह नहर २२ मील लम्बी और बेगसे पानी बहाने वाली है। नहरके पास एक डाक-बंगला है। जिसमें पहले दर्शक भी ठहरते थे। हम व ला० मकखनलालजी यहीं आकर स्वाध्याय व तत्त्वचर्चा किया करते थे। मटनसे एक मीलकी दूरीपर वह प्रसिद्ध एवं विशाल हिन्दुओंका मार्तण्ड मंदिर है, जिसे सन् ८५६ में अवन्तिवर्मा (श्रीवर्मा) ने बनवाया था और सन् १३९० में सुलतान सिकन्दरने तोड़ा था। मन्दिरके विशाल और बड़े-बड़े पत्थरोंको देख कर आश्चर्य होता है कि उस जमानेमें जब क्रैन नहीं थी, इतने बड़े पत्थर इतने ऊँचे कैसे चढ़ाये गये होंगे। कहते हैं कि इस मार्तण्ड मन्दिरके कारण ही मार्तण्डका मटन नाम हो गया।

कुकरनाग—मटनसे अनन्तनाग, अच्छावल होते हुए ३ जूनको हम लोभ बस द्वारा कुकरनाग गये। कुकरनाग मटनसे १९ मील है। ठहरनेके लिए जगह अच्छी मिल जाती है। यहाँ कई चश्मे हैं, जिनका पानी बहुत अच्छा व स्वास्थ्यप्रद है। चश्मोंसे इतना पानी आता है कि उससे एक नदी बन गई और जिसका नाम 'कुकरनाग' है। पहाड़पर राज्यसरकारकी ओरसे एक बंगला बना हुआ है, जो दर्शकोंके लिए भी किरायेपर दिया जाता है। एक बंगला और राज्यसरकारकी ओरसे नीचे बन रहा है। और भी कई लोगोंने बंगले बनवा रखे हैं, जो किरायेपर दिये जाते हैं। यहाँ एक मीलपर एक चूने वाला चश्मा है, जिसके बारेमें प्रसिद्धि है कि इसके पानीमें कैल्शियम है और खुजली आदि चर्मरोगोंको दूर करता है। यहाँ कितने ही लोग चार-चार महीना इसीलिये रहते हैं कि यहाँका जलवायु उत्तम है। चीड़के असंख्य उन्नत वृक्षोंसे पहाड़ व हरे-हरे धान्यके खेत बड़े ही शोभायमान होते हैं।

अनन्तनाग—यह काश्मीरका एक जिला है। यहाँ उल्लेखनीय दो चश्मे हैं। एक गन्धकका चश्मा है, जो मस्जिदके पास है और जिसका जल चर्मरोगोंके लिये खास गुणकारी है। दूसरे चश्मेसे कई कुण्ड बना दिये गये हैं। यहाँके गव्ने (कालीन) विशेष प्रसिद्ध हैं।

अच्छावल—यह काश्मीरके द्रष्टव्य स्थानोंमेंसे एक है। यहाँ भी कई झरने हैं, जो बहुत मशहूर हैं। बाग फव्वारोंसे सजा हुआ है। कहते हैं कि ये फव्वारे जहाँगीरकी बीबी नूरजहाँने अपने मनोविनीदके लिये बनवाये थे। यहाँ दर्शकों की भीड़ बनी रहती है। यहाँ ५-५, ७-७ सेरकी संरक्षित मछलियाँ हैं।

वेरीनाग—यहाँ एक ५४ फुट गहरी और षट्कोण नीलवर्णी झील है, जो बड़ी सुन्दर और देखने योग्य है। झेलम नदी इसी झीलसे निकली है। इसे देखनेके लिए हम षोड़ों द्वारा गये।

पहलगाँव—कुकरनागमें ९ दिन रह कर हमलोग १२ जूनको वापिस मटन आ गये और वहाँ पुनः ११ दिन ठहरकर २४ जूनको पहलगाँव चले गये। पहलगाँव काश्मीर भरमें सबसे सुन्दर जगह है और प्राकृतिक सौन्दर्यका अद्वितीय आगार है। एक ओरसे लम्बोदरी और दूसरी ओरसे आडू नदी कल-कल शब्द करती हुई यहाँ मिलकर मटनकी ओर बहती है। नदीके दोनों ओर हरे-हरे उत्तुंग कैलके वृक्षोंसे युक्त मनोरम बर्फाच्छा-दिन पर्वत शृंखला है जो बड़ी भव्य व सुहावनी है। पहाड़ों और नदियोंके बीचके सुन्दर मैदानमें पहलगाँव बसा हुआ है। यहाँ हमने (३३) रोजपर एक खालसा कोठी किरायेपर ली, जो बहुत सुन्दर और हवादार थी। यहाँ ठहरनेके लिए प्लाजा, वजोर, खालसा आदि होटल, कोठियाँ, मकान और तम्बू मिल जाते हैं। दिल्लीसे गये ६०० छात्र-छात्राएँ और अध्यापक-अध्यापिकाएँ उक्त होटलों तथा तम्बूओंमें ठहरे थे। यहाँसे हम लोग वाइसरायन और शिकारगा देखने गये, जो पहलगाँवसे १-११। मीलकी दूरीपर है और सुन्दर मैदान है। १ जुलाईको हम पत्नी सहित षोड़ोंपर सवार होकर चन्दनबाड़ी गये, जो पहलगाँवसे ८ मील है और जहाँ दो पहाड़ोंके बीच बने बर्फके पुलके नीचेसे लम्बोदरी बहती हुई बड़ी सुहावनी लगती है। बर्फका पुल देखने योग्य है। इसी परसे दर्शक व अन्य लोग शेषनाग, पंचतरणी और अमरनाथकी यात्रार्थ जाते हैं।

श्रीनगर—पहलगांवसे हम लोग २ जुलाईके प्रातः ८ बजे रवाना होकर ११ बजे श्रीनगर पहुँचे । श्रीनगरके सन्निकट रास्तेमें अवन्तीपुर भी देखा, जहाँ मार्तण्ड मन्दिर जैसा ही हिन्दुओंका विशाल मंदिर बना हुआ है और जो भग्नावस्थामें पड़ा हुआ है । श्रीनगरमें हम विजय होटलमें और ला० मकखनलालजी मैजिस्टिक होटलमें ठहरे । यहाँ ला० हरिश्चन्द्र जी और श्री पं० कैलाशचन्द्र जी बनारस भी सौभाग्यसे मिल गये । मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई । इससे पहले पहलगांव तथा मदनमें भी आपसे भेंट हो गई थी ।

डल लेक आदि दृष्टव्य कुछ स्थान—४ जुलाईको हमलोग तांगों द्वारा डल लेक, शाही चश्मा, निषाद, शालामार और हार्वन बाग देखने गये । ये चारों ही स्थान श्रीनगरके प्रसिद्ध और मनोज्ञ स्थान हैं । डल लेक एक बड़ी और मनोरम झील है । झीलमें एक नेहरू पार्क और एक होटल है । हर रविवारको लोग यहाँ सैर करने आते हैं । चश्मा शाहीका पानी सुस्वादु और पाचक है । यहाँसे हमलोग सीधे पहले हार्वन गये । यहाँ चश्मोंसे निकले पानीकी एक झील है, जो नील वर्ण है । हार्वनके बाद शालामार और निषाद आये । निषाद अति सुन्दर और चित्ताकर्षक है । पहाड़से निकले चश्मेके पानीकी कई जगह ऊँची फालें और फव्वारे बनाये गये हैं । यह बाग भी नूरजहाँकी कृति है, जहाँ वह मनोविनोद और क्रीड़ाके लिये आती थी । लोग छुट्टीका दिन यहीं आनन्दसे व्यतीत करते हैं ।

गुलमर्ग व खिलनमर्ग—५ जुलाईको हमलोग गुलमर्ग और खिलनमर्ग देखनेके लिये बस द्वारा टनमर्ग गये । मोटर बस टनमर्ग तक ही आती-जाती है । यहाँसे घोड़ों द्वारा उक्त स्थानोंको देखने जाना होता है । ये दोनों स्थान ऊँची पहाड़ीपर हैं । गुलमर्ग एक लम्बा चौड़ा मैदान है जहाँ अनेक होटल व मकान बने हैं, जिनमें यात्री आकर महीनों ठहरते हैं । यहाँ हम आते-जाते वर्षाके कारण १०-१५ मिनट ही ठहरे । खिलनमर्ग भी एक ऊँचाईपर सुन्दर मैदान है, जहाँ पास ही बर्फकी शिलायें हैं और जिनपरसे यात्री चलते ब दौड़ते हैं और आनन्दानुभव करते हैं ।

हमने रास्तेमें वह जगह भी देखी, जहाँ तक १९४७ में लुटेरे कबायली अथवा पाकिस्तानी सैन्य बल टिड्डियोंकी तरह लूटमार और अपहरण करते हुए आ चुके थे । इस जगहसे श्रीनगर सिर्फ पाँच मील है । उक्त दोनों स्थानोंको देखकर उसी दिन ५॥ बजे शामको हम वापिस श्रीनगर आ गये ।

श्रीनगरके बाजारोंमें जितनी बार जायें उतनी ही बार चीजोंको खरीदनेकी इच्छा हो जाती है । यहाँकी सूक्ष्म और बारीक कारीगरी अत्यन्त प्रशंसनीय है । लकड़ीका काम, ऊनी व रेशमी कपड़ेका काम, टोकनियी, गम्बे, नमदे और केशर यहाँकी खास चीजें हैं । हाँ, बोटों व शिकारोंसे पटी झेलमका दृश्य भी अवलोकनीय है । उसमें हर व्यक्तिको सैर करनेकी इच्छा हो आती है । उसके सातों पुल भी उल्लेखनीय हैं ।

७ जुलाईको श्रीनगरसे N. D. राषाकृष्ण बस द्वारा रवाना होकर ८ जुलाईको प्रातः पठानकोट आ गये और वहाँसे ५-५० पर शामको छूटने वाली काश्मीर मेलसे चलकर ७ जुलाईको प्रातः देहली सानन्द आ गये । स्टेशनपर पं० बाबूलालजी जमादार, पं० मन्नूलालजी शास्त्री, भगत हरिश्चन्द्रजी और छात्रवर्गने हम लोगोंका हार्दिक स्वागत कर हमें अपना अनन्य स्नेह दिया । समन्तभद्र संस्कृत-विद्यालयमें हम उस समय प्रिंसिपल (प्राचार्य) रहे ।

काश्मीरके सौन्दर्यकी अभिवृद्धिमें पहलगांव, चन्दनवाड़ी, अच्छावल, डल लेक, वेरीनाग, कुकरनाग और निषाद बाग ये स्थान प्रमुख कारण हैं । यहाँ यह खास तौरसे उल्लेखनीय है कि काश्मीर राज्यमें, जहाँ ७५ प्रतिशत मुसलिम आबादी है, गोहत्या नहीं होती—कानूनन बन्द है । वहाँके भोले, भद्र और गरीब लोगोंकी सुजनता देखने योग्य है । खाने-पीनेकी सभी चीजें सस्ती और अच्छी मिल जाती हैं । कवि कल्लणने अपनी राजतरंगिणीमें जो काश्मीरका विशद वर्णन किया है उससे स्पष्ट है कि काश्मीरका भारतके साथ बहुत पुराना सम्बन्ध है और वह भारतका ही एक अभिन्न प्रदेश रहा है ।

अतः काश्मीरके साथ हमारा सांस्कृतिक और सौहार्दका सम्बन्ध उत्तरोत्तर बढ़ते रहना चाहिये । ●

बम्बईका प्रवास

बम्बईमें हमारा तीन दिनका प्रवास था। यहाँ श्रद्धेय प्रेमीजीने हमारा प्रेमपूर्ण आतिथ्य किया। आप समाज व साहित्यके पुराने सेवक हैं। आपने समाज व साहित्यपर सैकड़ों लेख लिखे हैं एवं अन्धेरेमें पड़े हुए सैकड़ों ग्रन्थों और ग्रंथकारोंको प्रकाशमें लाकर जैन इतिहासके निर्माणमें अपूर्व योगदान दिया है। जैन-हितैषी व जैनमित्रका आपने जिस योग्यता और विद्वत्तासे सम्पादन किया उसकी समता आज समाजका प्रायः कोई पत्र नहीं रखता। अपने जीवनकी अर्धशताब्दी आपने समाजसेवामें व्यतीत किया है। यद्यपि अब आप लगभग ७० वर्षके हो गये और काफी अशक्त रहने लगे हैं फिर भी समाजसेवाकी चिन्ता अहर्निश रखते हैं। हमारी आपके साथ घंटों सामाजिक व साहित्यिक चर्चाएँ हुईं। उनमें हमने यही महसूस किया कि उन जैसे अध्यक्षी, लगनशील, समाजचिन्तक और साहित्यसेवी बहुत कम विद्वान् होंगे। जैन समाजमें कहीं कोई नई बात या हलचल हुई उससे समाजको परिचित करानेका प्रेमीजीने सदैव ध्यान रखा। किन्तु अब इस ओर किसीका भी लक्ष्य नहीं है। श्वेताम्बर समाजमें दिगम्बर समाजके सम्बन्धमें कितनी ही ऐसी बातें एवं घटनाएँ हो जाती हैं जिनकी हमें खबर नहीं मिलती और कदाचित् मिल भी जाय तो बहुत पीछे मिलती है। दिगम्बर समाजको आज विरोधात्मक कार्यकी ओर नहीं, विधेयात्मक कार्यकी ओर गतिशील होना चाहिए। उसका जो भी प्रयत्न हो विसंगठित एवं विरोधात्मक नहीं होना चाहिए।

प्रेमीजीके सिवाय बम्बईमें हम जिन सज्जनोंके परिचयमें आये, उनमें धर्मनिष्ठ संघपति सेठ पूनमचंद घासीलालजी, सेठ निरंजनलालजी, मित्रवर पंडित विजयमूर्तिजी एम० ए०, दर्शनाचार्य और बन्धुवर पं० कुन्दनलालजी मैनेजर रायचन्द शास्त्रमालाके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

संघपतिजीके साथ हमारी उनकी अपनी कोठीमें निर्मापित श्री चैत्यालयजीमें धार्मिक चर्चाएँ हुईं, जो काफी महत्वपूर्ण थीं। कालबादेवीमें आपके द्वारा बहुत विशाल और आदर्श जिनमन्दिर बनवाया जा रहा है। इसमें लाखों रुपये लगेंगे। यह बम्बईकी कलापूर्ण कृतियोंमें एक अपूर्व एवं अन्यतम कृति होगी। इसे बनते हुए दो-तीन वर्ष हो गये और कई वर्ष और लगेंगे। इसका प्रायः सारा ही संगमरमरका पत्थर विदेशी है और बहुत सुन्दर है।

भूलेश्वरके श्री जिनमन्दिरजीमें हम प्रतिदिन पूजन करते थे। यहाँ पूजनादिका सुप्रबन्ध है। इसके प्रबन्धकोंमें एक धर्मप्रेमी सेठ निरंजनलालजी हैं। दिगम्बर समाज, जैन इतिहास-निर्माण और 'संजद' पदके सम्बन्धमें हमारी आपसे विस्तृत और सौजन्यपूर्ण बातचीत हुई। हमने जैन इतिहास-निर्माणकी आवश्यकता और 'संजद' पदकी स्थितिपर बल दिया। फलतः आपने इस सब वार्ताको बड़े महाराज (चा० च० पूज्य आचार्य शान्तिसागरजी) से कहने और उनके पास जानेके लिए आग्रह किया। परन्तु समय न होनेसे हम महाराजके पास न जा सके। लेकिन उनके इस निमंत्रणको हमने स्वीकार कर लिया कि बादमें बुलानेपर हम अवश्य आवेंगे।

पं० विजयमूर्तिजी और श्री कुन्दनलालजी हमारे सुपरिचित मित्रोंमें हैं। इन मित्रोंने हमें बम्बईके प्रसिद्ध स्थानों चौपाटी, इंडियानेट, समुद्रकी सैर, हिंडिंग-गार्डन, कमलानेहरू-गार्डन, रानी-बाग, अजायबघर आदि दिखाये। विशाल सड़कें, गगनस्पर्शी मकान, बड़े-बड़े मार्केट, शिष्टतापूर्ण रहन-सहन, समुद्रकी सीनरी आदि बातें बम्बईकी अपनी खास विशेषताएँ हैं। यहाँ नंगे शिर चलते हुए प्रायः कोई नहीं मिलेगा। वास्तवमें यहाँकी शिष्टता एवं सभ्यता अन्य बातोंके साथ अवश्य ही दर्शकके चित्तको आकर्षित करती है और इन्हीं सब बातोंसे बम्बईको भारतका पहला एवं सुन्दर नगर कहलानेका गौरव प्राप्त है।

परिशिष्ट

प्रस्तुत ग्रन्थमें डॉ० कोठियाके जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं और ग्रन्थोंकी प्रस्तावनाओंमें पूर्व प्रकाशित सामग्री दी गयी है, उसके पूर्व प्रकाशित शीर्षक आदिका विवरण इसमें प्रकाशित शीर्षकोंके साथ यहाँ दिया जाता है—

इस ग्रन्थमें प्रकाशित शीर्षक

अन्यत्र प्रकाशित शीर्षक आदि विवरण

धर्म

१. पुण्य और पापका शास्त्रीय दृष्टिकोण : पुण्य और पापकी शास्त्रीय स्थिति, जैन सन्देश, वर्ष ३०, अंक २४, जैन संघ, मथुरा ।
२. वर्तनाका अर्थ : क्या वर्तनाका अर्थ गलत है ?, 'अनेकान्त', वर्ष ७, किरण ११-१२, ई० १९४५ ।
३. जीवनमें संयमका महत्त्व : संयमकी आवश्यकता, 'जैनदर्शन' (मासिक), जनवरी १९३७ ।
४. चारित्रिका महत्त्व : जैन दृष्टिमें चारित्रिका स्थान, 'जैन प्रचारक', मासिक, सितम्बर १९४०, बालाश्रम, दिल्ली ।
५. करुणा : जीवकी एक शुभ परिणति : शीर्षक वही, प्रज्ञा (त्रैमासिक), का० हि० वि० वि०, दिसम्बर १९७२ ।
६. जैन धर्म और दीक्षा : शीर्षक वही, सम्पादकीय, जैन प्रचारक (मासिक), जनवरी १९५१ ।
७. धर्म : एक चिन्तन : धर्मकी आवश्यकता, जैन सन्देश, सितम्बर १९५०, जैन संघ, मथुरा ।
८. सम्यक्त्वका अमूढदृष्टि अंगः एक महत्त्वपूर्ण परीक्षण-सिद्धान्त : अमूढदृष्टि बनाम परीक्षण-सिद्धान्त, जैन सन्देश (साप्ताहिक), सितम्बर १९६४ ।
९. महावीरकी धर्मदेशना : महावीरकी जीवन-झाँकी, जीवन साहित्य, (मासिक), दिल्ली, अक्टूबर १९५२ ।
१०. वीर-शासन और उसका महत्त्व : शीर्षक वही, अनेकान्त (मासिक), वर्ष ५, किरण ५, ई० १९४३, सरसावा (सहारनपुर) ।
११. महावीरका आध्यात्मिक मार्ग : महावीर और दीपावली, जैन प्रचारक, अक्टूबर १९४०, बाल आश्रम, दिल्ली ।
१२. महावीरका आचार-धर्म : शीर्षक वही, पुस्तिका, पर्युषण, २३ सितम्बर १९६१ ।
१३. भ० महावीरकी क्षमा और अहिंसाका एक विश्लेषण : शीर्षक वही, महावीर-जयन्ती स्मारिका, जयपुर ।
१४. भ० महावीर और हमारा कर्तव्य : शीर्षक वही, जैन गजट, अप्रैल १९५४ ।

दर्शन

१. अनेकान्तवाद-विमर्श : लोकका अद्वितीय गुरु अनेकान्तवाद, 'अनेकान्त' (मासिक), वर्ष ११, किरण १, १९५२।
२. स्याद्वाद-विमर्श : स्याद्वाद, 'प्रज्ञा' भाग १, अंक १४, अक्टूबर १९६८।
३. संजयवेलट्टिपुत्त और स्याद्वाद : शीर्षक वही, 'अनेकान्त' वर्ष ९, कि० २, १९४८। तथा विश्ववाणी, इलाहाबाद, जून १९४८।
४. जैनदर्शनके समन्वयवादी दृष्टिकोणकी ग्राह्यता : शीर्षक वही, 'आज' दैनिक, वाराणसी, ४ मार्च १९७२ ई०।
५. श्रमण-संस्कृतिकी वैदिक संस्कृतिको देन : शीर्षक वही, महावीर-जयन्ती स्मारिका, जयपुर, १९७१ ई०।
६. डॉ० अम्बेडकरसे भेंटवार्तामें अनेकान्त-चर्चा : डॉ० अम्बेडकर और उनके दार्शनिक विचार, 'अनेकान्त', वर्ष १०, किरण ४, दिसम्बर १९४९, दिल्ली।
७. जैन दर्शनमें सल्लेखन : एक अनुशीलन : शीर्षक वही, समाधिमरणोत्साहदीपक, प्रस्तावना, अक्टूबर १९६३ ई०।
८. जैन दर्शनमें सर्वज्ञता : जैन दर्शनमें सर्वज्ञताकी संभावनाएँ, अखिल भा० दर्शन परिषद्में पठित तथा 'दार्शनिक' (त्रैमासिक) वर्ष ११, अंक १, जनवरी १९६५ में प्रकाशित।
९. अर्थाधिगम-चिन्तन : जैन दर्शनमें अर्थाधिगम-चिन्तन, 'प्रज्ञा', Vol-Xiii (1), काशी हिन्दू वि० वि०, वाराणसी।
१०. ज्ञापकतत्त्व-विमर्श : प्रमाण और तय, जैन प्रचारक, अगस्त-सितम्बर १९३८, दिल्ली।
११. ध्यान-विमर्श : जैन दर्शनमें ध्यान-विचार, जिनवाणी, योगांक, जयपुर।

न्याय

१. भारतीय वाङ्मयमें अनुमान-विचार : जैन तर्कशास्त्रमें अनुमान-विचार, शोध-प्रबन्ध, प्रास्ताविक, अनुमान-विकास, संक्षिप्त अनुमान-विवेचन, उपसंहार, ई० १९६९, बीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, वाराणसी।
२. न्याय-विद्यामृत इतिहास और साहित्य : न्यायकी उपयोगिता, 'अनेकान्त', वर्ष ९, कि० १।
१. स्याद्वाद-सिद्धि और वादीभिर्सिंह : शीर्षक वही, प्रस्तावना, स्याद्वाद-सिद्धि माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९५० ई०।
२. द्रव्यसंग्रह और नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव : सम्पादकीय (प्रति-परिचय, प्रस्तावना—ग्रन्थ और ग्रन्थकार, द्रव्यसंग्रह, गणेश वर्णी दि० जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९६६।
३. शासन-चतुस्त्रिशिका और मदनकीर्ति : सम्पादकीय (प्रति-परिचय), प्रस्तावना—शासन-चतुस्त्रिशिका और मदनकीर्ति परिशिष्ट, बीर-सेवा-मन्दिर-ट्रस्ट, १९४९।

४. 'संजद' पदके सम्बन्धमें अकलकूदेवका महत्त्वपूर्ण अभिमत : शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० २, जनवरी १९४६ ।
५. ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका सङ्काव : ९३ वें सूत्रमें 'संजद' पदका विरोध क्यों?, 'अनेकान्त' वर्ष ८, कि० १०, सितम्बर, १९४६ ई० ।
६. नियमसारकी ५३ वीं गाथा और उसकी व्याख्या एवं अर्थपर अनुचिन्तन : शीर्षक वही, 'वीर-वाणी', वर्ष ३५, अंक २, अक्टूबर १९८२, 'नियमसारकी ५३ वीं गाथाकी व्याख्या और अर्थमें भूल' जैन सन्देश, १६ सितम्बर १९८२, जैन विद्वत्सं-गोष्ठी बम्बईमें पठित, ७, ८ सितम्बर १९८२ ।
७. अनुसन्धानमें पूर्वग्रहमुक्ति आवश्यक: कुछ प्रश्न और समाधान : अनुसन्धानमें पूर्वग्रहमुक्ति आवश्यक, अनेकान्त, वर्ष ३४, कि० ४, दरियागंज, नई दिल्ली, १९८१ ।
८. गुणचन्द्र मुनि कौन हैं ? : शीर्षक वही, 'अनेकान्त', जनवरी १९५० ।
९. कौन-सा कुण्डलगिरि सिद्धक्षेत्र है ? : शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० ४-५, अप्रैल १९४६ ।
१०. गजपन्थ तीर्थ क्षेत्रका एक अति प्राचीन उल्लेख : शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ७, कि०, १९४५ ।
११. अनुसन्धान विषयक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर : सङ्का-समाधान, 'अनेकान्त', वर्ष ९, कि० १, ३, १९४८ ।
११. आचार्य कुन्दकुन्द : आचार्य कुन्दकुन्दका प्राकृत वाङ्मय और उसकी देन, क्षु० चिदानन्द स्मृतिग्रन्थ, द्रोणगिरि, वी० नि० २४९९ ।
१३. आचार्य गृद्धपिच्छ : तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा, जैन सिद्धान्त भास्कर, आरा, सन् १९४५ ।
१४. आचार्य समन्तभद्र : 'देवागम और समन्तभद्र', प्रस्तावना, वीर सेवा मन्दिर-ट्रस्ट, बाराणसी, १९६७ (प्र० सं०), १९७८ (द्वि० सं०) ।

विविध

१. बिहारकी महान् देन : तीर्थंकर महावीर और इन्द्रभूति : शीर्षक वही, मगध यूनिवर्सिटी और जैन समाज गया के संयुक्त तत्त्वावधानमें आयोजित जैन विद्या संगोष्ठीमें पठित एवं उनके द्वारा प्रकाशित महावीर-जयन्ती स्मारिका में मुद्रित, सन् १९७५ ।
२. विद्वान् और समाज : अखिल भारतीय वि० जैन विद्वत्परिषद्के रजत-जयन्ती अधिवेशन शिवपुरीके अध्यक्षपदसे दिया गया अध्यक्षीय भाषण, फरवरी १९७३ ।
३. हमारे सांस्कृतिक गौरवका प्रतीक: अहार : श्री शान्तिनाथ दि० जैन विद्यालय, अहारके अध्यक्षपदसे दिया गया अध्यक्षीय भाषण, दिसम्बर १९६६ ।
४. आचार्य शान्तिसागरका ऐतिहासिक समाधिभरण : शीर्षक वही, सम्पादकीय, जैन प्रचारक सल्लेखनांक, दिल्ली, अगस्त १९५५ ।
५. आदर्श तपस्वी आचार्य नमिसागर : आचार्य तपस्वी श्री १०८ आचार्य नमिसागरकी जीवन-क्षाकी, प्रकाशक जैन समाज, हिसार, दिसम्बर १९५२ तथा सम्पादकीय, जैन प्रचारक, नवम्बर १९५६, दिल्ली ।

६. पूज्य वर्णीजी : महत्त्वपूर्ण संस्मरण : न भूलते वाले संस्मरण, दिगम्बर जैन, वर्ष ५९, अंक ११, सूरत, सितम्बर १९६६। तथा महाभानव पूज्य वर्णीजी, जैन प्रचारक, 'वर्णी अंक', १९५२।
७. प्रतिभामूर्ति पं० टोडरमल : शीर्षक वही, वीर वाणी, टोडरमलाल, जयपुर।
८. श्रुत-पञ्चमी : जैन मित्र, अप्रैल १९३७, सूरत।
९. जम्बू-जिनाष्टकम् : शीर्षक वही, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० १, जनवरी १९४६।
१०. दशलक्षणधर्म पर्व : दशलक्षणधर्म, पुस्तिका, वाराणसी, १९६३। तथा 'जैन सन्देश', जैन संघ, मथुरा, अगस्त १९५२।
११. क्षमावाणी : क्षमापर्व : क्षमावाणी पर्व और उसका महत्व, जैन सन्देश, मथुरा, अगस्त, १९५२।
१२. वीर-निर्वाण पर्व : दीपावली : वीर-निर्वाण और दीपावली, खण्डेवाल हितैच्छु, इन्दौर, नवम्बर १९४३, तथा जैन गजट, दिल्ली, नवम्बर १९५३।
१३. महावीर-जयन्ती : शीर्षक वही, सम्पादकीय, जैन प्रचारक, दिल्ली, अप्रैल १९५६।
१४. श्री पपौराजी : जिन मन्दिरोंका अद्भुत समुच्चय : श्री पपौराजी : एक पावन तीर्थक्षेत्र, 'वीर,' २८ मई १९५१, दिल्ली।
१५. पावापुर : भगवान् महावीरकी पावन निर्वाणभूमि: पावापुर, जैन प्रचारक, १९५४, दिल्ली।
१६. अमणवेलगोला और श्री गोम्मटेश्वर : श्री गोम्मटेश्वरका सहस्राब्दि-महोत्सव महामस्तकाभिषेक, 'आज', वाराणसी, १९८० तथा इसके पूर्व नवभारत टाइम्स, दिल्ली, २२ फरवरी, १९५३।
१७. राजगृहकी यात्रा और मेरे अनुभव : राजगृहकी यात्रा, 'अनेकान्त', वर्ष ८, कि० ४-५, १९४६। ई०, सरसावा (सहारनपुर)।
१८. काश्मीरकी यात्रा और और मेरे अनुभव : सौन्दर्यकी क्रीडाभूमि काश्मीरकी यात्रा, जैन सन्देश, २९ जुलाई १९५४, मथुरा।
१९. बम्बईका प्रवास : प्रवासमें मेरे ४५ दिन, जैन प्रचारक, दिल्ली, सन् १९५१।

गुरुजीकी प्रवृत्तियाँ

● डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

पूज्य गुरुजीसे मुझे विशेष रूपसे जैन न्याय के अध्ययनकी प्रेरणा मिली। उस समय गुरुजी काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनदर्शन और न्यायके प्रवक्ता थे। उसके बाद वे वहीं रीडर पद पर भी प्रतिष्ठित हो गये। तब भी वे मुझे जैन न्याय और दर्शनके अध्ययनके लिए सतत प्रेरणा देते रहे हैं। फलतः मैंने जैनदर्शाचार्यकी परीक्षा उत्तीर्ण की। तथा अपने विद्यावारिधिके लिए शोधका विषय भी जैनदर्शन ही रखा।

हमने पूज्य कोठियाजीमें नीतिशास्त्रमें वर्णित व्यक्तिके व्यक्तित्वकी अनुमापक निम्न प्रवृत्तियाँ पाई हैं। आचार तथा विचारकी उच्चता, अनाग्रह बुद्धि, दूसरोंके विचारोंको आदर देनेकी क्षमता, समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमें की गई सेवावृत्ति, साहित्य-सृजनकी प्रवृत्ति, निर्माणात्मक कार्योंके सम्पादनकी क्षमता और अपनी सम्पादित कार्य-प्रवृत्तियोंका पुनर्मूल्याङ्कन, इनके कारण ही उन्होंने ऐसी दीप-शिखाएँ प्रज्वलित की हैं, जिनके आलोकसे समाज आलोकित है। समाजमें कोठियाजीको विशेष रूपसे जैन न्याय और दर्शनका अधिकारी विद्वान् समझा जाता है। पर उनमें ऐसी प्रवृत्तियाँ देखनेकी मिलती हैं जिनसे उनमें प्रथमतः मानवीयता मिलती है।

आपने अपने अधिक परिश्रम एवं निस्पृह सेवा द्वारा अनेक संस्थाओंका संचालन किया और उन्हें समुन्नत किया है। अपनी सुगम और सरल शैलीमें अध्यापन द्वारा विद्वानोंकी परम्पराको बढ़ाया है।

इन प्रवृत्तियोंसे पूज्य गुरुजीका जहाँ व्यक्तित्व बढ़ा है वहाँ समाज और श्रुतसेवाका उदात्त आदर्श भी उपस्थित हुआ है।

मैं गुरुजीके दीर्घायुष्यकी कामना करता हुआ साहित्य-साधना और समाजकी सेवामें दीर्घकाल तक संलग्न रहनेकी श्री जिनेन्द्र प्रभुसे प्रार्थना करता हूँ।

डॉ० कोठिया : एक कुशल कार्यकर्ता

● डॉ० मोतीलाल जैन, खुरई

डॉ० दरबारीलालजी कोठियाकी गणना चोटीके विद्वानोंमें की जाती है। वे सुयोग्य शिक्षा, कुशल संपादक व लेखक, सदाचारी विद्वान् हैं। परोपकारिता यह एक उनका स्वाभाविक गुण है। कितनी ही जैन संस्थाओंमें उन्होंने सफलतापूर्वक अध्यापन कार्य किया है।

धार्मिक वृत्ति भी आपकी कम नहीं है। उनका जीवन सीधा-साधा है। लोक-दिखावा उनके पास नहीं है। अभी १० अक्टूबर १९८२ को श्री सिद्धक्षेत्र रेशिदीगिर (म०प्र०) में आचार्य विद्यासागरजीसे अभ्यासके रूपमें आपने बारह व्रतोंको भी ग्रहण किया है।

डॉ० कोठियाकी परोपकारिता भी स्तुत्य है। वे अभावग्रस्त होनहार विद्यार्थियोंको देखकर उनका शिक्षण कार्य चालू रहे, इस दृष्टिसे अपनी सीमित आयमेंसे उन्हें आर्थिक सहायता देते हैं तथा दूसरोंसे दिलाते हैं। अनेकान्तमण्डल बाहुबली (कुम्भोज), तीर्थक्षेत्र कमेटी बम्बई, अहार, साठूमल आदि कितनी ही जनोपयोगी संस्थाओंको हजारोंका दान दिया है। यह भी एक प्रसन्नताकी बात है कि उनकी सुयोग्य धार्मिक वृत्तिकी पत्नी सौ० चमेली बाई उनके इन सत्कार्योंमें सदा सहायक रही हैं। वर्तमानमें सेवा-निवृत्त हो जानेपर भी यह उनका परोपकारिताका कार्य किसी-न-किसी रूपमें चल ही रहा है।

मैं ऐसे लोकोपकारक धार्मिक वृत्तिके ख्यातिप्राप्त विद्वान्के प्रति श्रद्धावनत होकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

कर्तृत्व एवं व्यक्तित्वके धनी

● पं० कमलकुमार शास्त्री, टोकमगढ़

सन् ३७-३८की बात है, जब श्रद्धेय कोठियाजी बुन्देलखण्डके प्रसिद्ध तीर्थ श्री दि० जैन अतिशय क्षेत्र पपौराजीमें अध्यापक थे। पपौराजीका वातावरण उस समय आजसे भी अधिक आकर्षक था। चारों ओर सघन वन बीचोंबीच २ मीलके विस्तृत पर कोठिके अन्दरआकाशको नूम लेनेकी होड़सी लगाये हुए गगन चुम्बी शिखरोंसे युक्त विशाल विविध शैलीके ७५ जिन मन्दिर अपनेमे प्राचीन इतिहासको छुपाए हुए अडिग हजारों वर्षोंसे अवस्थित हैं। उस समय पपौरा तीर्थ बहुत बड़ा तीर्थ था। बुन्देल खण्डके लोगोंके लिए अन्य तीर्थ या तो प्रकाशमें नहीं आए थे या उन तक पहुँचनेके लिए कोई सीधा मार्ग नहीं था। पपौरा टोकमगढ़ राजधानीके सनिकट था। अतः तत्कालीन महाराजकी देखरेख रहती थी और भारत वर्षमें २-३ जगह ही जैन विद्यालय थे। उनमें पपौराजीका विद्यालय भी एक था। ५०-६० छात्र उच्च कक्षाओं में अध्ययन करते थे। टोकमगढ़ जिले के हटा ग्राममें विमानोत्सव था। उसमें श्रद्धेय पं० दरबारीलालजी कोठिया पपौरासे पधारे थे। लोगोंको उत्सुकता थी, आपके प्रवचन भाषण सुननेके लिए मैं छोटा था। इतना समझदार भी नहीं था कि पंडितजीके प्रवचनको समझ लेता, लेकिन न मालूम पंडितजीके व्यक्तित्वका क्या प्रभाव था, सारी जनता मंत्र मुग्ध हो प्रवचन सुन रही थी। मैं सबसे आगे बैठा शान्तभावसे सुन रहा था। उस दिनका प्रभाव आज भी ज्यों-का-त्यों बना है। फिर कई बार मुलाकात हुई साथ भी रहे। आपका सरल स्वभाव व मधुर वाणी सहज ही अपनी ओर खींच लेती है।

आप चाहे छोटा विद्वान् हों, चाहे बड़ा विद्वान् हो, चाहे कोई छात्र हों सबको समान आदरभाव देते हैं। न्यायाचार्य एवं जैन दर्शनके विशिष्ट मर्मज्ञ होते हुए भी कितनी निरभिमानता है, यह कोई भी व्यक्ति आपको देख कर कह देगा।

आजके इस वैज्ञानिक युगमें उत्पन्न हुए नवयुवक जो तर्क और वितर्ककी कसौटीपर हर जैन सिद्धान्तको कसकर परखना चाहते हैं एवं अपनी असैद्धान्तिक तर्कहीन दृष्टियोंसे अपना मत प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। उनके बीच अपना व्यक्तित्व बनाये रखनेमें कोठियाजी सिद्धहस्त हुए हैं। यह एक उनकी महान उपलब्धि है।

आपकी कर्तृत्वशक्तिका परिचय तो तब मिला, जब आपने जिन संस्थाओंको हाथमें लिया उन्हें उन्नत बनानेमें प्राणपणसे प्रयत्न किया है।

इस अवसर पर उनके दीर्घ जीवनके लिए मंगल-कामना करता हूँ।

जीवित शरद : शतम्

● श्री स्वरूप चन्द्र जैन, जबलपुर

जैन न्यायके प्रकांड विद्वान् श्री न्यायाचार्य डा० दरबारीलालजी कोठियासे समाजका प्रबुद्धवर्ग सुपरिचित हैं। उन्होंने ४५ वर्षों तक समाजकी विभिन्न शिक्षण-संस्थाओंको अपनी सेवायें प्रदान की हैं।

श्री कोठियाने जैन न्याय विषयपर जिन महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की हैं, वे सभी ग्रन्थ मौलिक, प्रामाणिक और संग्रहणीय हैं।

आज आगमके सिद्धान्तोंको भी वैज्ञानिक आधारपर आधुनिक शैलीपर प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता है। समाजशिरोमणि श्रीवर्ग चाहें, तो कोठियाजी आदि प्रकांड विद्वानोंके अनुभवोंसे देश-समाजको लाभान्वित करानेके लिए विस्तृत योजना बना सकते हैं।

मेरी कामना है, कोठियाजी शतायु होकर देश-साहित्य-धर्म-समाजको लाभान्वित कराते रहें।

सजग प्रहरी

● डॉ० महेन्द्र कुमार जैन

डा० कोठिया सा० निरभिमानी, उदारचेता, कर्मठ, प्रकाण्ड विद्वान्, समीक्षाकार, समाजके सजग प्रहरी, असंभवको संभव कर दिखाने वाले महामना हैं। बुन्देलखण्डके अविकसित एवं साधनहीन क्षेत्रमें भी जन्म लेकर आपने अपनी लेखनीसे साहित्य-क्षेत्रका महान उपकार किया है। इस सरस्वतीपुत्रको यदि इसी तरहके अनेक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किये जायें, तभी 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' वाक्यकी पूर्ति हो सकेगी।

मैं आपके शतायु होनेकी कामना करता हूँ।

डॉ० कोठियाकी अप्रतिम सेवाएँ

● सिधई देवकुमार जैन, भारत पेट्रोलियम डीलर, कटनी, (म० प्र०)

डा० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य वाराणसी जैन जगतके मान्य विद्वान हैं। उनकी अप्रतिम सेवाओंके मूल्यांकन हेतु अभिनन्दन-ग्रंथका प्रकाशन निश्चय ही सराहनीय कार्य है। वस्तुतः उनका अभिनन्दन साहित्यका अभिनन्दन है। अनेक क्लिष्ट, किन्तु महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकी टीका, सम्पादन डा० कोठियाजीकी तार्किक सूझ-बूझका स्वयं प्रमाण है। अखिल भारतीय स्तरकी अनेकों सामाजिक-धार्मिक संस्थाओंमें रहकर जो कीर्तिमान उन्होंने स्थापित किए हैं वे सर्वथा नूतन—सार्थक सिद्ध हुए हैं।

डा० कोठियाजी शतायु हों तथा राष्ट्र-समाज सेवा अविच्छिन्नभावसे करते रहें, ऐसी वीरप्रभुसे कामना है।

साधुमना श्री कोठियाजी

● श्रीमती विमला जैन, वी० ए०, बी० टी० आई, कटनी

सहृदय, सरल-शान्त तथा शुद्ध-सात्विक वृत्तिके प्रकाण्ड विद्वान् पं० दरबारीलालजी कोठियाका अखिल भारतीय अभिनन्दन मिद्वेत्र अहारजी (टीकमगढ़, म० प्र०) में होने जा रहा है, जो निश्चय ही एक स्वागतयोग्य बात है। डा० कोठियाजी जैन समाजकी अमूल्य निधि हैं। उन्होंने शानदार शिक्षकीय जीवन में जैन-दर्शन साहित्यकी जो सेवाएँ की हैं वे प्रशंसनीय तो हैं ही, अनुकरणीय भी हैं। डा० कोठियाकी निश्चल मुस्कान उनके व्यक्तित्वको सदैव आकृष्ट करती है। न्यायाचार्य दरबारीलालजी कोठिया जैन समाजके ऐसे विद्वद्वर्तन हैं, जिनपर समाजको पूर्ण गर्व है। मेरी उन्हें शुभ-कामनाएँ हैं।

प्रगाढ़ विद्वत्ता और सौम्य व्यक्तित्वके धनी

● श्री अजित प्रसाद जैन, लखनऊ

बन्धुवर डा० दरबारीलाल कोठियासे मेरा घनिष्ठ परिचय पिछले पाँच वर्षसे है। यों तो मेरे बड़े भाई डा० ज्योति प्रसादके किसी समयके सहयोगी रहनेके कारण उनसे परोक्ष-परिचय तो बहुत पहलेसे था, लेकिन प्रत्यक्ष-परिचय श्री दि० जैन अयोध्यातीर्थ क्षेत्रपर १९७७ में अयोजित पंचकल्याणक-प्रतिष्ठाके अवसरपर ही हुआ। डाक्टर साहबकी प्रगाढ़ विद्वत्ता, सरल एवं सौम्य व्यक्तित्व, स्नेहपूर्ण निश्चल व्यवहार वरबस ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

डा० कोठिया जैन भनीपियोंका अभिनन्दन करके समाज अपना ही अभिनन्दन करती है। मैं डाक्टर साहबके शतायु होनेकी कामना करता हूँ।

गुरुदेवका आशीर्वाद

● पं० गोविन्ददास कोठिया, अहार (म० प्र०)

श्री वीर-विद्यालय पणौरामें सन् १९३७ का वह मंगल प्रभात मेरे लिए वरद सिद्ध हुआ, श्री गुरु-देवने जब मुझसे कहा कि तुम पाठ्यग्रन्थोंके अतिरिक्त न्यायसम्बन्धी अन्य ग्रन्थ भी मुझसे पढ़ लेना, ऐसा अवसर सम्भवतः फिर नहीं मिलेगा। मैंने आज्ञा मानी, फलतः कई न्याय-विषयक ग्रन्थोंको पढ़ा, न्याय जैसे विलुप्त विषयको डा० कोठियाजीने मेरे लिए विलकुल ही सरल बना दिया। मेरे जीवनमें सचमुच ही नयी रोशनी आयी। कोई विषय मेरे सामने अध्यापन-समय आया; मैंने उसे भली-भाँति छात्रोंको हृदयंगम कराया, यह सब श्री गुरुदेवका ही आशीर्वाद है। १९४० में जब मैं न्यायतीर्थ परीक्षामें उत्तीर्ण हुआ तो गुरुदेवने मुझसे कहा कि तुम इसे साध्य मत समझ लेना, इसे साधन ही मानना। मैंने अक्षरशः पालन किया, फलतः साहित्य-साधनामें जुटा रहा। अभी भी मैं उसी लगनसे साहित्यिक साधनामें तत्पर हूँ।

पूज्य गुरुदेव मुझसे दूर रहते हैं, परन्तु मैं तो उन्हें अपने पास ही पाता हूँ। पूज्य गुरुदेव शतायुः हों, ऐसी मेरी हार्दिक कामना है।

विनयकी जीवन्त मूर्ति

● श्री जयकुमार इटोरया, श्री वीरेन्द्र कुमार इटोरया, दमोह

श्रद्धेय पंडितप्रवर श्री कोठियाजी अखिल भारतीय समाजकी उस प्रथम पवितकी वरिष्ठ विद्वत्पीढ़ीके अग्रगण्य प्रतिनिधि मनीषी हैं, जिन्हें युगद्रष्टा प्रातःस्मरणीय परम पूज्य सन्त श्री गणेशप्रसादजी वर्णी महाराजका सुदीर्घकाल तक प्रत्यक्ष सान्निध्य और मार्गदर्शन तो प्राप्त हुआ ही, वर्णी विचारधाराको विकसित तथा प्रचारित करनेका सुयोग भी अनवरत प्राप्त हुआ है। पैनी-गहरी दृष्टिके धनी विनम्रताकी मूर्ति, समाज-साहित्य, अध्यात्म-संस्कृति, छात्र-विद्वान्-व्रती-तीर्थयात्रन आदि सभीकी सेवाभावना से ओत-प्रोत माननीय श्री कोठियाजी विगत अर्ध शतकसे अटूट निष्ठा, सुदृढ़ संकल्प और सर्वोच्च अध्यवसाय-को आत्मसात् किए हुए महान् सेवाव्रती हैं। और वारदेवीके वरिष्ठ आराधकके रूपमें सर्वत्र विश्रुत वे व्यक्ति नहीं, संस्था हैं। उनके कुशल निर्देशमें अनेक संस्थाओंने सर्वोच्च ऊँचाई पाई।

विद्वत्परिषद्के गरिमा मण्डित-शिवपुरी अधिवेशनकी अध्यक्षतासे प्रारम्भ हुए आपके समय अध्यक्ष-कालको उसका “स्वर्णयुग” ही कहेंगे। इस अवधिमें विद्वत्परिषद्ने अनेकमुखी कार्य-कलाप सम्पन्न किये। कोठियाजीकी विद्वत्ता, क्षमता और प्रतिभाका भरपूर उपयोग विविध समाजोपयोगी कार्योंमें भी सदैव दृष्टिगोचर होता है। अतः ऐसे महान् साधक, समाजसेवी और श्रमण-दर्शनके अप्रतिम विद्वान्के प्रति हम सादर श्रद्धावन्त हैं।

अनेकानेक मंगल-कामनाएं

● श्री प्रेमचन्द शाह, बीना

शुभ्र श्वेत वस्त्रोंमें शालीन-मँझोली, काय लिए यदि कोई पण्डित ताँगासे उतरता तो हम लोग समझ जाते कि “भैया” आ गये। यह सम्बोधन हम लोगोंका कोठियाजीके लिए ही है। अत्यन्त विनोदी और बालस्वभावके लिए अत्यन्त स्नेहिल विरल छविका कोई पंडित भी होता है, यह मैं बचपनमें नहीं जानता था।

आज जहाँ तक ज्ञान और चरित्रका संतुलन और लोकरूढ़ताको तोड़ता हुआ व्यक्तित्व डा० कोठिया-जीकी एक अलग पहचान मेरे लिए है।

निःसंदेह प्रौढ़ पीढ़ीके विद्वानोंकी यशस्वी शृंखलामें आदरणीय कोठियाजी अगली पवितके विद्वान्, वक्ता और सुलेखक हैं। साथ ही रुचिसम्पन्न होनेके नाते समाजके चतुर्मुखी विकासमें अपना योगदान देने वाले महाअन

भी है। साहित्यकी समस्त विधाओंमें रस लेना और दार्शनिक दृष्टिकोणसे लेखन करना कोठियाजीमें यह विचित्र संयोग है।

आपका अत्यन्त सरल और संयत व्यक्तित्व आपकी वृत्तियोंसे स्पष्ट रूपसे झलकता है। साधुओंका सत्संग और जिनेन्द्र-भक्तिमें तल्लीन रहने वाले आप ज्ञानी ही नहीं ध्यानी भी हैं। उन्हें नियमित एक घंटा देव-पूजन-भक्ति-स्तुति करते देखा जा सकता है।

कोठियाजीने जिस परिश्रम और आराधनासे सरस्वतीको प्राप्त किया उसी परिश्रमसे वह आज सरस्वतीकी उपासना कर रहे हैं और सेवाभावी हाथोंसे उसे उलीच कर समाजको दान कर रहे हैं। उनके लेखन और प्रकाशनकी एक शृंखला बन गई है। सामाजिक संस्थाओं और आगम-प्रकाशन संस्थाओंके वे महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। कोई भी जैन पत्र-पत्रिकाओंमें उन्हें बराबर पढ़ा जा सकता है।

इनकी सेवाओंका जो स्मरण, संकलन और अभिनन्दन किया जा रहा है वह अभिनन्दनीय है। सबके ओर मेरे प्रिय भैयाको मेरी अनेकानेक मंगल-कामनाएँ हैं।

निश्चल एवं अध्ययनशील पण्डितजी

● श्री रतनचन्द पटोरिया, सेवानिवृत्त सहायक आयुक्त, दुर्ग (म० प्र०)

मेरी छोटी बहिन चमेलीबाईका शुभ-विवाह पंडित दरबारीलालजीसे सन् १९३६ में मेरे पैतृक-निवास छिदवाड़ा (म० प्र०) में हुआ था। उस समयसे मेरा उनसे परिचय व संपर्क हुआ।

मेरे पूज्य पिता खुशालचन्दजी अवकाशप्राप्त, जिला आबकारी अधिकारी थे। उन्हें ज्योतिषका अच्छा ज्ञान था। उन्होंने अपने तथा मेरी माताजीके स्वर्गवासके सम्बन्धमें जो भविष्यवाणियोंकी थीं, वे सब सत्य निकली थीं।

मेरे रिश्तेदार तथा पिताजीके मित्र इत्यादिने पूछा कि “आपने अपनी पुत्रीके विवाहके लिये एक पण्डित लड़का क्यों चुना? अपने समान शासकीय सेवामें उच्चपदपर कार्यरत लड़का क्यों नहीं ढूँढा?” पिताजीका उत्तर था कि “इस लड़केका भविष्य बहुत उज्ज्वल है तथा यह बड़ा विद्वान् बनेगा और ख्याति प्राप्त करेगा।”

दिन-प्रतिदिन पण्डितजीकी प्रतिभा निखरती गयी तथा उनका सतत अध्ययन बढ़ता गया। जो भी व्यक्ति उनके सम्पर्कमें आया वह उनकी निष्कपटता, निर्मल हृदयता तथा सरलतासे प्रभावित हुआ।

दक्षिण भारतकी यात्रापर मैं अपने परिवारके सदस्योंके साथ अगस्त १९८० में मूडबिंद्री पहुँचा। वहाँ पण्डिताचार्यवर्य भट्टारक चारुकीर्तिजी महाराजसे मिलने हम शामको पहुँचे। बातचीतके समय भट्टारक चारुकीर्ति महाराजने कहा कि वे बुन्देलखण्डके दो व्यक्तियोंसे विशेष प्रभावित हुए हैं तथा उनकी निर्मल हृदयता, सरलता व निस्पृह जीवनसे उन्होंने बहुत सीखा है, वे हैं पहले व्यक्ति प्रातःस्मरणीय महान् संत पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी तथा दूसरे व्यक्ति विद्वानोंमें पंडित दरबारीलालजी।

पण्डितजी अपनी आयुके ७२ वें वर्षमें प्रवेश कर गये हैं। वे शतायु होंगे तथा जैनधर्म व समाजकी तन, मन व धनसे स्वस्थ रहते हुए सेवा करते रहें, यही हृदयसे कामना है। हम सब पटोरिया-परिवारके सदस्यगण उन्हें शतशः प्रणाम करते हैं।

न्यायके असाधारण ज्ञाता

● श्री सुभाष जैन, कटनो (म० प्र०)

डॉ० कोठिया सरल, हित-मित-प्रिय-भाषी, उदार, लगनशील, आडम्बरहीन, अध्ययनप्रिय, अनुशासित तथा विनम्र समाजसेवी विद्वान् हैं। वे न्यायके असाधारण ज्ञाता तो हैं ही, जैन विद्याके अन्य अंगोंके भी प्रभावपूर्ण प्रवक्ता हैं। आपकी ऐतिहासिक गवेषणाएँ प्रमाणशास्त्र तथा जैनदर्शनकी अमूल्य निधि हैं। निःसन्देह आपका पाण्डित्य-दर्शन व अगाध ज्ञानका प्रस्फुटन उनके द्वारा सम्पादित, रचित मूल्यवान् ग्रन्थोंमें स्पष्टतः देखा जा सकता है।

एलाचार्य परमपूज्य मुनि विद्यानन्दजी महाराज तथा परमपूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराजने भी आपकी धार्मिक अभिरुचियों एवं सेवाओंको सराहा है।

समाज, धर्म, संस्कृति, दर्शनके ऐसे अहनिश चिन्तक, प्रभाषी विद्वान् डॉ० कोठियाके दोर्घजीवी होनेकी कामना करता हूँ।

मधुर व्यवहारके धनी

● श्री मोतीलाल, बड़कुल, जबलपुर

श्रद्धेय पंडित डॉ० कोठिया जैनदर्शनके महान् विद्वान्, सरलस्वभावी एवं मधुर व्यवहारके धनी महापुरुष हैं। अनेक अवसर पर उनके सम्पर्कमें आनेपर महान् सन्त वर्षाजीके प्रति उनकी अपार श्रद्धा एवं वर्षाजीकी वाणीका जैन जगतमें प्रसार करनेकी उनकी धुनका हृदयपर अमिट प्रभाव अनुभव हुआ। इस पुनोत्त कार्यमें श्रीकोठियाजीने तन, मन, धनसे जो त्यागका प्रदर्शन क्रियात्मकरूपसे किया है वह देशके समस्त जैन विद्वानोंके लिये आदर्श है। मेरा विश्वास है कि यदि १००-२०० जैन विद्वान् श्रीकोठियाजी जैसा आचारण एवं त्याग करें तो जैन दर्शनका प्राचीन एवं अर्वाचीन साहित्य जगतके समक्ष शीघ्र प्रगट किया जा सकता है। मैं श्री कोठियाजीको इस विषयमें एक महान् सन्त मानता हूँ और उनके चरणोंमें सादर अभिवादन भेंटकर गौरवका अनुभव करता हूँ।

मेरे फूफाजी

● श्रीमती राजकुमारी रांघेलीय, कटनी

गौरवर्ण, औसद कद, श्वेत खादीके वस्त्रोंसे मंडित, गरिमासय है उनका सौम्य व्यक्तित्व। लौशवसे ही उनकी वात्सल्यमयी पुचकार (डुलार) के साथ उनका यह रूप सँजोया है, मनने !

स्मृतिके वातायनसे एक दृश्य याद आता है। मैं छोटी थी। हाथका पिसा आटा खानेवाले फूफाजी पाहुने थे। मेरी माँ पाककलामे निपुण है, पाटेपर विराजते ही फूफाजी कहते हैं—'पाहुनीजी जरा-सी देर में आपने कितना सारा बना लिया, बड़ी सुघड़ हैं आप।' मैं चकित रह जाती हूँ। फूफाजीके भोजनके बाद मैं माँसे पूछती हूँ—'माँ पाहुने तो फूफाजी हैं वे आपसे पाहुनी क्यों कहते हैं।' माँको हँसी आ गई। वे बोली—'मैं तुम्हारी फूफाजी भावी हूँ, इसलिए वे मुझे पाहुनी कहते हैं।' पर मेरा समाधान नहीं हुआ। आज जब यह संस्मरण लिखने बैठी तो अबूझ पहेली-सी यह शंका फिर कौंध आई। अबकी बार फूफाजी मिलेंगे, तो जरूर पूछूंगी।

सन् ५० के लगभगकी बात है, मेरे पिताजी सपरिवार महावीरजी, जयपुर, पश्चुराकी यात्रा करते हुए दिल्ली फूफाजीके पास रुके। मैं भी कोई १०-१२ वर्षकी बालिका रही। फूफाजीने खूब दिल्ली घुमाई। चुन-चुन कर सडिजवाँ, फल, मिठाई लाते, उपहार स्वरूप वस्त्र भी हमें दिलवाये। उनका यह अतिथि-सत्कार

आज तक नहीं भूलता । दीपावलीका अवसर था । खूब पटाके खरीदे गये और हम सब छोटोंने उन्हें छोड़ा । फूफाजीके साथ बिताई वह दीवाली अब तक मानसपर अंकित है । अनेक ग्रन्थोंके रचयिता समर्थ विद्वान् । पर कितने सहज, सरल । अन्यके गुणोंके प्रबल प्रशंसक ।

बरस-पर-बरस बीतते गये । हम बच्चे प्रौढ़ हो गये और गुरुगंभीर फूफाजी ज्ञानवृद्ध । उनका संपूर्ण जीवन निरन्तर विकासके संघर्षकी कहानी है । प्रगतिके अनेकों सोपानोंको पार करते हुए फूफाजी बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें रीडरके पदपर आसीन थे, डुमराँवबाग कालोनी वाला उनका 'चमेली-कुटीर' बनकर खड़ा ही हुआ था कि मैं अपने पति व बच्चोंके साथ अपनी ननदके विवाहके कपड़े व वर्तन खरीदने बनारस गई । उनकी नियमित चर्यानिं मझपर गहरा प्रभाव छोड़ा । अपने अध्यक्षनक्षकी स्वयं ही सफाई करते । अपने बस्त्र धोते, स्नानकर, पूजनकी सायाग्री सँजोकर मन्दिर जाते । वे मुझे संत जैसे प्रतीत होते । हम लोग ठहरे मनमौजी, खरीददारीके लिए धूम, पक्कर देखी । एकदिन मेरे पति पूछ बैठे—'फूफाजी, अच्छी चाट कहाँ मिलती है बनारसमें ?' ऐसा कठिन प्रश्न तो विद्यार्थिनिं उनसे आज तक नहीं पूछा होगा । उनके धर्म-संकटको मैं भाँप गई । मैंने कहा—'फूफाजीको भला बाजारकी चीजोंका स्वाद क्या मालूम ।' पर जाने कैसी वेदना मेरे फुआ और फूफाके चेहरों पर पड़ी । मानों कह रहे हों कि बच्चोंकी ऐसी अटपटी माँगोंको पूरा करनेका अवसर हमें मिल ही कहाँ पाया है । मनमें एक टूक-सी उठी कि काश ! इस अभावको भरनेकी सामर्थ्य हममें होती ।

कटनीमें हुए पंचकल्याणक-महोत्सवके अवसरपर फूफाजी कटनी आये थे । सिरमें बहुत पीड़ा थी और बनारस शोध ही जाना है, कह रहे थे । मैंने जिद कर ली कि रातमें तो नहीं जाने दूंगी । डॉ० ने देखकर कहा सायनसका अटक है । रातकी गहरी नींदने प्रातः उन्हें पूर्ण स्वस्थ कर दिया, और वे चले गये । कुछ वर्षों बाद उन्हें मस्तिष्ककी पीड़ाके कारण बहुत कष्ट उठाना पड़ा । अभी गत अक्टूबर सन् १९८२ में उन्हें देखा, तो मनको फिर पीड़ा हुई । समयकी लेखनीने ललाटपर रेखाएँ खींच दी हैं । सीधी कमर कुछ झुक आई है । पर अकेले ही सागर विश्वविद्यालयमें व्याख्यान देने जा रहे थे । ऐसी है फूफाजीकी कर्मठता और कर्तव्यनिष्ठा । वे बुन्देलखण्डकी माटीके ऐसे उज्ज्वल हीरे हैं, जिसकी प्रभासे जन जगत आलोकित है । वे शतायु हों, हमें उनकी सत्संगतिका अवसर मिलता रहे, और एक बेटीकी तरह सेवाका सुख । ध्रुव तारेकी तरह यशस्वी हो उनका जीवन ।

कर्मयोगी कोठियाजी

● श्री मनोहरलाल वकील, बुलन्दशहर

मेरा परिचय डॉ० दरबारीलालजी कोठियासे करीब २० वर्ष पुराना है । पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके सगे छोटे भाई श्री रामप्रसादजी जैनकी पुत्री एवं डॉ० श्रीचन्द जैन एटा निवासीकी सगी छोटी बहन श्रीमती गुणमाला जैन मेरी पत्नी हैं और डॉ० कोठियाजी पं० जुगलकिशोरजीके घोषित धर्मपुत्र हैं । उनका डॉ० श्रीचन्द जैन एटा निवासीके यहाँ विवाह-शादियोंमें कई दफा आना जाना हुआ । मेरा व्यक्तिगत परिचय डा० कोठियासे वहीं हुआ । मेरा भी थोड़ा शास्त्रीय अध्ययन रहा है और साहित्यिक प्रेम भी है । अनेक विषयोंपर मेरा डॉ० कोठियासे वार्तालाप हुआ । मैंने सदैव ही डॉ० कोठियाको एक निपुण विद्वान् शास्त्रवेत्ता व सुलझा हुआ तर्कयुक्त वक्ता पाया ।

डॉ० कोठियाजी सच्चे अर्थोंमें कर्मयोगी हैं । उनका जीवन हमारे लिये निरन्तर कार्यरत रहने और मानवमात्रकी निःस्वार्थ सेवा करनेके लिये प्रेरित करने वाला प्रकाश है । मैं अपनी शुभकामनाएँ डॉ० कोठियाको अर्पित करता हूँ ।

कर्मठ विद्वान्

● पं० रतनचन्द कासिल शास्त्री, रहली

कोठियाजी एक ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने समाज और साहित्यकी बहुत सेवा की है। अनेक संस्थाओंमें उन्होंने जीवनदान दिया है।

वे जब पपौरा विद्यालयमें अध्यापक थे, तब मैं उनका छात्र था। उनके निकट जो ज्ञान अर्जित किया, वह आज भी मुझे सहायक हो रहा है। पिछले वर्षकी बात है। पपौराका विद्यालय कई वर्षोंसे बन्द पड़ा था। गतवर्ष वहाँपर पञ्चकल्याणक-प्रतिष्ठाका आयोजन हुआ था, उसमें आप भी पधारे हुए थे। आपने अपने प्रभावक भाषण द्वारा विद्यालयके संचालनपर जोर दिया, और स्वयं ५ हजार रुपया विद्यालयको दान देकर ५० हजारका उसका तत्काल कोष बनवा दिया, जिससे विद्यालय चालू हो गया, ऐसी है आपकी कर्मठता।

सादा जीवन और उच्च विचार ये दोनों आपके जीवन-साथी हैं। वास्तवमें आप उनकी प्रतिमूर्ति हैं। आपकी अद्भुत कार्यक्षमता, विलक्षण प्रतिभाका प्रभाव समाजपर अवश्य पड़ता है। मेरा उन्हें शत-शत अभिबन्धन है और हार्दिक श्रद्धा-सुमन समर्पित है।

समाजके भूषण

● पं० पूर्णचन्द्र सुमन, दुर्ग

न्यायाचार्य डॉ० पं० दरबारीलालजी कोठियासे मैं लगभग २० वर्षोंसे परिचित हूँ। उनकी विद्वत्ता, सरलता, निरभिमानता और सौम्य स्वभावका मुझपर गहरा प्रभाव पड़ा है। एक बार दुर्गकी समाजके निमन्त्रणपर पर्यूषणमें दुर्ग पधारे थे। उसके बाद भी वे यहाँ कई बार आये। समाजपर उनके प्रवचनोंका गहरा प्रभाव पड़ा। विद्वत्ताके साथ निर्दोष चारित्र्यका पालन सोनेमें सुगन्धि है।

मैं आपके दीर्घ-जीवनकी शुभ-कामना करता हूँ।

जैन जगतकी अमूल्य निधि

● प्रो० विनय कुमार जैन, दमोह (म० प्र०)

जैन दर्शन, न्याय एवं साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् पं० प्रवर परम श्रद्धेय कोठियाजी द्वारा जैनधर्म, संस्कृति एवं साहित्यके उन्नयन तथा प्रसारमें किये गये महान योगदानके लिए सम्पूर्ण भारतीय जगत उनका सदैव ऋणी रहेगा। डॉ० कोठियाजी चिरजीवी हों, हमारे अन्तस्की यही भावना है।

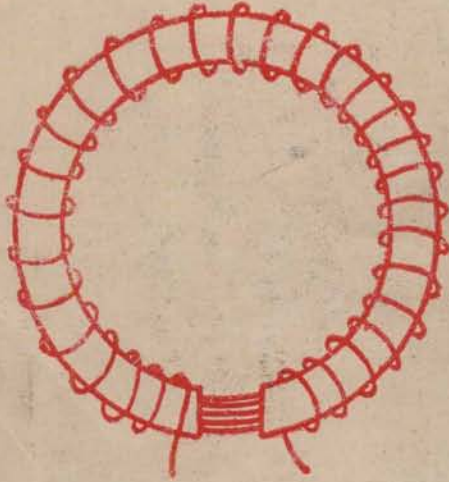
उनका अविस्मरणीय योगदान

● श्री देव कुमार जैन सहारनपुर

न्यायाचार्य डाक्टर कोठियाने हमारी समाजके लिए अविस्मरणीय एवं मूल्यवान योगदान दिया है। ठोस तत्त्व विचार और अनुसंधानपूर्ण साहित्य निर्माण उनकी देन है। उनका जीवन बहुत सात्विक, सरल व चारित्रवान् है। प्रकृति व व्यक्तित्व शान्त व संयमित है।

श्रद्धेय डा० कोठिया जत्र वीर सेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर) में थे, तब वे मेरे पूज्य पिता स्व० राय साहब ला० प्रद्युम्न कुमारजीके पास आते-जाते रहते थे। वे समाजके आमंत्रण पर पर्यूषण आदि के अवसरों पर भी सहारनपुर आये। उनकी विद्वत्ता, सरलता और निरभिमानतासे न केवल पिताजी प्रभावित रहे, अपितु समाज भी प्रभावित है। उनसे मेरा और मेरे परिवारका निकटका सम्बन्ध रहा है।

उनके हार्दिक अभिनन्दनके साथ उनके दीर्घ जीवनकी कामना करता हूँ।



मुद्रक : बाबूलाल जैन फागुल्ल, मह

६५८४८